जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला

प्रसाद।

ले शक्ति-पिण्ड, करुणा का रस, सुन्दर सपनों का रग-रूप,
कुहरिल मुकुलों का ले योवन, भावों की मुक्ताभा अनूप,
तुमने सॉसों में भर गहरी उच्छल वासन्ती आत्म-स्फूर्ति-
रच दी मुसकानमयी मोहक, जीवन की शुचि मगला मूर्ति।
दर्शन कर नयन सफल होते, होता जीवन का जय-निनाद,
रस-छदों के शिल्पी, प्रसाद।

-'तरुण'

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस

2/35, असारी रोड, दरियागज, नयी दिल्ली-110002

जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला

जयशकर प्रसाद के समस्त साहित्य का शोधस्तरीय
समग्र अध्ययन और मूल्याकन

लेखक

रामेश्वरलाल खण्डेलवाल

पी-एच डी., डी. लिट्

लेखकीय

(ग्रंथ के द्वितीय संस्करण के अवसर पर)

यह पुस्तक सन् 1968 में छपी थी। माग बराबर बनी रही। लगभग 30 वर्ष बाद अब फिर छपने की सुविधा हो पायी। सयोग कि इस समय, अस्सी वर्ष की आयु छूने की ओर, मैं निरतर रुग्ण-शय्या में हू दोनों आखों में ठेठ पीछे तक रसौली, वार्धक्य-जन्य अनेकानेक शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त। नियति का परोसा हुआ भी सहज स्वीकार। बहुत इच्छा थी कि नयी सामग्रियों के आलोक में मन-लायक सब कुछ थोडा-बहुत माज-निखार लू। पर अब वह लबा काम लग रहा है, सभव नही जान पडता। पाठक क्षमा करेंगे। जो है उससे ही मुझे सतोष करना पड रहा है। कुछ अत्यत आवश्यक और साधारण-से लेखनी-स्पर्श से ही ग्रथ का पुनर्मुद्रण जैसा हो पा रहा है। आगे सब-कुछ ठीक-ठीक करने का काम भविष्य में प्रसाद के समर्थ, प्रबुद्ध और समर्पित अध्येताओं-शोधकों के जिम्मे। प्रकृति में प्रतिभा और मनीषा का कोश असीम-अनत है। मैंने तो कुछ आरभिक-सा ही करने का विनम्र प्रयास मात्र किया है। भावी पीढियों को मेरे अग्रिम नमस्कार, प्रणाम। उनके कृतित्व से मुझे सुख मिलेगा।

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली का आभारी हूं कि पुस्तक इस भारी महंगाई के दिनो में वे बडी प्रीति और उत्साह से छाप रहे है। मेरी शुभ कामानाए।

—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल

विजयादशमी, 1997
149 आर, एटलस रोड, सोनीपत (हरियाणा)

प्राक्कथन

प्रथम संस्करण

प्रस्तुत ग्रथ आगरा विश्वविद्यालय की डी. लिट् की उपाधि के लिए स्वीकृत डॉ खण्डेलवाल के शोध-प्रबध का मुद्रित रूप है। इसके सबध में 'दो शब्द' लिखते हुए मुझे अनेक कारणों से सतोष का अनुभव हो रहा है। डॉ खण्डेलवाल के सुधीर व सुनिश्चित साहित्यिक-शैक्षणिक विकास-क्रम से मैं पिछले लगभग बीस-पचीस वर्षों से परिचित रहा हू; उन्हें निकट से देखने का अवसर भी मुझे काफी मिला है, उनकी प्राय समस्त प्रकाशित कृतिया—सर्जनात्मक, आलोचनात्मक व शोधात्मक—का भी मैं यथासमय अवलोकन करता रहा हू। इतना ही नही, उनमें निहित उच्चकोटि की गुणवत्ता पर हार्दिक शुभाशसा के साथ मैंने अपना समीक्षात्मक अभिमत भी प्रकट किया है। गुजरात प्रदेश के विकासमान सरदार पटेल विश्वविद्यालय मे, जिसके साथ उसके जन्म से ही नाना रूपों में सबद्ध रहने का मेरा सौभाग्य रहा है, वे निष्ठा व क्षमता के साथ स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग का सचालन कर रहे है। अध्यापक, शोधक-आलोचक एव प्रशासक के दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह करते हुए भी, उन्होंने निर्वात दीप की तरह अपनी काव्य-साधना को अब तक प्रज्वलित रखा है। अत यह स्वाभाविक ही है कि उनके इस प्रमुख ग्रथ का प्राक्कथन लिखते समय उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का क्रमागत निरतर गतिशील व समृद्ध रूप मेरे मानस-चक्षु के सम्मुख समवेत रूप से उपस्थित हो उठे।

प्रस्तुत ग्रथ में डॉ खण्डेलवाल ने वर्षों के कठोर श्रम के पश्चात् हिंदी के युगप्रवर्तक, महाप्राण साहित्यकार जयशकर प्रसाद के सर्वांगपूर्ण अध्ययन की योजना को रूपाकार प्रदान किया है। मै इस ग्रथ के आरभ तथा विकास के अध्ययन-मनन के सोपानों से अवगत रहा हू। यह ग्रथ प्रसाद के अमर कृतित्व के विविध पक्षों पर, स्वच्छ, गभीर और समाकलित अध्ययन प्रस्तुत करता है। विद्वान् लेखक ने अपनी कारयित्री प्रतिभा के बल से रस-चेता प्रसाद की गहन व मूलवर्ती चेतना को आत्मसात् करते हुए एक निस्सग शोधक की दृष्टि से कवि की प्रतिभा के मर्म का उद्घाटन किया है। इस ग्रथ का सूक्ष्म-सुदृढ़ योजनासूत्र, तदनुरूप विषय-विवेचन तथा प्रौढ प्रतिपादन-शैली मेरे कथन के प्रमाण हैं। इस ग्रथ में व्यक्त अनेक विचारों, मान्यताओं, तथ्यों, दृष्टि-भगियों से विद्वानों का मतभेद सभव है—और वह होना ही चाहिए, क्योंकि ज्ञान-विकास और सत्य के अवगाहन की यही तो वैध प्रक्रिया है—किंतु, किसी विद्वान् या कृति से किसी प्रकार की तुलना न करते हुए, सामान्य रूप से मेरा यह

निश्चित मत है कि अपने आशय में अत्यत गभीर और अपने स्वर में पूर्णतया सौम्य यह ग्रथ हिंदी शोध आलोचना के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

डॉ खण्डेलवाल की साधना अविचल और उनका भविष्य उज्ज्वल है। मुझे विश्वास है, प्रसाद-साहित्य के गभीर अध्येता इस शोध-प्रबध का स्वागत करेंगे।

—नगेन्द्र

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिंदी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
8-5-1968

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

पूर्व सूत्र

सन् 1955 मे 'आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौंदर्य' नामक विषय पर पी-एच डी की उपाधि के लिए अपना शोध-कार्य सपन्न कर लेने पर मेरे मन में, अपनी रुचि-प्रवृत्ति के अनुरूप किसी एक ऐसे आधुनिक कवि को, अतरग या गंभीर अध्ययन के लिए, चुनने की स्फुरणा हुई, जिसका अतस्सघटन प्रमुखत प्रेम और सौंदर्य के सूक्ष्म तत्त्वों से ही हुआ हो। चयन-विषयक मेरे इस रुचि-वैचित्र्य के आधार मेरे मन में बहुत स्पष्ट थे . (1) प्रेम और सौदर्य-विषयक अपने अध्ययन को एक विशाल युग के फलक (पूर्व-सपन्न कार्य लगभग एक शताब्दी की भूमि को लेकर किया गया था) से समेटकर, अधिक मनोनिवेश व एकाग्रता की दृष्टि से, अब एक ही कवि या साहित्यकार तक सीमित किया जाय, (2) अपने पूर्व अध्ययन का लाभ समेटकर उसका उपयोग करते हुए, उस अध्ययन को और अग्रसर करने का सहज सुयोग प्रदान कर सकने वाले किसी एक ही सुकृती के माध्यम से, सौंदर्य और प्रेम की चेतना को केंद्र में रखकर, उसके कृतित्व का समग्र अध्ययन किया जाय (क्योंकि उक्त तत्त्वों से पोषित-आलोकित अन्य विधाओ और साहित्यिक उपकरणो का अध्ययन भी मेरी प्रकृति-परिधि में ही पडता है) और (3) प्रस्तावित विषय डी लिट् के प्रबध के लिए वाछित क्षेत्र प्रदान कर सकता हो। सुसयोग से प्रसाद पर ही आकर मेरी मति स्थिर हुई; प्रसाद-विषयक अध्ययन एक ही साथ मेरी सब आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन देता दिखायी पडा। प्रसाद-साहित्य के मर्मज्ञ पडितों से साक्षात्कार व विचार-विनिमय करके मैं अपने विषय के औचित्य और शोध-सभावनाओ के प्रति उत्तरोत्तर पूर्ण आश्वस्त होता गया। विशेष कवि के रूप में प्रसाद के अध्यापन (जो सौभाग्यवश सन् '55 से आज तक जारी है) का सुयोग भी मेरे निर्णय की इस व्यावहारिकता के मूल में एक महत्त्वपूर्ण कारण व उत्साह बनकर रहा।

प्रस्तुत विषय पर अनुसधान की आवश्यकता

पिछले लगभग 35-40 वर्षों से प्रसाद पर, हिंदी-समीक्षा के क्षेत्र में, ग्रंथ-निर्माण व स्वतत्र लेखन-कार्य होता आ रहा है। प्रसाद-साहित्य के जितने भी स्थूल-सूक्ष्म पक्ष हो सकते हैं, प्रायः सभी पर विभिन्न स्तरों की सामग्री आज विद्यमान है। पर इस क्षेत्र का एक भाग ऐसा भी

दिखायी पडा, जिस ओर अभी दृष्टि कुछ विरल अपवादों को छोडकर कम ही गयी। प्रसाद-साहित्य की विविध विधाओ (कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि) पर तो कार्य हुआ;—कविता व नाटक के क्षेत्र में तो भव्य कृतिया प्रस्तुत हुईं—किंतु उन विधाओं के क्षेत्रों में दीर्घकालीन चितन-मनन के परिणामस्वरूप उपलब्ध तथ्यों को विषय की आवश्यकता के अनुसार समेटते हुए, व्यापक तथ्यों की अवगति के लिए, प्रसाद के समग्र कृतित्व पर सामूहिक दृष्टि डालकर सुप्रतिष्ठित अथवा मान्य मानदडों पर प्रसाद की प्रतिभा के स्वरूप, गुण व उत्कर्ष को आकने-जाचने का गण्य परिमाण में एक भी सश्लिष्ट व गभीर प्रयत्न सामने नही दिखायी पडा। प्रसाद-जैसे युग-निर्माता साहित्यकार के प्रति इस ढिलाई ने मुझे आगे बढकर उत्तरदायित्व संभालने के लिए प्रेरित किया।

वस्तुत किसी साहित्यकार के कृतित्व का खडश अध्ययन (अलग-अलग विधाए लेकर) चिंतन की स्पष्टता, परिपूर्णता व सूक्ष्मता की दृष्टि से अत्यत आवश्यक है, प्रत्येक विधा पर स्वतत्र रूप से उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म समीक्षात्मक विचारणा, रचयिता के तलस्पर्शी मतव्य के आकलन-अवगाहन की दृष्टि से, अग्रसर रहनी ही चाहिए। पर इतना होते हुए भी इस पद्धति से साहित्यकार पुजीभूत, समन्वित या सश्लिष्ट जीवत प्रदेय सतोषजनक रूप में प्राप्त करने की पूरी आशा नही की जा सकती। यह तो तभी सभव है, जबकि विधाओं की क्षेत्रीय सीमाओं को लाघकर व्यापक दृष्टि से, मात्र कृतियों को या विधाओं को नही, किंतु समस्त कृतित्व को एक वस्तु समझकर उसे एक ही दृष्टि में भरकर देखा जाय और उसमें समान रूप से धडकती हुई चेतना को सुना जाय, समझा जाय। खडित चेतना के द्वारा खडित सत्य की ही उपलब्धि होगी (अवश्य ही विधा-विशेष की दृष्टि से तो वह सत्य पूर्ण होगा या हो सकता है), अखडित की नही, और अखडित चेतना को ग्रहण व आत्मसात् किये बिना साहित्यकार से जीवत व पूर्ण साक्षात्कार कम ही हो सकता है। स्वतत्र रूप से प्राप्त, विविध विधाओं के शोध समीक्षात्मक सकलित परिणाम रासायनिक प्रक्रिया से समजित होकर, न्यून या अधिक नवीन परिणामों की उपलब्धि की सभावना निश्चय ही बढाते हैं। अत नवीन तथ्यों को उद्घाटित करने की दिशा में प्रयत्नशील चेतना के व्यापार द्वारा विधाओं की दृष्टि से पूर्ण किंतु व्यापक चेतना की दृष्टि से आशिक या अपूर्ण परिणामों का गुफन करके कुछ नवीन या सूक्ष्मतर तथ्यों की अवगति का प्रयत्न अत्यत आवश्यक है। हा, अवश्य ही परिणामों की उपलब्धि का परिमाण और गुण प्रयोग-परीक्षणकर्त्ता की बुद्धि व क्षमता के स्वरूप व सीमा पर ही आश्रित रहेगा, यह कहने की भी आवश्यकता नही। पर यह तथ्य है कि किसी भी साहित्यकार का वास्तविक प्रदेय हमारे समक्ष तभी आ सकता है, जबकि उसका सर्वांगीण व समग्र अध्ययन किया जाय और मानव-प्रयत्न की अखड चेतना-धारा में रखकर उसका निरीक्षण-परीक्षण किया जाय। इस आधारभूत विश्वास ने ही मुझे नयी दिशा की ओर अभिमुख होकर आलोच्य विषय के चयन, नामकरण व रूपाकन की प्रेरणा, दृष्टि व चिंतन-शक्ति प्रदान की है।

प्रसाद पर उपलब्ध पूर्व-सामग्री · सिंहावलोकन

प्रसाद-साहित्य पर हिंदी-समीक्षा के क्षेत्र में आज प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यह सामग्री दो प्रमुख भागों में विभक्त की जा सकती है · (1) शोध और, (2) समीक्षा (शास्त्रीय या स्वच्छद)। पहले प्रसाद-विषयक शोध पर दृष्टिपात करें। शोध के दो उप-विभाग किये जा

प्रबध का वस्तुगत रूपायन इसी केंद्रीय तथ्य के द्वारा हुआ है। इस अध्ययन के उपयुक्त, विषय का नवीन रूप मे सर्वांगपूर्ण परिकल्पन व विश्लेषण-विवेचन इस प्रयास की मूल प्रेरणा व आधार-शिला है। इस अध्ययन में, विविध विधाओं के क्षेत्र मे हुई प्रसाद की उपलब्धि को विवेकपूर्वक ग्रहण करके उसे प्रसाद की समग्र उपलब्धि को आकने के लिए प्रयुक्त या समाविष्ट करने का प्रयास किया गया है।

2 प्रसाद के साहित्य का मेरुदड उनकी आत्म-दृष्टि है वे काव्य को 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' कहते हैं। प्रसाद जी की इस धारणा का तर्क और प्रमाण के आधार पर विस्तृत परीक्षण किया गया है।

3 काव्य और साहित्य के विभिन्न अवयवो या तत्त्वों पर प्रसाद के अपने जो सैद्धातिक विचार है, उनकी कसौटी पर भी प्रसाद के साहित्य के प्रसग-प्राप्त पक्ष को प्रत्येक प्रकरण मे परखा गया है, क्योंकि लेखक की निजी मान्यताए भी, अन्य सुप्रतिष्ठित मान्यताओं की ही तरह, अपना एक विशेष व निजी महत्त्व रखती है, साहित्यकार की मूल चेतना और उसका सृजन उत्पादक-उत्पाद्य सबध से प्रगाढ रूप में आबद्ध रहते है।

4 प्रसाद की प्रकृति-विषयक मूल चेतना के सम्यक् आकलन की दृष्टि से विज्ञान, दर्शन व साहित्य क्षेत्र में प्रकृति के उपयोग के स्वरूप व प्रक्रिया का स्वतत्र विवेचन करके प्रकृति के साहित्यगत उपयोग या प्रयोग के स्वरूप को स्पष्ट रूप से उभारकर प्रकृति-विषयक चिंतन, भावन और विवेचन के स्तर पर प्रसाद की देन को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य शुक्ल के आलबनगत प्रकृति-चित्रण के सिद्धात का विस्तृत व तर्कसम्मत परीक्षण किया गया है। प्रकृति प्रसाद-काव्य की धडकती हुई चेतना है, अत उसके आनुपातिक महत्त्व को ध्यान में रखकर ही उसके विशद अध्ययन में प्रवृत्त होना उचित समझा गया है।

5 प्रत्येक प्रकरण के विवेच्य विषय के विश्लेषण से पूर्व उसकी उपलब्धि या योगदान के स्तर को आकने के लिए आवश्यक मानदड के निर्धारण हेतु सबद्ध साहित्य-उपकरण की, पूर्व और पश्चिम की साहित्य-तात्त्विक भूमि पर, यथासाधन व यथामति मीमासा की गयी है और इस प्रकार चरम उपलब्धि को आंकने के लिए सब प्रकरणों में यह पद्धति एक अनिवार्य आयोजन के रूप में अपनायी गयी है।

6 प्रत्येक प्रकरण में निष्कर्षों की अवगति के समय प्रसाद को ऐतिहासिक पीठिका पर रखकर भी उनकी तात्त्विक उपलब्धि के स्वरूप व उत्कर्ष को भली भाति परखने का प्रयत्न किया गया है।

7 प्रसाद की समस्त पात्र-सृष्टि को वैज्ञानिक आधारों पर विविध वर्गों मे विभाजित करके बाह्य वैविध्य और अतवैचित्र्य नामक स्तभों के अतर्गत पात्रों का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

8 साहित्य-रूप, भाव व रस, विचार व दर्शन, चरित्र-चित्रण, इतिहास, सौंदर्य, कला, कल्पना आदि सभी प्रकरणों में प्रसाद की रचनाओं के अतरग अध्ययन पर आश्रित सामूहिक विश्लेषण के आधार पर अपने तथ्य निकाले गये हैं और पिष्टपेषण से बचने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते हुए विषय के जिस पक्ष या जिन पक्षों में भी नवीन तथ्याकलन की अधिक गुजाइश या सभावना दिखायी पडी है, उस दिशा में ही विशेष उद्योग किया गया है। जितने भी महत्त्वपूर्ण नूतन तथ्यों की उपलब्धि सभव है, वे सब प्रकरणों मे निकाले गये हैं, और

अतिम मूल्याकन मे प्रधानत वे ही प्रामाणिक व आधारभूत रूप में रखे गये है, जिससे कि परिणाम असदिग्ध हों। प्राप्त तथ्यों को अपने दृष्टिकोण से सूक्ष्मतर सत्यों में परिणत करने से पूर्व उपलब्ध प्रामाणिक पूर्व-तथ्यों को भी अपने तथ्यों में सगुफित कर दिया गया है और इस प्रकार प्रकरणगत निष्कर्ष और प्रबध के चरम निष्कर्ष को पुष्ट और निर्भ्रांत बनाने का पूर्ण उद्योग किया गया है।

9 अध्ययन की समग्रता को ठोस वास्तविकता प्रदान करने के लिए विशद भूमिका पर प्रसाद-साहित्य का समग्र मूल्याकन किया गया है और इसके लिए जितने भी आवश्यक व निर्विवाद स्वस्थ-साहित्यिक मानदड कल्पित किये जा सकते हैं, उन सबका प्रयोग किया गया है। मानदडों के स्थिर करने से पूर्व तात्त्विक दृष्टि से उनकी परीक्षा पहले कर ली गयी है। मूल्याकन का यह प्रकरण इस प्रबध की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि समझी जा सके, इस उद्देश्य से इसे समृद्ध बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। मानदडो के परिकल्पन व निर्धारण में पर्याप्त सजगता बरती गयी है।

10 अलकार के क्षेत्र मे, रूढ ढग के व अनावश्यक निरूपण को बचाते हुए व उपमान-चयन के विविध क्षेत्रों के आधार पर उपमानों का वैज्ञानिक ढग से वर्गीकरण करते हुए, उपलब्ध स्थूल तथ्यो से सूक्ष्मतर तथ्य निकाले गये हैं, जो प्रसाद की समग्र चेतना के सत्य को आत्मसात् करने में विशेष रूप से सहायक हो सकेंगे।

11 विस्तृत विश्लेषण-विवेचन के बाद प्रसाद के तात्त्विक उत्कर्ष के स्वरूप व प्रकृति से आश्वस्त व सवलित होकर आगे सहज अनुमान (न्यायशास्त्र 'अनुमान' को जिस सीमा तक महत्त्व देता है, धूम्र अग्नि के अस्तित्व का प्रमाण है—बस उसी सीमा तक) के बल पर (क्योंकि अतर्राष्ट्रीय धरातल पर तुलनात्मक अध्ययन मेरे दायित्व की प्रकृत सीमा से बाहर है) श्रेष्ठ भारतीय और अतर्राष्ट्रीय साहित्य के धरातल पर प्रसाद के विश्व-साहित्यकारों में परिगणित किये जाने की सभावना का सकेत करके प्रकारातर से प्रसाद-विषयक शोध की नवीन विस्तृत व उर्वर भूमियों का दिशा-निर्देश किया गया है।

12 प्रसाद-साहित्य मे प्रयुक्त विशिष्ट अग्रेजी व उर्दू शब्दावली तथा लोकोक्ति-मुहावरे भी छाटकर क्रमबद्ध रूप से प्रबध के अत में परिशिष्टों के अतर्गत रख दिये गये है। ग्रथानुक्रमणिका अकारादिक्रम से रखी गयी है। इस प्रकार, उक्त बिंदुओं के माध्यम से, विषयवस्तु की दृष्टि से तथ्य-शोध व प्राप्त तथ्यों के नवीन पुनराख्यान द्वारा इस प्रबध में प्रसाद-विषयक अध्ययन की परिधि को विस्तृत करने का प्रयत्न किया गया है।

शोध-दृष्टि व प्रक्रिया-प्रविधि

आधुनिक शोध-तत्र विशारदो ने अपनी सूक्ष्म मनीषा से छानकर अनुसधान के स्वरूप व उद्देश्य से सबधित जो बहुमूल्य तात्त्विक शोध-दृष्टि साहित्य-क्षेत्र को प्रदान की है, उसे यथाशक्ति ग्रहण व आत्मसात् करते हुए मैंने अपने विषय का उपचार करने का प्रयास किया है। तथ्य-शोध व तत्त्व-बोध, प्राचीन ज्ञान व अर्वाचीन ज्ञान, समीक्षा व शोध वैज्ञानिक व मानवीय मूल्य, राष्ट्रीय व सास्कृतिक, कलात्मक प्रक्रिया व वैज्ञानिक प्रक्रिया आदि विषयों पर शोध के कोण से जो तत्त्व-चिंता हुई है उसके परिणामों के आलोक में मैंने अपनी शोध की प्रकृति को ढालने का प्रयास किया है।

शोध-पडितों का विचार है कि शोध का विषय शोध की समस्या के रूप में ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए, और यदि समस्या न बन सके तो विषय कम से कम जिज्ञासा और तर्क को सहज ही जागरित करने वाला तो अवश्य ही हो। मेरे विषय की मूल प्रकृति समस्यात्मक न होकर व्याख्यात्मक ही है। फिर भी, यद्यपि इस विषय मे समस्या की प्रत्यक्ष नोक नही दिखायी पडती, तथापि प्रच्छन्न रूप में निहित एक समस्या—प्रसाद वस्तुत क्या है, कैसे है, कितने हैं व उनकी साहित्यिक देन साहित्य-मात्र के धरातल पर कितनी है, कैसी है और कैसी समझी जा सकती है—निश्चय ही मेरी चेतना मे आद्यत बनी रही है, जो मेरे विषय-निरूपण की आकृति-प्रकृति से प्रकट भी हो सकेगा।

सितबर, 1964

प्रबध की सक्षिप्ति

यहा प्रबध में निरूपित विषय के विस्तार व परिधि से अवगत होने के लिए पाठको के लाभार्थ प्रबध की सक्षिप्ति प्रस्तुत की जा रही है

प्रथम प्रकरण मे भारतीय और पाश्चात्य चितन की भूमि पर रूप (form) तत्त्व का ऊहापोह करते हुए तथा प्रसाद की रूप-विषयक धारणा का उसमें समावेश करते हुए विवेच्य कवि के सभी साहित्य-रूपो का यथासभव सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है और कलात्मक रूप-निर्माण के क्षेत्र मे प्रसाद की विशिष्ट देन को स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय प्रकरण मे भाव और रस का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए तथा प्रसाद की तत्सबधी अपनी निजी चिता को भी समाविष्ट करते हुए भावचित्रण व रस-सृष्टि की दृष्टि से प्रसाद के मौलिक वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया गया है।

तृतीय प्रकरण मे साहित्य में समस्त विधान में विचार व दर्शन की भूमिका को स्पष्ट करके प्रसाद की मनीषा व दार्शनिक अतर्दृष्टि के मूल मर्म को समझने का प्रयास किया गया है और एक विचारक व तत्त्वदृष्टि-सपन्न दार्शनिक के रूप मे उनकी विशिष्ट उपलब्धि पर प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ प्रकरण में चरित्र-सृष्टि व चरित्राकन कला का विशद तात्त्विक विवेचन करते हुए व उसमें प्रसाद के विचार-बिंदु को अनुस्यूत करते हुए प्रसाद की चरित्र-सृष्टि व चरित्राकन-कला का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है और उक्त क्षेत्रों में प्रसाद के मौलिक प्रदेय को प्रस्तुत किया गया है।

पचम प्रकरण में इतिहास, सभ्यता व सस्कृति के प्रत्ययों का तात्त्विक विवेचन करते हुए व इन प्रत्ययों का पारस्परिक अतर स्पष्ट करते हुए प्रसाद-साहित्य का विस्तृत विश्लेषण किया गया है और इतिहासकार और साहित्यकार के समन्वित व्यक्तित्व की गभीर प्रसूति के रूप में उनके साहित्य के अवदान का महत्त्व आका गया है।

षष्ठ प्रकरण में 'प्रकृति' तत्त्व की विशद साहित्यिक व्याख्या करते हुए और विस्तृत विश्लेषण द्वारा प्रसाद-साहित्य में निरूपित प्रकृति की मार्मिक विशिष्टताओं को उद्घाटित

करते हुए प्रकृतिप्राण कवि के रूप मे प्रसाद के गभीर आशय व तूलिका-कौशल को थाहने का प्रयत्न किया गया है।

सप्तम प्रकरण में 'सौंदर्य' तत्त्व की विशद छानबीन करके और प्रसाद की निजी सौंदर्य-दृष्टि की मार्मिकता को उद्घाटित करते हुए प्रसाद-साहित्य में निरूपित सौंदर्य के सभी पक्षों का साक्षात्कार कराने का प्रयत्न किया गया है और सौदर्य के कवि के रूप में प्रसाद की मौलिक देन पर प्रकाश डाला गया है।

अष्टम प्रकरण मे 'कल्पना' तत्त्व पर विचार करते हुए विस्तृत वस्तु-विश्लेषण द्वारा प्रसाद की कल्पना-शक्ति की सूक्ष्मता, गाभीर्य व उसके चरम उत्कर्ष को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

नवम प्रकरण मे 'कला' पर तात्त्विक दृष्टि रसे विचार करते हुए कला के विविध अगो व उपदानों को लेकर प्रसाद-साहित्य का विस्तृत-विश्लेषण किया गया है और कलाकार के रूप में उनका परीक्षण करते हुए ऐतिहासिक व तात्त्विक भूमियों पर उनकी मौलिक देन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

दशम प्रकरण में 'मूल्य' और 'मूल्याकन' के स्वरूप की विशद तात्त्विक चर्चा करते हुए और साहित्यिक मूल्याकन के विविध स्पष्ट व सुपुष्ट आधारो को स्थापित करते हुए साहित्यिक मूल्याकन के नाना गण्य आधारों पर प्रसाद-साहित्य का समग्र मूल्याकन करने का प्रयास किया गया है। प्रसाद की चरम देन को निर्दिष्ट व स्थिर करने से पूर्व प्रबध के सभी पूर्ववर्ती प्रकरणों के निष्कर्षों का पुनःस्मरण किया गया है, मान्य विचारको की प्रसाद-साहित्य-विषयक मूल्यात्मक धारणाओं को प्रस्तुत किया गया है और निस्सग दृष्टि से उनके प्राय सभी साहित्यिक गुण-दोषों का उल्लेख किया गया है, जिससे कि उनके चरम महत्त्व व मूल्य का अकन एकागी व असतुलित न हो। प्रकरण के अत में प्रसाद-साहित्य पर भावी शोध की दिशाओ व सभावनाओ पर भी दृष्टिपात किया गया है।

अत मे कुछ आवश्यक परिशिष्ट दिये गये हैं।

निवेदन व आभार-प्रदर्शन

सन् '55-'56 में पजीकृत विषय पर निर्मित यह प्रबध सन् 1960-64 के बीच लिपिबद्ध किया जाकर सन् 1964 में आगरा विश्वविद्यालय में परीक्षणार्थ प्रस्तुत हुआ—और इस बात को आज लगभग चार वर्ष होने आये। मेरी बहुत इच्छा थी कि मुद्रण से पूर्व इसे सतोषजनक रूप मे और भी समृद्ध-परिष्कृत कर लेता, किंतु विभाग, सकाय और विश्वविद्यालय के उत्तरोत्तर वृद्धिशील नित-नवीन दायित्वों और अन्य नानाविध क्रियाकलाप के अनवरत प्रवाह के बीच ऐसा करना पूर्ण प्रयत्न करने पर भी किसी प्रकार सभव नही हुआ। फिर, तत्कालीन चिंतन-प्रवाह और नवीन चिंतन-प्रवाह में सहज-स्निग्ध गुफन व अन्विति स्थापित करना, प्रबध के ताने-बाने व पोत को छेडे बिना (और इसका अर्थ हुआ प्रशात जल में ककडी डालकर उसे आद्यत तरगित कर देना!) किसी प्रकार सभव भी तो न था। अत प्रबध को अब उसके मूल स्वरूप में ही—केवल अत्यावश्यक सस्पर्शों व जोड-तोड के साथ, पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रबध के परीक्षक-मडल ने छोटे-बडे जो दो-एक अत्यत उपयोगी सुझाव दिये थे, वे यथासाध्य चितन-मननपूर्वक कार्यान्वित कर दिये गये हैं एकाध सुझाव से मै

अपने आपको सहमत न कर पा सका, एकाध सुझाव मेरे प्रबध की नियत सीमा-परिधि से बाहर का ही था, एकाध सुझाव अत्यत विस्तारापेक्षी या मेरी पहुच व योग्यता के बाहर का था। फिर भी मैंने परीक्षक-मडल के बहुमूल्य सुझावों को, पूर्ण सम्मान के साथ, कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया है। अस्तु। जिन उत्साहवर्द्धक व प्रेरक शब्दों में परीक्षक-मडल ने समवेत स्वर से प्रबध की स्वीकृति की सस्तुति की है, उसके लिए मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हू।

इस प्रबध की सपन्नता मे न जाने कितने स्नेहियों, शुभैषियों, मित्रो, सहयोगियों व छात्र-छात्राओं का प्रत्यक्ष-परोक्ष बहुविध सक्रिय-मानसिक योगदान निहित है।

प्रबध की आधारभूत रूपरेखा का स्वरूप-चिंतन, विनिश्चियन व प्रस्थानोचित अकन मैंने सन् 1955 में हिदी के वरेण्य आचार्य डॉ नगेन्द्र के बहुमूल्य सत्परामर्शों से लाभान्वित होते हुए किया था। मै प्रबध के प्रकाशन के क्षण उनके उस कृपापूर्ण साहाय्य का सानद स्मरण करता हुआ उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हू। दिवगत आचार्य नददुलारे वाजपेयी ने मुझे विषय की महत्त्व-गरिमा, उसकी शोधोपयुक्तता एव विषय के विश्लेषण-विवेचन की मेरी आधारभूत दृष्टि के प्रति आश्वस्त करते हुए विचार-विमर्श व पत्र-व्यवहार के द्वारा अपने प्रौढ पाडित्य की ऊष्मा का लाभ प्रदान करने की कृपा की, इसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हू। गुरुवर आचार्य प केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ. जगनन्नाथप्रसाद शर्मा एव स्वर्गीय प पद्मनारायण आचार्य (जिन्होंने 30 वर्ष पूर्व काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की बी ए की हिदी-साहित्य की सामान्य व ऑनर्स कक्षाओं में मुझे प्रसाद-साहित्य के रस की पहली उगली चटाई थी और जिनकी स्मृति आज बडी पावन, रोमाचक व लीनकारी है।) के प्रति भी मैं अपना हार्दिक आधार व्यक्त करता हू, जिनसे प्रसाद के साहित्य का मर्म थाहने में मुझे नाना भाति की सहायता प्राप्त हुई है।

मेरी पी-एच डी के प्रबध के निर्देशक मेरठ कॉलेज, मेरठ के हिदी-विभाग के भूतपूर्व आचार्य एव अध्यक्ष स्वर्गीय प्रो कृष्णानन्द पत का आभारपूर्ण मधुर स्मरण भी इस क्षण मेरे लिए अनिवार्य है, जिन्होंने मेरे मेरठ कॉलेज के कार्यकाल के दिनों में मेरी रुचि-प्रवृत्ति के अनुरूप विषय पर डी लिट् का कार्य करने के लिए मुझे बार-बार प्रेरित करने की कृपा की थी।

एल डी आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद के हिदी-विभागाध्यक्ष मेरे चिर-स्नेही मित्र डॉ रणधीर उपाध्याय ने मुद्रण से पूर्व इस प्रबध को आद्यत व मनोयोगपूर्वक पढकर अनेक उपयोगी बातों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया और उसे शीघ्रातिशीघ्र मुद्रित रूप में प्रस्तुत करने के बार-बार तकाजे किये, इसके लिए उन्हें किन शब्दों में धन्यवाद दू। वे इसे देखकर संतुष्ट होंगे।

मेरे पुरातन छात्र और कालातर में अपने निजी शोध-कार्य में मुझसे घनिष्ठ रूप से संबद्ध मेरे प्रिय शोध-छात्र डॉ श्रीराम नागर ने प्रसाद-विषयक नाना जिज्ञासाए उठायी थी, जिनका समाधान भी इस प्रबध में यथा-प्रसग समाविष्ट है।

प्रबंध दिल्ली में मुद्रित हो रहा है—दूरी, समयाभाव व मुद्रण में विलबजन्य व्यावहारिक असुविधाओं के कारण मैं यत्रस्थ ग्रथ को संशोधनादि की दृष्टि से किसी भी सोपान पर नही देख पाया। मेरे सुयोग्य शोध-छात्र रघुवीरशरण 'व्यथित' ने दिल्ली में इस व्यावहारिक पक्ष

को श्रम व निष्ठा के साथ सभालते हुए मुझे पर्याप्त निर्श्चित रखा है, इसके लिए वे मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली के स्वामी श्री कन्हैयालाल मलिक ने, जिन्होने छह-सात वर्ष पूर्व ही मुझे इस ग्रथ के मुद्रण का दायित्व देने के लिए प्रतिश्रुत कर लिया था, अपने प्रकाशन-सस्थान के गौरव व प्रतिष्ठा के अनुरूप ही इस प्रबध को सुरुचि व लगन से प्रकाशित करने में अपना उत्साह प्रदर्शित किया है, इसके लिए वे मेरी हार्दिक प्रशसा के पात्र हैं।

प्रसाद-साहित्य का समग्र व सश्लिष्ट अध्ययन अत्यत कठिन व गुरुतर कार्य प्रमाणित हुआ। पर मैने अपनी शक्ति व मति के अनुरूप इसे करने का पूर्ण प्रयास किया है। फिर भी मेरी धारणाओं व मान्यताओं में न्यूनाधिक असतुलन रह गया हो और जान-अनजान मे प्रमाद हो गया हो तो इसके लिए मै परिष्करणीय हू। पाठकगण प्रबध की उपलब्धि उसके अगों व अशों में उतनी नही, उसके आशय व समग्रता में ही कही ढूढने की कृपा करें। प्रबंध की उपलब्धि के सबध मे, अपनी ओर से, मेरा किसी भी प्रकार का कोई लबा-चौडा दावा नही है। है तो केवल यही कि मैंने अपने अधिगत सभी लघु-ह्स्व साधनों के बल से प्रसाद को उनको मूल वास्तविकता मे समझने का पूर्ण निष्ठामय प्रयास किया है। हा, यह भी न छिपाऊगा कि मेरे काम्य आदर्श को देखते हुए इस कार्य से मुझे स्वय को अब भी पूरा सतोष नही है।

अभी कुछ और शेष। इस प्रबध के निर्माण मे मेरी सहधर्मिणी सौभाग्यवती कान्तिबाला ने अपने दो बडे ऑपरेशनो के बावजूद गृहस्थी की झझटों व पल-पल की पाव-ककरियो से मुझे अधिकाधिक मुक्त रखकर एकाग्रता के साथ कार्यरत रखने में जो मौन व कठोर साधना की है, उसका बखान करके मै उस तप के सौंदर्य को विकृत नही करना चाहता।

अत मे निवेदन है कि यदि विद्वज्जन, शोधार्थी व प्रेमी पाठक इस प्रबध की त्रुटियों, असगतियो व अभावो की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा करेगे तो मैं उनका आभारी होऊगा और उनके रचनात्मक सुझावो से आभारपूर्वक लाभ उठाता हुआ ग्रथ के द्वितीय सस्करण को यथासभव समृद्ध बनाने का प्रयत्न करूगा।

ग्रथ के अत में परिशिष्ट '6' व प्रश्नोत्तरी में आचार्य वाजपेयी जी के उत्तरों का प्रस्तुतीकरण उनकी लिखित स्वीकृति के आधार पर किया गया है।

यदि इस प्रबध से साहित्य को, विशेषत प्रसाद-साहित्य को कुछ भी योगदान हुआ तो दीर्घकाल का मेरा यह कठोर श्रम व्यर्थ नही जायेगा।

—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग
तथा डीन, कला-सकाय,
सरदार पटेल यूनिवर्सिटी
वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)
अप्रैल, 1968

अनुक्रम

प्रथम प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में प्रयुक्त विविध साहित्य-रूप

प्रकरण-प्रवेश व सामान्य

प्रकरण-सगति

मानव-ज्ञान की विविध शाखाओ मे साहित्य का स्थान अत्यत उच्च है। साहित्य के प्रयोजन[1] या उद्देश्य का अनुशीलन करने पर यह बात नितात स्पष्ट हो जाती है। ऐसे महिमाशाली साहित्य का निर्माण भाव और विचार की आतरिक सपत्ति से होता है। शुद्ध साहित्य का समस्त प्रासाद भाव की नीव पर ही खडा है। साहित्यगत भाव की उच्च प्रकृति का निर्देश करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते है—"भाव क्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है।"[2] वे भाव-विशिष्ट साहित्य की साधना को कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष ठहराकर जीवन में उसके गौरव का निर्देश व व्याख्यान करते है।[3] ऐसी महती साधना स्वभावत उच्चकोटि की प्रतिभा की अपेक्षा रखती है। प्रतिभा के उन्मीलन से ही मन की अरूप भावनाए एक प्रत्यक्ष रूप या आकार ग्रहण करती है। कल्पना प्रतिभा का उन्मेष है। कल्पना अपना अस्तित्व रूप-निर्माण मे ही सार्थक करती है। भाव-सपन्न साहित्यकार अपनी आतरिक सृष्टि को कल्पना की सहायता से बाहर व्यक्त करके एक विशेष मनस्तुष्टि का अनुभव करता है। पर यह बाह्य अभिव्यक्ति सटीक रूप मे एक भीतरी ध्यान व धारणा शक्ति के ही सामूहिक उद्योग के परिणामस्वरूप उच्छलित होती है।[4] सृष्टि पहले मानसी ही होती है। अभिव्यक्ति का क्रम तो बाद मे है। कलाकार पहले, विश्वकर्मा की तरह, मानसी सृष्टि करके फिर उसे बाहर व्यक्त करता है। इस प्रक्रिया मे रूप-निर्माण का समस्त कोशल निहित है। आतरिक धूमिल-अस्पष्ट अनुभूति-राजि का बाह्य रूप-ग्रहण ही साहित्य का प्रथम परिचय या लक्षण बन जाता है। व्यक्त जगत् नामरूपात्मक ही है। निर्गुण सत्ता नाम व रूप मे ही अपने को सर्वप्रथम अभिव्यक्त करती है।[5] साहित्य, काव्य या कला के क्षेत्र में भी यही तथ्य पुष्ट होता है।

सृष्टि मे रूप-तत्त्व के इस महत्त्व व क्रम को देखते हुए, प्रसाद-साहित्य पर विचार आरभ करने पर रूप का विचार यहा सर्वथा प्रसग-प्राप्त समझा जाएगा।

रूप या कला का क्षेत्र अत्यत व्यापक है। सुविधा व स्पष्टता के लिए अभिव्यक्ति पक्ष के दो स्पष्ट प्रभेद किये जा सकते हैं—(1) रूप (सीमित अर्थों मे, ढाचा मात्र), और (2) कला, अर्थात—भाषा, छद, अलकार, ध्वनि, गुण, रीति आदि सूक्ष्मतर अभिव्यजन साधन। हमने प्रस्तुत प्रकरण मे प्रसाद-साहित्य के बाह्य ढाचे पर विचार किया है। आरभ में यह प्रकरण इसलिए रखा गया है कि किसी भी साहित्य-प्रकार या विधा की मूल कल्पना प्रातिभ ज्ञान द्वारा

पहले एक प्रकार के दिव्याभास (flash) के रूप में उसके रूप या ढाचे को ही लेकर हुआ करती है। कला का प्रकरण प्रबध के अत में रखा गया है और वह भी सकारण। साहित्य-विचार मे सामान्यत पहले कथ्य या विषय (अनुभूति, विचार आदि) पर पूरा विचार कर लेने के बाद ही कला पर विचार किया जाता है। प्रसाद-साहित्य के अध्ययन के लिए तो यह क्रम औ॰ भी समीचीन है, क्योकि प्रसाद अनुभूति को ही अधिक महत्त्व देते है, रूप या कला को नही। रूप को सर्वप्रथम स्थान देना एक अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि रूप (form of structure) पर ही वस्तु या अनुभूति की अभिव्यक्ति निर्भर करती है। इस दृष्टि से इस प्रकरण की आवश्यकता तथा उसका अवस्थान-क्रम दोनो ही सर्वथा उचित जान पडेंगे।

रूप का क्षेत्र

व्यापक दृष्टि से साहित्य मे रूप का क्षेत्र असीम है। पहले तो साहित्य के रूपो या विधाओं और फिर उनकी प्रजाओं की गणना ही कठिन है। भाषा-रूपों, अलकारों और छदों या अभिव्यजना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रणालियो मे वस्तुत यह रूप ही आत्म-प्रसार कर रहा है। कवि की प्रतिभा के आनत्य या अविच्छिन्नत्व के अनुसार रूप भी अनत है।[6]

रूप, शैली, कला और अभिव्यक्ति—इन चारों शब्दो के प्रयोग में इतना शैथिल्य दिखायी पडता है कि इस प्रकरण की मर्यादा बाधने के लिए पहले इन चारो की सीमा-रेखाओं पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड रहा है।

रूप 'रूप' शब्द प्राय सीमित व व्यापक दोनो ही अर्थों मे प्रयुक्त होता है। सीमित अर्थ में यह ढाचा या बाह्य आकृतिमात्र का, और व्यापक अर्थ में वह काव्य या साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष मात्र का (जिसमे ढाचा—आकार और भाषा, छद, अलकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, सब-कुछ समाविष्ट है) द्योतक है। व्यापक अर्थ मे यह प्रयोग 'साहित्य मे वस्तु और रूप'-जैसी पदावली के प्रयोग से सुस्पष्ट है। वस्तुत रूप बाहरी स्वरूप (features) को ही कहना उचित है। कोई व्यक्ति रूपवान हो सकता है, पर वह अनिवार्यत सुदर नही हो सकता। सौंदर्य बाह्य और आतरिक चेतना है। बाह्य एव आतरिक सामजस्य के बिना सुदर नही कहा जा सकता। पर, पश्चिम के अधिकाश लेखको ने 'form' को अत्यत व्यापक अर्थ में लेकर उसे साहित्य तत्त्वचिता में अत्यत सूक्ष्म बना दिया है। पश्चिम में रूप के क्षेत्र के स्पष्ट पार्थक्य का भी प्रयत्न हुआ है।[7] टी एस इलियट ने, जिन्होंने विषय की प्रकृति के अनुरूप आकार कल्पित-आविष्कृत करने वाली बुद्धि को अत्यत व्यापक अर्थ में विचार (Thought) का अगभूत कहा है, कला (Grab-art of clothing and adorning) और रूप (form) मे स्पष्ट पार्थक्य किया है, और इस समस्त विस्तार को अतत कल्पना का ही कार्य माना है।[8] इसी प्रकार विंकलमन (Wincklemann) ने सौंदर्य के तीन भेद—कलारूप का सौंदर्य (Beauty of form), विचार या भावना का सौंदर्य (Beauty of idea), और अभिव्यक्ति का सौंदर्य (Beauty of expression) – करते हुए मानो रूप और अभिव्यक्ति के क्षेत्रों का पृथक्करण निर्दिष्ट किया है। और फिर अभिव्यक्ति के सौंदर्य में प्रथम दो को समाविष्ट करते हुए वे उसे (अभिव्यक्ति को) अत्यत व्यापक मानकर कला का सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं।[9] सली (Sully) ने इद्रिय ग्राह्य सौंदर्य, आकृति (form)-गत सौंदर्य और

अभिव्यक्तिगत या अर्थगत सौदर्य (Beauty of Expression of meaning)—इन तीन प्रकार के सौदर्यों की कल्पना करके रूपगत और अभिव्यक्तिगत सौदर्य को पृथक् किया है।[10]

शैली साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष के लिए 'शैली' शब्द का भी प्रयोग चलता है—यथा, 'वस्तु और शैली'। अत रूप और शैली का समानार्थक व्यवहार भी स्पष्टता मे बाधक है। 'शैली' शब्द 'शील', जो आतरिक भाव या चारित्र्य का सूचक है,[11] से बना है और साहित्य मे यह लेखक के निजी व्यक्तित्व को ही प्रमुखता से प्रकाशित करने के लिए नियत है। रूप वस्तुत बाह्य विधा या ढाचे की ओर सकेत करता है, जबकि शैली लेखक के आतरिक व्यक्तित्व की ओर। तात्पर्य यह है कि रूप और शैली दोनो समानार्थक नही, उनमे स्पष्ट भेद है।

कला शब्द के प्रयोग की स्थिति भी सुनिश्चित नही। एक ओर तो 'कला' शब्द-सृजन मात्र का पर्याय (जिसमें वस्तु व शैली दोनो समाविष्ट है) होकर अत्यत व्यापक अर्थ का द्योतक है (जैसा कि 'यूरोपीय कला', 'भारतीय कला' आदि प्रयोगो से स्पष्ट है) और दूसरी ओर वह भी शैली या रूप की तरह सीमित अर्थ का द्योतक है। साहित्य के क्षेत्र मे 'कला' (कामशास्त्र की 64 कलाओ मे से एक) शब्द के प्रयोग-मात्र पर विद्वानो[12] को जो आपत्ति है उसकी बात तो अभी छोड ही दी जाय।

अभिव्यक्ति 'अभिव्यक्ति' शब्द की भी इसी प्रकार की स्थिति है। अभिव्यक्ति एक ओर तो अपने व्यापक अर्थ मे सृजन मात्र की द्योतक है—यथा, "ससार ब्रह्म की अभिव्यक्ति है", "साहित्य मानव या मानव-मन की अभिव्यक्ति है", और दूसरी ओर वह उपर्युक्त रूप या कला के सीमित अर्थो की ही तरह सीमित है।

यह एक प्रकार से प्रयोग-अराजकता है। अस्तु। हमने अपनी स्पष्टता के लिए रूप को केवल बाह्य आकृति (form, shape), ढाचा (structure) के ही अर्थों मे ग्रहण किया है—यह मानते हुए कि रूप, कला का एक अग होकर भी, अपना एक निर्विवाद स्वतत्र व्यक्तित्व रखता है। 'रूप' के अतर्गत हमने विधा, आकार या ढांचे से सबध रखने वाली बातो का ही विचार किया है, और भाषा, छद, अलकार व अभिव्यक्ति के अन्य सूक्ष्मतर साधनो का विचार कला के प्रकरण के अतर्गत। यद्यपि रूप और कला की सीमा-रेखाए बाधना (वस्तु और कला की तरह ही) अत्यत कठिन है, पर स्पष्टता व सुविधा की दृष्टि से ऐसा किया गया है।

पश्चिम में सौदर्य-विभाजन के प्रसग मे कला, रूप और अभिव्यक्ति की चर्चा काफी हुई है, जिससे रूप के क्षेत्र की अस्थिरता का कुछ अनुमान हो सकता है।

वस्तु और रूप का सबध

साहित्य-रूप की चर्चा में साहित्य के वर्ण्य या विषय का विचार भी समाहित है, क्योंकि वस्तु और आकार एक-दूसरे से पृथक् नही हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नही हो सकती और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है।[13] महान् समन्वयवादी आचार्य आनदवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धात में वस्तु (अनुभूति) और रूप दोनों का समन्वय है।[14] अत साहित्य-रूप की चर्चा मे उतरने से पहले साहित्य की वर्ण्य-वस्तु और विशेष रूप से प्रसाद-साहित्य की

वर्ण्य-वस्तु पर दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा। यो तो साहित्य के दो पक्षो—भावपक्ष और कलापक्ष—में से भावपक्ष में साहित्य के समस्त वर्ण्य समाविष्ट हो जाते है। अत भावपक्ष के निरूपण के साथ ही विषय या वर्ण्य की चर्चा सश्लिष्ट रूप से ही हो जानी चाहिए, पर सुविधा व स्पष्टता के विचार से, भावपक्ष के सभी अगो का अपने-अपने स्थान पर पूरा-पूरा महत्त्व होने के कारण उनका विवेचन इस प्रबध के स्वतत्र प्रकरणो मे किया गया है।

वस्तु के आतरिक गुण के अनुरूप ही रूप-निर्माण होता है। साहित्यकार अपने साहित्य से श्रेष्ठतम आनद निष्पन्न करने के लिए साहित्य-रूपो को आकर्षकतम रूपों मे प्रस्तुत करना चाहता है, क्योकि यदि वह इस रूप मे उन्हें प्रस्तुत न कर सके, तो न तो साहित्य के आरभिक परिचयात्मक गुण या वैशिष्ट्य की ही उत्पत्ति होगी और न लेखक की साहित्यिक सफलता ही पूर्ण अर्थों मे चरितार्थ होगी। अत सुदर रूप का निर्माण साहित्यकार की पहली आवश्यकता है। क्रोचे की इस मान्यता का स्वीकार इसी अवच्छेदक धर्म द्वारा करने मे विशेष कठिनाई या आपत्ति नही होनी चाहिए कि साहित्यकार का महत्त्व वास्तव मे मूल 'वस्तु' के कारण नही, कितु निमित्त रूप से गृहीत वस्तु के द्वारा साहित्यिक आनद प्रदान करने की अधिकाधिक क्षमताओ-सभावनाओ के कारण ही है।[15] वस्तु के लिए हम कवि के पास क्यो जाए? वस्तु तो हम स्वय जीवन से प्राप्त करते है, कर सकते है, अथवा जीवन के विविध ज्ञान-क्षेत्रो के प्रामाणिक स्रोतों-साधनो से प्राप्त कर सकते है, और सभवत अधिक अच्छी तरह व पूर्णता से प्राप्त कर सकते है। यद्यपि काव्य-हेतुओ के निरूपण मे आचार्यों ने 'शक्ति' (प्रतिभा) और 'अभ्यास' के साथ ही 'निपुणता' (व्युत्पत्ति)[16] (अर्थ, कथाए, लोकव्यवहार, शास्त्रज्ञान, कलाज्ञान आदि) का भी एक अत्यत महत्त्वपूर्ण हेतु माना है, फिर भी हम कवि या साहित्यकार से मात्र वस्तु की अपेक्षा नही करते। वस्तु या सामग्री मात्र के लिए हम कवि के मुखापेक्षी क्यो हो? कवि के मुखापेक्षी तो हम इसलिए होते है कि वह जो सत्त्वशील व उच्चाशयी वस्तु हमे प्रदान करता है, वह आनदप्रदायक गुण के ही साथ। इसलिए मुख्यत इस आनदप्रदायकता का प्रकाश करने वाली जो सामग्री है स्वय उसकी भी साहित्य में उपेक्षा नही की जा सकती। 'ध्वन्यालोक' में वस्तु-ध्वनि का प्रथम भेद माना गया है। उन्होने कोरी सघटना (रूप) को काव्य की आत्मा नही माना। धनजय ने स्पष्ट शब्दो मे वस्तु की महत्ता स्वीकार की है।[17] तात्पर्य यह है कि साहित्य-रूप के साथ साहित्यिक वस्तु का विचार भी अनिवार्यत: सग्रथित है।

साहित्य की वस्तु या वर्ण्य के अतर्गत रस, भाव, विभाव, विचार, चरित्र, इतिवृत्त, प्रकृति आदि वह सब समाविष्ट होता है या हो सकता है जो कलात्मक रूप ग्रहण करने के लिए काव्य की सूक्ष्म या स्थूल मूल उपादान सामग्री बन सकता हो। आचार्य भामह ने लिखा है—"कोई शब्द, कोई अर्थ, कोई न्याय, कोई कला ऐसी नही जो काव्य का अग न हो या न हो सकती हो। अहो, कवि का भार कितना बडा है।[18] आचार्य रुद्रट भी लिखते है कि इस जगत् में कोई भी ऐसा वाच्य या वाचक नही है जो काव्य का अग न हो।[19] तात्पर्य यह कि सृष्टि का सब-कुछ काव्य-सामग्री बनने की क्षमता रखता है।

जब हम प्रसाद-साहित्य पर दृष्टिपात करते है तो वर्ण्य-सामग्री की साहित्योचित विशालता व वैविध्य के प्रति हम पूर्ण आश्वस्त होते हैं। लेखक ने इतिहास व पुराण के विविध इतिवृत्त, विशाल जीवनानुभव, हृदयगत भाव, मनोगत विचार, मानव व प्रकृति के

रूप-सौदर्य, मानव-चरित्र व जीवन-दशाए, घटना-व्यापार आदि—यह सब विशाल सामग्री उपादान रूप में प्रस्तुत की है। यदि यह अभिधा की पद्धति से चमत्कारशून्य एक निर्जीव पिड के रूप मे ही हमारे सामने रख दी जाती तो उसे हम साहित्य कदापि नही कहते। यह सामग्री सुदरता के साथ (कैसी या किस कोटी की है इसका विचार प्रबध मे आगे होगा) साहित्यिक रूप-सौष्ठव या कला-परिधान के साथ प्रस्तुत की गयी है, इसीलिए सापेक्षिक रूप मे इस सामग्री का इतना महत्त्व है। साहित्य के समग्र विधान मे इस सामग्री का क्या महत्त्व है, इसका निर्देश साहित्य के श्रेष्ठ मनीषियो के द्वारा किया जाता रहा है। वस्तु और शैली या रूप के तारतम्यिक या सापेक्षिक महत्त्व व अनुपात के सबध मे विविध विचार-सरणिया भारतीय व पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र मे विद्यमान है, जो वस्तु की प्राय पूर्ण उपेक्षा और रूप या अभिव्यजना मात्र की स्वीकृति से लेकर वस्तु के पूर्ण महत्त्वाकन और रूप या अभिव्यजना की गौणता तक के बीच प्रसरित है, पर प्रस्तुत प्रसग में सामान्यत अभी इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य-क्षेत्र मे वस्तु का महत्त्व निर्विवाद है। वड्र्सवर्थ,[20] मैथ्यू आर्नल्ड,[21] डॉ राधाकृष्णन[22] आदि शीर्षस्थानीय कवियो व चितको ने काव्य-वस्तु को पूरा-पूरा गौरव प्रदान किया है। बाबू गुलाबराय जी के अनुसार महान् अभिव्यजनावादी क्रोचे भी रूप की उपेक्षा नही करते।[23]

रूप का महत्त्व

साहित्यिक वस्तु या तथ्य को प्रभावशाली रूप मे उपस्थित करने का पहला सोपान उक्त वस्तु के लिए उपयुक्त ढाचे का निर्माण-कार्य है। ढाचे का आवयविक ऐक्य (Organic or structural unity) ही वस्तुत कला की पहली स्थूल पहचान है। पर यह कार्य कला-निर्माण का आरभिक चरण होते हुए भी अत्यत कल्पनापेक्षी, जटिल व सूक्ष्म है। वस्तु की प्रारभिक सुडौलता-सुव्यवस्था ही भाषा, छद, अलकार व व्यजना से प्राप्य उन ज्योतियो व स्फूर्तियो को सहज सुलभ करा देती है जो वस्तु को कला-पद पर प्रतिष्ठित कराने मे अग्रगण्य है। रचना मे भाव, रस व कल्पना के सामूहिक प्रयोग-रूप प्राण-प्रतिष्ठा होने से पूर्व उसके अस्थि-जाल का दृढ, सुडौल या सुगठित होना अत्यत आवश्यक है। रचना के विभिन्न अवयवो की परस्पर समानुपातता तथा अगी (रचना) की उसके विभिन्न अगो से अन्विति, समग्र प्रभाव की दृष्टि से बडे महत्त्व की वस्तु है। इससे भी आगे बढकर कला के आदर्श की पूर्ति की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि शरीर की मासपेशियो, नाडी-सस्थान व स्नायु-जाल के समान रचना के अग-उपाग भी सुनियोजित व सुसबद्ध-सुगुफित हो। साहित्य-रचना का यह आधारभूत ढाचा जितना ही पुष्ट-व्यवस्थित होगा, उतना ही वह अभिव्यक्ति के साधनों (भाषा, छद, अलकार आदि) को अपनी जीवनी शक्ति का परिचय देने की अधिक सुविधा प्रदान करेगा। रचना का प्राणोच्छ्वास व रक्ताभिसरण अबाध रूप से होगा, उस पर परिधान व सज्जा-शृगार फबेगा तथा उसमें गति-व्यापार-सामर्थ्य व प्रभविष्णुता अधिक उत्पन्न होगी। तात्पर्य यह कि रचना के कलात्मक गठन की दृष्टि से उसके विभिन्न अगों या अवयवों में परस्पर सगति, सवादित्व व सम्मात्रा का होना नितात आवश्यक है। इसी लक्ष्य के लिए रूप-निर्माण का सभार किया जाता है।

व्यापार-रूप से अभिव्यक्ति के कई प्रकार हैं, जैसे—(1) सृष्टि के रूप में ब्रह्म की अभिव्यक्ति, (2) सगीत, काव्य और कलाओं के रूप मे मानव-हृदय की अभिव्यक्ति, और

(3) इन बाह्य अभिव्यक्तियो के अतिरिक्त अन्य मानसिक अभिव्यक्तिया—जो बिब आदि के रूप मे मन के भीतर ही निर्मित होती व मिटती रहती है। ये सब अभिव्यक्तिया उपकरण-भेद को रखते हुए भी उद्गम और प्रभाव की दृष्टि से प्राय समान ही मानी जा सकती है। इस प्रकार जीवन मे अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार है और उनमे से हमारे प्रस्तुत प्रयोजन के लिए एक प्रकार-विशेष है साहित्य। जब 'वस्तु', शब्द और कल्पना की सहायता से, रूप धारण कर सहृदयो मे रमणीयता का सचार करने को प्रकट होती है तभी साहित्य (ललित) की उत्पत्ति होती है।

नामरूपात्मक जगत् मे रूप की अपनी महत्ता है। साहित्यकार अपनी वस्तु को आकर्षकतम रूप मे प्रस्तुत करता है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबध आदि आज के प्रतिष्ठित साहित्य-रूप हैं। प्रतिभाशाली द्रष्टा कवि को वस्तु अपना वास्तविक रूप स्वय अपने भीतर से ही सुझाती है। द्रष्टा तपाक् से रूप सबधी उस सूक्ष्म, विद्युत-गतिवान आतरिक सुझाव को स्वीकार कर लेता है। इस सुझाव का महत्त्व इस तथ्य से ही जान पड सकता है कि जो बात नाट्य-रचना के उपयुक्त है वह कहानी के लिए नही, जो उपन्यास के उपयुक्त है वह कविता के लिए नही, आदि। तात्पर्य यह कि एक साहित्य-रूप दूसरे साहित्य-रूप से गुण व प्रभाव की दृष्टि से भिन्न कहा जा सकता है। रचयिता कलाकार की रूप-पहचान की यह विशेष क्षमता और उस रूप का कौशलपूर्ण व सफल विनियोग एक ओर तो उसकी कल्पनाशक्ति की विशेष ऊर्जा व भगिमा का द्योतक है, तो दूसरी ओर लेखक द्वारा अभीप्सित कला-प्रभाव की उत्पत्ति का एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्रोत या साधन है। यो तो बाहरी रूप (कविता, नाटक, कहानी आदि) स्थूल आवरण-मात्र है, जो उसमे निहित प्राणप्रद या तोषारी भीतरी भाव-विचार और चेतना (वस्तु) का समकक्ष या स्थानापन्न नही कहा जा सकता। किंतु फिर भी साहित्य मे रूप का विचार "स्वस्थ आत्मा के अनुरूप स्वस्थ देह जैसे सतुलन-स्थापक कथन के तौल पर रखा जा सकता है। यह स्पष्ट ही है कि साहित्य के विशिष्ट रूपो का प्रयोग ही मोटे तौर से किसी साहित्यिक रचना को 'साहित्य' की आरभिक सज्ञा प्रदान करता है। रूप के महत्त्व का बोध इतने से ही हो सकता है कि उपर्युक्त रूपो अथवा उनकी विविध प्रकार की जोड-तोड से उत्पन्न अगणित रूपों के प्रयोग वस्तु को सटीक आवरण देने की दृष्टि से साहित्य-जगत् में आविष्कृत हुए है और यह क्रम अखड रूप से आज भी जारी है। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि मानव का अत करण अभिव्यक्ति की पूर्णता, सुदरता और निर्दोषता का आदर्श प्राप्त करने के लिए निरतर विकल रहा है। रूप की यह साधना वस्तु को सुदर व आनंदप्रद बनाने की साधना है।

साहित्य-रूप . तात्त्विक चिंता

पाश्चात्य रूप-विचार

प्रसाद-साहित्य के रूप की क्या स्थिति है, इस पर व्यापक रूप से विचार करने के लिए यदि हम रूप संबधी पाश्चात्य चिंता पर एक विहगम दृष्टि डाल सकें तो उपयोगी होगा।

वस्तु को उपयुक्त रूप देना ही साहित्य का कर्त्तव्य है। पर रूप क्या है तथा वस्तु और

रूप का क्या सबध है—इस विषय की असाधारण जटिलता व विवादास्पदता से साहित्य के मूर्धन्य विचारक भी अवगत है।[24] इस जटिलता का अनुमान इन दो अतिवादी विचारधाराओ द्वारा सहज ही हो सकेगा कि पाश्चात्य आद्याचार्य प्लेटो साहित्य में विचार या 'आइडिया' को प्राथमिकता देता है[25] तो क्रोचे रूप के अतिरिक्त और किसी की सत्ता को नही मानते।[26] इन दो सीमाओं के बीच रूप (व्यापक अर्थ में, जिसमें ढांचा या आकार और भाषा, छद, अलकार, रीति, ध्वनि सब समाविष्ट हैं) के वास्तविक स्वरूप व स्थान के निर्धारण पर पश्चिम मे खूब गहरा विचार किया गया है।

सिडनी वस्तु व रूप, दोनो को महत्त्व देते हुए मानव-प्रकृति के यथार्थ व सजीव अकन (Just and lively image of human nature) में काव्य की पूर्णता मानते है।[27] वे रूप को प्राणोद्रेक से सबद्ध करके उसमे आनददायकता का प्रमुख तत्त्व मानते है।[28] जानसन ने वस्तु और रूप का भेद अनूठा इद्रिय-बोध (Unique perception) और अनूठा उपयुक्त रूप (Uniquely appropriate form) कहकर किया है। उसकी दृष्टि मे कौशलपूर्ण व प्रसन्नकर (Skilful and pleasing verification) रूप ही वास्तविक रूप है।[29] ड्राइडन रूप के 'उपयुक्त' (Suitable) होने का आग्रह रखते है।[30] एलेक्जेडर पोप ने रूप को कथन का आह्लादक ढग या आनददायक विधि (Generally delightful a way as possible) कहा है।[31] वड्र्सवर्थ यथार्थ व रमणीयता (Justness and loveliness) को महत्त्व देते हुए वस्तु की यथार्थता व रूप की रमणीयता के पक्षपाती है।[32] उनकी दृष्टि मे कवि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की जीवनी शक्ति (vitality) ही वस्तु की यथार्थता व रमणीयता का पक्का आश्वासन दे देती है।[33] कालरिज ने आनददायी कलारूप को वस्तु की मूल या तलवर्ती प्रकृति से सहज उद्भूत होने मे ही माना है।[34] रूप की दृष्टि से प्रेय पर उनका आग्रह अधिक जान पडता है।[35] जर्मन दार्शनिक शिलर ने रूप-विधान की वृत्ति को एक प्राकृतिक प्रेरणा (Impulse) का परिणाम ठहराया है।[36] अबरक्राबी ने रूप का सबध कवि-प्रेरणा से भी ठहराया है, वस्तुगत मूल प्रेरणा के अनुपात मे ही साहित्यिक रूप या अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है।[37] क्रोचे ने निस्सग रूप की कल्पना कर डाली, किंतु वर्मफोल्ड और अबरक्राबी वस्तु के अभाव के रूप की सत्ता नही मानते।[38] अबरक्राबी रूप में समन्वित प्रभाव व सुपक्व परिपूर्णता को महत्त्व देते है। उनकी दृष्टि मे, रूप कोई ऊपर से थोपी हुई वस्तु नही है। वह तो कवि की अतःप्रेरणा और उपयुक्त रीति की मधुर सगति मे से सहज रूप में या स्वयमेव उभरकर आ जाता है।[39] अनुभव तो सबके ही पास होता है, उसे रूप देने मे ही साहित्य का वैशिष्ट्य है।[40] अन्विति (Unity) ही रूप का लक्षण है।[41] रूप ही कलाकृति का समग्र रूप में कलात्मक मूल्याकन या निर्णय का आधार प्रदान करता है।[42] रूप की पूर्णता में ही कला है। इसी से अनुभव पूर्णतया महत्त्वपूर्ण होता है।[43] यह पूर्णता सयोगवश ही प्राप्त नही हो जाती, यह दीर्घकालीन सजग अभ्यास का परिणाम है।[44]

हर्बर्ट रीड ने रूप के दो भेद किये है—अमूर्त रूप (Abstract form) और आगिक रूप (Organic form) पहला वहा होता है जहा पूर्व-प्रतिष्ठित स्थिर रूप की पुनरावृत्ति मात्र होती है और कलाकार नवसर्जन या नवाविष्कार की अतर्निहित गत्यात्मकता या प्राणवत्ता से अछूता रहता है। किंतु आगिक रूप वहा होता है जहा वस्तु और रूप एक-दूसरे में पूर्णतया विलीन हो जाते है, जहा रचना के अपने निजी या मौलिक नियम (Inherent laws) होते हैं,

अर्थात् कोई मौलिक नवाविष्कार होता है।[45] कालरिज का भी कुछ ऐसा ही मतव्य है। रूप आनददायक हो सकता है, पर सच्चा रूप (Original form) कल्पना की उपलब्धि है और इस प्रकार वह मानव की आत्मा को पूर्णरूप से क्रियमाण बना देता है।[46] वर्सफोल्ड ने प्राचीन यूनानी और नवीन साहित्य में वस्तु और रूप पर विचार करते हुए यह समाहार प्रस्तुत किया है कि प्रकृति स्वय ही अपने उद्गारो के लिए उपयुक्त वाहन प्रदान करेगी।[47]

बिनयन (Binyon) मृत या अर्द्धजीवित रूढियो से मुक्त होकर केवल ऐसे ही वस्तु और रूप से साहित्य-कर्म करना चाहते है जो उनका अत्यत निजी बन गया हो।[48] एटविसल कोरे रूप को साहित्य मे एक औपचारिक वस्तु से अधिक महत्त्व नही देना चाहते।[49] सुप्रसिद्ध अग्रेज समीक्षक आई ए रिचर्ड्स की मान्यता है कि काव्य के शिल्प या कला-पक्ष के पुष्ट होने से भावपक्ष अधिक मूल्यवान हो जाता है। यो, उनकी दृष्टि मे भावपक्ष का अधिक महत्त्व है।

रूप-सबधी इन पाश्चात्य धारणाओ के समाहार मे यह कहा जा सकता है—(1) रूप, रचना का बाह्य ढाचा या उसकी निर्जीव रूप-रेखा मात्र ही नही है, उसका सबध सूक्ष्म कल्पना व प्रतिभा से भी है। (2) वस्तु रूप को गौरव प्रदान करती है और रूप वस्तु को गौरव प्रदान करता है, इस प्रकार वे परस्पर उपकारक है। (3) रूप सजीव, समन्वित, आनददायक, अगागिभावयुक्त व क्रमबद्ध होकर ही लेखक के निजी व्यक्तित्व की सहज उपज होता है। (4) वही रूप सर्वाधिक आनददायक होता है जो वस्तु की प्रकृति के अनुरूप होकर उसके साथ एकरस हो गया हो। (5) परपरा के अनुकरण मात्र मे नही, किंतु मौलिक रूप से उद्भावित रूप में ही चेतनात्मा की क्रीडा दृष्टिगोचर होती है।

साहित्य की बाह्य आकृति व कला पर पश्चिम का यह सामूहिक चितन बडा सूक्ष्म है। इसमें रूप या कला सबधी तीनों मत—(1) वस्तु ही सर्वोपरि है, (2) रूप ही सर्वोपरि है, और (3) वस्तु और रूप का सामंजस्य ही साहित्य का आदर्श है—व्यक्त हुए है।

प्रसाद की स्थिति को आकने के लिए ये तथ्य सहायक होंगे।

भारतीय रूप-विचार

भारतीय साहित्यिक विचारधारा में अन्य विचारधाराओं की ही तरह भारतीय दार्शनिक चिताए अनुस्यूत हैं। अनुभूति और साहित्य-रूप का चितन भी इसका अपवाद नही। ब्रह्म ने आनदपूर्वक लोकों का निर्माण किया[50] जो नाम-रूपात्मक है। अत ये नाम-रूप भी सब उसी के है,[51] स्थूल बाह्य, भौतिक अथवा मूर्त्त होने से तुच्छ या हेय नही, जैसा कि ईसाई मत मे समझा जाता है।[52] मूर्त्त और अमूर्त्त, स्थूल और सूक्ष्म, दोनों ब्रह्म के नाते वरेण्य है।[53] पर साथ ही यह भी कहा गया है कि नाम-रूप अतत परात्पर पुरुष या ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं,[54] उनकी कोई निजी स्वतत्र सत्ता नही। पचदशीकार ने भी कहा है कि 'अस्ति', 'भाति' और 'प्रिय' ही ब्रह्म रूप है, शेष नाम और जगद्रूप। भारतीय साधक नाम-रूप से परे वाली अमर सत्ता में ही प्रीति रखता है। भारतीय कला-साधक भी उसी पथ का पथिक है। उसका कलाभ्यास अपने आप में लक्ष्य नही, वह एक उच्चतम लक्ष्य का साधन है। उस अभ्यास के द्वारा जो साध्य अनुभूति है वही प्रमुख है, अभ्यास की पूर्णता अनुभूति की सिद्धि मे ही सार्थक होती है। सक्षेप में, कला के अभ्यास की यही भारतीय दार्शनिक पीठिका है, जिसे

ध्यान में रखना आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय साहित्य-चिता के रूप पर अत्यत सूक्ष्म व गहरा विवेचन हो चुका है जो प्राचीन भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व लोकप्रिय साहित्य-विधाओ—नाटक व काव्य (दृश्यकाव्य व श्रव्यकाव्य)—के विवेचन के अतर्गत प्राप्त होता है। रूप का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण तत्त्व है व्यवस्थीकरण—ऐसा व्यवस्थीकरण जिसका परिणाम काव्यानद की प्राप्ति मे सहयोगी हो। भरत से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक, वस्तु को ललित विन्यास देने की दिशा मे जो नियमोपनियम बने, वे सब साहित्य-रूप के विचार के अनवरत अध्यवसाय के साक्षी हैं और साहित्य मे भारतीयो की परिनिष्ठित रूप-भावना के प्रति सजगता के व उसे निरतर सूक्ष्म और उज्ज्वल करने के अटूट अभ्यास के निदर्शक है। यद्यपि रूप का यह विशद और जटिल विधान सभवत प्राय सिद्धात-क्षेत्र में एक काल्पनिक आदर्श बिदु का ही द्योतक रहा, उसका व्यावहारिक निर्वाह उतनी कडाई से न हो सका, तथापि उसके आधार पर इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि कलात्मक रूप-निर्माण के क्षेत्र मे भारतीयो की जिज्ञासा व कुशलता अत्यत उच्चकोटि की थी। नाटक व कार्य की कथावस्तु के सघटन-विषयक समस्त जटिल विधान—कार्यावस्थाए, अर्थ-प्रकृतिया, सधिया शब्द शक्तियो में लक्षणा व व्यजना तथा छद के विचार मे भारतीय कलाकार के अभ्यास के उच्च स्तरो की कल्पना की जा सकती है।

वस्तु और रूप का घनिष्ठतम सबध ध्वनि सप्रदाय में प्रकट हुआ है, जहा सभी साहित्य सप्रदायो के दृष्टिकोणों का समुचित समावेश हुआ है। पाश्चात्यो के लिए भारतीय साहित्य और सस्कृति के प्रामाणिक व्याख्याता डॉ आनदकुमार स्वामी ने रूप की जो व्याख्या की है, उससे यह निर्भ्रात रूप से पुष्टि होती है कि भारतीयो ने रूप का गहरा मर्म समझा था। वस्तु-विन्यास, वस्तु-सघटन या वस्तु-योजना शब्दों से ही वस्तु के अभ्यास-साध्य सुडौल गठन, माज, निखार-सवार, प्रीतिकरता, आह्लादकता आदि परिणाम व्यजित है।

डा कुमार स्वामी ने 'रूप' के विविध पर्यायो मे प्राकृतिक आकार (Natural shape), प्रियता या मोहकता (Lovelıness), आदर्श रूप (Ideal form) आदि शब्द दिये है,[55] जिनके अर्थ पर गहराई से विचार करने पर जान पडेगा कि रूप के सबध मे पूर्व और पश्चिम का मतव्य तत्त्वत एक ही है। दो-तीन पर्याय ही लेना पर्याप्त होगा। 'प्राकृतिक आकार' मे शब्द स्वाभाविकता को बताया है, जिसका तात्पर्य यह है कि वस्तु को आकार या रूप कुछ इस कौशल व सफाई से दिया जाय कि कला के कृत्रिम होने पर भी वह अकृत्रिम या स्वाभाविक ही जान पडे। इसी प्रकार रूप मे प्रियता या मोहकता (Lovelıness) तभी आ सकती है जबकि रचना मे सुडौलता, गठन व समानुपात आदि गुण अनिवार्य रूप से विद्यमान हो। 'आदर्श रूप' मे 'आदर्श' यह व्यक्त करता है कि रचना इस रूप मे प्रस्तुत हुई हो कि रचयिता की रचना-चातुरी या कौशल का चरम निदर्शन हो। रवीन्द्रनाथ ने वस्तु और रूप के मजुल सामजस्य में ही कला-साहित्य की पूर्णता का दर्शन किया है। दोनो एक-दूसरे से पृथक् नही किये जा सकते, वे परस्पर अविभाज्य है।[56] इसी प्रकार डॉ. दासगुप्त ने कला की पूर्णता वस्तु और रूप के सामजस्य में मानी है। इतना ही नही, उन्होने क्रोचे के केवल प्रातिभ ज्ञान के आग्रह की दृष्टि का खडन कर कला के परिपूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है।[57]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने माना है कि अन्विति के बिना कला की कोई कृति नही हो सकती। "बात यह है कि अपनी किसी अनुभूत भावना या तथ्य की व्यजना के लिए अपने उद्‌भावित वाक्य ही एक मे समन्वित हो सकते है।"[58]

सक्षेप में, यही कहना होगा कि " प्राय सभी प्रमुख भारतीय आचार्यो ने वस्तु और रूप के एकत्व का समर्थन व पोषण किया है।"[59]

वस्तु के अनुरूप साहित्य-रूप का निर्माण एक कठिन साधना है जिसमे भारतीय कलाभ्यासियों के अनुसार ध्यानयोग के गुणो की आवश्यकता है। रूप-निर्णय में प्रतिभा, प्रातिभ ज्ञान, साधना, धैर्य व श्रम आदि उन्नत गुण पूर्ण रूप मे अपेक्षित है।[60] डॉ दासगुप्त ने कला के निर्माण के लिए आवश्यक अनेक अनुबधो मे से रूप-निर्माण-सबधी एक अनुबध मे साधना की यह अपेक्षा परिगणित की है।[61] डॉ आनद कुमार स्वामी ने रूप-रचना का उद्गम समझाने के लिए मन के अरूप प्रदेश की उडान ली है।

पाश्चात्य रूप-विचार से भारतीय विचारधारा की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो मतव्यो मे निरूपण-विधि का भेद भर है, तत्त्व रूप से रूप की प्रकृति व उसके स्वरूप की विवेचना में दोनों एक ही गतव्य-बिदु पर पहुचते है।

यह चितन प्रसाद की रूप-चिता को समझने के लिए व्यापक पृष्ठभूमि का कार्य करेगा।

भारतीय और पाश्चात्य रूप-चिता पर एक सामूहिक दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि रूप के प्रति दोनो जगह गभीर कलाकारोचित सजगता रही है। दोनो ही जगह अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनो का विभिन्न अनुपातो मे महत्त्व स्वीकार किया गया है। रूप के निर्माता तत्त्व प्राय समान ही है। यह नही कहा जा सकता कि पश्चिम में केवल रूप की महत्ता रही है और भारत मे अनुभूति की अथवा इसके विपरीत। वस्तुत विचारकों ने अपनी-अपनी रुचि व प्रकृति से रूप को ग्रहण करने मे स्वतत्रता का उपयोग किया है।

अब प्रसाद की विचारधारा समझना उपयुक्त होगा।

साहित्य-रूप-विषयक प्रसाद की धारणा

प्रसाद ने वस्तु और रूप के पारस्परिक सबध को लेकर जो भी विचारणा की है वह उनके तद्विषयक प्रत्यक्ष कथन और ललित साहित्य में निहित (प्रयोगात्मक) दोनों ही रूपों मे देखी जा सकती है।

प्रसाद के निम्नलिखित कथन उनकी रूप सबधी धारणा को व्यक्त करते है

"व्यजना वस्तुत अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योंकि सुदर अनुभूति का विकास सौदर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम मे हम अभिव्यक्त देखते हैं।"[62]

प्रसाद स्वय एक मौलिक प्रश्न उठाते हुए कि "हा, फिर एक प्रश्न खडा होता है कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की ?"—उत्तर देते हैं—

"काव्य मे जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है वही सौंदर्यमयी और

सकल्पात्मक होने के कारण अपनी उपादान स्थिति मे रमणीय आकार मे प्रकट होती है। वह आकार वर्णनात्मक रचना-विन्यास मे कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण मे जो वस्तु सन्निहित है वही तो प्रधान होगी। मै तो यही कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का।"[63]

"इसीलिए अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नही रखती, जितनी कि अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शको के हृदय मे कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयों मे अभिव्यक्ति नही कह सकते। इसीलिए व्यापकता आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।"[64]

"अभ्यतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है।"[65]

वस्तु और रूप के सबधो को लेकर प्रसाद ने जो अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उससे इतने तथ्य प्राप्त होते है—(1) रूप वस्तु से ही उदित होता है। (2) रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है वस्तु या अनुभूति, वस्तु ही प्रधान है। (3) आकार या रूप भी रमणीय और प्रेय होता है। (4) पर, अनुभूति की सत्ता सहृदयों के लिए अधिक व्यापक है। (5) वस्तु या अनुभूति इसलिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह आत्मा से सबध रखती है, काव्य की अनुभूति (वस्तु) सकल्पात्मक अनुभूति है। यह अनुभूति श्रेय-प्रेयमयी है जिसका सबध आत्मा की मनन-क्रिया से है।[66] (6) रूप का कवि की अतःप्रेरणा से सबध है। अनुभूति या वस्तु रूप या अभिव्यक्ति मे कुछ ही विचित्रता उत्पन्न करती है, अधिक नही।

पश्चिम के दृष्टिकोण से तुलना करने पर एक बात विशेष रूप से स्पष्ट होती है। जहा तक उपर्युक्त तथ्य सख्या 1, 3 का प्रश्न है, पश्चिम में वस्तु और रूप की समतौलता पर ही अधिक बल है। किंतु प्रसाद स्पष्ट रूप से अनुभूति को ही प्रधान मानते है, रूप या अभिव्यक्ति को गौण—यद्यपि अभिव्यजना का महत्त्व भी उन्हे स्वीकार है।[67] आचार्य नगेन्द्र भी काव्य में अनुभूति को (कल्पना-प्रकरण का विवेचन करते हुए) ही सर्वाधिक महत्त्व देते जान पडते है।[68]

इस प्रकार एक ओर हम देखते है कि अनेक विचारक दोनो के समन्वय मे विश्वास करते हैं।[69] दूसरी ओर क्रोचे जैसे विचारक वस्तु और रूप के समन्वय मे विश्वास नही करते।[70] वे (क्रोचे) केवल रूप को ही कला का सत्य मानते है। प्रसाद रूप को अपेक्षाकृत कम महत्त्व देते हुए अनुभूति (वस्तु) को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

वस्तु और रूप का पारस्परिक सबध जो प्रसाद की दृष्टि मे है, वह पर्याप्त स्पष्ट है। प्रसाद अनुभूति को जितना महत्त्व देते है, उतना रूप को नही, क्योंकि प्रसाद की धारणा है कि वस्तु या अनुभूति में यदि वेग और सौदर्य है तो रूप तदनुरूप ढलकर ही रहेगा। कोरा रूप, अनुभूति का आधार छोडकर, निर्जीव और अर्थहीन है। प्रसाद की स्थिति इस प्रकार मध्यवर्तिनी है वे न तो क्रोचे जैसे रूपवादियो या कलावादियों की तरह अनुभूति को काव्यबाह्य (या लाचारी के कारण लिया गया एक साचा या मसाला) वस्तु ही मानते है और न इतिवृत्तवादियो या बाह्यार्थवादियो के अनुकरण पर केवल वस्तुपिंड या उपादान को ही सर्वस्व समझते हैं। वे रसवादी हैं, जिसके लिए भाव या अनुभूति प्राथमिक उपादान है।

आचार्य नददुलारे वाजपेयी ने हिंदी की प्रयोगशील रचनाओं के प्रसग में विचार करते

हुए एक ऐसा विचार व्यक्त किया है जो सयोगवशात् उक्त उद्धरणो मे निहित प्रसाद जी की साहित्यिक मान्यता को भी समझने में अत्यत उपयोगी है। आचार्य जी लिखते है—"हिंदी की समन्वय भावना या समझौते के मार्ग का विज्ञापन करने वाले यदि यह जान लेते, तो अच्छा होता कि समझौता सदैव हार या पराजय का भी परिचायक होता है। विचारो और विश्वासों की निर्बलता प्राय समस्त समझौतो के मूल मे रहा करती है।[71]

वस्तु और रूप से सबधित प्रसाद जी की पूर्वलिखित धारणा से स्पष्ट है कि वे 'विचारो और विश्वासो की निर्बलता' के द्योतक किसी भी समन्वय के मार्ग को न अपनाकर निर्भ्रात रूप से अपना मत अनुभूति के ही लिए देते हैं, अभिव्यक्ति या रूप के लिए नही। प्रसाद जी ने अपना दृष्टिकोण तर्कसम्मत ढग से समझा दिया है। इस पर विचार करने की अत्यत आवश्यकता है, क्योकि यही वह दृष्टिबिंदु है जो प्रसाद के समस्त कृतित्व के अतिम मूल्याकन को पूर्ण रूप से तो नही, किंतु हा, बहुत अशो मे प्राय विपरीत रूप से प्रभावित करता है। वस्तु और रूप की दृष्टियो के द्वद्व के बीच प्रसाद जी के साहित्य का मूल्याकन करना है। उनके प्रति पूर्ण न्याय करने के लिए आचार्य वाजपेयी जी की यह धारणा पूर्ण समर्थनीय है कि "साहित्य रूपो के क्षेत्र मे प्रसाद ने बाह्य ससार को हटाकर अधिक अतरग आधार ग्रहण किया है। अतएव प्रसाद के साहित्य-रूपो की परीक्षा अतरगता के स्तर पर ही हो सकेगी। पूर्ववर्ती प्राय सभी रचयिता बहिरग आधारो को प्रमुखता देते रहे है।"[72]

हमारी दृष्टि मे प्रसाद का अपना पक्ष अपने स्थान पर सर्वथा ठीक है। वे कहते है कि अनुभूति ही प्रधान है, अभिव्यक्ति नही। इस मान्यता को वे सूर और तुलसी के वात्सल्य-वर्णन के स्वरूप की तुलना द्वारा पुष्ट भी करते है।[73] दूसरी ओर अभिव्यजनावादी यह मानते हैं कि काव्य में अनुभूति कही भी स्वतत्र नही, वह प्रतिक्षण जीवन व जगत् के रूप-व्यापारों से बनती रहती है। कोरी अनुभूति से काव्य नही बन सकता, कौशल या अभिव्यजना की नितात आवश्यकता है। आचार्य वाजपेयी का कथन है कि प्रसाद का इस मत से कोई विरोध नही है, किंतु वे इसकी छानबीन मे उतरे नहीं है। हा, वे अभिव्यजनावादियो की भाति अनुभूति को गौणता न देकर उसे मुख्य मानते है। अनुभूति का निर्माण कैसे होता है, यह तो प्रश्न ही दूसरा है।"[74]

वस्तुत अनुभूति ही प्रमुख है। अनुभूति के अभाव में कोरी कला शून्य भित्ति पर चित्राकन के समान है। अनुभूति या वस्तु का आधार पाकर ही कला अपना सौदर्य प्रकाशित कर सकती है, अन्यथा नही। तृप्ति वस्तु से ही होगी—'निशिगृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्ति नहि होई।' साथ ही यह भी ठीक है कि कोरी वस्तु साहित्य नही है, वह तथ्य है, वार्ता है, अनगढ द्रव्य-राशि है। कला के अभाव मे वह वस्तु या अनुभूति, साहित्यिक अर्थ मे, निष्प्राण है, पर, सब-कुछ मिलाकर आधारभूत अनुभूति की सत्ता ही मानना अधिक आवश्यक है, क्योंकि तृप्ति का मुख्य उपादान तो अतत अनुभूति ही है। भारतीय दृष्टि से अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही वास्तविक सवेद्य है। कल्पना केवल साधन मात्र है।[76] शून्यवादी बौद्ध-दर्शन व मायावादी शाकर मत की प्रतिक्रिया में दार्शनिक जगत् मे वस्तु की सत्ता मानने के जो भी प्रयत्न हुए है वे वस्तु या अनुभूति को ही महत्तर मानने की प्रेरणा देते हैं। फिर साहित्य में जहा आलबन ही रस का मूलाधार है वहा तो वस्तु या अनुभूति को प्रमुखता दिये बिना चला नही जाता।

रूप के स्वरूप के सबध मे जो इतनी विस्तृत चर्चा की गयी है, वह सकारण है। आज का प्राय समस्त कवि-कर्म 'रूप' मे ही केंद्रित हुआ जा रहा है। साहित्य-विकास के इस बिदु पर जबकि रूप ही सर्वोपरि हो बैठा है, प्रसाद जैसे साहित्यकारो के कृतित्व के मूल्याकन के सबध मे एकागिता-जन्य प्रमाद शक्य है। अत प्रसाद की तदविषयक यथातथ्य स्थिति का निस्सग आकलन करने के लिए और अपनी स्थिति, उन्ही के शब्दो मे, समझने के लिए यह विस्तार अपरिहार्य हो गया। साहित्य मे रूप का आदोलन एक अतर्राष्ट्रीय आदोलन है। प्रसाद जी उसके प्रति पर्याप्त सजग है। इस सबध मे प्रसाद जी की एक स्वतत्र व निजी विचारधारा है, जिसे समझने के लिए एक विस्तृत परिपार्श्व की अपेक्षा थी।

प्रसाद के साहित्य-रूपों का अध्ययन · विश्लेषण

साहित्य के प्रमुख रूप है—नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, निबधादि व इनके अगणित भेदोपभेद। सब रूप एक सामान्य और मूलभूत विशेषता (साहित्योपयोगी अनुरजनकारिता) रखते हुए भी प्रभावमूलक अपनी-अपनी एक निजी विशेषता सुरक्षित रखते है। प्रत्येक साहित्य-रूप की अपनी जो एक प्रभावगत विशेषता रहती है, उससे वस्तु की निर्दिष्ट प्रकृति के पूर्ण सफलतापूर्वक वहन किये जाने की अपेक्षा रहती है।

विधाओं या रूपो की विविधता के महत्त्व का एक गभीर रहस्य है। साहित्य में केवल कविता ही, या नाटक ही, या कहानी ही क्यों नही ? इतने रूपो की क्या आवश्यकता ? बात यह है कि यह वैविध्य या वैचित्र्य हमारी आतरिक चेतनाधारा के विविध प्रवाहो का प्रतीक है। वैविध्य में ही मूल आत्मा अपने को प्रकाशित कर रही है। साहित्य के इन विविध रूपो मे एक ही आत्मा अपने को प्रकाशित कर रही है।[77]

प्रसाद ने अपनी वस्तु को कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्यकाव्य, चपू, निबध आदि विविध साहित्य-रूपो मे अभिव्यक्त किया है। लेखक के विकास-क्रम को देखने से यह विदित होगा कि उसने इन प्रचलित विविध रूपो मे निरतर प्रयोग-परीक्षण व सम्मार्जन द्वारा वस्तु और रूप मे तादात्म्य स्थापित करने का सतत उद्योग किया है।

रूप की सैद्धातिक चर्चा कर लेने के पश्चात् अब हम प्रसाद-साहित्य मे प्रयुक्त विविध साहित्य-रूपो का विश्लेषण करेगे।

कविता

सबसे पहले कविता को ले। प्रसाद ने प्रबध काव्य और मुक्तक काव्य दोनो की रचना की है। प्रबध काव्य के अतर्गत भी उन्होने महाकाव्य और खडकाव्य, दोनों ही प्रकार की रचनाए प्रस्तुत की है। नीचे अब हम क्रमश महाकाव्य, खडकाव्य, मुक्तककाव्य, गीतिकाव्य आदि का विस्तृत निरूपण करेंगे।

महाकाव्य

कविता के क्षेत्र में जिस विशिष्ट विधा के रूप की काट-छाट व पुनर्निर्माण के कार्य में प्रसाद

विशेष उत्साह से निमग्न हुए है, वह है—महाकाव्य।

यह आरभ में ही ध्यान में रखा जाना चाहिए कि प्रसाद मूलत एक स्वच्छदतावादी या रोमाटिक साहित्यकार थे, जिनसे गतानुगतिकता की आशा नही की जा सकती। अत उन्होने महाकाव्य के रूप का सवार प्राचीन आचार्यों की चिंतना से न्यूनाधिक रूप से हटकर, अपने रुचि-सस्कार, युग-परिस्थिति, तदयुगीन साहित्य के विकासमान स्वरूप तथा महाकाव्य के वास्तविक दायित्व व ध्येय को सामने रखकर ही किया।

'कामायनी' के माध्यम से प्रसाद ने स्व-रुचि व युग रुचि के अनुरूप यथावश्यक परिवर्तन-परिशोधन के साथ महाकाव्य के रूप का निर्माण किया है। भामह,[78] दण्डी[79] और विश्वनाथ[80] द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षणो में से अधिकाश की पूर्ति 'कामायनी' मे हो जाती है, पर कुछ लक्षणो की स्थिति आधुनिक विविध विचारधाराओ के आलोक में ही हो सकेगी।

महाकाव्य के क्षेत्र में सबसे बडा क्रातिकारी परिवर्तन जो प्रसाद ने किया, वह है नायक के स्वरूप को लेकर। धीरोदात्त नायक के स्थान पर उन्होंने कुछ तो युग की यथार्थवादी स्पृहाओ-प्रेरणाओ के परिणामस्वरूप और कुछ स्वय कथानक की वस्तु के ही अनुरोध से धीरोद्धत पात्र को नायक-पद प्रदान किया। 'कामायनी' का नायक धीरोदात्त न होकर धीरोद्धत ही अधिक दिखायी पडता है। कथा लोक-प्रसिद्ध सज्जनाश्रय[81] या सदाश्रय[82] हो, ऐसा शास्त्रीय विधान है। पर मनु की प्रत्यक्ष जीवनचर्या से तो वे 'सज्जन' नही जान पडते। यों, कथा सदाश्रयी अर्थात् विश्वसनीय है, इसमें कोई सदेह नही।

यह भले ही कहा जा सकता है कि वे देवाश है और परिस्थिति विशेष के कारण मलों से आवृत हो गये हैं, किंतु उनमे भावी महानता और औदत्य के बीज भी सुरक्षित है। नायक-द्वारा शत्रु की पराजय और नायक के उत्कर्ष-अभ्युदय के वर्णन की नियम-पूर्ति का प्रश्न भी देश-काल को देखते हुए मनु के लिए असगत ही है। भामह ने महाकाव्य के लोकोपयोगी होने के लक्ष्य की दृष्टि से अनतिव्याख्येयता[83] का नियत्रण रखा है, पर 'कामायनी' काव्य तो अर्थग्रहण की दृष्टि से सामान्यत क्लिष्ट और दुर्बोध ही हो गया है।

अन्य अनेक परिवर्तन दिखायी पडते है। जहा प्राचीन काव्य मे—रामायण, रघुवश, नैषध, शिशुपालवध, मानस आदि—कथा-विस्तार प्राय बहुत अधिक होता था, वहा 'कामायनी' की वर्ण्य-वस्तु सिमटकर कुछ ही वाक्यो में कह डालने जितनी रह गयी है। यह ठीक है कि जिस युग के जीवन व वृत्त को लेकर उक्त काव्य रचा गया, उसमें प्रलय के कारण मानवो के अभाव मे जीवन-व्यापार व घटना-जाल की प्रेरिका आधारभूत सामग्री ही यथेष्ट नही थी। इसलिए तो 'सर्वे नाट्य सन्ध्य' का विधान भी शिथिल ही है, क्योंकि जब वृत्त ही सक्षिप्त है (सृष्टि प्रलय के बाद जगी ही है, अत परिपूर्ण जीवन की कर्म-कुशलता के अभाव में वृत्त बने भी कैसे ?) तो सधियों के विधान का प्रश्न भी असगत-सा ही है। किंतु यह भी ठीक है कि सूक्ष्मजीवी छायावादी कवि स्थूल का अनावश्यक अत्यधिक विस्तार पसद नही करता, वह इस स्थूल के परे जो सूक्ष्म है, उसी की चेतना के सौंदर्य व शक्ति का आलोडन-विलोडन व उद्घाटन करता है और कल्पना-बल से उसकी रमणीय छाया-छवियो का निर्माण करने व उसका दर्शन करने-कराने मे ही अधिक दत्तचित्त रहता है। ऐसी स्थिति में महाकाव्य की वस्तु सिमटकर इतनी ही रह जाये तो क्या आश्चर्य। काव्य में मूर्त्त आलबन (मनु, श्रद्धा, इडा आदि)

की अपेक्षा अमूर्त आलबन ('चिता', 'आशा', 'लज्जा' आदि मानसिक वृत्तिया) का अधिक समारोहपूर्वक वर्णन हुआ है। यहा तक कि सर्गो का नामकरण भी भावो के आधार पर ही हुआ है। वस्तु का थोडा-सा द्रव ही तो चाहिए, सुनहला जाला तो खूब तन जायेगा। निश्चित ही वस्तु की इस स्थिति ने महाकाव्य के नवीन स्वरूप का रूपाकन किया वस्तु की क्षति-पूर्ति किधर हो ? रूप-निर्माण मे ही। अब यह रूप-निर्माण दो पगडडिया पकड सकता है—या तो वह कार्यावस्थाओ, अर्थ-प्रवृत्तियों और सधियो-सध्यगों के निर्माण-निर्वाह के शास्त्रीय झमेले में पडे या प्रतीको व बिबों के निर्माण से युक्त मन स्थितियों के चित्रण में अपने अस्तित्व को विशेष सार्थक करे, आधुनिक स्वच्छदतावादी कलाकार सहज ही दूसरा विकल्प ग्रहण करेगा। परिणामस्वरूप 'कामायनी' में कथानक-निर्माण मे शास्त्रीय पद्धति के ग्रहण का कोई विशेष आग्रह नही दिखायी पडता। यों शास्त्रीयता की निर्वाह को प्रभावित करने वाले कुछ सुदर प्रयत्न भी सामने आते है।

जीवन-घटनाओ और व्यापारों को केद्र मे रखकर सर्गो तक चलने वाले प्राचीन ढग के शास्त्र-स्थिति-सपादक, विशद-रमणीय व रचनात्मक वर्णनों का 'कामायनी' मे अभाव है। वस्तुत प्रलय, समुद्र, हिमालय-प्रदेश, इडा-राज्य और ऋतुओं के वर्णन के अतिरिक्त वर्णन की और गुजाइश भी कम ही थी। फिर षट्ऋतु-वर्णन और 'बारहमासों' जैसे रूढ विधान को तो स्थान मिलता ही कहा से। वर्णनोचित समस्त उत्साह कल्पना-प्रचुर भाव-निरूपण व भाव-चित्रण की ओर दिशातरित हो गया है। यों शास्त्रानुसारी वर्णनो की मदे भी यत्र-तत्र पूरी होती हुई दिखायी पड जायेगी। रचनात्मक वर्णनो का स्थान सूक्ष्म-गभीर भाव-चित्रण, कौशलपूर्ण उपमान-विधान व प्रतीक-विधान ने ले लिया है जो स्थूल बाह्य वर्णनो से अधिक काव्यात्मक कवि-प्रतिभा के निदर्शक हैं। आचार्य वाजपेयी जी ने 'कामायनी' के वस्तु-वर्णन का मर्म बताते हुए यह निर्दिष्ट किया है कि प्रसाद में केवल ऐसे ही वर्णन मिलेंगे जो काव्य के लक्ष्यभूत रस की अनिवार्य आवश्यकता के मेल मे हैं, जो "समृद्ध कल्पना से ही साध्य है" और काव्य की भावात्मकता के विरोधी नही हैं।[84] आचार्य जी का स्पष्ट कथन है कि "प्रसाद जी स्थूल वस्तुओं और जीवन-दृश्यों का समारोहपूर्ण वर्णन करने मे उतने सफल नही हुए, जितने सूक्ष्म मानसिक तत्त्वो को साकार रूप देने में।"[85] 'कामायनी' के स्थूल वस्तु-व्यापार कम है। इनके बदले मानसिक वस्तुओ का वर्णन करने की कवि की प्रवृत्ति अधिक प्रमुख है।" "प्राचीन काव्य मे जो एक प्रकार के स्थूल वर्णन रहते थे, उनके स्थान पर प्रसाद जी ने सूक्ष्म वस्तुओ को साकार रूप देने का आयोजन किया है।"[86] प्राचीन वस्तु-वर्णन की अधिकाशत रूढ और यात्रिक पद्धति को देखते हुए प्रसाद जी का यह सशोधन निश्चय ही अधिक रसोपजीवी ही समझा जायेगा।

छद-विधान की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण अतर दिखायी पडता है। प्रत्येक सर्ग के अत मे छद-परिवर्तन के तथा नवम सर्ग मे नाना छदो के एक साथ प्रयोग के विधान का पालन जैसा कि 'साकेत' व 'प्रियप्रवास' मे हुआ है, यहा नही हुआ, क्योकि कवि के बहुविध छद-ज्ञान का प्रदर्शन सभवत उन्हे न रुचा। सस्कृत वर्ण-वृत्तो या हिंदी के पुराने बहुप्रयुक्त छदो (सवैया, सोरठा, छप्पय आदि) के स्थान पर नवीन छदो का (जो अनेक छदों की जोड-तोड़ से, लय व प्रवाह के सामूहिक योग से युग-रुचि के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने मे सक्षम हैं) प्रयोग किया गया है।

मगलाचरण की औपचारिकता का पालन भी नही है, यद्यपि परपरा-प्रेमी समीक्षक 'हिमगिरि' को ईश्वर के सब प्रमुख गुणो—महत्ता, भव्यता, शीतलता, पवित्रता, निर्विकारता, शाति आदि—के प्रतीक रूप में ग्रहण करके नियम-पूर्त्ति पर सतुष्ट होते है।

'कामायनी' की रचना तक आते-आते प्रसाद वस्तु या कथानक की अपेक्षा चरित्राकन के महत्त्व से भली भाति परिचित होकर उन्नीसवी शताब्दी की तद्विषयक अरस्तू-विरोधिनी यूरोपीय विचार-सरणि को मानो अपना चुके थे। उसके प्रमाण उनके साहित्य मे ही विद्यमान हैं। किंतु 'कामायनी' मे पात्रो के चरित्राकन की वह स्फूर्ति दिखायी नही पडती (सभवत कथा के द्वयर्थक होने के कारण ही) जो कमला ('लहर', 'प्रलय की छाया'), देवसेना (स्कदगुप्त), घटी (ककाल), गुडा ('गुडा' कहानी), विजया (स्कदगुप्त) आदि पात्रो के निर्माण के अवसर पर दिखायी पडी है। 'कामायनी' के पात्रों में से कला की दृष्टि मे केवल मनु ही एक गत्यात्मक पात्र है। सत्त्वमयी श्रद्धा का हमारे मन पर, सस्कारो के साम्य की भूमि पर अवस्थित रहने के कारण, प्रभाव तो आद्यत बना रहता है, किंतु मानवीय पात्रो का कलात्मक चरित्राकन जिन आवर्त्त-विवर्त्तो व उतार-चढावो के बीच से सामान्यत चरित्र-प्रधान कला-कृतियो मे होता आया है, उसका तो अभाव ही है। एकत्व-विधायिनी आनदोन्मुखी भूमिका के अभिलाषी पात्रों में द्वैत का अधिक बढावा (विश्लेषणात्मक चरित्राकन में जो अनिवार्य रूप से निहित है) सभवत- कवि को इष्ट न रहा हो। अन्यथा चरित्राकन की कला 'कामायनी' मे अपनी पूरी बसत-श्री में होती।

रस की दृष्टि से विचार करने पर जान पडता है कि शृगार, वीर और शात मे से एक भी रस की स्थिति बहुत अविवादास्पद नही है। शृगार का सयोग पक्ष (प्रथम मिलन के क्षण का नही, परवर्त्तीकाल का) कालिदास, विद्यापति, बिहारी आदि कवियों जैसा चटकीला व प्रफुल्लित नही बन पाया। एक ओर तो मिलन-शृगार उस औज्ज्वल्य को प्राप्त होता वही जान पडता जो मानव-जीवन की इस अनुभूति को मानवीय अनुभूति की समग्रता के वृत्त मे सर्वोपरि वैशिष्ट्य प्रदान करता है, दूसरी ओर वह (शृगार) बहुत कुछ देव-सृष्टि के इद्रिय-भोग व स्थूल विलास के सस्कारों की ही परपरा में पल्लवन-प्रसार जान पडता है। विरह-पक्ष भी पूरा-पूरा नही खिला। श्रद्धा का विरह अत्यत सक्षिप्त व सकेतात्मक है—उसमें हृदय का वह आवेग, तीव्रता, विस्तार व परिप्लुति नही जो सूर, जायसी व घनानद की विरहिणी नायिकाओं में मिलती है। गाभीर्य व दार्शनिकता की शिला के नीचे नैसर्गिकता मानवीय विरह की सब श्लक्षणता, सुकुमारता व सहजता दब-सी गयी है।

वीर-रस है ही कहा। वह इडा के नगर मे एकपक्षीय विद्रोह के रूप मे दिखायी पडा है। बलात्कार करने वाले मनु तो भय के मारे दबे-छिपे फिर रहे है। दो पक्षो के पूर्ण सन्नद्ध होकर वीर-दर्प के साथ अन्याय के दमन व न्याय-धर्म की पुन स्थापना की महद् भावना से अनुप्राणित होकर बढ बिना वीरता के चोखे रग नही छिटकते। शात-रस की निष्पत्ति, श्लाघ्य होते हुए भी, एकागी ही अधिक है। जीवन के भोगों को आकठ भोगकर, सहज व प्रकृत वितृष्णा से परिपूर्ण होकर चलने वाले व्यक्ति का 'शम' ही तो परिपक्व होकर शात-रस मे परिणत होता है। यहा तो शात-रस के काव्यीय उपकरणो के प्रस्तुत होने पर भी, केवल 'निर्वेद'जनित होने के कारण शात की वास्तविक भूमिका पर उठा हुआ नही लगता। फिर भी सब-कुछ मिलाकर देखने पर शात-रस ही सर्वाधिक पुष्ट व प्रभावशाली जान पडता है।

'कामायनी' का अत न तो शुद्ध सुखात है न शुद्ध दु खात। सुखात तो इसलिए नही है कि मनु के समग्र व्यक्तित्व का परिपाक जीवन के भोगों के बीच से सहज-मधुर रूप में नही हुआ है। वे अपनी विषम प्रकृति और कुचाल से श्रद्धा व इडा इन दोनो मे से किसी एक के भी पूर्णत न बन सके। उन्होंने शृगार के उस वैशद्य व औज्ज्वल्य का कहा अनुभव किया है जो जीवन की पूर्ण आतरिक तृप्ति का प्रतीक है। वे ऊपर से ही पूर्णकाम जान पड़ते है। पर उनके अतरग मे कामना की वन्या सभवत अभी भी कही-कही लहक रही है। मनोविज्ञान इसे पूर्ण स्पष्ट कर देगा। वस्तुत वह रचना भी 'आसू' और 'स्कदगुप्त' आदि रचनाओ की तरह प्रसादात ही कही जा सकती है। इस प्रकार का अत दिखाकर भी कवि ने जहा एक ओर महाकाव्य के क्षेत्र मे रूप-विषयक नावीन्य उत्पन्न किया है वहा दार्शनिक भूमि पर सुख-दु ख-मिश्रित एक अनोखा रस उपजाकर विदग्ध पाठको को एक धूप-छाही जीवन-चेतना का गभीर रस भी प्रदान किया है।

नायक, नायिका, उपनायक, प्रतिनायक-विषयक सपूर्ण शास्त्रीय विधान के निर्वाह की वस्तु-सकोच के कारण गुजाइश ही नही रही।

पुरुषार्थ-चतुष्टय, महाकाव्योचित शैली व जीवन-मूल्यों के व्याख्यान की दृष्टि से तो यह रचना प्राय सर्वसम्मत रूप से उत्कृष्ट व उदात्त है ही।

कला-रूप का निर्माण, वस्तु की प्रकृति व गुण से, अदृश्य रूप से व अनिवार्यत प्रभावित होता है, यह बात 'कामायनी' पर भी लागू होती है। 'कामायनी' की कथा स्वल्प है। उसके गभीर प्रभाव का रहस्य मुख्यत उसकी द्व्यर्थकता (स्थूल ऐतिहासिक कथा व मनोविकास की सूक्ष्म कथा का प्राय समानातर प्रवाह है) मे निहित है। कथा का उपादान मुख्यत स्मृति, आवेग, स्वप्न, कल्पना, मनोराज्य-निर्माण, आत्मविलास आदि चेतना की सूक्ष्म विभूति से निर्मित हुआ है, भौतिक जगत् की स्थूल घटनाओ (भूकप, उल्कापात, बाढ़ आदि) की अपेक्षा मनोजगत् की सूक्ष्म घटनाओं से (जैसे लज्जा, प्रणय, ग्लानि, समर्पण, भाव आदि) से, जो मनोविज्ञान की दृष्टि से अधिक मौलिक, प्रेरक, जीवन-स्वरूप-निर्धारिका व व्यक्तित्व के रूप की गहरी व अचूक निर्मात्री होती हैं, आपूर्ण होती हैं, तथा इसमे दार्शनिक चिंतन का प्रगाढ रस भी सम्मिलित है, वस्तु-विषयक इन प्रमुख तथ्यो ने ही 'कामायनी' की रूप-रचना को मानो निर्धारित कर दिया है।

प्राचीन काव्यो में निरूपित जीवन व् कथानक बाहर से जटिल व विस्तृत दिखाया जाता था, पर आज की साहित्य-चेतना स्वल्प उपादान सामग्री एक-दो या ढाई पात्रों के सहारे ही (थैकैरे के Vanity Fair में तो कोई पात्र ही नही और हिंदी के आचलिक उपन्यासकार भी कोई विशिष्ट पात्र न रखकर अचल विशेष को ही पात्र बनाकर चलने लगे हैं) महीन कताई-बुनाई करके अणु में ब्रह्माड को खोल दिखाने की ओर उन्मुख है। उपन्यास व कन के क्षेत्र की अनेक विश्वविख्यात आधुनिक रचनाओ से इस कथन की पुष्टि होगी।

प्राचीन जीवन का स्वरूप बाह्यत घटना-जटिल व भीतर से सरल था परतु आज वह क्रमश सरल व जटिल है। आज के व्यक्ति की चेतना विभक्त, विशृखलित व खडित चेतना है। मनु व इडा इस आधुनिक चेतना के प्रतिनिधि पात्र हैं। 'कामायनी' इस चेतना से अनुप्राणित है और इस अर्थ मे वह आधुनिक है। 'कामायनी' को हम आधुनिक चेतना का सवाहक महाकाव्य कहेंगे।

वास्तव मे यह काव्य समस्या-प्रधान (मानव जाति की आनद-प्राप्ति की विराट व सनातन समस्या) व शैली-सौष्ठव-प्रधान काव्य है जिसकी कथा का महत्त्व तो गौण या अत्यल्प ही है। प्रसाद ने महाकाव्य के स्वरूप में युगोचित परिवर्तन किये है। युग-रुचि, कवि का निजी रुचि-वैचित्र्य, व्यजित युग का स्वरूप तथा स्वय मनु के चरित्र ने ही इस महाकाव्य के स्वरूप का नियमन किया है। गरिमामयी व पौष्टिक वस्तु, जीवन की गभीर उच्चाशयता, और अनुरजनकारिणी शैली—इन सबको एक-साथ मिलाकर देखने पर, केवल रूढि-पालन नही, किंतु नवीनता को साहित्य का एक प्रमुख एव अनिवार्य लक्षण मानने पर, मानव-जीवन उसके सुख व आनद की समस्या के प्रति कवि की प्रगाढ निष्ठापूर्ण और गहरी चिता के तथ्य को स्वीकृत कर लेने पर जान पडेगा कि 'कामायनी' का रूप महाकाव्य का ही रूप है तथा महाकाव्य की चेतना से ही अनुप्रसूत है।

खड-काव्य

प्रसाद की दो रचनाए खड-काव्य के अतर्गत परिगणित की जा सकती है—'प्रेम-पथिक' तथा 'महाराणा का महत्त्व'। पर प्राचीन अथवा द्विवेदीकाल खड-काव्यो मे कार्य-व्यापार का जैसा रसपूर्ण व स्फीत-अनवरुद्ध प्रवाह रहता है वैसा उक्त दोनों रचनाओ मे अप्राप्य है, क्योकि प्रसाद कार्य-व्यापार की स्थूल बाह्य विवृत्ति के प्रति उतना आकर्षण या मोह नही रखते जितना उसे निमित्त बनाकर भाव-वैभव व उदात्त चित्तस्थिति व चरित्र की असाधारणता से चमत्कृत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, और बस, खड-काव्य के क्षेत्र मे यही प्रसाद की विशिष्टता या मौलिकता है।

प्रेम और सौंदर्य के उदात्त व आदर्श रूप की प्रतिष्ठा में निरत 'प्रेम-पथिक' 26 पृष्ठों की एक रचना है, जिसमे वर्णनों और सवादो के माध्यम से प्रणय-क्षेत्र के विरह-मिलन की एक अत्यत मर्म-मधुर कहानी कही गयी है। इसमें केवल दो ही महत्त्वपूर्ण पात्र हैं और खड-काव्योचित वस्तु-परिमाण किसी-न-किसी तरह जुट जाता है। कथा सर्गबद्ध न होकर अनवरुद्ध गति से बढती चलती है। प्रसगातरो या वस्तु-परिवर्तनो का संकेत पाच, एक या दो गुणित चिह्नों के उपयोग द्वारा कर दिया गया है। वस्तुत कथा तो निमित्त-मात्र है—आदर्शवादी कवि प्रेम और सौंदर्य की भावनाओं को प्लेटोनिक ऊंचाइयों तक उडा ले गया है। वस्तु के औदात्त्य व गाभीर्य को कवि की महाप्राणता का वहन करने वाली तीस मात्राओ के ताटक छद की लबी व गतिवान् पक्तियो ने खूब सभाला है। पक्तियों के बीच में पडे पूर्णविराम भावना के उद्दाम प्रवाह और कवि-व्यक्तित्व की निर्बध शक्ति और ओज की ताप-तीव्रता का भान कराते हैं। सजग एव सवेदनशील पाठक साधनामय शुभ्र वातावरण का मानसिक आस्वादन छद-सगीत व कहानी की वस्तुगत प्रकृति से सहज ही करने में समर्थ होता है।

'महाराणा का महत्त्व' 24 पृष्ठों की ओर 3-4 ऐतिहासिक पात्रों वाली (राणा प्रताप जिसके नायक हैं) एक छोटी-सी अल्पकथात्मक कृति है, जिसे वस्तु, ऐतिहासिक चरित्र और काव्य-रूप की दृष्टि से खड-काव्य कहा जा सकता है। राणा प्रताप की वीरता को केंद्र में रखकर उपयुक्त काव्य-प्रभाव निष्पन्न करने के लिए इक्कीस मात्राओं वाले भिन्न-तुकांत या तुकांत-विहीन 'अरिल्ल' छद में इसकी रचना हुई है। वर्ण-विन्यास के प्रवाह तथा श्रुति के

अनुकूल गति के कारण इस छद के प्रयोग से कथानायक की चारित्रिक विशेषता व कार्य-व्यापार की सक्रियता सुदर रूप मे व्यजित हुई है। कहानी प्राय सवादो व वर्णनों के द्वारा आगे बढती है। पक्तियो के बीच मे भी वाक्यानुसार विराम-चिह्नों का प्रयोग हुआ है। कथा सर्गों मे विभाजित न होकर बधे हुए क्रम में बढती जाती है, केवल प्रसगातरो का निर्देश तारक (***) चिह्नो अथवा गुणित (***) चिह्नो के द्वारा बीच-बीच मे यत्र-तत्र कर दिया गया है। सघर्ष व विरोध की समाप्ति के साथ तथा प्रताप की गौरव-महिमा की स्थापना-स्वीकृति के साथ काव्य समाप्त हो जाता है। रचना साधारण है। इतिहास-प्रेम, आदर्शवादी दृष्टि, नवीन रूप-रचना व छद-प्रयोग के प्रति सजगता इस कृति की मुख्य विशेषताए है।

रूप-रचना की दृष्टि से 'आसू' पर कुछ स्वतत्र विचार यहा प्रसग-प्राप्त हैं। 'आसू' मुक्तक काव्य है, अथवा प्रबध काव्य अथवा गीति काव्य ? यह प्रश्न स्वभावत उठता है।

'आसू' का प्रत्येक पद एक स्वतत्र प्रत्यय, बिंब या कल्पना लिए कठे के एक स्वतत्र आबदार मोती-सा अपनी सुडौलता व काति मे आत्मपूर्ण है। साथ ही 'आसू' मे सब पद एक ही सश्लिष्ट अनुभूति के सूक्ष्म-दीर्घ प्रच्छन्न कथा-सूत्र मे गुफित है। उसमें अतर्जगत् में घटित एक विराट्, अदृश्य व सूक्ष्म घटना (जो स्थूल भौतिक घटना से कही अधिक तथ्यात्मक, प्रभाव व परिमाण मे कही अधिक दूरगामी व तीक्ष्ण है) अपने कारण, विश्लेषण व परिणाम के साथ आद्यत उपस्थित है, उसमें भौतिक जगत् के आलबन का बाह्य रूप तथा उपमान पक्ष मे प्रकृति की बाह्य विवृत्ति का भी समावेश है, अत वह एक खड-काव्य भी है—निश्चय ही उसमें खड-काव्य का-सा घटना-विधान, चरित्र-चित्रण-सभार व वर्णन-प्रस्तार नही।

बाह्याकार या छद की दृष्टि से प्रत्येक पद ललित गीत की टेक व आवृत्ति वाली बाह्य आकृति न धारण करते हुए भी और समृद्ध अलकरण व कल्पना की सपत्ति से अत्यधिक भारावनत रहते हुए भी अतःप्रकृति या अतश्चेतना—की दृष्टि से समग्र रचना 'मेघदूत' की तरह, शुद्ध गीतात्मक है, अत उसकी आत्मा गीति काव्य की ही है, वस्तु-वर्णनात्मक कविता भी नही।

ऐसी स्थिति में 'आसू' किसी बधी-बधायी पूर्वागत अथवा रचना-कोटि मे वर्गीकृत होने को प्रस्तुत नही होता। सामान्यत यह रचना दीर्घ प्रबध गीत की सज्ञा में अभिहित की जा सकती है। आचार्य नददुलारे वाजपेयी 'आसू' को 'गीति कविता' की सज्ञा में अभिहित करते हैं।[87] आचार्य विनयमोहन शर्मा की मान्यता है कि 'आसू' को मुक्त काव्य तक सीमित न रखकर प्रबध तक खीच ले जाना भी उसे (कवि को) अभीष्ट था।[88] इस प्रकार 'आसू' गीति, मुक्त व प्रबध—सभी भूमियों का स्पर्श करता है।

मुक्तक-काव्य

मुक्तक कविता काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अग है। मुक्तक कविता के अतर्गत वे सब छोटी-बडी (प्राय छोटी ही) आत्मपर्य्यवसित, पूर्वापर क्रम अथवा प्रबधात्मकता से रहित छदोबद्ध अथवा मुक्त-छद रचनाए (वस्तु-निरूपणात्मक कविताए, पद, गीत, कविता, सवैये, चतुष्पदिया आदि) समाविष्ट की जाती है, जिनमें वस्तु-निरूपण तथा भाव-व्यजना, दोनों ही विद्यमान हों। चूकि हमने गीति-काव्य पर स्वतत्र रूप से विचार किया है, अत यहा

भावना-कल्पना से घनीभूत गीति-रचनाओं से इतर वस्तु-वर्णनात्मक कविताओ पर ही रूप की दृष्टि से विचार किया जाएगा। यो तो व्यापक अर्थों मे कविता मे गीति, पद व वस्तु वर्णनात्मक सभी प्रकार की रचनाओं का समावेश किया जा सकता है, पर उसमे प्राय उन्ही रचनाओं को रखा जाता है जो आकार में छोटी, वस्तुवर्णनात्मक, पूर्वापर सबध से मुक्त या आत्मपूर्ण तथा भावना व कल्पना की अपेक्षा निरीक्षण व बाह्य विवृत्ति पर अधिक आधारित हों। 'मुक्तक काव्य' शीर्षक इस उप-स्तभ के अतर्गत हम प्रसाद की ऐसी ही रचनाओ के रूप पर विचार करेंगे।

'चित्राधार' से लेकर 'लहर' तक प्रसाद की शताधिक मुक्तक कविताए प्राप्त होती हैं। प्रसाद का आरभिक मुक्तक काव्य उनके 'चित्राधार' के 'पराग' व 'मकरद बिदु' नामक दो स्तभों के अतर्गत समाविष्ट ब्रजभाषा में लिखित क्रमश 22 कविताओं, 23 कवित्तो, 3 सवैयो व 14 पदों की समष्टि से निर्मित होता है। इन रचनाओं में नवीन रूप निर्माण-विषयक उल्लेखनीय बात यही दिखायी पडती है कि भले ही यह काव्य ब्रजभाषा मे है पर अभिव्यजना की नवीन मौलिक स्फुरणा (जो छद-विधान, नवीन उपमान प्रयोग, लाक्षणिकता, कुतूहल-वृत्ति, रहस्य-भावना का हल्का-सा स्पर्श आदि के सामूहिक रूप से व्यक्त होती है) नेत्र-उन्मीलन करने लग गयी है। पर सब-कुछ मिलाकर, इसकी चेतना मुख्यत पुरानी है। अभी इसमें सजग शिल्पी का अध्यवसाय व व्यस्तता नही दिखायी पडती।

'झरना' व 'लहर' की मुक्त कविताए मुक्तक काव्य का पूर्णतम व सुदर रूप प्रस्तुत करती हैं। अभिव्यजना के समृद्धतम रूप—लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, छद-निर्माण-कौशल, व्यजक पद-प्रयोग, छदों में भाव का गठन, लाघव व पुष्टता की दृष्टि से कलात्मक गुफन और नवीन उपमान-चयन आदि स उक्त कविताए सपन्न है। मुक्तक रचना के सौष्ठव में जो भी उपादान प्रयुक्त होते हैं, उनका विस्तृत विश्लेषण कला से सबधित प्रकरण में आगे चलकर होगा।

मुक्तक कविताओं के अतर्गत ही हम कुछ लबी कविताओं पर विचार कर सकते हैं जो एक सूक्ष्म-स्थूल या दृढ-कोमल ऐतिहासिक या पौराणिक वस्तु-सूत्र में गुफित हैं। ये सब कविताए प्राय काल्पनिक या ऐतिहासिक-पौराणिक वस्तु-फलक पर अवस्थित हैं। 'चित्राधार' की 'अयोध्या का उद्धार', 'प्रेम राज्य', 'कानन-कुसुम' की 'भक्ति-योग', 'जलविहारिणी', 'चित्रकूट', 'भारत', 'शिल्प-सौंदर्य', 'कुरुक्षेत्र', 'वीर बालक', 'श्रीकृष्ण जयती' तथा 'लहर' की 'अशोक की चिंता', 'शेरसिह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' तथा 'प्रलय की छाया' आदि कविताए काफी बडी हैं। चूकि ये कविताए प्राय किसी बधे-बंधाए ढाचे में आसानी से नही अटती, अत हम इन्हें इनके आकार-प्रकार, काव्य-तत्त्वों के परिमाण, तद्गत वस्तु-स्वरूप, या विन्यास-कौशल के कारण पद्य-प्रबध, दीर्घ गीतात्मक काव्य, कथा-काव्य, लघुतर खड-काव्य, काव्य-कथा आदि में से किसी भी नाम से अभिहित कर सकते हैं।

यह आश्वस्त भाव से कहा जा सकता है कि 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' की कविताए प्राचीन कवियों के प्रभाव से अभिभूत रहने तथा अभिव्यजना-कौशल या रूप-निर्माण की दृष्टि से कोई आश्चर्यजनक वैशिष्ट्य नही रखती। 'लहर' की कविताए और उनमें से भी 'प्रलय की छाया', नामक कविता वस्तु-अनुरूप रूप-निर्माण और अभिव्यजना

उनमे से भी 'प्रलय की छाया', नामक कविता वस्तु-अनुरूप रूप-निर्माण और अभिव्यजना की अतिशय चारुता, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता, काव्य-ऐश्वर्य की प्रचुरता तथा भावना की उच्चाशयता के कारण इस कोटि की रचनाओ मे प्रसाद की एक अत्यत सफल रचना है।

गीति-काव्य

रूप के विचार मे कविता (विषयात्मक या वस्तु-वर्णनात्मक) के अतर्गत प्रसाद के गीति-काव्य पर विचार करना भी आवश्यक है, क्योकि प्रसाद ने (छायावाद के परवर्ती प्रमुख कवियों व गीतिकारो की तरह ही) गीति-काव्य के रूप या ढाचे को खूब माजा व सवारा। भक्ति-काल के पद-साहित्य के बाद गीति-काव्य की रचना (हा, रीति-काल के सवैया और कवित्त को भी उनकी गेयता या लयात्मकता के कारण गीति-काव्य मे ही रखे तो बात दूसरी है) भारतेन्दु व सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे कुछ कवियों को छोडकर, प्राय कम ही हो गयी थी। प्रसाद ने ही सर्वप्रथम, कुछ नये उपादानो के साथ, गीत-काव्य को पुनर्जीवित किया। यहा हम गीत की वस्तु को न लेकर गीत के बाह्य रूप (अवश्य ही जो 'वस्तु' से बहुत घनिष्ठ रूप से सबधित होकर ही अपने पूरे विकास व शक्ति को प्राप्त करता है) पर ही मुख्यत विचार करेगे।

प्रसाद के आरभिक गीतात्मक पद 'चित्राधार' के 'मकरंद बिदु' विभाग के अत मे सगृहीत है, जो भाषा व भावना की दृष्टि से प्राय सूर, तुलसी व भारतेन्दु की ही परपरा में जान पडते है। ये पद सख्या मे 14 है जिनकी टेक इस प्रकार है—"अहो नित प्रेम करत दिन गयो, दियो भल उत्तर ह्वै कै मौन, ढीठ है करत सबै ही पाप, पुन्य औ पाप न जान्यो जात, छिपि के झगड़ा क्यो फैलायो ?, ऐसौ ब्रह्म लेइ का करि है ?, और जब कहि है तब का रहि है, नाथ नहिं फीकी परै गुहार, मधुप ज्यों कज देखि मडरावे, मेरे प्रेम को प्रतिकार, प्रिय स्मृति कज में लवलीन, अरे मन अब हू तो तू मान, आज तो नीके नेह निहारो, तथा, यह तो सब समुझ्यो पहले ही।" रूप-निर्माण की दृष्टि से इनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नही दिखायी पडती।

पाश्चात्य गीतिकाव्य से प्रभावित नये ढग के गीत प्रसाद के नाटको मे तथा 'झरना', 'लहर' व 'कामायनी' ('तुमुल कोलाहल कलह में') नामक काव्य-ग्रथों मे प्राप्त होते हैं। निश्चय ही इन गीतों का कला-रूप उनकी मूल प्रेरक भावनाओं ने ही (वस्तु ने ही) निर्धारित किया है, इस तथ्य को पूरी तरह ध्यान मे रखकर ही रूप-सबधी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यो का आकलन हम कर सकते है। प्रसाद के ये गीत प्राय छोटे-छोटे छदो व छोटी पक्तियों वाले ही है। जहा कही गीत के नाम पर ये रचनाए बडे छदों, बडी पंक्तियो में व विस्तार से प्रस्तुत की गयी हैं, वे वहां गीत न रहकर कविताए ही हो गयी है—जैसे 'ध्रुवस्वामिनी', 'स्कदगुप्त' व 'चद्रगुप्त' में। इन रचनाओं को गीतों के नाम पर (भावना चाहे गीतात्मक ही क्यों न हो) अभिनय के बीच रगमच पर गाये जाने का औचित्य समझ में भी नही आता। अस्तु प्रसाद के अन्य सफल गीत बडी ही आकर्षक व कल्पनोत्तेजक टेक से आरभ होते है। लयात्मकता व प्रवाह से युक्त अनेक गीतों की सुचिक्कण व ललित-मृदुल पदावली अपनी नादरजकता से पाठक को तन्मय कर देती है। सहज अलकार तो साहित्यिक गीतों की शोभा है, पर जहा अलकारों के गुच्छों से गीतों के सहज-प्रसन्न प्रवाह में गतिरोध-सा आ जाता है, वहा वे चाहे अपने में कितने ही बिंब समेटे हों,

अवाछित से ही जान पडते है। प्रसाद के अनेक गीतो मे, जो निश्चय ही अनुभूति-गाभीर्य-जन्य गीत की सच्ची व मौलिक प्रेरणा से स्फुरित हुए है, भारी-भरकम श्लिष्ट-क्लिष्ट पदावली, उपमा-रूपकादि अलकार तथा जटिल बिब, कल्पनाए व प्रकृति के दृश्य उनकी सहजता-मजुलता को निश्चय ही क्षति पहुचाते है। प्रसाद के गीत विविध छदो मे है, जिनमे से अनेक नाटकीय गीत क्लासिकल राग-रागिनियो मे बाधे गये है। कसे हुए, सक्षिप्त, व्यजन व समृद्ध बिबो व कल्पना-चित्रों से जडे ये गीत-समुन्नत कल्पनाशील व सवेदनशील साहित्यिक पाठकों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है, इसमे सदेह नही। इनमे मीरा व कबीर की सादगी नहीं, विद्यापति की सगीतात्मकता, तुलसी की अनुभूति-घनता व मीरा तथा महादेवी की तन्मयता है। गीतो के विषय (प्रेम, सौदर्य, करुणा, वीरता, दार्शनिकता) के अनुरूप ही छदों की गति का विधान हुआ है। सफल रूप-रचना की दृष्टि से अनेक गीत प्रसाद के गीति-काव्य की स्थायी व शीर्षस्थ उपलब्धिया है।

गीति-नाट्य या गीति-रूपक

'करुणालय' गीति-काव्य और नाटक के तत्त्वों का मिश्रित सौंदर्य लिए प्रसाद का 32 पृष्ठो का एक गीति-नाट्य या गीति-रूपक (Opera) है। प्रसाद ने उसकी 'सूचना' मे लिखा है कि "यह दृश्यकाव्य गीति-नाट्य के ढग पर लिखा गया है।" करुणा के उच्च्व भाव की स्थापना व महिमा-गान से प्रेरित यह कृति 10-11 पात्रों से युक्त एक पौराणिक प्रसग को लेकर चली है। रचना सुखात है, इसमें पांच दृश्य हैं, दृश्यारभ में तथा आवश्यकतानुसार अन्यत्र भी महत्त्वपूर्ण व सक्षिप्त रग-निर्देश दिये गये हैं व अत में करुणा के महत्त्व का उद्घोषक व मगल भावना-पूर्ण गीत है जो प्रसग से सहज आविर्भूत हुआ भरत-वाक्य की शास्त्रीय नियम-पूर्ति ही करता जान पडता है। अतिप्राकृतिक (Supernatural) तत्त्व का प्रयोग भी कथा-विकास में हुआ है। कथा का विकास पात्रो के, जिनका नामोल्लेख छदो से बाहर, केशवदास की 'रामचद्रिका' की तरह, स्वतत्र-रूप से हुआ है, सवादों के द्वारा हुआ है। 'नेपथ्य' का भी प्रयोग हुआ है। करुणा की भावना को सहज दीपित-पोषित रखने मे समर्थ सस्कृत के 'कुलक', अग्रेजी के 'ब्लैकवर्स' तथा बगाली के 'अमित्राक्षर' छद की तरह ही चरणो के बधनो से मुक्त स्वतत्र गति वाले मधुर लय-सपन्न इक्कीस मात्राओं वाले अतुकात 'अरिल्ल' मात्रिक छद का, जिसमें वाक्यानुसार विराम-चिह्न पक्तियों के बीच मे भी दिया गया है, प्रयोग हुआ है। जिस समय यह रचना प्रस्तुत हुई, उस समय 'कला की दृष्टि से यह बिलकुल टटकी' (पुस्तक के प्रकाशकीय से) समझी गयी थी।

रूप-निर्माण की दृष्टि से यह कृति प्रसाद की प्रयोग-वृत्ति व काव्यशिल्प के प्रति सजगता का अच्छा परिचय देती है।

नाटक

नाटकों में प्रसाद ने कई रूप अपनाये है—पूर्ण नाटक (जो मुख्यत अभिनय की दृष्टि से लिखे गये हैं), साध्यवसान रूपक (कामना जो केवल पाठ्य है और जिसमें मानव-मन की वृत्तियों को पात्रों का रूप प्रदान किया गया है) और एकाकी। नाटकों की वस्तु को नाटकों में अकों में और दृश्यों में ('स्कदगुप्त' में दृश्य-सख्या नही दी गयी है) विभाजित किया गया है। 'कामना'

को डॉ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने सस्कृत की परपरा में साध्यवसान रूपक माना है। 'सज्जन', 'प्रायश्चित', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' और 'एक घूट' एकाकी है। 'एक घूट' रूप-सौष्ठव व नवीन नाट्य उपकरणो के सुविन्यास की दृष्टि से सुदर कृति है। 'करुणालय' ग्रथ की 'सूचना' मे गीति-नाट्य के ढग पर लिखा गया दृश्यकाव्य तथा 'महाराणा का महत्त्व' उसके 'प्रकाशकीय कथन' मे 'गीति-रूपक' कहा गया है। प्रसादरचित सब प्रकार के नाटको के स्थूल ढाचे का परिचय इतना ही है। इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद ने छोटे और बडे भिन्न-भिन्न अकों व दृश्यों वाले नाटको की रचना की है।

नाटको के तत्र मे प्रसाद ने क्रातिकारी परिवर्तन उपस्थित किया है। प्रारभिक कृतियो मे प्रसाद ने नादी,[89] सूत्रधार,[90] नटी,[91] अलौकिक पात्र,[92] नेपथ्य,[93] विदूषक,[94] स्वगत,[95] अतिप्राकृतिक तत्त्व,[96] भरतवाक्य,[97] आकाशभाषित,[98] सवादो मे छद-विधान,[99] मच पर मृत्यु का वध[100] आदि सबका विधान किया है, किंतु धीरे-धीरे वे लोक-रुचि, मच-व्यवस्था व स्वाभाविकता आदि की दृष्टि से अनावश्यक प्राचीन शास्त्रीय विधान से मुक्त हो अपनी रचनाओं मे परिवर्तन करते चले गये है। कार्य-व्यापार की अवस्थाओ, अर्थ-प्रकृतियो और सधियो का यथोचित सीमा तक पालन किया गया है, किंतु अनेक नाटकों मे इस ओर पर्याप्त शैथिल्य भी दिखायी पडता है। डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने अपने शोध-ग्रथ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' में इस विषय पर प्रौढ व सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है। नाटको मे कही तो इतने छोटे-छोटे दृश्य (जैसे 'राज्यश्री', पृष्ठ 61) है कि वह दृश्य-परिवर्तन का बहाना-मात्र जान पडता है। वस्तुत उन दृश्यो मे निवेदित अत्यल्प वस्तु का किसी अन्य रूप से निर्देश किया जा सकता था। शॉ और इब्सन की शैली पर प्रसाद ने अको या दृश्यों के आरभ में विस्तृत रग-सकेत देने की पद्धति भी ग्रहण की है।[101] सूच्य पद्धति का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है।[102] गीतों का प्रयोग नवीन पाश्चात्य शैली अथवा फारसी कपनियो के ढग का हुआ है।[103] सयोग और अकस्मात् तत्त्व तो अगणित स्थलो पर मिल जाएगा।[104] मच पर पहले से उपस्थित पात्र के शब्दो को पकडते या दुहराते या वाग्वैदग्ध्यपूर्ण प्रत्युत्पन्नमतित्व-सा दर्शाते हुए, किसी पात्र का अचानक अस्वाभाविक प्रवेश[105] भी यत्र-तत्र देखने को मिलेगा।

प्रसाद ने देश-कालानुसार नवीन रुचियों के अनुरजन व तोष की दृष्टि से रूपक की रूप-रचना के जीर्णोद्धार व नव-निर्माण मे पर्याप्त उत्साह प्रदर्शित किया और उनका यह कार्य उनके रूपाकार या कलाकार रूप को हमारे सामने विशेष रूप से स्पष्ट करता है। वृत्त के क्षेत्र में कोई परिवर्तन नही हुआ और न उसकी कोई गुंजाइश ही थी, प्रख्यात, उत्पाद्य व मिश्र—तीनो प्रकार का वृत्त उनकी रचनाओ में मिलता है, प्रख्यात व मिश्र अधिकाश रचनाओं में है, उत्पाद्य कथानक 'एक घूट' व 'कामना' का है। अक-सख्या व दृश्य-सख्या के सबध मे भी कोई विशेष बात नही, हा, 'स्कदगुप्त' में दृश्यों की सख्या के वाचक अक नही दिये गये हैं। 'एक घूट' मे एक अक है और 'स्कदगुप्त' में पाच। अन्य रचनाओं में अक-सख्या इनके बीच पड़ती है। पूर्वरग, सूत्रधार, नादी, मगलाचरण आदि का शास्त्रीय विधान, 'सज्जन' को छोड़कर सर्वत्र हटा दिया गया है। नाटकों के अत में किसी-किसी रूप में कोई मगल-भावना जिसका प्रचार-प्रसार प्राचीन भरत-वाक्य का उद्देश्य था, आ ही गयी है, उदाहरणार्थ, 'स्कदगुप्त' की समाप्ति के अवसर पर स्कद के प्रति देवसेना के उद्गार एक परम उदात्त हृदय

के उद्गार होकर मानो भरत-वाक्योचित गहन मगल-भावना का ही प्रकाश कर रहे हैं।

सस्कृत नाटको के अनुसार पात्र-वर्ग या श्रेणी के भेद से भाषा मे परिवर्तन (सस्कृत, प्राकृत आदि) का नियम भी छोड दिया गया है। शुद्ध विदूषक का विधान (यो, अनेक पात्र हसोड प्रकृति के हैं) केवल दो ही कृतियो मे दिखायी पडते है—अजातशत्रु में (वसतक) और स्कदगुप्त मे (मुद्गल)। अत इस विधान के प्रति भी प्रसाद उत्साही नही जान पडते। कार्य-व्यापार की अवस्थाओ, सधियो और अर्थ-प्रकृतियो का निर्वाह प्रसाद ने यथासभव किया है, पर पाचो सधियो (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श व निर्वहण के जितने अग शास्त्र मे गिनाये गये है[106] (क्रमश 12, 13 , 12, 13 और 14 = 64 अग) उनकी स्थिति कैसी निभी है, यह एक स्वतत्र विचार का विषय है। डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने प्रसाद के सभी नाटको मे एतद्विषयक स्पष्ट व पाडित्यपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है, पर प्रसाद जैसे स्वच्छदतावादी नाटककार के अध्ययन के प्रसग में सधियो के इन अगो के जटिल विस्तार मे जाना कदाचित् उन्हे भी अनावश्यक या अरुचिकर जान पडा है। कैशिकी, सात्वती, आरभटी व भारती आदि वृत्तियो के प्रयोग के सबध मे इतना ही कहा जा सकता है कि रसोपयुक्त व्यापार ही प्राय सर्वत्र दिखायी पडते हैं। अर्थोपक्षेपक का—विष्कभक, प्रवेशक, चूलिका, अकास्य और अकावतार नामक पाच प्रकार के दृश्यो का विधान भी नही के बराबर है। सूच्य अर्थोपक्षेपक मे मृत्यु व दड का अधिक स्वच्छदता से व्यवहार हुआ है, क्योंकि प्रसाद के युग की चलचित्र अभ्यस्त जनता अपनी स्थूल कुतूहल-वृत्ति व मनोरजन के लिए इसे सुलभ चाहती थी। अश्राव्य व स्वगत अनेक स्थलो पर है, और वे भी कही-कही लबे-लबे, जैसे 'चद्रगुप्त' मे (1/7, 3/2, 3/6)। अपवारित तथा जनातिक नियत श्राव्य के प्रयोग प्राय नही है, क्योंकि मच पर ये स्वाभाविक नही जान पडते। आकाशभाषित कही-कही दिखायी पडता है। 'गोपुच्छाग्रसमाग्र' के अनुसार सब नाटको में अक के आकार का निर्वाह नही हुआ है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद ने भारतीय नाट्यशास्त्र का ढाचा ज्यो-का-त्यो उठाकर उसक अध-पालन नही किया, प्रत्युत, युग-रुचियों के अनुसार उसका सम्मार्जन किया। इतना ही नही, अपने निजी नाट्य-विधान को अधिक रोचक, सजीव व व्यवहार्य बनाने के लिए उन्होंने नाट्य-रचना के पाश्चात्य विधान से उपकारक उपकरण लेकर (जैसे कार्य-सक्रियता, सघर्ष व द्वद्व का तत्त्व, लघु भावप्रवण गीतों का प्रयोग, पात्रो के चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य) भारतीय और पाश्चात्य उपकरणों का समन्वय करके नाट्य-रूप को अर्वाचीनता व नवीनता प्रदान की है। उनका 'स्कदगुप्त' नाटक तो कुछ अशों मे पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वों के अधिक अनुकूल है।[107] सब मिलाकर उक्त कृति भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-रूपों का सुदर समन्वय प्रस्तुत करती है।[108] इस समन्वय मे ही हम प्रसाद के नवीन नाट्य-रूप-विधान के आविष्कार की स्फूर्ति पाते हैं, और यह आविष्कार-रूप के क्षेत्र मे प्रसाद की महती देन है।

रगमंच भी नाट्य-रूप-विधान का एक अक है, क्योंकि कोई भी नाट्यकृति अपनी प्रभावपूर्ण व गभीर सप्रेषणीयता के लिए रगमंच की मुखापेक्षिणी होती है। भरत ने जो विस्तृत विधान इस सबंध में प्रस्तुत किया है,[109] उसका निर्वाह आज संभव नही। प्रसाद जी प्राचीन व नवीन को मिलाकर ही हिंदी के रगमच की आवश्यकता का अनुभव करते हैं—अपना सब-कुछ खोकर नही। वे इस सबध में भारतेन्दु की समन्वय दृष्टि के अनुगामी

है। वे लिखते है—"हा, उन सब साधनो से जो वर्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध है, हमको वचित भी न होना चाहिए।[110] रगमच के सबध मे प्रसाद जी की यह दृष्टि उनकी रूप-निर्माण-दृष्टि को समृद्ध करती है। इस दृष्टि को भी ध्यान मे रखकर उनकी रूप-सबधी उपलब्धि का आकलन करना उचित होगा, क्योंकि रगमच की प्रणाली भी तो अतत वस्तु-निवेदन की एक प्रणाली ही है।

नाटक की विधा का प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र मे इतना मूलग्राही व सर्वांगपूर्ण विवेचन हुआ है कि उसका सक्षेप भी यहा प्रस्तुत करना निरर्थक होगा। प्रसाद ने अभ्यास-प्रयोग द्वारा अपने नाटको के 'रूप' को निखारने का निरतर प्रयत्न किया। प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमों का स्वरुचि व युगरुचि के अनुरूप उन्होने ग्रहण व त्याग किया। वस्तुत प्रसाद से पूर्व स्वय भारतेन्दु ने ही प्राचीन नाट्यतत्र की जटिलता के कारण नवीन परिस्थितियो मे उसे अव्यावहारिक ठहराकर उसमे नवीन व पाश्चात्य तत्त्वो के समावेश की नवयुगोचित प्रेरणा उत्पन्न कर दी थी। परिणामस्वरूप प्रसाद मे प्राचीन व नवीन का एक सतुलित सामजस्य पाते है।

प्रसाद के नाटको के वस्तु-विन्यास के सबध मे प्राय सभी आलोचको ने उनकी सामान्य त्रुटियो का निर्देश किया है जो ये हैं[111] — कथानक का अनावश्यक विस्तार, अगागि सबध का अभाव, आवश्यक अन्विति की दृष्टि से बिखराव, कथा मे अनावश्यक प्रसग या वृत्त का जोड़, प्रासगिक कथाओ का बाहुल्य, प्रासगिक कथानकों द्वारा आधिकारिक कथावस्तु की पदच्युति, कथा की आवश्यक रूप से लघुता या दीर्घता, सधियो व कार्यावस्थाओ ('स्कदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' को छोडकर) के विधान मे अव्यवस्था, गृहीत काल की अतिदीर्घता, सख्या की दृष्टि से दृश्यो के विस्तार में क्रमश गोपुच्छता का अभाव, पात्रो का आधिक्य, अनगकथन की प्रचुरतना और अधिकाश रचनाओ मे चरमोत्कर्ष की निष्प्रभता, कथा के नायक-नायिका सबधी निर्णय के आधार की अस्पष्टता आदि। डॉ नगेन्द्र की दृष्टि मे दार्शनिक विश्लेषण और रम्य कल्पना- विलास के आवर्त्त उनकी कथा की गति के प्रमुख अवरोधक तत्त्व है।[112] इन तथ्यो के प्रकाश मे सामान्यत कहा जा सकता है कि कुछ विशिष्ट अपवादो को छोडकर प्रसाद का नाटकीय वस्तु-विन्यास शिथिल, अकौशलपूर्ण, जटिल और नीरस है। अभिनेयता की शिकायत तो बराबर है ही। हा, नाटक के लिए सघर्षात्मक वस्तु होनी चाहिए, इस दृष्टि से संघर्षमयी कथाओ को ही नाटक के लिए चुनने का कलात्मक विवेक प्रसादजी मे अवश्य दिखायी देता है। अक की समाप्ति पर घनी प्रभावान्विति वाले अन्य व मार्मिक दृश्यो के विधान का कौशल उच्च्व कोटि का है। कही-कही समुचित परिमाणवाली सामग्री को, अनावश्यक विस्तृति से बचाकर समग्रता की कल्पना करके अत्यत सुघराई के साथ विन्यस्त किया है, यथा—'स्कदगुप्त', 'एक घूट' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' आदि रचनाओ में। प्रसाद ने विदूषक का विधान भी शनै-शनै छोड दिया है। उनके द्वारा प्रयुक्त हास्य के स्वरूप के गुणावगुण की यहा विस्तृत चर्चा न करके केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नाटको मे हास्य-व्यग्य का समावेश भी पर्याप्त हुआ है। मच पर हत्या, वध आदि के भारतीय दृष्टि से वर्जित दृश्य भी दिये गये हैं। स्वगत का भी विधान हुआ है जो प्रसाद पर नवीन यथार्थवाद का प्रभाव है।

प्रसाद ने हिदी नाट्यतत्र के विकास में स्वानुभूति, आदर्श व युग-रुचि की प्रेरणा से महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने प्राचीन तत्र की बहुत-सी बातों का शनै-शनै त्याग किया और

पूर्व और पश्चिम के श्रेष्ठ तत्त्वो का समन्वित रूप ग्रहण किया। इस विश्लेषण से इस बात का अनुमान हो सकता है कि प्रसाद ने नाटकीय रूप के निखार के लिए विविध प्रयोग किये।

उपन्यास

उपन्यास-विधा के रूप-निर्माण की दृष्टि से भी 'प्रसाद' के योगदान पर विचार करना यहा आवश्यक है। रचना के बाह्य ढाचे को सवारने मे प्रसाद ने पर्याप्त सजगता व कुशलता दिखायी है—उतनी तो निश्चय ही नही जितनी छायावादोत्तर शिल्पकारो ने, जिनमे 'अज्ञेय' सभवत अग्रणी है, कितु यदि ऐतिहासिक अनुक्रम (लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा-गुरु' से लेकर स्वय प्रसाद की रचनाओ तक) से दृष्टिपात करे तो वे रूप-निर्माण की कला मे मध्यवर्ती या प्रयोगवादकालीन नही) युग के ही कलाकार कहलायेंगे।

उपन्यास के रूप-निर्माण का आशय है वस्तु-सामग्री की इस रूप मे व्यवस्था या उसका सयोजन कि एक बिदु से आरभ होकर दूसरे बिदु पर प्रसारित वस्तु आत्मपूर्ण होकर अपने समस्त अगोपागो में व आतरिक स्नायुजाल की यथावत् स्थिति से परस्पर सुसबद्ध व सुगुफित रहकर व एक प्राण-चेतना से उच्छ्वसित रहकर अपना स्वतत्र व समुन्नत व्यक्तित्व लेकर एक सुष्ठु व विकास-दीप्त कलाकृति के रूप मे वह प्रकट हो। यह कार्य उपन्यास के कथानकेतर अन्य तत्त्वों से नितात निरपेक्ष रहकर, केवल कथानक की फिटिंग पर ही सारी दृष्टि फोकस करके सुचारुता से सपन्न नही हो सकता, क्योकि कलाकृति की पूर्णता केवल एक ही अग के प्रौढतम विकास मे उतनी निहित नही, जितनी कि सब अगों की सामूहिक व सानुपातिक व्यवस्था, अतर्योजना, आवयविक ऐक्य व चरम अन्विति में। वस्तुत कला का रूप कृत्रिमता से नही गढा जाता, वह तो सब तत्त्वो, उपादानो व उपकरणों के सुस्थापन से स्वय उभरकर सहज निर्मित हो जाता है। अत रूप-निर्माण में व रूप-निर्माण के विचार मे वस्तु व शैली के सब अगों व तत्त्वो पर सश्लिष्ट व समग्र दृष्टिपात एक अनिवार्य आवश्यकता है।

यद्यपि अपनी आकृति-प्रकृति से उपन्यास साहित्यिक विधाओं मे सर्वाधिक स्वच्छद कोटि की रचना होती है, पर एक कला-कृति के रूप मे जब हम उसका परीक्षण करने मे प्रवृत्त होते है तो हमे अन्विति (Unity) का ही चरम निकष पकडना पडता है। अन्विति कला-रूप का सार है। यह अन्विति काल, क्रिया और स्थान तीन प्रकार की होती है, किंतु कलाकार अपनी स्वच्छद वृत्ति से काल और स्थान की अन्विति का यदि उल्लघन कर भी ले तो कोई बात नही—वह कुछ अन्य युक्तियो से इस क्षति की पूर्ति कर ही लेता है या कर सकता है, कितु वस्तु या क्रिया की अन्विति, जो अगी व अगो के (आधिकारिक व प्रासगिक कथाओ के) सुदर सानुपातिक समायोजन में निहित रहती है, तो अत्यत आवश्यक है। इसकी उपेक्षा तो अराजकता होगी जो किसी भी प्रकार—घोर स्वच्छदतावाद की दृष्टि से भी सह्य नही। यह प्रथम व अनिवार्य शर्त है। इस समायोजन के द्वारा सब सूत्र व ततु परस्पर सुदृढता से बधे हुए अनुस्यूत रहकर वस्तु मे सहिति, कसावट, दृढता व औज्ज्वल्य उत्पन्न करते हुए कलात्मक एकत्व या अन्विति का बोध कराते हैं और यही एकता की भावना पाठक की आत्मा को, जो स्वयं 'एक' है, समान गुणधर्मियो के पारस्परिक मिलन के प्रत्यक्ष अनुभव का आनद देती है। कलाकृति से प्रमाता के आनद का यही रहस्य है। जिस प्रकार सभी कलाकृतियों से इस एकता की भावना की निष्पत्ति अनिवार्य है उसी प्रकार उपन्यास से भी।

वस्तुत कथानक का परिमाण, स्वरूप व प्रकृति उपन्यास के अन्य तत्त्वो के स्वरूप व गतिविधि को नियत्रित-रूपायित करती है और उसी प्रकार से वे सब तत्त्व मिलकर कथानक के स्वरूप, शक्ति व प्रभाव को निर्मित करते है। इस अन्योन्याश्रित सबध की पकड व विश्लेषण के द्वारा ही रूप की मर्म कुछ समझ में आ सकता है।

'ककाल' प्रसाद का समयुगीन जीवन-विषयक एक उपन्यास है। उसकी वस्तु के मूल गुण, प्रकृति और परिमाण ने ही उसके रूपात्मक निर्माण को शासित-नियत्रित किया है। 300 पृष्ठों के इस उपन्यास का कथानक 4 खडो और 32 उपखडों मे (प्रकरणानुसार 7, 8, 7, 10 = 32 उपखडो मे) विभाजित है। खडो-उपखडो में उपन्यास की कथा को विभाजित करने की यह पद्धति उसे अधिक प्रभावशाली बनाने को नाटककार प्रसाद के द्वारा नाट्यकला के स्थानातरित की गयी जान पडती है। काल की दृष्टि से इसका कथानक लगभग 18-20 वर्षों के जीवन को समेटता है। कथा की वस्तु का सबध 6-7 केद्रों से है—प्रयाग, काशी, हरिद्वार, अयोध्या, मथुरा, वृदावन, गगासागर, अमृतसर, लखनऊ, गाला-बदनगूजर का निवास-स्थान व सिकरी की सडक, लालाराम की बगीची, देवनिरजन का अखाडा, मनौती का स्थान आदि। वस्तु की प्रमुख विशेषताए है—कथा ऐतिहासिक शैली मे प्रस्तुत की गयी है, वह सुदीर्घ, जटिल व विस्तृत है, कितु कथा-रस की दृष्टि से भरपूर रोचक है, कथानक धार्मिक-सामाजिक प्रकृति का है, इतना जटिल व विस्तृत है कि लगभग 25 पात्र कथा का वहन करते है। इस कारण इतने पात्र बनने को तो बन गये, कितु सबकी समुचित व सतोषजनक व्यवस्था हो नही पायी। उनके बाह्य जीवन और अतर्जीवन सब पर गहरा व समान ध्यान नही दिया जा सका—घटी, विजय और यमुना—बस, इन तीन पात्रों पर ही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि केद्रित हो पायी है, शेष पात्र य तो कडिया जोडने वाले या कथा को लेखक के अभीप्सित लक्ष्य की ओर बढा या दौडा ले जाने वाले या कथा में कृत्रिम गति बनाये रखने वाले है।

पात्र इतने अधिक हो गये है और उनके कार्य-व्यापारों से घटना-जाल इतना विस्तृत हो गया है कि लेखक को अपनी ओर से अनेक पात्रो की स्थिति, स्थान आदि की कैफियत देनी पडी है। अनेक पात्र कशाधात से प्रेरित हैं, 'सयोग' के चाबुक लगा-लगाकर कथा को दौडाया गया है, इसलिए कि लेखक को विकृत हिदू-समाज की समस्या के निदान व विश्लेषण के साथ एक समाधान भी प्रस्तुत करना है। व्यापार पर व्यापार व घटना पर घटना होती चलती है, प्राय स्वयमेव नही। सृष्टि बनाकर तो डाल दी, पसारा तो इतना हो गया, समेटना तो मुश्किल है, अत अनेक पात्र अधपके-से ही रह जाते हैं। कथानक छोटा होता तो पात्र कम होते, पात्र कम होते तो वे पौधे की तरह उन्मुक्त धूप व हवा में धीमे-धीमे पकते। वस्तुत लेखक देवकीनन्दन खत्री व किशोरीलाल गोस्वामी का आरभिक प्रेमचन्द के युग का कथा-रस भी प्रवाहित करना चाहता है और नवीन औपन्यासिक चरित्राकन-कला का समावेश भी करने के लिए समुत्सुक है। पात्रो को पूरी छूट देने की, उन्हे अपने आप आत्मशक्तियो से बढ़ने की पूरी छूट वह नही दे पा रहा है। इस स्थिति और इस सीमा से ही ककाल के कलात्मक रूप का निर्माण हुआ है। वस्तुत हिदू-समाज की वास्तविकता का हार्दिक साक्षात्कार कराना मात्र ही इस उपन्यास की मुख्य प्रेरणा जान पडती है।

ऐतिहासिक विकास-क्रम पर दृष्टिपात करने पर इसकी कला पूर्व उपलब्धियों से अवश्य

आगे है, किंतु रूप-निर्माण के आदर्श का निर्माण करने में भी अपने ढग से महत्त्वपूर्ण है।

यह उपन्यास स्पष्टतया दु'खात है, फिर भी रचना की समाप्ति को लेकर 'आसू' या 'स्कदगुप्त' की-सी अनिश्चित स्थिति यहा नही है। विजय और यमुना की स्थिति, दु'खातता से लेखकीय लक्ष्य-प्रतिबद्धता का अभाव व आदर्श की अनिवार्य विजय की-सी मनोवृत्ति प्रमुख नही हो बैठी है, और यह यथार्थवादी कला की दृष्टि से एक अच्छा लक्षण है।

'तितली' प्रसाद का दूसरा उपन्यास है। इसकी कथा ऐतिहासिक शैली मे कही जाकर, 4 खडो और 30 उपखडों में विभक्त है। रूप-निर्माण की दृष्टि से यह रचना 'ककाल' की अपेक्षा कही अधिक प्रौढ, सुगढ व सयत है। इसकी 'वस्तु' अपेक्षाकृत मर्यादित व स्वच्छ है—पूरे समाज के स्थान पर यहा समस्या केवल कुटुब व गाव है, तथा स्थान भी दो-चार—शेरकोट, बनजरिया, काशी, कलकत्ता आदि। पात्र भी थोडे, लक्ष्य भी छोटा व साफ—ग्राम-स्वर्ग की कल्पना को साकार करने का प्रयत्न। किस्सागोई यहा उतनी नही है जितनी 'ककाल' में। यहा स्थिर भाव से, आख गडाकर किये गये जीवन व प्रकृति के निरीक्षण द्वारा मद्र-मधुर गति से कथा को सहज-सहज आगे बढाया गया है। लक्ष्य के अनुधावन में इतनी उतावली नही। कथा को झटके, शाक, चाबुक ऐसे नही दिये गये है। अवश्य कथा को दो धाराए—मधुबन-तितली व इन्द्रदेव-शैला समान-सा महत्त्व ग्रहण कर बैठती है, किंतु दोनो एक ही व्यापक जीवन-धारा के दो परस्पर घनिष्ठ रूप से सबद्ध प्रवाह बनकर अपनी समग्रता में एक ही परिपूर्ण चित्र का निर्माण करती है और एक अखड सामाजिक चेतना को प्रस्तुत करती है। इसमे मुख्य कथा तितली-मधुबन की है जिसको उभारने के लिए तथा नगर व ग्राम-सभ्यता और सस्कृति के बीच एक तीखा विरोध (Sharp contrast) प्रदान करने के गभीर आशय से शैला-इन्द्रदेव की कथा भी समानातर रूप से बढती चलती है। प्रासगिक या गौण कथाए—रामदीन-मलिया, अनवरी-श्यामलाल, मुकुदलाल-नन्दरानी की—भी मर्यादित व मुख्य कथा से सबद्ध है। कथा के मुख्य व्यापार-स्थल भी सख्या मे सीमित व भौगोलिक दृष्टि से इतने निकट है (कलकत्ता व गगासागर को छोडकर, जो कथा के अनिवार्य आवश्यक स्थल नही बन पाये है) कि सब जगह के कार्य-व्यापार एक ही कार्यभूमि पर व एक ही योजना के अगभूत रूप मे घटते-से जान पडते है। इससे कथासूत्र पर्याप्त सुगुफित व स्निग्ध-दृढ बना रहा है। 'तितली' मे सवादो के माध्यम से पात्रो और उनके कार्य-व्यापारों द्वारा घटनावली को स्वाभाविक ढग से स्वय विकसित होने देने का पूरा-पूरा अवकाश दिया गया है। रचना के उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रसग भी बलात् नियोजित नही किये गये है।

'इरावती' शुग-काल पर आधारित एक अधूरी रचना है, अत उस पर किसी विशेष विचार की गुंजाइश नही है। जितना अश उपलब्ध है उसके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें औपन्यासिक कथा-रस का स्निग्ध-गभीर प्रवाह है, जो वस्तु, पात्र व घटना की सूक्ष्म सुनियोजना से ही सभव हो सका है। रचना-शिल्प पिछले दोनो उपन्यासो की अपेक्षा अधिक कौशलपूर्ण है।

उपन्यास-विधा के रूप को निखारने व उसे समृद्ध करने मे प्रसाद का योगदान ऐतिहासिक व तात्त्विक, दोनो ही प्रकार के महत्त्व का है। अपने समय तक की उपन्यास-कला के विकसित रूपों और तत्त्वो का लेखक ने उपयोग किया है। उन्होने जीवन-मूल्यो के

पुनर्परीक्षण और उनकी स्थापना या पुनर्स्थापना के लिए नयी शक्तिशाली व प्रभूत सामग्री हाथ मे ली। उसके विन्यास में यद्यपि उन्होने अनेक नवीनताए उत्पन्न की और नये प्रयोग किये, किंतु कलाकारोचित शिल्पगत सतत जागरूकता के प्रति सभवत वे उतने उत्साही नही रहे, जितने अज्ञेय, फॉकनर, हेनरी जेम्स, फील्डिंग आदि। यद्यपि यहा पर यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रसाद कला-निर्माण के उस मूल सिद्धात मे ही विश्वास रखते है, जिसके अनुसार शैली की अपेक्षा 'वस्तु' ही प्राथमिक महत्त्व की होती है।

समस्या के कारणो का निर्देश और समाधान भी पाठकों की ग्राहक कल्पना पर ही छोड देना कला की विकसित व स्वीकृत पद्धति है। किंतु प्रसाद जी ने 'ककाल' व 'तितली' दोनों मे ही सामाजिक समस्याओ के विश्लेषण के साथ उनके निदान और समाधान भी प्रस्तुत किये हैं।

मुख्य कथा या आधिकारिक कथा विजय और यमुना की है। किशोरी-श्रीचन्द्र, श्रीचन्द्र-चन्दा, किशोरी-देवनिरजन, विजय-घटी, गाला-बदनगूजर, मगल-गाला, स्वामी कृष्णशरण, राम-भडारी, जॉन-बाथम-सरला-लतिका आदि की कथाए प्रासगिक हैं जो सख्या मे तो अधिक हो ही गयी है, साथ ही मूल कथा से समान रूप से तथा अनिवार्य रूप से सबद्ध भी नही हो पायी है। अनेक उपकथाए अपने-अपने क्षेत्रों मे विस्तार पाकर केंद्रीय कथा को दबा बैठी हैं, अत वस्तु-व्यवस्था अनेक स्थलो पर दुर्बल व विशृखलित है। प्रायः सभी अवातर कथाए या उपकथाए औत्सुक्यपूर्ण कथा-रस प्रदान करने की क्षमता के कारण समान-सा महत्त्व ग्रहण कर लेती है। जितने भी कथा-केंद्र है वहा के कार्य-व्यापार भी समान-से महत्त्व के बन जाते हैं। रथ के पहिये की नाभि में जिस प्रकार सब अरे आ मिलते है, उस प्रकार सब उपकथाए सीधे-सादे कथानक की कथा में प्राय नही आ मिलती। लेखक का अपना व्यावहारिक प्रयोजन (हिंदू धर्म की यथार्थ स्थिति को अंकित करना) अत्यधिक प्रमुख रहने के कारण और पात्रो व उनके क्रियाकलापो पर अपना सीमातीत शासन रखने के कारण कथा-विकास वाछित सुषमा नही प्राप्त कर सका। कथा-प्रवाह में उत्सुकता बनाये रखने के लिए अनेक युक्तिया काम में लायी गयी हैं, जिनमें अप्राकृतिक सयोग-तत्त्व का समावेश भी है। आकस्मिक सयोगो का भी बाहुल्य है, जिससे अनेक स्थलो पर कथा मे अस्वाभाविकता दिखायी पडती है। साथ ही बहुज्ञता-प्रदर्शन या वर्णन की प्रवृत्ति से भी कथा-प्रवाह शिथिल हो गया है। लेखक के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य हिंदू समाज की भीतरी सडाध को खोल-खोलकर दिखाना है, जिसकी साग्रह पूर्ति के लिए वह कथा-विकास की स्वीकृत कलात्मक प्रणाली, मनोवैज्ञानिक क्रम, अगागि-सबध व अनुपात की अवहेलना करके प्राय मनमाने ढग से, पात्रो का सृजन, उनकी गतिविधि का नियोजन तथा वाछित-अवाछित घटनाओ व कथाओ की निर्बाध सृष्टि करता चला है। उपन्यास के उत्तरार्ध में सिद्धात-निरूपणात्मक भाषणबाजी ने भी रूक्षता उत्पन्न कर दी है। परिणामस्वरूप कथा की गति अनेक स्थलो पर शिथिल व विशृखलित हो गयी है। इस कलात्रुटि का चरमोत्कर्ष हम वहां देख सकते है जहा लेखक पात्र और घटनाओ में उपस्थित हुई जटिलता का स्पष्टीकरण करने के लिए स्वय उपस्थित होकर समाधान-सा प्रस्तुत करता है।[113]

कहानी

प्रसाद के पाच कहानी-सग्रह है—'प्रतिध्वनि', 'छाया', 'आकाश-दीप', 'आधी' और 'इद्रजाल'।

रूप की दृष्टि से इन कहानियो के सबध मे कुछ तथ्य महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि प्रसादजी ने कहानी का रूप पाश्चात्य कहानी तथा प्राचीन भारतीय रसात्मक आख्यायिका—इन दोनो के मिश्रण से तैयार किया है। द्वितीय यह है कि कथा-बध की दृष्टि से अधिकाश कहानिया ऐतिहासिक शैली मे लिखी गयी है। 'देवदासी' पत्र-शैली मे लिखी गयी है। कुछ कहानिया आत्मकथात्मक शैली मे लिखी गयी है, जैसे आधी, ग्रामगीत, बेडी, चित्रवाले पत्थर, छोटा जादूगर आदि कहानिया, जिनमे नायक 'उत्तम पुरुष' में बोलता है।

कहानिया छोटी हो या बडी, अनेक खडो में सख्यावाचक अक दे कर, या गुणा का चिह्न (X) देकर, विभाजित की गयी हैं। उदाहरणार्थ—'उस पार का योगी' (2 खड), 'रसिया बालम' (5 खड), 'व्रतभग' (9 खड)। छोटी-छोटी कहानियो मे (जैसे, 'बेडी' कहानी) लघु-लघु प्रघट्टक के बाद ही खड-सूचक अक या गुणा के चिह्न उपस्थित हो जाते है। कही-कही अति लघु अतर पर खडो की योजना की गयी है।

कहानियों के तत्र पर दृष्टि डालने पर निम्नलिखित बाते प्रमुख रूप से दिखायी पडती हैं—

अनेक कहानिया (विशेषत 'प्रतिध्वनि', 'छाया' तथा 'आकाश-दीप') कथा-सूत्र के अभाव या अनुपस्थिति मे गद्यकाव्य-मात्र रह गयी है। कुछ कहानिया घटना-जाल अथवा वृत्त के फलक-विस्तार के कारण उपन्यास का-सा आकार धारण कर बैठी है (जैसे, 'अशोक', 'मदन-मृणालिनी', 'आधी', 'सालवती', 'दासी', 'व्रतभग')। आधुनिक कहानी केवल एक अनुभूति, चरित्र का एक पक्ष, एक भावना, एक सवेदना, जीवन की एक छोटी-सी घटना, चित्र, स्थिति या झलक को लेकर चलती है। इस 'एक' को छोटी-से-छोटी सीमा मे, अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पत्ति की दृष्टि से, सूक्ष्म तूलिका-कौशल के द्वारा प्रस्तुत करना ही कहानी-कला का प्राण है। किंतु जब अनावश्यक कल्पना, काव्यत्व व वर्णनो के सहारे विस्तृत वृत्त लेकर दीर्घकाल की घटनावली प्रस्तुत कर दी जायेगी, तो स्वभावत प्रभाव क्षीण हो जायेगा, बिखर जायेगा।

इस दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि ये कहानिया काव्य-रस मे हमे लीन भले ही करें, कल्पना के सुनहले लोक में भले ही पहुचा दे (कहानी, कविता का पर्याय तो नहीं), किंतु 'प्रतिध्वनि', 'आधी' और 'आकाश-दीप' की अधिकाश कहानिया टेकनीक की इस उपेक्षा से या तो काव्य हो गयी है या अविकसित उपन्यास। अनेक बार तो इतना काल-फलक ले लिया जाता है कि स्वय लेखक उसके निर्वाह की कठिनाई के अनुभव की घोषणा कर देता है, जैसे, 'अघोरी का मोह' (25 वर्ष), 'गुलाम', 'चित्तौड-उद्धार', 'मदन-मृणालिनी', 'समुद्र-सतरण' (कितने ही बरस बीत गये), 'नूरी' (18 वर्ष), 'आकाश-दीप' (5 वर्ष), 'ममता' (अब 70 वर्ष की), 'स्वर्ग के खडहर में' (11 महीने बाद), 'बनजारा' (कई महीने बाद), 'अपराधी' (16 वर्ष, कई वर्ष बीत गये), 'भीख में' (कई वर्ष), 'चित्रवाले पत्थर' (कितने वर्ष, कितने महीने), 'सालवती' (आठ वर्ष के बाद), 'व्रतभग' (बरसों बीत गये), 'दासी' (18 वर्ष) आदि। इनमें से कई कहानियों मे लेखक अपनी ओर से ही काल-विस्तार की सूचना देता है। कई कहानियों का काल-फलक तो कहानी जैसी कोमल और सवेदनपूर्ण विधा के लिए असह्य या दुर्वह हो गया है। परिणामस्वरूप—'पाप की पराजय', 'दुखिया', 'रसिया बालम', 'गुलाम', 'प्रणय-चिह्न', 'स्वर्ग के खडहर में',

'चूडीवाली' और 'सालवती' आदि कहानिया 3 से लेकर 5 खडो तक मे विभाजित की गयी है—यद्यपि कही-कही यह विभाजन बडा साफ भी हुआ है इसमें सदेह नही, जैसे 'इन्द्रजाल' कहानी मे। इस तथ्य के प्रति स्वय लेखक इतना जागरूक है कि वह 'दुखिया', 'ग्राम', 'सिकदर की शपथ', 'गुलाम' व 'मदन-मृणालिनी' आदि कहानियो मे किसी-न-किसी रूप मे लुप्त या विस्मृत कथासूत्र पाठक के हाथ मे फिर से थमाता है। 'रसिया बालम', 'मदन-मृणालिनी', 'दासी' और 'आधी' जैसी कहानियो के अनेक अतराल तो अनावश्यक और उबाने वाले है। अनेक कहानियो मे लेखक को अपनी ओर से समाहारात्मक व्याख्या देनी पडती है—जैसे 'गुलाम', 'ममता', 'बेडी' आदि कहानियो में। सयोग या आकस्मिकता का तत्त्व (जो वस्तु-योजना से सबधित है) अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त हुआ है तथा अतिप्राकृतिक तत्त्व (Supernatural element) का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। 'गूदड साई', 'पाप की पराजय', 'खडहर की लिपि', 'चक्रवर्ती का स्तम्भ', 'दुखिया', 'चन्दा', 'रसिया बालम', 'सिकदर की शपथ', 'चित्तौड-उद्धार', 'अशोक', 'मदन-मृणालिनी', 'ज्योतिष्मती', 'नूरी', 'सुनहला साप', 'सालवती', 'चूडीवाली', 'बनजारा', 'भीख मे', 'चित्रवाले पत्थर', 'आधी', 'मधुआ' और 'दासी' कहानियो में यह सयोग-तत्त्व ही कहानी के कथासूत्रो को विकसित करता है। 'चक्रवर्ती का स्तम्भ', 'प्रतिमा', 'रसिया बालम', 'इन्द्रजाल', 'छोटा जादूगर' और 'चित्रवाले पत्थर' में अतिप्राकृतिक तत्त्व का इस रूप में प्रयोग हुआ है कि इस बौद्धिक युग के लिए बहुत ग्रहणीय नही, और दूसरे, वह कथासूत्र को अस्वाभाविक रूप से झटका-सा देता है।

अनेक कहानियो मे कई स्थल शुद्ध भाषण, विवरण, तथ्य-कथन या इतिहास की उद्धरणी-मात्र हो गये है—जैसे, 'सिकदर की शपथ', 'तानसेन', 'गुलाम', 'जहाआरा', 'मदन-मृणालिनी' और 'नूरी' मे। कही-कही कहानी 'चरमोत्कर्ष' के बाद भी घसीटी गयी है—जैसे, 'आकाशदीप' और 'नूरी' मे। 'मदन-मृणालिनी' जैसी कहानियो में लेखक किसी परिस्थिति या प्रसग की समाप्ति की अप्रत्याशितता या प्रतिकूलता पर निष्कर्ष, सार या शिक्षा रूप मे दार्शनिक ढग की टिप्पणी भी कर बैठता है, जो वस्तुत पाठक के मन में उठती है या उठनी चाहिए—जैसे, सचमुच ससार बडा आडबरप्रिय है ('छाया', पृष्ठ 123), हे भगवान्, भीख मगवाने के लिए, पेट के लिए बाप अपने बेटे के पैर में बेडी भी डाल सकता है ससार, तेरी जय हो। ('आधी' पृष्ठ 74)। एक स्थान पर तो लेखक ने पाद-टिप्पणी की पद्धति भी ग्रहण की है—जैसे 'रसिया बालम' मे। कुतूहल व चमत्कार उत्पन्न करने के लिए स्वप्न, अगूठी, पत्र, आघात-चिह्न आदि का उपयोग भी कही-कही हुआ है। 'खडहर की लिपि' (उत्तरार्ध) मे स्वप्न, 'प्रणय-चिह्न' व 'अशोक' में अगूठी, और 'व्रतभग', 'मणिदीपाधार', 'रसिया बालम', 'मदन-मृणालिनी', 'देवदासी' व 'आधी' कहानियो मे पत्र का विधान हुआ है। प्रत्यभिज्ञान के रूप मे आघात-चिह्न का प्रयोग 'सालवती' व 'अपराधी' कहानी मे भली-भाति हुआ है। 'देवदासी' और 'आधी' में पत्र-समाप्ति के बाद 'पुनश्च' का विधान करके स्वाभाविकता दर्शायी गयी है। पानी मे डूबने (उस पार का योगी) और बचाने (शरणागत, मदन-मृणालिनी) जैसी घटनाए भी कथानक के निर्माण में गूथी गयी है।

'तानसेन', 'ग्रामगीत', 'बनजारा', 'चूडीवाली', 'ममता', 'गुंडा' और 'बेडी' नामक

कहानियों मे गीत, भजन, शेर और श्लोक का भी प्रयोग हुआ है।

'प्रलय', 'गुलाम', 'बिसाती', 'नूरी', 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खडहर में', 'कला', 'देवदासी', 'समुद्र-सतरण', 'अपराधी', 'चित्रवाले पत्थर' और 'दासी' कहानियो मे कल्पना भावुकता, काव्यत्व तथा प्रतीक-विधान अनेक स्थलो पर इतना घना और बारीक हो गया है कि उन स्थलों को कहानी न कहकर गद्यकाव्य या अतुकात काव्य कहना ही उत्तम जान पडता है—यह छूट देते हुए भी कि प्रसाद मूलत कवि थे और ध्वनि-शैली के कहानीकार थे। आखिर कहानी के कुछ सुदृढ वस्तु-सूत्र भी तो पाठक के हाथ मे होने ही चाहिए।

कही-कही कहानी में कहानी भी रखी गयी है, जैसे—'स्वर्ग के खडहर मे', 'सदेह' और 'चित्रवाले पत्थर' में।

कहानी आज एक अत्यत व्यापक लोकप्रिय, सतत विकासशील, लचीली व प्रयोगाधीन विधा है, अत उसके चरम रूप या ढाचे की ऐसी अतिम परिकल्पना, जिसे हम प्रसाद की कहानी की चरम उपलब्धि के लिए अतिम निकष मान ले, नितात असभव है।

कथ्य या सवेदना के अनुरूप रूपगठन की दृष्टि से तथा प्रसाद की जन्मजात कविवृत्ति को पूरी-पूरी छूट देते हुए निम्नलिखित कहानिया सफल और सुदर कही जा सकती हैं—'प्रलय', 'आकाशदीप', 'ममता', 'हिमालय का पथिक', 'देवदासी', 'समुद्र-सतरण', 'बिसाती', 'आधी', 'मधुआ', 'बेडी', 'ग्राम-गीत', 'अमिट स्मृति', 'पुरस्कार', 'इन्द्रजाल', 'नूरी', 'चित्रमदिर', 'गुडा', 'अनबोला', 'देवरथ' और 'सालवती'। शास्त्रीय टेकनीक की बात छोडकर पाठक की दृष्टि (कथा-रस की) से ही विचार किया जाय तो इनमें अनेक कहानियो में जिज्ञासा-तत्त्व और रजकता आदि सतोषजनक परिमाण मे पाये जाते है। प्रसाद की ये कहानिया मुख्यत ध्वनि-प्रधान है, अत रस और कल्पना को भी उचित स्थान देना पडेगा। रसतत्त्व (भारतीय तत्त्व), चरित्र-चित्रण (पाश्चात्य तत्त्व), उच्च कला या रूप की माग (विधा की आवश्यकता) और रोचकता (पाठक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला तत्त्व)—इन चारों की एक साथ सतुष्टि की दृष्टि से हम अपने चयन का सुझाव प्रस्तुत करते है। यो समग्र प्रभाव व कला-सौष्ठव की दृष्टि से रेखाकित कहानिया प्रसाद की सर्वोत्तम कहानिया कही जा सकती है। वस्तुत "उनकी कहानियो का तत्र उनका अपना है।"[114]

दो शब्द कहानियों के शीर्षक, आरभ और अत पर भी आवश्यक है। प्रसाद ने पात्रो के नाम, वृत्ति, नैतिक मूल्य, घटना या प्रसग, व्यवसाय-वृत्ति तथा अतिप्राकृतिक तथ्यो आदि के आधार पर कहानियों के शीर्षक रखे हैं, जैसे, 'अनबोला', 'हिमालय', 'पुरस्कार', 'स्मृति', 'उस पार का योगी', 'ग्रामगीत' आदि। शीर्षक निसदेह व्यजनापूर्ण हैं। कहानियों का आरभ प्राय वर्णन या संवाद से हुआ है। वर्णनात्मक आरभ शुद्ध प्रकृति के चित्रण और प्रकृति तथा मनोभावों की क्रिया-प्रतिक्रिया के सश्लिष्ट रूप में हुआ है।

प्रसाद की कहानियों के अत बडे वैविध्यपूर्ण हैं। कही कहानियो का अत नैतिक मूल्य की प्रतिष्ठा, शिवभावना, काव्य-न्याय, करुणा की मार्मिकता, अवसाद की खिन्नता से हुआ है, कही-कही वह प्रकृति के एक निगूढ और व्यजक क्रिया या व्यापार में होता है। जिज्ञासा-शमन, आस्था-स्थापन, जीवन की अनबुझी सामाजिक या नैतिक समस्याओ के उत्तेजन के साथ अनेक कहानियों के अत होते हैं। कहानी के जगे-जगाये सुदर प्रभाव को क्षीण करने वाले अकुशल अत भी देखे जाते हैं। उक्त उद्धरण के साथ भी कुछ कहानियों की समाप्ति हुई है।

सब-कुछ मिलाकर, आचार्य वाजपेयी के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "उनके पास उपन्यास और कहानी का पूर्वनिर्धारित ढाचा नही है, बल्कि वे पात्रो और चरित्रो को केंद्र मे रखकर ही अपने कथा-स्थापत्य का निर्माण करते है।"[115]

गद्यकाव्य

रसात्मक साहित्य की कोटि मे, जैसे प्राचीन सस्कृत साहित्य मे बाणभट्ट की 'कादम्बरी' है, गद्य-काव्य भी एक विधा है जिसका अभ्यास हिंदी में कुछ युगों तक उत्साहपूर्वक चला। 'प्रसाद' ने इस क्षेत्र में भी अपना आकर्षण दिखाया, पर किसी स्वतत्र रचना के निर्माण द्वारा बहुत कम। 'प्रसाद' की रचनाओं के अनेक कल्पनाप्रचुर रसात्मक स्थल इस विधा के अतर्गत समाविष्ट किये जा सकते है।[116] ठाकुर जगमोहनसिह, वियोगि हरि, राजा राधिकारमणप्रसाद सिह, चडीप्रसाद 'हृदयेश', राय कृष्णदास, दिनेशनन्दिनी चोरडिया, प्रो शातिप्रसाद वर्मा आदि लेखको ने हिंदी में इस विधा को काफी आगे बढाया। पर गद्य के विवेचनात्मक कार्यों के लिए ही प्रमुखत प्रयुक्त होने के कारण यह गद्य विधा अब समाप्तप्राय है। 'चित्राधार' के 'कथा-प्रबध' नामक स्तभ के अतर्गत सकलित 'प्रकृति-सौदर्य' और 'सरोज' नामक रचनाए भावात्मक कोटी की हैं, जिनमे बीच-बीच मे, हम 'प्रसाद' के आरभिक गद्य-काव्य के नमूने देख सकते है।

यों तो प्रसाद के रसात्मक व कल्पनाप्रचुर साहित्य में से दर्जनों स्थल निर्दिष्ट किये जा सकते है जो गद्य-गीत या गद्य-काव्य की भावना के पूर्ण मेल मे है पर प्रसग से सर्वथा निरपेक्ष आत्मपूर्ण कृतियों के रूप में स्वतत्र गद्य-गीत 7-8 ही दे खने को मिलेंगे।[117] प्रसाद ने स्वतत्र गद्य-काव्य कुछ लिखे थे पर शनै-शनै वे उस पथ से विरत हो गये। उक्त गद्य-काव्यों में से कुछ अन्य की सामग्री विभिन्न गीतो या कविताओं के रूप मे ढाल दी गयी।

रूप-निर्माण की दृष्टि से इन गद्य-काव्यो की विशेषताओं में से व्यजक शीर्षक, रचना का आकारगत लाघव व गठन, भावात्मक या कल्पनात्मक वस्तु-विन्यास, कल्पनोत्तेजक प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग, अलकृति, नाटकीयता, रोमाटिक जीवन-दृष्टि, व्यावहारिक जीवन-झाकिया या प्रसग, रोचक काल्पनिक सवाद, वृत्त की अन्विति की (स्थापना, तरग शैली, वाक्य) रचना में पदों व पद-समूहो का स्वाभाविक व्यतिक्रम व आत्मीयता के वातावरण में काल्पनिक परिसवादों की जीवतता आदि हैं।

निबध, लेख व आलोचना

प्रसाद ने अनेक निबध या लेख भी लिखे हैं जो चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—(1) भावात्मक, (2) साहित्य-समीक्षात्मक, (3) शोधात्मक या गवेषणात्मक और (4) सामान्य। भावात्मक निबधों के अतर्गत 'चित्राधार' में सकलित 'भक्ति-योग', 'सरोज', 'प्रकृति-सौदर्य, साहित्य-समीक्षात्मक मे 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' में सकलित लेख; गवेषणात्मक निबधों मे 'स्कदगुप्त', 'चद्रगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'ध्रुवस्वामिनी', 'विशाख', 'राज्यश्री' तथा 'कामायनी' आदि कृतियों की भूमिका रूप में लिखित तथा 'आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इन्द्र' नामक लेख (जो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और आगे चलकर 'कोशोत्सव स्मारक-सग्रह' में भी प्रकाशित हुआ) तथा सामान्य निबधों में

'हिंदी-साहित्य सम्मेलन', 'चपू', 'कवि और कविता', 'कविता रसास्वाद', 'मौर्यो का राज्य-परिवर्तन', 'हिदी कविता का विकास' आदि लेख सम्मिलित किये जा सकते है। अतिम लेखो में से दो-तीन लेख अब प्राप्त नही होते।

रूप की दृष्टि से इन निबधो की कलात्मक विशेषता इनकी भावानुरूप या विचारानुरूप प्रतिपादन शैली ही कही जा सकती है। भावात्मक निबधों का कला-सौष्ठव उनकी स्वल्प सामग्री के उच्छ्वासपूर्ण व कल्पनात्मक विन्यास में निहित है। विचारात्मक या गवेषणात्मक निबधो का रूप आकार-लाघव, विचारो की कसावट, तत्सम-पदावली से युक्त सस्कृतनिष्ठ सहितिप्रधान भाषा, व्यवस्थित विराम-चिह्नों का प्रयोग, पुष्ट व सुगुफित वाक्य-रचना, विवेच्य विषय-वस्तु का महत्त्व-क्रम से पैराग्राफों मे विभाजन, समुचित परिमाण मे प्रमाण-सूचक उद्धरणो का प्रस्तुतीकरण व निबध के सब अगों में प्रौढ अन्विति—विचारात्मक या गवेषणात्मक निबधो की ये प्रमुख विशेषताए है। शुद्ध भावात्मकता, कल्पनात्मकता या बौद्धिकता ही इन रचनाओ के बाह्य स्वरूप का अनुशासन करती है।

चपू

'चित्राधार' मे सकलित 'उर्वशी'[118] नामक चपू कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' से प्रभावित 20 पृष्ठ की एक द्विपात्रीय कथात्मक रचना है जिसका कथानक पौराणिक है और जिसमे निरूपित प्रेम रोमाटिक टाइप का है। इसकी वस्तु सक्षिप्त है जो अलकृत वर्णनों, सवादो और नाना छदो में लिखित छोटी-बडी कविताओं के प्रयोग द्वारा विकसित होकर 6 खडों मे विभक्त है। गद्य प्रौढ खडी बोली में व कविता ब्रजभाषा में है। वस्तु-विस्तार के बीच विभिन्न अतर दे-देकर लगभग 18-20 बार विभिन्न विस्तार की काव्य-पक्तिया—जिनमे पद, गीत, दोहा, सोरठा, बरवै व अन्य दो-एक शास्त्रीय छद सम्मिलित हैं—आती है। शृगार रस प्रधान है व रचना स्पष्टत दुखात है, किंतु अत मे 'आसू' या 'स्कदगुप्त' के अत मे प्राप्त होने वाली जैसी दार्शनिकता के सहारे विरह के दुख व शोक को सौदर्य की सौम्य व विराट् अनुभूति में विलीन कर दिया गया है। 'भयानक सौदर्य', 'भीषण सुदरता', 'मनोहर गुफा पहाडी में प्रेमी की तरह हृदय खोले बैठी है', 'आधी गायी हुई गीत की तरह', 'जीवन की पहली गर्मी मे तुझे हिम-जल का पात्र समझा था' तथा 'तीखी सुराही की तरह तुम्हारी चाह 'और लाओ' की पुकार मचा रही है'—में निहित नवीन अभिव्यजना, कल्पनाप्रचुरता, आदर्शोन्मुखता, सौदर्य-प्रेम, प्रकृति में चेतना का आरोप व मानवीकरण आदि विशिष्टताओं से समन्वित होकर यह रचना प्रसाद द्वार डाले जा ने वाले 'छायावाद' का पूर्वाभ्यास प्रस्तुत करती है।

'उर्वशी' की ही अनेक प्रमुख कलात्मक विशेषताओं के लिए 'चित्राधार' मे सकलित दूसरा चपू 'बभ्रुवाहन' 23 पृष्ठो का है और चार परिच्छेदों मे विभक्त है। इसकी कथा महाभारत से सबधित है। इसमें तीन-चार प्रमुख पात्र हैं—चित्रागदा, धनजय और बभ्रुवाहन आदि। शृगार, वीर और वत्सल तीन रस है। रचना पूर्णत सुखात है। अभिव्यजना के वैसे रूप इसमें नही खिले हैं जैसे 'उर्वशी' में। अनेक कविताश काफी बडे हैं और भाषा आलकारिकता से लदी और कृत्रिम-सी है।

वास्तव में चपू में प्रयुक्त गद्य और पद्य दोनों की ही मूल प्रकृति बहुत कुछ भावात्मक-कल्पनात्मक है। अत उनमें भेद करना कठिन ही है, केवल बाह्य रूप ही भिन्न है।

अपनी आरभिक उठान के युग मे और प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रेम के कारण इस प्रकार की विधा का ग्रहण प्रसाद के लिए कुछ स्वाभाविक ही था, कितु जान पडता है, आगे चलकर यह सोचकर कि आधुनिक युग मे गद्य शुद्ध विचार या व्याख्या के लिए ही अधिक उपयुक्त जान पडता है और इस विधा के सशक्त बनकर जीवित रहने की सभावनाए अत्यल्प ही हैं, प्रसाद ने इस विधा मे और कोई रचना नही की। अत इस विधा में रूप-रचना की दृष्टि से कोई विशेष योगदान नही दिखायी पडता।

हिदी-चपू की न तो कोई विशिष्ट परपरा ही थी और न वह प्रसाद के आगे ही चली।

रूप के साधक-बाधक तत्त्व व अन्य तथ्य

कुतूहलवर्द्धक उपादान कहानियों के अतिरिक्त अन्य विधाओं के कथानक में कुतूहल-वृद्धि व रोचकता के लिए प्रसाद ने पत्र (तितली), रक्षाकवच (ककाल), मणि-कुडल (जनमेजय का नागयज्ञ), रत्नगृह (स्कदगुप्त, इरावती), धूमकेतु (स्कदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी), विषकन्या (चद्रगुप्त), ताम्रपत्र (इरावती), स्वस्तिकदल (इरावती) आदि सामग्री का भी यथोचित प्रयोग किया है।

सुखात-दु खात[119] प्रसाद ने भारतीय आनद-भावना के अनुरूप अपनी अधिकाश रचनाओ को 'सुखात' ही रखा है। 'तितली' मे चिर-विछोह के पश्चात् तितली-मधुबन का मिलन हो जाता है। कहानियो मे अनेक कहानिया (तानसेन, चित्तौड-उद्धार, समुद्र-संतरण, व्रतभग, विजया, नीरा, पुरस्कार, सालवती) सुखात है। प्राय सभी नाटक नाट्यविधानुसार सुखात ही रखे गये है। एक-दो कृतिया अवश्य कुछ विचारणीय है। 'प्रायश्चित' ('चित्राधार' में सकलित नाटक) के अत में जयचद की आत्महत्या के कारण इस कृति को दु खात सभवत कहा जाये, पर यह उचित नही। पाप ने स्वेच्छा से प्रकाश का मार्ग खोला है, अत यह दु खातता की स्थिति नही। 'स्कदगुप्त' का अत विशेष विवादास्पद है। प्रसादात कहकर विद्वानो ने इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है। हमारी दृष्टि में तो यह कृति सुखात है। कृति के अत में दो आत्माओ (स्कद-देवसेना) का सूक्ष्म मिलन हो जाता है, वे परस्पर जन्मातरीण विश्वासों के आलोक-मधु मे डूब जाते है। जो बाहर का है वह तो परिस्थिति-जन्य है। वह उनके आत्म-लय में साधक ही है, बाधक नही। स्थूल शारीरिक मिलन से निश्चय ही वे वचित रहे, पर आत्मवादी प्रसाद ने जन्म और मृत्यु को बोरकर लहराने वाले आनद-सिधु में उन्हें निमज्जित कर दिया। सहृदय प्रेक्षक 'स्कदगुप्त' की समाप्ति पर इस प्रकार का समाधान कदाचित् करे। प्राय सभी अन्य नाट्य-कृतियो के अत में मानसिक तृप्ति या तज्जन्य आनद-उल्लास का प्रकाश विशेष स्पष्टता से छिटकता दिखायी देता है। काव्यो मे करुणालय, प्रेम-पथिक मे नायक-नायिका विराट् आनद की भूमिका पर मिलते हैं। 'कामायनी' तो स्पष्ट ही सुखात रचना है। ऊपर से दु खात लगने वाली कृति 'आसू' की स्थिति का समाधान भी 'स्कदगुप्त' वाली उपर्युक्त तर्क-प्रणाली पर और सूफी-चिंतन-पद्धति पर कुछ सतोषजनक रूप में हो सकता है।

अनेक कृतिया स्पष्ट ही दु खात हैं। उन कृतियो को दु खात रखने में कवि का विशेष लक्ष्य रहा है। 'ककाल' मे प्रसाद ने निरपराधी विजय को गीली रुई की तरह जलाकर जो उसका असहाय करुण अत दिखाया है वह सारे गलित हिंदू समाज को झझोडने के लिए। विजय का अत आत्म-निरीक्षण के लिए चुनौती देता है। 'प्रलय की छाया' की नायिका के

गहन आत्म-विश्लेषण व तीव्र अनुताप की मात्रा को देखते हुए यह कृति दु'खात ही है। इस विश्लेषण व अनुपात के अभाव में वह स्पर्धा और रूपगर्व का दड भोगने से बच जाती। यह प्रश्न मनोविज्ञान व काव्यन्याय की अपेक्षा रखता है। प्रसाद की अनेक कहानिया भी दु'खात हो गयी हैं। चदा, जहाआरा, मदन-मृणालिनी, आकाशदीप, ममता, देवदासी, चूडीवाली, बिसाती, आधी, घीसू, बेडी, ग्रामगीत, अमिट स्मृति, नूरी, गुडा, देवरथ आदि कहानियों के अत करुण व मार्मिक है। आधुनिक यथार्थवाद की प्रेरणा, नियति की विडबना और जगत् तथा जीवन के अबूझ व अतर्क्य नियम ही रचनाओं के अत में इस स्वरूप के कारण कहे जा सकते हैं। जहा पापी दडित हुए है वहा दु'खातता की स्थिति नही मानी जानी चाहिए।

खटकने वाली बाते प्रसाद के वस्तु-विन्यास में कुछ खटकने वाली बातें भी यत्र-तत्र पायी जाती है, जिनका निर्देश आवश्यक है। सयोग (अस्वाभाविक, आकस्मिक) का उपयोग यद्यपि कथा-विकास के लिए साहित्यकार करते आये है, तथापि वह प्रसाद मे मात्रातीत रूप को पहुचा हुआ जान पडता है। 'तितली' मे सयोगवशात् चौबे तथा राजकुमारी का रात मे मिलना,[120] रेलगाडी से गार्ड के पाव का फिसल जाना,[121] तथा हरिहर क्षेत्र मे हाथी के पागल हो जाने पर वेश्या, महत व तहसीलदार आदि का कुचला जाना,[122] कलकत्ता मे मधुबन, मैना और श्यामलाल का सामने पड जाना,[123] एक विचित्र-सा सयोग जान पडता है। 'तितली' में तो यह तत्त्व अनेक पृष्ठो पर मिलेगा।[124] इसी प्रकार इरावती,[125] ककाल,[126] चित्राधार,[127] लहर[128] व अनेक कहानियों मे[129] तथा करुणालय,[130] चद्रगुप्त[131] व अनेक नाटकों में दिखायी पडता है।

वस्तुविन्यास में चमत्कार लाने के लिए प्रसाद ने अतिप्राकृतिक (Supernatural) तत्त्व का विनियोग भी अपनी कृतियो मे किया है जो तर्क और बुद्धि के इस युग में कुछ विचित्र-सा जान पडता है। पत्थर से अहल्या के उत्पन्न होने का,[132] चद्र-बिब से उज्ज्वल देवदूत का निकलकर बोलने का,[133] अकारण ही नाव स्थिर हो जाने, इद्र की छाया व उसकी आकाशवाणी होने व गर्जन-तर्जन होने तथा अपने आप बधन खुल जाने का[134] उल्लेख ऐसा ही है। अन्य स्थलों पर भी ऐसे उदाहरण पर्याप्त सख्या में देखे जा सकते है।[135]

पाठक की धारणाशक्ति या स्मरणशक्ति के प्रति अविश्वास करके और वस्तु के उलझनपूर्ण हो जाने के कारण वस्तु-प्रवाह के बीच लेखक द्वारा वस्तु के टूटे या खोये पिछले सूत्रो का स्मरण दिलाते चलना वस्तु-विन्यास की त्रुटि या शैथिल्य समझा जायेगा। कला-त्रुटि के परिचायक ऐसे स्थल पर्याप्त मात्रा मे मिलेंगे। उदाहरणार्थ, पाठक भूले न होंगे।[136] 'देखिए', 'देख लो', 'कहो भला भारतवासी। हो जानते'[137] 'कितु पाठकगण',[138] 'हमारे पूर्व परिचित पाठक।'[139] 'पाठकों को कुतूहल होगा कि,[140] 'पाठक आश्चर्य करेगे कि',[141] 'पाठक, यह दिल्ली के प्रसिद्ध ।'[142] आदि कथन इस सबध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हां, प्रसाद-पूर्व युग का यह एक स्मारक आरभिक कृतियों में यत्र-तत्र शेष है।

कही-कही ऐतिहासिक विवरण ज्यो-के-त्यों प्रस्तुत कर दिये गये है,[143] जो स्पष्ट ही कलाकार की स्वीकृत कार्य-पद्धति के मेल मे नही कहे जा सकते।

कहानियों में पाठक के लिए इस प्रकार के निर्देश भी उसकी बुद्धि, विवेक व कल्पना के प्रति अविश्वास-सा जताकर कला को त्रुटिपूर्ण बनाते हैं कि 'उन दोनों मे इस प्रकार की बाते होने लगी।'[144]

अधिकार है, निष्कर्ष-कथन के रूप में निकालकर बतलाना कलात्मक प्रभाव को अत्यत क्षीण करता है।[145]

कहानियो मे किसी बात को लेकर परिचयात्मक पाद-टिप्पणी[146] देना भी कला की त्रुटि का परिचायक है। हा, कही-कही स्वाभाविकता की दृष्टि से 'पुनश्च' (जैसा कि पत्र के अत में कर दिया जाता है—'देवदासी' कहानी में द्रष्टव्य) का विधान भी हुआ है, जो सदोष न होकर स्वाभाविक ही कहा जा सकता है।

कही-कही स्पष्ट व सीधा प्रचार का स्वर आ गया है। जीवन के उच्च मूल्यो से ही सबधित क्यों न हो, किसी भी कलाकृति में प्रचार का स्वर अखरने वाला होता है। प्रसाद की आरभिक रचनाओ मे यह मिलेगा।[147] कही-कही लेखक पात्रों और पाठक के बीच में उपस्थित होकर अपनी ओर से व्याख्या पेश करने लगता है। ऐसे स्थलों पर यदि इतिहास या जीवन के किसी पक्ष का यथावत् प्रस्तुतीकरण होता है तो शुष्कता का उत्पन्न होना अनिवार्य है।

विधा या रूप के चयन मे कौशल प्रसाद कही-कही वस्तु को उपयुक्त विधा या साहित्य-रूप न प्रदान कर सके, इस आशय के भी कुछ सकेत मिलते हैं। यथा, आचार्य वाजपेयी जी की धारणा है कि 'जनमेजय का नागयज्ञ' का वृत्त उपन्यास के योग्य था, क्योंकि दो सस्कृतियों का व्यापक सघर्ष दिखाने के लिए उपन्यास अपेक्षाकृत उत्तम माध्यम है।[148] वे चद्रगुप्त के वृत्त को भी काल-विस्तार व वस्तु के औदात्य की दृष्टि से महाकाव्योचित मानते है।[149] श्री 'शिलीमुख' भी अजातशत्रु के वृत्त को उपन्यास के योग्य समझते हैं।[150] इस प्रकार, सर्वत्र काव्य-रूपो का चयन वृत्त की प्रकृति के अनुरूप नही हो पाया है।

समीक्षात्मक निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद ने विविध साहित्य-रूपो के क्षेत्र मे अनुभूति को प्राथमिकता देते हुए वस्तु के अनुरूप रूपात्मक सौष्ठव के चरम आदर्श की प्राप्ति के लिए युग-रुचि की पहचान, सतत प्रयोग, समन्वय-दृष्टि, जोड-तोड या काट-छाट की कलाकारोचित पोषण-सवर्धन भावना के साथ प्रयत्नवान् रहकर युगातकारी योगदान किया है। नाटक, महाकाव्य और छोटी कहानी के क्षेत्र में वह विशिष्ट है। भाषा, छद-प्रयोग और अभिव्यजना, जो रूप-निर्माण के अनिवार्य अग या तत्त्व है (इनका विशद विवेचन आगामी प्रकरणों में होगा), की दृष्टि से प्रसाद की देन कितनी महत् है, इसका परिचय इसी एक तथ्य से मिल जायेगा कि प्रसाद छायावाद नामक काव्यशैली के मूल प्रवर्तकों व पुरस्कर्ताओं में से हैं।

अत मे एक बात और। इस क्षेत्र मे प्रसाद की देन का निर्भ्रांत आकलन करने के लिए इस बात को दृष्टि में रखना अनिवार्य है कि हम अद्यतन विकसित रूप-विषयक रुचियों के सदर्भ मे नही, किंतु उनके युग तक के काव्य-अभ्यासो, रुचियो और परिस्थितियो के सदर्भ में तथा वस्तु और रूप के पारस्परिक सबध-विषयक उनकी मूल धारणा के सदर्भ में ही उनके अवदान को परखें। विकास के इस प्राकृतिक क्रम का विस्मरण मूल्याकन में प्रमाद उपस्थित कर सकता है। रूप को गौण स्थान देने की उनकी दृष्टि को यथास्थान स्वीकार कर लेने पर हम उनकी असगतियों, विच्युतियों या चिंत्य स्खलनों को अनुचित रूप से देखा-अनदेखा भी

न करे। रूप की प्रतिमा को प्रसाद ने जैसा गढा है, वह कौशल का अतिम रूप भी नही, क्योकि प्रसाद का यह उत्कर्ष अतत रूप-निर्माण की कला के चरमोत्कर्ष की यात्रा का एक पडाव-मात्र ही तो है। साहित्य-रूप के क्षेत्र मे प्रसाद की उपलब्धि को आकने के लिए हमे हिदी-साहित्य के विविध रूपों की स्थिति को उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम मे रखकर देखना होगा। प्रसाद ने अपने साहित्य-निर्माण के प्रस्थान-बिदु से लेकर विकास की चरम परिणति तक जो रूप-निर्माण-विषयक प्रगति दिखायी है उसे उस युग मे रखकर देखे बिना पूर्ण न्याय न होगा। प्रसाद के युग से लेकर आज तक जो नवीन अभिरुचियो से प्रसूत रूपात्मक प्रयोग हुए है। (यह दूसरा प्रश्न है कि कितने प्रयोग हुए हैं और वे कितने महत्त्वपूर्ण हैं) उन पर दृष्टि रखकर प्रसाद की रूप-विषयक उपलब्धि को नापना या आकना गलत होगा। यह भी ध्यान रखना होगा कि द्विवेदी-युग इतिवृत्तात्मक शैली से चलकर परिष्कृत रूपों की ओर बढने मे और नवीन परिमार्जित रुचियों के निर्माण व स्थापन मे कितना प्रयोग-श्रम निहित था, नवरुचियो की ओर सक्रमण मे अनेक तत्त्वो से सघर्ष करने में कितने प्रत्यूहो का उल्लघन कितना कलापेक्षी था, और विरोधों के वातावरण मे सक्रमण की प्रक्रिया कितनी मदगामिनी थी। आचार्य वाजपेयी जी ने प्रसाद की शैली की जटिलता-दुरूहता और उनके वस्तु-विन्यास के शैथिल्य व बोझीलेपन के व्यापक-स्थूल आरोप को ज्यो-का-त्यो स्वीकार न करके तद्विषयक वास्तविकता को न्यायोचित ढग से (अवश्य ही न तो वे गलतफहमियों को बर्दाश्त कर सकते हैं और न प्रसाद जी के गुणों को बढा-चढाकर देखना या उन पर लीपा-पोती करना ही वे पसद करते हैं) उद्घाटित किया है।[151] अवश्य ही रूप-निर्माण पर पूरा-पूरा ध्यान न दे पाने से जो हानि हुई है, प्रसाद द्वारा उसकी सुखद रूप में पूर्ति साहित्यिक सक्राति-काल मे नवीन भावो व विचारों की सृष्टि के रूप मे हुई है। आचार्य जी स्वय मानते है कि 'उनमे (प्रमाद जी मे) बहुत बडी इजीनियरिंग करामात हमे नही मिलती।' उनकी दृष्टि मे साहित्य-रूपों के क्षेत्र मे "प्रसाद का मुख्य प्रदेय अतरग तथ्यों पर साहित्य-रूपो का निर्माण करने मे है।"

संदर्भ

1 भामह काव्यालकार, 1/2, रुद्रट काव्यालकार, 1/4-11, वामन काव्यालकारसूत्र, 1/1/5, कुतक वक्रोक्तिजीवित, 1/3-5, मम्मट काव्यप्रकाश, 1/2, विश्वनाथ . साहित्यदर्पण, 1/2
2 चिंतामणि, भाग 1, पृ 7
3 वही, 'कविता क्या है' नामक लेख।
4 Dr A Coomaraswamy Transformation of Nature in Art, p 164-169
5 ऐतरेय उपनिषद् 1/3
6 अनेनान्त्यमायाति कवीना प्रतिभागुण ।—ध्वन्यालोक, 4/1
7 Dictionary of World Literature p 167-168, "To separate the matter and the form of the work will require a mental abstraction in the actual thing the two will be a unity, since it is only by their union that the thing exists"
8 T S Eliot The use of Poetry and the use of Criticism, p 35
9. L. Tolstoy What is Art, p 93-94 द्रष्टव्य।
10 श्री हरिवशसिंह शास्त्री सौंदर्य-विज्ञान, पृ 25 द्रष्टव्य।

10 श्री हरिवशसिंह शास्त्री सौंदर्य-विज्ञान, पृ 25 द्रष्टव्य ।
11 Dr Bhagwan Das The Scıence of Emotıons p 354-355
12 आचार्य रामचद्र शुक्ल चिंतामणि, पृ 364 प्रसाद 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' में 'काव्य और कला' नामक निबध, पृ 19-20, 23-24
13 बाबू गुलाबराय सिद्धात और अध्ययन, पृ 86
14 अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 18
15 B Croce Aesthetıc
16 भामह काव्यालकार, 1/19, रुद्रट काव्यालकार, 1/18-19, मम्मट काव्यप्रकाश, 1/3, दण्डी काव्यादर्श, 1/103 राजशेखर काव्यमीमासा, पचम अध्याय ।
17 धनजय दशरूपक, पृ 313-315
18 न स शब्दो न तद्वाच्य न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्यागमहो भारो महान्कवे ॥—भामह काव्यालकार, 5/4
19 विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्य न वाचक लोके ।
न भवति यत्काव्याग सर्वज्ञत्व ततोऽन्येषा ॥—रुद्रट काव्यालकार, 1/119
20 George Saıntsbury; Locı, Crıtıcı, p 266, 270 द्रष्टव्य ।
21 Mathew Arnold's essay—The Functıon of Crıtıcısm द्रष्टव्य ।
22 Form and content are closely bound up and only great thıngs can gıve great poetry"—An Idealıst Vıew of Lıfe p 190
23 सिद्धात और अध्ययन, पृ 239
24 A Rıchaıds Pıincıples of Lıterary Crıtıcısm, p 165,—B Croce Aesthetıc, p 15
25 'Thought ıs prıor to form' —W Basıl Worsfold Prıncıples of Crıtıcısm, p 27 पर उद्धृत ।
26 "The Aesthetıc fact, therefore, ıs form, and nothıng but form'—B Croce Aesthetıc, p 16
27 Davıd Daıches Crıtıcal Approaches to Lıetrature, p 66-68
28 Poet's world should be presented delıghtfully and that the delıght comes from the passıonate vıtalıty of the expressıon'—Ibıd, p 67
29 Ibıd, p 98
30 Ibıd p 109
31 Ibıd, p 78
32 Ibıd, p 97-98
33 "For Wordsworth the vıtalıty of the poet's perceptıon seemed to guarantee both ıts own justness and lovelıness' —Davıd Daıches Crıtıcal Approaches to Lıterature, p 98
34 "You can not derıve true and permanent pleasure out of any feature of a work whıch does not arıse naturally from the total nature of that work"—Ibıd, p 102
35 Ibıd, p 110
36 W Basıl Worsfold Prıncıples of Crıtıcısm, p 13
37 " greater the ınspıratıon, the greater the art requıred to gıve at lıterary expressıon"—Abbercrombıe Prıncıples of Lıterary Crıtıcısm, p 47
38 "The form cannot be sımply a form, ıt must be the form of some thıng" —Worsfold Prıncıples of Crıtıcısm, p 125, "Form ıtself cannot be sıgnıfıcant Form can only exıst as the form of substance and the sıgnıfıcance gıven by form ıs sıgnıfıcance whıch form gıves to substance"—L Abbercrombıe, Ibıd, p 57
39 "So that the serıes of ımpressıon goes on, the dıctıon desıgns ıtself as form, and when the dıctıon ıs complete, the form ıs achıeved (p 59)" "Form ıs not ımposed on dıctıon by some sort of external applıcatıon, form arıses out of dıctıon, when

the diction truly corresponds with its inspiration (p 50)" —Abbercrombie Principles of Literary Criticism

40 Ibid p 52

41 Ibid

42 Ibid, p 45

43 Ibid, p 55-56

44 Ibid, p 56

45 'When a work of art has its own inherent laws originating with its very invention and fusing in one vital unity both structure and content, then the resulting form may be described as organic —Herbert Read Collected Essays in Criticism, p 19

46 " brings the whole soul of man into activity" (Coleridge) —quoted from David Daiches Principles of Literary Criticism p 110

47 "In other words, we have adopted the stand point of poetry itself, and so long as we find in it the finer spirit of all knowledge, we are content to believe that Nature herself will provide an appropriate vehicle for its utterances" —W B Worsfold Principles of Criticism, p 47

48 A R. Entwistle The study of Poetry, p 218

49 "Form in poetry is of itself of no more value than ceremony in religion whence the spirit has departed ' —Ibid, p 267

50 स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ —ऐतरेय उपनिषद्, 1/1, छान्दो, उप 6/3/2

51 रूपाण्येव यस्यायतन वृहदारण्गक, 3/9/12, तथा 3/9/15

52 प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 10

53 द्वै वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चैवामूर्त च मर्त्य चामृत च स्थित च यच्च सच्च त्यच्च ।। —वृहदारण्यक उपनिषद्, 2/3/1

54 'यथानघ स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ,' —मुण्डकोपनिषद्, 3/2

55 "rupa, shape, natural shape semblance, color, loveliness, image likeness, symbol, ideal form" —Transformation of Nature in Art (Sanskrit Glossary), p 225

56 "But when they are indissolubly one, then they find their harmonies in our personality, which is an organic complex of matter and manner" —Tagore Personality, p 20

57 Fundamentals of Indian Art (1960), p 137-138

58 काव्य में रहस्यवाद, पृ 73

59 अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 18

60 " the worshipper is directed to remain occupied for a long time in a particular type of mental attitude as a result of which he could, in his dream, experience the form of the intended deity" —S N Das Gupta Fundamentals of Indian Art (1951), p 100

शिथिल समाधि से रचना का पूर्ण व सतोषजनक रूप खड़ा नही होता।

कालिदास मालविकाग्निमित्र, 2/2 दुष्यत भी शकुतला का मनोवाछित रूप वाला चित्र न बन जाने तक सतुष्ट नही (अभिज्ञानशकुन्तल)।

वि दे.—Transfomation of Nature in Art, p 5, Fundamentals of Indian Art, p 4

61 " he must be able to plunge into a meditation and contemplation so that in the depths of his mind he may feel the concrete touch of the objects of his representation such that his whole personality, his joy and his will may be interfused with his creation in a concrete manner so that he may gradually give external form to this concrete reality held within his mind ." —S N Das Gupta Fundamentals of Indian Art (1951), p 102

62 Anand Coomaraswamy Transformation of Nature in Art, p 164-169, Fundamentals of Indian Art (1951) p 97
63 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 25
64 वही, पृ 26
65 वही, पृ 27
66 वही, पृ 143
67 वही, पृ 17
68 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 143
69 डॉ नगेन्द्र ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ 70
70 प बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खड, पृ 449 द्रष्टव्य।
71 "We must, that is to say, reject both—the theses that makes the aesthetic fact to consist of the content alone (that is the simple impressions) and the thesis which makes it to consist of a junction between form and content, that is of impressions plus expressions"—B Croce Aesthetic, p 15
72 आधुनिक साहित्य, पृ 79।
73 जयशकर प्रसाद।
74 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 26।
75 वही, 'प्राक्कथन', पृ 24।
76 हिंदी ध्वन्यालोक, डॉ नगेन्द्र की भूमिका, पृ 70।
77 "It is through the diversity of the mental flow that there is a diversity of the creative attitude of the mind which alone is responsible for the variety of forms of the objective art"—S N Das Gupta Fundamentals of Indian Art, p 93
78 काव्यालकार, 2/19-21
79 काव्यादर्श, 1/14-22
80 साहित्यदर्पण, 1/315-324
81 वही, 6/318
82 भामहकृत काव्यालकार, 2/19
83 नातिव्याख्येयम् भामहकृत काव्यालकार, 2/20
84 जयशकर प्रसाद, पृ 105-112
85 वही, पृ 108
86 वही, पृ 2
87 जयशकर प्रसाद, पृ 57
88 साहित्यावलोकन, पृ 69
89 सज्जन।
90 वही।
91 वही।
92 प्रायश्चित।
93 सज्जन, राज्यश्री, पृ 36, 37
94 सज्जन, विशाख, (महापिंगल विदूषक-सा ही आचरण करता है); अजातशत्रु (वसतक); स्कदगुप्त (मुद्गल)।
95 सज्जन, स्कद., पृ 113, 136, कामना, पृ 2, विशाख, पृ 15, 16, 24, अजात., पृ 25, 78
96 सज्जन, राज्यश्री, पृ 56, कामना, पृ 102, 108, करुणालय, पृ 10, 26, 32
97 सज्जन, जनमे., पृ 120, करुणालय, पृ 30, 32, राज्यश्री, पृ 70
98 प्रायश्चित, करुणालय, पृ 15 (आकाशवाणी)।
99 सज्जन, स्कद., पृ 42
100 प्रायश्चित, स्कद., पृ 114, 144, 151, राज्यश्री, पृ 42, विशाख, पृ 73, 75, ध्रुव, पृ 60
101 ध्रुव, पृ 1, 14, 16, 17, 38, 40, 60, 62, 64, 74, 79

102 चद्र, पृ 128-129, 157, 165, स्कद, पृ 13, 40, 72, 94, राज्यश्री, पृ 16, 52, जनमे, पृ 66, 85, 118, ध्रुव, पृ 73, अजात, पृ 33, 77, 78, 87
103 चद्र, पृ 123, 128-129, 155, 175, 185-186, 194, 207, स्कद, पृ 19, 23, 55, 85, 91, 98, 113, 138, 143, विशाख अजात तथा ध्रुव में भी।
104 चद्र, पृ 142, विस्तृत विवेचन आगे है।
105 स्कद, पृ 62, चद्र, पृ 145, 1 84, 192, 222
106 विश्वनाथ साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद।
107 डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन, पृ 132-133
108 वही, पृ 133
109 देखिए—भरत नाट्यशास्त्र, अध्याय 2, तथा प्रसाद की कृति—'काव्य और कला तथा अन्य निबध' में 'रगमच' नामक लेख।
110 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 117
111 विशेष द्रष्टव्य कुछ समीक्षात्मक ग्रथ
(क) डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ 21, 38, 51, 149, 150, 213, 230
(ख) आचार्य नददुलारे वाजपेयी जयशकर प्रसाद, पृ 158, 159, 160, 163, 164, 166
(ग) डॉ नगेन्द्र 'प्रसाद के नाटक' नामक लेख का 'दोष-विचार'-विषयक अश, तथा विचार और विश्लेषण, पृ 147
(घ) परमेश्वरीलाल गुप्त प्रसाद के नाटक, पृ 26, 27, 30, 53, 57, 92, 122, 161, 177, 222
(च) डॉ बच्चनसिंह हिंदी नाटक, पृ 59, 60, 62, 63, 64, 66
(छ) शिलीमुख प्रसाद की नाट्यकला, पृ 90, 91, 161, 163, 170, 174
112 विचार और विश्लेषण, पृ 147
113 ककाल पृ 266
114 आचार्य विनयमोहन शर्मा साहित्यावलोकन, पृ 155
115 लेखक की पृच्छा के उत्तर में आचार्य वाजपेयी जी से प्राप्त पत्र से उद्धृत।
116 उदाहरणार्थ, 'प्रलय', 'गुलाम', 'बिसाती', 'नूरी', 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खडहर में', 'कला', 'देवदासी', 'समुद्र-सतरण', 'अपराधी', 'चित्रवाले पत्थर', 'दासी' कहानियो में, 'स्कदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'एक घूट' आदि नाटकों में और 'ककाल', 'तितली' व 'इरावती' उपन्यासों में प्राप्त स्थल।
117 डॉ किशोरीलाल गुप्त ने 'प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन' के षष्ठ अध्याय मे प्रसाद की समस्त रचनाओं मे से छाटकर 8 गद्यगीत (जिनमें से 7 प्रसाद की कहानियों से लिये गये हैं) प्रस्तुत किये हैं। इन गद्यगीतो के शीर्षक ये हैं—(1) पत्थर की पुकार, (2) बुलबुल का गीत, (3) जीवन के प्रति, (4) बनजारे का गीत, (5) मेरा अस्तित्व, (6) पथिक का गीत, (7) विरह का गीत, (8) हसी ('प्रेमा' हास्यरसाक, अप्रैल, 1931)।
118 सन् 1909 में प्रकाशित 'उर्वशी चपू' नामक रचना सन् 1906 में लिखी गयी। सन् 1918 के लगभग लिखित 'उर्वशी' नामक एक अन्य रचना उक्त 'उर्वशी चपू' से अनेक रूपों में सर्वथा भिन्न है।
119 वस्तुत नाटक या काव्य के अत (सुखात्मक अथवा दु खात्मक) का विचार मुख्यत कवि के जीवन-दर्शन से अधिक सबधित न होकर वस्तुपक्ष से ही अधिक सबद्ध है, पर कृति की समाप्ति पर 'भरतवाक्य' जैसा विधान भारतीय नाट्य तत्र के अतर्गत ही होने से हमने प्रसग को सुविधावश रूप के विचार में ही रख लिया है।
120 तितली, पृ 164
121 वही, पृ 219-220

122 वही, पृ 269
123 वही, पृ 235-236
124 तितली, पृ 62 67, 71 72 74 85, 128, 169, 170, 21, 266
125 इरावती, पृ 85
126 ककाल, पृ 17 35 45 48 58, 88, 109 126, 140 143 174 178 191, 220, 232 233 237, 240 275, 276 298
127 चित्राधार, पृ 2, 106 114
128 लहर, पृ 72
129 गूदड़ साई, पाप की पराजय, उस पार का योगी, खडहर की लिपि, चक्रवर्ती का स्तभ, दुखिया, चदा, रसिया बालम, सिकदर की शपथ, चित्तौड़ का उद्धार, अशोक, जहाआरा, मदन-मृणालिनी, ज्योतिष्मती, नूरी, सुनहला साप, चूड़ीवाली, भीख मे, चित्रवाले पत्थर, सालवती, आधी, मधुआ, व्रतभग, दासी आदि।
130 करुणालय, पृ 17 28
131 चद्रगुप्त, पृ 142
132 ककाल, पृ 235
133 प्रेम-पथिक, पृ 16
134 करुणालय, पृ 10 15 26, 32
135 चित्राधार, पृ 99 108 114 119 कानन-कुसुम, पृ 30 राज्य 56, चद्रगुप्त, पृ 196, स्कदगुप्त, पृ 101 कामना, पृ 102 108 चक्रवर्ती का स्तभ, प्रतिमा, रसिया बालम, चित्तौड का उद्धार, इद्रजाल, छोटा जादूगर, चित्रवाले पत्थर आदि कहानिया, 'कामायनी' में आकाशवाणी (काम सर्ग व इड़ा सर्ग)।
136 ककाल, पृ 266
137 कानन-कुसुम, 27, 41 106
138 सिकदर की शपथ (छाया, पृ 51)
139 छाया, पृ 25, 83
140 ककाल, पृ 265
141 वही, पृ 266
142 छाया।
143 सिकदर की शपथ (छाया, पृ 56)
144 'मदन-मृणालिनी' कहानी।
145 छाया, पृ 123, आधी, पृ 74
146 छाया, पृ 39
147 'रसिया बालम' कहानी।
148 महाकवि प्रसाद, पृ 158 डॉ बच्चनसिंह हिंदी नाटक, पृ 59
149 वही, पृ 164
150 प्रसाद की नाट्यकला, पृ 174
151 जयशकर प्रसाद, पृ 14-15 (भूमिका)

द्वितीय प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में भाव व रस

प्रकरण-प्रवेश

उपनिषद् में कहा गया है—"रसो वै स, को ह्येवान्यत्क प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्तीति।"[1] अर्थात्, यदि आकाश के समान व्यापक आनदमय परमात्मा न होते तो कौन जीवित रह सकता था और स्पदन-व्यापार कर सकता था ? सचमुच वे आनदमय परमात्मा ही है जिनसे सब प्राणी उत्पन्न होते है, उनमें ही अपनी स्थिति धारण करते है और अत में उनमें ही लीन हो जाते है। क्रातदर्शी ऋषियों ने अपने प्रातिभ ज्ञान से इस प्रकार रस को ही जीवन का प्रथम व अतिम तत्त्व माना और इस भाव की सशक्त अभिव्यक्ति की। कवि भी क्रातदर्शी ऋषि है। वह रस ही की सृष्टि करता है। यही उसका एकमात्र व सर्वोपरि दायित्व है। सृष्टि या मानव के आनदमय कोश का उद्घाटन ही कवि का सर्वोपरि कार्य है। तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली में आनद ही हमारी तपस्या का अतिम फल कहा गया है, विज्ञान नही। बुद्धि के द्वारा प्राप्त विज्ञान बीव की मजिल-मात्र है। वह हमारी पूर्णता व चरम विकास का प्रतीक नही। रससत्ता का उद्घाटन व साक्षात्कार ही कवि का चरम लक्ष्य है। इसी से कवि के स्वतत्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा होती है। जीवन व जगत् के सब पदार्थ, सब स्थितिया, सब व्यापार अतत रसानुभव के ही लिए नियोजित है। ध्वन्यालोककार ने रस ध्वनि को और अभिनवगुप्त ने रस को काव्य में सर्वोपरि कहकर काव्य में उसी अमर रसतत्त्व की प्रतिष्ठा की है।

युग-रुचि के अनुमार काव्य के विविध उपकरणों में से कोई एक उपकरण कभी भले ही प्रमुख होकर बैठ जाए, किंतु सामान्य रूप से रस की सृष्टि ही प्राय सब कालो में कवि का अत्यत प्रिय कर्त्तव्य रहा है। भारतीय समीक्षाशास्त्र सब सप्रदायों में रस ही प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से काव्य का प्राणभूत तत्त्व माना गया है। इस रस के बिना काव्य-सृष्टि नि सत्त्व, तुच्छ और स्वादहीन है। ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का विचार इस प्रबध मे एक स्वतत्र प्रकरण का अधिकारी है।

इस रस का स्थायी उपादान 'भाव' है। साहित्य का समस्त क्रियाकलाप भाव पर ही निर्भर है। साहित्य-सृष्टि मे मानो भाव की ही मुद्रा (Currency) स्वीकार्य है। विचार, जिनसे साहित्यकार प्रेरित होता है, भी भाव के ही माध्यम से साहित्य-क्षेत्र में अपने लिए कुछ स्थान बना सकते हैं। साहित्यकार की कार्यदक्षता का अनुमान भावो के निरूपण के द्वारा ही लगाया

जाता है। श्रोता-पाठक के लिए भी सहृदय होना अनिवार्य है। इस प्रकार साहित्य-क्षेत्र मे भाव का महत्त्व सर्वत अपरिसीम है। जहा कोरी कल्पना होगी वहा सब-कुछ अतृप्तिकर, फेनिल व वायवी होगा तथा कोरे विचार रूक्ष व इतिवृत्तात्मक हो जायेगे। भावों के पोषक होकर व यथास्थान अवस्थित होकर ही ये काव्य मे शोभा प्राप्त कर सकते है। कवि कोरा विचारक नही, उपदेशक नही, ज्ञानी या भक्त नही, वह रस का स्रष्टा है। उसका भाव-योग किसी प्रकार कम नही, वह भावयोग व ज्ञानयोग क समकक्ष है।[2]

प्रसाद-साहित्य मानव-हृदय के भावों और भावनाओं का अथाह और विशाल कोश है। इन भावों का अपार वैविध्य-वैचित्र्य, उनके आतरिक क्रियाकलाप, बाह्य जगत् के रूप-व्यापारो (मानवीय, प्राकृतिक आदि) तथा उनके बीच के पारस्परिक घात-प्रतिघात या क्रिया-प्रतिक्रियाओं का चित्रण-निरूपण, प्रसाद-साहित्य के स्थायी आकर्षण का आधार है। इस समस्त भाव-प्रपच को हम प्रसाद की अनुभूति के अतर्गत ले सकते हैं। रस के अतर्गत समस्त भाव-विभूति और अनुभूति-वैभव आ जाता है।[3] "प्रसाद हिंदी-साहित्य के सबसे अधिक अनुभूतिशील कवि थे।"—डॉ रामकुमार वर्मा। प्रसाद अनुभूति के कवि कहे गये है। अत ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व की व्याख्या अत्यत आवश्यक है।

प्रसाद की रस-दृष्टि

प्रसाद की रस-दृष्टि अत्यत उदात्त है। उसका मर्म समझने के लिए कुछ पीछे जाना होगा। भरत ने अवश्य रस का निरूपण किया, पर वह जन-विनोद तक ही सीमित रहा। भामह ही पहले आचार्य है जिन्होने काव्य को विनोद के धरातल से ऊपर उठाकर स्थिर और गभीर सुखात्मक वृत्ति रूप आनद का धरातल प्रदान करने का उपक्रम किया।[4] 'उपक्रम' इसलिए कि काव्य की गभीर दार्शनिक व्याख्या आगे चलकर आनंदवर्धन व अभिनवगुप्त के द्वारा ही सभव हुई। आनदवर्धन ने रसमत व अलकारमत का समन्वय किया, ध्वनि-सिद्धात की प्रतिष्ठा के लिए आगमानुयायी आनद-सिद्धात को तार्किक मत से जोडा।[5] पर काव्य मे ध्वनि नही, किंतु रस ही सर्वोपरि है—यह स्थापना तो अभिनव ने ही की।[6] इस स्थापना मे अभिनव के द्वारा रस तत्त्व का तलस्पर्शी अत साक्षात्कार सूचित होता है। अभिनव ने शैवागम की रहस्य-साधना की भूमि पर, जो अत्यत प्राचीनकाल से प्रतिष्ठित थी, विचार करके और भट्ट नायक के 'भोजकत्व' पर और आगे गहरा अनुशीलन करके दार्शनिक रस की प्रतिष्ठा की। रस की यह प्रतिष्ठा अभिनव ने 'सस्कार' व वासना को स्वीकार करते हुए पुष्ट मनोविज्ञान-सम्मत प्रणाली पर की। एक आत्मा की खोज इस अखड रसतत्त्व के आधार पर हुई। वासनात्मक रूप से स्थित रति आदि वृत्तियो मे ब्रह्मास्वाद की कल्पना साहित्य मे महान् परिवर्तन लेकर उपस्थित हुई।[7] इस रस-निरूपण प्रणाली में समग्र विश्व के साथ तादात्म्य की भावना प्रमुख थी। वृत्ति कैसी भी हो, रसानुभव की अवस्था मे सब वृत्तिया आत्मा में विश्रात हो जाती है। अत वृत्ति की बाह्य सुखात्मकता या दु खात्मकता रसानुभूति मे बाधक नही। चित्तवृत्तियो की सख्या का भी कोई अर्थ नही रहा। शैवागम के दार्शनिक आनदवाद की व्याख्या मे 'प्रमातृ पद विश्रान्ति'—यह परपरागत पदावली प्रचलित थी जो साहित्यिक रस की व्याख्या मे 'प्रकाशानन्दमय सम्विद् विश्रान्ति' के रूप मे प्रकट हुई। तात्पर्य यह कि साहित्यिक

रस अब केवल विनोदमात्र का पर्याय नही रहा, वह अभिनवगुप्त की व्याख्या के द्वारा ब्रह्मास्वाद का पर्याय हो गया। 'यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।'[8] रस की यह व्याख्या कोरे बुद्धिवाद व विवेकवाद से सभव न होकर, धर्म, रहस्य, साधना, अध्यात्म व दर्शन की सहायता से सभव हुई। अखड रस अद्वैत के धरातल पर ही निष्पन्न हो सका। यही रस सबधी तत्त्व-चिता का मर्म सिद्ध हुआ। इस रस के मर्म का निरूपण करने में अभिनव की जो पदावली प्रयुक्त हुई, वह मम्मट, विश्वनाथ व जगन्नाथ आदि आचार्यो के द्वारा ज्यो-की-त्यो व्यवहृत हुई।[9]

प्रसाद जी रस के सबध मे अभिनवगुप्त वाली विचारसरणि के ही समर्थक व पोषक है। अपने ढग से उन्होने कुछ आगे भी विचार किया है। वे आचार्य शुक्ल की तरह रस की विभिन्न कोटिया मानने के पक्षपाती नही। अपने इस वैमत्य का कारण-निर्देश भी उन्होने किया है।[10] वे 'उज्ज्वल नीलमणि' वाली रसदृष्टि के भी समर्थक नही है। क्योंकि भक्तो ने या भक्ति के आचार्यो ने रस को केवल मधुर या शृगार तक ही सीमित कर लिया। भक्ति के आचार्यो ने प्राचीन रसो (हास्य, बीभत्स, करुण आदि) को गौण बनाकर 'माधुर्य के नेतृत्व मे द्वंत भावना से परिपुष्ट' अनेक रसो (दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि) की सृष्टि कर ली जो प्रसाद जी की दृष्टि मे वास्तविक रसदृष्टि का सकोच है। आनदवादी प्रसाद जी का आरोप है—"आनद की भावना इन आधुनिक रसों मे विशृखलित ही रही तात्त्विक और व्यावहारिक दोनो दृष्टि से आत्मा की रस-अनुभूति एकागी-सी बन गयी।"[11] कहने की आवश्यकता नही कि शैवमत में सुख और दुःख दोनो को सम मानकर द्वद्वात्मक जीवन के बीच आनद में मग्न रहने की जो साधना है, वह प्रसाद जी के लिए अत्यत आकर्षक है और उनकी दृष्टि मे इसी साधना की व्यापक भूमि पर ही सच्चे साहित्यिक आनद या रस की सृष्टि सभव है, अन्य रूप मे नही। कल्पना, रस, आनद, सौंदर्य आदि उपकरणों का प्रसाद-साहित्य मे जो प्राचुर्य है, उसका रहस्य उनकी इसी मूल दृष्टि से समझा जा सकता है।

प्रसाद द्वारा निरूपित भाव

वास्तव में प्रसाद साहित्य मे कितने प्रकार के भाव है और वे कहा-कहा निरूपित हुए है, उसका स्थूल लेखा-जोखा या निर्देश-मात्र ही बहुत महत्त्व की बात नही, भाव के सबध में सर्वाधिक महत्त्व की बात यही है कि प्रसाद की भावानुभूति-क्षमता कितनी तीव्र-गहन थी, भावों की हल्की-गाढी विविध रगतों की उनकी पहचान कितनी यथार्थ व महीन थी, उनके भाव-चित्रण का कौशल कैसा या किस कोटि का था, पात्रो की विविध परिस्थितियों मे होने वाली मानसिक प्रतिक्रियाओं की यथार्थ कल्पना करने की उनकी शक्ति कितनी सटीक व पैनी थी, और उन्होने भाव-निरूपण की कला के विकास मे कितना या कैसा योगदान किया—इन विचारों पर ही हम प्रसाद के भाव-निरूपण या रस-निरूपण की समस्या के अभ्यतर पहुचते हैं।

भाव-निरूपण का दृष्टिकोण

प्रसाद ने मानव-हृदय के सुख-दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावो का निरूपण किया है, पर यह निरूपण (कुछ विशेष अपवादो को छोडकर) अपने-आपमें कोई अतिम उद्देश्य नही। अतिम

उद्देश्य समझा जा सकता था अवश्य, यदि लेखक तटस्थ या यथार्थवादी कलाकार की तरह उनका निरूपण-मात्र करके छोड देता। पर प्रसाद की रचनाओ की समाप्ति अथवा पात्रो के जीवन-प्रवाह की परिणति पर विचार करते है तो उक्त निरूपण बीच की एक कडी, किसी बडे साध्य का साधन, ही जान पडता है। प्रसाद मूलत एक आदर्शवादी और एक नीतिवादी (पूर्ण परिष्कृत अर्थो मे) कलाकार है। वे मानव-जीवन के अत्यत उदात्त भावो के सृजन मे सर्वत्र दत्तचित्त दिखायी पडते हैं। इद्रिय तथा स्थूल मन के धरातल के विविध स्तरीय भावो की पृष्ठभूमि या विरोध (Contrast) दिखाने के लिए ही। 'प्रेम-पथिक', 'आसू' व 'कामायनी' का अत अत्यत उदात्त भावभूमि पर होता है। लैला, मल्लिका, देवसेना, यमुना, तितली, श्रद्धा, चाणक्य आदि पात्रो के चरित्र में हम भावो के अत्यत उदात्त स्वरूप का साक्षात्कार करके स्तभित-रोमाचित होते हैं। भाव-निरूपण के द्वारा मन की इसी उदात्त भूमि पर हमे ले जाना लेखक का उद्देश्य जान पडता है। सच्चा साहित्यकार निम्नस्तरीय भावनाओ व वृत्तियो का तीव्र कट्रास्ट देते हुए, विकास की स्वाभाविक प्रणाली से, मानव-मन के उस गभीर या तलवर्ती भाव-कोश के उद्‌घाटन मे ही प्रवृत्त रहता है, जिसका दर्शन करके हम आश्चर्यान्वित होते है। मानव-हृदय कितना विशाल व विशद है या होने मे सक्षम है, इसका आश्वासन लेखक हमे इसी रूप मे देता है। सामान्य व्यवहार के धरातल पर मानव का मन जैसा है उससे तो हम सब परिचित है ही (परिचित को क्या परिचित कराया जाय !), पर वह किस विकास या उत्कर्ष को प्राप्त हो सकता है, इससे हमें चमत्कृत करना ही एक रसवादी साहित्यकार का प्रिय कार्य है।

प्रसाद द्वारा निरूपित भावो की विशेषता-गहनता-जटिलता-सूक्ष्मता

यह गुणसमूह निरूपित भावो की प्रकृति के आधार पर निर्मित है। विशेष अवसरो पर और विशेष परिस्थितियो मे ही हमारे भावो में असाधारण गहनता, सूक्ष्मता व जटिलता आती है। प्रसाद की पात्र-सृष्टि मे पात्रो के जीवन में ऐसी स्थितिया उत्पन्न हुई है, जबकि उनके भाव असाधारण रूप से उज्जीवित हो उठे हों। भावों में गहनता से आशय है भावों की वह गभीरता जहा तक सामान्य लेखक की दृष्टि का प्रवेश न हो, जटिलता से तात्पर्य है कि विविध भावों का परस्पर गुथाव, सम्मेल, अनृजुता व उनकी सकुलता और सूक्ष्मता से आशय है उनकी कायिक या परिमाणगत लघुता-मृदुलता या श्लक्षणता। उदाहरणार्थ—देवसेना, घटी, चम्पा, कोमा, ध्रुवस्वामिनी व विजय के मनोभाव। देवसेना गरिमामय नारीत्व, क्षत्रियोचित स्वाभिमान व प्रणय के उन्माद की उस सगम-स्थली तक पहुच गयी है कि जहा उसकी भावनाए अत्यत जटिल व गुफित हो गयी हैं। पुरुष के आशय की आकाक्षिणी हिंदू बालविधवा चचला घटी बाहर से फुदकती रगीन फुलसुघी चिडिया-सी, पर भीतर से अपने बुद्धि-विवेक मे पाताल-सी गहरी, महान् नारीत्व को समझे बैठी जीवन-तत्त्व की मर्मान्वेषी पडिता—जब बाथम से प्रवचित होकर, विक्षिप्त होकर, अधकार की ओर भागती है तो उसके भावो का अनुमान किया जा सकता है। अन्य पात्रो में भी ऐसी ही बाते मिल सकती है।

नवीनता-मौलिकता स्वय भावों मे अपनी कोई नवीनता नही, मानव-हृदय उनका शाश्वत सिद्ध-पीठ है। अत प्रश्न केवल निरूपण की नवीनता का ही हो सकता है। और इस नवीनता को ही हम साहित्य मे मौलिकता कह दिया करते है। पर यह नवीनता या मौलिकता कालसापेक्ष रूप मे ही ग्रहीत हो सकती है। सूरदास भी तो मन के सूक्ष्म-जटिल न नये-नये

भावो का उद्घाटन करने वाले कहे जाते है। अत यह तो नही कहा जा सकता कि आधुनिक युग मे प्रसाद जी ने ही भावो की नवीनता-मौलिकता या दर्शन किया या कराया। बस, इतना ही कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में प्रसाद जी ने अपने या अपने साहित्य-निबद्ध पात्रों के मन के गहन-सूक्ष्म व जटिल भावो पर गहरी दृष्टि डालकर उनका नवीन काव्य-कौशल के साथ प्रकाशन किया। इसी में उनकी नवीनता या मौलिकता है। नवीनता-मौलिकता को लेकर भाव-निरूपण के क्षेत्र मे प्रसाद की देन या विशेषता का सही आकलन उनके पूर्ववर्ती साहित्य के स्वरूप के व्याप्क सदर्भ मे ही किया जाना उपयुक्त होगा, क्योकि भाव-निरूपण की कला तत्वत एक सतत विकासमान कला है जिसका एक सुदूरतम आदर्श (प्लेटो के शब्दों मे Idea) है और जिसकी पूर्ति में प्रसाद अपनी एक मजिल तक आ लगे है। सारे हिंदी-साहित्य की बात छोडकर हम भारतेन्दु-युग व द्विवेदी-युग के ही सदर्भ में देखे। इन युगो मे एक ओर तो सत्त्वगुणमूलक एक व्यापक विचार-क्राति चल रही थी और दूसरी ओर अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्राय शब्द की अभिधा-शक्ति से ही काम चलाया जा रहा था (विचार व अभिधा का भी एक खरा अथवा सीधा प्रभाव होता है, यह हम अस्वीकार नही करते)। विचारो की तुलना मे भावों की और अभिधा को छोडकर लक्षणा-व्यजना की ओर लेखकों का ध्यान बहुत कम था। प्रसाद ने द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता को छोडकर साहित्य के मूल उपादान भाव पर ही सबसे अधिक ध्यान दिया और इस प्रकार के काव्य को उसकी प्रकृति भूमि (भावभूमि) पर मोडकर आये। प्रसाद की नवीनता और मौलिकता की देन इसी रूप मे स्वीकार की जा सकती है।

अतर्द्वद्व या सघर्ष हमारी चेतना के साधारण-अनवरत प्रवाह में सामान्य रूप से कुछ-न-कुछ भाव तो सस्कार-रूप स्थायी भावो के रूप मे सर्वदा विद्यमान रहते ही है। उनका निरूपण या चित्रण लेखक के किसी उल्लेखनीय कौशल की अपेक्षा नही रखता। पर, विशेष परिस्थितियों के बीच हमारे मन के भावों में एक असाधारण उद्वेग या सघर्ष उपस्थित हो जाता है और उन्ही के यथार्थ निरूपण मे लेखक का मानव हृदय व उसके भावों का निकटतम परिचय या अध्ययन सूचित होता है। प्रसाद ने मनु, स्कद, विजय, 'आसू' के नायक व गुडा और सुजाता, रोहिणी, कमला ('लहर' में), देवसेना, ध्रुवस्वामिनी, घटी, लैला, यमुना, मालविका, मल्लिका आदि कुछ विशिष्ट पात्र-पात्रियो के मन के भीतर की भयकर काली-पीली आधी का अत्यत मनोयोगपूर्ण निरूपण किया है।

भाव-प्रकाशन की विविध रीतिया साहित्य मे मनोभावो का प्रकाशन कई रीतियो से होता है—(1) स्पष्ट व सीधे कथन अर्थात् अभिधा द्वारा, (2) पात्रो के कार्य-व्यापार द्वारा, (3) तूलिका-चित्रण अथवा मूर्तिविधान द्वारा, (4) वातावरण के निर्माण द्वारा, और (5) व्यजना द्वारा।

प्रसाद ने प्राय सभी रीतियो से अपने या अपने साहित्य-निबद्ध पात्रों के भावों का प्रकाशन किया है। भाव-प्रकाशन का प्रथम रूप अभिधा द्वारा भाव का कथन तो साहित्य में 'स्व शब्द वाच्यत्व दोष' मे ही परिगणित किया गया है। प्रसाद की आरभिक कृतियो में कही-कही यह दिखायी पडता है। भाव-प्रकाशन की दूसरी शैली पात्रों के कार्य-व्यापारो मे व्यवहृत हुई है। सालवती अथवा कमला ('लहर' में) का रूप का 'गर्व', तारा अथवा मगल का 'उन्माद' मनु की ग्लानि (कामायनी निर्वेद सर्ग), चाणक्य का निर्वेद (सचारी) शब्दो द्वारा

कथित न किया जाकर भावानुरूप कार्य-व्यापारो के द्वारा व्यक्त किया गया है। यह कार्य सरल नही। भाव के आतरिक स्वरूप—उसका वेग, गतिक्रम, उदय और अस्त, चित्त की अन्य वृत्तियो पर उसका प्रभाव व प्रतिक्रिया तथा शरीरावयवो के द्वारा उसका बाह्य प्रकाशन—का मार्मिक परिचय देते हुए बिना पात्रो के कार्य-व्यापारों के द्वारा उस भाव का प्रकाशन सभव ही नही। और सबसे बडी बात है कवि का स्वानुभव। कोरी कल्पना स्वानुभव का स्थान नही ले सकती। इस प्रकार भाव-प्रकाशन की इस रीति मे लेखक का जीवनानुभव, निरीक्षण व भावानुरूप गति-व्यापार की कल्पना का चयन—इन सब बातो का श्रेय लेखक को मिलता है।

भावो का तूलिका-चित्रण, मुद्रा या मूर्ति-विधान, भाव-प्रकाशन की एक ऐसी शैली है, जिसमे लेखक की नितात मौलिक व सूक्ष्म कलात्मक कल्पना की शक्ति का पूरा-पूरा परीक्षण हो जाता है। चित्रात्मकता का गुण साहित्य की अपनी विशिष्ट पद्धति के मेल में है। कुछ प्राणभूत रेखाओ मे शब्दचित्र अकित कर देना या वस्तु का इस प्रकार ध्वनन कर देना कि चित्र अतर्चक्षुग्राह्य हो उठे, काव्य-क्षेत्र की एक अत्यत उच्च कला है। कहने की आवश्यकता नही कि इस विधा मे निष्णात होने के कारण प्रसाद भावो के सूक्ष्म चितेरे के रूप मे प्रसिद्ध है। मन के अरूप भावो को जीवन में उनकी भूमिका (Role), उनका प्रभाव, उनकी गति व उनकी मूल सवेदना आदि के समग्र अस्तित्व के साथ मानवाकार (स्त्री, पुरुष, शिशु, कन्या आदि विविध रूपो मे) कल्पित करके चित्रकार या मूर्तिकार की तरह हमारी आखो के सामने जीवित-जागृत रूप मे प्रस्तुत कर देना भाव-प्रकाशन की कला की सर्वोच्च सफलता है। इतना ही नही, मन के जगत् में एक भरी-पूरी व कर्म-कोलाहल से आपूर्ण एक जनाकीर्ण मानवी सृष्टि करके उसमें उस भावरूप पात्र को नराकार कल्पित करके प्रस्तुत करना कल्पना के धनी का ही कार्य है। 'कामायनी' मे भाव-चित्रण की यह कला अपने चरम विकास-बिदु पर है। 'काम' नामक भाव का जीवन व सृष्टि से सवलित यह चित्रण लीजिए

मधुमय वसत जीवन वन के, बह अतरिक्ष की लहरो मे,
कब आए थे तुम चुपके से रजनी के पिछले प्रहरो में।
क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता मे अलसाई कलियों ने ऑखे खोली थी।
उस लीला से तुम सीख रहे कोरक कोने में लुक रहना।
तब शिथिल सुरभि से धरणी में बिछलन न हुई थी ? सच कहना
अपना कलकठ मिलाते थे झरनो के कोमल कलकल में।

(—कामायनी काम सर्ग)

वैसी ही माया में लिपटी अधरो पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का आखों में पानी भरे हुए।
नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढती ?
कोमल बाहें फैलाती-सी आलिगन का जादू पढती।
किन इद्रजाल के फूलो से लेकर सुहाग कण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिससे मधुधार ढरे ?
पुलकित कदब की माला-सी पहना देती हो अंतर में;
झुक जाती है मन की डाली अपनी फलभरता के उर में।

वरदान मदृश हो डाल रही नीली किरणो से बुना हुआ,
वह अचल कितना हलका-सा कितने सौरभ से सना हुआ,
मै रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मै शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुदरता पग मे नूपुर की लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलो मे ऑखो मे अजन-सी लगती,
कुचित अलको-सी घुँघराली मन की मरोर बनकर जगती।
चचल किशोर सुदरता-सी मैं करती रहती रखवाली,
मै वह हलकी-सी मसलन हू जो बनती कानों की लाली।

(कामायनी लज्जा सर्ग)

'कामायनी' मनोभावो के इन चित्रो से भरी पडी है। प्रसाद की भाव-चित्रण कला के स्वरूप-बोध व उत्कर्ष-सकेत के लिए ये दोनो उद्धरण पर्याप्त है। इनमें काम और लज्जा का मूर्तीकरण-मात्र ही नही हुआ है, वे एक भरी-पूरी सृष्टि के बीच गतिशील व जीवत व्यक्तित्व लिये हुए प्रस्तुत किये गये है। उनके कार्य-व्यापार, वेशभूषा, मतव्य, सवेदना आदि का भी सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित हुआ है। प्रश्न यह होगा कि इस तरह के मूर्तीकरण से क्या लाभ ? उत्तर यह है कि जिस मानव-हृदय से हम जीते हैं उसे अपने से प्रतिक्षण चिपकाये फिरते रहते भी कितने लोग उसमें चलते भावों की (दूसरे के नही, अपने ही) गतिविधि को भीतरी नेत्रों से देखते व समझते भी है ? केवल सवेदनशील कवि ही सजग होकर यह कार्य करता है। वह अपनी सजगता का परिचय देता है, यानी आत्मा के चैतन्य का वह सवाहक है। इतना ही नही कि वह भाव का अनुभव-मात्र करता है, वह उसे मासल व्यक्तित्व देकर दूसरों के लिए भी प्रस्तुत करता है कि वे जाने व समझे कि हमारे मन के भीतर कौन-कौन सी विभूतिया है और अपने जीवन मे वे क्या स्थान रखती है।

भाव-निरूपण की चौथी शैली है—वातावरण के निर्माण द्वारा। लेखक अपनी ओर से यों न कहें कि 'यह अनुराग का वातावरण है' या 'चिंता का वातावरण है।' भावों के पारखी कलाकारों का कौशल इसमें है कि वह आकाश, पवन, धूप, वनस्पति आदि का ऐसा चित्र उपस्थित कर दे कि हम उसमे उसी भाव को पढें, किसी अन्य को नही। 'बिसाती' कहानी के प्रारभिक प्राकृतिक वर्णन या उग्र तारा के उपासक प्रपच बुद्धि की अभिचार क्रिया के समय के वातावरण का अकन सबद्ध भावों को ही व्यक्त करते हैं। 'कामायनी' के आरभ का वर्णन, अथवा आशा सर्ग के आरभ का सूर्योदय-वर्णन क्रमश अनुराग, भय, चिंता का नाम न ले (यह उसकी पक्ष-हानि है एक तो, इस प्रकार का नामोल्लेख साहित्य में 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष मे परिगणित है, दूसरे यह व्यजना की कला से अनभिज्ञता का द्योतक है), पाठक स्वय उस वातावरण में वही भाव पढे, इसी में इस शैली के भाव-निरूपण की विशेषता है। 'प्रसाद' जी प्रकार भाव-व्यजक वातावरण का निर्माण करने में सिद्ध-हस्त है। व्यजना द्वारा भावों का प्रकाशन तो प्रसिद्ध ही है।

भावकोश की सपन्नता यों तो ज्ञात-अज्ञात रूप से सभी द्रष्टाओं के मन पर सृष्टि के रूप-व्यापारों में घटना-परिस्थितियो का प्रभाव अनिवार्यत पडता रहता है और तत्सबधी सस्कार मन में सचित होते चलते हैं, पर इस निष्क्रिय रूप में हम इसे भावकोश का विस्तार व समृद्धि नही मान सकते। आत्मचैतन्य से आस्फूर्त्त हो किस कवि ने, जीवन के गोताखोर की

तरह, ऐसी बहुमुखी व विविध मार्मिक अनुभूतिया सगृहीत की है, जो अपने वैविध्य-वैचित्र्यपूर्ण होने वे जीवन में बद्धमूल होने के कारण अभिव्यक्ति की छटपटाहट लिये हुए है—ऐसी ही अनुभूतियो से हमारा तात्पर्य है। जीवन-धारा के तट पर बैठे कुछेक विशेष भावो (फिर चाहे वे कितने ही गभीर हो) के सग्रह से ही या जीवन को ऊपर-ऊपर से ही हाथ फेरकर देख लेने से या फूली-फूली चुन लेने मात्र से हृदय-कोश सपन्न नही हो जाता। हृदय-कोश की सपन्नता सजग नयन, मन व कान से स्वानुभावो की व्यापकता, विशालता व गभीरता से ही साध्य है। हमारी आत्मा मूलत व्यापक, विशद व विराट् है। वह अपने को अपनी व्यापकता, विशदता और विराट्ता-रूप आत्म-विस्तार मे ही प्रकाशित करती है। साहित्य-क्षेत्र मे आत्मा का यह रूप कवि के हृदय-कोश की सपन्नता का ही द्योतक है। तात्पर्य यह है कि इस कोश की विशालता या लघुता के अनुपात में ही साहित्यकार का वास्तविक साहित्यिक व्यक्तित्व बहुत कुछ निर्भर करता है;—अवश्य ही कच्चे माल से पक्का माल बनने मे इन भावो के सम्यक् या रमणीय रूप में प्रकाशित होने की बात भी विस्मृत नही की जा सकती। आत्मा को केवल अणु समझकर जरा-सी भावना व जरा-सी कला (बहुत अधिक भी सही) के बलबूते पर ही हम किसी को सच्चे कवि का पद नही दे सकते। आखिर, अल्पप्राण व महाप्राण व्यक्तित्व व कला का अंतर तो मिटेगा नही।

अपनी पूर्णता का परिचय प्रत्येक प्राणी जान या अनजान में देना ही चाहता है और इस प्रकार वह अपने अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित करता है। कवि मुख्यत भाव-व्यवसायी है, अत वह इसके प्रति सबसे अधिक चिंतित व क्रियाशील रहता है। इस पूर्णता का प्रदर्शन वह हृदय के जितने भी भाव (स्थायी व सचारी) हैं उनका वर्णन करके करता है, और इस प्रकार हमे अपनी पूर्णता के प्रति आश्वस्त करता है। यह पूर्णता उसके व्यापक व ठोस जीवनानुभव से प्रसूत होती है, कोरी हवाई कल्पना से नही। हृदय के जितने ही अधिक भावों का काव्य मे सम्यक् प्रकाशन होता है, हम कवि के अतर्कोश को उतना ही समृद्ध-सपन्न मानते हैं।[12] साथ ही ये अगाध-अगणित भाव जितनी ही स्पष्टता, स्वच्छता, सबद्धता (गणित के अर्थ मे नही, मनोविज्ञान के अर्थ में), व प्रभावशालिता के साथ काव्य मे निरूपित होते हैं, उतना ही हम किसी कवि को एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप मे चीन्हते है। इस प्रकार भाव का अध्ययन कवि के भाव-कोश की सपन्नता का तथा उसकी भाव-प्रकाशन की शैली का अध्ययन है। यह अध्ययन कवि के प्रत्यक्ष वर्णनो व भावोद्गारो द्वारा भी प्राप्त हो सकता है और साहित्य-निबद्ध पात्रो के क्रियाकलापो के माध्यम से भी। पर अतत उस सबका मूल उत्स है तो कवि का अपना हृदय ही।

प्रसाद-साहित्य में रस व कतिपय विशिष्ट भावनाए

रस के विविध अवयव

आलबन प्रत्येक रस का कोई-न-कोई आलबन विभाव होता है, जिसका विशद और सूक्ष्म वर्णन रस-निष्पत्ति के लिए आवश्यक समझा जाता है। प्रसाद यद्यपि सूक्ष्म-निरीक्षण में भी पटु है, पर प्राय आलबन-निर्माण में बाहरी ब्योरों पर उनकी दृष्टि अधिक देर अटकी-उलझी नही

रहती। वे तुरत आश्रय की अथवा आलबन की आतरिक भावनाओं के निरूपण मे प्रवृत्त हो जाते है, क्योंकि वही वस्तुत उनकी अपनी प्रकृत भूमि है। शृगार रस और करुण रस में अवश्य उन्होने इस ओर अपेक्षाकृत अधिक रुचि दिखायी है, पर अन्य रसो मे थोडा-सा सकेत ही पर्याप्त समझा है। कविता तो मुख्यत भाव-व्यजना का ही क्षेत्र है। 'कामायनी' व 'आसू' में अवश्य श्रद्धा, इडा व मनु आदि का बाह्य स्वरूप मनोयोगपूर्वक चित्रित हुआ है। नाटको में तो कार्य-व्यापार की ही प्रधानता होती है, पात्रो के बाह्य रूप, वेश-भूषा आदि के वर्णन का अवकाश नही रहता। हा, उपन्यास में सबसे अधिक स्वतत्रता रहती है। अत प्रसाद ने अपने उपन्यासो मे कालिदी, तितली, शैला आदि पात्रियों का आलबनत्व-स्थापक विशेष वर्णन किया है। कहानियो मे सकेत-शैली का प्रयोग ही अधिक वाछित माना गया है, अत वहा बेला, लैला, यमुना व सालवती जैसी पात्रियो का वर्णन कुछ अत्यत पुष्प व भास्वर कितु सक्षिप्त रेखाओ में कर दिया गया है। तात्पर्य यह कि विविध रसों के आलबन खडे करने में बाह्य वर्णन का जैसा उत्साह प्राचीनो में देखा जाता है, वैसा प्रसाद में नही। उनकी रुचि भाव-चित्रण मे ही अधिक है।

उद्दीपन यही बात उद्दीपन के सबध मे भी। उद्दीपन भी बाहर के ही व्यक्तित्व पदार्थ होते है। शृगार रस के उद्दीपन नायक-नायिका के मित्र-सखी तथा प्रकृति आदि होते है। इनमे से प्रकृति के प्रति प्रसाद निसर्गत अधिक है। शृगार रस मे जो प्रकृति आती है उसका सबध नायक-नायिका के सुख या दुःख की भावना की वृद्धि से होता है, जो स्वाभाविक ही है। करुण, वीर व हास्य रस की उद्दीपक सामग्री भी प्रसाद ने पर्याप्त जुटाई है, पर यहा भी यही कहना पडता है कि आतरिक भावो के सदर्भ में ही उनका महत्त्व विशेष है, स्वतत्र रूप मे बहुत कम।

अनुभाव आश्रय की (भाव के अनुभवकर्त्ता की) चेष्टाए 'अनुभाव'[13] कहलाती है। ये चेष्टाएं तीन प्रकार की होती हैं—कायिक, वाचिक और सात्त्विक। शृगार रस में तो स्त्रियो की यौवनावस्था के 28 अलकार (3 अगज, 7 अयत्नज और 18 स्वभावज) माने गये है जिनमे सब प्रकार की चेष्टाए—सूक्ष्म और अस्फुट से लेकर पूर्ण स्फुट तक—व अगो का रूप, लावण्य, शोभा, दीप्ति, काति आदि वेश-रचना व विविध भाव-चेष्टाए सम्मिलित है। प्रसाद ने अनेक प्रणयी पात्रों की मनोहर चेष्टाए कल्पित की हैं। इसी प्रकार नाटको मे ('विशाख', 'अजातशत्रु' व 'स्कदगुप्त' मे) वसतक, मुद्गल आदि पात्रों के माध्यम से हास्य-रसोचित चेष्टाए भी सुंदर रूप में प्रकट हुई है। 'स्कदगुप्त' तथा 'चद्रगुप्त' में वीर रसोचित चेष्टाए (अग-सचार व वाणी-व्यापार) रस-परिपाक में पूर्ण सहायक हुई है। मानसिक चेष्टाओं या सात्त्विक अनुभवों (अश्रु, स्तभ, कप आदि) की भी अनेक स्थलों पर सुदर व्यजना हुई है।

सचारी भाव रस-निष्पति प्राय वही समझी जाती है, जहा रस के सभी अवयवों का एक साथ व सश्लिष्ट रूप में निरूपण हो। यह कार्य प्रबधात्मक कृति—नाटक व महाकाव्यादि—में अधिक सुगमता से हो सकता है। मुक्तक काव्य में व छोटी कहानी में रस के सागोपाग निरूपण की गुजाइश कम मिलती है। विशेषत गीतिकाव्य में तो वर्णन के लिए अवकाश ही नही मिलता। वहा लघु सीमा में सचारी भावों के निरूपण का ही स्थान रहता है। पर मनोयोग व सूक्ष्मता के साथ संपादित होकर सचारी भावों का निरूपण भी इतना लीनकारी होता है कि वह पूर्ण रसानुभूति का-सा आनंद प्रदान करता है—अवश्य ही पाठक

को आलबन का अपनी ओर से कल्पना मे अध्याहार कर लेना पडता है। वस्तुत रस के सभी अवयवो के निरूपण की औपचारिकता का निर्वाह-मात्र अखड रस की सृष्टि का सदा पक्का आश्वासन नही, उधर दूसरी ओर केवल सचारी भावो की मार्मिक व्यजना भी रस मे लीन करने वाली सिद्ध हो सकती है। अपरिपुष्ट रस-निरूपण भाव-मात्र बनकर रह जाता है तो परिपुष्ट सचारी भाव रस की कोटि को पहुचा हुआ जान पडता है। 'आक्षेप के द्वारा विभाव, अनुभाव या सचारी भाव मे से एक भी अन्य दोनों को ग्रहण करने मे समर्थ हो जाता है।'[14] साहित्यशास्त्र को सचारी भावो की यह स्थिति स्वीकार है।[15]

प्रसाद की सभी साहित्य-विधाओ मे सचारी भावो का वर्णन मिलता है—और दोनो रूपो में, पूर्ण रस की व्यजना के अवसर पर भी और स्वतत्र रूप मे भी। यों तो प्राय सभी सचारियो का वर्णन मिलता है, पर निर्वेद, ग्लानि, मद, दैन्य, चिता, मोह, स्मृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, गर्व, विषाद, उग्रता, उन्माद आदि सचारियों के प्रति प्रसाद ने विशेष आकर्षण दिखाया है।

सचारी या व्यभिचारी भाव हृदय के भाव-समुद्र में लहरो की तरह बनते-मिटते हुए विचरण करते है। वे रति आदि स्थायी भाव में उन्मग्न-निर्मग्न होकर (आविर्भूत-तिरोभूत होकर) अनुकूलता से व्याप्त होते है।[16] ये भाव रस-निष्पत्ति में स्थायी भावों में पोषक का काम करते है। वस्तुत इन भावो की सख्या अगणित है, पर व्यवस्था की दृष्टि से साहित्यशास्त्र मे 33 की सख्या में बाध दिये गये हैं और उनका नामकरण भी कर दिया गया है। इन 33 भावों मे अनेक स्थानो पर परस्पर एक-दूसरे की छायाए गुथी-मिली हुई हैं, तात्पर्य यह कि ये अपने नाम से पृथक्-पृथक् तो दिखायी पडते है, पर इनके निर्माता तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा मे परस्पर अनेक भावो मे बिखरे मिलते हैं। यह इसी से स्पष्ट है कि हृदय के विभिन्न स्थायी भावो पर आधारित विविध रसो के लिए भिन्न-भिन्न सचारी भाव निरपेक्ष या स्वतत्र रूप से नियत नही है, रसो की प्रकृति के अनुसार इन 33 भावो मे से ही सामान्य रूप से आवश्यकतानुसार उपयोग होता रहता है। एक रस का स्थायी भाव दूसरे रस मे सचारी के समान प्रयुक्त हो सकता है तो वर्णन की प्रमुखता से सचारी भाव भी कभी-कभी स्थायी भाव का-सा महत्त्व ग्रहण कर बैठता है। इन सचारी भावो का वस्तुत इतना महत्त्व है कि पूर्ण रस-निष्पत्ति इनके बिना सभव ही नही है।

किसी भी लेखक के साहित्य में प्राय सभी कही रस की पूर्ण निष्पत्ति नही दिखायी पडती। वह प्राय स्थान का विस्तार चाहती है, जो प्रबध-काव्य मे ही सभव होता है—यद्यपि कभी-कभी कहानियों की कुछ पक्तियो में तथा दोहे की छोटी-सी सीमा में भी पूर्ण रस-निष्पत्ति देखी जाती है (बिहारी के दोहे द्रष्टव्य हैं)। साहित्य मे अधिकाशत विविध भावों या भावस्थितियों के ही दर्शन होते है जो अपने आप में भी आनददायक व तृप्तिकर होते हैं।

प्रसाद-साहित्य में इन सचारी भावों का तथा उपर्युक्त अन्य भावों का अपार वैभव विस्तृत है। वैयक्तिक सुख-दुख की भावनाओ से आप्लुत गीतिकाव्य में तो कवि के निजी भावों का चित्रण स्पष्ट ही है, उससे अतिरिक्त काव्य में व अन्य साहित्य-विधाओं में भी वे भाव या भावनाए कवि-निबद्ध पात्रों के जीवन व कार्य-व्यापारों में दिखायी गयी है, जो वस्तुत प्रकारातर से कवि-मन पर ही पात्रो पर आरोपित भावनाए हैं।

प्रसाद के समस्त साहित्य में वर्तमान सचारी भावों पर सामूहिक दृष्टि डालने पर कुछ

तथ्य स्पष्ट सामने आते हैं : साहित्यशास्त्र में परिगणित सभी संचारी भाव प्रसाद-साहित्य में प्राप्त होते हैं। (जिनका निरूपण अभी आगे होगा)। इन भावनाओं की उपस्थिति लेखक के जीवनानुभव का विस्तार व गहनता, जगत् का अध्ययन, कल्पना के बल से पात्रों के हृदय में उतरने की गहरी क्षमता, मानव-मन के मर्म को थाहने व उसके रहस्यों का आकलन-अवगाहन करने की कलाकारोचित जिज्ञासा व उत्कट उत्साह को सूचित करती है। मानव-हृदय को इस रूप में उत्साहपूर्वक समझने का अर्थ है—प्रसाद के हृदय में संचित साहित्यकारोचित व्यापक मानवीय सहानुभूति; क्योंकि इस अनुराग व सहानुभूति के अभाव में भावों की इस सृष्टि के जंजाल में फंसने का कोई श्रम करेगा ही क्यों! प्रसाद ने यथार्थवादी रीति से, तटस्थ होकर, मानव-मन की इन भावनाओं का उनकी प्रकृति, गति, क्रम, शक्ति, व वेग पर गहरी दृष्टि जमाकर चित्रण किया है, पर एक आदर्शवादी कलाकार की तरह उन्हें साधनभूत बनाकर अनेक भावों का उन्नयन भी किया है। यह उन्नयन या औदात्त्य यों ही कथित नहीं कर दिया गया है; वह कवि के अथवा पात्रों के प्रचंड व उद्दाम अंतःसंघर्ष के परिणामस्वरूप निष्पन्न हुआ दिखाया गया है। इस उन्नयन में उस अंतर्द्वंद्व का अंतर्भावन व चित्रण-कौशल अपनी पूरी शक्ति के साथ निहित है।

प्रसाद-साहित्य में संचारी भावों के निरूपण के लिए प्रत्येक विधा के क्रम से उक्त भावों को शास्त्रीय संज्ञाओं व संख्या के विचार से पृथक्-पृथक् न लेकर स्थानाभाव से उन पर एक सामूहिक दृष्टि डालना ही यहां समीचीन होगा।

प्रसाद में जीवन का भोग-पक्ष व मिलन-पक्ष भी अपने उत्कर्ष पर है, तथापि साहित्य में इसका विस्तार अपेक्षाकृत कम है। 'कानन-कुसुम' व 'झरना' की कुछ कविताओं में व आंसू में (स्मृति रूप में) मिलन-पक्ष के उन्माद, मद, व्रीडा, हर्ष, गर्व, चपलता आदि भावनाओं की अत्यंत सुंदर व्यंजना हुई है, पर 'मिलन पल के केवल दो-चार, विरह के कल्प अपार' (पंत) के अनुसार जीवन में विरह और दुःख की ही प्रमुखता है। इस पक्ष का विस्तृत वर्णन ही प्रसाद-साहित्य में मिलता है।

निर्वेद तथा उससे संयुक्त विरक्ति, तितिक्षा, वितृष्णा आदि की तप्त-तिक्त भावनाएं मनु,[17] अशोक,[18] स्कंद,[19] बिंबसार आदि पात्रों में बहुत गहरी रेखाओं में अंकित हुई हैं। उन्मादक स्मृतियों का रंगीन वैभव भी अनेक स्थलों पर प्रकट हुआ है।[20] इसी प्रकार खिन्नता, विषाद, दैन्य, नैराश्य या निरुपायता की करुण-कोमल भावनाएं अन्यत्र बड़ी ही सुकुमार तूलिका से चित्रित हुई हैं।[21] आशा, प्रतीक्षा, औत्सुक्य, उत्कंठा व अभिलाषा की परस्पर गुंफित भावनाओं का चित्रण भी यथास्थान हुआ है।[22] खीझ व अमर्ष के कोमल भाव भी चित्रित हुए हैं।[23] 'उन्माद' संचारी के अंतर्गत गहन मानसिक विक्षोभ की अत्यंत भावपूर्ण स्थिति देखी जाती है, जिसका दर्शन अनेक स्थलों पर होता है।[24] शून्यता का भाव एक अत्यंत गहन भाव है जो यथावश्यक भावुकता के साथ चित्रित हुआ है।[25] प्रतिशोध, प्रतिहिंसा आदि उग्र भावों की भी प्रचुरता है।[26] ग्लानि, पश्चात्ताप या प्रायश्चित की सौम्य-पावनकारी भावनाएं भी निरूपित हुई हैं।[27] उसी प्रकार चिंता,[28] ईर्ष्या या सपत्न्य ज्वालामयी असूया,[29] घृणा,[30] संदेह,[31] संतोष,[32] सहानुभूति,[33] कृतज्ञता,[34] मोह,[35] अनुनय,[36] विश्वास,[37] शंका,[38] मद,[39] उपालंभ,[40] मति,[41] विबोध,[42] स्पर्धा,[43] उग्रता[44] आदि भावनाएं भी अपनी वास्तविकता में निरूपित हुई हैं।

प्रसाद अनेक बार हमे ऐसी उदात्त भावभूमि पर ले जाते है जहा हमारा हृदय सत्त्व-मात्र रह जाता है, हम अणु से विराट् होने लगते है, हमारे चारो ओर के बधन मानो तडातड टूटने लगते है और हम कवि-हृदय अथवा पात्र के हृदय के साथ अपनी मूल परम भावमयी सत्ता के साथ फिर से मिल जाते है। कामायनी,[45] आसू,[46] झरना,[47] अजातशत्रु,[48] स्कदगुप्त,[49] चद्रगुप्त,[50] व आकाशदीप, समुद्र-सतरण, प्रलय आदि कहानियो मे हम उस भावौदात्त्य का अनुभव करते है, जिसका महत्त्व भारतीय रस-व्याख्या मे 'सत्त्वोद्रेक'[51] में निहित है तथा पाश्चात्य साहित्य-विवेचन मे जिसका विवेचन लोजाइनस ने 'Sublime'[52] (उदात्त तत्त्व) के अतर्गत किया है। सभवत- प्रसाद-साहित्य में ये ही वे अविस्मरणीय स्थल है जिनका प्रभाव सहृदय पाठक की चेतना में अमिट बना रहता है, मिटाये नही मिटता। कहने की आवश्यकता नही कि जो लेखक सत्त्व की भावभूमिका के स्वय कुछ काल तक निवासी नही हुए हैं, वे हमें इस ऊचाई पर कदापि नही उठा ले जा सकते। भावो की यह अनमोल निधि प्रसाद-साहित्य की अखड गरिमा का एक स्थायी उपादन या आधार है।

शृगार रस शृगार 'रसराज' की उपाधि से विभूषित है, क्योकि वह मानव-जीवन पर अपना विशद व विस्तृत शासन रखता है, स्वभावत प्रेम और शृगार के कवि प्रसाद के साहित्य मे भी उसका व्यापक प्रभुत्व है। पर, इस छोटी-सी परिधि मे प्रसाद द्वारा निरूपित शृगार रस के सभी पक्षों का विशद-विस्तृत निरूपण असभव है। शृगार रस के अनेक अवयवो का निरूपण इस प्रबध के प्रकरणों में यथास्थान कर ही दिया गया है—यथा, आलबन व अनुभाव का विवेचन सौंदर्य के प्रकरण में व उद्दीपन का प्रकृति के प्रकरण मे। अत यहा यह सब जटिल विस्तार अनावश्यक समझकर[53] हम शृगार रस के स्थायी भाव 'रति' पर ही अपने को केंद्रित कर प्रसाद के शृगार रस की मार्मिक विशेषताओ (स्वरूप, परिधि, शक्ति, प्रभाव आदि) का निर्देश करके सतुष्ट रहेंगे, क्योंकि वस्तुत 'रति' की कील पर ही शृगार की समस्त सृष्टि खडी है। पहले दो बातो का निर्देश आवश्यक है— प्रसाद स्वच्छदतावादी कवि हैं। वे रस के शास्त्रीय ढाचे को सामने रखकर सजग, औपचारिक ढग के रस-निरूपण करने के कायल भी नही—हम भले ही उनके निरूपण को बलात् किसी ढाचे में बैठायें या वह स्वत ही हो जाये, यह बात दूसरी है। दूसरी बात यह है कि सर्वत्र शृगार रस की 'निष्पत्ति' ढूढना भी व्यर्थ ही होगा (अवश्य कुछ एक स्थल रस-निष्पत्ति के शास्त्रीय अनुबधों की सफल पूर्ति करते हैं), क्योकि प्रसाद जैसा कि पहले कहा ही जा चुका है, मुख्यत भावों के ही चित्रकार हैं, भाव-व्यजना ही उनका मुख्य क्षेत्र है, आलबन के या पदार्थों के बाहरी पक्षो के ब्योरेवार वर्णन के प्रति उनकी रुचि अपेक्षाकृत उतनी नही।

शृगार रस का स्थायी भाव 'रति' है, जिसकी नीव, प्रेम के विरह-मिलन दोनों से संबद्ध होने के कारण, मानव-हृदय में अत्यत गहरी है। 'रति' काम का ही पर्याय है, जिसे उपनिषदों में सृष्टि-रचना का मूल कहा गया है।[54] 'कामायनी' में प्रसाद लिखते है—

जो आकर्षण बन हँसती थी रति की अनादि वासना वही,
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के अतर में उसकी चाह रही। —काम सर्ग

प्रसाद ने इस काम व रति का अत्यत व्यापक व परिष्कृत अर्थ लिया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी मानव-वासना का महत्त्व काव्यसृष्टि में स्वीकार किया है और रस-निष्पत्ति में उसकी निश्चित मूलवर्ती स्थिति है। आश्चर्य नही कि भोज ने 'रति' पर आधारित शृंगार

रस को 'रसराज' कहा। वस्तुत रति का क्षेत्र अत्यत व्यापक है—काता-विषयक, देव-विषयक, आचार्य-विषयक, देश-विषयक, प्रकृति-विषयक, बाल-विषयक आदि। शेष रतिया या तो रस-कोटि तक पहुचाने में असमर्थ-सी मानी गयी हैं—भाव मात्र समझी जाती है—या सप्रदाय के आग्रह या जीवन में उसके महत्त्व के आतिशय्य के कारण रस के रूप मे स्वीकृत हुई है।

यहा पर मादन भाव वाली काता-विषयक रति तक ही शृगार को सीमित रखकर हम प्रसाद-साहित्य मे 'रति' स्थायी की स्थिति पर विचार करेंगे।

प्रसाद-साहित्य के उस अश मे, जो प्रेमगीतात्मक है, स्वय कवि प्रसाद का निजी 'रति' भाव व्यक्त हुआ है। शेष साहित्य में प्रसाद द्वारा रचित पात्रो के हृदय की रति व्यक्त हुई है, जो साधारण व असाधारण—दो स्तरो की है। साधारण स्तर की रति तो सामान्य अनुभव की बात है, अत विशेष उल्लेख्य है नही। 'रति' का असाधारण ही विवेच्य है।

प्रसाद-साहित्य के अनेक विशिष्ट पात्र रति से ही परिचालित है। रति उनके जीवन की मूल शक्ति व प्रेरणास्रोत है। वे विविध व्यवसाय करते हुए या दायित्व-निर्वाह करते हुए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे उसी रति से आबद्ध है। यह रति उनके उत्थान व पतन में जुडी दिखायी पडती है। जहा प्रेमी प्रेम के क्षेत्र में पराजित या निराश हुए है वहा इस रति ने इन्हें उच्च मानसिक या दार्शनिक-आध्यात्मिक भूमियों पर पहुचा दिया है। इस भूमि पर हम जीवन-परिस्थितियो की विषम शृखलाओं मे से निकलने वाले पात्रों की वृत्तियों का ऐसा उन्नयन देखते हैं कि वे भाग्य परिस्थिति से समझौता करके शरद्-श्री से विभूषित हिमस्नात वन-से या प्रलयोत्पात के पश्चात् की धुली-निखरी चद्रनिशा से सौम्य व निर्विकार होकर हमारे सामने आते हैं और जिनका प्रभाव अपनी सौम्य छवि मे हमारे हृदय पर एक अमिट कात-करुण प्रभाव छोड जाता है। 'आसू' का नायक, देवसेना-स्कदगुप्त, बुद्धगुप्त-चपा, गुडा-मातृगुप्त, पद्मा (देवदासी) नूरी, तितली, चमेली (प्रेम), सुजाता (देवरथ) आदि पात्र रति के एक आध्यात्मिक छोर की स्थिति के निदर्शक है।

रति का एक दूसरा छोर हमें वहा देखने को मिलता है, जहा पात्र प्रणय की निराशा व अतृप्ति-अपूर्ति से अपने मूल सस्कारों की दुर्बलता या मानसिक असतुलन के कारण एक करुण अत को प्राप्त होते हैं। यह अत दो प्रकार का होता है—(1) जहा पात्र हमारी हार्दिक सहानुभूति को लिये हुए जाते है, जैसे लैला (आधी), रोहिणी (ग्रामगीत) आदि, और दूसरा वहा जहा अनियत्रित रति के शिकार पात्र विपथगामी होकर हमारी सहानुभूति नही पाते—जैसे विजया (स्कदगुप्त), शैलेंद्र (अजातशत्रु) आदि।

बुद्धि-वैभव सम्राट चाणक्य एक ऐसा पात्र है जो जीवन के रगमच पर विराट् अभिनय करता हुआ अपनी विद्युत-सी रति को अपने भीतर ही ठसाए रखता है, अवश्य ही उसकी निष्ठुरता-क्रूरता का उस दमित रति से दूर-पास का गहरा सबध है।

यों कहा जा सकता है कि रति-चालित प्रसाद के पात्र या तो देव है या शुद्ध मानव हैं या राक्षस। विरह की अग्नि में तपाये-गलाये पात्र उदात्त मानव होकर महिमामडित व सुषमावान् हुए हैं।

रति-निरूपण के सहारे प्रसाद ने व्यक्ति के दिव्य या उदात्त मानवीय गुणों को उभारा है। उसी के सहारे आत्मा के रहस्य-लोकों व जन्म-जन्मातरों तक की दार्शनिक उडानें भरी गयी हैं। सौंदर्य का अतींद्रिय और दिव्य रूप भी रति पर ही आधारित हुआ है। प्रकृति पर

पुरुष की यह विजय ही कदाचित् उन पात्रों की दृढता, सौदर्य व आभा है जो हमे चमत्कृत करती है और जिसके कारण ही वे पात्र प्रसाद-साहित्य के चिरस्मरणीय अमर पात्र हो गये है। प्रसाद का उदात्त प्रेम-दर्शन इस रति की सूक्ष्मता से ही निर्मित हुआ है।

हास्य रस हास्य रस अपने शुद्ध व परिनिष्ठित रूप मे जीवन का एक उच्च रस है। यह आत्मा के आनद-कमल का विकास है। उच्चस्तरीय हास्य की सृष्टि करना बडे कौशल का कार्य है। हास्य रस का आदर्श यह है कि वह सार्थक, प्रसग-प्राप्त, दश-आक्षेप-कटाक्षहीन व कटुता-मालिन्य रहित होकर सबके लिए आह्लादक हो और जिसके प्रति हास्य उत्पन्न किया गया हो वह स्वय भी उसमे सम्मिलित होकर उसका आनद ले सके। किसी दीन या रोगी का विकृत वेश या किसी पक्षाघात के रोगी की चेष्टा हास्य की सामग्री न होगी। शुद्ध मानवीय सहानुभूति बराबर बनी रहनी चाहिए, अन्यथा हास्य निर्दय कर्म होकर रसाभाव हो जायेगा। काव्यशास्त्र में शुद्ध हास्य के प्रकार (आत्मस्थ-परस्थ) तथा न्यूनाधिकता के आधार पर भेदो (स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित आदि) का विस्तृत विवेचन किया गया है।[55] वाग्वैग्ध्य या वक्रोक्ति से भी कभी-कभी शुद्ध हास्य उत्पन्न किया जाता है।

वस्तुत जहा शुद्ध मनोरजन के अतिरिक्त किसी व्यक्तिगत या सामाजिक त्रुटि या दोष का निराकरण-सुधार या किसी के चरित्र की, सामाजिक धरातल, पर सूक्ष्म आलोचना इष्ट होती है, वहा वक्रोक्ति, आक्षेप, कटाक्ष आदि का प्रयोग होता है। इन बातो से पाठको-श्रोताओ मे थोडा या अधिक हास्य-विनोद उत्पन्न होता है। इसीलिए इन सबका विवेचन भी प्राय हास्य के स्तभ के अतर्गत ही कर दिया जाता है।

प्रसाद गभीर दार्शनिक प्रवृत्ति के साहित्यकार है, अत उनमें प्राय हास्य का अभाव समझा जाता है। प्रसाद मे "परिहास की मात्रा बहुत कम है। और ऐसा ही होना भी था। खीचतान कर कुछ परिहास खोज निकालना व्यर्थ का प्रयास है।"[56] पर बात ऐसी नही है। अनेक कृतियो मे बिखरे हुए हास्य के प्रसगों पर दृष्टिपात करने पर जान पडेगा कि गुण व परिमाण दोनो दृष्टियो से हास्य प्रसाद-साहित्य मे कम सात्त्विक मनोरजन प्रदान नही करता। प्रसाद ने अपने साहित्य में हास्य का यथास्थान सुदर विनियोग किया है—अवश्य ही प्रसाद की व्यक्तिगत प्रकृति से वह थोडा-बहुत नियत्रित है।

हास्य रस की व्यजना में प्राय शास्त्र का बधा-बधाया प्राचीन ढाचा ही अपनाया गया है। स्थायी भाव 'हास' है। आलबन वे ही मूर्ख, विदूषक, ज्योतिषी, पेटू, दक्षिणाप्रिय ब्राह्मण-पुरोहितादि, लोभी व कजूस, मक्खीचूस व्यापारी, विवाहेच्छुक या नव-विवाहित वृद्ध, वेश्याओ के चक्कर मे फसे शिकार आदि है। उद्दीपन है हास्य-प्रेरक वेश-भूषा, चेष्टाए, वाणी-विलास आदि।

चद्रगुप्त,[57] स्कदगुप्त,[58] राज्यश्री,[59] जनमेजय का नागयज्ञ,[60] कामना,[61] एक घूट,[62] अजातशत्रु,[63] तितली,[64] इरावती,[65] ककाल,[66] चित्राधार,[67] विशाख,[68] ध्रुवस्वामिनी[69] आदि कृतियों मे व अनेक कहानियो मे[70] प्रसाद की हास्य की प्रवृत्ति पर्याप्त रूप से खुलकर सामने आयी है।

करुण रस 'करुण रस' काव्य क अत्यत उदात्त रस है, जिसका स्थायी भाव 'शोक' है। भवभूति ने इसे ही एकमात्र रस कहा है—'एको रस करुणैव'।[71] हिंदी मे 'हरिऔध' ने इस रस में वही गहराई देखी। 'यूनानी त्रासदी' में और कवि शैली के स्वर में—"Our

sweetest songs are those that tell of saddest thoughts"—करुणा का यह महत्त्व स्पष्ट है। समस्थ जड-चेतन इस रस की सामान्य भूमिका पर एक हो जाते है।[72] जड-चेतन के हृदय मे से होकर निकलने वाला करुणा का तार अनादि है और इसकी गूज बडी मजुल और गहरी है। शृगार का मिलन पक्ष सुख-उपभोग की लालसा से व्यक्ति को प्राय स्वायत्त या आत्मकेंद्रित बनाकर छोड देता है। किंतु उसका विरह-पक्ष अपने शुद्ध रूप में, और 'करुण विप्रलभ' की सज्ञा प्राप्त कर लेने पर तो अवश्य ही, कण-कण मे आत्मा के प्रसार की अनत सभावनाए खोल देता है। मिलन के साथ ही पुन उस उच्च स्थिति से स्थूलता की ओर सक्रमण हो जाता है। अत कण-कण तक आत्मप्रसार का जैसा लबा-चौडा क्षेत्र करुण रस प्रदान करता है, वैसा सभवत और कोई रस नही। यो शृगार ही 'रसराज' समझा जाता है, पर करुण रस का दावा भी विचार करने पर हल्का नही ठहरा। 'शृगार चमकता उनका मेरी करुणा मिलने से'—प्रसाद (आसू)। प्रसाद की दृष्टि से करुणा का क्या महत्त्व है, यह इससे स्पष्ट ही है।

करुण रस का विभाव इष्ट-नाश व अनिष्ट की प्राप्ति कहा गया है।[73] भरत ने विभव-नाश, वध, बध, देश-निर्वासन, अग्नि में जल मरना या व्यसनो में फस जाना आदि—इस रस के विभाव बताये है।[74] विषाद, जडता, उन्माद, चिता, निद्रा, दैन्य, मरण, आलस्य, आवेग तथा निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम—इस रस के व्यभिचारी भाव तथा नि:श्वास, रुदन, स्तभ, प्रलाप, प्रारब्ध की निंदा, भूमि-पतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास आदि अनुभाव है।[75]

प्रसाद-साहित्य मे यह करुणा अनेक पात्रो या उनकी परिस्थितियो के माध्यम से व्यक्त हुई है। कविता मे चमेली,[76] शुन:शेप,[77] कमला[78] आदि पात्रो में, नाटको मे पद्मावती,[79] शकटार,[80] देवसेना,[81] मालविका,[82] राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी आदि पात्रो में, उपन्यासों में शैला,[83] यमुना-विजय[84] आदि पात्रों में, तथा कहानियो में गूदडसाई, गुदडी का लाल, अघोरी का मोह, पाप की पराजय, करुणा की विजय, दुखिया, प्रतिध्वनि, अशोक, प्रणय-चिह्न, भिखारिन, छोटा जादूगर, घीसू, बेडी, ममता, विराम-चिह्न, बनजारा, देवदासी, मधुआ, व्रतभग, अमिट स्मृति, नीरा, पुरस्कार, सालवती आदि कहानियो के विशिष्ट पात्रों में करुण रस की हल्की-गाढी स्थितिया उत्पन्न हुई है। ये स्थितिया अकाल-दुर्भिक्ष, प्राकृतिक त्रास (बाढ, प्रलय, ऋतुकोप) अर्थाभाव, सरकारी कर्मचारियो के अत्याचार, लज्जापहरण व बलात्कार, नीलाम, महाजन का ऋण-शोधन, वार्धक्य, अधता, रोग-शोक, भाग्य की विविध परिस्थितियों व विडबनाओं से प्रसूत है। प्रसाद ने 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' को यथार्थवाद की प्रधान विशेषता माना है।[85] उक्त सकेतित स्थलो मे अनेक जगह यथार्थवाद की प्रेरणा से पात्रो व परिस्थितियो का वर्णन हुआ है। प्रसाद का करुणा के प्रति सहज आकर्षण है जिसे हम उनकी आरभिक कृतियों के ही बराबर देख सकते है। 'पत्थर की पुकार' नामक कहानी में प्रसाद का एक पात्र नवल कहता है—"अतीत और करुणा का जो अश साहित्य में हो, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।"[86] 'अजातशत्रु' मे अगणित बार करुणा का उल्लेख हुआ है, जो प्रसाद पर बौद्ध-दर्शन के आरभिक प्रभाव का सूचक है। करुणा का यह विकास आगे शुद्ध मानवीय धरातल पर ही हुआ है। यह करुणा आगे मानव-प्रेम की पर्याय हो गयी है।

एक बात कहना आवश्यक है। यद्यपि प्रसाद ने अपने साहित्य में करुण रस की अनेक

स्थितिया अकित की है, पर न जाने क्यो, कुछेक अत्यत विशिष्ट अपवादो को छोडकर (विजय, यमुना, अमिट स्मृति की नायिका, देवसेना आदि), हमारा हृदय कही भी, धूप मे पिघलते हिम की तरह, करुणा से विह्वल होकर आसुओं के रास्ते नही गलता—एक भी जगह नही। कारण स्पष्ट है। हमारे हृदय की अवसरोपयोगी निसर्ग-सिद्ध गति या क्रिया को प्रसाद अपनी दार्शनिकता से, गलते हुए हृदय को शीत की रात के बर्फ की तरह फिर से जमा देते है। साथ ही, ऐसे सुकोमल अवसरो पर भी काव्यशैली के व्यजनो से प्रसग को और भारी या गाढा बना देते है। हमारी करुणा प्राय उभरती-उभरती वही रुक जाती है, जम जाती हे। हार्डी की तरह वे हमे एक बार भी पिघल नही लेने देते, बरसकर पूर्ण हल्का व निर्मल नही हो लेने देते।

रौद्र रस रौद्र रस का स्थायीभाव युद्ध-जन्य क्रोध है—'अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायी-भावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्य प्रकृति सग्रामहेतुक।' (भरत)। यह रस क्रोधात्मक होता है और इसमे आततायी या (आलबन) अन्यायी के प्रति हिसा का भाव उत्कट होता है। आघर्षण (स्त्रियो आदि के प्रति तिरस्कार), अधिक्षेप (देश, जाति, कुल की निदा), अनृत वचन, उपघात (दीन पीडन), वाक्-पारुष्य, अभिद्रोह (मार डालने की इच्छा), मात्सर्य आदि शत्रु की चेष्टा-रूप उद्दीपन विभावो से यह रस उत्पन्न होता है। इस रस मे अत्यत उग्र चेष्टाओ (शारीरिक, कायिक, वाचिक) का वर्णन होता है। पर उत्साह-स्थायीमूलक वीर रस व क्रोध-स्थायीमूलक रौद्र रस मे अतर होता है। महापात्र विश्वनाथ ने यह अतर यों दिखाया है—'रक्तास्यनेत्रता—चात्र मेदिनी युद्धवीरत' (साहित्यदर्पण, 3/231)। अर्थात् वीर रस मे 'उत्साह' ही स्थायी होता है। क्रोध के मारे मुख व नेत्र का लाल हो जाना रौद्र रस मे ही होता है, वीर रस मे नही। यही दोनो में परस्पर भेद है। वस्तुत वीर रस और रौद्र रूप की सधि-रेखाए बहुत तरल-सूक्ष्म है—विशेषत इसलिए कि वीर रस के एक भेद 'युद्धवीर' और रौद्र रस के बहुत से उपकरण समान है। युद्धवीर के 'उत्साह' मे क्रोध का आत्यतिक अस्पर्श मानते नही बनता। उसी प्रकार क्रोध (इस रस के आलबनो को देखते हुए अवश्य ही वह निर्वैयक्तिकता के कारण सत्त्वप्रेरित ही होता है, व्यक्तिगत कारणो से उत्पन्न क्रोध मे रसात्मकता की वैसी सभावना नहीं) भी उत्साह से रहित नही, वह 'उत्साह' का ही एक रूप है। युद्धवीर (वीर रस) का स्थायीभाव शत्रु के प्रति 'उत्साह' होता है, जिसमे क्रोध का न्यूनाधिक अश तो रहता ही है, एक ओर युद्धवीर और दूसरी ओर दयावीर व दानवीर के उत्साह में यही भेदक रेखा हो सकती है कि युद्धवीर का उत्साह रौद्र रस की ओर सक्रमित होता जान पडता है। आखो का लाल हो जाना वीर रस मे भी होता है। यद्यपि यह सात्त्विकताजन्य है। तात्पर्य यह है कि वीर रस और रौद्र रस परस्पर बहुत घनिष्ठ है। फिर भी उनकी स्वतत्र सत्ताए असदिग्ध है। प्रकृति के गुणों मे रौद्र रस के स्थायी भाव 'क्रोध' को हम 'तम' नामक गुण से सबद्ध पाते है, पर जीवन मे वह निर्वैयक्तिकता-युक्त होकर उच्चाशयी व निर्मल हो जाता है और काव्य मे तो निश्चय ही आनददायक। शिव का रुद्र रूप भक्तों के लिए कितना आनददायक है, यह कहने की आवश्यकता नही।

प्रसाद की दो नाट्य रचनाओं—'स्कदगुप्त' व 'चद्रगुप्त' मे वीर रस की विशद व्यजना हुई है। उनमें जहा-जहा भी आततायियों व अन्यायियो के प्रति क्रोध (चेष्टा व वाणी-व्यापार के द्वारा) उत्पन्न हुआ है, वहां-वहा न्यूनाधिक मात्रा मे रौद्र रस की स्थिति मानी जा सकती है। 'कामायनी' के सघर्ष सर्ग में, जहा मनु का इडा के प्रति बलात्कार वर्णित हुआ है, रौद्र रूप की

स्थिति देखी जा सकती है। क्रुद्ध जनता उग्र वचनो व चेष्टाओ के साथ एकाकी आततायी मनु पर टूट पडने को तैयार है, वहा रौद्र रस ही है वीर रस नही। दोनो पक्षो के पूर्ण उत्साह व समान शौर्य से उपस्थित हुए बिना वीर रस प्राय पूरा नही खिलता। 'कामायनी' के प्रथम सर्ग मे भी रौद्र रस की अत्यत सुदर व्यजना हुई है। देवो पर प्राकृतिक शक्तियो का प्रकोप रौद्र रस के अतर्गत ही आ सकता है।

प्रसाद ने रौद्र रसोचित उद्दीपन व अनुभाव आदि का भी विधान किया है, पर वह अत्यत सयत व मर्यादित वीर रस का शालीन वातावरण प्रस्तुत करता है। रौद्र की उच्छृखलता, पारुष्य व प्रचडता सभवत उतनी नही उत्पन्न हो पायी, जितनी कि रौद्र रस में अपेक्षित है।

वीर रस वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। उत्साह की वास्तविक प्रकृति से परिचित होने पर इस रस का स्वरूप भली भाति समझा जा सकता है। उत्साही व्यक्ति सात्त्विकता या उच्च राजसिकता की भूमि पर रहकर प्रसन्नता, विवेक, न्यायबुद्धि, अभय, काया या वाणी या सुसयम, निष्काम भाव से कर्त्तव्य-पालन व कर्मठता, गाभीर्य व असत् के समूल नाश की स्फूर्ति आदि गुणो से परिपूर्ण रहता है, किंतु उधर रौद्र रस के स्थायी भाव 'क्रोध' की मूल प्रकृति निम्न राजसिक या तामसिक है—यद्यपि इस तामसिकता का निरसन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बहुत कुछ क्रोध के लक्ष्य की उपयुक्तता या औचित्य से हो जाता है। और यह बात तो सुविदित ही है कि काव्य में आकर तो सुखात्मक व दु खात्मक सभी भाव, कल्पना की प्रक्रिया से समन्वित होकर, सुदर हो जाते हैं। 'उत्साह' और 'क्रोध' की मूल प्रकृतियो को स्पष्टतापूर्वक समझ लेने पर इन दोनों रसो के क्षेत्र का पार्थक्य-ज्ञान सरल हो जाता है।[87]

वीर रस जीवन का एक अत्यत गभीर व उदात्त रस है। यह रस मानव के अस्तित्व, स्थिति-रक्षा व निर्वाह तथा मानव जीवन के सर्वस्वीकृत मूल्यों में से सर्वोच्च मूल्य—आत्मसम्मान—की गहरी नीव पर खडा हुआ है। अत वह प्रभाव व मर्मस्पर्शिता की व्यापकतम (सभवत शृगार जैसी ही) सभावनाओ से आपूर्ण है। मानव-विकास में काल-क्रम से या महत्त्व-क्रम से शृगार व वीरता की पूर्वापरता तथा तारतम्य का निर्णय तो बडा कठिन है, पर इतना निश्चित है कि वीर रस भी मानव-हृदय की आदिम वृत्तियो से घनिष्ठतम रूप से सबद्ध है। इस रस मे सत्त्वोद्रेक अपनी पूरी मात्रा मे पाया जाता है। मानव-अत करण की समस्त काति, ऊष्मा व ओज तथा मानव-जीवन के श्रेष्ठतम गुण—त्याग, उत्सर्ग, विसर्जन, कर्त्तव्यपरायणता आदि—इस रस के परिपाक के क्षणों में उभरकर ऊपर आ जाते हैं। प्रसाद के साहित्य का चरम प्रभाव जहा शृगार व शात रसो पर आश्रित दिखायी पडता है, वहा इस पर भी कुछ कम नही। परिमाण मे यद्यपि यह कम है, पर गुण की दृष्टि से अत्युच्च है। निरूपण-शैली पर विचार करने पर स्पष्ट जान पडेगा कि शृगार व शात के साथ वीर रस भी प्रसाद का अपना एक अत्यत प्रिय रस है जिसका प्रस्तुतीकरण उन्होंने पूर्ण मनोयोग व कौशल के साथ किया है। सभवत उनके साहित्य में इस रस की स्थिति ही, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, उनके शृगार को इतना उज्ज्वल व आस्वादनीय बनाये हुए है, क्योकि वीर रस व शृगार रस भले ही बाह्य दृष्टि से परस्पर असगत या विरोधी रस हो, किंतु वे दृढ-स्निग्ध सूत्रों से सुगुफित हैं। जीवन समष्टि में वीरता (मानसिक व शारीरिक) से रहित या असपृक्त कोरा शृगार सर्वथा

निष्प्रभ व इद्रियपरायणता का पर्याय मात्र हो जाता है और कोरी वीरता छूछी होती है। वीरता से शृगार चमक उठता है। शृगार से वीरता दमक उठती है। प्रसाद-साहित्य मे वीरता और शृगार का परस्पर उपकारक रूप अत्यत प्रभावशाली दिखायी पडता है। प्रसाद का आदर्श वीर एक कान से वीणा की झकार सुनता है और दूसरे से शस्त्रो की टकार।

जैसा कि आरभ मे कहा जा चुका है, वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। व्यक्तिगत स्वार्थ-सबधो से मुक्त होकर देश, जाति या समाज के किसी सामान्य शत्रु के विरुद्ध उठ खडे होने और उसे पराभूत करने के उद्देश्य से मन मे जगे हुए उमगपूर्ण 'उत्साह' की चरम स्थित ही वीर रस है। केवल तलवार की कोरी लपक-झपक या हुकार मात्र या एकपक्षीय अमानुषी अत्याचार मात्र से वीर रस निष्पन्न नही होता। लक्ष्य की निर्वैयक्तिकता और आततायी पक्ष के द्वारा फैलाये गये तमस को फाडने का ओजपूर्ण सात्त्विक सकल्प और क्षत्रियोचित शौर्य-व्यापार का जितना ही स्पष्ट मेल होगा, उतना ही यह रस अधिक परिस्फुट होगा। इस दृष्टि से प्रसाद की रचनाओं में से 'स्कदगुप्त'[88] व 'चद्रगुप्त'[89] नामक नाटको मे वीर रस की सर्वाधिक स्पष्ट व्यजना हुई है। नाटकों के अनेक गीत भी—हिमाद्रि तुग शृग से, अरुण यह मधुमय देश हमारा, माझी ! साहस है खेलोगे, हिमालय के आगन में (स्कंद.), पद-दलित किया है जिसने भूमडल को (जनमे) आदि गीत वीर रस की भावनाओं से परिपूर्ण हैं। कविता के क्षेत्र में 'कामायनी' के 'सघर्ष' सर्ग मे वीरता का वातावरण उपस्थित होता हुआ दिखायी पडता है, किंतु वह तो एकपक्षीय विद्रोह-मात्र है। प्रतिद्वद्वी पक्षों के पूर्ण समारंभ-सभार, उत्कट स्पर्धा व विजयाभिलाष के स्पष्ट निरूपण के बिना वीर रसोपयोगी वातावरण नही बनता। 'लहर' में अवश्य कुछ कविताए (पेशोला की प्रतिध्वनि, शे' सह का शस्त्र-समर्पण) वीरता की भावनाओं से पूर्ण है।[90] महाराणा का महत्त्व,[91] कानन-कु ्रुम,[92] चित्राधार[93] आदि रचनाओं मे वीर रस की भावनाओं का यत्र-तत्र कुछ प्रकाशन हुआ है। उपन्यासो मे प्राचीन ऐतिहासिक वीरता केवल प्रसाद की अधूरी रचना 'इरावती'[94] मे यत्र-तत्र देखी जा सकती है। कितु एक दूसरे प्रकार की वीरता, जिसे हम जीवन का सघर्षपूर्ण पुरुषार्थ (जो रस की कोटि तक पहुचा हुआ देखा जा सकता है) कह सकते है, प्रसाद-साहित्य के अनेक पात्रों में देखी जा सकती है।[95] कहानियो मे भी वीर रस के अनेक स्थल दिखायी पडते है।[96] सब-कुछ मिलाकर वीरता की व्यापक दृष्टि से पर्णदत्त, अलका, सिंहरण, चाणक्य, स्कदगुप्त, देवसेना, चद्रगुप्त (ध्रुव में), चद्रगुप्त (चद्र मे), ध्रुवस्वामिनी, कल्याणी (चद्र मे), तितली, घटी, विजया, नूरी, नन्हकूसिह (गुडा मे), मधूलिका (पुरस्कार में), ममता, प्रताप (महा में) विजय (मानसिक दृष्टि से वीर) आदि पात्रों के माध्यम से प्रसाद ने वीर रस की तीव्र-गभीर धारा बहायी है।

प्रसाद मे कोरी स्थूल वीरता का निरूपण उनकी प्रौढ़तम रचनाओं में प्राय नही है।[97] प्रसाद की वीरता शारीरिक व मानसिक (शील-चारित्र्य की) वीरता है, व राष्ट्रीय भावना इन सबके मंजुल मिश्रण से तैयार हुई है। रस के शास्त्रीय ढाचे के स्थूल निर्वाह-मात्र के लिए ही रस की सृष्टि न होकर प्रसंग की प्रकृत कल्पना व आकाक्षा के अनुरूप वह अपनी पूरी दीप्ति के साथ प्रकट हुई है। स्वर्णिम भारतीय अतीत की पीठिका पर उसकी योजना हुई है, अत उसमें सहृदयों के लिए रस-मग्न होने की एक पक्की व्यवस्था है। आलबन की सुस्पष्ट परिकल्पना शक्ति, प्रताप, उत्कर्ष, चेष्टायुक्त वाणी-व्यापार, रसोचित प्रगल्भता, सकल्प, चुनौती, आह्वान, शस्त्र-ग्रहण व प्रहार, विभिन्न सचारियों (हर्ष, आवेग, उग्रता, अमर्ष, गर्व, चापल्य, स्मृति,

औत्सुक्य आदि) के कौशलपूर्ण विधान, विरोध-पक्ष की सागोपाग कल्पना, सपूर्ण प्रसग की सटीक उद्भावना व भारतीय गौरव की दोपहरी में तपती चारित्र्यपूर्ण आर्य ललनाओं का समावेश, रीति और गुणमयी कवित्वपूर्ण शैली, सटीक वातावरण-निर्माण (चर-व्यापार, सदेश-कथन, रणवाद्य, कोलाहल, युद्ध, दड-विधान, सधि-योजना आदि) तथा रस-पोषक अन्य विविध उपकरणो के कौशलपूर्ण विन्यास से प्रसाद जी के वीर रस की व्यजना बडी ही प्राणवान् हुई है।

वीरता का वास्तविक क्षेत्र बडा विशाल-विस्तृत है। यो साहित्य में वीरता के नाम पर प्राय युद्धवीरता ही अभिहित होती है, यद्यपि आचार्यो ने वीर रस के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर आदि भेद भी कर रखे है। वस्तुत जहा-जहा भी 'उत्साह' की स्थायी स्थिति है, वहा-वहा वीर रस की सत्ता है। उत्साह जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र मे हो सकता है, उसी प्रकार घर और समाज के बीच भी तो। तात्पर्य यह है कि वीरता अनेक रूपो की हो सकती है। बिना तलवार उठाये, उद्वेग-रहित मनःस्थिति मे, मौन रहकर, स्थायी रूप से सात्त्विक उत्साह धारण करके जीवन के प्रत्येक छोटे-से-छोटे और बडे-से-बडे कार्य-व्यापार के बीच भी वीरता अनेक अवसरों पर सामने आती है।[98] आज जबकि अहिसा का दर्शन, युद्धबदी का सार्वदेशिक प्रयत्न, शाति-सदेश का प्रचार, वीरता के एक मानव-गौरवोपयुक्त रूप की कल्पना आदि बाते चल रही हैं तो शास्त्र को कुछ और अधिक विकसित या लचीला करना पडेगा। कहने का आशय यह है कि प्रसाद ने जहा-जहा भी मानसिक वीरता (शुद्ध व्यक्तिगत क्षेत्र में या पारिवारिक-सामाजिक क्षेत्र में) से सपन्न पात्रों की रचना की है, वहा-वहा तक इस रस की व्याप्ति बताना नवीन जीवन-दर्शन के सदर्भ में अनुचित न होगा। 'ककाल' के यमुना और विजय नामक पात्रों की ओर हमारा सकेत है।

अणु-युग मे हृदय-परिवर्तन की नीति व अहिंसा की शक्ति का पूरा-पूरा महत्त्व स्वीकार करने के बावजूद सभवत यह कहा जा सकेगा कि त्रिगुणों में महत्त्वपूर्ण गुण तमस् की निष्ठुर क्रीडा प्रकृति में समवाय सबध से रही है और आगे भी बराबर रहेगी, और साथ ही आततायी के पूर्ण पराभव के लिए शारीरिक व शस्त्र-शक्तियो को उठ खडा होने की सब युगो मे बराबर आवश्यकता बनी रहेगी। अत युद्धवीर के प्रति एक विशेष अनुरजनकर आकर्षण स्थायी रूप से जीवन व साहित्य मे बना रहेगा। उस वीरता के लोक-हृदय में समर्थित होने के कारण युद्धवीर मे साधारणीकरण की भरपूर सभावनाए सदा बनी रहेंगी। लोक-हृदय साहित्य से इस रस की माग सदा करता रहेगा, इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद के युद्धवीर के महत्त्व व प्रभाव की कल्पना की जा सकती है।

भयानक रस . "किसी डरावनी वस्तु को देखने, घोर अपराध करके दड की कल्पना, शक्तिशाली विरोधी से काम पडने आदि से मन की व्याकुलता के वर्णन में भयानक रस होता है।"[99] विश्वनाथ ने इस रस के आश्रयपात्र स्त्री तथा नीच पुरुष आदि माने हैं। रोमाच, कप, विवर्णता, स्वेद आदि इस रस के अनुभाव और जुगुप्सा, ग्लानि, शका, दीनता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।[100] प्रसाद ने भयानक रस का वर्णन भी अनेक स्थलों पर किया है। 'कामायनी' के प्रथम सर्ग में तथा प्रलय नामक कहानी (प्रतिध्वनि) में प्रलय-बाढ की भयावहता का बडा ही सजीव वर्णन किया है। प्रचड शंपाओं की कडक, प्रगाढाधकार, शून्यता, सारस्वत नगर में प्रजा-विद्रोह के परिणामस्वरूप

उपस्थित कोलाहल, 'स्कदगुप्त' में षड्यत्र वाली अधकारमयी रात्रि का सन्नाटे से भरा वातावरण, प्रपचबुद्धि द्वारा तारा को सतुष्ट करने के लिए श्मशान में अभिचारक्रिया व देवसेना के प्राण-हरण की कुचक्रणा, 'ध्रुवस्वामिनी' में धूम्रकेतु का प्रसग, 'चद्रगुप्त' में चाणक्य की कूट-चातुरी से रचित क्रियाजाल सब भयानक रस के अतर्गत लिये जा सकते है। अन्य स्थलों पर भी अट्टहास, विकृत शब्द, भूत-प्रेत-पिशाच, गृद्ध-उलूक, शून्य- निर्जन स्थान, खडहर आदि के उल्लेख व वध के दृश्यो का अभाव नही है।

प्रपचबुद्धि (स्कद), कालिन्दी (इरा), मगला (चित्रवाले पत्थर) के कार्य-व्यापार आदि बाते मन मे भय का सचार करने वाली है। इस रस के वर्णन से यह आश्वासन होता है कि प्रसाद सुखात्मक आनद के पक्ष के साथ दुःखात्मक भय की भावना से भी अपरिचित नही। यद्यपि इस रस का वर्णन परिमाण में कम ही हुआ है, पर भय की भावना के स्वरूप, शक्ति व प्रभाव को निरूपित करने में प्रसाद की रुचि व क्षमता है, इसमें सदेह नही।

वीभत्स रस वीभत्स रस जुगुप्सा (घृणा) रूप स्थायी भावात्मक होता है। इसमें अहृद्य, अप्रिय, अचोष्य, अपवित्र एव अनिष्ट वस्तुओ के देखने-सुनने व उनके शारीरिक प्रभव (अवयव सकोच, निष्ठीवन व उद्वेजन, विकूणन, अव्यक्त पादपतन) आदि का वर्णन होता है।[101] अमगलजनक तथा ग्लानि, कुत्सा व लज्जा के उत्पादक पदार्थों के वर्णन मे 'वीभत्स' रस होता है।

'कामायनी' में पशु-यज्ञ व रक्त के छीटो का (कर्म सर्ग), 'स्कदगुप्त' में चिरायध, श्मशान आदि का, 'आसू' में रक्त, छाले आदि का, 'चित्रवाले पत्थर' कहानी में मास-मदिरा का व 'विराम-चिह्न' कहानी में नेत्र-मल आदि का उल्लेख हुआ है, जिसे हम वीभत्स रस की हल्की-सी स्थिति कह सकते है। प्रसाद पर सूफी मत का प्रभाव यत्र-तत्र पाया जाता है, जिसके कारण उन्होने इस रस के छीटे कही-कही डाल दिये है। यो प्रसाद मगल, शालीनता व उल्लास-विकास के ही कवि है, परिस्थिति की प्रेरणा से या उक्त गुणो के लिए समुचित 'कट्रास्ट' देने के लिए ही कही-कही वीभत्स का स्पर्श आ गया है। आदर्शवादी भारतीय साहित्य मे प्राय ग्लानि, कुत्सा, लज्जा व अमगल का वर्णन उचित नही समझा जाता, प्रसाद नवीन यथार्थवाद की प्रेरणा से उसे पूरी तरह बचा नही सके हैं। शिवभक्त प्रसाद भयानक तथा वीभत्स रस की सृष्टि से अछूते कैसे रह सकते थे।

अद्‌भुत रस . अद्‌भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' है। भरत ने लिखा है—"स च दिव्यजनदर्शन—ईप्सितमनोरथावाप्ति—उपवन—देवकुलादिगमन—सभा—विमान—मायेन्द्र जाल—सम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।"[102] इस प्रकार इस रस के अतर्गत उन सब वस्तु-व्यापारों का वर्णन होता है, जिनसे हमारी विस्मय की भावना जाग्रत होती है। असाधारण के प्रति विस्मित या विस्मय-विमुग्ध होने की क्षमता मानव-हृदय में सहज विद्यमान है। भव्य, दिव्य, उदात्त, विशाल, मायावी, शोभासपन्न, रूपवान्, सुषमावान्, पदार्थो में विस्मय उत्पन्न करने की शक्ति होती है। गुणचद्र-रामचद्र और नारायण आदि पडितो ने अद्‌भुत रस को ही सर्वोपरि रस कहा है, पर अद्‌भुत का तत्त्व तो प्रत्येक रस में चमत्कार बनकर विद्यमान रहता ही है, अत अद्‌भुत रस को ही सर्वोपरि रस कहना बहुत चिंत्य है। प्रसाद-साहित्य मे अनेक अलौकिक दृश्यो का विधान हुआ है (उदाहरणार्थ, 'जनमे' 1/1, 'कामायनी', रहस्य सर्ग का अत)। भव्य सभा-मडपों, राजप्रासादों व आश्चर्यजनक वस्तु-व्यापारो का अनेक नाटकों मे,

'इरावती' उपन्यास मे, 'पुरस्कार', 'सालवती', 'चित्तौड-उद्धार', 'प्रलय' आदि कहानियों में वर्णन हुआ है। गौरववान् हिमालय का व समुद्र का वर्णन 'कामायनी', 'देवरथ', 'अनबोला', 'आकाशदीप' आदि कहानियो में हुआ है। इसी प्रकार असाधारण रूप-सौदर्य, अद्‌भुत वीरता, अतिप्राकृतिक व अलौकिक वीरकर्मों के अनेक दृश्य व चित्र प्रसाद ने अपनी अनेक रचनाओ में प्रस्तुत किये है।

सौंदर्य के अनुभव मे जिसे भव्य या उदात्त (Sublime) तथा विराट् की अनुभूति में जिसे रहस्य कहते हैं, उनसे सबधित भावनाए रस-चक्र में अद्‌भुत रस से सबधित ठहरायी जा सकती हैं। वस्तुत सुदर, भव्य व रहस्यमय—ये सब सत्ताए परस्पर घनिष्ठ रूप से सबद्ध हैं। इन तीनों का प्रस्थान-बिंदु विषय-बोध ही है। यद्यपि रहस्य की मूल 'जिज्ञासा' बौद्धिक ही अधिक है और दर्शन-क्षेत्र की वस्तु है, पर भाव-मार्ग से लायी जाकर काव्योपयोगी भी बन जाती है। तात्पर्य यह कि इन भावनाओं का स्थान रस के क्षेत्र में अद्‌भुत रस के अतर्गत समझा जा सकता है।

'कामायनी' के प्रथम सर्ग में स्वर्ग के वैभव-विलास का जो वर्णन हुआ है, वह अलभ्यता व वैचित्र्य के कारण विस्मय का उत्पादक है।

शात रस नाटक मे शात रस की स्थिति को लेकर बडा सैद्धातिक मतभेद रहा है। पर उसमे न पडकर यहा इतना कहना पर्याप्त होगा कि शात रस भी जीवन का एक गभीर रस है। नाटकों में भले ही यह अभिनेय न हो, (विद्वानो द्वारा शात रस भी अभिनेय माना जाता है) पर साहित्य की अन्य विधाओं में उसकी सत्ता स्वीकार्य है। आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद-स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपिनवमोरस'[103] कहकर रस का महत्त्व स्वीकार किया है। आरभ में भरत ने इसका लक्षण दिया है—'अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तक। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्धयादिभिर्विभावै समुत्पद्यते।'[104] अभिनव भारती मे अभिनवगुप्त ने शात को रस-रूप मे प्रतिष्ठित किया है।[105] मम्मट ने शात रस का स्थायीभाव 'निर्वेद' कहा, किंतु आगे 'शम' का अधिक व्यवहार रहा।[106]

प्रसाद के साहित्य मे शात रस का वर्णन विशदतापूर्वक हुआ है। वास्तव में जहा सामान्य जीवनानुभवो की शृखला के बीच अस्थायी कारणों से क्षणिक या अल्पकालिक विरति, उपरति, वितृष्णा तथा चित्तवृत्तियों का क्षणिक स्थगन या शैथिल्य या संकोच मात्र हो, वहा शममूलक शात रस की स्थिति नही कही जा सकती। इसे तो हम केवल 'चिता' या 'निर्वेद' सचारी कहेंगे। यह रस वही स्पष्टतया निष्पन्न होता है, जहा ससार के भोगो को भोग चुकने पर या सहज उपजे तत्त्वज्ञान से अथवा वय के किसी भी सोपान पर किसी अत्यत मर्मातक आघातजन्य अनुभव से व्यक्ति राग-द्वेष से सर्वथा विमुक्त हो (हो सकता है या नही, यह मनोविज्ञान जाने!) निर्विकार मन से सर्वत्र शाति व सुख का अनुभव करने लगता है। शांत रस की चरम अनुभवावस्था में व्यक्ति नील-निरभ्र गगन-सा परम निर्वंद्व-निर्विकार होकर शांति-माधुरी का आकठ पान करके अपनी आत्मा में ही किलोलें करता रहता है—'तत्रो हस प्रचोदयात्।' स्पष्ट है कि यह स्थिति लौकिक पदार्थों के प्रति राग या आकर्षण का तनिक भी बीज मन में रहते हुए उत्पन्न नही समझी जा सकती।

प्रसाद-साहित्य में कुछ पात्रों के माध्यम से इस रस का प्रकाशन हुआ है। कृष्ण द्वैपायन (जनमे.), मिहिरदेव (ध्रुव), गोस्वामी कृष्णशरण (क.), दाण्ड्यायन (चद्र.), चाणक्य (चद्र.), मल्लिका,

गौतम, बिबसार (अजात), मनु आदि पात्रों मे शात रस का सुदर परिपाक हुआ है। देवसेना, यमुना, स्कद, प्रेम-पथिक के नायक-नायिका नूरी, चूडीवाली, घटी आदि पात्रो को बाहर से हम भले ही शात कह ले, किंतु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर वस्तुत वे अतृप्त कामनाओं के कडवे रस को पचाने का बलात् प्रयत्न करते हुए, वर्षा के बीच निकली धूप-से आर्द्र-करुण ही दिखायी पडते है, पूर्णतया शात नही। 'करुण विप्रलभ' को भी शात रस का पर्याय मानना अनुचित होगा।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शात रस की जितनी मानसिक भाव-विभूतिया है, उनका बहुत स्पष्ट प्रकाशन प्रसाद-साहित्य मे हुआ है। शात रसोचित वातावरण का निर्माण वनों, आश्रमों, कुजो व ज्ञानामृत के पिपासुओ की जीवन-चर्चा में मार्मिक रूप मे हो पाया है। शात रस का प्रस्फुटन वहा अधिक उत्तम रूप से हुआ है, जहा पात्र की शात स्थिति उसके पूर्वजीवन की उत्थान-पतनमयी प्रसग-शृंखला मे से प्राकृतिक क्रम से उत्पन्न हुई है तथा उसका साहित्य-निबद्ध निरूपण भी यौक्तिक क्रम से हुआ है (जैसे, 'चद्रगुप्त' मे चाणक्य के जीवन मे)।

प्रसाद शृगार रस के कवि है। मानव-जीवन मे शृगार की चरम परिणति (भोगोपरात) शात में ही होती आयी है। अत प्रसाद के साहित्य में शात रस का भी अत्यत महत्त्व है। प्रसाद ने अपने साहित्य मे व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के धरातल पर जो बाह्य व अतर्सघर्ष दिखाया है, वह शात के लिए अत्यत उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत करता है। प्रसाद मूलत- दार्शनिक प्रकृति के साहित्यकार हैं जो जगत् को बाहर से ही न देखकर उसकी भीतरी सीवनों को भी उधेडकर देखने वाले हैं। ऐसा साहित्यकार शात रस के प्रति आकृष्ट हुए बिना नही रहेगा।

प्रसाद के अनेक पात्र अपनी जीवन-सध्या के तट पर बैठे व्यतीत जीवन-पथ का सर्वेक्षण करते हैं और वे दार्शनिक जगत् की क्षणभगुरता व मिथ्यात्व में ही वास्तविकता का दर्शन करते हैं। जहा-जहा भी ऐसी स्थितिया या दृश्य हैं, वही इस रस का हल्का-गाढा रूप प्रकट हुआ है। डॉ नगेन्द्र ने 'कामायनी' का मूल रस 'शात रस' माना है। यह शात रस शास्त्रीय रस-चक्र में निर्धारित रस का एक भेदमात्र न होकर दार्शनिक आनद रस का साहित्यिक सस्करण है जो आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा पोषित-सवर्द्धित शैवागमीय रस-भावना के मेल मे होकर अत्यत व्यापक है, वह शृगार रस तथा रौद्र, वीभत्स आदि को भी अपने में समेटे हुए है। अभिनव ने शात रस की प्रतिष्ठा सर्वोपरि रस के रूप में की है।[107]

डॉ गणपतिचद्र गुप्त ने भी प्रसाद-साहित्य का मूल भाव 'शात' ही माना है।[108]

वत्सल रस साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वात्सल्य स्नेह स्थायी भावमूलक वत्सल रस को साहित्यिक रस के रूप में निरूपित किया है,[109] किंतु अभिनवगुप्त उसे स्वतंत्र रस न मानकर केवल भावमात्र मानते हैं और उसका अतर्भाव 'रति' में ही करते है—'आर्द्रतास्थायिक स्नेहोरस इति त्वसत्। स्नेहोह्यभिषग', स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति।'[110]

प्रसाद जी ने अपने नाटकों,[111] काव्यों,[112] उपन्यासों[113] और कहानियों[114] में अनेक स्थानों पर इस रस का निरूपण किया है। कौटुबिक स्नेह के वातावरण को प्राय वात्सल्य के ही द्वारा सजीव बनाया गया है। मातृ-हृदय के विद्रोह की गोद मे वात्सल्य फूला-फला है।

पशु के प्रति भी वात्सल्य या सहज जीव-दया व्यक्त हुई है—जैसे विजय का भूरे (कुत्ता) के प्रति स्नेह (ककाल)।

वास्तव में वत्सल रस प्रसाद का अपना क्षेत्र नही।

भक्ति भक्ति रस के सबध में आचार्यों के विभिन्न विचार है। कुछ इसे साहित्यिक रस मानते है,[115] और कुछ धार्मिक या साप्रदायिक।[116] भरत, मम्मट व अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इसे स्वतत्र रस नही माना। अभिनवगुप्त ने शृगार के स्थायी भाव 'रति' मे ही उसका अतर्भाव करके उसे वात्सल्य की ही तरह भावमात्र माना है—'स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। एव भक्तावपि वाच्यमिति।' रूपगोस्वामी जैसे भक्ति के आचार्यों ने ही भक्ति को एक स्वतत्र रस के रूप में विवेचित किया है।

प्रसाद ने अपने साहित्य में भक्तिभावना का वर्णन अनेक आरभिक गीतो व कविताओं में किया है। पर सिद्धात रूप से वे 'सौदर्य-लहरी' वाली भक्ति के ही समर्थक है जो अद्वैत के धरातल पर होती है। प्रसाद ने इस भक्ति को उच्च व अविद्या का नाश करने वाली बताया है।[117] द्वैतभक्ति उनकी दृष्टि मे सर्वोच्च कोटि की भक्ति नही। प्रसाद की आरभिक रचनाओं मे अनेक पात्र द्वैतभक्ति से प्रभावित दिखाये गये हैं। पर उत्तरकालीन रचनाओ मे ऐसा नही दिखायी पडता।

प्रसाद के समय तक भक्ति के सबध मे मान्यताए बदल चुकी थी। भक्ति अब बाहरी विधि-विधान की वस्तु न रहकर एक मानसकि स्थिति हो चुकी थी। अत प्राचीन भक्ति कवियों जैसी रचनाए (कुछ आरभिक रचनाओं को छोडकर) प्रसाद में ढूढना व्यर्थ है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भक्तिभावना के साथ जितने प्रकार की भावनाए या सचारीभाव सबद्ध हैं, उनकी अभिव्यक्ति प्रसाद-साहित्य में अनेक स्थलों पर दिखायी पडेगी। कहानियों में प्रसाद, प्रतिभा, जहाआरा, देवदासी, चूडीवाली, विराम-चिह्न आदि कहानियो के प्रमुख पात्र तथा उपन्यासों में लतिका (ककाल) जैसे पात्र भक्ति से प्रभावित बताये गये है। 'कानन-कुसुम' में 'निराले में' बैठकर ही जाने वाली भक्ति के प्रति अश्रद्धा व्यक्त की गयी है। प्रसाद की आरभिक रचनाओं ('चित्राधार' और 'कानन-कुसुम') में भक्ति कुछ स्फुट हुई है। सब-कुछ मिलाकर यही कहा जा सकता है कि द्वैत धरातल की भक्ति न तो प्रसाद का क्षेत्र है और न सूर-तुलसी के भक्तिपथ का प्रसाद ने अनुकरण ही किया है।

विशिष्ट भावनाए

राष्ट्रीय भावना प्रसाद की विवेक-बुद्धि अतर्राष्ट्रीयता का यथास्थान पूरा-पूरा महत्त्व स्वीकार करते हुए भी राष्ट्रीयता की भावना को अपनी चितन-प्रणाली मे गौरवपूर्ण स्थान देती है। उनकी मान्यता है कि भौगोलिक परिस्थितियों से प्रत्येक देश का एक निजी रुचि-भेद होता है जो मानव-जाति के सामान्य मूल्यों (प्रसाद ने ज्ञान और सौदर्य-बोध को लेकर व्याख्या की है) को अपने ढग से ग्रहण करता है, और इसी में उसका व्यक्तित्व बनता है और निखरता है। इस रुचि-भेद को प्रसाद किसी देश के सास्कृतिक व साहित्यिक निर्माण में सर्वोपरि महत्त्व देते हैं।[118] एक सटीक रूपकात्मक उदाहरण द्वारा वे अपना विचार स्पष्ट भी करते हैं—'खगोलवर्ती ज्योति-केंद्रों की तरह आलोक के लिए इनका (ज्ञान और सौदर्य-बोध के केंद्रो का) परस्पर सबध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौंदर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।'[119] जो सत्ता एक ही मूल रग को भिन्न ढग से (अपनी निजी प्रकृति के कारण) ग्रहण करती है, वह कम महत्त्व की नही। प्रसाद का यह उदाहरण उनकी राष्ट्रीयता की भावना को अत्यत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करता है और उनके साहित्य में राष्ट्रीयता

के महत्त्व और स्वरूप को आकलित करने की प्रेरणा देता है।

राष्ट्र-प्रेम या जन्मभूमि का प्रेम मानव-मात्र में गहरायी से बद्धमूल है। यह प्रेम अपनी भूमि, पहाड, नदी-नाले, आकाश-पवन, परिजन-पुरजन, देशवासी, अपने जातीय अतीत व प्राचीन पुरुष तथा सभ्यता-सस्कृति के प्रेम से उत्पन्न होता है। विदेशियों द्वारा पादाक्रात होकर अपने देश को पुन मुक्त करने के प्रयत्नो के बीच यह प्रेम अपनी उज्ज्वल आभा छिटकाता है। प्राचीन काल से ही भारत मे देशप्रेम की भावना रही है। राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा के परिवर्तन या विकास के अनुरूप ही यह प्रेम-भावना परिवर्तित होती रही है। प्रताप के युग मे मेवाड एक देश या राष्ट्र था, किंतु प्रसाद के युग मे हिमालय से कन्याकुमारी और पेशावर से बगाल तक का प्रदेश (जिसमे हिदू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी जातिया रहती थीं) एक राष्ट्र हुआ। उस समय भारत ब्रिटिश दासता की लौह-शृखला मे जकडा हुआ था। प्रसाद ने अपने साहित्य के माध्यम से उदात्त राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति की और देश को मुक्त कराने में अपने ढग से योगदान किया।

राष्ट्रप्रेम या देशप्रेम से लेकर विश्वप्रेम तक के प्रसार के अनेक सोपान है। सच्चे भावुक एक ही साथ राष्ट्रप्रेम और विश्वप्रेम का सुदर रीति से निर्वाह करते है, विश्वप्रेम उन्हे इस सीमा तक अलिप्त नही बना देता कि वे देश के प्रति अपने दायित्वो को ही भूल जाये और राष्ट्रप्रेम उन्हें इतना अधा नही बना देता है कि अपनी सीमा के बाहर का व्यक्ति उन्हे शत्रु दिखायी दे। राष्ट्रीयता स्वस्थ व मर्यादित होकर मानवता की साधक, और विकृत होकर जातीयता, प्रातीयता, वर्गीयता की सकीर्ण व अधकारमयी भूलभुलैया होकर रह जाती है। सच्चा राष्ट्रीय हुए बिना कोई सच्चा अतर्राष्ट्रीय कैसे होगा? 'राष्ट्रीयता' ही हमारी पहली पहचान है। विश्व की विभिन्न जातियों के बीच अपनी स्पष्ट पहचान कराने के लिए हमें अपनी कोई भाषा, सस्कृति व आचार-विचार-प्रणाली को धारण करना आवश्यक हो जाता है। प्रसाद जैसे देश और सस्कृति के अभिमानी व महान् परपराओ के मानस उत्तराधिकारी भारतीय कवि के लिए तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि वे अपनी रचनाओं में मानव हृदय की इस बहुमूल्य भावना—राष्ट्रीय भावना—की भी अभिव्यक्ति करें।

प्रसाद ने 'स्कदगुप्त',[120] 'चद्रगुप्त',[121] 'जनमेजय का नागयज्ञ',[122] 'राज्यश्री',[123] 'ककाल',[124] 'तितली',[125] 'लहर',[126] 'कानन-कुसुम',[127] 'महाराणा का महत्त्व',[128] 'चित्राधार'[129] आदि रचनाओं मे तथा अनेक कहानियो मे[130] राष्ट्रीय भावना की सफल अभिव्यक्ति की है। यह भावना इतिहास या कल्पना की भूमि पर प्रतिष्ठित कुछ सशक्त व प्रभावशाली पात्रों के माध्यम से हुई है।

साहित्य के रस-चक्र में राष्ट्रीय भावना का स्थान भी निर्धारित करके देखना उत्तम होगा। शृगार रस के स्थायी भाव 'रति' के विविध प्रकारो मे से 'देश-विषयक रति' का भी स्थान है। अत राष्ट्रीय भावना शृगार रस के व्यापक स्वरूप से सबधित ठहरायी जा सकती है। साथ ही देश-प्रेम का प्रेरक भाव या लक्षण—'उमग', वीर रस के स्थायी भाव 'उत्साही' का ही अग है।[131] वीर रस के तीन भेदों (युद्धवीर, दानवीर, दयावीर) में से 'युद्धवीर' नामक भेद के साथ राष्ट्रीय भावना को सरलता से जोडा जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना का क्षेत्र बहुत विस्तृत ठहरता है। एक ओर तो वह देश के प्राकृतिक सौदर्य और उससे संबद्ध होने से शृगार रस (व्यापक अर्थों में) में (प्रकृति-विषयक रति के कारण) सहज ही समाविष्ट किया

जा सकता है, और दूसरी ओर यह युद्ध भावना से सबध रखने के कारण (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राष्ट्रीय भावना की प्रभा विदेशियों द्वारा पादाक्रात देश की रक्षा व मुक्ति के प्रयत्न के लिए सुसगठित होकर विदेशी आक्रमणकारियो से लोहा लेने व उन्हे खदेडने में मुख्य रूप से फूटती है।) वीर रस की सीमाओ में भी आ जाती है। प्रसाद की राष्ट्रीय भावना इन दोनों सीमाओ के बीच तरगित होती दिखायी पडती है। यह भावना अपने चरम उत्कर्ष में जब इन दोनों में से जिस ओर भी विशेष रूप से झुकती दिखायी पडे, तब उसकी विशेष प्रकृति को ध्यान में रखकर रस का निर्णय किया जा सकता है।

प्रसाद-साहित्य में राष्ट्रीय भावना अनेक रूपों मे प्रकट हुई है—(1) देश की दुर्दशा—आतरिक फूट, प्रातीयता, धार्मिक-साप्रदायिक सघर्ष, देशद्रोहियो का आक्रमणकारियों से गठबधन, केंद्रीय शासन-सूत्रों की शिथिलता व अराजकता आदि के मनोयोगपूर्ण या उच्छ्वसित चित्रण मे, (2) जातीय गौरव की भावना से सपन्न कष्ट-सहिष्णु बलिदानियो द्वारा राष्ट्रीय सगठन, साधन-सग्रह, शत्रु के विरुद्ध सगठित अभियान, आततायियों की पराजय, धर्म व न्याय के आधार पर पुन दृढ शासन की स्थापना के निरूपण में, (3) देश के प्राकृतिक सौदर्य व सास्कृतिक गौरव के प्रति स्वदेश-विदेश के पर्यटकों व भावकों द्वारा प्रशसा, स्नेह व श्रद्धा की अभिव्यक्ति में। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत दो कृतिया विशिष्ट है—'स्कदगुप्त' व 'चद्रगुप्त'। इतिहास की व्यापक पीठिका पर रचित इन दो कृतियो में, प्रकारातर से, प्राय उन सभी परिस्थितियो का साकेतिक निरूपण हुआ है, जिनके कारण भारत पराधीनता के पाश में जकडा हुआ था।

जन्मातर भावना प्रसाद-साहित्य मे एक बहुमूल्य भावना हमे और मिलती है, और वह है जन्मातर भावना। अनेक स्थलो पर इस तत्त्व के समावेश से यह ध्वनित होता है कि प्रसाद बहुजन्मवाद या जन्मातर भावना मे विश्वास करते है। काव्य, नाटक, उपन्यास-कहानी, सर्वत्र यह तत्त्व दिखायी पड रहा है। अनेक पात्र इस तत्त्व से प्रेरित-परिचालित है। जन्मातर की भावना एक विशिष्ट हिंदू विश्वास है। आत्मा की अमरता और जीवन की अखडता की भावना भारतीय दर्शन के मूल में ही विद्यमान है। हिंदू या भारतीय हृदय में यह विश्वास प्राचीन काल से ही बद्धमूल है। अत रहस्यवादी प्रसाद के लिए यह भावना सहज-स्वीकार्य हो गयी है, क्योंकि रहस्यवादी की दृष्टि जन्म से मृत्यु तक के दो छोरों के बीच के दृश्यमान, स्थूल, पार्थिव जगत् व जीवन की मर्यादा मे ही न बधी रहकर अपने उत्कर्ष में उसका अतिक्रमण भी कर जाती है और वस्तुत इस अतिक्रमण मे निहित कवि की क्रातदर्शिता ही रहस्यवादी की भावना को एकज्वाला या ज्योति प्रदान करती है। इस प्रकार यह भावना रहस्यवादियों की एक विशिष्ट निधि समझा जा सकती है। वड्र्सवर्थ व ब्राउनिग जैसे अग्रेज कवियों में भी यह आश्चर्यजनक रूप से विद्यमान है यह आस्तिक भावना सौदर्य, प्रकृति, प्रणय, वात्सल्य आदि के वर्णन के प्रसग में प्रसाद-साहित्य में यत्र-तत्र कौंध जाती है। प्रणय-क्षेत्र के विरह-मिलन में, आदर्श प्रेम या प्रेमोत्कर्ष में, आत्मा के सत्त्वोद्रेक में, महामिलन की विराट् भावना में, आत्म-दान, निशेष विसर्जन व चरम लय के अनुभूति-क्षणों में, इस भावना के सहसा जग जाने पर प्रसग दहक उठता है या एक विलक्षण स्वर्णाभा से फूल उठता है। 'परिचित-से जाने कब के', 'असख्य जीवनों की भूलभुलैया', 'उस जन्म के पिता', 'मेरे उस जन्म के प्राप्य', 'दोनों लोकों की निगूढतम आकाक्षा', 'अक्षयलोक' आदि पदावली इस भावना के स्वरूप का कुछ अनुमान करा सकती है।

कविता,[132] नाटक,[133] उपन्यास[134] व कहानियो[135] में वह इस मात्रा में प्राप्त होता है कि जन्मातर भावना में प्रसाद की निष्ठा अडिग-सी जान पडने लगती है।

सूफी भावना प्रसाद पर सूफी भावना का प्रभाव भी यत्र-तत्र देखा जा सकता है। सूफी साधक सौदर्य के माध्यम से अपने परम प्रिय की आराधना करते है। वे 'प्रेम की पीर' से प्रज्वलित रहकर सारी चराचर प्रकृति को जलता हुआ अनुभव करते है और कण-कण से एक अविनाशी सौदर्य की प्रतिच्छाया देखते है। वे अपनी प्रेममयी पीडा,[136] मदिरा,[137] प्याली,[138] मधुशाला,[139] मधुबाला,[140] विस्मृति,[141] प्यालों मे ढलना,[142] मादकता या नशा,[143] मद की लाली[144] आदि प्रतीकों की सहायता से अनेक स्थलो पर व्यक्त करते हैं। प्रसाद-साहित्य मे यह सौदर्य, रस या मधु का तत्त्व कही-कही इस सीमा तक बढ गया है कि आचार्य शुक्ल उसके आधिक्य को 'मधुचर्या' शब्द द्वारा अभिहित करते है।[145]

समीक्षात्मक निष्कर्ष . भाव व रस-निरूपण के क्षेत्र मे प्रसाद का प्रदेय

आज के यथार्थ जीवन व उसकी सकुल परिस्थितियों के बीच यह शका उठायी जाती है और उठायी भी जा सकती है कि काव्य की आत्मा रस ही क्यों ? प्राचीनों ने कहा था—क्यो नही अलकार, रीति, गुण वक्रोक्ति, औचित्य ही, और नवीनो में कहा जा सकता है—क्यो नही बौद्धिक व्यग्य, क्षण का आनद व मनोरजन, कल्पना, सौदर्य, शिल्प, प्रतीक, मूल्य या इसी प्रकार का अन्य कुछ। इस शका मे जो कुछ व्याख्या गर्भित है उसे सामने रखना स्थानाभाव के कारण अप्रासगिक ही होगा। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जीवन के आज अति सकुल, अशात व निरानद हो जाने से हम जीवन-आनद या रस की सत्ता का ही समूल निषेध कर बैठे, यह मानव-भाग्य (Destiny) के स्वरूप व मानव जीवन की चरम उच्चाशयता की दृष्टि से सभवत बहुत स्वस्थ चितन न समझा जाये। हम किसी रूप मे जीवन मे आनद का अनुभव करते ही हैं—स्थिर-अस्थिर रूप मे, न्यून या अधिक रूप में। यह तथ्य हमे इस बात का अनुमान तो करा ही सकता है कि आनदमय या रसमय जीवन की कोई सत्ता है, रही है, या आगे भी हो सकती है। कम-से-कम उपलब्ध प्रमाणो के अनुसार भारतीय आकाश के नीचे यह अनुभूति हुई है और साधना, चितन और व्यवहार में आनद ही जीवन का सर्वोपरि मूल्य सदा नही तो किन्ही विशेष युगो मे अवश्य समझा गया है। हो सकता है, अति विषम भौगोलिक परिस्थितियों वाले अन्य देशो मे जीवन के मूल्य अन्य रूपों में आविष्कृत हुए हों (और प्रसाद यह मानते हैं—'काव्य और कला तथा अन्य निबध), पर ऋतुओं के स्वस्थ व नियमित नृत्य वाली हरिताचला भारत-भूमि पर तो हमने आनद के रूप में जीवन का सत्य अनुभव, प्रयोग व परीक्षण के द्वारा यही पाया है—'रसो वै स । तमसो मा ज्योतिर्गमय।' इसलिए यहा के जीवन के लिए यही चरम मूल्य सत्य है, और स्वभावत साहित्य मे भी वही प्रतिष्ठित हुआ है। शताब्दियों की भावना व चिंतन का सायास अवमूल्यन करने मे ही हमारे चिंतन की मौलिकता समझी जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा वृक्ष के प्राकृतिक विकास के क्रम की तरह भारतीय जीवन-परपरा के विकास का प्राकृतिक सत्य भी हमें प्रिय हो तो भारतीय आकाश के नीचे के पवन, छाया और धूप में जो कुछ सोचा गया है, वही इस भूमि के लिए स्वास्थ्यकर भाव-पथ्य है। निश्चित ही हम विश्व की भाव-विचार सरणियों को

आत्मसात् करके अपने भाव व चिंतन को पुष्ट, समृद्ध व समुन्नत बनाये, पर प्रयोगाधीन विज्ञान व अतिबौद्धिकता के आग्रह से जीवन के आनद और रस की एक परिपूर्ण व समृद्ध कल्पना से वचित होकर हम नि सत्त्व ही रह जायेंगे। हमारी दृष्टि में प्रसाद के साहित्य का यही मूल स्वर है।

'आज जीवन आनद-रहित है, अत रस की कोई सत्ता नहीं'—बात इस रूप में सोचने की अपेक्षा इस रूप मे भी सभवत सोची जा सकती है कि 'जीवन का महान् रस व आनद पृथ्वी से लुप्त हो गया है, अत कृत-सकल्प हो उसे मानव के लिए एक बार फिर से उत्पन्न करना होगा।' प्रसाद दूसरे ढग से सोचने वाले साहित्यकार हैं। रस का उनका उत्कट आग्रह है और उनका समस्त अस्तित्व रस की सृष्टि के लिए समर्पित है। वे मानो मानते हैं कि यदि साहित्य के द्वारा मानव के लिए रस की सृष्टि नही हुई तो उन्नततम विचार, आकर्षकतम शैली और कोमलतम कल्पना के बावजूद सब-कुछ सूखी रेत के समान है। प्रसाद के साहित्य-सर्जन के मूल मे यह दृष्टि आदि से अत तक साफ-साफ देखी जा सकती है।

प्रसाद का चितन अपनी ही भूमि व सस्कृति की मिट्टी में से प्राकृतिक ढग से विकसित हुआ है। वे आत्मा और उसके आनद मे पूर्ण व सहज विश्वास रखते है। वे अपने चरम मूल्य में बद्धमूल होकर ही साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुए है।

प्रसाद की साहित्य-सृष्टि मूलत रसात्मक है, अन्य तत्त्व उसमे यथास्थान रुचि व सस्कार के अनुरूप सयोजित हुए हैं। इस मूल रस-दृष्टि और उसकी सास्कृतिक गहरायी का मर्म ग्रहण किये बिना प्रसाद का यथार्थ मूल्याकन नही हो सकेगा। फिर जीवन में विरसता है और यदि कला उसे सरस बनाने का आश्वासन देती है तो क्या यह अपने आप मे एक महान् उपलब्धि नही। प्रसाद हमे रस का दान करते हैं (तुमुल कोलाहल कलह में मै हृदय की बात रे मन) तो क्यों न उसे कृतज्ञतापूर्वक लिया जाय। याद रहे कि प्रसाद अफीम का नशा नही दे रहे हैं जैसा कि साहित्य या कला पर प्राय आरोप रहता आया है। प्रसाद हमें चैतन्य का रस देते हैं। क्या 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' और 'हिमाद्रि तुग शृग से' कवि कोरी नीद और नशे का कवि हो सकता है ?

साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम से देखने पर जान पडता है कि प्रसाद ने अपने स्वानुभूतिमयी प्रतिभा से भाव-चित्रण व रस-व्यजना के क्षेत्र मे एक नवयुग का द्वार खोला। सभवत भक्तिकाल के बाद हमें इतने उदात्त भावों व गभीर रसों का दर्शन नही हुआ;—रीतियुग मे अवश्य अलकृत सगीत से परिपूर्ण शुद्ध काव्य की भूमि पर हमने अमिश्रित काव्यानद का अनुभव किया, पर उसमें कदाचित् वह प्रभाव नही था जो हमें अस्तित्व की सूक्ष्म और पावन ऊचाइयो पर उठा ले जाता है। भारतेन्दु व द्विवेदी-युगों मे हम अवश्य नये भाव-स्वरों से परिचित हुए, पर वे स्वर अभी आरभिक ही थे। प्रसाद ने एक गभीर रस-चेता के रूप में ऐसे पावनकारी भावों व तृप्तिकर रसों की सृष्टि की, जिन्हे हिदी पाठक प्राय भूल चुका था। इस प्रकार अन्य क्षेत्रों की तरह रस-चितन के क्षेत्र में भी प्रसाद की मौलिक देन है। शृगार, शात व वीर रस के निरूपण मे प्रसाद अत्यधिक सफल रहे हैं। भाव-चित्रकार के रूप मे प्रसाद की देन अनूठी है। प्रसाद के निरूपित भावों का आस्वाद लेकर हिंदी पाठक नवीन रसाभ्यासो मे दीक्षित हुआ है और उसकी काव्य-रुचिया अधिक सम्मार्जित व सूक्ष्म हुई हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक व तात्त्विक दृष्टि से विवेच्य क्षेत्र में प्रसाद की देन अविस्मरणीय है।

संदर्भ

1 तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7/1 3/6/5
2 चिन्तामणि, भाग 1, 'कविता क्या है ?' नामक निबध।
3 डॉ नगेन्द्र हिंदी ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ 69 -70
4 वि देखिए—प्रो देवेन्द्रनाथ शर्मा भामह-विरचित काव्यालकार पर हिन्दी भाष्य, भूमिका, पृ 47
5 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 71
6 वही, पृ 69। डॉ नगेन्द्र ने भी 'रस' को ध्वनि से महत्तर बताया है—देखिए, ध्वन्यालोक (हिंदी अनुवाद) की भूमिका, पृ 69-70
7 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 71
8 वही, पृ 76
9 वही, पृ 72
10 वही, पृ 82
11 वही, पृ 76
12 Learn to look intelligently into the hearts of men Regard most earnestly your own heart Regard the constantly changing and moving life which surrounds you, for it is formed by the heart of men and as you learn to understand their constitution and meaning, you will by degrees be able to read the larger word of life —Light on the Path quoted from The Science of Emotions', by Dr Bhagwan Das
13 उद्बुद्ध कारणै स्वै स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन्।
लोके य कार्यरूप सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो ॥ —विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 1/132-133
14 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 68
15 ' तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति।" —मम्मट काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।
16 साहित्यदर्पण, 3/140
17 कामायनी मे चिंता सर्ग, निर्वेद सर्ग।
18 लहर मे 'अशोक की चिंता'।
19 स्कदगुप्त।
20 लहर, पृ 44 72 आसू, पृ 9, 35 प्रेम, पृ 7 16 ककाल, पृ 115, 179 194 तितली, पृ 262
21 आसू, पृ 38 41 45 लहर, पृ 44 ककाल, पृ 286, स्कदगुप्त, पृ 89 ममता, पुरस्कार, नूरी व देवरथ कहानिया।
22 चित्रा 174, झरना, पृ 25 आसू, पृ 36, 38, ककाल, पृ 195 आकाश, पृ 101
23 तितली, पृ 115, झरना, पृ 72, 74
24 चित्रा, पृ 84, स्कदगुप्त, पृ 128, आसू, पृ 27, 70, चद्रगुप्त, पृ 216, आकाशदीप, पृ 101
25 स्कदगुप्त, पृ 128, लहर मे 'अशोक की चिंता', ककाल, पृ 259 294, इरावती, पृ 79
26 अजातशत्रु, पृ 41, 78 जनमे, 29 31 स्कदगुप्त, पृ 38, चद्रगुप्त, पृ 142, 160, लहर, पृ 68, 69 ककाल, पृ 81 109, तितली, पृ 268
27 'चूड़ीवाली' कहानी, जनमे, पृ 108 लहर, पृ 75, ककाल, पृ 134, 251, 266
28 अजात, पृ 71, 85, कामा, पृ 16, 17 ककाल, पृ 172
29 कामायनी, चिंता सर्ग, चित्रा, पृ 135
30 तितली, पृ 226, ककाल, पृ 35
31 'सदेह' कहानी।
32 ककाल, पृ 276
33 तितली, पृ 184

34 ककाल, पृ 91
35 राज्यश्री, पृ 5
36 आसू, पृ 26, 30, 45
37 वही, पृ 52
38 ककाल, पृ 64
39 वही, पृ 28, 43
40 लहर, पृ 42, आसू, पृ 26, 30
41 वही, पृ 75, कानन, पृ 109
42 अजात, पृ 144
43 लहर, पृ 64
44 'देवरथ' कहानी, अजात, पृ 52 90, जनमे, पृ 109 111, स्कद, पृ 64, 66, चद्र, 144
45 निर्वेद सर्ग, आनद सर्ग।
46 पृ 9, 54, 61, 71, 75
47 पृ 42, लहर, पृ 41
48 मल्लिका का चरित्र।
49 पृ 140, 141, 154
50 पृ 217
51 'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय'—साहित्यदर्पण, 3/2
52 डॉ नगेन्द्र काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ 55 तथा भूमिका, पृ 10
53 वि देखिए—लेखक का शोधग्रथ 'आधुनिक कविता में प्रेम और सौंदर्य' की भूमिका तथा प्रथम प्रकरण।
54 छान्दोग्योपनिषद् 1/6, बृहदारण्यक उप 1/2/4
55 भरत/नाट्यशास्त्र, अध्याय 6
56 ब्रजरत्नदास हिंदी नाट्य साहित्य (तृ स), पृ 182
57 चद्रगुप्त, पृ 110, 111, 112, 170।
58 स्कदगुप्त, पृ 15, 16 33 39 40, 61, 63 99 100 132 133
59 राज्यश्री, पृ 32, 33
60 जनमे, पृ 21, 37, 38, 49, 61, 66, 68
61 कामायनी, पृ 104
62 एक घूट, पृ 29, 30 31, 32 33
63 अजातशत्रु, पृ 49 50, 80, 81 103, 104 134 135
64 तितली, पृ 13, 23, 24, 50, 87, 154, 155, 163, 177, 182, 214, 272 278
65 इरावती, पृ 29, 70 74
66 ककाल, पृ 30, 31, 40, 41, 42, 196
67 चित्राधार, पृ 92 95, 97, 105, 119, 120
68 विशाख, पृ 17, 19, 21, 22, 25 27, 34 46, 47 48 49 50, 52, 58 62, 78, 80 81
69 ध्रुवस्वामिनी, पृ 9, 13, 16, 19 20 22, 24, 25, 32, 65 80, 84
70 कहानिया—आधी (पृ 8, 28), गुडा व ग्राम।
71 उत्तर-रामचरित, 3/47
72 कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चतुर्थ अक।
73 धनजय दशरूपक, 4/82, विश्वनाथ साहित्यदर्पण, 3/323-25
74 नाट्यशास्त्र, अध्याय 6
75 साहित्यदर्पण, 3/222-225, तथा दशरूपक, 4/82
76 प्रेम।
77 करुणा।
78 लहर प्रलय की छाया।
79 अजात।

80 चद्र ।
81 स्कद ।
82 चद्र ।
83 तितली—लदन का जीवन ।
84 ककाल ।
85 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 138
86 प्रतिध्वनि, पृ 36
87 वि देखिए—आचार्य रामचद्र शुक्ल के 'उत्साह' और 'क्रोध' नामक निबध (चिन्तामणि, भाग 1 तथा डॉ सत्यदेव चौधरी, 'काव्यशास्त्रीय निबध' मे देखिए सख्या 12
88 स्कद, पृ 25, 37 48 79 101 114 127 136 137 142 144, 152
89 चद्र, पृ 80, 92 94 103 114, 120 152 158 192, 196
90 शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया, पृ 63
91 महाराणा का महत्त्व, पृ 5, 6, 10
92 कानन-कुसुम, पृ 90, 106, 108, 121
93 चित्राधार, पृ 13 38, 41, 42 53 65 85
94 इरावती, पृ 46, 57
95 मधुबन, तितली, विजय आदि पात्र व्यवहार-जगत के व जीवन-समर के जीवत व सतत जाग्रत वीर हैं ।
96 चित्तौड़-उद्धार (छा, 63), गुडा (इद्रा, पृ 96, 97, 106), (आधी, पृ 52, 57), आकाशदीप' आदि कहानियो मे ।
97 आचार्य वाजपेयी जी की सम्मति से स्कदगुप्त के चरित्र की तुलना में, चद्रगुप्त का वीरत्व 'वीरत्व और कोरा वीरत्व' है ('जयशकर प्रसाद', पृ 164) । हम भी इस धारणा का समर्थन करना चाहेगे और साथ ही यह भी जोड़ना चाहेगे कि 'चद्रगुप्त' मे चद्रगुप्त की वीरता का लेखक अपनी ओर से जितना कथन करता है उतना स्वय चद्रगुप्त के कार्य-व्यापारों से नही प्रकट होता । एकाध दृश्य अवश्य अपवाद-रूप हैं । उसकी तुलना में स्कद की वीरता जीवन की व्यक्तिगत परिस्थितियों मे से अधिक चमक उठी है । चद्रगुप्त के सामने जीवन की कोई खास व्यक्तिगत समस्या या वैषम्य भी नही है ।
98 सरदार पूर्णसिंह का लेख—'सच्ची वीरता' ।
99 रामबहोरी शुक्ल काव्य-प्रदीप, पृ 82-83
100 साहित्य-दर्पण, 3/235-238
101 नाट्यशास्त्र, अध्याय 6
102 वही ।
103 काव्यप्रकाश, अध्याय 4 सूत्र 47
104 नाट्यशास्त्र, अध्याय 6 । ऐसी भी मान्यता है कि यह भरत के नाट्यशास्त्र मे प्रक्षिप्त अश है ।
105 अभिनव भारती, अध्याय 6
106 'शम' और 'निर्वेद' में मम्मट ने स्पष्ट भेद नही किया । गुणचद्र रामचद्र ने 'शम' को स्थायी भाव और 'निर्वेद' को सचारी माना है ।
107 डॉ नगेन्द्र 'कामायनी के अध्ययन की समस्याए' में तद्विषयक लेख ।
108 डॉ गणपतिचद्र गुप्त 'प्रसाद-साहित्य का मूल भाव' (लेख), जनभारती (कलकत्ता), 'प्रसाद अक', भाग 1
109 साहित्यदर्पण, 3/251-253
110 अभिनव भारती, अध्याय 6 पृ 641
111 अजात पृ 27 117, 143 अनद देवी-विरुद्धक, स्कद, देवकी-बिंबसार का प्रेम अजात के लिए, चद्र, पृ 166, 218, जनमे मे माणवक-मणिमाला का स्नेह ।
112 द्रष्टव्य—करुणालय, कामायनी (श्रद्धा-मनुकुमार), चित्रा पृ 37, 40, 62, 63, 64, 70
113 ककाल, पृ 149, 150 151, 169, 232, 258, 261, 267, 269, 270, 271, 298, तितली, पृ 7, 42, 45, 70, 276, 277

114 सालवती, नीरा, करुणा की विजय, आधी, गूदड़ साई, हिमालय का पथिक, ममता, मधुआ, बेड़ी, भीख में, अनबोला, देवदासी, रमला आदि।
115 सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, काव्य कल्पद्रुम (रसमजरी), पृ 243-244
116 'सपूर्णानद अभिनदन ग्रथ' में प करुणापति त्रिपाठी का लेख।
117 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' में 'रस' नामक निबध।
118 वही, पृ 5, 6
119 वही, पृ 4
120 स्कदगुप्त, पृ 37, 52 70, 76, 78, 79, 80 92, 94, 95, 128 150
121 चद्रगुप्त, पृ 55 56 57 59, 60 80, 92, 94, 103, 114 120, 136 143, 152, 158, 192, 193, 194 196
122 जनमेजय का नागयज्ञ, पृ 89, 118
123 राज्यश्री, पृ 52
124 ककाल, 4 18
125 तितली की सेवाए।
126 लहर, पृ 24
127 कानन, पृ 104
128 महाराणा प्रताप का चरित्र।
129 चित्रा, पृ 66
130 सिकदर की शपथ, आकाशदीप, गुडा आदि कहानिया।
131 आचार्य शुक्ल की 'चिंतामणि' में 'उत्साह' नामक निबध।
132 काव्य महा, पृ 17 चित्राधार, पृ 15, कानन-कुसुम, पृ 63, 73 झरना, पृ 54 आसू, पृ 17, 43 74
133 नाटक—एक घूट, पृ 42, विशाख, पृ 12 28, जनमेजय का नागयज्ञ, पृ 82, अजातशत्रु, पृ 60, स्कदगुप्त, पृ 111 155
134 उपन्यास—ककाल, पृ 70, 237, 278, 290 291, तितली पृ 71 इरा, पृ 63
135 कहानिया—प्रतिध्वनि, पृ 13, 49 छाया, पृ 31 38 72 आकाशदीप, पृ 95 (देवदासी), पृ 101 (समुद्र-सतरण), आधी, इन्द्रजाल, पृ 104 (गुडा), 35 (नूरी), पृ 81 (चित्रवाले पत्थर)।
136 कानन-कुसुम, पृ 23 आसू, पृ 12
137 वही, पृ 39 लहर, पृ 61, आसू, पृ 21 39, 51, झरना, पृ 10 41 53, 55
138 लहर, पृ 46 61, आसू, पृ 29, 32, 66
139 लहर, पृ 45 47
140 वही, पृ 45
141 आसू, पृ 23
142 लहर, पृ 42
143 आसू, पृ 33
144 वही, पृ 21
145 हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ 835

तृतीय प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में विचार, दर्शन और समस्याएं

प्रकरण-प्रवेश

प्रकरण-सगति व नामकरण

यद्यपि साहित्य (ललित) मुख्यत मनोभावो के परिष्कार और रस-सचार का क्षेत्र है, किंतु वह बुद्धि से भी सर्वथा असबद्ध नही है। भरत ने नाटक के द्वारा बुद्धि-विवर्द्धन होने के तथ्य की ओर सकेत किया है।[1] वस्तुत बुद्धि का परित्याग करके केवल भाव की उपासना तो उन्माद-मात्र ही है। आज के बौद्धिक युग मे तो साहित्य मे उसका स्थान और महत्त्व और भी असदिग्ध है। अत श्रेष्ठ व प्राणवान् साहित्य मे अन्य मूर्धन्य तत्त्वो की तरह बुद्धि-तत्त्व का भी समावेश रहता है। कला के विविध अगों के विन्यास में अत सलिला की तरह कलाकार की सूक्ष्म बौद्धिक चेतना सजग-अलक्षित रूप में अनवरत रूप से गतिमान रहती है। साहित्य में बुद्धि का यह सूक्ष्म या गूढ़ अलक्षित विनियोग तथा साहित्य की प्रक्रिया व लक्ष्य, कलात्मक साहित्य को दर्शन, अर्थशास्त्र, विज्ञान (जहा बुद्धि प्रमुखत रहती है) से पृथक् कर उसके स्वतत्र व विशिष्ट अस्तित्व की स्थापना करते है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि नाम की वृत्ति का साहित्य से भी घनिष्ठ सबध है, अत प्रसाद के समग्र अध्ययन की दृष्टि से उन विषयों को लेना भी अनिवार्य है जो बुद्धि से स्फुरित या प्रेरित होकर ही विशेष महत्ता को प्राप्त होते है।

साहित्य में 'बुद्धि-तत्त्व' कदापि निदनीय नही, क्योंकि वह सार्वभौम ज्ञान-चेतना का व्यक्ति-केद्र में अवस्थान है। शुद्ध बुद्धि सृष्टि के गूढ तत्त्वों को समझने मे अथवा जीवन को सार्थक व उन्नत बनाने में नियोजित होती है। सुदर तर्क-वितर्क करने वाली सूक्ष्म बुद्धि अधकार का नाश करने वाली है। यह बोध या प्रकाश है। ऐसी ही वरेण्य बुद्धि विचारों को वैभव प्रदान करके, व्यक्तित्व को एक धार देती है। काव्य या साहित्य मे भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हा, उसका किस रूप में और कितना उपयोग हो, यह प्रश्न दूसरा है।

इस प्रकरण में विचार, दर्शन व समस्याए—इन तीनों को एकसाथ रखने का आधार है इनमें सामान्य रूप से प्रयुक्त वह बुद्धितत्त्व, जिसके द्वारा ये तीनों परस्पर अनुस्यूत हैं। यों तो 'दर्शन' शब्द अत्यत व्यापक है और विचार का प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म विषय, चिंतन-मनन की चरम परिणति में, 'दर्शन' की सज्ञा अनिवार्यत ग्रहण कर लेता है, पर हमने 'विचार' के अतर्गत सामान्यत- साहित्यिक, सामाजिक और सास्कृतिक विषयों के व्यावहारिक पक्षों को ही रखा है। 'दर्शन' में जीवन के उन तत्त्व-चिंतनात्मक विषयों को लिया है जो अधिमानव-शास्त्र के क्षेत्र में पर्यवसित होकर शाश्वत महत्त्व के हो जाते हैं, मानव-जीवन की सब शाखाओ का जिनमें

परस्पर घनिष्ठ मिलन होता है, और सश्लेषण की प्रक्रिया से जिनके द्वारा जीवन की सार्वलौकिक आधारभूत एकता का उद्‌घाटन होता है। 'समस्या' के अतर्गत हमने प्रमुखत उन सामयिक व व्यावहारिक ज्वलत विषयों को लिया है जो लेखक के सामने प्रस्तुत प्रश्न के रूप मे बौद्धिक समाधान के लिए चुनौती बनकर खडे है।

प्रसाद-साहित्य मे विचार-सामग्री के विविध स्रोत

प्रबध मे यथास्थान कहा जा चुका है कि भाव और विचार दोनों को एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् करना असभव है, क्योंकि दोनों मन की, जो भाववृत्ति या बोधवृत्ति की सम्मिलित सज्ञा है, सश्लिष्ट उपज हैं।

प्रसाद ने सामान्यत अपने साहित्य मे विचारो को शब्द की लक्षणा और व्यजना शक्तियो के सहारे आस्वाद्य भाव और रमणीय कल्पना-चित्रो के रूप मे ही प्रस्तुत किया है, कितु अनेक स्थलों पर उन्होने विचारो को इतिवृत्तात्मक, तथ्यात्मक या अभिधात्मक कथन के निरावृत रूप में भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के विचारों का प्रत्यक्ष कथन निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है

(1) रचनाओं की 'भूमिका' के रूप मे,
(2) शुद्ध विचारात्मक निबधों मे,
(3) सूक्तियो व शाश्वत तथ्य-कथन के रूप मे, तथा
(4) उपन्यासो व कहानियो में पात्रो के सवादो के आरभ मे या अत में लेखक द्वारा की जाने वाली टीका, या परिस्थिति आदि के निर्देश के रूप मे।

पर प्रसाद ने अपने विचारो को अधिकाशत, कला की माग के अनुसार, परोक्ष रूप में ही ध्वनित किया है—यथा, कथात्मक कृतियो के परिणाम या परिसमाप्ति के स्वरूप के द्वारा, सवादो में लीन विविध विचारधाराओं के पक्षधर पात्रों की चरम वैचारिक स्थिति के द्वारा, तथा अपनी विशाल पात्र-सृष्टि के अधिकाश पात्रों की जीवन-परिणति की व्यापक स्थिति या स्वरूप द्वारा।

इन सभी साधन-स्रोतों पर दृष्टि रखते हुए अब हम प्रसाद के विचारो का आकलन कर उनके बौद्धिक उत्कर्ष-बिदु को देखने का प्रयत्न करेगे।

साहित्य मे बुद्धि-तत्त्व की आवश्यकता और महत्त्व

बुद्धितत्त्व की साहित्य में अनिवार्य आवश्यकता है। वस्तु-व्यापारो का सजग निरीक्षण, तथ्यों का आकलन व परस्पर सबध-स्थापन, कलात्मक प्रभावोत्पत्ति की दृष्टि से रचना मे साहित्य-तत्त्वो का सुदर अनुपात मे विवेकपूर्ण सयोजन, कला पक्ष (अलकार-विधान) अभिव्यक्तिगत चारुता शब्द-चयन, पद-प्रयोग, रूप-विन्यास, उचित छद-निर्धारण आदि) का निर्माण, समस्याओं का निदान, विश्लेषण व समाधान, चरित्र-सृष्टि व वस्तु-विधान आदि विविध क्रियाकलापों मे बुद्धि-तत्त्व की महिमा का प्रसार है। अवश्य ही कभी-कभी केवल भावुकता मात्र के दीप्त उच्छ्वसन से भी, सहज प्रेरणा के आवेग में, विशिष्ट आतरिक, बौद्धिक व मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो के सघट्ट से, अत्यत मूल्यवान् कृति का जन्म हो सकता है, कितु अधी भावुकता से अनिवार्यत श्रेष्ठ परिणामों की सदा ही आशा ('कला कला के लिए' के सिद्धात के परिष्कृत रूप

को मानते हुए भी) करना अराजकता को ही प्रश्रय देना होगा। ससार की सर्वश्रेष्ठ गीतात्मक कृतियो का बौद्धिक विश्लेषण करने पर भी उनकी तह मे एक व्यवस्था, नियमन व अन्विति दिखायी पडेगी, वस्तुत इन्ही तत्त्वो या उपकरणो से ही (भावना और चितन की विशृखलता व अराजकता से नही) वे रचनाए शाश्वत मूल्य की रमणीय कृतिया बन सकी हैं। हा, स्थूल बुद्धि के नियम-निर्धारण और उनकी परिपालना से भी यह कदापि सभव नही होगा। कलाकार की सूक्ष्म बुद्धि अपनी मर्यादा मे रहकर अपने ढग से भाव और अनुभूति के शासन में रचना को सुगढ, सुडौल, अन्वितिपूर्ण, आभावान् व टिकाऊ बनाती है। इतना होने पर भी, यह ध्यान रखने की बात है कि, कला और साहित्य दर्शन-विज्ञान की तरह शुद्ध बौद्धिक प्रयास भी नही है। अत बुद्धि के उपयोग की भी एक मर्यादा व अनुपात है। साहित्यकार का मुख्य कार्यक्षेत्र भावना का जगत् ही है। भाव-सृष्टि का सफल दायित्व-निर्वाह करने के लिए ही अपेक्षित बुद्धि-तत्त्व स्वीकार्य हो सकता है। सुख-दु ख की साहित्यिक अभिव्यक्ति मात्र से ही जो सर्जक सतुष्ट हों उनकी बात दूसरी है, अन्यथा बुद्धि को जैवी विकासक्रम में उपलब्ध एक बहुमूल्य मानवीय सपदा मानने वाले, जगत् और जीवन के प्रति सजग-प्रबुद्ध कलाकार के लिए बुद्धि का प्रयोग अपनी रचना मे, उसके विविध रूपों व स्तरों मे, अनिवार्य है। साहित्य में बुद्धि-तत्त्व का यह उपयोग भाव या रस-तत्त्व पर हावी होने के लिए नही, किंतु इनके स्वच्छ विन्यास और प्रभविष्णुता-वृद्धि के लिए ही होना चाहिए। साहित्य-चर्चा के सदर्भ में बुद्धि शब्द आजकल कुछ हेय समझा जाने लगा है, किंतु यह सार्वभौमिक बुद्धि (Universal Intelligence) अपने परिष्कृत रूपों मे मानव के लिए एक महत् वरदान है। यह वह सूक्ष्म चेतना है जिसका आलोक और माधुर्य मानव-जीवन और साहित्य को एक विशिष्ट मोहकता प्रदान करता है। जानने का मानस-व्यापार जिस शक्ति से होता है वह बुद्धि ही है। हम सब जानना चाहते हैं। प्रकृति व मानस-जगत् ही हमारे जानने के मूल विषय हैं। पर बुद्धिपूर्वक जानना ही वास्तव मे जानना है। यह जानना विकास-क्रम के अनुपात मे होता है। कवि ही वस्तुत सबसे अधिक जिज्ञासु ज्ञानवान् है, क्योंकि उसकी जिज्ञासा बडी गहरी होती है, वह जड-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल सबको मर्म के साथ जानना चाहता है। यह जानना एक महत् क्रिया है जो बुद्धि द्वारा सपादित होती है। स्पष्ट है कि ऐसी बुद्धि (जिसके कई स्तर है) ललित सर्जन में भी बाधक न होकर सहायक या साधक ही सिद्ध होती है।

साहित्य मे बुद्धि-तत्त्व का प्रकाश प्रच्छन्न रूप से अनेक स्थलों पर होता है, किंतु विचार, दर्शन और समस्याओ के धरातल पर वह सर्वाधिक भास्वर या मुखर रहता है।

बुद्धि विचार के लिए आवश्यक है। जिसके पास बुद्धि होती है, केवल वही गभीर व स्वच्छ विचार कर सकेगा। पर केवल विचार करना ही पर्याप्त नही, सम्यक् रीति से, आत्मचेता बनकर, जिज्ञासापूर्वक व्यापक ढग से विचार करके, विचारों की उपलब्धि को कला की पद्धति से साहित्य में उतारना ही बुद्धि का सर्वोपरि कलात्मक उपयोग है।

तात्पर्य यह कि बुद्धि-तत्त्व का शुद्ध व ललित साहित्य में भी अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान है। हा, साहित्य-रूप या विधा के भेद से उसकी मात्रा अवश्य न्यूनाधिक होती रहती है। शुद्ध विचारात्मक निबध और गीत—शुद्ध साहित्य की इन दो सुदूरवर्ती विधाओं में बुद्धि विनियोग के अनुपात के द्वारा यह स्पष्ट है। आत्मलय वाले गीत में प्रत्यक्षत बुद्धि का प्रयोग भले ही न जान पडे, किंतु गीत की अनुभूति-सामग्री (सूक्ष्मतम ही सही) के सचयन, व्यवस्थापन, तथा कला-पक्ष के विन्यास में कवि के अवचेतन मन में अप्रकट रूप से चलने वाले सूक्ष्म

बुद्धि-व्यापार का अस्तित्व असदिग्ध है। निबध और गीत की अतरावर्तिनी सभी विधाओं में रचना की आकृति-प्रकृति के अनुसार विभिन्न मात्रा मे बुद्धि का प्रयोग होता है। फिर, मनोविज्ञान के अनुसार भी तो भाव-वृत्त बोध-वृत्त के भीतर ही अपनी सत्ता रखते हुए सक्रिय रहता है, बुद्धि से असपृक्त भावना अकल्पनीय है। बोध-वृत्ति से पुष्प का परिज्ञान हुए बिना पुष्प के प्रति आह्लाद की अनुभूति असभव है। इस प्रकार साहित्य मे बुद्धि का स्थान सुरक्षित है। यह दूसरी बात है कि बुद्धि का स्वरूप, स्तर व परिमाण कला-साहित्य की प्रकृति से ही नियन्त्रित होता है। सामान्यत बुद्धि विकल्पात्मक ही होती है, वह नीर-क्षीर विवेक, विश्लेषण व भेदीकरण मे ही अपनी सत्ता सार्थक करती है। पर काव्य अथवा कला का क्षेत्र विकल्प और विज्ञान का न होकर सकल्पात्मकता का है, अत साहित्य मे बुद्धि के एक विशेष पक्ष या रूप का ही स्वीकार होता है। जो हो, ललित साहित्य सजग बुद्धि से आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक सबध अवश्य रखता है। प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि यीट्स भी काव्य मे बुद्धि की सत्ता को आवश्यक मानते है।

विचार बुद्धि की ही क्रिया है। अत बुद्धि की कुछ तात्त्विक चर्चा आवश्यक है। भारतीय दर्शन मे बुद्धि जड कही गयी है। पर चैतन्य आत्मा से अनुप्राणित बुद्धि की महिमा सर्वत्र गायी गयी है। डॉ मुशीराम शर्मा ने बताया है कि ऋग्वेद मे ऐसी बुद्धि को 'प्रथमजा' कहा है जो ऋतु की सर्वप्रथम उपजी सतति है, जिसके प्राप्त होते ही वाड्मय के समस्त विस्तृत विषय समझ में आ जाते हैं। साख्यशास्त्र, न्याय-वैशेषिक व प्रत्यभिज्ञा दर्शन से भी बुद्धि का स्वरूप-बोध होता है। साख्य क अनुसार बुद्धि जड है और वह प्रकृति के अतर्गत है। पुरुष का चैतन्य बुद्धि के दर्पण पर प्रतिबिंबित होता है, तभी हम किसी वस्तु का वास्तविक अनुभव कर सकते है। बुद्धि चैतन्य के प्रकाश को पाकर ही अपना प्रतिबिब वस्तु पर फेकती है। बुद्धि स्वय निष्क्रिय है। न्याय-वैशेषिक दर्शन मूलत आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने में तत्पर दर्शन है। उनमे भी बुद्धि के स्वरूप पर विचार किया गया है। केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' में बुद्धि की व्याख्या की गयी है—"अर्थ प्रकाशो बुद्धि । नित्याऽनित्या च। ऐशी बुद्धिर्नित्या, अन्यदीया त्वनित्या"[2] अर्थात् अर्थ का प्रकाश (ज्ञान) 'बुद्धि' है। वह नित्य और अनित्य, दो प्रकार की है। ईश्वर की बुद्धि या ज्ञान तो नित्य है और अन्य अनित्य। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में स्वतत्र स्वभाव वाले विश्वोत्तीर्ण परम शिव की पाच विशिष्ट शक्तियों में एक शक्ति है—ज्ञानशक्ति। यह ज्ञानशक्ति की ही सृष्टि-विकास-लीला में उन्मीलन या अवरोहण-क्रम में जीवों को प्राप्त होती है। यह ज्ञानशक्ति ही जीवो की बुद्धि मे आविर्भूत होकर चैतन्य का प्रकाशन करती है।

प्रसाद के साहित्य का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि विचार-तत्त्व प्रसाद की दृष्टि में साहित्य का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्रसाद ने किस प्रन्ि या से और क्या-क्या विचार प्रस्तुत किये हैं, यह हम विस्तार से आगे देखेंगे। सिद्धात रूप ा साहित्य में विचार का महत्त्व सभी श्रेष्ठ आलोचकों ने मात्राभेद से स्वीकार किया है।

धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की सतुलित जीवन-दृष्टि रखने वाले भारत में कला-जगत् में भी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण उपकरण का पदयोग्यतानुसार समायोजन किया गया है। कला यहा उन्माद या बहक की वस्तु न होकर सर्वोच्च कोटि के आनद की सिद्धि का माध्यम मानी गयी है। फलत काव्य में भी अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के साथ विचार-तत्त्व भी रस व व्यजना की

शाखा मे गृहीत हुआ है। भरत ने ही बुद्धि के महत्त्व की सूचना दे दी है।[3] राजशेखर ने बुद्धि के तीन भेद करते हुए काव्य मे बुद्धि-तत्त्व की व्याप्ति को ही निर्दिष्ट किया है।[4] अभिनव के गुरु आचार्य भट्टतौत ने भी दर्शन व वर्णना को काव्य के लिए आवश्यक ठहराया है।[5] 'ध्वन्यालोक' मे आनदवर्द्धन ने भी विचार को स्थान दिया है।[6] महाकवि तुलसी ने समग्र काव्य की योजना का रूपक बाधते हुए बुद्धि का महत्त्व इस पक्ति द्वारा स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया है—"जो बरसइ वर बारि विचारु। होइ कवित मुकुतामनि चारु।"[7] श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने भी भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से बुद्धि या विचार का महत्त्व प्रतिपादित किया है।[8]

इसी प्रकार, पाश्चात्य लेखको ने भी काव्य-साहित्य मे विचार का महत्त्व स्वीकार किया है। प्लेटो ने इसे सर्वोपरि महत्त्व दिया है।[9] अरस्तू ने अपनी त्रासदी के विवेचन मे विचार तत्त्व को आधारभूत तत्त्वो मे परिगणित कर तथा साहित्य के विचार-प्रयोग के विविध क्षेत्रो का निर्देश करते हुए उसकी सूक्ष्म एव विस्तृत विवेचना की है।[10] कार्लायल ने तो कविता की परिभाषा में ही कहा है कि हम काव्य को सगीतात्मक विचार कहेंगे।[11] ऐंटविसल ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि कवि की चेतना अन्य बातों के साथ विचार के प्रति भी अधिक तीव्र-सजग रहती है।[12] उनकी दृष्टि में महान्-कवि विचार और भावना के क्षेत्र मे अज्ञातपूर्व (untrod) विचार और सवेदना (feelıng) का अवगाहक (explorer) है।[13] वह अपनी किसी दिव्य या उदात्त शक्ति से कल्पना-दृष्टि के द्वारा वस्तुओं की वास्तविक सत्ता को देखता है, और वह उनको महान् सिद्धातों से सबधित दर्शाता है जो समस्त विचार और जीवन का नियत्रण करते हैं।[14] अन्य स्थानो पर भी उन्होने महाकाव्य, नाटक, वर्णनात्मक काव्य मे विचारों से कवि का घनिष्ठ सबध बताया है।[15] मैथ्यू आर्नल्ड तथा वर्ड्सवर्थ भी विचारों के महत्त्व को पूरी स्वीकृति देते हैं।[16] प्रो एबरक्राबी ने भी काव्य और नाटक की प्रक्रिया के निरूपण मे विचारों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।[17]

आधुनिक पाश्चात्य पडितों ने भी साहित्य में विचार या बुद्धि का महत्त्व स्वीकृत किया है। ब्रैडले ने काव्य के निर्माता तत्त्वो मे विचारों को भी स्वतत्र रूप से परिगणित किया है।[18] टी एस इलियट काव्य मे ऐद्रिय सवेदना के माध्यम से विचार को भावना में रूपातरित करने के ही पक्षपाती है।[19] कालरिज,[20] प्रो एबरक्राबी,[21] वर्सफोल्ड,[22] एम एच एब्रेस,[23] रिचर्ड्स[24] आदि प्रमुख विचारको ने भी काव्य में विचार-तत्त्व का स्थान व महत्त्व भली भाति आका है।

प्रसाद-साहित्य में विचार और दर्शन : विश्लेषण

प्रसाद के वैचारिक विषयो की परिधि

प्रसाद ने अनेकानेक विषयो पर अपने विचार व्यक्ति किये हैं। उनके कुछ प्रमुख या आधार-भूत विचार तो उनके समस्त साहित्य मे स्नायु-जाल बनकर बिछे हुए हैं, जो या तो पात्रो के जीवन-व्यापारो मे चरितार्थ हुए हैं या सवादो के बीच विवेचित हुए हैं या कृतियो के उपसहारो मे ध्वनित हुए है। नारी, प्रेम, विवाह, गृहस्थ, कुटुब, समाज, व्यक्ति, मानव, ससार, पृथ्वी, जीवन, राष्ट्र व राष्ट्रीयता, जातीय स्वाभिमान, मानव-हृदय के विशिष्ट गुणों—करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति, शौर्य, उदारता, सेवा, श्रद्धा, गाभीर्य, प्रायश्चित, सरलता, सतोष, विवेक, धैर्य

आदि—की महिमा का गान व उनका पोषण—सवर्द्धन, स्त्री-पुरुष सबध, सतान, आत्मा, सभ्यता-सस्कृति, ईश्वर, पाप-पुण्य, रूप-सौदर्य, सत्य-असत्य, मुक्ति-बधन, प्रार्थना-तपस्या, भौतिक विभूति, स्वास्थ्य, आनद, मानव-सुख, प्रकृति, कवि, कवित्व, कवि-जीवन, नियति, परिवर्तन, ज्ञान-विवेक, चरित्र, शील-सदाचार, सामाजिक शिष्टाचार, पर्व-उत्सव, आतिथ्य, आस्तिकता, नास्तिकता, राग-विराग, जीवन-कला, युद्ध और शाति, नवीन-प्राचीन, सग्रह-भोग, ग्राम जीवन व नगर जीवन, शासन, अपराध-दड, रक्त-शुद्धि, नियम-न्याय, उत्कोच, सदाचार, यथार्थ, आदर्श स्वर्ग-नरक, श्रेय-प्रेय, कर्त्तव्य-अधिकार, व्यवहार-कुशलता, प्रगति-परपरा, सस्था और सस्थावाद, शिक्षा व शिक्षा-प्रणाली, मानवता, उन्नति-अवनति, राष्ट्रीयता-अतर्राष्ट्रीयता, आदिशक्ति, कर्म, ज्ञान, भक्ति, धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, यज्ञ, कर्मवाद-अवतारवाद, अमानुषिकता, इद्रिय-सौख्य, निर्वाण-पुनर्जन्म, प्रार्थना-आराधना, विधि-निषेध, आत्म-हत्या, दर्शन, इतिहास, साहित्य, सस्कृति, शिल्प, कला, विश्वैक्य, या मानवैक्य, आस्था आदि अगणित विषयो का समावेश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, सक्षेप में या विस्तार में, कथन के द्वारा, व्यजना के द्वारा या जीवन-व्यापारो के माध्यम से चरितार्थ रूप से प्रसाद की बौद्धिक चेतना की सजगता, व्यापकता और सतत क्रियाशीलता का परिचायक है। 'कामायनी', 'ध्रुवस्वामिनी', 'कामना', 'तितली', 'ककाल', 'इरावती' व अनेक कहानियां ('देवरथ', 'सालवती', 'घीसू', 'विराम-चिह्न', 'नरी', 'छोटा जादूगर', 'मधुआ', 'बेडी' आदि) तथा 'काव्य और कला तथा अन्य निबध'—ये रचनाए शुद्ध बौद्धिक या वैचारिक चेतना की दृष्टि से प्रसाद-साहित्य की अनमोल निधि हैं।

प्रसाद ने अपने अनेक सुनिश्चित व स्वानुभूत विचारो को अत्यत मार्मिक व प्रभावशाली सूक्तियो के परिनिष्ठित रूप में भी यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है, जिससे प्रसाद के चिंतन की स्पष्टता, स्थिरता, गाभीर्य व प्रखरता का परिचय मिलता है। लघु सीमा में और कलात्मक सौष्ठव के साथ प्रस्तुत ये सूक्तिया शाण पर चढी मणियो-सी चमकीली है।

उदाहरणार्थ

'ककाल' से

1 दु:ख की राते जाडे की रात में भी लबी बन जाती है। (पृ 56)
2 वैभव का पर्दा बहुत मोटा होता है। (पृ 63)
3 क्षणिक उमंग में आकर हमें वह काम नही करना चाहिए जिससे जीवन के कुछ ही लगातार दिनों के पिरोये जाने की सभावना हो, क्योंकि उमग की उठान नीचे आया करती है। (पृ 74)
4 सब अभिनय सबके अनुकूल नही होते। (पृ 94)
5 स्त्रिया ही स्नेह की विचारक है। (पृ 133)
6 जिसको सब कहते हुए छिपाते हैं, जिसे अपराध कहकर कान पकडकर स्वीकार करते हैं वही तो—जीवन का यौवन-काल का ठोस सत्य है। (पृ 176)
7 सब सुख सबके पास एकसाथ ही नही जाते, नही तो विधाता को सुख बाटने में बडी बाधा उपस्थित हो जाती। (पृ 206)

8 कगाल धन का आदर करना नही जानते। (पृ 208)
9 सुख के दिन बडी शीघ्रता से खिसकते हैं। (पृ 212)
10 क्षमा में भगवान् की शक्ति है, उनकी अनुकपा है। (पृ 237)
11 नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुझलाहट है। (पृ 243)
12 स्त्री का हृदय प्रेम का रगमच है। (पृ 246)
13 ससार अपराध करके इतना अपराध नही करता, जितना यह दूसरो को उपदेश देकर करता है। (पृ 270)
14 सभ्यता सौदर्य की जिज्ञासा है। (पृ 283)
15 कौन जानता है कि ईश्वर को खोजते-खोजते कब किसे पिशाच मिल जाता है। (पृ 288)
16 जगत् की एक जटिल समस्या है—स्त्री-पुरुष का स्निग्ध मिलन। (पृ 288)
17 मानव स्वभाव है वह अपने सुख को विस्तृत करना चाहता है। और भी, केवल अपने सुख से ही सुखी नही होता, कभी-कभी दूसरों को दुखी करके, अपमानित करके, अपने मान को, सुख को प्रतिष्ठित करता है। (पृ 47)
18 कोई भी स्वार्थ न हो, किंतु अन्य लोगों को कलह से थोडी देर मनोविनोद कर लेने की मात्रा मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति में प्राय मिलता है। (पृ 54)
19 दूसरो से वही बात सुनने पर, जिसे कि अपनों से सुनने की आशा रहती है, मनुष्य के मन में एक ठेस लगती है। (पृ 81)
20 सहनशील होना अच्छी बात है, परतु अन्याय का विरोध करना उससे भी उत्तम है। (पृ 155)
21 अपनी किसी भी वस्तु की प्रशसा कराने की साध बडी मीठी होती है न ? चाहे उसका मूल्य कुछ भी न हो। (पृ 159)
22 मनुष्य के भीतर जो कुछ वास्तविक है, उसे छिपाने के लिए जब वह सभ्यता और शिष्टाचार का चोला पहनता है तब उसे सम्हालने के लिए व्यस्त होकर कभी-कभी अपनी आखों में ही उसको तुच्छ बनना पडता है। (पृ 175)
23 प्रेम, मित्रता की भूखी मानवता। बार-बार अपने को ठगाकर भी वह उसी के लिए झगडती है। झगडती है, इसलिए प्रेम करती है। (पृ 260)

'इरावती' से

24 चरित्रो से मनुष्य नही बनते। मनुष्य चरित्रों का निर्माण करते हैं। (पृ 89)
25 जब जीवन का केवल एक पार्श्व चित्र ही उपस्थित होकर मनुष्य की दुर्बलता को उसकी अन्य सभावनाओं से ऊपर कर लेता है तब उसकी स्वाभाविक गति जकडी-सी बन जाती है। (पृ 102)

'ध्रुवस्वामिनी' से

26 मेघसकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए। (पृ 11)

आदि—की महिमा का गान व उनका पोषण—सवर्द्धन, स्त्री-पुरुष सबध, सतान, आत्मा, सभ्यता-सस्कृति, ईश्वर, पाप-पुण्य, रूप-सौदर्य, सत्य-असत्य, मुक्ति-बधन, प्रार्थना-तपस्या, भौतिक विभूति, स्वास्थ्य, आनद, मानव-सुख, प्रकृति, कवि, कवित्व, कवि-जीवन, नियति, परिवर्तन, ज्ञान-विवेक, चरित्र, शील-सदाचार, सामाजिक शिष्टाचार, पर्व-उत्सव, आतिथ्य, आस्तिकता, नास्तिकता, राग-विराग, जीवन-कला, युद्ध और शाति, नवीन-प्राचीन, सग्रह-भोग, ग्राम जीवन व नगर जीवन, शासन, अपराध-दड, रक्त-शुद्धि, नियम-न्याय, उत्कोच, सदाचार, यथार्थ, आदर्श स्वर्ग-नरक, श्रेय-प्रेय, कर्त्तव्य-अधिकार, व्यवहार-कुशलता, प्रगति-परपरा, सस्था और सस्थावाद, शिक्षा व शिक्षा-प्रणाली, मानवता, उन्नति-अवनति, राष्ट्रीयता-अतर्राष्ट्रीयता, आदिशक्ति, कर्म, ज्ञान, भक्ति, धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, यज्ञ, कर्मवाद-अवतारवाद, अमानुषिकता, इद्रिय-सौख्य, निर्वाण-पुनर्जन्म, प्रार्थना-आराधना, विधि-निषेध, आत्म-हत्या, दर्शन, इतिहास, साहित्य, सस्कृति, शिल्प, कला, विश्वैक्य, या मानवैक्य, आस्था आदि अगणित विषयो का समावेश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, सक्षेप में या विस्तार में, कथन के द्वारा, व्यजना के द्वारा या जीवन-व्यापारो के माध्यम से चरितार्थ रूप से प्रसाद की बौद्धिक चेतना की सजगता, व्यापकता और सतत क्रियाशीलता का परिचायक है। 'कामायनी', 'ध्रुवस्वामिनी', 'कामना', 'तितली', 'ककाल', 'इरावती' व अनेक कहानिया ('देवरथ', 'सालवती', 'घीसू', 'विराम-चिह्न', 'नरी', 'छोटा जादूगर', 'मधुआ', 'बेडी' आदि) तथा 'काव्य और कला तथा अन्य निबध'—ये रचनाए शुद्ध बौद्धिक या वैचारिक चेतना की दृष्टि से प्रसाद-साहित्य की अनमोल निधि है।

प्रसाद ने अपने अनेक सुनिश्चित व स्वानुभूत विचारो को अत्यत मार्मिक व प्रभावशाली सूक्तियो के परिनिष्ठित रूप में भी यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है, जिससे प्रसाद के चितन की स्पष्टता, स्थिरता, गाभीर्य व प्रखरता का परिचय मिलता है। लघु सीमा मे और कलात्मक सौष्ठव के साथ प्रस्तुत ये सूक्तिया शाण पर चढी मणियों-सी चमकीली है।

उदाहरणार्थ

'ककाल' स

1 दुःख की राते जाडे की रात में भी लबी बन जाती है। (पृ 56)
2 वैभव का पर्दा बहुत मोटा होता है। (पृ 63)
3 क्षणिक उमग में आकर हमें वह काम नही करना चाहिए जिससे जीवन के कुछ ही लगातार दिनों के पिरोये जाने की सभावना हो, क्योकि उमग की उठान नीचे आया करती है। (पृ 74)
4 सब अभिनय सबके अनुकूल नही होते। (पृ 94)
5 स्त्रिया ही स्नेह की विचारक हैं। (पृ 133)
6 जिसको सब कहते हुए छिपाते हैं, जिसे अपराध कहकर कान पकडकर स्वीकार करते हैं वही तो—जीवन का यौवन-काल का ठोस सत्य है। (पृ 176)
7 सब सुख सबके पास एकसाथ ही नही जाते, नहीं तो विधाता को सुख बाटने में बडी बाधा उपस्थित हो जाती। (पृ 206)

8 कगाल धन का आदर करना नही जानते। (पृ 208)
9 सुख के दिन बडी शीघ्रता से खिसकते हैं। (पृ 212)
10 क्षमा मे भगवान् की शक्ति है, उनकी अनुकपा है। (पृ 237)
11 नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुझलाहट है। (पृ 243)
12 स्त्री का हृदय प्रेम का रगमच है। (पृ 246)
13 ससार अपराध करके इतना अपराध नही करता, जितना यह दूसरों को उपदेश देकर करता है। (पृ 270)
14 सभ्यता सौदर्य की जिज्ञासा है। (पृ 283)
15 कौन जानता है कि ईश्वर को खोजते-खोजते कब किसे पिशाच मिल जाता है। (पृ 288)
16 जगत् की एक जटिल समस्या है—स्त्री-पुरुष का स्निग्ध मिलन। (पृ 288)
17 मानव स्वभाव है वह अपने सुख को विस्तृत करना चाहता है। और भी, केवल अपने सुख से ही सुखी नही होता, कभी-कभी दूसरो को दुखी करके, अपमानित करके, अपने मान को, सुख को प्रतिष्ठित करता है। (पृ 47)
18 कोई भी स्वार्थ न हो, किंतु अन्य लोगों को कलह से थोडी देर मनोविनोद कर लेने की मात्रा मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति में प्राय मिलता है। (पृ 54)
19 दूसरो से वही बात सुनने पर, जिसे कि अपनों से सुनने की आशा रहती है, मनुष्य के मन में एक ठेस लगती है। (पृ 81)
20 सहनशील होना अच्छी बात है, परतु अन्याय का विरोध करना उससे भी उत्तम है। (पृ 155)
21 अपनी किसी भी वस्तु की प्रशसा कराने की साध बडी मीठी होती है न ? चाहे उसका मूल्य कुछ भी न हो। (पृ 159)
22 मनुष्य के भीतर जो कुछ वास्तविक है, उसे छिपाने के लिए जब वह सभ्यता और शिष्टाचार का चोला पहनता है तब उसे सम्हालने के लिए व्यस्त होकर कभी-कभी अपनी आखो में ही उसको तुच्छ बनना पड़ता है। (पृ 175)
23 प्रेम, मित्रता की भूखी मानवता। बार-बार अपने को ठगाकर भी वह उसी के लिए झगडती है। झगडती है, इसलिए प्रेम करती है। (पृ 260)

'इरावती' से

24 चरित्रों से मनुष्य नही बनते। मनुष्य चरित्रों का निर्माण करते है। (पृ 89)
25 जब जीवन का केवल एक पार्श्व चित्र ही उपस्थित होकर मनुष्य की दुर्बलता को उसकी अन्य सभावनाओं से ऊपर कर लेता है तब उसकी स्वाभाविक गति जकडी-सी बन जाती है। (पृ 102)

'ध्रुवस्वामिनी' से

26 मेघसकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए। (पृ 11)

27 वीरता जब भागती है तब उसके पेरो से राजनीतिक छलछद की धूलि उडती है। (पृ 13)
28 जीवन विश्व की सपत्ति हे। (पृ 28)
29 दो प्यार करने वाले हृदयो के बीच मे स्वर्गीय ज्योति का निवास है। (पृ 52)

'स्कदगुप्त' से

30 व्यग की विषज्वाला रक्त-धारा से भी नही बुझती। (पृ 67)
31 बलिदान करने के योग्य वह नही जिसने अपना आपा नही खोया। (पृ 71)
32 आवश्यकता ही ससार के व्यवहारो का दलाल है। (पृ 133)
33 अपने कुकर्मो का फल चखने में कडवा परतु परिणाम में मधुर होता है। (पृ 134)

'चद्रगुप्त' से

34 स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है। परतु फिसलने का भय भी होता है। (पृ 120)
35 स्मृति जीवन का पुरस्कार है। (पृ 144)
36 उत्पीडन की चिनगारी को अत्याचारी अपने ही अचल मे छिपाये रहता है। (पृ 168)
37 नियति सम्राटों से भी प्रबल है। (पृ 169)
38 विजयों की सीमा है, अभिलाषाओं की नही। (पृ 184)
39 महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है। (पृ 177)
40 मनुष्य साधारणधर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और नि:स्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है। (पृ 196)
41 महत्त्वाकाक्षा के दाव पर मनुष्यता सदैव हारी है। (पृ 200)
42 राजा न्याय कर सकता है, परतु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है। (पृ 219)

'इद्रजाल' से

43 मनुष्य के सुख-दु:ख का माप अपना ही साधन तो है। उसी के अनुपात से वह तुलना करता है। (पृ 30)
44 उत्कठा और प्रतीक्षा कितनी पागल सहेलिया हैं। (पृ 33)
45 सहायता में तत्पर होना सामाजिक प्राणी का जन्मसिद्ध स्वभाव, सभवत मनुष्यता का पूर्ण निदर्शन है। (पृ 47)
46 किंतु ससार तो दूसरे को मूर्ख बनाने के व्यवसाय पर चल रहा है। (पृ 58)

'आधी' से

47 स्नेह, माया, ममता इन सब की भी एक घरेलू पाठशाला है। (पृ 1)
48 मनुष्य दूसरों की दृष्टि में कभी पूर्ण नहीं हो सकता। पर उसे अपनी आखों से तो नही ही गिरना चाहिए। (पृ.60)
49. ऐश्वर्य का मदिरा-विलास किसे स्थिर रहने देता है ? (पृ.77)

50 कर्त्तव्य कठोर होता है, भाव-प्रधान नही। (पृ 85)
51 आलोक एक उज्ज्वल सत्य है। बद आखो मे भी उसकी सत्ता छिपी नही रहती। (पृ 103)

'आकाशदीप' से

52 मनुष्य की चिता जल जाती है, और बुझ भी जाती है परतु उसकी छाती की जलन, द्वेष की ज्वाला, सभव है, उसके बाद भी धक्-धक् करती हुई जला करे। (पृ 65)
53 पापो को देवता खोजें, मनुष्य के पास कुछ पुण्य भी है। (पृ 88)
54 ससार भी बडा प्रपचमय यत्र है। वह अपनी मनोहरता पर आप ही मुग्ध रहता है। (पृ 116)
55 आनद का अतरग सरलता है और बहिरग सौंदर्य है, इसी मे वह स्वस्थ रहता है। (पृ 19)

सामाजिक विचारधारा

1. समाज के प्रति प्रसाद की मूल दृष्टि एक जागरूक कलाकार की भाति प्रसाद ने अपने चारो ओर के युग-जीवन व समाज पर भी चितन किया है। 'कामायनी', 'कामना', 'एक घूट', 'ककाल' व 'तितली' मे वह प्रत्यक्ष रूप में व अन्य कृतियो मे मुख्यत परोक्ष रूप में मिलता है। प्रकार व परिमाण मे भी यह चितन इतना बहुविध व विशाल है कि हम सहज ही आश्वस्त हो सकते है कि प्रसाद केवल कोरे भावुक या कल्पना-विहारी साहित्यकार नही है, उनका अत करण समग्र रूप से सक्रिय है, अत उनकी जीवनाभिव्यक्ति अधिक परिपूर्ण, व्यापक और प्रामाणिक है। केवल एकात भावुकता या एकात बुद्धि से परिपूर्ण सत्य का दर्शन सभव नही है। समाज व जीवन की बौद्धिक समीक्षा हो जाने से प्रसाद-साहित्य कोरी रसीली भावुकता और रूमानी कल्पना का ही साहित्य न रहकर वह एक ही साथ मेधावी द्रष्टा व स्रष्टा कलाकार का साहित्य बन गया है। मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' कहा है। प्रसाद ने रस और अनुभूति में ही अपने को बद्धमूल रखते हुए साहित्य की पद्धति से जीवन व समाज की व्याख्या की है। उन्होंने अतीत और वर्तमान, जीवन और समाज की जो समीक्षा-गर्भित झाकिया हमारे सामने प्रस्तुत की है, उनसे उनकी सामाजिक विचारधारा का आकलन किया जा सकता है। प्रसाद कैसे भारतीय समाज और भावी मानव-समाज की प्रतिष्ठा इस पृथ्वी पर चाहते है, उसका स्वरूप भी इस विचारधारा का अवगाहन करने पर प्राप्त हो जाता है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या साहित्यकार समाज के प्रति उत्तरदायी है? अधिक विवाद मे न पडकर सामान्य रूप से यहा दो बातें कही जा सकती हैं। साहित्यकार का पचभौतिक शरीर, प्रकृति और बाह्य समाज मे नाना रूपों में पोषण, सरक्षण व सुख-सुविधाए पाता है, अत व्यवहार, न्याय व नीति की दृष्टि से वह कृतज्ञतापूर्वक इस सहज लाभ का प्रतिकार चुकाने के लिए बाध्य है। केवल स्वतत्रजन्मा होने का रोमाटिक तर्क देकर समाज से सर्वथा किनारा काटना कृतघ्नता का आत्मवचनापूर्ण आवरण-मात्र ही जान पडता है। प्रकृति व समाज को, अपने प्रति किये गये उपकारों का समुचित रूप में प्रतिदान न चुकाना किसी भी कलाकार के लिए अशोभन है अपनी अनुत्तरदायित्वपूर्णता का परिचय है, निम्न

कोटि की स्वार्थपरायणता है। प्रसाद ने उच्चकोटि की स्वच्छदता व रूमानियत का परिचय देते हुए भी मामाजिक व नागरिक होने के नाते, कृतज्ञ भाव से, समाज के प्रति उत्तरदायी रहकर अपनी सुदीर्घ साहित्य-साधना की है और समाज तथा उसकी बहुमुखी समस्याओं पर विचार करके उसे समुन्नत व ऊर्ध्वमुखी बनाने का हार्दिक प्रयत्न किया है।

समाज के दो प्रमुख स्तभ हैं—नर और नारी। इन दोनो के स्वस्थ व समवेत पदन्यास पर ही ससार सुखपूर्वक रह सकता है। नर और नारी का प्रश्न मूलत सीमित देश-काल का प्रश्न न होकर सृष्टिविधान-विषयक एक गभीर, सार्वकालिक, सार्वभौमिक व सास्कृतिक प्रश्न है, अत प्रसाद ने इस प्रश्न के अतिम व शाश्वत समाधान के लिए 'कामायनी' और 'कामायनी' का विराट् फलक ही चुना है। व्यक्ति, समाज, नारी, गृहस्थ जीवन—ये ही समाज के प्रमुख या मर्म-सस्थान हैं, अत उक्त सस्थानो के माध्यम से ही प्रसाद की सामाजिक विचारणा से अवगत होना सुगम होगा।

2 **व्यक्ति ओर समाज** भारतीय साहित्य, समाज के प्रति आरभ से ही अपने आपको उत्तरदायी समझता आया है। रामायण-महाभारत का लोक-व्यापी अखड प्रभाव साहित्य-द्वारा जन-चेतना के ग्रहण किये जाने के प्रति साहित्य से अपेक्षित सामाजिक दायित्व के सफल निर्वाह का प्रतीक है। मध्ययुगों मे सिद्धों और नाथो की रहस्यमयी बानिया भले ही आत्मोन्मुखी रही हो, पर अतत है वे व्यक्तियो से बने समाज के आनद की ही विधात्री। प्रसाद में हम भारतीय कवि के लिए इष्ट उसी सामाजिक चेतना को पाते हैं। पर उस चेतना का निर्वाह वे किस रूप मे और कितनी सफलता के साथ करते हैं, उसे देखने से पूर्व प्रसाद-साहित्य में प्राप्त प्रसाद के सामाजिक दृष्टिकोण के मूल स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है।

व्यक्ति और समाज—इन दोनो में, प्रसाद व्यक्ति को ही बडी वस्तु मानते है। समाज वस्तुत व्यक्तियों का ही तो समूह है। बिंदुओं के बिना रेखा अकल्पनीय है। समाज, उसकी विभिन्न सस्थाए और बाह्य व्यवस्था के लिए आविष्कृत विभिन्न शासन-प्रणालिया अतत व्यक्ति की ही सुख-सुविधा और आत्मा के स्वातत्र्य व आनद की अनुभूति के लिए साधन-मात्र ही तो हैं। जहा व्यक्ति के इस सुख की दृष्टि के विलुप्त होने से, बाह्य साधनों की ही रक्षा व पोषण-सवर्द्धन का प्रयत्न प्रमुख, और व्यक्ति उपेक्षितप्राय हो जाता है, वहा वे मानव की छाती पर जड लौह-यत्र मात्र बनकर रह जाते हैं और तब उन सब तत्त्वों की जो व्यक्ति के जीवन को वास्तविक अर्थ व महत्त्व प्रदान करते हैं, पुनर्स्थापना सच्चे समुन्नत व स्वस्थ समाज के अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक हो जाती है। प्रसाद की दृष्टि में समाज की उन्नति का कोई अर्थ नही, यदि वह मानव की आत्मानुभूति मे सहायक न हो। प्रसाद यह भी समझते हैं कि यह अनुभूति यदि अपनी पूर्ण समृद्धि के साथ होनी है तो निश्चय ही वह समाज के बीच ही होगी। इसीलिए वे इतने उत्साह से 'ककाल' में समाज के भयकर, नग्न व घृणित रूप के उद्घाटन के माध्यम से एक स्वस्थ, समुन्नत व ऊर्ध्वगामी समाज की रचना में जुटे दिखायी पडते हैं। 'कंकाल' में समाज की विकृतियों, विद्रूपताओं और सडाध का जो वर्णन है वह हीन रुचि से प्रेरित न होकर समाज के आदर्श स्वरूप के प्राप्त होने के लिए अभी शेष दुर्लंघ्य ऊचाइयों की चढ़ाई में अपेक्षित मशक्कत का द्योतक है। 'तितली' में प्रसाद ने क्षोभजन्य व्यंग्य-व्यजना की शैली छोडकर, ऋजु पथ से चलकर, ग्रामीण या निम्नस्तरीय

समाज की नग्न परिस्थितियो का चित्रण करते हुए आर्थिक व गार्हस्थिक नव-निर्माण का कार्यक्रम प्रस्तुत किया है और उनकी पूर्ति के उपाय बताते हुए उस ग्राम-स्वर्ग की मनोहर कल्पना की है जो कृषि-प्रधान भारत को सुखी बनाने की सच्ची आकाक्षा का प्रतीक है। प्रसाद की ये दो ही प्रमुख रचनाए है, जिनके माध्यम से उन्होने अपना व्यावहारिक समाज-दर्शन अधिक स्पष्टता व विशदता से प्रस्तुत किया है। अन्य ऐतिहासिक-पौराणिक काव्य व नाट्य-रचनाओ मे इन्होने अन्य युगो व समाजो के माध्यम से ही वर्तमान को सदेश दिया है। यह तथ्य भी प्रसाद की नवीन सामाजिक जागरूक चेतना का साक्षी है।

समाज का अस्तित्व प्रसाद को इसलिए भी स्वीकार है कि समाज के ही बीच व्यक्ति वाछित साधनो को पाकर अपने भीतर छिपी शक्तियों का पूर्ण और सर्वागीण विकास करके अपनी चरम नियति (Destiny) को उपलब्ध करता है। समाज की स्थिति व उसकी सहायता के अभाव में व्यक्ति की स्थिति दयनीय है। पर, जैसा कि कहा जा चुका है, समाज है अतत केवल व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए साधन-मात्र ही। जहा समाज व्यक्ति को निर्जीव कठपुतली कर देता है, वहा प्रसाद ऐसे समाज के प्रति घोर विद्रोह का झडा खडा करते है और एक नवीन समाज की स्थापना के लिए क्राति करते है। यमुना और विजय (ककाल) की तीव्र-सजल क्राति ऐसे ही समाज का तख्त पलट देने की है। पर, प्रसाद एक यथार्थवादी साहित्यकार की तरह विजय की मौन मृत्यु के माध्यम से करुण स्वर में मानो यह भी कह देने को विवश हो जाते है कि 'ससार तेरी जय हो।' ('बेडी' कहानी)। 'विजय' की आखो के आगे का समाज मानो एक निर्मम, भीमाकार व निष्प्राण लौह-यत्र है। प्रसाद अपने साहित्य में इस लौह-यत्र का मनोयोगपूर्वक, पैना व विशद विश्लेषण कर सके है, व सवेदनाशीलो को उसके विकृत रूप से मुक्त होने की प्रेरणा भी सफलतापूर्वक दे सके हैं, पर एक सच्चे यथार्थवादी लेखक की तरह उसकी भीषणता या भयावहता से हमे भली भाति अवगत भी करा गये है।

समाज के सर्वागीण विकास की पहली शर्त है कि समाज में शताब्दियो से बद्धमूल जडताए व कुरीतिया समूलोच्छिन्न हों। दभ, गुरुडम, ऊच-नीच भावना, मिथ्या रक्ताभिमान, मत्र, रामनामी, तिलक-छापे, झालर-घडियाल सबने रास्ता रोक रखा है। जब तक ये विकार जोंक बनकर समाज का रक्त चूस रहे हैं, तब तक मानव उस महान् आनद का रस कैसे चख सकता है, जो प्रसाद ने जीवन-भर की साधना करके उसके लिए तैयार कर रखा है।

व्यक्ति के सुख, आत्मस्वातत्र्य व आत्मानद के प्रति ही प्रसाद का आद्यत व सर्वोपरि आग्रह है। समाज के माध्यम से ही वे यह चाहते हैं क्योंकि इस माध्यम के बिना व्यक्ति के जीवन के ये महान् मूल्य भी स्वाद-हीन, अप्रामाणिक व अनाकर्षक है। प्रसाद स्पष्ट कहते है

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकात स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
औरों को हसते देखो मनु, हसो और सुख पाओ,
अपने मन को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।

—कामायनी

प्रसाद समाज-रूपी मिट्टी के दीपक के सहारे इस जोत को जगाना चाहते हैं। उनका

विश्वास है कि व्यक्ति का वास्तविक विकास समाज के स्वस्थ बधनों व मर्यादाओं में ही है, अत वे उच्छृखल-असयमी व्यक्तियो को मर्यादित, विवाहित या दायित्वपूर्ण जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। उदाहरणार्थ, 'एक घूट' का कवि पात्र आनद और 'मधुआ' कहानी का शराबी बुड्ढा सयम और दायित्व-भावना को ग्रहण कर जीवन व सस्कृति की ऊचाइयों की ओर उठाये गये है।

प्रसाद की आखों मे सुखी और स्वतत्र भावी मानव-समाज का सदा एक अभिनव, मोहक व रगीन चित्र बसा हुआ है। स्वतत्रता, समानता व बधुता के सर्वोच्च प्रजातात्रिक मूल्य प्रसाद के लिए गहरा आकर्षण रखते है। एक ओर वे उत्तुग आदर्शो के प्रति रीझभरे है तो दूसरी ओर सामाजिक मर्यादाओ व नियम-विधान के प्रति भी अवज्ञाशील नही। एक ओर वे समाज की सुमृदु गति के लिए विवाह-सस्था का पोषण करते दिखायी पडते है तो दूसरी ओर मानव की ही मुक्ति की भावना से रामगुप्त की विवाहिता ध्रुवस्वामिनी को अपने पति से ही मुक्ति दिलाकर—जड विवाह मत्रों और शास्त्रों की सारी व्यवस्थाओं की धज्जिया उडाकर—अकाट्य तर्कों से पुनर्विवाह की भी सहर्ष योजना करते है। कहने की आवश्यकता नही कि प्रसाद समाज की डाल पर ही व्यक्ति के पुष्प को उसकी पूरी सुषमा मे खिलाना चाहते है। सक्षेप मे, मानव के इस सुख-विधान के सदर्भ मे प्रसाद का दृष्टिकोण पूर्णतया सामाजिक है। समाज और उसकी स्थिति-रक्षा उन्हे पूर्णतया इष्ट है। वे समाज ही नही, समाज में शिष्टजनोचित सभ्यता के—मानवो के परस्पर स्निग्ध मृदु-व्यवहार, शील-शिष्टाचार, मेल-मिलाप, आमोद-प्रमोद, उत्सव-आयोजना आदि सभी के—भी समर्थक व उसके प्रति पूर्ण उत्साही हैं, अतत यह सब मानव की मूल आनद-वृत्ति को ही जीवित व पुष्ट रखने का उद्योग है जो उनके प्रिय 'आनद' में पर्यवसित हो जाता है।

3. नारी प्रसाद के साहित्य का अनुशीलन करने पर दिखायी पडता है कि विचार या चितन के क्षेत्र मे प्रसाद ने मानव-समाज के उत्तमाश नारी पर अत्यत सहानुभूतिपूर्वक विस्तृत और गहन विचार किया है। नारी के जितने भी रूप कल्पित किये जा सकते हैं—उदाहरणार्थ मा, बहन, भाभी, प्रणयिनी, पत्नी, सखी-सहचरी, देशसेविका, तपस्विनी, धर्मप्राणा, भक्तिन, प्रेमयोगिनी, साधिका, गृहिणी, कुटुबिनी, विदुषी, सर्वमगला, कल्याणी, अन्नपूर्णा, श्रमजीविका, वेश्या, कुट्टनी, विद्रोहिणी, महत्त्वाकाक्षिणी, रूपगर्विता, नाशकारिणी, विलासिनी-उन्मादिनी, छद्मवेशिनी, मायाविनी, प्रभुतामयी, दडनीया, पतिता-लाछिता, प्रमदा, उच्छृखला आदि[25]—उन सबका वर्णन कर प्रसाद ने नारी के आदर्श और यथार्थ दोनों रूपों को अपनी परिपूर्णता में प्रस्तुत किया है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नारी जीवन के जितने पक्ष कवि ने लिये हैं, वे इतने शीर्षकों के अतर्गत समाहित किये जा सकते हैं—(1) नारी का मूल या आदर्श स्वरूप, (2) नारी का सृष्टि-विधान में, जीवन में और समाज में, महत्त्व व स्थान; (3) नारी-स्वातत्र्य, (4) नारी की आर्थिक दशा, (5) नारी, प्रेम और विवाह, (6) नारी के गुण और अवगुण, (7) नारी-जीवन की विडबना व नारी की वर्तमान दुरवस्था, पुरुष का नारी के प्रति अत्याचार, (8) नारी · अतीत शताब्दियो में, (9) नारी की समस्याए, विश्लेषण और समाधान; (10) हिंदू विधवा और उसका जीवन आदि। लेखक ने अपने विचारों को अनेक स्थलों पर सवादों के बीच या सूक्तियों के रूप में व्यक्त किया है, किंतु प्रसाद के बहुत से विचार, पात्रों की गति, जीवन-परिणति तथा कृतियों की सामूहिक

ध्वनि से व्यक्त होते हैं। अनेक विचार नारी-सबधी समस्याओं को उठाने व उनके निदान, विश्लेषण तथा समाधान प्रस्ततु करने के रूप मे व्यक्त हुए है। सत्पथ पर स्वभावत चलने वाली कुछ नारिया परिस्थितिवश दिग्भ्रात व स्खलित भले ही कही हो गयी हो, किंतु सभी आदर्श नारिया अपने चरित्र का आद्यन्त निर्वाह करती है। सभी स्खलनशील विपथगामिनियो को प्रसाद अत में उच्च नारीत्व के पथ पर ले आते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्रसाद का नारी के प्रति मूल दृष्टिकोण आदर्शात्मक है। उनका विचार है नारी सर्वमगला कल्याणी शक्ति है। वह मानव की जननी, धात्री, प्रथम अध्यापिका व समाज का आधार-स्तभ है। वही घर की शोभा है, राष्ट्र की शक्ति है, धर्म-ध्वजा व मगलमयी साकार ज्योति है। नारी के सबध में प्रसाद की यही मूल विचार-भित्ति है, और इसी विचार को समर्थित, पोषित व प्रचारित करने के लिए उन्होने विभिन्न आयु, पद, सामाजिक स्थिति व वर्ग की स्त्रियो को, कला की पद्धति से, हमारे सामने विभिन्न साहित्य-रूपो मे चित्रित किया है। नारी और नारी-जीवन के अत्यत कोमल-करुण और मार्मिक चित्रो को लेखक ने अपनी जीवन-दृष्टि के आलोक मे हमारे सामने प्रस्तुत किया है और साथ ही अपने विचार भी शक्तिशाली रूप व आवरण में प्रस्तुत किये है, जिससे कि समाज में उन विचारो का प्रचार-प्रसार हो, और परिणामस्वरूप उनके आदर्शों की नारी विश्व और समाज के बीच अवतरित हो सके। नारी-सबधी विचारो के कलेवर की विशालता को देखकर कहा जा सकता है कि प्रसाद प्रताडित, बदी व विवश नारी के सच्चे, मुक्तिकामी, त्राता, दृष्टिदानी व मित्र थे। उन्होने नारी की आत्मा में उतरकर उसका नीरव क्रदन बहुत ध्यान से सुना है और उसके उद्धार के लिए कृतसकल्प है।

प्रसाद की विचारधारा का बृहदाश नारी-विषयक चितन में खप गया है। इस चितन का मर्म-बोध करने के लिए हमें उनके कतिपय उन प्रश्नों को ध्यान से सुनना चाहिए जो प्रसाद की नारियों ने, इस कोलाहलपूर्ण ससार के बीच, अपने हृदय के गूढतम स्तरो से, अपनी पूर्ण असहायावस्था में पुरुषों से किये है, और (2) उन जीवन-स्थितियों पर विचार करना चाहिए, जिनके कारण नारी की स्थिति इतनी करुण-दयनीय है। प्रसाद ने नारी-सबधी जो चितन किया है, उसमें यह पीडा निहित है कि सृष्टि के अर्द्धांश या उत्तमाश की जब तक यह दशा है, तब तक वह सृष्टि कैसे पूर्ण व आनदमय कहलाने का दावा कर सकती है। नारियों के कुछ सनातन गूढ-गभीर प्रश्न ये है

'तो क्या स्त्रिया अपने लिए कुछ भी नही कर सकती ? उन्हें अपने सोचने का अधिकार भी नही है ?'[26] 'क्या स्त्री होना कोई पाप है ?'[27] 'स्त्रियों को सब जगह ऐसी ही बाधाए होंगी। क्या तुम उनकी दुर्बलता सहानुभूति से नही देख सकोगे ?'[28] जनमेजय जब मणिमाला को स्वीकार नही करता तब व्यास जनमेजय से कहते है—'क्या अबला होने के कारण यही सब ओर से अपराधिनी है ?'[29] ध्रुवस्वामिनी पूछती है—'परतु राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नही हो सकता[30] स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे उसका फल क्या अच्छा होगा ?'[31]

ये कुछ प्रतीक प्रश्न हैं, जो शाश्वत नारी शाश्वत पुरुष से करती आयी है और सभवत करती चलेगी। नारी की वास्तविक स्थिति का अकन प्रसाद ने बडी तल्लीन भाव से किया है। स्थूल दुनियादारी दृष्टि से मानो अविवाहित स्त्रिया शोभा-वृक्ष हैं, तथा वे ढाचे में ढली हुई

प्रतिमा है, वे पुरुषो की पूछ है ।[32] देवसेना नारी-जीवन को क्षुद्र व करुण कहने को विवश हो गयी है ।[33] पुरुष की दृष्टि मे स्त्री ऐसी है कि मानो उसे कोई रहस्य बताया नही जा सकता ।[34] प्रसाद ने पुरुषो के द्वारा स्त्री के प्रति अत्याचार के अनेक करुण चित्र अकित किये हैं ।[35] अत्याचार पुरुषो का अभ्यास है ।[36] ऋषि विश्वामित्र सुव्रता को छोडकर तप के लिए वन में चले जाते हैं ।[37] स्त्री की वास्तविक स्थिति यह है कि उसे विवाद करने का अधिकार नही ।[38] वह मानो उपहार की वस्तु है । पुरुष का जहा जी चाहे, वह बलि-पशु की तरह भेज दी जाती है ।[39] पुरुष तो कही भी भाग जाता है, पर बेचारी नारी कहा भागे ।[40] निरपराध स्त्री समाज की कुवासना के वशीभूत भगायी जाकर पुन सत्पथ पकडने के लिए घर लौटती भी है तो (घटी) बेधरम होकर, इसलिए वह समाज को स्वीकार्य नही ।[41]

(4) **कुटुब-परिवार** · परिवार व गृहस्थ-जीवन समाज का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण मर्म-सस्थान है। प्रसाद की परिवार व गृहस्थ-सबधी विचारधारा उनके द्वारा अकित अनेक मधुर चित्रो द्वारा व्यक्त होती है। परिवार, समाज का एक घटक है। उसकी दृढता, गठन, व्यवस्था और सुचारुता पर ही समाज और विश्व का सुख निर्भर है। प्रसाद के समस्त साहित्य का अनुशीलन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

विराग-निवृत्तिमूलक जीवन-पद्धतियों के प्रचार-प्रसार मे विशेष प्रवृत्त रहने वाले वेदातियो, योगियों व दु खदायी-शून्यवादी बौद्धों के कारण भारतीय गृह-परिवार व्यवस्था शताब्दियो तक विशृखल रही। घर-परिवार के पूरे सामाजिक महत्त्व, गौरव और सौंदर्य को भली भाति समझकर प्रसाद ने अपने साहित्य में गृह-जीवन का पुन जीर्णोद्धार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'कामायनी',[42] 'तितली'[43] 'स्कदगुप्त',[44] 'जनमेजय का नागयज्ञ',[45] 'विशाख',[46] 'अजातशत्रु'[47] आदि रचनाओ मे और अनेक कहानियो में[48] प्रसाद ने गृहस्थ जीवन-सौंदर्य के कुछ मार्मिक सकेत व अत्यत स्निग्ध चित्र अकित किये है। इनके भावन से प्रसाद की गृहस्थ-सबधी उच्च धारणा का सहज ही अनुमान हो सकता है। अनेक पात्रों के मुख से प्रसाद ने मानो अपने ही विचार व्यक्ति किये हैं 'तितली' की शैला कौटुबिक कोमलता में ले भारतीय हृदय में परपरागत सस्कृति के कारण परस्पर सहानुभूति व सहायता की आशाओं के बलवती रहने की बात प्रशसात्मक स्वर मे कहती है।[49] 'चद्रगुप्त' मे कात्यायन कहता है—'गृहस्थ जीवन कितना सुदर है।[50] गृहस्थ जीवन में सौ बधनों व कष्ट-कटकों के होते हुए भी जो एक मधुर लाभ है, उसका उल्लेख 'एक घूट' का झाड़ू वाला करता है—"क्योंकि हम लोग दीवार से घिरे हुए एक बडे भारी कुजवन मे सुखी और सतुष्ट रहना सीखने के लिए बदी बने हैं।"[51] "पारिवारिक वातावरण में झगडा और मान-मनौवल के बीच भी जैसे इसी भीषण ससार में स्वर्ग हसने लगता है।"[52] सुख की आशा से लदी हुई 'विशाख' की चद्रलेखा परिवाररूपी अपना छोटा-सा विश्व त्यागने में असमर्थ है।[53] परिवार के छोटे-से सुख पर बाकी बडे सुखवाले ईर्ष्यालु क्यों हैं ?[54] 'अजातशत्रु' मे वासवी स्नेह-दान का सुखानुभव करती है—'कुटुब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी हो सकता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवन् ! क्या कभी वह एक दिन भी आयेगा जब विश्व-भर में कुटुब स्थापित हो जायेगा और मानवमात्र स्नेह में अपनी गृहस्थी सभालेगे ?'[55] प्रसाद जी तो स्वयं ईश्वर को विश्व मदिर का नाथ और विश्व को गृहस्थ ही कहते हैं,[56] जो वासवी की उपर्युक्त भावना के मेल में ही है। दापत्य-सुख इतना ऊचा और पवित्र है कि

'चूडीवाली' के हृदय में वेश्यावृत्ति को छोडकर कुलवधू बनने की अभिलाषा तथा उसकी आखों में दापत्य-सुख का स्वर्गीय स्वप्न समाया है।[57] आदर्श हिदू गृहस्थ की-सी तपस्या करने में अपना बिखरा हुआ मन उसने लगा दिया है।[58] गृहस्थ कुलवधू बनने के लिए 'चूडीवाडी' ने कठोर तपस्या की है,[59] और उसे विश्वास हो गया है कि कुलवधू होने मे महत्त्व सेवा का है, न कि विलास का।[60] 'आधी' में श्रीनाथ प्रसन्नता की स्निग्ध लहर मे पारिवारिक सुखो से लिपटा हुआ 'प्रणय-कलह' देखने का आकाक्षी है।[61] बौद्ध प्रज्ञासारथि भी गार्हस्थ्य जीवन से परिचित होना चाहता है।[62] कुटुब के स्नेहपूर्ण वातावरण व सेवा से ही कपिजल वज्रहठ छोडकर आज्ञाकारी बालक की तरह विनीत हो जाता है।[63]

विविध पारिवारिक स्नेह-सबधों के बीच में भी प्रसाद की तद्विषयक विचारधारा ध्वनित होती है। 'राज्यश्री', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु' व 'दासी' कहानी मे बहन-भाई (राज्यश्री-श्रीहर्ष), आस्तीक-मणिमाला, पद्मावती-अजात, तिलक व इरावती, 'तितली' व 'सदेह' कहानी में देवर-भाभी (इद्रदेव-नदरानी आदि), 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे बूआ-भतीजी (मनसा-मणिमाला), 'स्कदगुप्त' में ननद-भाभी (देवसेना-जयमाला), 'अजातशत्रु' मे पिता-पुत्र (बिबसार-अजात,), 'कामायनी', 'ककाल' व 'अजातशत्रु' में माता-पुत्र (श्रद्धा-कुमार, गोविदी-मगल, वासवी (सौतेली-अजात), आदि स्नेह-सबधो का बडा सजीव व मोदकारी अकन हुआ है।

प्रसाद सेवा, स्नेह, सहानुभूति नामक उच्च गुणो की नीव पर सुखी घर की स्थापना के प्रयत्न मे आद्यत निरत हैं। परिस्थितियो से आज जो इस दिशा में शैथिल्य आ गया है उसके प्रति प्रसाद अत्यत सजग है। सम्मिलित कौटुबिक जीवन के दु खदायी होने व उसकी कडिया चूर-चूर होने पर प्रसाद ने इद्रदेव के मुख से गहरी चिता व्यक्त की है।[64]

5 प्रसाद की सामाजिक व सास्कृतिक विचार-क्राति साहित्यकार जीवन का आराधक होता है और जीवन कहते हैं, अज्ञात आदर्शों की ओर नव-नव विचार-क्रातियो की प्रेरणा से व्यक्ति और समाज के अनवरत रूप से कल्याण-पथ पर बढते चलने को। वैचारिक क्रातिया प्राय' दार्शनिक जगत् में ही होती है, पर अलौकिक प्रतिमा की स्फूर्ति से कवि की भी नयी वैचारिक सूझे हो सकती हैं, अथवा वह क्रातिमयी प्रतिभा के बल से प्रचलित रूढ विचार-सरणियो को ढहाकर या उनके विशिष्ट अनुपात के मिश्रण से नवीन विचार-पथ भी खोल सकता है। पर साहित्यकार यह कार्य, कलात्मक प्रभविष्णुता के लिए, अपनी रचनाओं में अपने कथानको को ऐतिहासिक या वर्तमानकालीन पीठिका देकर, पात्रों के जीवन-व्यापारों के माध्यम से ही शक्तिशाली रूप से सपन्न करता है। इससे विचार की निजी ऊष्मा के साथ ही कला की रंजकता के मिश्रण से विचार और भी सुग्राह्य व प्रेरक-उत्तेजक हो उठते है। इस प्रकार साहित्यगत विचार जीवन के जाड्याधकार को भेदकर व्यक्ति व समाज को नई स्फूर्तिया व दृष्टिया प्रदान कर साहित्यकार की चरम सिद्धि में सहायक होते है। आनदवादी प्रसाद जीवन मे अपने परम प्रिय आनद की प्रतिष्ठा की ही दृष्टि से इस वैचारिक क्राति की अवतारणा करते है।

प्रसाद की महत्त्वपूर्ण विचार-क्राति जीवन के स्वस्थ व परिपूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए हुई है। 'इरावती' उपन्यास व 'देवरथ' कहानी में कृत्रिम व प्राणरोधक जीवन-प्रणालियों के प्रति प्रचड विद्रोह करके स्वस्थ व प्राकृतिक जीवन के स्वरूप को उद्घाटित और पुन स्थापित करने का प्रकाड प्रयत्न है। जीवन-चेतना ही तो ससार की धड़कन है और वही

जड़ नियमों के जबड़ों में पहुंचकर छटपटा रही है। जीवन के सही स्वरूप को मुक्त कराने की यह आग प्रसाद के हृदय में बड़ी प्रचंडता से जली है। वस्तुतः जीवन के सहज-स्वाभाविक रूप की प्रतिष्ठा प्रसाद की एक महान् सांस्कृतिक देन है। दूसरी अत्यंत महत्त्वपूर्ण व युगोचित क्रांति है देवता व स्वर्ग, आदि की तुलना में मानव व पृथ्वी के गौरव की स्थापना। 'कंकाल' में प्रसाद ने सब संकीर्णताओं को तोड़कर इस मानववाद की व्यापक प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है। 'अजातशत्रु' में प्रसाद लिखते हैं—'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो संपूर्ण मनुष्य है।'[65] 'कामायनी' में तो उन्होंने विलास-जर्जर देवताओं की स्वर्ग-दृष्टि को प्रलय की लहरों में डुबाकर मानव और मानव-सृष्टि के ही गौरव को उद्घाटित करने का पथ प्रशस्त किया है। और भी आगे बढ़कर परम ऐश्वर्यों की राशि पृथ्वी को ही इस रूप में दिखाया है कि वह उदार या दाता की तरह स्वयं स्वर्ग को अपनी महत्त्वपूर्ण निधियां दे पाने में पूर्ण समर्थ है—

वह अनंत नीलिमा व्योम की जड़ता-सी जो शांत रही,
दूर-दूर ऊंचे से ऊंचे निज अभाव में भ्रांत रही।
उसे दिखाती जगती का सुख हंसी और उल्लास अजान,
मानो तुंग तरंग विश्व की हिमगिरि की वह सुढर उठान।

—कामायनी : आशा सर्ग

कहने की आवश्यकता नहीं कि काल्पनिक स्वर्ग की तुलना में यथार्थ पृथ्वी के गौरव की यह प्रतिष्ठा आधुनिक चिंतन का एक उत्कर्ष-बिंदु है। आज तो कवि पंत भी कहते हैं :

देखो भू को—पुण्यप्रसू को!

प्रसाद की इस क्रांति के विशिष्ट स्फुल्लिंग उनके साहित्य में इस रूप में प्रकट हुए हैं :

प्रसाद को स्वर्ग अपेक्षित नहीं है।[66] पृथ्वी अधिक ऐश्वर्यशालिनी व पूर्ण है, और देवत्व से अधिक ऊंची वस्तु मानवता है।[67] कोरे निर्वाण में भी प्रसाद का विश्वास नहीं है।[68] वे समाज की जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों पर निर्ममता से प्रहार करते हैं। समाज की पीड़ा कम करने को विवाहिता अथवा विधवा का पुनर्विवाह कराने की उन्होंने व्यवस्था की है।[69] वे हिंदू जीवन के उन अंशों के प्रति भी पूर्ण निर्मम हैं जो जीवन को जड़ बना देते हैं। 'भिखारिन' कहानी का 'निर्मल' झूठी धार्मिक भावना के आधार पर गंगा में स्नान करने को प्रस्तुत नहीं है।[70] मंदिर का घड़ा कोरा दंभ-मात्र का प्रतीक है।[71] प्रसाद कोरे तप को जीवन का सत्य नहीं मानते।[72] वे इंद्रिय भोग व सांसारिक विभूतियों की उपेक्षा नहीं करते।[73] जीवन का रस-भोग प्रसाद को इष्ट है, किंतु साथ ही इंद्रिय भोग-लालसा का अतिरेक प्रलय का आह्वान भी करता है—यह तथ्य भी वे स्पष्ट कर देते हैं।[74] अतः अबाध इंद्रिय भोग का आश्वासन देने वाले देवपद की प्राप्ति के लिए होने वाले यज्ञों की भी प्रसाद ने निःसारता निरूपित की है।[75] धर्म के क्षेत्र में कोरे मंत्रों की निःसारता भी वे स्पष्ट कर देते हैं।[76] निषेधमूलक या निवृत्तिमार्गी जीवन का पोषण या संवर्द्धन करने वाली विचारधारा के खिलाफ तो प्रसाद ने मानो जिहाद ही बोल दिया है। उन्होंने नियमों का खोखलापन दिखाते हुए प्राकृतिक व सहज जीवन का विरोध करने वाली विचारधारा के प्रति उग्र व जीवंत विद्रोह किया है, और एक प्रकृत जीवन-प्रणाली की स्थापना की है।[77] क्रांतिकारी समाजवादी विचारधारा का स्वर अन्यत्र भी स्पष्ट सुनायी पड़ता है।[78] जातीयता व स्पर्श्यास्पर्श्य की भावना का भी उपहास किया गया

है।[79] हरिजन-मदिर-प्रवेश की दिशा में भी सामयिक क्राति की गयी है।[80] शरीर-धर्म का उल्लघन करके स्थूल धर्म का निर्वाह लेखक को इष्ट नही।[81] हिदू शास्त्र की कठोरता लेखक को उचित नही जान पडती।[82]

इस प्रकार प्रसाद जी सामाजिक चेतना से सपन्न दिखायी पडते है। प्रसिद्ध समाजवादी चितक और आलोचक डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं—'वे एक वर्गहीन साम्ययुक्त समाज-व्यवस्था के समर्थक थे, इसका स्पष्ट सकेत उनकी रचनाओं मे मिलता है। उसका सामाजिक दृष्टिकोण उनके दार्शनिक विचारों का पूरक है।[83] एक रहस्यवादी-रोमाटिक साहित्यकार के चिंतन मे भारतीय विधान द्वारा स्वीकृत समाजवादी प्रजातात्रिक मूल्यो के समावेश का यह तथ्य उनके व्यक्तित्व को निश्चय ही एक अतिरिक्त और गहरा आकर्षण प्रदान करता है और यथार्थ की भूमियों पर भी प्रसाद के पुनर्परीक्षण और पुनर्मूल्याकन का आह्वान करता है।

राजनीतिक विचारधारा

प्रसाद की राजनीतिक विचारधारा उनके द्वारा लिखित उत्कृष्ट नाटको—'स्कदगुप्त', 'चद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि—के राजनीतिक घटनाचक्रो व प्रमुख पात्रों के जीवन-व्यापारों से आकलित की जा सकती है। प्रसाद जी की व्यावहारिक राजनीति-विषयक विचारधारा और नीति-निपुणता के स्वरूप के परिज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत चाणक्य का चरित्र है। चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड किया करती है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने में क्या-क्या उचित या विधेय है, अपने व्यावहारिक-राजनीतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए क्या-क्या अस्त्र काम में लाये जा सकते हैं, कूटचक्रों का सृजन-प्रवर्तन कैसे होता है, राजनीतिक चालो या दाव-पेच अथवा कूट-चातुरी के द्वारा किस प्रकार सफलता अतत चरणों की चेरी बनती है, यही प्राय राजनीतिक क्षेत्र की गतिविधि की अथ-इति है।

किंतु प्रसाद ने राजनीति मे कही भी अन्याय या असत्य को प्रश्रय नही दिया है। उनकी राजनीतिक विचारधारा जगन्मागल्य से पूत है। चाणक्य परपीडक शत्रु के पराभव के उत्साह की भावना से पूर्ण होकर, अपने व्यक्तिगत अपमान के स्वाभाविक प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर राजनीतिक सूक्ष्म-जटिल खेल खेलता है, किंतु अत मे वह चद्रगुप्त को भारत का सम्राट बनाकर निष्काम आनद की ज्योति का पथिक हो जाता है। प्रसाद ने जगत्-कल्याण की भावना से शून्य कुटिल राजनीति की सर्वत्र ही निदा की है। ध्रुवस्वामिनी कहती है—'राजचक्र सबको पीसता है।'[84] राजनीति के विकृत स्वरूप से क्षुब्ध होकर गुप्तकुल की वह गरिमामयी कुलवधू पूछती है—'इस राजकुल मे एक मे भी सपूर्ण मनुष्यता का निदर्शन न मिलेगा क्या ?[85] मदाकिनी कहती है—'सच है, वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छद की धूलि उडती है।'[86] आचार्य मिहिरदेव कहते है—'राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब-कुछ नही है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सबध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ सकने की भूलकर सकते हो। परतु ।'[87] राक्षस राजसेवा को कुटिल व 'विश्वासघातिनी' कहते हैं[88] और भटार्क राजनीति को 'कालभुजगी'।[89] सरल

व्यक्ति 'हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा मे व्यक्त करना' नही जानते।[90] 'वस्तुत राष्ट्रनीति दार्शनिकता और कल्पना का लोक नही है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बडी कठिन होती है।[91] महामाया कहती है—'राज्यशक्ति का प्रलोभन, उसका आदर अच्छा नही है, विष का लड्डू है, गधर्वनगर का प्रकाश है। कब क्या परिणाम होगा—निश्चय नही है।[92] वस्तुत राजशक्ति बिजली की रेखा की तरह टेढी है।[93]

प्रसाद इसीलिए केवल अधिकार व सत्ता का कुत्सित खेल का खेलने को बढावा नही देते। बिंबसार जीवन की नीची किंतु सुदृढ परिस्थिति मे सतोष मानने को अधिक उचित समझता है।[94] चतुराई या राजनीतिक चतुराई प्रसाद की दृष्टि मे कोई ऊचा गुण नही है, क्योंकि सबसे बुद्धिमान प्राणी मनुष्य बार-बार धोखा खाता है।[95] समझदारी आने पर यौवन चला जाता है।[96] पर सयोगवश यह भी बहुत अच्छी बात है कि व्यवहार-कुशल मनुष्य ससार के भाग्य से उसकी रक्षा के लिए बहुत थोडे-से उत्पन्न होते है।[97] स्वय चाणक्य कहता है, 'जीवन राजनीतिक कुचक्रो से कुत्सित और कलकित हो उठा है। किसी छायाचित्र, किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसधान करता दौड रहा हू। शाति खो गयी, स्वरूप विस्मृत हो गया। जान गया, मै कहा और कितने नीचे हूं।[98] 'कामायनी' में मनु और इडा भी राजनीतिक वात्याचक्र मे पडकर अशात हैं।[99]

इस प्रकार प्रसाद जी राजनीति के स्वच्छ रूप को ग्रहण कर आत्म-कल्याण के लिए उसका उपभोग वाछित समझते है और जीवन के एक सच्चे कलाकार की तरह उसके विकृत रूप से बचकर स्वच्छ व उदात्त मानव भूमिका पर रहकर ही जीवन का रस-रहस्य ग्रहण करने की गूढ मत्रणा देते है।

आर्थिक विचारधारा

जीवन के व्यापक स्वरूप में 'अर्थ' (जिसमें ससार-यात्रा के लिए आवश्यक पार्थिव साधन-सबल सम्मिलित है) अपना विशिष्ट और निश्चित स्थान रखता है—धर्म, व्यवहार और कला-साहित्य, सभी धरातलों पर ('धर्मार्थकाममोक्षाणा'—गीता, 'चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति' —साहित्यदर्पण, 1/2)। साहित्यकार जीवन-परिस्थितियो का व्यापक व विशद निरूपण करता है, इस तथ्य में आर्थिक परिस्थितियों के निरूपण की आवश्यकता भी निहित है। प्रसाद आनदवादी थे—अर्थ-सबधी उक्त तथ्य से इस बात का किसी भी प्रकार विरोध नही। बात यह है कि आनद की वास्तविक प्रतिष्ठा तो जीवन में तभी होगी जबकि हमारा भौतिक परिवेश भी, जो बहुत कुछ 'अर्थ' से ही शासित-सचालित व रूपायित होता है, स्वस्थ व सतुलित हो। इस प्रकार अर्थ, मुक्ति या आनद का एक अनिवार्य सोपान है, सच्चा साहित्यकार अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि के पथ पर बढते हुए इस पक्ष की उपेक्षा नही कर सकता—वर्तमान अर्थ-प्रधान युग में तो और भी नही।

प्रसाद ने भी अपनी अनेक रचानाओ में—विशेषत 'ककाल' व 'तितली' नामक उपन्यास, अनेक कहानिया तथा 'स्कदगुप्त' आदि नाटक—अर्थ-पक्ष से सबधित जीवन-स्थितियों के निरूपण द्वारा अपने आर्थिक विचारों का उल्लेख, निरूपण या ध्वनन किया है। आर्थिक पक्ष के निरूपण के अवसर पर प्रसाद प्राय पूर्ण वस्तून्मुखी तथा व्यावहारिक रहे हैं। उन्होंने व्यक्तियों के धरातल पर अर्थ की विषमता से प्रसूत जीवन के स्वरूप का यथार्थ व

मार्मिक अकन तो अनेक स्थलों पर किया ही है,[100] व्यापक सामाजिक धरातल पर भी मनोयोगपूर्वक अर्थ-पक्ष का विश्लेषण-परीक्षण किया है। 'तितली' मे विशेष रूप से यह द्रष्टव्य है। धामपुर गाव को आदर्श ग्राम बनाने की योजना के माध्यम से प्रसाद ने अपनी अर्थ-विषयक विचारणा को स्पष्ट किया है और वे योजनाए (चकबदी, बैंक, सहकारी समितिया आदि) प्रस्तुत की है जिन्हे अपनाकर ग्राम या समाज का आर्थिक ढाचा व्यवस्थित किया जा सकता है, और इस प्रकार जीवन के श्रेष्ठ आनद की आरभिक भूमिका निर्मित हो सकती है।

नारी-जीवन के सदर्भ मे भी अर्थ-पक्ष पर विशेष रूप से विचार किया गया है। 'तितली' मे मुकदलाल कहते है कि स्त्री की मर्यादा की रक्षा की दृष्टि से, उसके लिए पर्याप्त रुपया आवश्यक है।[101] अन्यत्र भी स्त्री को केंद्र मे रखकर आर्थिक विचार प्रस्तुत किये गये है।[103]

जहा व्यापारिक दृष्टि से जीवन-विधान मे अर्थ का अनिवार्य महत्त्व निरूपित किया गया है, वहा कोरी अर्थपरायणता किस प्रकार विलास और नाश की भूमिका प्रस्तुत करती है—इस पर भी प्रसाद ने असदिग्ध शब्दों मे अपना मतव्य दे दिया है। 'ममता', 'सालवती', 'व्रतभग' आदि कहानिया इस दृष्टि से अत्यत महत्त्वपूर्ण है। मठ-मदिरो मे या ठाकुरद्वारो मे ब्याज कमाने का बिजनेस कैसा चलता है, यह भी यत्र-तत्र दिखाया गया है।

धार्मिक-नैतिक विचारधारा

प्रस्तुत प्रबध के इतिहास व चरित्र-चित्रण से सबधित प्रकरणो में हमने नैतिकता को क्रमश सभ्यता के आधारों मे से एक महत्त्वपूर्ण आधार के रूप मे तथा पात्रो की गौरव-गरिमा के एक विशिष्ट व आकर्षक गुण के रूप मे विस्तार से निरूपित किया है, अत यहा तत्सबधी विवेचना अनपेक्षित है। प्रसाद नैतिक व अनैतिक का निर्णय परपरागत नीति-नियमो के स्थूल आधार पर ही न करके मानवीय परिस्थितियो के सूक्ष्म-विशद आधार पर ही करते है। व्यक्ति रूप में प्रसाद यह निर्णय व्यापक मानवीय सहानुभूति के बल पर करके काव्यगत सत्य की पूरी-पूरी रक्षा करते है। स्थूल रूप मे मगल और देव निरजन समाज के आदर्श नेता है, पर वस्तुत वे कुछ और ही है। इसी प्रकार 'ककाल' के पात्र—विजय और तारा, तथा 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रति स्थूल निर्णय कुछ और ही होगा और वास्तविक और सच्चा निर्णय कुछ और। इन उदाहरणो की ओर सकेत करने का अभिप्राय प्रसाद की नैतिकता की मूलदृष्टि के स्वरूप का निर्देश है। अपने सभी पात्रो की नैतिकता-अनैतिकता का निर्णय प्रसाद अपने इसी आधारभूत मानदड से करते है। परिस्थिति, जीवन का स्वरूप, मनोविज्ञान और देश-काल सभी के सम्मिलित योग से सच्ची धार्मिकता या नैतिकता का यह उदार मानदड तैयार हुआ है।

इस परिवेश मे अब यह अधिक सरलता से कहा जा सकता है कि प्रसाद समाज मे उच्चकोटि की नैतिकता की स्थापना चाहते हैं। उनके प्राय सभी अनैतिक पात्र किसी-न-किसी रूप में दडित हुए है;—हा, सज्जन पात्रो को (जैसे, 'ककाल' का विजय) भले ही समुचित पुरस्कार न मिला हो। प्रसाद की नैतिक विचारधारा से सबधित स्थूल अवातर विवरण उनके द्वारा रचित पात्रों के स्वरूप-विश्लेषण से प्राप्त हो सकता है। अनेक स्थलों पर प्रसाद ने हिसा-अहिंसा, स्वर्ग-नरक, बलि-कर्म, आत्महत्या, पाप-पुण्य, सत्य-मिथ्या, विधि-निषेध आदि की मीमांसा के द्वारा अपनी नैतिकता-विषयक दृष्टि को प्रकाशित किया है। सालवती, कमला

(लहर), विजया (स्कदगुप्त), विजय (ककाल) आदि पात्रो की व्याख्या करके प्रसाद की नैतिकता की भावना का वास्तविक स्वरूप हृदयगम किया जा सकता है।

प्रसाद रूढिवादी धर्म के सर्वत्र ही निदक हैं। 'ककाल' मे इसी स्थूल धर्म के विरुद्ध क्राति करक उन्होने उसका भडाफोड किया है। वस्तुत 'प्रसाद' के हाथो सनातन काल से प्रचलित रूढि-जर्जर धर्म, जाति-पाति की भावना से मुक्त होकर मानव-व्यवहार व आचरण पर आधारित स्वच्छ मानव-धर्म अथवा सस्कृति के रूप मे परिणत हो गया है। 'ककाल' में जो मठ-मदिर व पडे-पुरोहित आदि से सबधित विस्तृत निरूपण हुआ है, उससे प्रसाद की स्थूल धर्म-विषयक विरक्ति स्पष्ट है। 'करुणालय' व 'कामायनी' के द्वारा धर्म के नाम पर होने वाली बलि व यज्ञ-कर्म की निस्सारता स्पष्ट है। 'इरावती' उपन्यास व 'देवरथ' तथा 'देवदासी' आदि कहानियो मे धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचार का अत्यत मार्मिक व सशक्त वर्णन हुआ है। नियम-विधान के चक्कर मे पडे बिना अन्य जातियों मे नीति और धर्म का कितना स्वच्छ व प्रकृत रूप स्वयमेव जीवित रहता है, यह 'चदा' कहानी तथा बदन-गूजर व गाला (ककाल) के जीवन-क्रम से सहज स्पष्ट है। प्रसाद की धर्म-विषयक विचारधारा के प्रमुख सूत्र उक्त सामग्री से आकलित किये जा सकते हैं।

सास्कृतिक विचारधारा मानववाद

काल्पनिक देवताओ व स्वर्गिक जीवन की तुलना मे मानव और मानव-जीवन का आधुनिक गौरव-स्थापन विचार-जगत् की एक विराट क्राति का परिणाम है, जो प्रसाद के साहित्य में सर्वत्र दिखायी पडता है। वस्तुत इस मानववाद या मानवतावाद का अभ्यास भारत देश अत्यत प्राचीनकाल मे सफलतापूर्वक सपन्न कर चुका है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन' तथा 'न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किन्चित्' उस अभ्यास के प्रकाश-स्तभ हैं। किंतु राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक कारणों से इस मानववाद की ज्योति कालातर मे मद पड गयी। अर्वाचीन युगों में यूरोप में फ्रास की राज्य-क्राति ने अपने मानव को सिर उठाकर चलने का नवीन अवसर दिया।

वस्तुत आधुनिक मानववाद मध्य युगो की अनेक 'आदर्श' मान्यताओ के प्रति एक तीव्र विद्रोह है। उसने मानव और उसकी पूर्णता का विशेष आग्रह रखा है।[103] वह ऊपरी आरोपित शासन व प्रभुत्व को महत्त्व न देकर स्वानुभव के द्वारा सीखने को अधिक महत्त्व देता है।[104] उसने मानव की स्वतत्र इच्छा और विकासमान वास्तविकता को आधारभूत सिद्धातो के रूप में अपनाया।[105] मानव की बौद्धिक चेतना पर उसने विनय या मृदुलता के नियत्रण को महत्त्वपूर्ण बताया है।[106]

इस मानववाद की केंद्रीय भावना यह है कि पृथ्वी का मानव ही सब-कुछ है और वह वस्तुओं की अतिम नाप है। इस पृथ्वी पर मानव से बढकर और कोई नही। काल्पनिक देवताओं को या अन्य योनियों के किसी भी व्यक्ति को शक्ति, आकार व योग्यता-प्रतिभा में बडा बताकर मानव का अवमूल्यन करना मानो आत्महीनता का अपराध है। मनुष्य स्वरूप और गुणो से जैसा है, उसी रूप में रहकर वह अपना कल्याण स्वय कर सकता है। मानव का सुख-दुख, अश्रु-मुस्कान, विजय-पराजय, गुण-अवगुण, आशा-आकाक्षा, वासना, स्वप्न-कल्पना, सग्रह-त्याग, सब-कुछ अपनी जगह महत्त्वपूर्ण है। वह उपहास्य या

उपेक्षणीय कदापि नही। अपनी सहज क्षमताओ और सीमाओ के साथ मानव प्रकृति से सनातन सघर्ष करता हुआ अपनी विजय-यात्रा के पथ पर अनवरत गति से बढता आया है, यह तथ्य मानव के गौरव का साक्षी है। इस गौरव को किसी भी काल्पनिक गौरव या अव्यवहार्य आदर्शो की तुला व अलौकिक काल्पनिक, इद्रियातीत, जीवन के स्वरूप व मूल्यो से तौलकर उसे किसी भी प्रकार हल्का बताना मानव व जगत् का अवमूल्यन है।[107] जीवन-कला, साहित्य, समाज आदि के सतोषजनक व सर्वोच्च मूल्य मानव के इस स्वरूप को ध्यान मे रखकर ही निर्धारित किये जा सकते हैं। अपनी सहज क्षमताओ व प्राकृतिक अभावो के साथ भी इस पृथ्वी पर ही मानव अपने भावो वे विचारो की श्रेष्ठ विभूतियो से अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेगा। उसे किसी अलौकिक सिद्धि व मुक्ति की कामना नही। वह जगत् व जीवन के सौ-सौ बधनो के बीच भी उच्चकोटि की साधना से सहज व मधुर मुक्ति का विधान कर लेगा, अत वह इस विश्व को प्रेम और आकर्षण की वस्तु समझ सकता है, निस्सार नहीं।[108]

प्रसाद जी ने अपने साहित्य में स्वस्थ मानवता के स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। अनेक पात्रो के जीवन को उन्होने इसी मानवतावादी विचारधारा के साचे मे ढालकर तैयार किया है। 'ककाल', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'स्कदगुप्त', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व', 'कामायनी' आदि कृतिया तथा अनेक कहानिया ('गूदड साई, 'आधी', 'चित्रवाले पत्थर', 'शरणागत', 'प्रतिध्वनि', 'मधुआ', 'देवदासी', 'विराम-चिह्न', 'देवरथ', 'नूरी', 'अमिट स्मृति', 'सलीम' आदि) इस मानववाद का ही पोषण व परिष्करण करती हैं। तारा, विजय, घटी, मल्लिका व 'तितली' के अनेक पात्रो के माध्यम से वह मानववाद भली भाति व्यक्ति हुआ है।

गीति-काव्य की अतरग भूमि पर भी प्रसाद ने इसी मानववाद को स्वीकृति दी है। वासना, सुख-दुःख, अश्रु, यौवन-क्रीडा, आशा-निराशा, स्वप्न-कल्पना आदि सबसे परिपूर्ण अपने जीवन को कवि ने मानव-भाव से आकठ भोगा है और इस भोग की स्वाभाविक प्रक्रिया को पार कर वह एक ऐसी शुभ्र व उदात्त मनोभूमिका पर आया है, जिसे मर्त्यलोक का यह मानव-जीवन, अपनी सर्वश्रेष्ठ व प्यारी निधि के रूप में, मनुष्य को उसके श्रम व सघर्ष के लिए अत्यत आदर के साथ भेट कर सकता है। इसमे कही भी हीनता की ग्रथि नही और अनुचित या अस्वाभाविक नैतिकता के तीखे अकुश नही। इतना ही नही, उच्चकोटि का अध्यात्म जिसे कहते हैं, वह भी इसी के द्वारा निष्पन्न बताया गया है। यदि इस मानव-भोग के प्रवाह को शिव-भावना के द्वारा पार किये बिना कोई निकल जाता है तो वह मानो प्रसाद की दृष्टि मे एक सच्चा आध्यात्मिक नही। मानवता की साधना के बिना अध्यात्म भी अपनी सार्थकता सिद्ध नही करता। यही प्रसाद का मानवतावादी अध्यात्म है जो छूछे या ठूठे अध्यात्म से ऊची वस्तु है। इसीलिए प्रसाद नवीन अर्थों मे सच्चे आध्यात्मिक कवि है। उनका छायावाद व रहस्यवाद इसी अध्यात्म से उजागर है।

साहित्यिक विचारधारा

प्रसाद के विचारक-रूप के अतर्गत उनका साहित्य-समीक्षक का रूप भी स्प ष्ट है। प्रसाद के साहित्य-समीक्षक रूप का परिज्ञान दो स्रोतों से हो सक - (1) उनके द्वारा रचित

साहित्य से, जो स्वभावत उनकी साहित्यिक मान्यताओ से प्रेरित होकर रचा गया है, और (2) 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' नामक निबध-सग्रह से, जिसमे उनके साहित्य-सिद्धात सबधी निबध सकलित है, साहित्यिक दृष्टि, मान्यताओ व सिद्धातो की गभीर व विद्वत्तापूर्ण विवेचना हुई है। प्रथम को हम प्रसाद की साहित्यिक विचारधारा का परोक्ष साधन या स्रोत कह सकते है, और द्वितीय को अपरोक्ष या प्रत्यक्ष। समग्र रूप से देखने पर प्रसाद जी ने काव्य, कला, साहित्य, रहस्यवाद, यथार्थवाद, छायावाद, सभ्यता-सस्कृति-इतिहास (साहित्य के सदर्भ मे), नाटक, रस, रगमच, भाषा, वस्तु-रूप आदि साहित्य के मूलवर्ती विषयों पर गवेषणात्मक दृष्टि से मौलिक व तात्त्विक चितन किया है और तत्सबधी व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। हम यहा प्रसाद जी की समस्त साहित्यिक विचारधारा को यथासभव स्पष्ट व प्रसाद जी द्वारा मनोनीत प्रणाली पर अत्यत सक्षेप मे व सश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत करेगे। प्रसाद जी की मान्यताओ ने स्थापना का रूप जिस तर्क-प्रणाली पर चलकर ग्रहण किया है, उसे स्थानाभाव से यहा प्रस्तुत करना अनावश्यक है। प्रसाद की मूल साहित्यिक मान्यताए सक्षेप मे इस प्रकार रखी जा सकती हैं

भारतीय दृष्टि से काव्य कला के अतर्गत नही है। काव्य विद्या है और कला उप-विद्या। 'कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों मे लिया जाता है वैसा भारतीय दृष्टिकोण से नही।'[109] 'पश्चिम मे कला को अनुकरण माना है, उसमे सत्य नही।'[110] 'केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नही की जा सकती।'[111] मूर्त्त-अमूर्त्त के आधार पर हेगल-प्रवर्तित कला का वर्गीकरण सुगम अवश्य है,[112] किंतु उसका ऐतिहासिक-वैज्ञानिक विवेचन होने की सभावना जैसी पाश्चात्य साहित्य मे है, वैसी भारतीय साहित्य में नही, क्योकि पश्चिम के पास उनकी अविच्छिन्न सास्कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्य में वैसा सामजस्य नही है।[113] मूर्त्त-अमूर्त्त कला का यह वर्गीकरण पश्चिम में किया गया है, बिल्कुल भौतिक दृष्टि से—अध्यात्म का उसमे सपर्क नही।[114] 'लोकोत्तर आनद की सत्ता का विचार ही नही किया गया।'[115] उपयोगिता और तर्क की दृष्टि ही उसमे प्रमुख रही। 'हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिए, क्योकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल नही है।'[116] कला को प्रगतिशील बनाने के लिए अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनो पर एकसाथ दृष्टि रखनी चाहिए, अन्यथा कला का लक्ष्य एकागी हो जायेगा।[117]

ज्ञान और सौंदर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु है, इनके केंद्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानत सस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते है।[118] भारत की सस्कृति दार्शनिक है जिसमें पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतत्र है। इस भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में रखकर ही भारतीय साहित्य का विवेचन होना चाहिए। हा, परिस्थितिवश इस मूल रुचि-भेद मे परिवर्तन का आभास भी मिलता है।[119] भारतीय साहित्य मे दु:खातर और तथ्यवादी साहित्य अत्यत तिरस्कृत है। शुद्ध आदर्शवाद और सुखात प्रबध ही भारतीय सस्कृति के अनुकूल है।[120]

प्रसाद जी की दृष्टि से कला-विषयक आधुनिक हमारी 'सब भावनाए साधारणत हमारे विचारो की सकीर्णता से और प्रधानत अपनी स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न है।'[121]

प्रसाद जी रहस्यवाद को भारतीय वस्तु मानते हैं, विदेशी नही।[122] अत्यत प्रभावपूर्वक और युक्तियों द्वारा उन्होने सिद्ध किया है कि 'वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सपत्ति है, इसमें सदेह नही।'[123] उन्होंने ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' से लेकर वर्तमान हिंदी

छायावाद तक उसका ऐतिहासिक क्रम-विकास निरूपित करते हुए, मध्यवर्ती कुछ काल के अतराल को अपवाद रूप मानते हुए, यह निरूपित किया है। ऋग्वेद और उपनिषदों से चलने वाली आगमो की यह धारा किस प्रकार प्राचीन पाशुपत के तत्त्वो से युक्त शैवागमो से होती हुई हिंदी के आधुनिक रहस्यवाद-छायावाद तक प्रवाहित होती आ रही है, इसका प्रामाणिक निरूपण प्रसाद जी ने किया है।

रस के सबध में प्रसाद जी की अपनी निजी मान्यताए हैं। उनकी दृष्टि मे साहित्यिक रस की अत्यत प्रामाणिक-प्रौढ आत्मपरक व दार्शनिक व्याख्या शैवागमो की आनदवादी विचारधारा के प्रकाश मे हुई, जिसमे बुद्धि-विवेक व आदर्श को स्थान नही मिला। अभिनवगुप्त ने अभेदमय आनद-पथ वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार मनोविज्ञानसम्मत ऐसी मूलग्राही व्याख्या की कि आगे आने वाले आचार्य—मम्मट, विश्वनाथ व पडितराज आदि—उक्त आनदवादियो की रस-व्याख्या-विषयक समस्त शास्य पदावली को लेकर ही रस की व्याख्या मे समर्थ हो सके।[124] रसो मे केवल शृगार को महत्त्व देना, केवल मधुर की ही उपासना करना और दु:खमूलक रसो के प्रति प्रतिकूल सवेदनीयता की भावना मानो पूर्ण रस-दृष्टि नही। रस को इस प्रकार सीमित कर देना विवेक और बौद्धिकता की प्रसूति है। शैवाद्वैत की भावना के अनुसार सुख और दु:ख दोनों आनदमय है। सभी भावनाए—चित्तवृत्तिया व्यापक आनद साधना के द्वारा आत्मा मे विश्रात होती है। "आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्मचैतन्य में विश्राति पा जाने पर रस होते हैं।"[125] शैवो का आनद सीमित नही है। वे शिव के नाते लोक के आनद को समाधि-सुख मानते है। "चित्तवृत्तियो की आत्मानद में तल्लीनता समाधि-सुख ही है।"[126] जब ऐसा होता है तो क्या अनुकूल और क्या प्रतिकूल—सभी प्रकार की चित्त वृत्तियो के आत्मविश्रात होने पर रस या आनद की अनुभूति होती है। अत केवल मधुर पक्ष की साधना ही पूर्ण आनद की साधना नही है। प्रसाद जी ने बताया है कि 'उज्ज्वल नीलमणि' वाली रस-परपरा में आगे चलकर पूर्वोक्त व्यापक आनद-भावना को भुलाकर केवल 'मधुर' को ही पकडकर 'शृगार' का नाम मधुर रख लिया गया। हास्य, करुण, बीभत्स, रस गौण हो गये और केवल 'मधुर' रस और उससे सबधित अन्य नये रसो की सृष्टि हुई। यह मानो विराट् या व्यापक आनद-साधना से पश्चात् पद होना था, क्योकि यह सकोच द्वैत का—भेद का—ही सूचक था। आनद की भावना इन आधुनिक रसो में विशृखलित ही रही।[127] प्रसाद जी का कथन है कि कदाचित् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति मे इसलिए नही मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। उसमे रसाभास की ही कल्पना रहती थी। आगमों में तो भक्ति भी अद्वैतमूला थी।[128] कृष्ण-भक्ति मार्ग मे गोलोक मे लास्यलीला की योजना भी प्रसाद जी की दृष्टि में समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली समरसता और आगमों के स्पद शास्त्र के ताडवपूर्ण विश्व नृत्य के पूर्ण भाव से कुछ दूर की ही दिखायी पडती है।

आचार्य शुक्ल के समान प्रसाद जी रस की कोटिया नही मानते,[129] क्योंकि उनकी दृष्टि मे रस को फल-योग में अतिम में न ढूढकर भिन्न कोटि के द्योतक मध्यवर्ती व्यापारों में, जो संचारी भावों के प्रतीक है खोजना, अखड रस को छिन्न-भिन्न करना है।

प्रसाद जी का विचार है कि "मनोभावों या चित्तवृत्तियों का और उनके सब स्वरूपों का नाट्य रसों में आगमानुकूल व्याख्या से समन्वय हो गया था। अहं की सब भावों में, सब

अनुभूतियों में पूर्णता मान ली गयी थी। यह बात पिछले काल के रस-विवेचकों के द्वारा विशृखल हो गयी। वास्तव मे भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस मे हुआ और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।"[130]

पाठको का रसानुभव कलाकार की प्रकृति की अनुकरणशीलता से निष्पन्न नही होता,[131] जैसा कि पश्चिम में माना गया है। कलाकार के द्वारा प्रकृति का कोरा अधानुकरण पाठक मे आत्मानद की सृष्टि नही कर सकता। आत्मा से असपृक्त जड प्रकृति मे आनद कहा ? काव्यानद तो तभी प्राप्त होगा, जब पाठक-श्रोता के भाव प्रेरित होकर आत्मा में विश्रात होते है। "जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रसों की।"[132] इसमे कलाकार का कौशल व पाठक-श्रोता की निजी कल्पना व साधन निहित है। कोरे अनुकरण से यह सब सभव नही। इस प्रसग में प्रसाद भारतीय दृष्टि को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हैं—"किंतु भारतीयो की दृष्टि भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनद के स्वरूप से ग्रहण करो। इसमें विशुद्ध दार्शनिक अद्वैतभाव का भोग किया जा सकता है। यह देवतार्चन है। आत्म-प्रसाद का आनद-पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानद है।"[133]

प्रसाद जी रस की, ध्वनि की स्वतत्र व उच्च सत्ता मानते जान पडते हैं, क्योकि उन्होंने यह निर्दिष्ट करके कि अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में रस को ही काव्य की आत्मा माना, जबकि आनदवर्द्धन ने रस को ध्वनि का एक भेद ही माना, प्रकारातर से रस की ही सर्वोपरिता दिखायी है।

रगमच के सबध मे प्रसाद जी के विचार है—" काव्यो के अनुसार रगमच विकसित हुए और रगमचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नही हुए। अर्थात् रगमचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पडा और यह प्रत्येक काल में माना जायेगा कि काव्यों के अथवा नाटको के लिए ही रगमच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रगमच का काम है। क्योकि रसानुभूति के अनत प्रकार नियमबद्ध उपायो से नही प्रदर्शित किये जा सकते और रगमच ने सुविधानुसार काव्यो के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप-परिवर्तन किया है।"[134] "रगमच के सबध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रगमच के लिए लिखे जाये। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटकों के लिए रगमच हो जो व्यावहारिक है।"[135]

प्रसाद भाषा-सबधी सुरुचि-सस्कार और उसकी एकतत्रता के विशेष पक्षपाती है। वे भाषा की खिचडी, भाषा की सरलता, पात्रानुसार भाषा का परिवर्तन आदि को कोई प्रश्रय नही देते। वे लिखते हैं—"मै तो कहूगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारो के अनुसार भाषा मे होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए।"[136] "पात्रों की सस्कृति के अनुसार उनके भावो और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सास्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"[137]

प्रसाद जी चरित्र-चित्रण से अधिक महत्त्व रस को ही देते हैं। चरित्र-चित्रण मे भी वे व्यक्ति-वैचित्र्य के पक्षपाती नही,[138] क्योंकि उसमे अभेद-भावना व साधारणीकरण हृदयगम नही हो सकता। चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्य प्रसाद की दृष्टि में रस के साधन हैं।[139] यह जातीय इतिहास और सस्कृति का प्रश्न है।[140] भारतीय आनदवादी रहे है। पश्चिम मे भाग्य

व परिस्थिति से निरतर सघर्ष होता रहा है, अत पश्चिम का अधिक यथार्थवादी हो जाना सहज स्वाभाविक है। भारतीय रसवाद मे मिलन, अभेद-सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोकमगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अतर्निहित है, सामाजिक स्थूल रूप से नही, किंतु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर।[141] भारत मे वासना के स्थूल व ऊपरी सशोधन पर विश्वास नही जैसा कि पश्चिम में है।[142] यहा की साधना अधिक गहरी और पुख्ता नीव पर है। यहा साहित्य के रसवाद मे वासना का साधारणीकरण कर दिया जाता है—रसवाद मे वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तिया, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनदमय बना दी जाती है।[143] इस समीकरण (वासना के साधारणीकरण) के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह (भारतीय रसवाद) करता है, उसमे व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब प्रकार की भावनाओ को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते है। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर, रस की सृष्टि करते है। रसवाद की यही पूर्णता है।[144]

श्रव्य काव्य (जिसे प्रसाद जी अब छापे की सुविधा से पाठ्य काव्य कहना अधिक पसद करते है)—कवि द्वारा प्रस्तुत वर्णनात्मक काव्य (प्रबध व मुक्तक दोनो)—पर भी प्रसाद जी की दृष्टि मे इस कोटि या प्रकार का काव्य अपरोक्ष आनदानुभूति वाले नाट्यकाव्य से निम्न कोटि का जान पडता है। नाटको मे अह की आनदात्मक अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार श्रव्य या वर्णनात्मक काव्य मे भी इद का, जो आत्मा का ही विस्तार है, समावेश रहता है, और उसमे जीवन-तत्त्व को समझने का उत्साह है, पर प्रसाद जी की व्याख्या के अनुसार सुख-दुख की गाथा गाने वाला यह काव्य, आर्य जाति के प्राचीनतम काव्यो—रामायण और महाभारत—से लेकर आज तक आदर्श, विवेक, बुद्धिवाद, द्वैत-दार्शनिकता, भेद, सप्रदाय आदि से ग्रस्त रहा है, अत उसमे चाहे, वह यथार्थवादी महाभारत रहा हो, चाहे आदर्शवादी रामकाव्य, अद्वय आत्मा की आनदात्मक अनुभूति सच्चे रूप मे प्रकाशित नही हुई है। प्रसाद जी की दृष्टि में कालिदास, अश्वघोष, दडी आदि की कृतिया हीन-वीर्य जाति के पराभव-युग की कृतिया है।[145] हा, कृष्ण-काव्य मे (क्योकि कृष्ण मे वीरता और प्रेम की व्यापक भावना है) अवश्य आनद, प्रेम, सौदर्य, समर्पण व विरह के तत्त्व रहे है और उसमे वल्लभ-चैतन्य ने उपास्य के आधार पर वासना का उल्लेख भी किया है। पर अनुभूति की परोक्षता के कारण वह (ब्रज वाली धारा) मिथ्या रहस्यवाद में पड गया।[147] 'चारों ओर से मिलाकर देखने पर यह भी बुद्धिवाद का, मनुष्य की स्व-निर्भरता का, उसके गर्व का प्रदर्शन ही रह जाता है।'[148]—पौराणिक प्राचीन गाथाओं का साप्रदायिक उपयोगिता के आधार पर संग्रह करने वाले काव्यों मे आत्मा के आनद की अभिव्यक्ति नही हो पायी। भक्ति-काव्य में एक त्राणकारी ईश्वर की कल्पना मानव के भय की ही सूचक है, और जहा मूल में ही भय है वहा आनद की अनुभूति कहा? राम के निर्गुण व सगुण रूपो मे भेद करना भी अद्वैत से द्वैत की ओर सक्रमण है। मानव और राम के सबध को लेकर झगडा चलता रहा, पर मानव ईश्वर से भिन्न नही है यह बोध, यह रसानुभूति विवृत्त नही हो सकी।[149]

हिंदी के पाठ्य-काव्य में रसात्मकता नही, रसाभास है।[150] भक्ति में मानव-वासना व्याज से आयी, अत वह काव्य दृढ प्रभाव जमाने में असमर्थ रहा है। जगत् और अतरात्मा की अभिन्नता की विवृत्ति उसमें नही मिलेगी।[151] और न उसमें पौराणिक युग की ही महत्ता

है और न काव्यकाल का सौदर्य ।[152]

प्रसाद की मान्यता है कि वर्णनात्मक या पाठ्य-काव्य के समस्त उपकरण, जो बुद्धिवादियो या विवेकवादियो ने पाठ्य काव्य मे प्रयुक्त कर लिए, मूलत नाट्य क्षेत्र के ही है। नाटक मे अपरोक्ष वर्णन होने से आत्मा के रस की निष्पत्ति होती है जो अन्य प्रकार की रचनाओ मे सभव नही। श्रव्य काव्य हल्का है, क्योकि उसमें नाट्य रस का साधारणीकरण नही।[153] पाठ्य-काव्य मे विवेक, बौद्धिकता व मर्यादा की प्रधानता होने से आत्मा का उन्मुक्त आनद नही खिल उठता। महाकाव्य मे महत्ता का मिथ्या प्रदर्शन रहता है, किंतु नाटकों मे सहज मानवीय वासना साधारणीकरण के कारण आनद की कोटि की पहुचती है।[154] पाठ्य-काव्यो मे एकागी दृष्टि ही रही है। सच्चे रहस्यवादी सतो को ऐसी काव्यधारा मे स्थान नही मिला। कबीर ने मध्यकाल मे यह स्वर छेडा था पर विवेक हुकार उठा, क्योकि मुक्तको ने विवेकवाद की विलय का डका बजाया।[155]

प्रसाद जी की दृष्टि मे छायावाद-रहस्यवाद विजातीय नही।[156] उन्होंने साहित्य में आधुनिक यथार्थवाद को अपने ढग से स्वीकृति दी है। वे लिखते है—'जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीडित होने लगती है तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है।[157] और यह वेदना अभाव और पतन के साथ मिलकर यथार्थवाद का निर्माण करती ।[158] पर प्रसाद जी साहित्य, मनोविज्ञान, समाज और मनुष्यता की व्यापक भूमिका पर तथाकथित यथार्थवाद का सम्यक् व मार्मिक परीक्षण करके ही यथार्थवाद का स्वस्थ व परिष्कृत रूप को सिद्धात और व्यवहार मे ग्रहण करते है। वे क्षुद्रो और महानो का—दो प्रकार का यथार्थवाद मानते है। उन्होने यथार्थवाद का साहित्यिक व सामाजिक परिवेश मे तात्त्विक व पैना विश्लेषण किया है। वे यथार्थ को श्रेष्ठ मानवीय व साहित्यिक मूल्यो की रक्षा और समृद्धि के लिए ही ग्रहण करते जान पडते है, एक अधी हवा के तिनके बनकर नही। यथार्थवादियों की निहित मनोवैज्ञानिक दुर्बलता से प्रेरित उपकरणो को वे किसी भी प्रकार ग्रहण नही करते और न उन्हें बढावा देते है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि कोरा यथार्थवादी स्थूल इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता, और कोरा आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता-मात्र है। इस प्रकार दोनों ही साहित्यकार नही।[159] साहित्य के क्षेत्र और उसकी प्रकृति से सबधित इस मूल ढाचे मे प्रसाद द्वारा मनोनीत यथार्थवाद का जो या जितना स्वरूप 'फिट' हो जाता है उतना ही उनके काम का है, शेष त्याज्य।

प्रसाद जी छायावाद के पक्ष मे हैं और वे उसे भारतीय वस्तु मानते हैं। उनका स्पष्ट निष्कर्ष है कि प्राचीन साहित्य मे यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है।[160] छायावाद उनकी दृष्टि में अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा से सबधित है।[161] ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नही हो सकता।[162]

भवभूति, आनदवर्द्धन और कुतक आदि कवियों व आचार्यो की रचनाओ के आधार पर प्रसाद जी की मान्यता है कि छायावाद भारतीय वस्तु है जो पहले अत्यत उच्चकोटि को पहुच चुका है। और अब नवीन रोचक उपकरणो से सयुक्त होकर हिंदी में अवतरित हुआ है। प्रसाद जी ने छायावाद की प्रकृति व परिधि का निर्धारण भी किया है। प्राचीन शब्द-प्रयोग के आधार पर 'छाया' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसका अर्थ स्निग्धता, लावण्य, काति व मोती के भीतर की छाया या तरलता आदि किया है। उन्होंने उस कविता को छायावाद की

कविता कहा है जिसमें चैतन्य के साथ चिरबधन मे बधी वेदना के आधार पर स्वानुभूति की अभिव्यक्ति हो, जिसकी वस्तु स्वानुभव सवेदनीय हो, जिसके नवीन भाव आतर स्पर्श से पुलकित हों या जिसमे अनुभूतिमय आत्मस्पर्श हो, जिसमे रम्य-छायातरस्पर्शी वक्रता हो, जिसमे अर्थ की वक्रता हो, शब्द-विन्यास पर ऐसा पानी चढा हो कि अभिव्यक्ति मे एक तडप व विदग्धता उत्पन्न हो जाए। यही कुतक की 'वैदग्ध्य-भगीभणिति' है। इस प्रकार ध्वन्यात्मकता, सौदर्यमय प्रतीक-विधान, शब्द-अर्थ की वक्रता या आचार-वक्रता तथा लोकोत्तीर्ण रूप मे स्वानुभूतिमयी विवृत्ति प्रसाद जी की दृष्टि मे—ये छायावाद की प्रमुख विशेषताए हैं। छायावाद मूल में रहस्यवाद भी नही। ब्रह्म की छाया कहलाने वाली प्रकृति से सबध रखने वाली होने के कारण भी इस कविता को छायावाद कहना भ्रामक है। वस्तुत छायावाद न केवल वस्तु है और न केवल शैली। ये दोनो उपकरण एक विशिष्ट अनुपात मे आत्मा के आलोक से उजागर होकर छायावाद की सज्ञा धारण करते है, सार रूप मे कुछ ऐसा ही मतव्य प्रसाद जी का जान पडता है।

समग्रत इस प्रकार, सक्षेप मे, हम कह सकते है कि प्रसाद जी की साहित्यिक विचारधारा अत्यत मौलिक, सुचितित, प्रमाणपुष्ट, विचारोत्तेजक व क्रातिकारी है। प्रसाद जी ने साहित्य की प्राय सभी मौलिक समस्याओ को छुआ है और आत्मतत्त्व व आनद के आधार पर साहित्य की सर्वथा मौलिक व अनूठी व्याख्या की है। उनके आत्मतत्त्व को आचार्य वाजपेयी जी व डॉ नगेन्द्र प्रभृति विद्वानो ने पूरी मान्यता प्रदान की है। प्रसाद जी की मूल साहित्यिक विचारधारा पर वाजपेयी जी का कथन है—"जब लीक पीटने वालो से हिदी का कल्याण होता नही दीखा और नव-शिक्षित समाज की तीव्र दार्शनिक पिपासा शात नही हुई, तभी तो इस प्रकार की विचारधाराओ और व्याख्या-शैलियों की ओर प्रसाद जी जैसे दो-चार इन-गिने विद्वानो की अभिरुचि हुई।"[163]

प्रसाद जी के अनेक प्रमुख साहित्यिक विचारो को हम प्रबध के प्राय सभी प्रकरणो में लेकर विचार कर चुके है, अत आगे अब अधिक विस्तार अपेक्षित नही।

दार्शनिक विचारधारा आनदवाद

साहिय और दर्शन साहित्य या काव्य का दर्शन से घनिष्ठ सबध है, क्योंकि 'काव्य के आतरिक सत्य भी जीवन के आतरिक मूल्यो की भाति दर्शन तथा तत्त्वचितन पर अवलबित है।'[164] आचार्य वाजपेयी ने भी 'प्रसाद और निराला' के तुलनात्मक अध्ययन के सदर्भ में बताया है कि उक्त दोनो कवियो में दर्शन, जीवन से व काव्य से घुला-मिला है।[165] प्राचीन आचार्यो में अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत दर्शन और वर्णना दोनो को कवि के लिए आवश्यक मानते है।[166] व्यक्ति मे दार्शनिकता का निर्माण करने वाले तत्त्वों मे से अनेक प्रमुख तत्त्व साहित्यकार प्रसाद में भी सहज रूप मे समाविष्ट हैं। यों तो द्रष्टा द्वारा सम्यक् या परिपूर्ण दर्शन (देखना) बुद्धि और भावना के सम्मिलित योग से ही संभव है ('य पश्यति स पश्यति' —गीता, 'कविर्मनीषी परिभू स्वयभू'—उपनिषद्), पर सामान्यत दर्शनशास्त्री केवल तर्क व बुद्धि-बल से चितन-कर्म करने वाला ही समझा जाता है। अमिश्रित तर्कणा व निसग बुद्धि-व्यापार में प्रसाद की भी गति कम नही (उदाहरणार्थ, प्रसाद की रचना—'काव्य और कला तथा अन्य निबध' तथा ऐतिहासिक गवेषणात्मक लेख) पर ललित साहित्य के धरातल

पर वे एक दार्शनिक के रूप मे भावना-पक्ष को तिलाजलि देकर नही चल पाये है—वे साहित्यकार रहते हुए ही दार्शनिक है, कोरे दर्शनशास्त्री नही। उनके साहित्य में एक गहरी व तीव्र दार्शनिक जिज्ञासा है, सत्ता-विषयक सूक्ष्म वैचारिक ऊहापोह है, तथा मानव-जीवन व जगत् को अनादि व अबूझ पहेली के प्रत्यक्षीकरण का गाभीर्य है। ये सब उपादान प्रसाद को साहित्यकार के अगभूत एक दार्शनिक के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत करते है और साहित्यिक परिपार्श्व मे उन्हे देखने का आह्वान करते है।

दार्शनिक दृष्टि के निर्माण मे निजी जीवनानुभव, अध्ययन, शिक्षा-दीक्षा, परिवेश, ससर्ग-प्रभाव, विचारो के गाढे-हल्के स्पर्श आदि विविध उपकरण उत्तरदायी होते है, अत सामान्यत किसी एक ही उपकरण को किसी की दार्शनिक दृष्टि का मूल आधार नही कहा जा सकता। फिर भी विचार या दृष्टि की प्रकृति और मूल ढाचे को देखते हुए हम सामान्यत उसे किसी एक चिरप्रतिष्ठित जीवन-दृष्टि से सम्मत या सबद्ध ठहरा सकते है। साहित्य के पूरे पाठ पर क दृष्टिपात करने पर उसमें प्रसाद-वेदात की आनद-दृष्टि, न्याय-वैशेषिक की पदार्थवादी दृष्टि, बौद्धो की क्षणिकवादी या दु खवादी दृष्टि, यूनानी दार्शनिको की भौतिक व आध्यात्मिक जीवन-सौदर्य की सम्मिलित दृष्टि, सूफियो की 'प्रेम की पीर' से ज्वलित सौदर्यवादी दृष्टि आदि अनेक दृष्टियों की सम्मिलित दृष्टियों के हल्का-गाढा मिश्रण प्राय सर्वत्र ही मिलता है, अथवा मिल सकता है; पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर उनके केद्रीय दृष्टि शैवागमों की आनदवादी दृष्टि (प्रत्यभिज्ञादर्शन) से सर्वाधिक निकट व उसके मेल में है। इस दृष्टि ने उनके साहित्य को ही रीढ़ नही दी, प्रसाद की प्राय समस्त साहित्य-चिता इसी जीवन-दृष्टि से रूपाकृत हुई है।

यहा शैवागम या प्रत्यभिज्ञा दर्शन का कोई स्वतत्र या विस्तृत विवरणात्मक परिचय देने का न तो अवकाश ही ह और न आवश्यकता ही। इस सबध मे पर्याप्त सामग्री यत्र-तत्र उपलब्ध है।[167]

दर्शन-विषयक अनुच्छेद आरभ करने से पूर्व कुछ सीमा-निर्देश करना आवश्यक है। दर्शन हमारा विषय नही, फिर वह मूलत अतर्दृष्टि और साधना का विषय है, अत यहा व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उस पर जो कुछ भी—और वह भी आनुषगिक रूप मे व विषय-विवेचन की शृखला जोडने के लिए लिखा जायेगा वह बहुत-कुछ श्रुत-पठित रूप में आकलित सामग्री के आधार पर ही। यहा पूरी-पूरी दार्शनिक पीठिका बनाकर किसी दर्शन का व्यवस्थित व सागोपाग स्वरूप खडा करना या दर्शन का विकासात्मक या तात्त्विक अध्ययन प्रस्तुत करना या प्रत्यभिज्ञा आदि दर्शनों की विचारणा के साराश प्रस्तुत करना इष्ट नही है। केवल प्रसाद के पाठ्य ग्रथो के आधार पर प्राप्त सामग्री को मोटी-मोटी दार्शनिक रेखा प्रदान कर देने मात्र तक ही हमारा प्रयत्न सीमित रहेगा। अपनी इन सहज मर्यादाओ के साथ ही हम प्रसाद की दार्शनिक स्थिति पर दृष्टिपात करेगे।

दर्शन का अर्थ है देखना, अर्थात् वास्तविक रूप मे तात्त्विक दृष्टि से देखना, या बाहरी व भीतरी नेत्रों के सम्मिलित योग से चरम या वास्तविक सत्य को देखना। कवि या साहित्यकार स्रष्टा होने के साथ ही साथ द्रष्टा या दार्शनिक भी होता है। उसकी सर्जना मे उसके दार्शनिक रूप के समावेश से यह अधिक गभीर, यथार्थ जीवन-दृष्टि-सम्मत अत प्रामाणिक हो जाती है। प्रत्येक कलाकार अपने कृतित्व को अधिक पुष्ट व टिकाऊ बनाने के

लिए उसे दार्शनिकता, उचित मात्रा मे, जान य अनजान में, दे ही देता है। अत तथ्य यह है कि सामान्यत दर्शन का कविता या साहित्य के साथ सबध है। सामान्यत इसलिए कि कुछ रचनाकार काव्य को दर्शन के क्षेत्र से पृथक् ही रखना उचित समझते हैं। किन्तु अन्य विचारक—जैसे आचार्य भट्टतौत, ब्राउनिग, यीट्स, इलियट आदि—दर्शन या विचार को साहित्य का अनिवार्य अग ही मानते है। दोनो ही पक्ष अपने-अपने स्थान पर ठीक ठहराये जा सकते है। पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि साहित्य में दर्शन का समावेश स्वीकार्य हो तो वह कितने स्थान या अनुपात का अधिकारी है। वस्तुत इस प्रकार के प्रश्न में भाव व विचार की किसी अस्वस्थ प्रतिद्वद्विता या उच्चावचता की भावना की ध्वनि सचित है। वस्तुत दोनो परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते है। साहित्य मे मनमाना दर्शन समाविष्ट हो सकता है, यदि वह भाव के साचे मे ढालकर और कला की पद्धति से प्रस्तुत किया गया हो। 'कामायनी' पर प्राय यह आपत्ति उठायी जाती है कि उसमे दर्शन घना हो गया और भाव का स्वच्छद प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। यह भी आपत्ति की जाती है या की जा सकती है कि उसमें मुख्यत प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ही काव्य का आवरण प्रदान कर दिया गया है। वस्तुत, प्रथम तो यह बहुत कुछ वैयक्तिक रुचि का प्रश्न है। फिर काव्य-रस उत्पन्न करने की दृष्टि से ही कवि को यदि दर्शन की अधिक आवश्यकता प्रतीत हुई हो तो (यदि वह दर्शन काव्य-प्रभाव के लिए पूर्णत विघातक ही सिद्ध न हो गया हो तो) दर्शन को उक्त रूप मे ही क्यो न स्वीकार किया जाय। तुलसी, सूर, जायसी सभी प्रमुख कवि अपनी-अपनी साप्रदायिक विचारधारा के माध्यम से ही काव्य-रस की निष्पत्ति करते है, सभवत शुद्ध काव्य-रस की नही। प्रसाद भी यदि दर्शन को 'काव्य-परिपाक' के लिए अत्यावश्यक 'ईधन' के रूप मे ग्रहण करते है तो दर्शन की यह स्थिति स्वीकार होने मे कोई विशेष विप्रतिपत्ति नही दिखायी देगी। पर यह भी अवश्य कहा जायेगा कि काव्य आत्मा की रसमयी उन्मुक्त लीला का क्षेत्र है, उसकी सहज गति पर घने दर्शन का भार लादना काव्य की मूल प्रकृति के बहुत अनुकूल नही है। दर्शन पीपल के पत्ते की जाल का काम करे तो ठीक, जिस पर पत्ते की सारी घनी रसमयी हरीतिमा टिकी हुई हो।[168]

प्रसाद की मूल दार्शनिक दृष्टि प्रसाद के जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करने वाली कृतियों में 'ककाल', 'इरावती', 'कामना', 'लहर', 'आसू' और 'कामायनी' प्रमुख है।

प्रसाद की मूल दार्शनिक दृष्टि की प्रमुख चेतना यह है कि जीवन आदर्श और व्यवहार की दृष्टि से एक हो जाये, परम तत्त्व केवल चितन का ही विषय न रहे, वह पूर्ण व्यवहार्य भी हो जाये। प्रसाद ने अपनी इसी मूल दृष्टि को जीवन-धरातल पर चरितार्थ करने के लिए एक ऐसी पुष्ट व प्रामाणिक दर्शन-प्रणाली को मुख्य आधार बनाया है जो उनके गूढ मतव्य के निकटतम हो वह है प्रत्यभिज्ञा दर्शन। प्रसाद ने यो तो इस दर्शन की मूल चेतना 'आनद' का 'प्रतिध्वनि' ('प्रलय' कहानी) व 'इरावती' आदि कृतियों में उल्लेख-आख्यान किया है, पर उस अक्षय आनद को प्राप्त करने की जो समरसतामयी जीवन-पद्धति है, उसका विशदीकरण 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा के मुख से ही कराया है। ऐसा होने से प्रसाद का दर्शन, जो मुख्यत प्रत्यभिज्ञा जीवन-दृष्टि पर ही आश्रित है, कला का एक सरस अग हो गया है। वस्तुत- प्रसाद मानो श्रद्धा के मुख से ही बोलकर जीवन के विराट् आनंद को प्राप्त करने की युक्ति या पद्धति बताते हैं। श्रद्धा मनु को सबोधित करते हुए कहती है ·

'दु:ख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओ का अनुमान करके, भविष्यत् से अनजान बनकर (अपनी महान् नियति की पूर्वकल्पना से अपरिचित रहकर) काम से झिझक रहे हो। महाचिति सजग और व्यक्त होकर सृष्टिरूप मे लीलामय आनद कर रही है। महाचिति का यों व्यक्त होना ही विश्व का अभिराम उन्मीलन है। काम मगल से मडित एक श्रेय पदार्थ है। यह सर्ग (सृष्टि) इच्छा का ही परिणाम है। इसे तिरस्कृत करना एक भूल है। ऐसा करके तुम मानो भवधाम को असफल कर रहे हो। दु:ख की पिछली रात बीतने पर ही सुख का नवल प्रभात विकसित होता है। वस्तुत दु:ख के इस झीने नीले परदे मे ही सुख अपना शरीर छिपाये हुए है। जिसे तुम अभिशाप और जगत् की ज्वालाओ का मूल समझे हुए हो वह ईश्वर का एक रहस्यमय वरदान ही है, इसे तुम कभी न भूलना। यह महान् विश्व विषमता की पीडा से त्रस्त हो रहा है। यही सुख-दु:ख वस्तुत विकास का सत्य है और भूमा का मधुमय दान है। समरसता का अधिकार नित्य है। कारण (जगत् के स्थूल उपादन), तरगाकुल समुद्र के समान उमड रहा है। कारण-सामग्री के इसी स्थूल समुद्र की नीली लहरो के (दु:खमयी जीवन-स्थितियो के) बीच ही सुख के उज्ज्वल मणिगण बिखरते रहते है। जीवन का दाव ऐसा है कि वीर लोग इसे मर-मरकर जीतते है। केवल तप ही जीवन का सत्य नही है। प्रकृति के यौवन का शृगार कभी बासी फूलो से नही होगा। प्रकृति पुरातनता का निर्भीक (कचुक, केचुल, आवरण) पल-भर भी सहन नही कर सकती। निरतर होते चलने वाले परिवर्तनो के बीच ही नित्य नवीन जीवन का आनद खिलता रहता है—'परिवर्तन ही सृष्टि है। जीवन है' (स्कदगुप्त) यह विस्तृत भूखड प्रकृति के अमद वैभव से भरा हुआ है। कर्म के द्वारा सभव प्रकृति के शोषण से ही भोग की (भोग्य पदार्थों की) उपलब्धि होगी और भोग के लिए पुन कर्म करना होगा। इस प्रकार कर्म और भोग की इस अविराम प्रक्रिया मे ही जड मानव का चेतन आनद निहित है। एकाकी जीवन असहाय या अर्थहीन व निरानद है। आकर्षण से हीन व्यक्ति अपना आत्मविस्तार नही कर सकते। विधाता का मगल वरदान जय-गान बनकर सर्वत्र गूज रहा है कि शक्तिशाली होओ और विजयी बनो। तुम अमृत सतान हो। डरो मत। मगलमय विकास का तुम्हारा भावी पथ प्रशस्त है। जीवन का केंद्र आकर्षण से पूर्ण है और मानवीय पुरुषार्थ के बल पर सब समृद्धि तुम्हारे पास अपने आप खिची चली आयेगी। मानव के लिए इस पृथ्वी पर अगाध साधन-सामग्री मानव की सपत्ति के रूप में भरी पडी है। उसका उपयोग होने पर मन का चेतन राज (राज्य) पूर्ण हो जायेगा। चेतन का सुदर इतिहास अखिल मानव भावो का सत्य है, विश्व के हृदय-पटल पर वह दिव्य अक्षरो से अकित हो, अत तुम पुरुषार्थ-पथ पर बढो। सब प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पाकर विधाता की कल्याणी सृष्टि के सब मानव इस पृथ्वी पर पूर्ण सफल हों। मानव दृढ बनकर डटा रहे। मानवता की कीर्ति का सर्वत्र प्रसार हो। शक्ति का क्रीडामय सचार हो। शक्ति के बिखरे कणों का समन्वय हो। मानवता विजयिनी हो।

मनु के प्रति श्रद्धा के इस उपदेश या प्रबोधन में प्रसाद की युगोचित नवीन जीवन-दृष्टि निहित है। प्रसाद का समस्त जीवनानुभव, शास्त्रानुशीलन व पूर्व-पश्चिम की दार्शनिक विचार-प्रणालियों का समन्वित प्रभाव, युग-चेतना के प्रति तीव्र-गहन सजगता-जागरूकता व उसका अपनी चितन-पद्धति में समावेश इस प्रबोधन मे निहित है। इस जीवन-दृष्टि के मुख्य बिंदु ये हैं—महाचिति प्रत्येक क्षण आनदमयी लीला कर रही है, विश्व का उन्मीलन

सुदर है, काम मगलमय है, त्याज्य नही,[169] दुख मे ही सुख छिपा है, तप ही जीवन का सत्य नही, परिवर्तन और विकास ही जीवन के नियम है, कर्म और भोग जीवन की स्वाभाविक व स्वस्थ प्रक्रिया है, जड मानव का चेतन आनद इसी पथ पर है, शक्ति का क्रीडामय सचार ही जीवन है।

साहित्यकार जीवन का दान करता है। वह ऐसा दर्शन देता है जो जीवन को स्वीकृति प्रदान करता हो और जीवन के सर्वोच्च आनद (काव्य मे रस) की वर्षा करता हो, अपने योग की जडता को नष्ट करके शक्ति, आनद और उल्लास देता हो। यही उसके दर्शन की व्यावहारिकता है। जो दर्शन जन-जन के लिए सहज व स्वीकार्य न हो, वह तत्त्वज्ञानी का दर्शन हो सकता है, कवि का नहीं। प्रसाद ने श्रद्धा के मुख से जो अपना जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है वह एक ही साथ अत्यत उदात्त व अत्यत व्यावहारिक दर्शन है। समरसता की साधना के द्वारा अखड, सघन व परिपूर्ण आनद की इसमे सभावना छिपी हुई है।

यह दर्शन इसलिए सहज ग्राह्य व आकर्षक है कि इसमे जगत् की स्वीकृति है। शकर ने जगत् को भ्राति या विवर्त कहा है,[170] साख्यशास्त्र में जगत् 'परिणाम' है, पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे जगत् 'आभास' है।[171] मूलसत्ता (शिव) और जगत् का यह सबध अखड व शाश्वत होने से जगत् और जागतिक व्यवहारो के प्रति हमारी वह उपेक्षा-वृत्ति नही रहती जो शाकर वेदात उपजाता जान पडता है। जगत, परम शिव का शरीर व प्रतिबिब ही होने के कारण, उतना ही सुदर व पवित्र है, जितने स्वय परम शिव।[172]— आधुनिक विद्वान् भी इस दृष्टि को अत्यत महत्त्वपूर्ण दार्शनिक-सास्कृतिक देन समझते है।[173] कदाचित् इस मूल दृष्टि के वैशिष्ट्य के कारण ही यह दर्शन—कम-से-कम 'माया' के दृष्टि-बिदु से तो अवश्य ही—शाकर वेदात-दर्शन से भी अधिक सतोषजनक जान पडता है।[174] वस्तुत जगत् की उपेक्षा कदापि न्याय्य नही है। मायावाद के प्रति रामानुज व वल्लभ का दार्शनिक विद्रोह प्रसिद्ध ही है। ससार केवल माया, मिथ्या या भ्राति नही है।[175]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार विश्वोत्तीर्ण रूप मे रहने वाले परम शिव अपनी क्रियाशक्ति (पचशक्तियो—प्रकाश, आनद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया में से एक) के द्वारा स्वेच्छा से व स्वभित्ति पर जगत् की आनद लीला करते है,[176] जबकि शाकर मत मे वेदात का ब्रह्म स्वय कर्त्तव्य-शून्य है।[177] वह माया की शक्ति से सृष्टि को चलाता हुआ स्वय निष्क्रिय बना रहता है। विश्व को विवर्त्त या भ्राति मात्र कहना और मूल सत्ता को समस्त व्यक्त प्रसार से अलिप्त, असपृक्त रखने वाले दर्शन का प्रभाव व्यक्त जीवन के सौंदर्य व महत्त्व को बहुत घटाकर जीवन को स्वभावत स्वाद-शून्य कर देता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन शिवभाव से जगत् के आनद व सौंदर्य का लाभ लूटने तथा इसी मार्ग से चलकर पूर्णता की अनुभूति करने का राजमार्ग खोल देता है।

प्रसाद को प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने क्यो इतना आकृष्ट व प्रभावित किया, इसके कारण स्पष्ट है। आत्मा के पूर्ण आनद-भोग की व्यवस्था तो दोनो दर्शनो मे है, किंतु दोनों की प्राप्ति की प्रक्रिया मे भेद है, और यह प्रक्रिया ही वस्तुत अत्यत महत्त्वपूर्ण है। दोनो जीवन-दृष्टियो का पार्थक्य कदाचित् इसी भेद पर खडा है, अन्यथा जीवन के परम फल आनद की गारटी तो दोनों देते हैं। जहा शाकर मत मे यह आनद विश्व को अध्यास या भ्राति मानकर निष्पन्न होता है, वहा प्रत्यभिज्ञा दर्शन में वह आनद कर्त्तृत्वशील परम शिव की विश्व-अवरोहण रूप

लीला की अनुभूति का मधुर परिणाम है। फिर शकर के अनुसार जगत् मिथ्या है, भ्रम है, क्षणिक है,[178] वहा प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे वह शिव का शरीर या प्रतिबिंब होने से सुदर है, स्वीकार्य है, प्रीति-पात्र है। यह दृष्टि कवियो को प्रकृत दृष्टि के पूर्ण मेल मे दिखायी देती है। फिर शाकर मत मे भक्ति अविद्या है, जबकि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भक्ति का उपयोग साधना की चरमावस्था मे, परम शिव की प्रगाढ अनुभूति के लिए, आवश्यक माना गया है। उच्चकोटि का ज्ञान और उच्चकोटि की भक्ति दोनो की ही अपेक्षा होने से इस प्रकार ज्ञान, कर्म व भक्ति—तीनों का ही योग होने से शैवागमी साधना प्रसाद के अधिक अनुकूल है। शाकर मत दु ख की आत्यतिक निवृत्ति पर बल देता है, जबकि प्रत्यभिज्ञा मत सुख व दु ख दोनों को स्वीकार करके सामरस्य की साधना द्वारा अधिक यथार्थ व व्यावहारिक दृष्टिकोण ग्रहण करता है।[179] शाकर मत मे अनिर्वचनीय व अनादि माया की स्वीकृति है और इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे भी है, पर अतर यह है कि एक में तो वह बधन का कारण मानी गयी है किंतु दूसरे में वह कर्तृत्वशील परम शिव की स्वातत्र्य शक्ति से ही सबद्ध है।[180] शाकर मत मे भोग दु ख का कारण है, बौद्धो मे वह त्याज्य है, वल्लभ-सम्प्रदाय मे वह राग-भोगमयी पूजा-उपासना के कारण अतिवाद को पहुच गया कहा जाता है, पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे वह सहज-स्वीकार्य है, क्योकि समस्त प्रकृति व इद्रिया, जिनके पारस्परिक सयोग से ही भोग सभव है, परम शिव का ही प्रकाश है। अत शिवभावना से जगत् का भोग आनद-साधना का ही अग है। तप ही जीवन का सत्य नहीं है। उसका विश्वास है कि अतत मन शिवभाव को छोडकर जायेगा ही कहा ?[181]

वेदात का आनद पूर्ण है, पर वह अभावात्मक पद्धति का है, जबकि प्रत्यभिज्ञा दृष्टि का आनद भावात्मक पद्धति का है। वह आत्यतिक दु ख की निवृत्ति को पूर्ण मजिल नही मानता। माया या भ्रम की बात को भुलाकर, जगत् के व्यक्त प्रसार मे परम शिव का दर्शन करके पूर्ण, ठोस व 'पाजिटिव' आनद से परिपूर्ण हो जाना ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का चरम लक्ष्य है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनो का योग है, इसलिए वह अधिक परिपूर्ण व तृप्तिकर कहा जा सकता है।[182]

आचार्य वाजपेयी जी के विचार से भी प्रसाद की साधना-पद्धति की यह पूर्णता प्रकट होती है प्रसाद-साहित्य की दार्शनिक पीठिका निश्चय ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन से निर्मित है, परतु साधन रूप में प्रसाद ने प्रेम, करुणा और शक्ति के तत्त्वो को भी सन्निविष्ट किया है। उनका मार्ग व्यष्ट से सीधे 'अहता' पर पहुचने का नही है। इस सरणि को ग्रहण करने के कारण प्रसाद के साहित्य में प्रेम, करुणा आदि के तत्त्व उपलब्ध होते है। इन साधनो के द्वारा कर्मयोग का आदर्श निर्मित हुआ है, जिससे 'इद' की भूमिका आयी है और तब प्रत्यभिज्ञा द्वारा 'अह' तत्त्व (अहता) का परिचय मिला है।" इस प्रकार केवल व्यष्टि-साधना नही, किंतु समष्टि से होकर व्यष्टि से पूर्णतया समर्थित है। प्रेम और करुणा के तत्त्वो के समावेश के कारण अन्य जीवन-दृष्टियों से भी उक्त साधना अधिक व्यापक, पुष्ट और समृद्ध हो गयी है।

प्रसाद का आनदवाद प्रसाद की दार्शनिक दृष्टि की चरम परिणति उनके 'आनदवाद' की प्रतिष्ठा में हुई है। अत उसका सक्षिप्त विवेचन यहा प्रसग-प्राप्त है। 'आनद', सुख और दु ख के बीच रहने वाली चित्त की एक स्थायी अवस्था का नाम है। 'वाद' से अभिप्राय है तत्त्वज्ञान के इच्छुकों अर्थात् वादी-प्रतिवादी की कथा—'तत्त्व बुभुत्सो कथावाद।'[183] जो

दार्शनिक सिद्धात आनद दृष्टि का समर्थन व पोषण करे वह आनदवाद कहा जाता है। पहले आनद के स्वरूप पर एक दृष्टि डाली जाय। प्रसाद का आनदवाद—इस पदावली से अभिप्राय है सैद्धातिक भूमि पर अपनी निजी दृष्टि से गृहीत, समर्थित व पोषित किये जाने वाले उक्त दार्शनिक मतवाद। प्रसाद ने उसमे अपनी निजी दृष्टि का योग किया है, तभी प्रसाद क यह विशेषण सार्थक होता है, अन्यथा आनदवाद तो एक व्यापक दार्शनिक सिद्धात या दृष्टि है। इस दार्शनिक सिद्धात को प्रसाद ने अपनी विशेष प्रवृत्तियो और सस्कारो से ग्रहण किया, अत उसे हम प्रसाद का आनदवाद कहते है और उस सिद्धात की प्रेरणा से, जान या अनजान मे, जो साहित्य अथवा काव्य रचा गया है उसे हम प्रसाद की आनदवादी रचनाए कहते है।

प्रसाद के आनदवाद की विवेचना उनके इसी आधारभूत व बद्धमूल विचार पर आश्रित है कि आनद जीवन की सबसे बहुमूल्य वस्तु है। अपने मूल विचार को दार्शनिक पीठिका मे देकर[184] एक ओर तो प्रसाद ने अपना 'आनदवाद' खडा कर लिया है और दूसरी ओर इसे गीतिकाव्य में अपनी भावाभिव्यक्ति मे और प्रबध काव्य (कामायनी) तथा नाटकों मे अनेक पात्रो के जीवन-व्यापारो की चरम सीमा परिणति मे चरितार्थ करके, या अधिकाश कृतियो के अत में, प्रदर्शित या ध्वनित करके इसके व्यावहारिक औचित्य को पुष्ट किया है। 'आनद' का दृढ कठ से उद्घोष या प्रचार करने वाले ग्रथो मे उपनिषद् सर्वोपरि है। प्रसाद ने अपने आनदवाद की स्थापना में उपनिषद् को साक्ष्य बनाया है।[185] उपनिषदों ने आनद का विविध रूपों में निरूपण किया है। ब्रह्म मन को आनद देने वाला है।[186] ब्रह्म के आनद को जानने वाला पुरुष कभी भय नही करता।[187] आत्मा आनदमय परमात्मा है।[188] "यदि आकाश की भाति आनदमय परमात्मा नही होते तो कौन जीवित रहता और कौन प्राणों की क्रिया आदि करता? यह परमात्मा ही सबको आनद प्रदान करता है।[189] पूर्णानदस्वरूप परमात्मा के आनद की तुलना मे सभी प्रकार के आनद तुच्छ हैं।[190] परमात्मा सबधी आनद के किसी अश को लेकर ही प्राणी जीते है।[191] आनद ही ब्रह्म है, समस्त प्राणी उसी से उत्पन्न होते है, उसी से जीते हैं और उसी मे पुन प्रविष्ट हो जाते है।[192] जहा आनद रूप सोमरस अधिकता से प्रकट होता है, उसी ध्यानावस्था मे मनुष्य का मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है।[193] कल्याणमय आनदस्वरूप परमेश्वर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमभाव से पकडे जा सकते हैं।"[194]

ऐसे आनद के प्रति प्रसाद श्रद्धावान् हैं। वे जीवन, व्यवहार, साहित्य, कला-सस्कृति सभी क्षेत्रों में और सभी धरातलों पर इन्हे पूर्ण अर्थवान् बनाने के लिए 'आनद' के समावेश के आग्रही है। जीवन में आनंद एक निश्चित मूल्य है और उस आनद को प्राप्त करने के लिए प्रकृति का सान्निध्य,[195] उच्च दार्शनिक दृष्टि मे विश्वास,[196] सामरस्यमयी जीवन-साधना तथा सर्वत्र शिवभाव का अनुभव[197] आदि बाते अत्यत आवश्यक हैं। प्रसाद का विचार है कि साहित्य आत्मानद की साधना से ही पूर्ण व महिमाशाली होता है।[198]

तात्पर्य यह है कि प्रसाद का यह परिनिष्ठित विचार है कि आनद ही परम तत्त्व है। प्रसाद शैवागम दर्शन से परिचालित हैं, जिसके अनुसार 'आनद' परम शिव की स्वातत्र्यरूपा आनद शक्ति का प्रकाश है।[199] परम शिव अपने आनद के किसी अन्य साधन पर निर्भर नही करते। वे अपने आनद का निर्माण स्वय ही करते हैं, क्योंकि वे परम स्वतत्र है—'चिति स्वतत्रा विश्वसिद्धि हेतु।'[200] यह विचार उनके साहित्य का मूलवर्ती होकर उसके निर्माता

सभी लघु-गुरु उपकरणो को अत्यत प्रबलता स रजित, प्रभावित व नियत्रित कर रहा है, और उनके इस विचार के प्रभाव व शासन की व्याप्ति व गाभीर्य को सूचित कर रहा है। प्रसाद ने अपनी अधूरी रचना 'इरावती' में आनद का जय-घोष किया है। उनकी मान्यता हैं कि आनद की वेगवती भावना को न तो प्रकृति की भीषणता ही रोक सकती है और न मनुष्यो का भय ही। आनद की वृत्ति मे मनुष्य सद प्रसन्न रहकर सर्वत्र शिव का दर्शन करता है। आनद से भय छूट जाता है। आनद के उल्लास की मात्रा ही जीवन है, आनद की भावना से सब कर्म भस्म हो जाते हैं और आनद के पास पाप आने में डरता है। इसीलिए प्रसाद जीवन में आनद की अग्नि प्रज्वलित करने का गभीर परामर्श देते है।

प्रसाद-साहित्य में समस्याएं

समस्या का स्वरूप और प्रसाद द्वारा निरूपित मुख्य समस्याए

शका या अनिश्चितता की स्थिति को 'समस्या' कहते है।[201] जीवन द्वद्व व समस्या का नाम है। प्रत्येक युग की कोई-न-कोई एक गहरी समस्या होती है। कवि या साहित्यकार बुद्धि व भावना की दृष्टि से अपने युग का आदर्श पुरुष समझा जाता है,[202] अत यह स्वाभाविक ही है कि समाज की विषम स्थितियो में जनता उसकी ओर देखे और वह अपनी मानव-बुद्धि के बल से अपने युग की समस्या के समाधान में उत्साहपूर्वक आगे बढे। तात्पर्य यह कि समस्याओ का समाधान भी साहित्यकार का एक बडा दायित्व है। हा, वह इस दायित्व का निर्वाह फिर भले ही अपनी मूल प्रकृति व कला की पद्धति व मर्यादा के साथ करे। प्रत्येक समस्या के तीन पक्ष होते है—निदान, विश्लेषण और समाधान। इन तीनो पक्षो का रूप साहित्यकार की प्रकृति व गृहीत विधा, लक्ष्य और प्रकृति के भेद से परिवर्तित होता रहता है। 'निदान' तो बीज है। परिस्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण के साथ इसकी अवधारणा प्राय स्रष्टा के चेतन मानस में ही होती है। विश्लेषण विधा-भेद से व रचयिता की रुचि-प्रकृति भेद से बदलता है। गीतिकार, कवि, निबधकार व उपन्यासकार एक ही समस्या का विश्लेषण विभिन्न ढग से करने के लिए बाध्य है। अब रह गया समाधान। समाधान की कलात्मक प्रणाली तो यही है कि विश्लेषण की प्रक्रिया मे ही कलाकार अपने समाधान को ध्वनित कर दे। वह समस्याओं को इस रूप में चित्रित करे कि चित्रण-प्रकृति में ही लेखकीय समाधान का आभास मिल जाये, क्योकि अत मे स्वतत्र रूप से समाधान प्रस्तुत करने मे प्राय लेखक का कलाकार-रूप प्रच्छन्न हो जाता है और वह एक गुरु, नेता, उपदेशक, प्रचारक या नीतिकार का स्थूल बाना धारण कर लेता है। परिणामत कलात्मक प्रभाव विकृत हो जाता है। यों जीवन मे महानतम साहित्यकार अपने विशिष्ट व वरेण्य मूल्यो का प्रचार ही तो करते है।

प्रसाद भारतीय सास्कृतिक ह्रास, दीर्घकालीन राजनीतिक दासता व भयकर सामाजिक अधोगति के युग के साहित्यकार थे। वे मूलत एक कवि और आनदवादी दार्शनिक थे। किंतु बाह्य विडबनाओ के बीच उनके इन रूपों का निर्वाह तो स्वय एक महती विडबना ही रहती, यदि वे स्वय सक्रिय रहकर ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न करने मे सहयोग न देते जो उनके महान् आनंद के स्वप्न को साकार करने का पथ प्रशस्त करती। अत युग की चुनौती

स्वीकार करना उनके लिए अनिवार्य था। उनकी 'ककाल', 'तितली', 'कामायनी' आदि रचनाए उन्हें अपने युग के एक महान् विचारक के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत करती है। उनका आनदवाद कोरी कपोल कल्पना नही है। पृथ्वी पर उस आनद की अवतारणा के लिए मानव और समाज मे जो कुछ सामाजिक व सास्कृतिक क्राति की आवश्यकता है, उसे लाने की प्रक्रिया मे ही उनका विचारक रूप हमारे सामने प्रस्तुत होता है। व्यक्ति, समाज व विश्व की परिस्थितियो से सक्रिय रूप से जूझे बिना आनदवाद की कल्पना तो खयाली पुलावमात्र ही रह जाती।

प्रसाद जी के सामने अनेक समस्याए समाधान की प्रतीक्षा में खडी दिखायी पडती है—यथा, नारी समस्या, विधवा समस्या, वेश्या समस्या, विवाह सबध-विच्छेद समस्या, शिक्षा समस्या, ग्राम-सुधार समस्या, हरिजन समस्या और मानव के स्थायी आनद की समस्या। इन समस्याओ पर प्रसाद जी ने क्या और किस रूप मे विचार किया है, इसे समझने के लिए हम इस प्रसग को तीन स्तभों के अतर्गत विभाजित करेगे (1) निदान, (2) विश्लेषण, और (3) समाधान।

समस्याओ का निदान

सामूहिक रूप से विचार करने पर, इन समस्याओं का मूल निदान ढूढने कही बहुत दूर जाने की आवश्यकता नही। अज्ञान, दभ, धर्माडबर, मिथ्या प्रदर्शन, ऊच-नीच भावना, रक्ताभिमान, रूढि-प्रेम, अधविश्वास, शोषण-वृत्ति, स्थूल या सूक्ष्म हिसा-वृत्ति, असयम, श्रद्धाहीनता, जीवन के छूछे या स्थूल मूल्यों मे विश्वास, अबाध भोग व सग्रह की वृत्ति आदि। 'प्रेम-पथिक', 'करुणालय', 'ककाल', 'तितली', 'कामना', 'अजातशत्रु', 'ध्रुवस्वामिनी', 'कामायनी' आदि कृतियो मे प्रसाद जी जीवन की विडबनाओं के मूलों के अन्वेषण की दिशा में गहराई से जाने का अधिक अवसर पा सके है। समस्याओं का विश्लेषण तभी सूक्ष्म व विशद हो सकता है, जबकि 'निदान' भली भाति किया जा सके। उक्त रचनाओ में प्रसाद जी ने व्यक्ति और समाज की पीडाओ, विषमताओ और असगतियों-विरोधाभासो के कारण का मनोनिवेशपूर्वक अन्वेषण किया है और उसके द्वारा उनके विस्तृत जीवनाध्ययन, सूक्ष्म निरीक्षण व उच्चकोटि के हार्दिक व मानवीय गुणों का परिचय मिलता है।

समस्याओ का विश्लेषण

विश्लेषण मे समस्या के पुर्जे अलग-अलग खोलकर रखने का प्रयास किय जाता है, पर इसकी प्रक्रिया दो बातों से शासित रहती है—(1) साहित्य की अथवा विधा की प्रकृति से, और (2) लेखक की व्यक्तिगत रुचि-प्रकृति से। साहित्य की कला लाघव व व्यजना की कला है, अत उसमें विश्लेषण की प्रक्रिया भी उक्त गुणों से शासित होकर चलने के लिए बाध्य है—फिर भले ही विधा-भेद से (उदाहरणत उपन्यास से कहानी में और कहानी से कविता या गीत में विश्लेषण का कम अवकाश मिलता है) कुछ अधिक स्वतत्रता ले ली जाये। लेखक की रुचि भी महत्त्व की वस्तु है। कुछ लेखक अधिक विस्तार में विश्लेषण करते हैं और कुछ कम में। प्रेमचद और प्रसाद में यह अतर स्पष्ट दिखायी पडेगा।

प्रसाद ने समस्याओं के विश्लेषण में, विशेषत उपन्यासों में, पर्याप्त रुचि दिखायी है।

नाटकों में भी पात्रो के जीवन-व्यापारो के माध्यम से विश्लेषण का स्वरूप प्रकट हुआ है। कहानियों, गीतों और कविताओ मे लाघवपूर्वक ही यह कार्य किया गया है।

समस्याओ का समाधान

समस्या का तीसरा पक्ष 'समाधान' समाधान के सबध मे दो साहित्यिक दृष्टिया है—प्रथम तो यह कि लेखक को समस्या उठाकर, उसका विश्लेषण करके, उसका समाधान भी प्रस्तुत करना चाहिए, और द्वितीय यह कि साहित्यकार का कार्य, कला की पद्धति से, अधिक-से-अधिक समस्या के प्रस्तुतीकरण-मात्र का हो सकता है, प्रस्तुतीकरण इस ढग या कला से कि समाधान का मूल रूप या दिशा उसके विश्लेषण के बीच से ही प्रकट होती दिखायी पडे। कलाकार का कौशल इसी मे निहित है। यदि अधिक मुखर—प्रकट या स्पष्ट भाव से लेखक अनुचित उत्साह से भरकर समाधान प्रस्तुत करने लगा तो उसके कलाकार-रूप के प्रच्छन्न हो जाने का पूरा-पूरा भय है।

प्रसाद ने अनेक स्थलो पर कलाकारोचित तटस्थता धारण करके ध्वनि-शैली मे ही समाधान को झलका दिया है, पर अनेक रचनाओं में वे पूर्ण निस्सग नही रह पाये है—हा, समाधान अवश्य ही पात्रों व स्थितियों के बीच से ही प्रकट हुआ है।

यह तो हुई समाधान प्रस्तुत करने की शैली की बात। अब देखा जाये कि प्रसाद जी ने समस्याओ के जो भी समाधान प्रस्तुत किये है, वे वस्तु-दृष्टि से कैसे हैं। अनेक समाधान भारतीय शाश्वत जीवन-मूल्यों से ही प्रेरित हुए है। नारी की समस्याओं का तो वही आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत किया गया है 'पुरुष सूर्य है तो नारी चद्र' (अजातशत्रु), 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत-नग पद-तल में। 'पीयूष-स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुदर समतल में' (कामायनी)। बात यह है कि प्रसाद नारी के मर्म रूप का चिंतन उसी अध्यात्म की भूमिका पर ही कर पाते है जो उन्होंने 'कामायनी' के 'निर्वेद सर्ग' में निर्मित की है। यथार्थवादी विचारक अपने ढग से विचार कर सकते है, पर जिस विचार-बिदु से प्रसाद जी ने नारी के मूल स्वरूप को देखा है, वह अत्यत ही उदात्त, रोमाचक व पावनकारी रूप है, इसमें सदेह नही। नारी का यह स्वरूपाकन विश्व-साहित्य की एक अनूठी निधि समझी जायेगी।

प्रसाद ने नारी पर यथार्थवादी दृष्टि से भी विचार किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' मे नारी की मुक्ति का लेखक ने अत्यत क्रातिकारी कदम उठाया है—शास्त्र का विधान पलटकर, शास्त्र में परिवर्तन कराके ध्रुवस्वामिनी को क्लीव पति से मुक्ति दिलायी गयी है। 'सालवती' कहानी में वेश्याओं के विवाह का एक आदर्श समाधान कवि ने प्रस्तुत किया है, पर वह कितना व्यवहार्य है, नही कहा जा सकता। 'चूडी वाली' कहानी में समाधान यह है कि नारी घर बसाकर सुखपूर्वक गृहस्थ-धर्म का पालन करने में ही सुख मानती है, अत दिग्भ्रमित नारियों को समाज मर्यादित जीवन बिताने के लिए घर की ओर आने दे। 'मधुआ' कहानी में व्यसन-त्याग की समस्या का यह समाधान प्रस्तुत किया गया है कि मानवीय स्नेह-सबधों की प्रेरणा से मनुष्य स्वयं ही सत्पथ पर आ सकता है, नियम-कानून से कुछ नही हो सकता। 'कामना' में अपनी मूल प्रकृति के केंद्र में च्युत विलासी व भोग-लिप्सु मानव को पुन' केंद्र में लगाने का एकमात्र उपाय है सद्विवेक की जागृति तथा प्रकृति की ओर पुनरावर्तन। 'कामायनी' में अशात मानव को सुखी और स्वस्थ बनने का मार्ग बताया गया है—समरसता की

साधना—इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सामजस्य द्वारा अखड और सघन आनद की प्राप्ति। इसी प्रकार 'ककाल' और 'तितली' मे सगठन, शिक्षा, सहयोग, निष्काम कर्म, मानवता के उच्च गुणो का अभ्यास आदि बाते सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के उपाय के रूप मे प्रस्तुत की गयी है।

प्रसाद जी के ये समाधान उच्चकोटि की सदाशयता व व्यक्ति व समाज के स्वस्थ सबधों की रक्षा व निर्वाह की दृष्टि मे प्रस्तुत किये गये है, कितु अनेक विद्वानो को प्रसाद जी के समाधान अति आदर्शवादी, भावुकतापूर्ण व अव्यावहारिक व अपर्याप्त भी जान पडे हैं। उदाहरणार्थ, कविवर पत को जिस अभेद चैतन्य के लोक में पहुचकर विश्व-जीवन के सुख-दु खमय सघर्ष से मुक्त होने का सदेश 'कामायनी' में मिलता है, वह कवि को पर्याप्त नही लगता। उनकी दृष्टि मे मनु को अधिमानस भूमि पर कैलास शिखर के सान्निध्य मे छोडकर सतोष ले लेने मे विश्व-जीवन की समस्याओ का समाधान नही दिखायी पडता, क्योंकि समस्याओ का यह निदान तो चिर-पुरातन, पिष्टपेषित निदान है।[203]

इसी प्रकार नारी, प्रकृति की ओर, प्रत्यावर्तन, तथा ऐसी ही अन्य अनेक समस्याओ पर प्रसाद के समाधान अनेक विद्वानो को विशेषत मान्य नही। स्थानाभाव से, सक्षेप में यहा इतना ही सकेत करना पर्याप्त होगा।

विचार-क्षेत्र में प्रसाद का प्रदेय

प्रसाद की विशिष्ट कृतियों—उदाहरणार्थ, 'ककाल', 'तितली', 'कामना', 'कामायनी' व 'ध्रुवस्वामिनी'—में उनका विचारक रूप स्पष्टता से उभरकर आया है। साहित्य का क्षेत्र शुद्ध व तात्त्विक बौद्धिक विचार का क्षेत्र न होकर भावना और अनुभूति क क्षेत्र है—हा, भावना या अनुभूति के क्षेत्र का अपना निजी तात्त्विक या बौद्धिक विचार होता है, इसमे सदेह नही। अत शुद्ध साहित्याकर मे उसका महत्त्व व मूल्य आकने के लिए विचार-राशि या अनुपात को हम एकात आधार मानने को बाध्य नही है। फिर भी एक तो कवि कोरा स्वप्नदर्शी या अरण्यवासी न होकर उत्तरदायित्व की भावना से पूर्ण एक सामाजिक प्राणी भी है और दूसरे, विचार या बुद्धि से नितात असपृक्त रहकर जीने वाली भावना की स्थिति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असभव ही है, अत विचार को भी कला या साहित्य में एक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। विचार का प्रश्न केवल साहित्य-निबद्ध विचार के मात्रा-अनुपात और उसकी निरूपण-पद्धति (भाव या विचार के परस्पर गुफन की शैली) या समावेश-पद्धति का है। प्रसाद ने अपनी विचार-सपत्ति को प्राय कलाकारोचित सयम और कलात्मक पद्धति से (अनेक स्थलो पर अवश्य संवादो में प्रसाद पात्रो के मुख से अभिधा में सीधे-सीधे लबे व उकताने वाले भाषण दिलवाते हैं जो लौकिक विचारो या विश्वासो के आवेश से प्रेरित हैं) प्रस्तुत किया है।

जहा तक नवचितन के क्षेत्र मे प्रसाद की देन का सबध है, वहा इतना ही कहा जा सकता है कि प्रसाद ने मानव-ज्ञान के भडार को समृद्ध करने का भी यत्किचित् प्रयास किया है। मानव-ज्ञान के विकास का केद्र-बिदु है मानव के सुख, स्वातत्र्य व समृद्धि से संबधित चिंतन। इस बिदु पर प्रसाद की साहित्यिक देन बहुमूल्य है। विचार-सूत्र या विचार-राशि भले ही बहुत मौलिक न हो, पर विचारों को जिस स्फूर्ति व भाव-सत्यता के साथ प्रस्तुत किया गया

है, वही साहित्यकार प्रसाद की देन है। विचार-जगत् के दार्शनिक जीवनानुभवो को मस्तिष्क के साचे मे ढाल-ढालकर जिस प्रकार नये-नये विचार तैयार करके ज्ञान या विचारधारा को आगे बढाते है वैसे, नपे-तुले साचे मे कहे, नये विचार प्रसाद जी भले ही न दे पाये हों—और, ऐसा करना निश्चित ही साहित्यकार प्रसाद का दायित्व भी नही, यह कार्य साहित्य-क्षेत्र-बाह्य एक दूसरी ही विशिष्ट प्रतिभा की अपेक्षा रखता है, पर केवल इसी आधार पर उनकी महत्त्वपूर्ण देन को अस्वीकृत नही किया जा सकता। ठीक है कि उनके विशिष्ट विचार-सूत्र—उदाहरणार्थ, कोरी बौद्धिक साधना से मनुष्य कदापि सुखी नही हो सकेगा, स्वर्ग, आकाश और देवता से पृथ्वी, मिट्टी और मानव अधिक मूल्यवान् है, सच्चा सौदर्य और प्रेम अमर है, मानव-धर्म ही सर्वोच्च धर्म है, इद्रियों का भोग भी त्याज्य नही, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय की साधना ही पूर्ण साधना है, प्रकृति की ओर लौट पडो, प्रकृति में ही सुख है, आनद ही जीवन की पूर्णता है, आदि उनकी अपनी निजी देन नही हैं। ये विचार-सूत्र दार्शनिक जगत् मे तात्त्विक धरातल पर, पूर्व और पश्चिम में, कभी के निर्मित हो चुके है। पर जिस कविजनोचित निष्ठा से ये हमारे हृत्कपन व रक्त-प्रवाह मे मिश्रित किये गये है उनका अपना महत्त्व है, क्योकि निष्ठा जीवन का एक अतरग मूल्य है। इन विचारो को विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से विविध अनुपातों में और रगतो मे मिलाकर, अपनी चेतना में आत्मसात् कर, पात्रो के मुख से उनका विशदीकरण या व्याख्यान कराना या पात्रों के जीवन-व्यापारो के बीच उन्हें प्रभावशाली ढग से चरितार्थ करना भी तो प्रसाद की विचार-सबधी मौलिक साहित्यिक देन में समाविष्ट किया जा सकता है। और यह भी कोई छोटी सिद्धि नही, इन विचारो को कला की पद्धति से किसी युग के अनेक युगो के मानवों के श्वास का विश्वास बना डालना एक महान् सास्कृतिक कार्य है। उक्त विचार-सूत्रो में अपनी ओर से स्वसस्कारानुरूप जोड़-तोड करके प्रसाद ने नवयुगानुरूप जो जीवन-दृष्टि दी है, वह अत्यत बहुमूल्य है, प्रसाद में जो भी वैचारिक स्फूर्ति दिखायी पडती है, वह इसी मौलिक जोड-तोड और जीवन-दृष्टि के निर्माण के प्रयत्न का सहज उच्छ्वास है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद-साहित्य मे विचार-तत्त्व भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। बुद्धि अथवा विचार से पूर्णत असपृक्त भावना निराधार-निरुद्देश्य या पगु-अध होती है। भावों की मार्मिक 'अपील' तो तभी होगी जब वे विचारों के सूक्ष्म स्नायुजाल पर खडे हों। प्रसाद एक सजग विचारशील दार्शनिक हैं, सर्वत्र उन्होने अपनी शुद्ध व सूक्ष्म बुद्धि या प्रजा का प्रयोग किया है। उन्होने मानव-जीवन व ससार से सबधित अपने विविध विचार, प्राय सर्वत्र कला की पद्धति से, प्रस्तुत किये है। उनके अनेक विचार प्रगतिशील, ताजा, नवीन व मौलिक हैं। उनके विचारो का स्तर और गुण मौलिक चितन की स्फुरणा है। वे स्थूल अर्थ में किसी पार्टी के प्रचारक नही (कौन साहित्यकार सूक्ष्म रूप से प्रचारक नही होता !) अत स्वतत्र चितन का परिणाम होने से व सहज प्रेरणा-प्रसूत होने से वे अधिक व्यापक व ग्राह्य है। अनेक स्थलों पर उन्होंने विचारो की गभीर क्राति की है।

अवश्य ही कई विचार रूढ, अव्यावहारिक व विवादास्पद हैं, किंतु इसमें तो सदेह नही किया जा सकता कि उनके विचार एक गभीर उच्चाशयता से प्रेरित हुए है।

प्रसाद मूलत एक आदर्शवादी विचारक हैं जो जीवन और संसार का रूप कैसा होना चाहिए—इसका निदर्शन प्रस्तुत करने में अधिक उत्साही है, यद्यपि जीवन के यथार्थ रूप और

व्यक्ति की क्षमता और सीमा को पूरी सहानुभूति से समझते हुए वे अपना मृदुल यथार्थवादी रूप भी भली भाति प्रकट करते हैं। उनके विचारों का मूल स्रोत तो निश्चित ही मानव का आदर्श रूप है, जिसे निरतर ध्यान मे रखते हुए ही वे व्यक्ति, समाज, मानव और विश्व के सुदर और कल्याणकारी रूप को प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हुए हैं। उन्होने कही से विचारो का गढा-गढाया ढाचा उधार नही ले लिया है, जो कुछ लिया है उसमें अपनी प्रतिभा से अन्विति बैठाकर नवीनता व मौलिकता की प्रतिष्ठा की है। विचारों में, पारस्परिक सबध की दृष्टि से, व्यक्तित्व के गठन व मौलिकता की प्रकाशिका एक अन्विति है। साधनशील व ऊर्ध्वमुखी व्यक्तित्व की उपज होने से उनमें सहज औदात्य व शुभ्रता है। अनुभव, अध्ययन, मनन और निरीक्षण के द्वारा वे अपने ढग से अपनी विचार-पद्धति का निर्माण कर सके हैं। बस, इसी रूप मे प्रसाद मौलिक विचारकों की श्रेणी में रखे जायेगे। उनके मुक्तक काव्य मे उनकी विचारधारा प्रच्छन्न रूप से तथा उनके नाटकों, उपन्यासों व प्रबध-काव्यो मे अधिक प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने आयी है।

प्रसाद के चितन में अनेक बिंदु ऐसे भी है जिनसे विद्वान् सहज ही सहमत नही हो पाते, अनेक विचारो ने तो आक्षेप-आक्रोश को उभारा है। बुद्धिवाद, नारी, प्रकृति की ओर प्रत्यागमन, रगमच, भाषा, रस आदि से सबधित अनेक विचार-बिदु बहुत विवादास्पद है। स्थानाभाव से यहा इतना ही सकेत करना पर्याप्त है।

सब-कुछ मिलाकर देखने पर, प्रसाद का साहित्य विचारों को दृष्टि से सपन्न है। उनका चितन प्रगतिशील है। वे शुद्ध बुद्धि व विवेक से मानव व समाज के आनद व कल्याण का सही मार्ग दिखा सकने में समर्थ हुए हैं। सामयिक व शाश्वत दोनो ही स्तरो पर उनकी चितना जाग्रत रही है। उनकी मनीषा सूक्ष्म व पैनी है।

उनका चितन हवाई नही है, गभीर मनन से प्राप्त उनके विचारों के सुदर चित्र विराट् काल-फलक पर फैली उनकी सुदीर्घ ऐतिहासिक दृष्टि के पट पर बने हुए हैं, अत वे यथार्थ व व्यवहार्य हैं। उनका चितन समग्र मानव जीवन, मानव की सहज शारीरिक-मानसिक क्षमता और मानव की मूल आदर्शप्रियता—तीनो के सामजस्य से तैयार हुआ है। फिर इस चिंतन को उन्होने, अधिकाशत साहित्य या कला की माग के अनुसार भाव व रस रूप में परिणत कर एक स्वस्थ तृप्तिकारी सजीवनी के रूप मे प्रस्तुत किया है। इस विचार का कुछ अश राष्ट्रीय महत्त्व का, कुछ अतर्राष्ट्रीय महत्त्व का और कुछ सार्वभौमिक व सार्वकालिक महत्त्व का है। मानव-जीवन के सब क्षेत्रों पर समान दृष्टि रखकर मानव-सुख के लिए प्रसाद ने जो चितन किया है वह उनके साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विभूति है।

संदर्भ

1 भरत नाट्यशास्त्र, 1/115, 1/117
2 'तर्कभाषा', पृ 210
3 नाट्यशास्त्र, 1/115 1/117
4 काव्यमीमासा (प केदारनाथ शर्मा सारस्वत का हिंदी अनुवाद), पृ 24
5 श्री जयत कोठारी भारतीय काव्य-सिद्धात (गुजराती), पृ 168
6 डॉ नगेन्द्र, हिंदी ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ 51

7 रामचरितमानस, बालकाड ।
8 Highways and Byways of Literary Criticism p 6 23, 24 26, 29
9 Thought is prior to form —quoted from W B Worsfold Principles of Criticism, p 27
10 अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ 116
11 ' Poetry we will call musical thought
12 The Study of Poetry p 12
13 Ibid p 19
14 Ibid p 19
15 Ibid , p 30-31
16 Mathew Arnold Essays in Criticism Second Series, p 106-107, Wordsworth 'Tinturn Abbey'—Poem
17 Principles of Literary Criticism p 40 101 103
18 an actual poem is the succession of experiences sounds, images, thoughts emotions ' —Bradley Oxford Lectures on Poetry, p 4, also p 19
19 "a direct sensuous apprehension of thought, or a recreation of thought into feeling"—quoted from an article entitled 'T S Eliot Poet and Critic' (The Modern Age edited by Boris Ford p 336) and T S Eliot The Use of Poetry and the Use of Criticism, p 55
20 Loci Critici, p 309
21 "Art as a union of productive faculty and reason '—Principles of Literary Criticism, p 38, also p 40, 101, 103
22 Principles of Literary Criticism p 27, 135, 154 163
23 Mirror and the Lamp, p 228, 290 (Figures of speech as incarnation of thought)
24 Principles of Criticism, p 242
25 विशेष देखिए—पात्र-सृष्टि और चरित्र-चित्रण वाला प्रकरण ।
26 तितली, पृ 36
27 'आकाशदीप' कहानी
28 तितली, पृ 251
29 जनमे, पृ 117
30 ध्रुव, पृ 50
31 वही ।
32 चद्र., पृ 105 इरा, पृ 87, ककाल, पृ 170
33 स्कद., पृ 137-138
34 इरा, पृ 34
35 ककाल, पृ 243-244 'बनजारा' कहानी, ('आकाशदीप', पृ 107-108) , तितली, पृ 89, ककाल, पृ 45, ध्रुव., पृ 23, 'सदेह', 'चित्रवाले पत्थर', 'सहयोग', 'प्रतिध्वनि', 'व्रत-भग' कहानिया, 'अजातशत्रु', पृ 82
36 ध्रुव., पृ 33
37 करुणा, पृ 28
38 ध्रुव., पृ 50
39 वही, पृ 51 65
40 'वैरागी' कहानी, ककाल, पृ 170
41 ककाल, पृ 250
42 कामा., पृ 149-152, 247, 289
43 तितली., पृ 153-56 196, 204
44 स्कद., पृ 96 97
45 जनमे., 3 3

46 विशाख, 2, 4
47 अजात, पृ 3, 9
48 आधी, पृ 7 व 266, 'कलावती की शिक्षा', 'भीख में', 'सहयोग', 'सदेह', 'चित्रवाले पत्थर', 'मधुआ', 'सलीम' आदि कहानिया।
49 तितली, पृ 81
50 चद्र., पृ 190
51 एक घूट, पृ 39
52 वही, पृ 39
53 विशाख, पृ 65
54 वही, पृ 66
55 अजात, पृ 132
56 कानन, पृ 4, 92
57 आकाश, पृ 115-116
58 वही, पृ 119
59 वही, पृ 122
60 वही, पृ 122
61 आधी, पृ 7
62 वही, पृ 13
63 वही, पृ 86
64 तितली, पृ 111
65 अजात., पृ 129
66 आकाश, पृ 37 (स्वर्ग के खडहर में); 'कामना', पृ 5, विशाख, पृ 13, कामा. आशा सर्ग।
67 अजात., पृ 121, 'हिमालय का पथिक', 'स्वर्ग के खडहर मे'।
68 इरावती, पृ 63
69 'चित्तौड़-उद्धार' तथा 'घीसू' कहानिया, 'ध्रुवस्वामिनी'।
70 आकाशदीप, पृ 61, तितली, पृ 60
71 'प्रसाद' कहानी।
72 कामायनी, श्रद्धा सर्ग।
73 'लहर' की 'अरे आ गई है भूली सी ' नामक कविता। कामायनी, इद्र, पृ 113 130
74 कामायनी, चिंता सर्ग।
75 करुणा जनमे, पृ 85 कामायनी।
76 ध्रुव, तृतीय अक।
77 आकाश., पृ 88, 111, 112 113 115, 116 117 इरा, पृ 17 39 63, 78 113, इद्र., पृ 130 ('सालवती' कहानी), चद्र., 69 74
78 'अनबोला' कहानी, 'तितली' व 'ककाल'।
79 छाया, पृ 111 ('मदन मृणालिनी' कहानी)।
80 'विराम-चिह्न' कहानी।
81 'प्रतिमा' कहानी।
82 'पाप की पराजय' कहानी।
83 'जनभारती' (कलकत्ता), 'प्रसाद अक', भाग 2 पृ 66
84 वही, पृ 5
85 वही, पृ 3
86 वही, पृ 13
87 वही, पृ 52
88 चद्र., पृ 140

89 स्कद, पृ 134
90 वही, पृ 12
91 वही, पृ 11
92 अजात, पृ 75
93 वही, पृ 103
94 वही, पृ 28
95 आधी, पृ 30
96 चद्र, पृ 158
97 इद्र, पृ 70
98 कामायनी, सघर्ष सर्ग व इड़ा सर्ग ।
100 'स्कदगुप्त' में मातृगुप्त का चरित्र द्रष्टव्य, 'घीसू', 'करुणा', 'पुरस्कार', 'छोटा जादूगर' आदि कहानिया, 'तितली' में अनेक निम्नवर्गीय पात्र ।
101 तितली, पृ 152
102 वही, पृ 203-204 इरा, पृ 16 ककाल, पृ 44
103 Humanism represented an open break with a good many of the standard ideas of the middle ages It emphasized the dignity of man and his perfectability"—The Readers Companion to World Literature, p 219
104 " man must be truly critical, completely positivistic and thought experience not the acceptance of external authority reach toward unity as a standard for life"—Dictionary of World Literature, p 213
105 With More and Babbit the new Humanism had two essential principles (1) to recognize within one and be guided by the controlled ethical imagination, the inner check or selective principle of the free will upon the naturalistic impulses also within one (2) to recognize the existence of a superior continuing reality the elcement of immutability in a changing universe"—Dictionary of World Literature, p 213
106 'Necessity of humanity as a control on the human intelligence"—Ibid, p 213
107 " and it tended to place reason above revelation"—The Reader's Companion to World Literature, p 219
108 It considered the world a legitimate object of interest and love' —Ibid, p 219
109 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 8
110 वही, पृ 79
111 वही, पृ 11
112 वही, पृ 9
113 वही, पृ 9
114 वही, पृ 11
115 वही, पृ 11
116 वही, पृ 9
117 वही, पृ 116-117
118 वही, पृ 4
119 वही, पृ 6
120 वही, प्रथम निबध
121 वही, पृ 8
122 वही, पृ 31, 34
123 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 59
134 वही, पृ 72-73

125 वही, पृ 79
126 वही, पृ 72
127 वही, पृ 75-76
128 वही, पृ 74
129 वही, पृ 82-83
130 वही, पृ 76
131 वही, पृ 79
132 वही, पृ 79
133 वही, पृ 79-80
134 वही, पृ 111
135 वही, पृ 119-120
136 वही, पृ 119
137 वही, पृ 119
138 वही, पृ 82-83, 116-118
139 वही, पृ 84
140 वही, पृ 83-84
141 वही, पृ 85
142 वही, पृ 85
143 वही, पृ 85
144 वही, पृ 86
145 वही, पृ 127
146 वही, पृ 127 130
147 वही, पृ 131, 133
148 वही, पृ 126
149 वही, पृ 130
150 वही, पृ 132
151 वही, पृ 132
152 वही, पृ 132
153 वही, पृ 130
154 वही, पृ 126
155 वही, पृ 129
156 वही, पृ 7
157 वही, पृ 142
158 वही, पृ 140
159 वही, पृ 142
160 वही, पृ 147
161 वही, पृ 149
162 वही, पृ 148
163 वही, प्राक्कथन, पृ 5
164 डॉ नगेन्द्र अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 164
165 आचार्य वाजपेयी जी का 'प्रसाद और निराला' नामक लेख द्रष्टव्य।
166 जयत कोठारी भारतीय काव्य-सिद्धात (गुजराती), पृ 168
167 वि देखिए—'भारतीय दर्शन' (प बलदेव उपाध्याय), पृ 585-596, 'भारतीय साहित्यशास्त्र', पृ 423; 'हिंदी ध्वन्यालोक' (सपादक डॉ नगेन्द्र, पृ 48-49 'हिंदी अभिनव भारती' (सपादक डॉ नगेन्द्र), 'भूमिका' के आरभिक पृष्ठ, 'जनभारती' (कलकत्ता), 'प्रसाद अक' (भाग 1) में डॉ प्रेमस्वरूप गुप्त का लेख—'कामायनी

मे त्रिकोण' 'प्रसाद' (काशी) के 'प्रसाद विशेषाक' में डॉ भोलाशकर व्यास का लेख 'प्रसाद का आनदवाद', 'हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' (डॉ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय), 295-303 'हिंदी साहित्यकोश', पृ 476 डॉ द्वारिकाप्रसाद सक्सेना—'कामायनी मे काव्य, सस्कृति और दर्शन' आदि।

168 वि देखिए—आचार्य शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ 826, 830, 832 833, 835 तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पृ 11

169 विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए—डॉ राममूर्ति त्रिपाठी का लेख 'प्रसाद और काम' (सागर यूनिवर्सिटी पत्रिका, वर्ष 3 अक 3) तथा डॉ द्वारिकाप्रसाद का शोधग्रथ 'कामायनी मे काव्य, सस्कृति और दर्शन'।

170 " यथा स्वज्ञानेनावृताया रज्ज्वा सर्पत्वसम्भावना"—वेदातसार, 53

171 or similar to the psychological process in our daily lives of thinking and experiencing out Technically the process is called—Abhasa —J C Chatterji, Kashmir Shaivism p 55-56

172 "मय्येव भाति विश्व दर्पण इव निर्मले.."—परमार्थसार, पृ 97। दर्पणबिंबे यदूनन्नगर-ग्रामादि—भाति विभागेनैव च परस्पर दर्पणादपि च ॥—परमार्थसार, 12 (पृ 35)।

173 श्री जगदीशचद्र चैटर्जी, डॉ के सी पाडे, प बलदेव उपाध्याय आदि विद्वानो ने इस दर्शन की विशिष्टता व मार्मिक देन का अपने ग्रथो मे उद्घाटन किया है।

174 प बलदेव उपाध्याय 'भारतीय दर्शन', पृ 591, 592 श्री शातिप्रकाश आत्रेय भारतीय तर्कशास्त्र, पृ 80 Dr K C Pandey Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study p 320

175 nor even a mere illusion as the Vedantin believes it to be"—Dr K C Pandey Ibid p 320

176 "इति वा यस्य सवित्ति क्रीडात्वेनाखिल जगत्।"—स्पदकारिका, पृ 85, "लीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा।"—शिवसूत्र विमर्शिनी,—"क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्या-तत्त्वम् इति।"—तत्रसार, पृ 74
as a spontaneous flow of cognition and activity ' —The Shivadristi Introduction, p 1

177 प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 587, 594

178 तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या), पृ 224-226, आचार्य नददुलारे वाजपेयी प्रसादकृत 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' का 'प्राक्कथन', पृ 8, तथा पृ 75 भी।

179 प बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ 341 "परमेश्वरस्पर्शरसो खडित एवेति सामरस्यम्।"—शिवदृष्टि, पृ 29

180 "चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतु। स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।"—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ 1-2

181 "यत्र यत्र मनो याति ज्ञेय तत्रैव चिन्तयेत्। चलित्वा यास्यते कुत्र सर्व शिवमय यत।"—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ 110

182 वि देखिए—प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 347

183 केशव मिश्र तर्कभाषा।

184 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 14 39 42-43

185 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' में 'रहस्यवाद' नामक लेख।

186 'सत्यात्म प्राणाराम मन आनन्दम्'—तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/6

187 "आनन्द ब्राह्मणो विद्वान। न विभेति कदाचनेति।"—वही, 2/4, तथा "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् आनन्द आत्मा।"—वही, 2/5

188 ' आत्माऽऽनदमय।"—वही, 2/6

189 "को ह्येवान्तात्क प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।"—वही, 2/7

190 तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/9

191 बृहदारण्यक 4/3/32

192, तैत्तिरीयोपिनिषद्, 3/6

193 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2/6

194 वही, 5/14
195 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 14, 39, 42-43
196 दाड्यायन व श्रद्धा आदि पात्रो की जीवन-दृष्टि ।
197 कामायनी, श्रद्धा सर्ग, 'प्रलय' नामक कहानी ।
198 देखिए—'रहस्यवाद' और 'रस' नामक लेख ।
199 "स्वातन्त्र्यम् आनद शक्ति"—अभिनवगुप्त तत्रसार आह्निक, 1
200 प्रत्यभिज्ञाहृदय 1
201 'Samasya or doubt ıs a state of uncertaınty"—Datta & Chatterjı 'An Introductıon of Indıan Phılosophy, p 168
202 But poets are not only the authors of language and of musıc, they are the ınstıtutors of laws, and the founders of cıvıl socıety, and the ınventors of the arts of lıfe, "—P B Shelley Defence of Poetry –quoted from George Saıntsbury's locı crıtıcı
203 सुमित्रानदन पत गद्य-पथ, पृ 161-162

चतुर्थ प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में पात्र-सृष्टि, चरित्र-चित्रण, संवाद व मनोविज्ञान

प्रकरण-प्रवेश

प्रकरण-सगति

गतिशीलता ही जीवन है और स्थिरता ही मृत्यु है। भौतिक सृष्टि मे प्रत्येक चेतन प्राणी, किसी-न-किसी उद्देश्य से, गतिशील रहकर अपने जीवित होने का प्रमाण उपस्थित कर रहा है। साहित्य-सृष्टि भी एक मानसी सृष्टि है। उसके उस अश (गीत-काव्य आदि) में तो, जिसमें भाव-व्यजना ही प्रमुख उपकरण है, पात्रों की विशेष आवश्यकता नही होती, पर प्रबध काव्य, नाटक, उपन्यास-कहानी आदि विधाओं में पात्र अनिवार्यत निबद्ध रहते हैं, क्योकि समस्त कथा-व्यापार पात्रों के द्वारा ही सपादित होता है। प्रसाद-साहित्य का एक विशाल अश पात्रो से आकीर्ण है। ये पात्र विविध मनोभावों व गति-व्यापारों से युक्त हैं। इनकी योजना विशेष श्रम, मनोयोग व रचना-कौशल के साथ, जीवन के विविध रूपों व गहन मतव्यो के अनुशीलन की दृष्टि से की गयी है। अत यह विशाल पात्र-सृष्टि, प्रसाद-साहित्य में, विशेष अध्ययन-मनन की वस्तु है। उसके माध्यम से प्रसाद ने वह प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जो जीवन व साहित्य को एक गभीर अर्थ व आशय प्रदान करता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण उपकरण पर स्वतत्र विचारणा प्रबध की योजना में अनिवार्य स्थान व महत्त्व रखती है।

पात्र-सृष्टि का महत्त्व

प्रसाद की पात्र-सृष्टि पर विचार करने से पूर्व पात्र-सृष्टि का स्वरूप-ज्ञान आवश्यक है। विधाता की सृष्टि की तरह साहित्य की सृष्टि (प्रबंध काव्य, नाटक, उपन्यास-कहानी आदि) भी जीवधारियों या पात्रो से आकीर्ण रहती है। इस साहित्य-सृष्टि के पात्र मुख्यत दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध काल्पनिक तथा यथार्थ जगत् के पात्रो के प्रतिच्छाया-रूप। शुद्ध काल्पनिक पात्र स्वतत्र कल्पना की मनोराज्यमयी सृष्टि होते हुए भी रूप-रग, आकार-प्रकार, व्यवहार आदि में प्रत्यक्ष जगत् के प्राणियों की ही तरह होते हैं। वे कल्पित होते हैं, और मुख्यत प्रत्यक्ष जगत् के बाहरी आकार-प्रकार के पात्रों के अनुकरण पर उनका मनोविज्ञान व क्रियाकलाप होता है, पर वे अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छद (लेखक की स्वरुचि के अनुसार) वृत्तियों से परिचालित होते हैं। यह तो हुई शुद्ध काल्पनिक पात्रों की बात। पर, साहित्य में यथार्थ जगत् के-से पात्रों की रचना

ही स्वाभाविक और मार्मिक समझी जाती है, क्योकि वे रूप व प्रकृति-साम्य से अधिक सरलता से पहचाने जा सकते है, और हम उनमे गहरी रुचि ले सकते है। पर साहित्यगत पात्र यथार्थ जगत् का अनुकरण होते हुए भी स्थूल बाह्य सृष्टि के पात्रो से न्यूनाधिक रूप से भिन्न होते है, वे रचयिता की कल्पना से रूपाकृत होकर प्राय जान या अनजान मे उसके जीवनादर्शो की सिद्धि के लिए ही नियोजित होते है। अन्यथा जो सृष्टि (हाड-मास की) पार्थिव जगत् मे एक बार हो चुकी है, उसे फिर बनाने या दुहराने का क्या अर्थ। बनी हुई पूर्व सृष्टि से साहित्यकार की सृष्टि में यदि कोई मौलिकता-नवीनता या वैशिष्ट्य न हो तो वह मूल की निर्जीव प्रतिलिपि मात्र ही सिद्ध होगी। यदि इतना ही हुआ तो स्रष्टा की मौलिकता व उसका नव-निर्माण, जो साहित्य को मानव ज्ञान के विशाल प्रपच मे एक स्वतत्र व्यक्तित्व प्रदान करता है, कही भी नही दिखायी पडेगा। अत पात्र-सृष्टि, काल्पनिक या यथार्थानुसारिणी, वस्तुत एक ऐसी मानसिक सृष्टि है, जिसके निर्माण का श्रेय उसके स्रष्टा साहित्यकार को ही मिल सकता है। यह सृष्टि वास्तविक सृष्टि से कही अधिक सरस होती है, क्योंकि उसमे निर्माण व आस्वादन—दोनों ही धरातलों पर कल्पना का मनोरम व्यापार निहित है।

पूर्व और पश्चिम—दोनो के साहित्य मे पात्र-सृष्टि या चरित्राकन का महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकृत है, किंतु उसके अवस्थान व नियोजन-पद्धति में महत्त्वपूर्ण अतर भी है। भारत में रूपक या नाटक की तीन तत्त्व माने गये है—वस्तु, नेता और रस। इनमे पात्र-सृष्टि अथवा चरित्र-चित्रण 'नेता' से सयुक्त है, क्योक 'नेता' शब्द मे कथाधारा का अथवा कथा को उत्पन्न व विकसित करने वाले कथा-वाहक पात्रो के नेतृत्व का व्यापार भी समाविष्ट है। वस्तु, नेता, और रस—ये तीनो उत्तरोत्तर महत्त्व के सूचक है। स्थूल वस्तु या उपादान प्राथमिक आवश्यकता है, वस्तु वाहक कोई नेता और उसमे सयुक्त पात्र ही हो सकते है, और चरम परिणति 'फलागम' और काव्य-रस ही है। इस क्रम से पात्रो का महत्त्व रसाश्रित ही हो सकता है। पात्रो के महत्त्व को लेकर प्राचीन भारतीय दृष्टि यही रही है। पश्चिम मे वस्तु और चरित्र के पारस्परिक महत्त्व के प्रश्न को लेकर काफी खीचतान रही है। अरस्तू ने वस्तु या कथानक को सर्वोच्च स्थान देते हुए पात्र या चरित्र को गौण स्थान का ही अधिकारी रखा। उनकी धारणा यह थी कि कितनी ही कुशलता से चरित्राकन क्यो न किया जाये, कोरे चरित्र से श्रेष्ठ त्रासदी की प्राप्ति नही होगी, कथाश्रित गतिशील चरित्र ही (गतिशीलता कथानकगत व्यापार के महत्त्व की द्योतक है) महत्त्वपूर्ण हो सकते है,[1] किंतु यूरोप मे आगे चलकर चरित्र का ही महत्त्व स्थापित हुआ। बहुत से नाट्य समालोचको ने नाटककार को प्रमुखत चरित्र का स्रष्टा ही ठहराया।[2] ऐटविसल ने किसी लेखक द्वारा कथानक-निर्माण के सर्वोच्च कौशल के प्रदर्शन के बावजूद चरित्राकन को ही नाटकीय कृति के गौरव का अतिम आधार बताया।[3] गाल्सवर्दी ने तो यही कह दिया कि चरित्र की चिता रखो, शेष (व्यापार व सवाद) तो सब अपने आप ठीक हो जायेगा।[4] उपन्यास-क्षेत्र मे भी चरित्राकन की ही प्रतिष्ठा हुई।[5]

हिंदी के आधुनिक स्रष्टाओ व समीक्षकों की भी दृष्टि यही है। प्रेमचद ने इस सबध में अपनी धारणा निर्भ्रांत शब्दों मे व्यक्त की है कि 'मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'[6] आचार्य श्यामसुदरदास ने भी रगशाला की दृष्टि से नाटकों में चरित्र का ही महत्त्व स्वीकार किया है।[7] बाबू गुलाबराय ने चरित्र-चित्रण को आलबन विभाव के साथ जोडकर इस प्रश्न का रस के राजमार्ग पर व्यापक दृष्टि से विचार

किया है और चरित्र के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।[8]

डॉ नगेन्द्र ने अरस्तू के द्वारा चरित्र की अपेक्षा वस्तु के महत्त्व-प्रतिपादन को भ्रात धारणा बताया है।[9]

हिदी मे चरित्र-चित्रण ऐतिहासिक पीठिका

प्रसाद की पात्र-सृष्टि पर विचार करने से पूर्व तत्सबधी एक सक्षिप्त ऐतिहासिक पीठिका उपादेय होगी। भारतीय साहित्य मे रस की सृष्टि ही मुख्य वस्तु रही है, चरित्र-चित्रण गौण। नायक के चार प्रकृतिगत भेद—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शात और धीरोद्धत—हमारे यहा स्वीकृत थे। व्यक्तित्व-प्रकाशन का यह ढाचा मानव-प्रकृतियों के सभी रूपो को समेट तो लेता है, पर चरित्रों के विकास और परिवर्तन की पूरी गुजाइश नही देता।[10] हा, प्रत्येक पात्र इन चारो वर्गो मे से किसी एक के अतर्गत रखा जा सकता था, पर पाश्चात्य मनोविश्लेषण-शास्त्र तथा यथार्थ-विषयक दृष्टि के ऊहापोह से जो तथ्य सामने आये, उनसे पाश्चात्य चरित्र-चित्रण कला का रूप-निर्माण हुआ और भारतीय चरित्र-चित्रण कला भी न्यूनाधिक रूप मे प्रभावित हुई। गद्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र ने "राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरभ किया था। जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिदी में उसी समय आरभ हुआ था जो परपरा थी उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिदी मे उसी समय आरभ हुआ। यद्यपि हिंदी मे पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखको ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरभ किया, कितु श्री हरिश्चद्र का आरभ किया हुआ यथार्थ भी पल्लवित होता रहा।"[11] प्रसाद इस यथार्थ के (जिसमे 'अभाव, पतन, और वेदना के अश प्रचुरता से होते हैं') आगमन की दृष्टि का विश्लेषण करते हुए इस यथार्थवादी दृष्टि का कुछ सीमाओ के साथ, समर्थन व पोषण करते है।[12] वे क्षुद्रों के नही, किंतु महानों के यथार्थवाद को ही अपनाने के पक्षपाती हैं।

दूसरी ओर प्रसाद कोरे आदर्शवाद के भी पक्षपाती नही, क्योंकि उनकी दृष्टि मे कोरा यथार्थवादी तो इतिहासकार मात्र है और कोरा आदर्शवादी धर्मशास्त्र-प्रणेता। साहित्य उनकी दृष्टि में इन दोनों की कमियो को पूरा करता है।[13]

यह तो हुई यथार्थ व आदर्श-विषयक मूल सैद्धातिक दृष्टि।

प्रसाद के युग से पूर्व देवकीनदन खत्री, गोपालराम गहमरी व किशोरीलाल गोस्वामी चरित्र-चित्रण कला के क्षेत्र में अपने प्रयोग कर रहे थे। उनके पात्र यात्रिक थे और तिलस्मी, ऐयारी के चमत्कारों में ही लीन थे। साहित्य मे चरित्रों की सृष्टि जिस गभीर उद्देश्य से व कला-कुशलता से की जानी चाहिए, उससे वे अभी बहुत दूर थे। प्रेमचद सन् 1918 ('सेवासदन' का प्रकाशन-काल) में चरित्र-चित्रण कला के क्षेत्र में पहली बार प्रतिष्ठित हुए (प्रसाद का सर्वप्रथम, गभीर व विचारणीय प्रयत्न सन् 1922 में प्रकाशित 'अजातशत्रु' है) और तब से लेकर आगे के 20 वर्षों तक (उनके निधन तक), निरतर अपनी कला का विकास करते रहे। पर प्रेमचद के आदर्शवाद, उनकी सुधारक दृष्टि व उनकी कला-उद्देश्य-विषयक धारणा आदि ने उनकी चरित्र-चित्रण कला की उपलब्धि का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, वह अपने युग में महत्तम होकर भी कला के चरम निकष पर पूर्ण सतोषजनक सिद्ध नही हुआ।[14] चरित्र-चित्रण

की कला अपनी विकास-यात्रा पर अग्रसर थी। जीवनधारा के बीच विविध परिस्थितियो के आवर्तो मे पडकर, लेखकीय शासन से मुक्त हो, अपनी शक्ति से, स्वतत्रतापूर्वक सघर्ष करने वाले पात्रो और उनके मन के विविध और दुर्भेद्य स्तरो मे चलने वाली हलचलो को मानवीय सहानुभूति के साथ देखकर उनका सजीव, सूक्ष्म व रसात्मक चित्रण करने की कला का क्षेत्र खुला पडा था। अनेक लेखक उस समय इस क्षेत्र मे थे, प्रसाद और प्रेमचद सभवत अग्रणी। दोनो की उपलब्धिया विभिन्न हैं। हमे विशेष रूप से प्रसाद पर विचार करना है।

प्रसाद चरित्र-चित्रण कला की बनी-बनायी दृष्टि से ही नही बढते। उन्हे शास्त्रीय ढाचा भी पूरी तरह स्वीकार नही। विवेकाश्रित आदर्शवादी दृष्टि उनके चरम लक्ष्य अमिश्रित आत्मानद मे बहुत सहायक नही। यथार्थवादी दृष्टि को वे अपने ढग से, सीमाओ के साथ स्वीकार करते हैं। मनोविज्ञान को वे स्वीकार करते हैं (अभिव्यक्तिवादी अभिनवगुप्त की परपरा में तो वे है ही) पर एक साहित्यकार के रूप मे ही। साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद के सैद्धातिक संघर्ष मे वे अपना मार्ग ढूढ रहे है। ऐयारी-तिलस्मी की धारा उनकी गंभीर रुचि के अनुकूल नही, द्विवेदी-युग का कोरा आदर्श उन्हे आकृष्ट नही करता, प्रेमचद की अति व्याख्या व कला-उद्देश्य की अति स्पष्टता, व्यजना व ध्वनि मे दीक्षित उनकी सुरुचि को पूर्ण तृप्तिकर नही। पश्चिम की अति यथार्थवादिता व अति मनोवैज्ञानिकता की साहित्योपयोगिता से वे आश्वस्त नही है। ऐसी परिस्थितियो में प्रसाद पात्र-सृष्टि व चरित्र-चित्रण कला के क्षेत्र में खडे हैं। उनकी उपलब्धियो का न्यायोचित आकलन करने के लिए इस समस्त परिवेश को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

प्रसाद की पात्र-सृष्टि की मूल प्रेरणा व उद्देश्य

प्रसाद ने सैकडों पात्रों की सृष्टि की है। जीवन-जगत्मूलक किसी गहरी, व्यापक और तीव्र प्रेरणा, और मानव-चरित्र के मूल रहस्यों को समझने के गभीर उद्देश्य से परिचालित हुए बिना इतनी विशाल सृष्टि संभव नही, अत पात्र-सृष्टि की उस प्रेरणा और उद्देश्य पर कुछ विचार करना उचित होगा। प्रेरणा और उद्देश्य के बहुत से विधायक तत्व सामान्य किंतु गहराई से विचार करने पर कुछ भिन्न जान पडेगे। सच्ची प्रेरणा तात्कालिक, वेगवान्, सहजोद्भूत, तर्क-तरल, उष्ण और प्रवाही होती है, जब कि उद्देश्य सायास, सुचिंतित, सुनियोजित, दूर स्थित, बौद्धिक, भविष्यलक्षी और अपने रूप मे स्पष्ट और व्यावहारिक होता है।

प्रसाद ने जो पात्र-सृष्टि की है, उसकी एक गहरी प्रेरणा भी है, और उसका एक गभीर उद्देश्य भी। पात्र-सृष्टि की मूल प्रेरणा तो है अपने आदर्शों, भावोर्मियों आदि को तुरत किसी पात्र या पात्रों के माध्यम से चरितार्थ करके शुद्ध अभिव्यक्ति का सुख प्राप्त कर लेना, जीवन की सचित अनुभूति-राशि या विचार-राशि में अपना भी योगदान कर घूटने का कलाकारोचित मनोवैज्ञानिक सतोष-लाभ कर लेना। प्रसाद की पात्र-सृष्टि की प्रेरणा के स्रोत है समाज की विषमताओं का निराकरण, शिवेतर के नाश का सकल्प, सौंदर्य-चेतना की अनुभूति व उसका सप्रेषण, जीवन-मूल्यों के प्रचार की अदम्य व बलवती कामना, आदि।

स्रष्टा कलाकार का वास्तविक सुख आत्माभिव्यक्ति में ही है। इस अभिव्यक्ति का सीधा सबध मौलिक प्रेरणा से ही होता है। प्रेरणा जितनी ही मौलिक और गहरी होगी, उसकी

अभिव्यक्ति जितनी ही तदनुरूप या समानातर होगी, कवि का सतोष उतना ही गभीर होगा। और प्रसाद की पात्र-सृष्टि के मूल मतव्य का उद्देश्य है—इस पात्र-सृष्टि से पाठकों या प्रेक्षकों की चेतना मे मानव और जीवन की व्याख्या करके उसके शाश्वत रूप को दर्शाना, उस चेतना में मानव व जीवन के यथार्थ स्वरूप का बोध सक्रमित करना, वर्तमान को, सुदर एव समुन्नत बनाना आदि।

प्रसाद की पात्र-सृष्टि का वास्तविक उद्देश्य उसके विभिन्न पात्रो के घटना-व्यापारों व उनके जीवन की चरम परिणति के पृथक्-पृथक् स्वरूप-बोध से उतने स्पष्ट रूप से सामने नही आता, जितना कि हमारे मन मे उसके सामूहिक या समग्र प्रभाव के आकलन से। यों तो साहित्य का पाठक, श्रोता या प्रेक्षक लेखक-प्रसूत पात्रो से भावना-भूमि पर तटस्थता से मिल सकता है, पर सामान्यत प्रभावशाली रूप मे अकित पात्र या उसके जीवन को सहृदय जन प्राय अपने-अपने सस्कारो व भावना-शक्ति के अनुपात में ही एक गभीरतर रूप मे ग्रहण करने के लिए तत्पर रहते है। प्रसाद ने अपने पात्रों की एक विशाल व वैविध्यपूर्ण सृष्टि ऐसे ही सहृदय पाठको को लक्ष्य मे ही रखकर की है। एक ओर सहृदय पाठक और दूसरी ओर यह पात्र-सृष्टि—इन दोनो के पारस्परिक सबध को समझने मे ही प्रसाद की पात्र-सृष्टि का उद्देश्य हृदयगम हो सकता है।

मनोरजन और कुतूहल के स्थूल-सामान्य उद्देश्य से परे चरित्र-सृष्टि का जो एक गभीरतर उद्देश्य है, उसे हम दो शीर्षको के अतर्गत रख सकते हैं—(1) मानव-हृदय के निगूढ प्रदेशो के रहस्यपूर्ण क्रियाकलापो का उद्घाटन, और (2) ससार, मानव और जीवन के व्यक्त स्वरूप का अनुशीलन-विश्लेषण।

वस्तुत ये दोनो रूप दूध-पानी की तरह घुले-मिले है, किंतु व्यावहारिक सुविधा के लिए पृथक् कर दिये गये है। वहा सिद्धात-चर्चा का एक छोटा-सा प्रश्न यह खडा हो सकता है कि सहज मनोरजन के अतिरिक्त उपर्युक्त गूढ उद्देश्य रखे ही क्यो जायें, जिनसे पाठक, श्रोता या प्रेक्षक का कोई विशेष या सीधा सबध नही। हमे हृदयो के रहस्यो को जानने की आवश्यकता क्यों हो, और हम क्यो ससार, मानव और जीवन जैसी बातो को समझने जाये? सहज मनोरजन को छोडकर हम इन बातो में सिर क्यो खपायें? हम तो अपने बारे मे जानना-समझना चाहते है, परायो के बारे में क्यों? हमारा उनसे क्या मतलब? इन प्रश्नो या जिज्ञासाओं के समाधान मे ही प्रसाद की पात्र-सृष्टि के उद्देश्य का मर्म सचित है।

प्रसाद ने अपने पात्रो की जो सृष्टि की है, उसमे पात्रो के अतर्जीवन को ऊचा स्थान प्राप्त है। वस्तुत मनुष्य बाहर जो कुछ है वह उसके भीतर का ही परिणाम या प्रतिच्छाया है। मनोविज्ञान से भी यह बात समर्थित व पुष्ट है। आतरिक जीवन की (जिसमें हमारे भाव, विचार, आशा-आकाक्षा, स्वप्न आदि होते हैं) यह महत्ता साहित्यकार को मन के रहस्यपूर्ण क्रियाकलापो को समझने व उद्घाटित करने की ओर अनिवार्यत प्रवृत्त करती तथा कार्य-कारण सबध से मानवीय आचरणों की सतोषजनक मनोवैज्ञानिक व तार्किक-नैतिक व्याख्या के लिए भी वह आधार प्रदान करती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रथम उद्देश्य द्वितीय उद्देश्य से सर्वथा कटा हुआ नही है और न रह ही सकता है। वस्तुत पात्र-सृष्टि में उसका इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि वह भी उद्देश्य की कोटि को पहुचा हुआ जान पडने लगता है। यों भी स्वतत्र दृष्टि से विचार करने पर अपने आप में यह उद्देश्य कोई छोटा उद्देश्य

नही है, पर साहित्य मे यह उद्देश्य पात्रों के आचरण-व्यवहार के पक्ष से कटकर विस्मृत-सा रह जाता है। साहित्य मे जहा इस पर अधिक बल दिया जाता है वहा पर कोरे मनोविश्लेषण-शास्त्री या वैज्ञानिक के ढग से नही, जो मनोभावो के स्वरूपो व उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के विवेचन-विश्लेषण मे ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री मानते हैं। साहित्य में वे मानव व उसके जीवन के उत्थान और पतन आदि की प्रेरक शक्तियो के रूप मे समझे जाते है और हम मानव-मन की इन गतिविधियों को समझकर मानव-सुख व विश्व-कल्याण की पृष्ठभूमि में उन्हे सयत व सुमर्यादित करने के पक्ष पर ही जोर देते है। उसी दृष्टिकोण से साहित्य में अतर्पक्ष के विश्लेषण मे इतना रुचि-अनुराग प्रदर्शित किया जाता है और यही बात मानव-हृदय के रहस्यो का उद्घाटन करने के उद्देश्य की गुरुता को सूचित करती है। विज्ञान और साहित्य का अतर भी इससे स्पष्ट हो जाता है।

दूसरा उद्देश्य अधिक व्यापक व गभीर है। वास्तव मे प्रथम उद्देश्य इसमे अतर्भुक्त है। यदि पहला उद्देश्य यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य प्राकृतिक रूप मे क्या और किस रूप से सोचता है और अनुभव करता है तो दूसरा उद्देश्य है कि मनुष्य किस प्रकार जीवन मे अपने प्रति व अपने-परायो के प्रति व्यवहार व आचरण करता है। प्रसाद ने इस उद्देश्य को विशेष रूप से ध्यान मे रखा है। मानव के अधम-उच्च आचरण-व्यवहार का व परिस्थिति का चित्रण करके अत मे सदाचार की श्रेष्ठता दिखाना व उसकी प्रतिष्ठा बढाकर व्यक्ति-सुख व जगत्-कल्याण की सृष्टि से मानव को श्रेष्ठ, धर्म-सम्मत, सुदर व मर्यादित आचरण की ओर निरतर प्रवृत्त करना ही प्रसाद की चरित्र-सृष्टि का एकात व व्यापक लक्ष्य है। इस उद्देश्य की प्रतिष्ठा में प्रसाद कही भी शिथिल नही दिखायी पडते। उन्होंने इस उद्देश्य का उपदेशक, धार्मिक या प्रचारक की तरह निर्वचन-उपदेश नही कर दिया है, हृदय पर गभीर प्रभाव डालने की दृष्टि से उसे विश्वसनीय व प्रभविष्णु बनाकर जीवन की छोटी-बडी परिस्थितियों या बडे प्रसंगों के बीच चरितार्थ करके दिखाया है। यह प्रसाद की दोहरी सिद्धि है। सिद्धि उच्च भी है और सरस भी।

जीवन क्या है, ससार क्या है, मनुष्य क्या है—यही (शासन-स्वर से नही, मित्र-स्वर से व कात स्वर से) बार-बार समझाने के लिए, और इस हितकर बात को समझकर सच्चे सुख की प्राप्ति का मार्ग पकडने के लिए ही प्रसाद ने अपनी विस्तृत पात्र-सृष्टि प्रस्तुत की है। हम चमत्कृत होकर कह उठते है—यह मौन विसर्जन,[15] यह त्याग,[16] यह क्षमा,[17] यह वत्सलता,[18] यह देश-प्रेम,[19] यह उदारता,[20] यह लोक-मगलभाव व कल्याण-कामना,[21] यह सहज मानवता या करुणा,[22] यह प्रणय,[23] यह निर्लोभ,[24] यह गूढ रहस्यप्रियता,[25] यह बाकी वीरता,[26] यह मानव-गौरव व नारी सम्मान,[27] यह श्रम, साहस और स्वावलबन[28] सचमुच सराहनीय या अनुकरणीय है।

प्रसाद ने पात्रो की उक्त दिव्य झाकिया दिखाकर हमे ससार का एक पक्ष दिखाया, किंतु दूसरा पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। ससार, मानव और जीवन के सही स्वरूप का विश्लेषण और उद्घाटन तो तभी सभव है, जब जीवन का करुण-दुर्बल पक्ष भी प्रस्तुत किया जाये। प्रसाद ने जहा जीवन के उज्ज्वल पक्ष की भव्य झाकिया प्रस्तुत की हैं, वहा करुण, तिमिराच्छादित पक्ष भी पूर्ण किया है। प्रसाद ने दिखाया है कि अनुचित महत्त्वाकाक्षा और रूप-तृष्णा का परिणाम जीवन में कितना करुण है।[29] धर्म की खाल ओढकर मनुष्य किस सीमा तक गर्हित हो सकता है।[30]

ससार कैसा विचित्र है कि वह एक छोटे-से बालक को भी कितना चतुर व चालाक बनाकर छोडता है ।[31] धर्म और सप्रदाय का बाह्य विधि-विधान कितना नारकीय है ।[32] ससार मे 'विजय' जैसे सच्चे विकासशील युवक बेमौत मरते है, और 'मगल' जैसे छद्मवेशी नेता बनकर घूम रहे हैं ।[33] ससार मे शीलवानो व सच्चरित्रो को कितना कष्ट भोगना पडता है ।[34] मानव-हृदय में प्रतिशोध,[35] पदलिप्सा,[36] महत्त्वाकाक्षा[37] आदि कितनी गहरी नीव लगाये बैठे है। मनुष्य भी कितना दयनीय,[38] अपदार्थ, क्षुद्र व निर्लज्ज[39] है ।

इन सब झाकियों को प्रस्तुत करने का एकमात्र ध्येय है, मानव मन को विश्लेषित कर, उसकी यथार्थता अथवा वास्तविकता से मनुष्य को परिचित कराकर, उसे अधिक विवेकी, धीर बनने के लिए प्रवृत्त करना, जिससे वह मृदु-सौम्य होकर जीवन की विषमताओ के बीच अनुभवशील होकर दूरदर्शिता के साथ सत्पथ का पथिक बन सके। मनुष्य के लिए इससे ऊचा उद्देश्य हो ही क्या सकता है ? प्रसाद ने अपनी चरित्र-सृष्टि में इसी उद्देश्य को सर्वोपरि रखकर लेखनी चलायी है ।

प्रसाद की चरित्र-चित्रण-विषयक धारणा व उसकी समीक्षात्मक व्याख्या

चरित्र-चित्रण के विषय में प्रसाद के निम्नलिखित विचारसूत्र अत्यत महत्त्वपूर्ण है

'कथावस्तु भिन्न प्रकार से उपस्थित करने की प्रेरणा बलवती हो गयी है। कुछ लोग प्राचीन रस-सिद्धात से अधिक महत्त्व देने लगे है—चरित्र-चित्रण पर। उनमे भी अग्रसर हुआ है दूसरा जो मनुष्यों के विभिन्न मानसिक आकारों के प्रति कुतूहलपूर्ण है, अथच व्यक्ति-वैचित्र्य पर विश्वास रखने वाला है। ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं, क्योंकि पहला चरित्र-चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ठ हो गया है, चारित्र्य का समर्थक है, किंतु व्यक्ति-वैचित्र्य वाले अपने को यथार्थवादियो मे ही रखना चाहते हैं। "यह विचारणीय है कि चरित्र-चित्रण को प्रधानता देने वाले ये दोनो पक्ष रस से कहा तक सबद्ध होते हैं। इन दोनो पक्षो का रस से सीधा सबध तो नही दिखायी देता, क्योंकि इसमें वर्तमान युग की मानवीय मान्यताए अधिक प्रभाव डाल चुकी है, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति में पाता है। फिर उसे साधारणत अभेद वाली कल्पना, रस का साधारणीकरण कैसे हृदयगम हो ?"[40]

"आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्य को रस का साधन मानता रहा, साध्य नही।"[41] "रस में चमत्कार ले आने के लिए इनके बीच का माध्यम ही मानता आया। सामाजिक इतिहास मे, साहित्य-सृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को सशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धात व्यापारों मे चरित्र-निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य कुछ भी अपने को कला के द्वारा सम्हाल पाया, तो साहित्य ने सशोधन का नाम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी। वर्तमान साहित्यिक प्रेरणा जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य, और यथार्थवाद मुख्य हैं—मूल में सशोधनात्मक ही है। भारतीय रसवाद में मिलन अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोक-मगल की कल्पना, प्रच्छन्न रूप से

अतर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नही, किंतु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर वासना से ही क्रिया सपन्न होती है, और क्रिया के सकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र मे महत्ता का आरोप हो जाने पर व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओ से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल। रसवाद मे वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तिया जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती हे, साधारणीकरण के द्वारा आनदमय बना दी जाती है। इसलिए वह वासना का सशोधन न करके उनका साधारणीकरण करता है।"[42] "इस एकीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हे। रसवाद की यही पूर्णता है।"[43]

"यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के सबध मे विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है।"[44]

आलोचको का कहना है कि "वर्तमान युग की रगमच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविक भी हो।" वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं, हमको अपराधियो से घृणा नही, सहानुभूति रखनी चाहिए। इसका उपयोग चरित्र-चित्रण मे व्यक्ति-वैचित्र्य के समर्थन मे भी किया जाता है।"[45] "रगमच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जायेगे। प्रभाव का असबद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है।"[46]

चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्य सबधी उपर्युक्त विचार-सूत्रो के द्वारा हमे प्रसाद की तद्विषयक निर्भ्रांत दृष्टि प्राप्त हो जाती है। हम उसे अपने ढग से समझने का प्रयास करे। प्रसाद 'रस' को ही सर्वोपरि मानते है, चरित्र-चित्रण व व्यक्ति-वैचित्र्य को नही। पर अपनी साहित्य-कल्पना मे अतिम दोनों उपकरणो का स्थान व महत्त्व भी, उचित रूप व सीमा मे पूर्ण सुरक्षित है। प्रसाद रस की रक्षा करते हुए चरित्र-विषयक अतिवादी धारणाओ से बचना चाहते हैं। उनके चितन का मुख्य आधार है—रस ही जीवन मे सर्वोपरि वस्तु है। उसे भुला बैठना साहित्य के मूल मतव्य से ही च्युति है। विज्ञान, यथार्थवाद व जीवन की विशेषताओ से भले ही हमारा जीवन-रस का स्रोत सूख रहा हो, पर इस स्थिति मे रस के आदर्श का ही परित्याग कर देना भारी भ्राति है। प्रत्युत आवश्यकता इस बात की है कि इसको ही लक्ष्य मे रखकर सब साहित्यिक उपकरणो को और अधिक उत्साह से रस-निष्पत्ति के ही लिए हम नियोजित करने मे सर्वस्व लगा दे। यही स्वस्थ मार्ग है। रस को छोडकर व्यक्तियो की अतःप्रकृति के वैचित्र्य के उद्घाटन मे ही लगे रहना साहित्योचित कार्य नही, शास्त्रियों या मनोविश्लेषण-वेत्ताओ को भले ही हो, इस मार्ग को पकडकर तो हम मानो अपने मूल लक्ष्य से और भी दूर भटक जायेगे। पर, याद रखने की बात यह है कि प्रसाद मनोविज्ञान को स्वस्थ और उचित सीमा तक बराबर महत्त्व देते है। अभिनवगुप्त ने वासना और सस्कार के मनोविज्ञान से ही सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रस की साधना व अध्यात्म के धरातल पर परम सतोषमयी व्याख्या की है। रसवादी प्रसाद क्या अभिनव की इस देन को एक क्षण भी भूल पाये हैं? अत जहा तक चरित्र-सृष्टि में मनोविज्ञान के प्रयोग या उसकी मात्रा का प्रश्न है वह तो इस प्रकार से हल हो जाता है। चरित्र-चित्रण के भी वे पक्षपाती है, किंतु रस की सीमा में ही, अब रही

व्यक्ति-वैचित्र्य की बात। प्रसाद व्यक्ति-वैचित्र्य के अतिवादी रूप के विरोधी हैं, क्योंकि उक्त वैचित्र्य मूल एकत्व, जो अभेदमयी आत्मा का प्रदेश है, से दूर भेदों की ओर ले जाने वाला है। रस के लिए साधारणीकरण की भूमिका अनिवार्य है, रंगमंच पर, व्यक्ति-वैचित्र्य वाले कथानकों को, सफलतापूर्वक दिखा पाना तो एक स्वतंत्र समस्या है ही। किंतु व्यक्ति-वैचित्र्य तो साधारणीकरण का विरोधी ठहरा। व्यक्ति-वैचित्र्य से अधिक-से-अधिक उपलब्धि यह हो सकती है कि हम समाज के विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग हृदयों की झांक मात्र ले सकें। इससे अवश्य यह लाभ होगा कि हृदयों को लक्ष्य में रखकर व समाज-सुधार व परिष्कार करें कि जिससे व्यक्तियों को इतना कष्ट न हो। पर प्रसाद का यह पक्ष है कि यह इलाज अस्थायी व ऊपरी है। ये संशोधन भेद की नींव पर खड़े हैं, अतः कच्चे हैं। पक्की नींव चाहिए। इससे हमारी सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक समस्याएं हल नहीं होंगी। वे अधिक गहरा व अधिक स्थायी सांस्कृतिक धरातल का एक उपचार बताते हैं और वह है रस, जिसका अनुभव अपनी विभिन्न वृत्तियों को आत्म-विश्रांत करने के अभ्यास द्वारा हमें खूब गहराई से होता है। रस की भूमिका पर मानव-हृदयों का मिलन हमारी समस्याओं को मूल से सुधारेगा, क्योंकि रस की मूल प्रक्रिया ही भेद-भाव की भावना को भुलाने से ही आरंभ होती है। भारत में रस को सर्वोपरि स्थान देने का यही रहस्य है। लोक-मंगल और मानव का अभेद-सुख का मार्ग रस-सिद्धांत की स्वीकृति से ही संभव है। रस के ढांचे में रहते हुए हम चाहे कितना ही वैचित्र्य उत्पन्न करते रहें। प्रसाद का यही आग्रह है। वे स्पष्ट कहते हैं कि चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्य भी रस से संबंधित हैं, हां प्रत्यक्ष रूप से नहीं, परोक्ष रूप से ही। चरित्र-चित्रण रस का साधन है, उसकी निष्पत्ति का माध्यम मात्र है। प्राचीन भारतीय रस के ढांचे में विभिन्न मानव-प्रकृतियों के निरूपण के लिए पर्याप्त अवकाश है। इतना होते हुए भी प्रसाद उत्साहपूर्वक पश्चिम के चरित्र-कौशल को उदारतापूर्वक स्वीकार कर रस को और भी घनीभूत व पुष्ट करने में निरत हैं। वे रस और चरित्र-चित्रण दोनों को स्वीकार करके अपनी नयी भूमिका तैयार करते हैं। अतः कोरा परंपरा-पालन जैसा कोई अभियोग भी उन पर नहीं लगाया जा सकता।

संक्षेप में, इन विचारों के आलोक में ही हम प्रसाद की चरित्र-चित्रण कला के मर्म को समझ सकते हैं।

प्रसाद की पात्र-सृष्टि

बाह्य वैविध्य

पात्रों का वर्गीकरण-विभाजन : वैज्ञानिक आधार : प्रसाद की पात्र-सृष्टि इतनी विशाल व वैविध्य-वैचित्र्यपूर्ण है कि स्पष्ट वैज्ञानिक आधार पर विभाजन-वर्गीकरण के किसी विवादातीत ढांचे में उसे आबद्ध कर सकना सरल कार्य नहीं। विविध वृत्तियों, प्रवृत्तियों, जीवन-दृष्टियों, रुचियों, मान्यताओं, परिस्थितियों, कार्यक्षेत्रों, क्रियाकलापों, मानसिक ढांचों, व्यवसायों, भौगोलिक-ऐतिहासिक देश-काल-भेद वाले विभिन्न पात्रों का व्यवस्थापन-कार्य सहस्रमुखी धारा को बांधने के प्रयत्न के समान ही है। फिर भी, प्रसाद की पात्र-सृष्टि के समग्र अध्ययन के

लिए किसी सुस्पष्ट आधार की रचना सर्वथा असभव भी नही। चितन करने पर सब पात्र कुछ सुचितित विशिष्ट आधारों पर, असहमति या विरोध के न्यूनातिन्यून अवकाश के साथ, विविध समूहो मे विभाजित किये जा सकते है। यथा

	पात्रो के वर्ग	*आधार*
1	स्त्री व पुरुष	प्राकृतिक रचना।
2	यथार्थवादी व आदर्शवादी	जगत् व जीवन को देखने की मूल दृष्टि।
3	उच्चवर्गीय व निम्नवर्गीय	समाज-व्यवस्था व आर्थिक दृष्टि।
4	नागरिक व आदिवासी-ग्रामीण	समूह जीवन, शासन-व्यवस्था
5	व्यक्तिवादी व सामाजिक	अहवृत्ति का न्यूनाधिक्य।
6	बौद्धिक व भावुक-कल्पनाशील	अत करण की मूल वृत्ति।
7	ऋजुगामी व कुचक्री या सज्जन व दुष्ट	जीवन-व्यवहार।
8	गृही व विरक्त-सन्यासी	आश्रम व्यवस्था।
9	भारतीय व विदेशी	सस्कृति।
10	विद्रोही व नियतिवादी	सृष्टि-विधान की स्वीकृति-अस्वीकृति।
11	बाल, युवा, प्रौढ व वृद्ध-जर्जर	कार्य-क्षमता, शारीरिक बल व साधन-शीलता।
12	पौराणिक-ऐतिहासिक व आधुनिक-वर्तमान	काल
13	पहाडी, मैदानी, समुद्र-तटवासी	जलवायु व भूगोल।
14	शोषक व शोषित या सेव्य व सेवक	अधिकार-वृत्ति या शासन-वृत्ति।
15	ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि	वर्ण-व्यवस्था।
16	असाधारण शक्ति, सिद्धि आदि	अति प्राकृतिक, अशरीरी, ऐंद्रजालिक या मायावी वृत्ति के पात्र।

प्रस्तुत तालिका द्वारा प्रसाद की पात्र-सृष्टि के समस्त बाह्य वैविध्य को यथासभव नि शेष रूप से समेटने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी तालिका निर्णयात्मक नही। विविध आधारो पर यही वस्तु अन्य वाछित या अभिप्रेत रूपों में भी विन्यस्त की जा सकती है। ढांचा तो बाह्य, स्थूल तथा गौण है। महत्त्व की बात यही है कि तालिका-परिवर्तन के पात्र-सृष्टि के मूल स्वरूप-बोध मे कोई बाधा व अतर न पडे।

उपर्युक्त वर्गों के अतर्गत आये हुए अनेक पात्र अपने ही वर्ग में गुण या प्रवृत्ति के मात्रा-भेद के भी द्योतक हैं, और उनका सबध अन्य वर्गों से भी बैठाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आकाशदीप कहानी का नायक बुद्धगुप्त प्रेमी, ऐतिहासिक व समुद्री जीवन से अभ्यस्त दस्युवृत्ति वाला पात्र है, अत उसका सबध एक ही साथ चार वर्गों से है। पात्र का ध्यान आते ही हमारी चेतना में जो उसका प्रमुखतम गुर्ण-धर्म है, वही सर्वप्रथम कौंध उठता है। कही-कही तो सीमाओं के बीच की स्थिति के पात्र भी मिलेगे—जैसे, न शुद्ध आदर्शवादी और न शुद्ध यथार्थवादी। किंतु आदर्शोन्मुख यथार्थवादी या यथार्थोन्मुख आदर्शवादी आदि। अनेक पात्र किसी स्पष्ट वर्ग के न होकर विविध वर्गों के न्यूनाधिक मिश्रण से बने हैं। कई पात्रों में तर्क की गुजाइश है, जैसे सज्जन और दुष्ट पात्र। अतर्बाह्य चरित्र के निर्भ्रांत विश्लेषण

के बाद ही वस्तुत कोई पात्र दुष्ट या साधु समझा जा सकता है, केवल बाह्य रूपाचरण मात्र से ही नही। किसी पात्र का चारित्रिक विशेषण देना मनोविज्ञान के इस युग में बहुत खतरे का काम है।

ऊपर जो वर्ग बनाये गये है, उनसे हमारा आशय यही निर्दिष्ट करना है कि प्रसाद ने कितने विशाल फलक पर अपनी पात्र-सृष्टि की है। सभी वर्गों के पात्र प्रसाद-साहित्य में देखे जा सकते है। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि जहा एक ही पात्र एक ही साथ अनेक वर्गों से सबधित है, वहा प्रसाद का उत्तरदायित्व कितना अधिक है, उन सभी वर्गो के परिज्ञान और पारस्परिक सबध की स्पष्ट धारणा के अभाव में उस पात्र का निर्माण असभव-सा ही है। तात्पर्य यह कि पात्रो के बाह्य वैविध्य से सबधित कार्य भी कम महत्त्व का नही।

वृत्ति और व्यवसाय के आधार पर पात्रो का विभाजन व्यावहारिक दृष्टि से हम जीवन में किसी भी पात्र को मूलत उसकी वृत्ति और व्यवसाय से ही पहचानते हैं। प्रसाद ने एक बहुत बडी सख्या ऐसे पात्रों की रखी है जिन्हें आधार बनाकर हम प्रसाद को चरित्र-चित्रण-विषयक दृष्टि-विस्तार से परिचित हो सकते है। उन्होंने व्यापारी,[47] वैद्य,[48] किसान,[49] कवि,[50] अध्यापक,[51] विद्यार्थी-ब्रह्मचारी,[52] गायक,[53] चित्रकार,[54] कथक,[55] सारगीवाला,[56] ढोलवाला,[57] नट-नर्त्तक,[58] महत,[59] पडे-पुजारी,[60] भिक्षु-पाखड,[61] विरागी,[62] पादरी,[63] योद्धा-सैनिक,[64] पर्यटक,[65] बनजारा,[66] बिसाती,[67] मोटरड्राइवर,[68] खिलौने बेचने वाला,[69] तागे वाला,[70] तमोली,[71] लठैत,[72] शिकारी-शबर,[73] झाडूवाला,[74] मछुआ,[75] सपेरा,[76] पहलवान,[77] जादूगर,[78] रसोइया,[79] दस्यु,[80] पोताध्यक्ष[81] श्रमजीवी,[82] राजकर्मचारी,[83] प्रहरी,[84] परिचारक-दास,[85] प्रतिहारी,[86] पुलिसमैन,[87] राजदूत,[88] जासूस,[89] पेशकार,[90] जमीदार,[91] दुकानदार[92] आदि।

नारी-पात्र

प्रसाद ने नारी-पात्रों के चित्रण मे विशेष मनोयोग प्रदर्शित किया है। नारी के प्रति प्रसाद के मन में अथाह श्रद्धा व सहानुभूति है। उनका विश्वास है कि मानव-जीवन के श्रेष्ठ गुण, भाव या मूल्य नारी के ही कारण पृथ्वी पर टिके हुए हैं।[93] इन मूल विश्वासो के साथ वे नारी को उसका प्राप्य दिलाने के लिए अपनी सृष्टि मे अग्रसर हुए हैं। उन्होने नारी-जीवन के सब पक्षों व स्तरो का पूरी सूक्ष्म दृष्टि व उच्चाशयता के साथ निरीक्षण-परीक्षण किया है। उनकी नारी-विषयक जिज्ञासा उन विविध नारी-वर्गो से ही सूचित हो जाती है जो उन्होंने खडे किये हैं। उदाहरणार्थ

(1) *प्रेमिकाए—देवसेना* (स्कद), मधूलिका ('पुरस्कार' कहानी), चपा ('आकाश-दीप' कहानी), घटी (ककाल), बेला ('इद्रजाल' कहानी), तितली, ध्रुवस्वामिनी, लैला ('आधी' कहानी), नूरी (इद्र), मालविका (चंद्र)।
(2) *रूप-गर्विताए*—कमला (लहर), विजया (स्कद), मागधी (अजात), तिष्यरक्षिता (छा) सालवती।
(3) *सभ्रात कुलीनाए*—मणिमाला (इरा), श्यामदुलारी (तितली)।
(4) *लोक-सेविकाए व महामानविया*—कामायनी, मल्लिका (अजात), 'पाप की पराजय' कहानी की नायिका—केतकी वन की रानी, मधूलिका, अलका (चद्र), नूरी, राधा

('व्रतभग' कहानी), शैला (तितली)।

(5) *कौटुबिक स्नेह सबधमयी सुगृहिणिया*—पद्मावती (अजात), वासवी (अजात), कुलमम ('आधी'—'नूरी' कहानी), किशोरी (ककाल), मालती ('आधी' कहानी), धर्मरक्षिता (कुणाल की साध्वी पत्नी—'अशोक' कहानी), मनोरमा ('सहयोग' कहानी), बानो (गाला की मा—ककाल), राधा 'कलश की पुत्रवधू', ('व्रतभग' कहानी), निर्मल की भाभी ('भिखारिन' कहानी), नदरानी (ककाल), ननद-भाभी ('अमिट स्मृति' कहानी), प्रेमकुमारी ('सलीम' कहानी), बधुवर्मा की पत्नी व देवसेना की भाभी (स्कद), राज्यश्री, रामदीन की नानी (तितली), राजकुमारी (मधुबन की बहिन—तितली), सरलामगल की माग (ककाल), जहाआरा (शाहजहा की बेटी—'छाया' सग्रह), राम (तारा की स्नेहमयी मा—ककाल)।

(6) *वीरागनाए*—अलका, देवसेना, तितली, कल्याणी (चद्र), शैला (तितली), मधूलिका, यमुना (ककाल), गाला (ककाल)।

(7) *जीवन की सात्त्विक क्राति की ज्वाला जगाने वाली*—ध्रुवस्वामिनी, सुजाता ('देवरथ' कहानी)।

(8) *नाशकारिणिया*—विद्रोहिणिया मागधी (अजात), शक्तिमती (अजात), छलना (अजात), सरला ('रूप की छाया' कहानी), कालिदी (इरा), मगला ('चित्र वाले पत्थर' कहानी), कामिनी ('खडहर की लिपि' कहानी)।

(9) *बुद्धिजीविया व तार्किकाए*—इडा, ध्रुवस्वामिनी, तितली, घटी।

(10) *कला-प्रेमिकाए व दार्शनिकाए*—इरावती, शबनम (ककाल), कार्नेलिया (चद्र), कोमा (ध्रु), देवसेना, सालवती, नूरी, बेला (इद्र)।

(11) *रूपाजीवा या पेशेवर विलासिनिया*—मैना (तितली), मागधी, कुट्टनी (ककाल), चदा (छा), अनवरी (तितली), विजया (स्कद)।

इसके अतिरिक्त अनेक विरक्ताए, तपस्विनिया, श्रमजीविकाए, विधवाए, सम्राज्ञिया, राजकुमारिया, दलिताए-पतिताए, वृद्धाए, दासिया आदि। इनमें असत् पक्ष की पात्रिया सत् पक्ष को चमकाने के लिए ही नियोजित हुई है।

निम्न वर्ग की दीन पात्र

पुरुष वर्ग में राजा-सम्राट्, सामत, उच्च व निम्नकोटि के पदाधिकारी व राज-कर्मचारी, प्रेमी, दार्शनिक, कलाकार, सभ्रात वर्ग के व्यापारी-व्यवसायी, साधु-सन्यासी, योद्धा-सैनिक, विलासी, अत्याचारी, दलित-पतित, श्रमजीवी आदि पात्र मुख्य हैं। दिव्य, मायावी, अशरीरी व प्रतीक पात्र भी रचित हुए है। पर इनमे बहुत से प्रकार के पात्रों में कोई नयी विशेषता नही है। हा, लघुता में महानता ढूढ निकालने की आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार निम्न सामाजिक वर्ग के हीन या दीन-दलित पात्रों का विशेष महत्त्व है।

आधुनिक यथार्थवादी की विशेषता है—लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात। प्रसाद ने दीनता और लघुता के प्रति स्नेह व सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखते हुए ऐसे अनेक पात्रों की अवतारणा की है जो हमारी सच्ची सहानुभूति व करुणा के भाजन हैं। अनाथ विधवाए, ग्रामों के अभाव-ग्रस्त व साधन-हीन भोले व शासनतत्र से अकारण सताये जाने वाले निरीह जन हमारे हृदय में कोमल करुणा की गभीर धारा बहाते हैं। 'तितली' के अनेक पात्र (रामदीन,

मलिया आदि), दुखिया (प्रतिध्वनि 'दुखिया' कहानी), गूदड साई, भिखारिणी (आकाशदीप, 'भिखारिन' कहानी), मधुआ ('मधुआ' कहानी), बुढिया ('गुदडी में लाल' कहानी), 'बनजारा' कहानी की नायिका, 'छोटा जादूगर' की बूढी मा, बिदो ('घीसू' कहानी), ममता (आकाशदीप), देवदासी 'प्रतिध्वनि' कहानी की नायिका, रामजस (तितली), मलिया (तितली), माधो (तितली), सूरदास ('बेडी' कहानी), रामदेव (ककाल), रामगुलाम ('दुखिया' कहानी), 'अमिट स्मृति' व 'विजया' कहानी की नायिका आदि पात्र-पात्रिया इस प्रसग मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है। करुणा की इस धारा को उभारने के लिए अनेक आततायियो व अन्यायियो-अत्याचारियों का भी चित्रण हुआ है। रामस्वामी ('देवदासी' कहानी), बिदो के अत्याचारी ('घीसू' कहानी), अलाउद्दीन कुबरा ('गुडा' कहानी), आततायी विधर्मी ('चक्रवर्ती का स्तभ' कहानी), नजीब खा ('दुखिया' कहानी), 'मधुआ' कहानी का चौकीदार, मोहन ('सहयोग' कहानी), 'बनजारा' कहानी के क्रूर राजकर्मचारी, सलीम ('सलीम' कहानी), कल्लू खा (तितली), सुखदेव चौबे (तितली), बार्टली (तितली), अजीगर्त (करुणा) आदि पात्रो ने लघुता मे से चारित्रिक महानता उत्पन्न करने मे प्रत्यक्ष या परोक्ष योगदान किया है।

प्रतीक पात्र

प्रसाद ने अनेक प्रतीक पात्रो की भी सृष्टि की है। 'कामना' तथा 'कामायनी' के प्राय सभी पात्र हमारी अतर्वृत्तियों या भावो के प्रतीक है। कामना, लालसा, सतोष, विवेक, चिता, आशा, श्रद्धा, लज्जा, काम आदि शाश्वत वृत्तिया पात्र-रूप मे प्रस्तुत की गयी है। इन वृत्तियों का स्वरूप प्रकृति से ही सुनिश्चित है, कवि इनमें कुछ भी नवीन परिवर्तन-सशोधन नही कर सकता। अत इन वृत्तियों का ह्रास-विकास दिखाने की वैसी कोई गुजाइश नही है जैसी कि अन्य काल्पनिक या ऐतिहासिक-अर्द्ध ऐतिहासिक पात्रों में लेखक को प्राय मिल सकती है। तो फिर प्रश्न है कि इन पात्रों की सृष्टि की चरित्र-सृष्टि या चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में, उपयोगिता ही क्या है, भावों की दृष्टि से भले ही इनका महत्त्व हो। ये पात्र स्थिर पात्र हैं, गत्यात्मक नही। यह ठीक है कि इनमें गत्यात्मकता न होने से चरित्र-सृष्टि-सुलभ किसी वैशिष्ट्य-प्रदर्शन का कोई अवकाश नही, पर ऐसे पात्रों का भी साहित्य में एक विशिष्ट व निश्चित वर्ग है, जिसे भारतीय व पाश्चात्य परपरा, दोनो ने स्वीकृत किया है।[94] ऐसे पात्रों की सृष्टि द्वारा प्रसाद ने एक सूक्ष्मतर काम लिया है और एक उच्चतर य गहनतर उद्देश्य की सिद्धि की है। ये पात्र व्यक्ति-वैचित्र्य की दृष्टि से तनिक भी महत्त्वपूर्ण नही, किंतु रस की दृष्टि से अत्यत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनका निजी व्यक्तित्व प्राय कुछ भी नही है; ये पात्र मानव-हृदय के सार्वकालिक-सार्वभौमिक भावों के प्रतिनिधि रूप में आये हैं। ये भाव या भावनाए प्रत्येक पाठक, स्रोता या सामाजिक के मन में होती हैं। अपने ही मन के भावों के प्रतिनिधि पात्रों में किसकी रुचि नही होगी? कौन उन्हें सजीव या मूर्त्त रूप में देखकर आह्लाद-उत्सुकतापूर्वक उनसे प्रगाढ परिचय या सबध स्थापित नही करना चाहेगा? आत्म-परिचय या अपने आत्मा का परिचय सबको प्रिय है। और यही तथ्य इन पात्रों की सृष्टि में साहित्यिक रस की असीम सभावनाओं का द्वार खोल देता है। हम इन पात्रों में इतना रस या आनंद लेते हैं, इसका यही रहस्य है। अवश्य ही लेखक-भेद से उन भावों के निरूपण-भेद में अतर पड सकता है, पर प्रसाद जैसे सरस-भावुक कवि से इस संबंध में हम पूर्ण आश्वस्त हैं। और इससे तो प्रसाद का

दृष्टिकोण और भी पुष्ट होता है कि चरित्र-सृष्टि की सार्थकता रस-निष्पत्ति में ही है। हम चाहें तो इस विषय पर सास्कृतिक धरातल पर भी विचार कर सकते है, जो वस्तुत रस-धरातल से कोई भिन्न या स्वतत्र वस्तु नही, क्योकि साहित्यिक रस-निष्पत्ति में मानवीय या सास्कृतिक सबध निहित ही है जो 'साधारणीकरण' के रूप मे उत्पन्न व पुष्ट भी होते है। सास्कृतिक सबधो का मूलाधार मानवीय ही है। धार्मिक या सामाजिक धरातलो पर वर्गों या जातियों में अनेक भेद हो सकते हैं, पर भाव के मानवीय या सास्कृतिक धरातल पर मानव-हृदय की एकता की सभावनाए अधिक ठोस आधार पर खडी रहती है। इसीलिए अतर्राष्ट्रीय धरातल पर सास्कृतिक या मानवीय मूल्यो के ही आदान-प्रदान का आयोजन अपेक्षाकृत शका-रहित वातावरण मे होता रहता है। इन भावो की सृष्टि, इस प्रकार, मानवीय ऐक्य भावना को पुष्ट करती है जो अतत साहित्य-रस से ही सबद्ध है। तात्पर्य यह है कि भावो के प्रतीक पात्रो की सृष्टि प्रत्यक्ष नही, किंतु रूप के ही क्षेत्र की वस्तु है। अत इस प्रकार की पात्र-सृष्टि का भी साहित्यिक महत्त्व है।

बाल पात्र

प्रसाद ने अल्पायु के शिशुओ व बालको का भी रुचिपूर्वक चित्रण किया है। रामू ('भिखारिन' कहानी), कल्लू, रजन व मिन्ना ('आधी' कहानी), रामकली ('करुणा की विजय' कहानी), मिन्ना ('भीख मे' कहानी), मोहन ('गूदड साई' कहानी) आदि अनेक शिशु।

विकसित आयु के बालकों या किशोरों मे छोटा जादूगर (इद्र), मोहन ('करुणा की विजय' कहानी), मोहन (तितली का बच्चा), शुनःशेप (करुणा) मधुआ ('मधुआ' कहानी), नदू ('चूडीवाली' कहानी), सूरदास का लडका ('बेडी' कहानी), मोहन (कंकाल), नवल ('अघोरी का मोह' कहानी) आदि द्रष्टव्य हैं।

इन पात्रो की सृष्टि द्वारा लेखक ने बाल-मनोविज्ञान का सुदर परिचय देते हुए पात्र-सृष्टि के एक उपेक्षितप्राय अश या अग की ओर अपनी गहरी सहानुभूति प्रदर्शित की है।

पात्रों का यह वैविध्य पात्र-सृष्टि की उत्कृष्टता का कोई अतिम आधार या मानदड नही माना जा सकता। पात्रों का सर्वांगपूर्ण कलात्मक विन्यास ही चरम निकष है। पर, साहित्य में बहुविध वृत्ति-व्यवसाय आदि वाले विविध पात्रों का समावेश भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य हमे प्रदान करता है—लेखक की जीवन-निरीक्षण या जीवनाध्ययन की जिज्ञासा प्रबल है, जितना ही विस्तृत जीवन-दर्शन होगा, उसी अनुपात मे जीवन की आलोचना (मैथ्यू आर्नल्ड का मानदड) गहन व पुष्ट होगी। विस्तार व कलेवर भी आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। वैशद्य की तरह व्यापकता भी आत्मा का एक गुण है। इसी प्रकार परिमाण भी जीवन-तत्त्वों में महत्त्व की वस्तु नही। गीता के 11वें अध्याय मे सृष्टि का विस्तार भी विभूति के अतर्गत गिना गया है। अत इस वैविध्य व विस्तार का भी हमें सम्यक् आकलन करके उसका मूल्याकन करना है। हा, यह श्रेष्ठता का अतिम आधार तो कदापि नही।

अत वैचित्र्य—तीन मनोवर्ग व उनका विश्लेषण

बाह्य जगत् की अपेक्षा हमारा भीतरी मन अधिक विशाल, गहन और जटिल है।[95] पात्रों की सृष्टि के अवसर पर साहित्यकार यदि मानव-मन के उक्त स्वरूप के अधिकाधिक परिचय या

सूक्ष्म बोध का प्रमाण न दे तो हम उससे अधिक प्रभावित नही होते, क्योंकि अत प्रकृति ही वस्तुत पात्रों को मूल से परिचालित करती है। 'वैचित्र्य' शब्द का प्रयोग यहा यह सकेतित करने के लिए नही है कि रचनाकार मन की विचित्रताओं का ही परिचय देता रहे। 'वैचित्र्य' के द्वारा हम तो मात्र स्थूल जगत् की अपेक्षा मनोजगत् की गूढता व जटिलता का ही सकेत करना चाहते है। 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' को लेकर साहित्य-जगत् में एक बडा गूढ विवाद है, अत 'वैचित्र्य' द्वारा गृहीत हमारे आशय का स्पष्टीकरण यहा आवश्यक था। अस्तु। साहित्यकार जिस मानसिक वैचित्र्य की ओर बढता है उसे प्रणालीबद्ध करना अत्यत कठिन है। मानव की मूल प्रकृतिया सात्त्विक, राजसिक व तामसिक हैं, जिनका साख्यशास्त्र, योगसूत्र, गीता, मानस आदि मे पूरा परिचय मिलता है। पुरुष के सब गुण (धीरता, वीरता व गभीरता), अवगुण (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि षड्रिपु), व्यवहार (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) व वस्तु-सबध (दातापन, उदारता, लोभ व कृपणता) सब उक्त मूल प्रकृतियो से ही सचालित-शासित होते है। व्यक्ति के कुल, शरीर-रचना, आयु, सस्कार, स्थान-वातावरण, व्यवसाय, शिक्षा-दीक्षा, पद-सबध आदि से सयुक्त या गुणित होकर मूल प्रकृतियो से सबद्ध उपर्युक्त गुण-अवगुण मानव मन मे चेतना का एक विशाल व जटिल जाल निर्मित कर लेते है। सफल पात्र-सृष्टि के लिए साहित्यकार को यह जटिल जाल अत्यत कुशलतापूर्वक सभालना होता है, अन्यथा पात्र-सृष्टि या चरित्र-चित्रण अस्वाभाविक, निराधार व बोदा हो जाता है।

साहित्यशास्त्र में गुणावगुणों का यह समूह धीरोदात्त, धीर शात, धीर ललित व धीरोद्धत आदि चार स्पष्ट नायक-प्रकारो से सबद्ध प्रकृतियो में पूरी तरह समेट लिया गया है। आचार्य दडी[96] व विश्वनाथ[97] ने अपने ग्रथो मे उक्त विषय का निरूपण किया है। आधुनिक लेखक इन चारों प्रकारों से सबद्ध गुणों को चार आत्म-पर्यवसित खडों में सीमित करके रखने के पक्षपाती नही जान पडते, क्योंकि उनकी दृष्टि में न तो कोई एक व्यक्ति सर्वथा धीरोदात्त ही होता है, न धीरललित, आदि। मनुष्य तो गुणावगुणो का विचित्र समूह है। परिणामस्वरूप आज की चरित्र-सृष्टि मे मानव-मन के वैचित्र्य को ध्यान मे रखकर उदात्त पात्र में भी मानवोचित दुर्बलताए तथा धीरोद्धत पात्र में भी औदात्त्य के कणो को निकालकर बताने में विशेष अनुराग प्रदर्शित किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर जान पडेगा कि घोर अतिवादो को बचाते हुए रस-निर्माण की दृष्टि से पात्र की निजी विशेषताओ का उद्घाटन ही अत वैचित्र्य के प्रसग में स्रष्टा का मुख्य कर्म ठहरता है।

अब हम व्यवस्था की दृष्टि से विविध मनोविधानो वाले पात्रों को एकसाथ लेकर उन पर विचार करेंगे।

प्रसाद की पात्र-बहुल साहित्य-दृष्टि पर विचार करते हुए हम सब पात्रों को तीन मानसिक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। हमारा अत प्रवाह सामान्यत दो कूलो के बीच प्रवाहित रहता है—(1) सरलता-ऋजुता, व (2) गभीरता-जटिलता। आत्यतिकताओं के प्रतीक मन के इन दो कूलों के बीच हम सहज ही एक ऐसी मध्यवर्तिनी धारा या प्रवाह की भी कल्पना कर सकते हैं जो उपर्युक्त सीमातों से विनिर्मुक्त, भाव-विचार की एक ईषत् असाधारण अवस्था की प्रतीक हो। इन तीन मानसिक धरातलो की जीवन में सहज ही कल्पना की भी जा सकती है। वस्तुत देखा जाये तो भावना, बुद्धि और कल्पना का मिश्रण प्रत्येक

जीवित व्यक्ति में एक ऐसे विचित्र-विलक्षण अनुपात में रहता है कि प्रत्येक व्यक्ति सृष्टि में अपने जैसा एक ही जान पडता है, अत इस दृष्टि से किसी भी प्रकार मानसिक वर्ग बनाना असगत कार्य है। पर इस विशेषज्ञोचित बारीकी में न जाकर अपने व्यवहार के लिए हम ये वर्ग बनाकर अपना काम चला सकते हैं।

पहले मानसिक वर्ग में प्रसाद के वे पात्र लिये जा सकते हैं जो वल्लभाचार्य की भाषा में 'प्रवाहजीव' और प्रसाद की भाषा में 'भारवाही भृत्य' जो दूसरों के केवल साधन मात्र हैं, जो 'आरभ और परिणामो को सबध-सूत्र से बुनते हैं', कडी जोडने का काम करते हैं, पाद-पूर्ति से हैं। ये वे पात्र है जिनमे कोई अपनी निजी सकल्प-शक्ति व व्यक्तित्व नही। हमारे चिरपरिचित या अतिपरिचित हैं, भीड के हैं, जो लेखक द्वारा ही चलाये-भगाये जाते हैं, उसकी उद्देश्यपूर्ति के लिए ही नियोजित हैं, उनका अपना कोई बल-बूता नही। ये पात्र जीवनधारा पर बिना विशेष प्रतिरोध किये बहते रहते हैं, चाहे इनके जीवन की परिधि सक्षिप्त हो या विस्तृत। इनके जीवन में कोई विशेष गुत्थी नही, कोई विरोधाभास नही, कोई मनोद्वद्व नही, जिनका अतर्बाह्य प्राय एक है, जो समझ में आ जाते हैं। नियति में शासित हैं। ये उस प्रकार के पात्र है जिन्हे लक्ष्य में रखकर जातीय, वर्गीय या समतल पात्रों का वर्ग बनता है। उदाहरणार्थ, 'आधी' कहानी का रामेश्वरनाथ, 'ककाल' का श्रीचद्र, 'तितली' का तहसलीदार, अथवा निम्न या उच्च वर्ग के अन्य अनेक पात्र।

दूसरे मनोवर्ग वाले पात्र वे हैं, जिनकी सकल्पशक्ति विकसित है, जिनमें तर्क व विचार की शक्ति है, जो भावुक, कल्पनाशील व महत्त्वाकाक्षी है, कुछ-कुछ अतर्मुख हैं, बाह्य परिस्थितियों के प्रति जागरूक हैं, लेखक के द्वारा चलाये जाते हुए भी अपने विवेक का उपयोग करते हैं। वे भी नियति या ब्रह्म-चक्र के शासन से मुक्त नही, पर कर्म में निष्ठा रखते हुए अपनी नियति का निर्माण करते हैं। इन्हें ही हम मध्यम मनोवर्ग में रखते हैं, जैसे—बिंबसार, जीवक, पर्वतेश्वर आदि।

तीसरा वर्ग सामूहिक रूप से उन पात्रों का है जिनमें सकल्प-शक्ति का उच्चतम विकास है, उग्र तर्क है, अत्यधिक भावुकता है, जो अत्यत कल्पनाशील व स्वप्नद्रष्टा हैं, जिनमे तीव्र जिज्ञासा है, रहस्योद्बेलन है। यदि लेखक की निजी भावुकता-कल्पना पात्रों की भावुकता-कल्पना से मिल जाये तो सयोग की बात ही समझिए, कि पात्रों के ये मौलिक गुण लेखक द्वारा थोपे हुए नही जान पडते, पात्रों के मूल सस्कारों और परिस्थितियों से सहज उद्भूत हैं। ये पात्र अधिकाशत जटिलतम व गभीरतम हैं। ये स्वतत्र हैं, और अपनी ही शक्ति से परिचालित हैं, लेखक के हाथ से छूट गये या प्राय· छूट-से गये हैं। वे लेखक के हाथ की कठपुतली नही। इनके जीवन मे एक गहरी गुत्थी है, एक समस्या है, एक विरोधाभास, एक अबूझ पहेली है। इनमें मनोद्वद्व अपने पूरे विकास पर है। इनका अतर्बाह्य प्राय भिन्न है। ये ऐसे पात्र हैं जिनसे हम जीवन में अब तक कही मिले नही हैं, और इसी में उनका व्यक्तित्व व वैशिष्ट्य है। ये पात्र बाह्य अथवा आंतरिक अथवा दोनों रूपों में गतिशील हैं। ये पात्र 'व्यक्ति' हैं। इनमे से अधिकाश पात्र नियति का जुआ उतार फेंकने के लिए कृतसकल्प हैं। मानव-हृदय की उच्चतम वृत्तियों का विकास प्राय· इन्ही पात्रों में मिलता है और कलात्मक चरित्र-विकास पणाली मुख्यत इन्ही पात्रों के माध्यम से सामने आयी है। इस वर्ग के पात्र इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वस्तु का विकास प्राय उनके चरित्रों से

ही होता है।

इन पात्रो मे ही लेखक की सूक्ष्म व सर्वोच्च चरित्राकन कला के दर्शन होते हैं। आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक सभी क्षेत्रो के पात्र अपनी पूरी मानसिक विशेषताओं के साथ इस वर्ग में समाविष्ट हैं। मन की असाधारण अवस्था तथा उसका मनोविज्ञान ही इस वर्ग का निर्णायक तत्त्व है।

देवसेना, ध्रुवस्वामिनी, मल्लिका, श्रद्धा, यमुना, घटी, तितली, नूरी, सालवती, सुजाता, लैला, रोहिणी, गुडा, विजय, मधुबन, चाणक्य, बंधु वर्मा, स्कदगुप्त, अलका, मागधी, कमला (प्रलय की छाया) आदि पात्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

ये पात्र प्रसाद-साहित्य के स्थायी आकर्षण के पात्र है और प्रसाद की भव्य सृष्टिया हैं। सामूहिक रूप से देखने पर, इन पात्रों के प्रति हमारी गहरी सहानुभूति होती है। इनके प्रति हमारा प्रेम या श्रद्धा किसी स्थूल नैतिक आधार पर नही, किंतु शुद्ध मानवीय भावनाओं पर आधारित है। ये जीवट के पात्र हैं और इनके जीवन-मूल्य ऊर्ध्वमुखी हैं—ये जीवन में किसी उच्च ध्येय के लिए बने हैं, इनमें ज्वलत गतिशीलता (मुख्यत आतरिक) है, शात, मधुर किंतु उत्कट जीवन-विद्रोह है। अपने चरम विकास पर भी मूल प्रकृति से ये न कोरे जड देवता है और न राक्षस, ये शुद्ध मानव हैं जिनकी गतिविधि उनकी प्राय सब स्थितियो मे हमें मोहती है।

इन पात्रो की सृष्टि प्रसाद की चरित्र-चित्रण कला का निकष है। इस क्षेत्र में प्रसाद की जो उपलब्धि है उसे देखना हो तो इससे बढकर हमारे पास देने को सभवत और कुछ शेष नही। हिंदी की पात्र-सृष्टि और चरित्र-चित्रण कला ने प्रसाद तक आकर जो भी उत्कर्ष प्राप्त किया है वह उस तीसरे वर्ग के पात्रों के द्वारा देखा जा सकता है।

चारित्रिक गुण-समष्टि

अत वैचित्र्य का विचार करते समय ही अब हम भाव-विचार की उस मूल पूजी पर भी दृष्टिपात करें जिसका व्यापक वितरण ही चरित्र-सृष्टि करने वाले किसी कलाकार की मूल प्रेरणा होती है। यह मूल पूजी है—दया, क्षमा, उत्सर्ग, सेवा आदि अगणित मनोभाव। प्रसाद ने अपने पात्रों के माध्यम से समाज में इसी श्रेष्ठ भाव-निधि के प्रसार-प्रचार का बृहत् आयोजन अपनी रचनाओं में किया है। अधकार पक्ष के गुणों (अवगुणों) का भी अभाव नही। पर वे तो इसी सपदा को और अधिक उज्ज्वलतर करके दिखाने के लिए ही नियोजित हुए हैं, उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नही। ध्यान देने की बात यह है कि श्रेष्ठ भावों के प्रचार-प्रसार के प्रयत्न का कुल योग वही बैठता है जो धर्म व नीति का लक्ष्य है। अतर केवल निवेदन की प्रणाली भर का है। शासन-स्वर या सुहृद्-स्वर न होकर यह सब-कुछ कातासम्मित स्वर में है।

प्रसाद ने प्रेम और वीरता के भावों व भावनाओं से सबधित चारित्रिक गुणों का उच्चतम उत्कर्ष दिखाया है। वस्तुतः मानव जीवन के सभी श्रेष्ठतम गुण—वीरता, त्याग, उत्सर्ग, सेवा, कर्त्तव्यपरायणता, श्रम-साहस, परदु खकातरता, मानव-प्रेम अथवा करुणा, मैत्री, स्वाभिमान, देश-प्रेम आदि—प्रेम और वीरता से ही सबद्ध हैं। 'शृगार' रस 'रसराज' है। उसके निरूपण में (सयोग व विप्रलंभ दोनों पक्षों के) प्रसाद ने मानव-हृदय की सर्वोच्च ऊचाइयों

को छूकर उच्चतम गुणो का विकास निरूपित कर दिया है। गुडा, देवसेना, यमुना, मालविका, तितली आदि पात्र इस क्षेत्र मे आदर्श है। वीरता, श्रम और साहस के गुण सिहरण, विजय, मधुबन, गुडा, देवसेना, अलका व तितली मे भरपूर दिखाये गये है। निष्काम सेवा व लोक-कल्याण की भावनाओ के आदर्श गौतम, दाड्यायन, व्यास, स्वामी कृष्णशरण, मिहिरदेव, श्रद्धा व मल्लिका है। धर्म-सम्प्रदाय से अतीत शुद्ध मानवता के आधार पर सहज प्रेम 'मधुआ', 'सलीम' आदि कहानियों के पात्रो के माध्यम से सफलतापूर्वक व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार अन्य गुण भी देखे जा सकते है। नाटको के प्रसग में डॉ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने भारतीय नाटकों के नायक के वे सब गुण परिगणित किये हैं,[98] जो मिलकर चारित्रिक विकास का चरम बिदु द्योतित करते है।

महानता का आदर्श आज परिवर्तित दिखायी पडता है। महानता अब केवल शारीरिक शौर्य, दिव्य वैभव व अलौकिक या असाधारण शक्तियो तक ही सीमित नही रह गयी है। तर्क और मनोविज्ञान ने आज महानता-विषयक दृष्टिकोण में क्रातिकारी परिवर्तन कर दिया है। अहिसा की शक्ति के बल पर, प्रजातात्रिक या मानव मूल्यो के लिए सघर्ष करने वाला, लघुकाय व्यक्ति भी आज महान् है। सौ अवगुणो से ग्रस्त कितु मानवीय स्नेह व सहानुभूति की आभा से विमडित शराबी ('मधुआ' कहानी) अथवा तन-मन से जर्जर हमारी सच्ची सहानुभूति का पात्र साधारण किसान (प्रेमचद का 'होरी') भी आज प्राचीन सम्राटों से महान् समझा जाता है। प्रसाद ने ऐसे मानवीय गुणो का उत्साहपूर्वक उद्घाटन किया है जो पात्रो को अपनी बाह्य लघुता व हीनता में भी महान् बनाते है। यह नवीन जीवन, दर्शन व मनोविज्ञान का सम्मिलित प्रभाव है।

प्रसाद की चरित्र-चित्रण कला (सिद्धांत और व्यवहार) विश्लेषण

चरित्राकन की विविध प्रणालिया

पात्रो के व्यक्तित्व के विधायक आधारभूत गुणावगुणो का उल्लेख या परिगणन मात्र ही चरित्राकन नही है। आवश्यक प्रसग-सृष्टि खडी करके, पात्रो के जीवन-व्यवहार के माध्यम से इन गुणावगुणो को प्रकट कर पात्रों को अधिकाधिक सजीव व मासल रूप में प्रस्तुत करना ही चरित्र-चित्रण कला का प्राण है।

पात्रों की चरित्रगत विशेषताए मुख्यत स्वय उनके व्यवहारो द्वारा ही प्रकट होनी चाहिए। लेखक अपनी ओर से विशेष न कहे कि अमुक पात्र सज्जन है या दुर्जन। उसकी चरित्रगत विशेषताए निम्न बातों से प्रकट होनी चाहिए—(1) कार्य-व्यापार अथवा पारिवारिक-सामाजिक व्यवहार द्वारा, (2) सवाद द्वारा, (3) अन्य व्यक्तियो के द्वारा उसके चरित्र की साकेतिक धारणा या सम्मति द्वारा,[99] (4) एकात में स्वगत-भाषण द्वारा, (5) नीद में स्वप्न-दर्शन या बडबडाहट द्वारा, (6) वेश-भूषा द्वारा, (7) मुख-मुद्राओं व आगिक चेष्टाओं द्वारा, (8) मनोद्वंद्व द्वारा, (9) विरोध (Contrast) के लिए खड़े किये गये पात्रों द्वारा, तथा (10) आत्म-विश्लेषण द्वारा। यथास्थान सीधा वर्णन न्यूनाधिक रूप में आ सकता है—उपन्यास-कहानी आदि में ही, नाटकों में तो वर्णन की गुजाइश ही नही।

स्थूलत, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वस्तु-निवेदन की दो मान्य प्रणालिया हैं (1) प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक (Direct or Analytical), और (2) परोक्ष या नाटकीय (Indirect or Dramatic)।[100] प्रत्यक्ष प्रणाली के भी अपने लाभ है जिन्हें विद्वान् स्वीकार करते हैं, पर कार्य-व्यापार वाली परोक्ष या नाटकीय प्रणाली ही अधिक कलात्मक मानी जाती है।[101] किंतु विश्लेषण तथा टीका-टिप्पणी भी सर्वथा त्याज्य नही है।[102]

प्रसाद ने चरित्राकन की प्राय सभी प्रणालियों का प्रयोग किया है। चरित्र के गुणावगुणों के सबध मे लेखकीय स्वकथनात्मक विवरण भी, मुख्यत आरभिक रचनाओं में, बच नही सके है। कार्य-व्यापार द्वारा,[103] सवाद द्वारा,[104] सम्मति व स्वगत-भाषण द्वारा,[105] मुद्रा, चेष्टा,[106] मनोद्वद्व[107] व आत्म-विश्लेषण[108] द्वारा पात्रो के चरित्र का उद्घाटन सर्वत्र ही प्राप्त हो सकता है। स्वप्न-नीद आदि के द्वारा चरित्राकन भी सुदरता से हुआ है।[109] चेतना के प्रवाह के चित्रण द्वारा भी चरित्राकन कही-कही हुआ है।[109] सक्षेप में, चरित्राकन में परोक्ष या नाटकीय पद्धति का ही अधिक आश्रय लिया गया है।

आदर्श और यथार्थ

प्रसाद ने अपने पात्रो का चित्रण यथार्थ की प्रणाली से और 'आदर्श' जीवन-दृष्टि से किया है। पर यहा प्रसाद के 'आदर्श' के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। प्रसाद का आदर्श शब्द अपनी उस समस्त आत्यतिकता, तिक्तता, स्थूल, जड व यात्रिक नैतिकता से सर्वथा मुक्त है जो इस शब्द के साथ प्राय जुडी है या जुडी चली आयी है। उसमें एक ओर तो सर्वोच्च मानवीय उपलब्धि-अर्जना मे निहित पुरुषार्थ की स्वीकृति है तो दूसरी ओर व्यावहारिकता, सभवनीयता, मानवीय मृदुलता और नैतिकता की देशकालोपयोगी धारणा भी सहज समाविष्ट है।

प्रसाद के 'आदर्श' की भूमि परिष्कृत मानवता की भूमि है, न कि कोरे जड देवत्व व जड राक्षसत्व की। ये दोनों आत्यतिक छोर प्रसाद की सहज आनदमयी वृत्ति को नही रुचते। इतना ही नही, प्रसाद ने इस दृष्टि के प्रति अपने साहित्य में क्राति भी की है और प्रकृत-स्वस्थ जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठा भी की है। अतिवाद से मुक्त जिस आदर्श की भी कल्पना की जा सकती है वही प्रसाद को काम्य है। प्रसाद के आदर्श ऐसे हैं जो इसी पृथ्वी पर, मानवीय शक्ति से, प्राप्य हैं, कोरे अतिशयोक्तिपूर्ण व हवाई नही। इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद के 'आदर्श' के स्वरूप की धारणा सामन उभरने लगेगी। इस धारणा में जीवन का वह यथार्थ स्वभावत समाविष्ट है जो जीवन के प्रत्यक्ष की उपेक्षा नही करता, आयु और ऋतुओं से प्रेरित यौवन के ज्वारों का अनादर नही करता, जो हाड-मांस की पुकार को भी सुनी-अनसुनी नही करता। इस दृष्टि में जीवन के प्राकृतिक रोमांस (भद्दे अर्थ में नही, देवसेना जैसी पात्री के व नृत्य-कलाप्रिय 'इरावती' के संदर्भ में सोचे हुए) बहिष्कृत नहीं है। प्रसाद का विश्वास सौंधी पृथ्वी व कर्मठ मानव मे है, खोखले आकाशवासी विलासी देवता में नही। प्रसाद की भावना में पृथ्वी ही आकाश को देती है।[111] अत प्रसाद का 'आदर्श' इस यथार्थ से मृदुल, व्यापक व मानवीय है। पर यह मृदुलता ही कही सुदर रूप धरकर स्खलन या पतन का बहाना बनकर मानव को छल न ले, इसलिए प्रसाद यथार्थ को पूरा प्रश्रय देते हुए भी सिद्धात रूप में आदर्श के ही एकात आग्रही हैं। यदि स्पष्ट आदर्श के

ही प्रति हम निष्ठावान् न रहे तो स्खलन का पूरा भय है। अत प्रसाद का आग्रह है कि यथार्थ से सौम्य-मृदुल 'आदर्श' दृष्टि ही जीवन के पुष्ट और चतुर्दिक् विकास के लिए श्रेयस्कर है। प्रसाद की पात्र-दृष्टि व पात्रों का चरित्र-चित्रण इसी मूल जीवन-दृष्टि से ही नियत्रित-शासित हुआ है। चाहें तो हम इसे अधिक-से-अधिक सामजस्यमयी परिष्कृत जीवन-दृष्टि कह सकते है। इस दृष्टि से विजय, गुडा, देवसेना, यमुना आदि पात्र आधुनिक नवीन अर्थों में पूर्ण आदर्श पात्र जान पडेगे।

घटना और पात्र

ससार घटना-प्रधान है। घटनाए जीवन में घटती हैं। इन घटनाओं के साथ मानव-चरित्र का गहरा सबध है। घटना चरित्र-चित्रण के अभाव में जड होती है। वास्तव मे तो रचना का कार्य या 'फल' की प्राप्ति चेतन पात्रों के द्वारा ही होती है, जड घटनाओं के द्वारा स्वतत्र रूप से नही। मानव के आचरण-व्यवहारों के परिणामस्वरूप भी घटना घटती है, और घटनाओं का परिणाम मानव चरित्र को रूपायित भी करता है। हम घटना किसी काल-बिंदु पर, अनिश्चित रूप से, अनायास ही आ जुटने वाली अप्रत्याशित परिस्थितियों के एक ऐसे सघट्ट और स्फोट को कह सकते हैं जो अपना प्रभाव दूर-दूर तक चारों ओर फेंकती हों। यों तो घटनाए प्रतिक्षण सौरमडल, आकाश, पृथ्वी, जल व प्रकृति में सर्वत्र घटती ही रहती है, किंतु मानव-जगत् की घटनाए हम उन्हें ही कहते है जो मानव व्यवहारों को दूर तक प्रभावित करें। मनुष्य का चरित्र स्थूल घटना के माध्यम से भी व्यक्त हो सकता है और बिना स्थूल घटना के भी। मानव के गुण व अवगुण सर्वत्र उसके साथ रहते हैं और वे घटना या बिना घटना के भी प्रकट होते रहते हैं। हां, घटनाओं के माध्यम से उसके गुणों की सच्ची परीक्षा का अवसर आता है और उसके वास्तविक चरित्र की कुजी हमारे हाथ में आती है। स्थूल-भौतिक घटनाओं के अभाव में व्यक्ति में प्राय उसके मूल अस्तित्व को झकझोरने वाली यह सक्रियता हमारे सामने नही आती जो हमें उसके चरित्र को समझने या उसका मूल्याकन करने का कोई ठोस आधार प्रदान करे।

प्रसाद ने अपने अनेक पात्रों का चरित्र घटनाओं के माध्यम से प्रकट किया है। पर प्रसाद मूलत कवि होने के नाते वास्तविक जगत् की स्थूल घटनाओं के प्रति उतने आकृष्ट नही जितने मानसिक जगत् की सूक्ष्म घटनाओं के प्रति। अत वे पात्रों का चरित्र अधिकाशत भाव-व्यजना या पात्रों के मानसिक सघर्ष या वातावरण के प्रभाव व प्रतिक्रिया आदि के निरूपण के माध्यम से ही दिखाते हैं। घटनावली से निर्मित कथाधारा के पात्रों के अतरग में उतरकर महीन मनोवैज्ञानिक कार्य, जो भावना-प्रधान कलाकार का मुख्य आकर्षण होता है, करने का कम अवकाश रह जाता है और परिणामत चरित्र-चित्रण का कलात्मक निर्वाह मद पड़ जाता है। अत भाव-चित्रण के प्रेमी प्रसाद घटनाओं के प्रति विशेष आकर्षण नहीं रखते। यों, स्थूल जगत् की घटनाए भी पात्र के चरित्र-निर्माण में अनेक जगह सहायक होती हैं। प्रसाद के 'बहुत-से पात्र नियतिवाद से प्रेरित हैं, अत वे सघर्षों को जान-बूझकर न्यौता नही देते। आये सघर्ष को अवश्य दार्शनिकता से झेलते हैं। उदाहरणार्थ—'ककाल' एक घटना-प्रधान उपन्यास है, जिसमें घटनाए ही चरित्रों के विकास में सहायक होती हैं। 'ककाल' में घटना का अत्यधिक मोह है, क्योंकि रचना का लक्ष्य

समाज की व्यापक झाकी दिखाना है, अन्यथा चरित्रों का विश्लेषण ही उसका ध्येय है। घटनाए उन चरित्रो का अध्ययन करने का साधन या माध्यम-मात्र है। 'तितली' मे मधुबन का महत को मारकर भाग जाना एक घटना है जो तितली को अपने चरित्र-विकास का पूरा-पूरा अवसर देती है। 'कामायनी' के 'सघर्ष सर्ग' मे सघर्ष एक घटना है जो मनु को अपना चरित्र सवारने का अवसर देती है। प्रसाद-साहित्य मे इस प्रकार अनेक छोटी-मोटी घटनाए हैं जो चरित्र-विकास का माध्यम बनती है।

स्थूल जगत् की भौतिक घटनाओ की अपेक्षा मानसिक जगत् की सूक्ष्म घटनाओ के प्रति प्रसाद का कितना आकर्षण है (भौतिक घटनाओं का सर्वथा अभाव भी नही), यह प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' की वस्तु द्वारा भी सूचित होता है। 'कामायनी' मे पात्रों के चरित्र का स्वरूप-निर्माण करने वाली घटनाए वे है जिनका "विस्तार भौतिक जगत् में लक्षित नही होता—उनका विस्तार होता है मानव-चेतना के भीतर जहा घटित होकर वे समग्र मानव-जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव डालती है।"[112] अपनी शीर्षस्थ रचना में घटना के गृहीत विशिष्ट स्वरूप के प्रति प्रसाद का यह रुचि-वैचित्र्य, प्रसाद-साहित्य में घटना और पात्र के पारस्परिक सबध के स्वरूप-बोध का एक आधार हमे प्रदान करता है।

प्रो हडसन के मत मे घटना की अपेक्षा चरित्र ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।[113] किंतु एबरक्राबी चरित्र को द्वितीय स्थान देते है।[114] वस्तुत आदर्श स्थिति वस्तु और चरित्र के सामजस्य मे ही है, जैसा कि प्रो हडसन ने औपन्यासिक चरित्रो के विवेचन के प्रसग में कहा है।[115]

चरित्र-विकास

चरित्र-विकास का साहित्यिक अर्थ यही है कि पात्र कैसी स्वाभाविकता व तार्किक क्रम से परिस्थितियो में अग्रसर किया गया है, यह नही कि वह अनिवार्यत नैतिक दृष्टि से अवनति से उन्नति की ओर बढता चले, जो वस्तुत नैतिकता या जीवन-मूल्यों के क्षेत्र का प्रश्न है। चरित्र का विकास वही सुदर होता है जहा पात्र जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों की विषम लहरो में छोड दिये गये हों। मानसिक या बाह्य परिस्थितियों से सघर्ष करने मे ही चरित्र का विकास देखा जा सकता है। पात्र या तो परिस्थितियों को बनाते है या परिस्थितिया उन्हें गढती है। दोनो ही रूपों मे चरित्र का विकास देखा जा सकता है। 'ककाल' का विजय सड-गलकर भी, स्थूल दृष्टि से पराजित होकर भी, एक पूर्ण विकासशील पात्र है। लैला, घटी, देवसेना, मधूलिका, तितली, मधुबन, गुडा, प्रवचित व भाग्य से लुटे-पिटे होकर भी, नाटकीय या साहित्यिक अर्थों में पूर्ण गतिशील व विकासशील है।

रचना मे प्रविष्ट पात्र के विकास का प्रश्न अत्यत महत्त्वपूर्ण है। पात्र रचनाप्रवाह में एक क्षण भी खड़ा नहीं रह सकता, अन्यथा उसका प्रवेश ही क्यों होता? अब उसके विकास की कृत्रिमता और स्वाभाविकता का प्रश्न है। यदि वह रचना के अत में दिखायी जाने वाली लेखकीय विचारधारा की प्रतिष्ठा मात्र के लिए यत्र-रूप से नियोजित किया गया है और उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह अपनी प्रकृत इच्छा से नही, किंतु लेखक की इच्छा से चलाया-दौडाया, घसीटा, या हसाया-रुलाया गया है तो उसकी गतिविधि सर्वथा कृत्रिम है। 'पात्रों का आचरण स्वतंत्र व विक्षेप-रहित होना चाहिए। वे अपनी स्वतत्र सकल्प-शक्ति से

सपन्न हो।'[116] और, यदि वह कृति मे सर्वथा अपनी ही इच्छा से चल-फिर रहा है तो मानो वह रचना का अग नही है। लेखक की निर्माण-कल्पना के द्वारा पात्र व स्रष्टा कवि का मन एकरस हुए बिना सजीव व स्वाभाविक पात्र-सृष्टि सभव नही। पात्र को कितना स्वतत्र रखना चाहिए और कितना रचनाधीन, इसका अनुपात निश्चित करना अत्यत कठिन है। फॉर्स्टर पात्रो को न तो अधिक बधन मे रखने के पक्षपाती हैं और न उन्हें पूरी छूट देने के, ये दोनों अतिया उनके विकास मे बाधक ही सिद्ध होगी। यदि उन्हे बिल्कुल ढील दे दी गयी तो वे किताब के टुकडे-टुकडे कर देगे, और उन्हे बलात् बाधकर रखा गया तो उनकी आतें सूखने लगेगी।[117] यों तो साहित्य में प्राप्त पात्र-सृष्टि साहित्यकार की कल्पना की ही सृष्टि है जिसका स्वरूप-निर्धारण या नियमन, लेखक की निजी विचारधारा, आदर्श या उद्देश्य से ही होता है, किंतु चरित्र-सृष्टि का पूर्ण कौशल इसमे है कि पात्र, व्यक्त जीवन के पात्रो की तरह, लेखक के आदर्श या उद्देश्यो से सर्वथा मुक्त रहकर अपने ही सस्कारों, प्रेरणाओं व स्पृहाओ से अपने चरित्र का विकास करते चलें।[118] वह विकास ऐसा हो कि प्राकृतिक कार्य-कारण नियम से हम उसकी जाच कर सकें और आश्वस्त हो सके कि पात्रों का अपना निजी और सहज विकास हुआ है। लेखक ने अपने आदर्श उन पर थोपे नही हैं, उन्हें कठपुतली की तरह जड नही बना दिया है, उनके व्यक्तित्व के बारे में प्रचार (canvassing) नही किया गया है, वे जीवनोचित (Life-like) रूप मे आये हैं, लेखक से स्वतत्र भी उनका अपना निजी अस्तित्व है, अपना व्यक्तित्व है। यह तभी सभव है, जब लेखक कलाकारोचित तटस्थता धारण कर पात्रों का चरित्र-चित्रण करे। जैसा कि आरभ मे कहा जा चुका है, अतत सारी पात्र-सृष्टि का मूल उद्गम तो लेखक की आविष्कार-बुद्धि और भावना ही है, अत पूरी सृष्टि में वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, मूल तत्त्व के रूप में, अनिवार्यत व्याप्त रहेगी ही।

प्रत्येक लेखक किसी बलवती प्रेरणा से प्रेरित होकर ही अपनी रचना में प्रवृत्त होता है। अत यह प्रलोभन स्वाभाविक ही है कि वह अपनी रचना में पात्रों व घटना-व्यापारों की पारस्परिक योजना के द्वारा अपने प्रेरक उद्देश्य (किसी पात्र या अपनी विचारधारा की विजय) को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर ले। पर यह उद्देश्य-सिद्धि यदि कथा की परिणति और चरित्र के क्रमिक विकास की उपलब्धि के रूप मे प्रस्तुत हो तभी स्वाभाविक जान पडेगी, अन्यथा हम यह कहने के लिए बाध्य है कि लेखक ने जीवन-विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया की उपेक्षा करके कलाकारोचित सयम को त्याग कर, अधीरता के साथ अपने लक्ष्य या उद्देश्य को झपटकर ले लेना चाहा है। जहा ऐसा स्पष्ट दिखायी पड जाये वहा हम कहेंगे कि लेखक चरित्राकन की कला से अपरिचित है। जिस अनुपात में यह कलाकारोचित सयम दिखायी पडेगा, उसी अनुपात में रचना सयत व सफल होगी। किसी राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक प्रचारक को इस प्रकार की जल्दी हो सकती है, पर कलाकार को तो अत्यत सयम बरतना पडता है। पात्र हमारी चेतना में गहरे तभी प्रविष्ट होगे जब उनके क्रियाकलाप हमारी तर्कणा के लिए सतोषकर व मनोविज्ञान की दृष्टि से संगत-सुसम्मत होंगे और हमारी सहानुभूति, स्नेह, श्रद्धा या घृणा को उभारेंगे।[119]

पात्र-सृष्टि नें इस सीमा तक की तटस्थता तो कला की सहज परिधि की वस्तु होगी, किंतु इस बात को व्यक्ति-वैचित्र्य के नाम पर इतनी दूरी तक घसीट लिया जाये कि पात्र और स्रष्टा के मन का तनिक भी सबध न हो, एक दूसरे छोर का अतिवाद है। पश्चिम में डंटन ने

इस प्रकार की (पूर्ण तटस्थ भाव की) चरित्र-चित्रण प्रणाली को चरित्राकन-कला का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया, किंतु आचार्य शुक्ल ने उसका खुलकर खडन किया है।[120]

वर्ग-पात्र और व्यक्ति-पात्र

प्रसाद ने वर्ग और व्यक्ति—दोनों ही प्रकार के पात्रों की सृष्टि की है। यों तो सामान्य प्रवृत्ति, आचरण व मानव प्रकृति की सार्वलौकिक व सार्वकालिक समानता के कारण सब व्यक्ति बाह्यत प्राय एक-से ही है, किंतु उन प्रवृत्तियों आदि की विशेषताओं का परिस्थितिवश किसी पात्र में कभी ऐसा मिश्रण या सघात उपस्थित हो जाता है, जो अत्यत विरल या असाधारण होता है और वह उस व्यक्ति को एक स्वतत्र निजत्व या वैलक्षण्य प्रदान कर देता है। प्रथम प्रकार के पात्र 'वर्गीय' और द्वितीय प्रकार के पात्र 'व्यक्ति' की सज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। रचना-कौशल की आवश्यकता दोनों ही प्रकार क पात्रों में पूरी-पूरी होती है। प्रथम प्रकार के पात्रों की रचना में लेखक का समाज व परिस्थितियों का व्यापक अनुभव वाछित होता है, क्योंकि वे पात्र उन्ही के प्रतीक, उपलक्षण, प्रतिनिधि या सदेश-वाहक होते है, अपनी कोई बहुत महत्त्वपूर्ण निजी विशेषता नही रखते। व्यक्ति पात्रों मे मानव-प्रकृति के स्थूल ढाचे में आने वाली समस्त विशेषताओं से कुछ भिन्न ऐसा गुण या विशेषता होती है, जो प्राय देखने-सुनने में नही, या नही के बराबर होती है। अत्यत अतर्मुख, स्वायत्त, विदग्ध, मनस्वी व जटिल मनोविज्ञान वाले असाधारण पात्र इस वर्ग में आते है। वे अपने आप में अद्वितीय या असाधारण हैं। ऐसे पात्रो के चरित्राकन में लेखक की कल्पना व मनस्तत्त्व के ज्ञान की गभीर परीक्षा हो जाती है। वास्तव में लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुरूप पात्रो का ही चित्रण करके उनके प्रति सही न्याय कर सकता है, क्योकि वे पात्र उसकी ही मूल प्रकृति के छन्ने में छनकर उतरे हैं। प्रसाद एक गभीर, भावुक, प्रकृति-प्रेमी, कल्पनाजीवी व अतर्मुखी व्यक्ति हैं, अत उन्होंने अपनी ही प्रकृति से अधिक मेल खाने वाले पात्रों का चित्रण विशेष दत्तचित्त होकर किया है। सुदर्शन, विजय, देवसेना, घटी, रोहिणी, घीसू, अमिट स्मृति का नायक, लैला आदि। व्यक्ति पात्र समझने में कुछ अबूझ-से होते हैं, पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर उनका अर्थ खुलता जाता है। वर्ग पात्रों का साधारणीकरण अच्छा होता है, किंतु व्यक्ति पात्रों की जटिलता व असाधारणता ही उनके प्रति आकर्षण का मुख्य आधार होती है। प्रतिनिधि या वर्गीय पात्रों के निर्माण में भी पूरे कौशल की आवश्यकता होती है, इसमें भी सदेह नही। डिकेस, वेल्स और प्रेमचद के वर्ग पात्र इसके प्रमाण है।

प्रसाद रसवादी साहित्यकार थे। रस की सिद्धि के लिए साधारणीकरण की भूमिका अनिवार्य है, क्योंकि रस की मूल प्रकृति है अखडता व आनदप्रदायकता। थोडो की ही सपत्ति होकर—थोडों की ही बुद्धि या भावना की वस्तु होकर—यदि कोई भाव, स्थिति या पात्र रह जाये तो वहां साधारणीकरण कहा ? और अंतत रससिद्धि भी कहा ? प्रसाद ने चरित्र-निर्माण का इसी रस-दृष्टि से नियमन किया है। पर, यह स्थिति तो हमें 'टाइप' पात्रों तक ला छोडती है—यद्यपि 'टाइप' पात्रों के निर्माण में भी अनिवार्यतः यत्किंचित् व्यक्तिगत विशेषताओं का चित्रण हुए बिना नही रहता।[121] यदि इस प्रकार के पात्र ही तैयार किये जायें जो प्राचीनों ने धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर शांत व धीर ललित के बने-बनाये (कम-से-कम लचीले) चौखटों में फिट हो जायें, तो इन चार व्यापकतम मूल प्रकृतियों के सर्वग्राह्य या सर्वानुभूत हो सकने के

कारण शास्त्र-निर्वाह भी हो जाये, पात्र सबकी समझ मे आ सकने का प्रश्न भी हल हो जाये, आश्चर्यपूर्ण प्रसादन या आश्चर्यपूर्ण अवसादन[122] के दो बिदुओं के बीच का अतर भी पट जाये, पर फिर भी इनमें वैसे पात्र का चित्रण कठिन है जो चरित्र के गुणावगुणो के असाधारण मिश्रणों से तैयार होते हैं, किंतु जिनमें पर्याप्त आकर्षण व रोचकता होती है। फ्रास की राज्यक्राति ने यूरोप के साधारणतम मनुष्य का—सडक के सामान्य आदमी का—महत्त्व भव्यों, दिव्यों व श्रीमतों की तुलना मे अत्यधिक बढा दिया। उधर फ्रायड, एडलर व युंग ने मानव-मन का विश्लेषण करके मानव के चरित्र को सही ढग से समझने—ऊपर-ऊपर की स्थिति या पद के आवरण मात्र से नही—के लिए मैदान साफ कर दिया। जो कला यथार्थ जीवन-परिस्थितियों में पडे प्रत्यक्ष मानव में रुचि न रखे, वह अब कोरी हवाई, काल्पनिक, निर्जीव व बुर्जुआ करार दी जाने लगी। इस स्थिति ने साहित्यकार (विशेषत यूरोप के) को जिस पर भाव-व्यवसायी होने के नाते मानव के हृदय व चरित्र को सच्चाई से समझने व अकित करने का बहुत बडा दायित्व है, चरित्र-चित्रण की एक सर्वथा नयी ही पगडडी पकडा दी। व्यक्ति की रुचि-अरुचि, सामाजिक भद्रता-अभद्रता, व्यक्ति के नैतिक गुण-दोष तथा व्यक्ति-वैशिष्ट्य का प्रदर्शन आदि को केंद्र में रखकर व्यक्ति के चारित्र्य का प्रदर्शन ही पश्चिम की आज की सामान्य धारणा है।[123] पश्चिम के साहित्यकार ने मानव-प्रकृति के आधार पर बने हुए पूर्व ढांचे को छोडकर व्यक्ति-पात्र तैयार करना आरभ किया, जिनमें गुणावगुणों का विचित्र अनुपात में मिश्रण हो, जो यथार्थ तो हों पर जो सबकी समझ मे भी न आ सकें, ऐसे। भारतीय रस-दृष्टि से अवश्य ही ऐसे पात्रो की सृष्टि सफल नही कही जा सकती। पर इतना तो निश्चित ही है कि इस प्रकार की चरित्र-सृष्टि में मानव-हृदय का रहस्य समझने का समुचित उद्योग, मानव-प्रकृति का विश्लेषण, मानवीय सहानुभूति को जगाने की अद्‌भुत क्षमता, मनोयोगपूर्ण सूक्ष्म चित्रण आदि भरपूर है। ये गुण अपने वैज्ञानिक अतिरेक के कारण अपवाद रूप होकर नीरस भी कहे जा सकते हैं, पर निश्चय ही मानव में गहरी रुचि के द्योतक होकर अद्‌भुत साहित्यिक सभावनाओं से भी सपन्न हैं। मानव-मन के रहस्य-भडार के द्वार पर खडा 20वी शताब्दी का लेखक इस लाभ से वंचित रहकर साहित्य-सृष्टि नही कर सकता था और साथ ही चरित्र-निरूपण की उस पद्धति को छोडकर उस रसात्मक प्रणाली की सुस्थिर आधार-भूमि को भी नही छोडना चाहता था जो पाठकों या प्रेक्षकों को भावना और कल्पना के उपकरणों के प्रयोग से रस-मग्न कर देती है। (भूलना न होगा कि मार्ग के सब सामयिक या एकदेशीय उद्देश्यों से परे साहित्य में कदाचित् सर्वत्र, भारत में तो अवश्य ही, रस या आनद ही जीवन का चरम लक्ष्य है।) अत्यत विवेकपूर्वक इन दोनों प्रणालियों का नवीन वातावरण, नयी जनरुचि और स्वभाव—तीनो को ध्यान में रखकर अधिकाधिक सामजस्य करते हुए—प्रयोग किया गया।

बाबू गुलाबराय अधिक सामान्य का अस्तित्व ही नही मानते, और जो सामान्य से अधिक हटा हुआ है, वह विक्षिप्त है। अत वे सफल पात्र उसे ही मानते हैं जिसमे सामान्य और व्यक्ति का समन्वय हो गया है।[124] भारत में व्यक्तित्व की अवहेलना नही हुई है, हा, विकास और परिवर्तन की गुजाइश अवश्य कम रही है।[125] मुख्य दृष्टि रस की ही रही है। चरित्र-चित्रण रस का अगभूत अत गौण है। वह रस का प्रसाधन-मात्र है।[126]

इस निरूपण से इतना स्पष्ट है कि प्रसाद जैसे स्वच्छदतावादी व विद्रोही कलाकार न तो

कोरे 'टाइप' या वर्ग पात्रों के निर्माण से ही सतुष्ट हो सकते थे और न कोरे ऐसे व्यक्ति पात्रो से जिनकी प्रकृति सर्वथा वैयक्तिक हो, जो चाहे यथार्थ हो पर पहचाने ही न जा सकें, जो एक विचित्र पहेली हों। प्राचीनो ने रस-निष्पत्ति की बाधा की कल्पना करके ऐसी मानवीय प्रकृतियों का चित्रण साहित्य-बाह्य रखकर साधारणीकरण व रस की दृष्टि से औसत प्रकृतियो को ही पकडा। पर नवीन विश्व परिस्थितियो में सामयिक सुधार की आवश्यकता आ पडी।

प्रसाद ने चरित्र-निर्माण के क्षेत्र मे रस व चरित्र की वैयक्तिकता को अधिक-से-अधिक निकट लाने की दृष्टि से दोनों में सामजस्य उत्पन्न किया और इससे किसी भी प्रकार की हानि न हुई। प्रसाद की साहित्य-सृष्टि के क्रम पर दृष्टिपात करने पर हम यह देख सकते हैं कि उनका प्रयास व्यक्ति की विचित्र प्रकृतिया उत्पन्न करने का उतना नही है, जितना औसत पद्धतियों के ढाचों में ही चरित्र की सजीवता, स्वाभाविकता और सूक्ष्मता उत्पन्न कर, पात्रों को अधिक जीवत, यथार्थ व रोचक बनाने का रहा है। प्रसाद की चरित्र-निर्माण दृष्टि को भली भाति समझने के लिए यह आवश्यक है। भारतीय दृष्टि आदर्शवादी-नैतिकतावादी है जो सच्चरित में एक भी दुर्बलता देखने की आदी नही, अब कुछ भिन्न जान पडती है। मानवतावाद से प्रेरित आज की चरित्र-चित्रण कला अध पतित मे भी उज्ज्वल मानवता की आभा दमकते दिखाना चाहती है और तथाकथित आदर्श पात्रों के चरित्र की सीवनें उधेडकर उनके स्खलनो, दोषों व असगतियों को दिखाने मे नही चूकती। यही यथार्थवादी कला का आग्रह है।

प्रतिपक्ष का विधान

प्रतिपक्ष का विधान, वस्तुत प्राचीन काल से ही चली आती हुई और प्राय॰ सभी लेखकों द्वारा स्वीकृत नाटकीय चरित्र-चित्रण-कला का अग है। आधुनिक युग मे यह विधान कथा-साहित्य में भी प्रयुक्त मिलता है। प्रतिपक्ष का विधान लेखक की विचारधारा से प्रगाढ रूप से सबधित है। दुष्ट पात्रों के पराभव की पद्धति तो शास्त्र-सम्मत है, किंतु उस अत को अपने ढग से सयोजित या प्रस्थापित करके ही किसी लेखक की कला सार्थक होती है। प्रतिपक्ष का विधान पद्धति का रूढ अनुसरण मात्र न होकर जीवन के प्रिय आदर्शों के सूक्ष्म कलात्मक प्रसार-प्रचार का एक माध्यम है। जहा स्पष्ट दो दलो या दो विचारधाराओं को खुलकर खेलने का अवकाश दिया जाता है, वही प्रतिपक्ष का विधान अपना पूरा सौंदर्य दिखाता है। प्रतिपक्ष का विधान सत्पात्र और उनकी विचारधारा को अपनी शक्तियो की परीक्षा देकर निर्भ्रांत रूप में अपने पक्ष को वरेण्य प्रमाणित करने की दृष्टि से किया जाता है, जो एक ओर तो पात्र अथवा पात्र-समूह के चरित्र के जन्मजात गुणों को टक्कर और सघर्ष के बीच पूर्ण रूप से उबलकर ऊपर आने की अनिवार्य परिस्थितिया प्रदान करता है और दूसरी ओर पाठकों-प्रेक्षकों में बलवत्तर जिज्ञासा उत्पन्न करके मनोयोगपूर्ण रसास्वादन की अनुकूलता उत्पन्न करता है। नाट्यशास्त्र में सधियों का विधान प्राय प्रतिपक्ष की पराजय को ही लक्ष्य में लेकर चलता है। प्रतिपक्ष की शक्तिया आरभ में खूब विकसित दिखाकर अत में उनका पूर्ण पराभव दिखाया जाता है। प्रसाद आदर्शवादी कलाकार है, अत प्राय सभी महत्त्वपूर्ण रचनाओं मे असत् पक्ष का नि'शेष पराभव दिखाया गया है। प्रतिपक्ष का विधान वास्तव मे आधिकारिक कथा के नायक अथवा अन्य सहयोगी पात्रो के चरित्र को निखारने व प्रभावशाली होने देने की कलात्मक प्रविधि है, जिसके अभाव में चरित्र में धार नही आ पाती।

प्रसाद-साहित्य मे, अनेक रचनाओ में, प्रतिपक्ष का विधान बहुत स्पष्ट, पुष्ट व प्रभावशाली हुआ है। सत् पात्र, पक्ष अथवा वर्ग की, आदर्श विचारधारा की, शाश्वत जीवन-मूल्य की, विषम परिस्थितियों व उग्र सघर्षों के बीच मे से जहा-जहा भी विजय निरूपित हुई है, वहा-वहा प्राय सर्वत्र ही यह प्रतिपक्ष देखा जा सकता है। 'ककाल' में देवनिरजन व बाथम, 'तितली' में चौबे, 'अजातशत्रु' मे समुद्रदत्त, 'चद्रगुप्त' मे आभीक, 'स्कदगुप्त' मे पुरगुप्त, उसकी मा, भट्टार्क, 'ध्रुवस्वामिनी' में रामगुप्त, शकराज, खिगिल आदि पात्र प्रतिपक्ष के विशिष्ट पात्र हैं। 'प्रतिपक्ष' के विधान से 'पक्ष' की कथा उभरी व पुष्ट हुई है। उससे सबधित पात्रों के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करना ही लेखक का लक्ष्य है।

निजी प्रकृति का आरोप

प्रसाद प्रकृति से भावुक व दार्शनिक कलाकार हैं। ऐसा कोई भी लेखक जब साहित्य-सृष्टि करता है तो सहज ही लेखक के व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण या उसके सेव्य आदर्श पात्रों पर आरोपित होने लगते है। पर, आरोप तभी कहायेगा जबकि पात्र की दार्शनिकता-भावुकता पात्र की मूल प्रवृत्ति में से ही सहज या तर्क-सम्मत ढग से उद्भूत हों। अपने आदर्शों के अनुरूप सृष्टि बनाने में ही लेखक को अनिवार्य तृप्ति मिलती है। किंतु एक विचारणीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। या तो लेखक अपनी मनस्तुष्टि को प्राथमिकता देकर अपने पात्रों पर अपनी ही भावनाओं व आदर्शों का बोझ डालता चले, या लेखक अपनी भावनाओं व आदर्शों को एक ओर रखकर तटस्थ भाव से पात्रों को उनकी समस्त निजी वृत्तियों और क्रियाकलापों के साथ प्रस्तुत करे। पर दोनों ही स्थितियों की अपनी सीमाए हैं। यदि लेखक पात्रों पर अपने ही व्यक्तित्व को लाद देता है तो लेखक को यह सतोष तो प्राप्त हो जायेगा कि उसने अपने आप को भारमुक्त करके, अपने हृदय को हल्का एव प्रफुल्लित करके, आत्माभिव्यजन कर दिया, किंतु इसका अर्थ तो यही होगा कि पात्र लेखक का साधन-मात्र या अस्त्र-मात्र था, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नही था, वह लेखक के अपने विचारों को प्रकट करने का बहाना, माध्यम व जड वाहन-मात्र था। यह स्थिति अपने आप में हमें यह आश्वासन कैसे दे सकती है कि लेखक ने नयी सृष्टि की? दूसरी ओर लेखक तटस्थ रहकर यदि नयी पात्र-सृष्टि करता है तो लेखक के व्यक्तित्व से पात्र अछूता ही रह जायेगा। अत उसके सर्जन में वह प्रामाणिकता नही आयेगी जो लेखक के जीवत मानवीय सपर्क की सहज प्रसूति है।

फिर यह भी प्रश्न है कि क्या तटस्थ पात्र-रचना सभव भी है। पात्र की सारी सृष्टि तो अंतत लेखक के मस्तिष्क की ही उपज है। उसकी समग्र चेतना में छनकर वह निखरे रूप में उतरी है। अत तटस्थता की बात कोरी कहने की बात है। तात्पर्य यह है कि दोनों दृष्टिकोण अतिवादी हैं। पूर्ण चरित्र-चित्रण-कला की सहज मांग है कि यथार्थ पात्र-सृष्टि में लेखक के आदर्शों का प्रतिबिंब भी हो और पात्रों का अपना निजी व्यक्तित्व भी सुरक्षित रहे। यदि पात्र के माध्यम से लेखक के व्यक्तित्व का सपर्क-लाभ हमें न हो तो रचनाकार का वह उत्तमांश हमें कहा मिलेगा, जिसकी हमें कला-सृष्टि में तलाश रहती है, क्योंकि साहित्य तो उसके स्रष्टा की ही प्रसूति है। और यदि पात्र का निजी व्यक्तित्व प्रकट न हो तो हम केवल यही कहेंगे कि लेखक ने पात्र के व्याज से अपनी या अपने मन की फोटो कापी या कार्बन कापी मात्र हमें पकडा दी। प्रतिलिपि या अनुकरण मात्र, मौलिकता के अभाव में, साहित्य नही। कोरा

अनुकरण तो, नवनिर्माण के क्षेत्र मे एक विगर्हणीय कर्म है। यह मानने मे कदाचित् कोई आपत्ति न होगी कि पर्याप्त कलाकारोचित तटस्थता होते हुए भी प्रसाद के पात्र प्रसाद की निजी प्रकृति के रग मे इतने रग गये हैं कि वे 'प्रसादीय' अधिक है, 'स्वय' अपने रूप में कम।

प्रसाद ने अगणित पात्रों का सर्जन किया है। आरभिक रचनाओं के तथा उत्तरकालीन रचनाओ के कुछ पात्र तो केवल 'आरभ' और परिणामों के सबध-सूत्र से बुनते है; इनका कोई व्यक्तित्व नही। उन्हें छोडकर विशिष्ट पात्र पर विचार किया जाये तो जान पडेगा कि प्रसाद ने अपने पात्रो को दोहरा दायित्व दिया है—अपना व्यक्तित्व बनाये रखना और प्रसाद के निजी आदर्शों का भी वहन करना। प्रसाद-साहित्य के अधिकाश पात्र प्रसाद की भावुकता, दार्शनिकता, मानवीयता व प्रकृति-प्रेम को लिये हुए हैं और इस दृष्टि से वे पर्याप्त समान हो गये है। हमने बाह्य दृष्टि से पात्रों की विविधता का विवेचन किया है। पर आतरिक दृष्टि से वैविध्य प्राय बहुत कम होता है। प्राय सभी महत्त्वपूर्ण पात्र (स्त्री व पुरुष) दार्शनिक, भावुक एव प्रकृति-प्रेमी है, एकात-प्रिय व कल्पनोपजीवी है। सब प्राय एक ही ढग से सोचते है, एक-सी ही बोली बोलते हैं। व्यवसाय-भेद, आयु-भेद, पद-भेद के रहते हुए भी उनके आतरिक मनोविधान या मनोरचना में बहुत कम अतर है। श्रद्धा, देवसेना, कोमा, गाला, कार्नेलिया—सब बाह्य सृष्टि से भिन्न होकर भी मानसिक सृष्टि से कितनी समान है। पुरुष-पात्रों में भी यही दिखायी पडेगा। पर इतना अवश्य है कि प्रसाद का व्यक्तित्व उन पर थोपा हुआ नही जान पडता। प्रसाद के गुण उनमें जाकर उनके चरित्र की मूल प्रकृति व चेतना के साथ एकाकार हो गये हैं। इसकी परीक्षा उनकी मानसिक परिस्थितियो के विश्लेषण मे सहज ही को जा सकती है। पात्र जैसा चिंतन करते है, तदनुरूप ही आचरण करते है। कहने का तात्पर्य यह है कि वे बोझा नही ढो रहे हैं, ढो रहे हैं तो स्वेच्छा से।

यह दार्शनिकता और मानव हृदय-सवेद्य कोमल भावुकता प्रसाद की चरित्राकन कला की एक विशेष विभूति है और पाठक के लिए, उसकी एक धृष्टता के बावजूद एक गहरा आकर्षण है। कला में लेखक का व्यक्तित्व होता है। चरित्राकन की कला से अभिप्राय यही तो हो सकता है किसी पात्र का चरित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया जाये कि वह सबके मानसिक आकर्षण का पात्र हो। जहा दार्शनिकता और भावुकता को सर्वत्र देखकर एकरसता लग सकती है। यहा यह भी सत्य है कि ये ही वे तत्त्व है जो मानव-हृदय को सबसे अधिक मोहते है। दार्शनिकता की प्रवृत्ति प्रसाद में सहज है। आत्मा के नाते रहस्य और दार्शनिकता के स्तर पर प्राय सभी सहृदयों का मिलन सहज और अवश्यभावी होता है।

मस्तिष्क से प्रसाद दार्शनिक और हृदय से भावुक हैं। दार्शनिकता और भावुकता के सम्मिलित योग से किया गया चरित्राकन सहृदयों की सपूर्ण अत सत्ता पर अधिकार कर लेता है और इस अधिकार के क्षणों से सच्चे सहृदय को यह ध्यान नही रहता कि यहा एक धृष्टता या पुनरावृत्ति आदि है। प्रसाद के अनेक पात्रों में आतरिक साम्य होते हुए भी उनका अपना-अपना निजी प्रभाव प्राय अचूक रहता है।

चरित्र-परिवर्तन

प्रसाद की चरित्र-सृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—पात्रों के चरित्र में परिवर्तन। प्रत्येक

लेखक के अपने कुछ निजी जीवन-मूल्य, सिद्धात या आदर्श होते है, जिनकी विजय देखना उसकी अत्यत प्रिय कामना है। इस विषय का नियम लेखक की यथार्थ या आदर्श सबधी जीवन-दृष्टि से ही होता है। स्पर्द्धा, प्रवचना और अन्याय के इस वास्तविक ससार मे तो प्राय उन लाडले आदर्शो की विजय कही दिखायी नही पडती, अत मनस्तोष मे अतिम साधन के रूप मे उनकी पूर्ति मानसिक सृष्टि मे जाकर ही की जाती है। यह विजय इस मानसिक सृष्टि-साहित्य मे प्राय पात्रो का चरित्र-परिवर्तन, जो अपराध-स्वीकृति, भूल-सुधार, क्षमा-याचना, क्षमा-दान आदि कार्यो में चरितार्थ होता है, कराकर प्राप्त की जाती है। बिना चरित्र-परिवर्तन कराये भी रचना में यह विजय सभव है, पर परिस्थितिवश उन आदर्शो के विपरीत आचरण करने वाला पात्रो को किसी जटिल परिस्थितियो के जाल में डालकर अत मे ठीक दूसरे सिरे के (साहित्यकार के अपने प्रिय) आदर्शो को ग्रहण करते दिखाने मे पाठकों या प्रेक्षको के मन पर जिस गभीर प्रभाव की चमत्कारपूर्ण सिद्धि होती है, उससे लेखक का विशेष सतोष होता है। जितनी ही गहरी दुष्प्रवृत्ति होगी, उसके निरसन के लिए उसी के अनुपात मे चरित्र-परिवर्तन के साधनभूत प्रसग या पात्र खडे किये जायेगे। लेखक अपने चरम रूप में दो प्रकार के होते है—घोर आदर्शवादी व घोर यथार्थवादी। एक अनिवार्यत प्रकाश की विजय चाहता है, दूसरा अधकार की। पर ऐसे अतिवादी लेखक तो सख्या मे थोडे ही होते है। लेखको की जितनी भी श्रेणिया कल्पित की जा सकती है, वे प्राय मोटे तौर से इन चरम बिंदुओ के बीच के आदर्श और यथार्थ के विविध मिश्रणो का प्रतिनिधित्व करने वाले लेखकों की ही होती हैं। ससार में न तो कही केवल सत् है और न केवल असत्। इसलिए केवल सत् या केवल असत् का ही चित्रण करने या पोषण करने वाले कलाकार का प्रभाव बहुत कम होता है। वास्तविकता की भूमि पर घटनाओं व परिस्थितियों के सहारे पात्रो का प्राकृतिक विकास जितने ही तर्कपूर्ण व यौक्तिक क्रम से दिखाया जायेगा, उतना ही रचना का प्रभाव गहरा होगा। पाठक-प्रेक्षक के मन पर स्थायी प्रभाव डालने के लिए कदाचित् इससे बढकर कोई अन्य प्रणाली नही।

प्रसाद मूलत एक आदर्शवादी कलाकार हैं, किंतु वे कोरे आदर्शवादी कलाकार भी नही। उन्होने अवश्य कुछ ऐसे ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक या काल्पनिक पात्र खड़े किये हैं जो अपने असुरत्व या सुरत्व में आदर्श हैं। असुर पात्र अपनी कुचक्रणाओ मे प्रत्येक क्षण सलग्न हैं, कही उनकी विजय होती है, कही पराजय। इस प्रकार सत्पात्र केवल 'शान्त पापम्' कहते या मगल-कामना करते दिखायी देते है। दुष्ट पात्र दडित होने से छूट गये हैं,[127] सज्जन पात्र दडित हुए हैं,[128] या समाज के अग्निकुड में उन्होंने निर्ममतापूर्वक अपने आपको आहुति बनाकर फेंक दिया है।[129] किंतु अनुपात में ऐसे पात्र अपेक्षाकृत थोडे ही हैं। काव्य-न्याय के आधार पर नैतिक आदर्शो की स्थापना की प्रेरणा से प्रसाद ने अधकार-पक्ष के प्राय- सब पात्रों के चरित्र में या तो परिवर्तन कराया है या उन्हें दडित किया है, अथवा अपने पापों में काजल के समान काले उन पात्रों ने अपने आप जल में डूबकर (रामदेव) या छुरा मारकर (विजया) आत्महत्या कर ली है। इस प्रकार अपवाद-रूपों का विचार करके चरित्र-परिवर्तन के प्रसाद के व्यापक नियम पर दृष्टिपात करना ठीक होगा। जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है प्रसाद आदर्शवादी साहित्यकार थे। उन्होंने अवश्य ही नवयुग की यथार्थवादी चेतना को आत्मसात् करके तदनुरूप साहित्य की महत्त्वपूर्ण सृष्टि की थी, किंतु ऐसा भी जान पडता है कि वे यथार्थ

को जीवन मे समुचित या विषमानुपातिक प्रश्रय देने पर लघु छिद्रो से जीवन की दुर्बलताओ की अनियत्रित बाढ के आ घुसने की आशका से भी अवगत थे, अत उन्होंने व्यक्ति-मनोविज्ञान और यथार्थ को समुचित महत्त्व का स्थान देकर जीवन के आदर्शमय दृष्टिकोण को ही सर्वोपरि रखा, जो भारतीय जीवन-पद्धति का अपेक्षाकृत अधिक सुनिश्चित और निरापद आधार रहा है और जिसका वरण करने पर ही मानव के अत करण का उत्तमाश समाज के सामने अनवरत रूप से आता रहता है। आदर्श के इस ध्रुव नक्षत्र पर प्रसाद की टकटकी आदि से अत तक लगी दिखायी पडती है। पात्रों का चरित्र-परिवर्तन उनकी अपनी आदर्श दृष्टि मे ही नियत्रित हुआ है। उनकी यह आदर्श दृष्टि उनके साहित्य के अगणित पात्रों की चरम जीवन-परिणति के स्वरूप द्वारा समर्थित व पुष्ट होती है और प्रसाद-साहित्य का मूल्याकन करने के लिए अनेक आधारों मे से एक सुदृढ आधार भी प्रदान करती है। प्रसाद की कृतियो पर दृष्टिपात करने पर चरित्र-परिवर्तन का नियम प्राय एक सिद्धात-सा जान पडने लगता है। जहा पाप-कर्म का घडा पूरा भर जाने के कारण लेखक को पात्र के चरित्र-परिवर्तन की कोई गुजाइश नही दिखी है, वहा पात्रो न अपने हाथो से ही अपनी अमर शाति का चुपचाप आह्वान कर लिया हे।

बुद्धगुप्त (आकाश), चूडीवाली (आकाश), सालवती (इद्र), नूरी (इद्र), छलना (अज्ञात), कामना (कामा), मनु (कामा) चाणक्य (चद्र), राज्यश्री (राज्य), हर्ष (राज्य), मागधी (अजात) आदि पात्रों का चरित्र-परिवर्तन विशेष रूप से प्रभावशाली है।[130]

भटार्क,[131] छलना,[132] विरुद्धक,[133] शक्तिमती,[134] अजातशत्रु,[135] मनसा,[136] वपुष्ठमा,[137] नरदेव[138] आदि पात्रो मे परिवर्तन क्षमाभाव के पारस्परिक आदान-प्रदान के परिणास्वरूप उपस्थित हुआ है और इस प्रकार क्षमा नामक मनोभाव का गौरव प्रतिष्ठित हुआ है।

अनेक पात्र चरित्र-परिवर्तन पर भक्ति, लोक-कल्याण या सन्यास का पथ पकड लेते है—मदन (छाया), मनु, वैरागी (आकाश), हर्ष, राज्यश्री, चाणक्य आदि।

कुसुम का पति तार्किक ('नूरी' कहानी) मरते समय आस्तिक हो जाता है। 'एक घूट' का कवि आनद मर्यादा, प्रेम का पक्ष ग्रहण कर लेता है।

अनेक पात्र अपने कालुष्य में परिवर्तनातीत-से हो गये हैं। अनवरी, श्यामलाल, महत और मैना (तितली) हाथी के पैरों तले दबकर मर जाते है।

कुछ पात्र पराये हार्थो से या अपने आप समाप्त हो जाते हैं—शकराज (ध्रुव), रामगुप्त (ध्रुव), पर्वतेश्वर (चंद्र), समुद्रदत्त (स्कद), रामदेव (ककाल), विजया (स्कद), विलास (कामना) और लालसा (कामना) आदि।

बहुत से पात्र प्रायश्चित या पश्चात्ताप करते हैं—भटार्क,[139] कमला,[140] मनु,[141] 'सालवती' कहानी की नायिका,[142] इडा,[143] सुरमा,[144] जयचद,[145] विकटघोष,[146] देवनिरजन,[147] देवगुप्त,[148] नरदेव,[149] सलीम[150] आदि। इस प्रकार प्रायश्चित का जीवन-विधान में महत्त्व भी सूचित हो गया है।

असत् भ्राति से मुक्ति या भूल-सुधार के साथ भी अनेक पात्रो में चरित्र-परिवर्तन होता है—आनद, कामना, मागंधी, अजातशत्रु, कपिंजल ('व्रतभग' कहानी), मनु, इडा, सालवती, छलना, 'रूप की छाया' कहानी की नायिका आदि।

इस प्रकार यह चरित्र-परिवर्तन मनमाने ढग पर न होकर चरम जीवन-दृष्टि के निर्देश से हुआ है।

चरित्र-चित्रण का अतिम आदर्श या निकष

चरित्राकन-कला का सामान्यत (नाटक, उपन्यास, कहानी सबको ध्यान मे रखकर) सर्वश्रेष्ठ निकष यह कहा गया है—प्रो हडसन की धारणा मे, उपन्यास और नाटक—दोनों में ही कथा-विकास की अत्यत कलात्मक पद्धति यह मानी जाती है कि वह (कथा-विकास) विभिन्न मतव्यों, आशयो और सवेगो से प्रेरित विभिन्न गुण-शील या प्रकृति वाले कुछ ऐसे कथा-निबद्ध पात्रो की गतिविधियो से उत्पन्न हो जो पारस्परिक प्रभावो या उनके निहित स्वार्थों को उभारे। इस पद्धति मे ही चरित्र-विकास की कला की उत्कृष्टता निहित है।[151] पात्र पूर्ण सजीव या जीवत रूप मे हमारी कल्पना में निवास कर सकें।[152] ऐटविसल के अनुसार, साहित्यगत पात्रों के साथ पाठकों-दर्शकों की अतरगता रचना के वाचन-दर्शन काल में इतनी गहरी हो जानी चाहिए, जो प्रत्यक्ष जीवन मे अपने सुपरिचितों से वर्षो के घनिष्ठ सपर्क से भी स्थापित न हो पाये।[153] फॉर्स्टर का मत है कि उपन्यासो मे लेखक व उसकी रचना या विषय-वस्तु के साथ पाठक की ऐसी घनिष्ठता होती है, जो कला के अन्य प्रकारो में नही दिखायी पडती।[154]

परिपूर्ण चरित्र की यह विशेषता है कि उसकी एक ऐसी मूल, मार्मिक या केंद्रीय विशेषता प्रस्तुत की जाये जो उसकी अन्य सब प्रवृत्तियों को प्रभावित या नियत्रित करती हो।[155] दूसरी ओर ऐटविसल व एबरक्राबी व अरस्तू का विचार है कि पात्र-सृष्टि लेखक के ही किसी निजी मूलभाव को चरितार्थ करने वाली हो।[156]

आचार्य श्यामसुदरदास चरित्र-चित्रण में सक्षेप, पात्रो के प्रति लेखकीय मानवीय सहानुभूति व समस्त चरित्राकन-कर्म के द्वारा मानव जीवन की व्याख्या पर विशेष बल देते है।[157]

बाबू गुलाबराय ने पात्रो का सामान्य से दूर न होते हुए भी अपनी विशेषता बनाये रखना और इस कारण उनका पहचाना जा सकना, पात्रों में व्यक्ति और समाज दोनों की विशेषताओं का बने रहना, उनके प्रति हमारी सहानुभूति रहना और हमारी सहज घृणा या स्नेह के मनोभावो को उभारने में उनका समर्थ हो पाना—सफल पात्र की यही कसौटी निर्धारित की है।[158]

चरित्र-चित्रण-कला के इस व्यापकतम आदर्श या निकष को ध्यान में रखकर विचार करने पर हम प्रसाद की उच्च उपलब्धियों के प्रति आश्वस्त हो सकते हैं। वे जिन पात्रों के प्रति सहज मानवीय सहानुभूति, घृणा या स्नेह जगाना चाहते हैं, वे अनुभव व विश्लेषण के आधार पर अवश्य ही हमारे उन्ही भावों के पात्र प्रमाणित होते हैं। हमारे साथ निश्चय ही उनकी अतरगता स्थापित हो जाती है। मानव-जीवन की व्याख्या तथा कलात्मक पद्धति के सबध मे यथास्थान पर्याप्त कहा ही जा चुका है। सभी महत्त्वपूर्ण पात्रों का चारित्रिक पल्लवन व विस्तार उनके किसी बीज या अवगुण से हो सहज उद्भूत है। वे सामान्य और विशेष—अपनी दोनो ही सत्ताओं के स्वस्थ अनुपात में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। देवसेना, विजय, घटी, यमुना जैसे व्यक्ति पात्र भी सामान्य मानव-रूप से ऐसे दूर नहीं जा पडे

हे कि हम उन्हे पहचान न सके। वे हमे मुग्ध करते है—यह इस बात का प्रमाण है कि वे अपने मूल सामान्य मानवीय धरातल से खिसककर कोई विचित्र प्राणी नही हो गये है। प्रसाद की पात्र-सृष्टि सरस और सतुलित है।

प्रसाद-साहित्य मे सवाद

साहित्य की अनेक विधाओ (प्रबध काव्य, नाटक, उपन्यास-कहानी) मे पात्रो के बीच भावो और विचारों का आदान-प्रदान प्राय भाषा के द्वारा होता है। भाषा के माध्यम से पात्रो के बीच इस भाव-विचार-विनिमय को 'सवाद' कहते हैं। सवाद सुदर और रोचक हो—इसके लिए कुछ गुण आवश्यक माने जाते है। सवाद सुष्ठु, सजीव, स्वाभाविक, जिज्ञासावर्द्धक, सार्थक, प्रसगोचित, सक्षिप्त, पात्रो की आयु, पद-वर्ग व मन स्थिति के अनुरूप, कथा को विकसित करने वाले व पात्रों को स्पष्ट करने वाले हो। इन गुणो से समन्वित सवाद साहित्य मे रोचकता उत्पन्न करते है और उसके चरम लक्ष्य—रस की सिद्धि मे सहायक होते हैं।

सवाद प्रसाद-साहित्य का भी एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। सामान्य रूप मे प्रसाद के सवाद उपर्युक्त प्राय सभी गुणो से युक्त है। सौष्ठव, लघुता, सरलता व प्रवाह की दृष्टि से प्रसाद के सवाद अनेक स्थलो पर पर्याप्त सुदर है।[159] सवादो मे जीवतता है।[160] पात्रानुरूपता का भी प्राय सफल निर्वाह हुआ है।[161] कही-कही सवाद लबे (भावौदात्त्य या विचारौदात्त्य के कारण) भाषण से हो गये हैं, जो अपनी गद्यात्मकता में रूखे सिद्धात-प्रतिपादन से लबे हैं,[162] किंतु ऐसे लबे सवाद भी हें, जहा काव्यात्मकता और सरसता होने से रुखाई का सहज ही परिहार हो जाता है।[163] कही-कही सवाद काव्यात्मक होते हुए छोटे, अत अधिक रोचक हो गयी हैं।[164] अन्य उत्कृष्ट साहित्यिक गुण भी उनमें प्रकट हुए हैं।[165] सवादों में कही-कही (आरभिक रचनाओं में) प्राचीन शैली का प्रभाव भी पाया जाता है। उनमें आकाशभाषित का प्रयोग एक ओर से अथवा दो पात्रों के बीच भी कराया गया है।[166] सवादों में कविता[167], उर्दू बहर[168] व तुकबाजी[169] (जैसे तडक-भडक, धान खाया, चपत पाया, परिहास-दास) को भी स्थान दिया गया है। अति भावुकता के कारण कही-कही सवाद अत्यत प्रवाही व अव्यावहारिक भी हो गये हैं।[170] काल्पनिक पात्रों के बीच भी सवाद का विधान हुआ है—जैसे प्रकृति के पदार्थ वद्रकिरण व लहर के बीच में।[171] मन के भावो—दरिद्रता, करुणा व अभिमान—के बीच भी काल्पनिक सवाद का विधान हुआ है।[172]

प्रसाद मूलत कवि हैं। पात्र उनकी सृष्टि हैं, अत उनक व्यक्तिगत साहित्य-गुणों का, जान-अनजान में, पात्रों में सक्रमण असभव नही। परिणामस्वरूप प्रसाद के अधिकाश पात्रो में, चाहे वे निम्न वर्ग या श्रेणी के ही क्यों न हो, दार्शनिक भावुकता का अवाछित सीमा तक प्रवेश हो गया है। कहीं-कहीं तो इसी प्रवृत्ति के कारण आयु और प्रसग की सगति का भी ध्यान विस्मृत हो गया है।[173] अत्यत प्रौढ काव्यात्मक कल्पनामय भाषा में सभाषण अनेक स्थलों पर अपनी सीमा को पहुच गया है।[174]

जाति के अनुरूप सवादों का भी, स्वाभाविक विधान अनेक स्थलो पर हुआ है।[175] देहाती, पहाड़ी आदि जाति-वर्ग के पात्र अपने भाषा-वैशिष्ट्य के साथ बोलते हैं। गद्य, पद्य और चपू—तीनों ही रचना-प्रकारों में सवादों का प्रयोग हुआ है। सवादों में कही-कही

अनुप्रासयुक्त पदावली का भी व्यवहार हुआ है। पद्य मे, तुकात-अतुकात दोनो ही छद-प्रकारो मे, सवाद हुए है। पात्रों के भावावेश के समय के सवादो मे वाक्यो का विपर्यय तो बहुत मिलेगा। स्वगत-भाषण भी एक प्रकार का सवाद ही है, जो स्वय से होता है। मनोवैज्ञानिक स्थितियों मे इस प्रकार के सवाद भी, नाटको आदि मे, बहुत देखे जा सकते है। पशुओ के साथ एकपक्षीय बातचीत या एकालाप के भी उदाहरण मिलेगे, जैसे 'ककाल' मे कुत्ता 'हू-हू' करके उत्तर देता है। मौन रहकर अश्रु से उत्तर दे देना भी सवाद की प्रकृत सीमा में समझा जा सकता है। पूर्ण बाह्य मौन धारण कर आत्मिक प्रश्नोत्तर मिले मानसिक स्व-सवाद भी बहुत है। नाटको, कहानियों व उपन्यासों मे बहुत जगह सवादो से ही रचना आरभ होती है। बालको के साथ हुए सवाद मे बालोचित तुतलाहट ने स्वाभाविकता ला दी है। असबद्धता या अप्रासगिकता तो प्रसाद के सवादों मे सभवत कही न मिले। कही-कही सवाद-सूचक उलट विरामो के प्रयोग में शैथिल्य मिलता है, जिसके कारण अर्थ की सगति मे कठिनाई होती है। कुल मिलाकर देखने पर प्रसाद के सवाद सामान्यत प्रौढ़, काव्यात्मक व कलात्मक है, पर कही-कही सुदर होते हुए भी अति अलकृति या जडाऊ काम के कारण लड्डू व शिथिल हो गये हैं। रगमच की दृष्टि से ऐसे सवाद अवश्य ही अनुपयोगी हो गये है। अनेक विद्वानो ने इस सबध मे गहरी आपत्ति की है,[176] पर प्रसाद जी ने अपने दृष्टिकोण से ऐसे लेखको को अपना उत्तर भी दिया है।[177]

प्रसाद-साहित्य में मनस्तत्त्व व अंतर्द्वंद्व

मनस्तत्त्व के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान और साहित्य का घनिष्ठ सबध है, अत साहित्य की प्रकृत परिधि में आये मनस्तत्त्व का अध्ययन यहा प्रसग-प्राप्त है। साहित्य और मनोविज्ञान की कार्य-प्रणाली और इन दोनो क्षेत्रो की मूल प्रकृति मे जितना भेद है, उतना ही दोनों के द्वारा गृहीत मनस्तत्त्व के निरूपण और उसकी प्रणाली में भी। साहित्य वृत्तियो, भावो, विचारो, कल्पनाओं आदि के गुफित या समवेत सौदर्य का मार्मिक उद्घाटन करता है, जबकि मनोविज्ञान प्रयोग-परीक्षण आदि द्वारा उनका विज्ञान की वस्तुनिष्ठ या तथ्य-शोधात्मक प्रणाली पर, निर्मोह अध्ययन करता है। सृजनात्मक साहित्य की मूल प्रकृति सश्लेषणात्मक होती है और मनोविज्ञान की विश्लेषणात्मक। साहित्य के रस-चक्र पर दृष्टिपात करने पर दिखायी पडेगा कि रस के प्रमुख उपकरण आश्रय, आलबन, उद्दीपन, स्थायी भाव, सचारी भाव, अनुभाग आदि हैं। इनमें से अतिम तीन पर मनोविज्ञानवेत्ता का प्रमुख कार्य-क्षेत्र है, वही कवि अथवा साहित्यकार का भी। इस सामान्य धरातल के होते हुए भी मुख्यत भाव, विचार और कल्पना से ही साहित्य का अतरंग निर्मित होता है। साहित्य में भाव-व्यजना और चरित्र-सृष्टि में मनस्तत्त्व का सबसे अधिक उपयोग होता है। कवि अथवा पात्र के मन में कौन से भाव (स्थायी-सचारी) किस प्रकार, किस रूप में कार्य कर रहे हैं, और वे किस रूप में (अनुभाव) बाहर व्यक्त हो रहे हैं, इसका यथातथ्य निरूपण साहित्य मे यथार्थ या सत्य की प्रतिष्ठा और स्वाभाविकता की दृष्टि से अत्यत आवश्यक है। हमारे मन में एक भाव का सहज प्रवाह अथवा सचार होता है, कभी दो या अनेक भावों का सहचार, सघट्ट या सघर्ष होता है और शारीरिक चेष्टाओं या व्यापारों में वह बाहर प्रकाशित होता है। आतरिक भावों के इस क्रियाकलाप और बाहरी चेष्टाओं का अध्ययन ही मनस्तत्त्व का

साहित्योपयोगी अध्ययन है। फील्डिग और हडसन ने मानव-प्रकृति का निकटतम और गभीरतम ज्ञात पात्र-स्रष्टा के लिए अत्यत महत्त्वपूर्ण कहा है।[178] किंतु, भारतीय चरित्र-चित्रण मे मनोविश्लेषण सीमातीत रूप मे आवश्यक नही समझा गया। आचार्य वाजपेयी जी की धारणा है कि वह नो वस्तु-चित्र मात्र है, यथार्थवादी खोज है, विज्ञान का विषय है जो साहित्य के क्षेत्र मे निरी निरर्थक भी हो सकती है।[179] रस ही मुख्य है। चरित्र-निर्देश अपेक्षाकृत गौण वस्तु है और वस्तु-विन्यास तो और भी ऊपरी वस्तु है।[180]

मनस्तत्त्व प्रसाद-साहित्य के अध्ययन का रोचक पक्ष है। प्रसाद ने शताधिक पुरुष व नारी (बालक भी सम्मिलित हैं) पात्रो का निर्माण किया है, जो विविध जीवन परिस्थितियों, व्यवसायों, परिवेशो व वैचित्र्यपूर्ण मन स्थितियों मे सबधित हैं। इतनी विशाल सृष्टि के पात्रो का स्वरूप स्थिर करना और उनके व्यक्तित्व को उभारना तभी सभव है जब प्रसाद अपने आपको कल्पना के बल से उनकी मन स्थिति में डाल सके। इस समस्त क्रियाकलाप मे मानव-मन के अध्ययन के प्रति तीव्र-गभीर रुचि निहित है। आयु-भेद, परिस्थिति-भेद और मनोविकास-भेद से सबका मनोविज्ञान एक-दूसरे से पृथक् है। प्रसाद की सब पात्र-सृष्टिया मनोविज्ञान की दृष्टि से पूर्ण त्रुटिहीन या निर्दोष है या नही, यह तो प्रयोगात्मक मनोविज्ञान से ही स्थिर हो सकता है। यहा तो केवल क्षेत्र-विस्तार व हमारे मन पर पडी हुई पात्रों की अपील के बल पर ही सामान्य रूप मे कुछ कह सकना सभव है। उपलक्षण पद्धति पर चलकर केवल कुछ प्रमुख पात्रो के विश्लेषण के द्वारा ही हम इस तत्त्व के स्वरूप पर अपनी सामूहिक धारणा स्थिर करेंगे। मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रसाद-साहित्य के निम्न पात्र अत्यत रोचक है—कमला (लहर), मनु (कामायनी), देवसेना (स्कद), विजया (स्कद), बिम्बसार (अजात), चाणक्य (चद्र), मालविका (चद्र), ध्रुवस्वामिनी (ध्रुव), विजय (ककाल), यमुना (ककाल), राजकुमारी (तितली), तितती (तितली), मधूलिका ('पुरस्कार' कहानी), चम्पा ('आकाशदीप' कहानी), सुजाता ('देवरथ' कहानी), लैला (आधी)।

इन पात्रों के आकर्षण का मुख्य आधार उनके जीवन की कोई गहरी गुत्थी या वैषम्य है, जिसके परिणामस्वरूप उनका मनोविज्ञान अत्यत जटिल व असाधारण हो गया है। चरित्रों की यही जटिलता और असाधारणता उन्हें इतना रोचक बना देती है। उदाहरणार्थ कमला रूपगर्विता है। वह नारी जाति की एक भयकर दुर्बलता—अपने स्थूल रूप के द्वारा पुरुष पर विजय—से आकठ ग्रस्त है। देव-सृष्टि का ध्वसावशेष मनु अपने विलास-अभ्यासी मन के सकेतों पर समर्पणमयी श्रद्धा से पराङ्मुख होकर रूप-रानी इडा को अधिकृत करना चाहता है। देवसेना स्कद की प्रणयिनी है। स्कद ने हूणों से मालव की रक्षा की है। अब यदि वह उससे विवाह करती है तो लोकापवाद उठेगा कि देवसेना ने अपने भाई बधुवर्मा के त्याग का प्रतिदान लिया है। उधर विजया रूप-धन पर गर्वित है, पैसे के बल पर द्वेष से पीडित है। बस, सब मार्ग बंद हैं। यही जीवन की गुत्थी है जो जलकर भी न खुले, विजय रूप और धन से स्कंद को खरीदना चाहती है। स्कद नही मिल पा रहा है तो उसे नीचा दिखाने के लिए भटार्क का वरण करती है। फिर अपने कोष से स्कद को खरीदना चाहती है। इसी वात्याचक्र में वह तिनके-सी फंस गयी है। अंत में आत्महत्या करती है। बिंबसार का मन अभी ससार की ओर से पूर्ण निवृत्त नहीं। संन्यास गौतम के द्वारा थोप दिया गया है। परिणामस्वरूप मन में क्षोभ है। चाणक्य सार्वभौम ब्राह्मण का प्रतीक है। आर्य साम्राज्य के निर्माण में लगा है, पर इस

बाह्य प्रचड कर्म के नीचे मन की तहो मे सुवासिनी की वासना दबी पडी है। मालविका चद्रगुप्त पर अर्पित है। अत समय शरीर प्रेमी के काम आ जाये, इसलिए चद्रगुप्त को राक्षस के षड्यत्र से बचाने के लिए, स्वय उसकी शय्या पर सोकर, काल्पनिक सुख का भोग करके सिधार जाती है। ध्रुवस्वामिनी पवित्र गुप्त साम्राज्य की कुलवधू होकर भी क्लीव रामगुप्त के साथ नारकीय जीवन व्यतीत कर रही है। उसका सच्चा प्रेमी है चद्रगुप्त, जो रामगुप्त का अनुज है।

इसी प्रकार अन्य पात्रों के जीवन मे भी कोई गहरी गुत्थी, विषमता, ग्रथि, प्रश्न या दाह है। पात्र की इसी विशेषता को उसके केद्र में रखकर प्रसाद ने उनके मनस्तत्त्व का अध्ययन, स्रष्टा-कलाकार की हैसियत से, प्रस्तुत किया है, केवल मन की सीवनें उधेडकर जीवन की स्थूल यथार्थवाद का तथ्यात्मक ज्ञान मात्र प्राप्त करने के उद्देश्य से नही। पात्रो का वह मनोविज्ञान-सम्मत अश उनके समग्र अस्तित्व मे घुल-मिलकर उपस्थित हुआ है, अलग से कटे हुए रूप में नही।

प्रसाद ने चेतन, अवचेतन और अचेतन मन के सभी स्तरो पर चलने वाली गतिविधियो का सूक्ष्म निरूपण किया है। तैल-धार के समान मन के अखड प्रवाह की भी झलक कही-कही मिलती है।[181] इसी प्रकार अवचेतन मन का भी क्रियाकलाप चित्रित हुआ है।

पात्रो के आत्म-विश्लेषण के अवसरो पर प्रसाद ने मन के दुर्भेद्य स्तरो का भी गहरा परिचय दिया है।[182] उन्होंने वेश्या,[183] चोर,[184] मृत्यु से पूर्व की गर्भिणी,[185] वैरागी,[186] हत्यारा,[187] पागल,[188] रूपगर्विता नारी,[189] नौकर,[190] बन्दी,[191] व्यापारी,[192] क्लीव,[193] भूत-भावनाग्रस्त,[194] घोर एकाकी व्यक्ति[195] व कुमारी[196] के मनोविज्ञान का भी सुदर परिचय दिया है।

सूक्ष्म मनोविज्ञान के निदर्शक कुछ अन्य सकेत भी है। अपने को कोसना,[197] प्रेमावेश में आत्म-प्रसार का अनुभव करते हुए अपने प्रिय के साथ सर्वत्र व्याप्त हो जाने की भावना करना,[198] स्तभित या ठगे-से रहकर शून्यता का अनुभव करते हुए अपना ही शब्द न सुन पाना,[199] आखों के मुदने से आखो मे अलात-चक्र का घूमता दिखायी पडना,[200] अपने प्रयत्न किसी भी प्रकार पूरे न पडने पर विपरीत मनःप्रवाह मे प्रलय या नाश का प्रसन्नतापूर्वक आह्वान करना,[201] दड पाकर सुख का अनुभव करना,[202] आवश्यकताशील व्यक्ति को आकाश के तारो के रूप मे दिखायी पडना व उसका चाद को रुपयो के रूप मे देखना,[203] बलपूर्वक नपुसक बना दिये गये रूपवान् युवक का अपने से ही प्रेम में दर्पण फोडकर कलेजा ठडा करना,[204] अधकार में अपने प्रिय व्यक्ति की पुकार सुनना,[205] नौकर बनने में सुख का अनुभव करना,[206] अपने अभावों को खूब बढा-चढाकर देखना,[207] असह्य व्यथा से आखें बद कर शाति पाने के लिए दृश्य जगत् से छुट्टी ले लेना,[208] अपनी गूढतम ललित कामना की पूर्ति की सभावना पर अपने नवीन प्रेमी के आगे किसी बात पर 'नही' न कह के प्रेमिका का उत्कठापूर्ण स्वर मे 'क्या' कहना[209] आदि व्यापारों के निरूपण के द्वारा लेखक ने मनोविज्ञान की अत्यत बारीक सजगता के प्रति हमें आश्वस्त किया है।

प्रणय के मनोविज्ञान का सूक्ष्म परिचय देने में प्रसाद पीछे नही रहे है। नये प्रेमी का मनोविज्ञान,[210] देवसेना का प्रणय के ज्वार में, हृदय, आखे, चित्त, बुद्धि व कान की गृहस्थी बसाना,[211] प्रेम में हृदय का पराजित होना,[212] राजकुमारी का सोने का झूठा बहाना किये मन

मे प्रणय की पुरानी बही खोले बैठना,[213] कल्याणी तथा मालविका का चद्रगुप्त के लिए प्रेमविह्वल रहना,[214] प्रणय मे नोकझोक, छेड-छाड, सरस विक्षेप व मनोविनोद करना,[215] रूप-दर्प में सुमन नोचना,[216] रूठने का सुहाग चाहना,[217] दमित वासना लिये आत्म-वचना करना[218] आदि व्यापार प्रणय का सूक्ष्म मनोविज्ञान बताने वाले है।

सामान्य स्त्री-प्रकृति व मनोविज्ञान के भी कुछ अत्यत रोचक उदाहरण अनेक स्थलो पर मिल जायेगे।[219] सतान-प्राप्ति की नारी-सुलभ कामना से सबधित मनोविज्ञान का भी परिचय दिया गया है।[220] स्त्री को धन से कितना सतोष होता है यह भी बताया गया है।[221] स्त्री शक्ति व महत्त्व के आगे झुकती है।[222] नारी-हृदय का प्रणय में मनोविज्ञान कितना विषम हो जाता है, यह भी दिखाया गया है।[223] रूप जाने पर धनी नारी धन को सभालती है और रूप-यौवन की रक्षा के लिए सतान का भी त्याग कर देती है, यह वैचित्र्य भी दिखाया गया है।[224]

लेखक ने बालक[225] और पशु[226] के मनोविज्ञान का भी सूक्ष्म परिचय दिया है।

इसी प्रकार नारी के प्रति नारी की जातीय प्राकृतिक सहानुभूति,[227] भय,[228] सदेह,[229] मानसिक दाह व जलन,[230] सकल्प-विकल्प,[231] आत्म-स्पर्धा[232] आदि भावो से सबधित मनोविज्ञान का भी परिचय मिलता है। 'कानन-कुसुम' काव्य,[233] 'सलीम' कहानी,[234] 'इरावती' उपन्यास,[235] कामायनी[236] मे भी अनेक सुदर मनोवैज्ञानिक स्थल हैं।

प्रसाद-साहित्य के अनेक पात्रो मे अतर्द्वद्व का भी विधान हुआ है जो मनोविज्ञान से ही सबधित है। पर वह प्रसाद की साहित्यिक दृष्टि व जीवन-दृष्टि से मर्यादित है। वस्तुत अतर्द्वंद्व का समावेश, प्रसाद-पूर्व के साहित्य को देखते हुए, पर्याप्त सतोषजनक मात्रा में दिखायी पडता है। और वह वस्तुत प्रसाद की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में आका जाता है। पाश्चात्य कृतियों में जहा जीवन की तरह साहित्य मे भी सघर्ष या द्वद्व का सर्वोपरि महत्त्व है,[237] द्वद्व या संघर्ष का जैसा स्वरूप मिलता है वैसा प्रसाद जी की कृतियों मे सभवत न मिले। डॉ रामअवध द्विवेदी ने लिखा है कि प्रसाद से पाश्चात्य ढग के अतर्द्वद्व की अपेक्षा करने वालों को सभवत निराश ही लौटना पडेगा।[238] पर जैसी कि आचार्य वाजपेयी की मान्यता है, अधिक मनोद्वद्व साहित्य के प्रकृत क्षेत्र की अपनी वस्तु भी नही अत उसका अभाव कोई गहरी हानि भी नही।[239] इस सबध में हमे इतना हीं निवेदन करना है कि प्रसाद भीषण मनोद्वद्व चित्रित करने की कला से अपरिचित नही। कमला,[240] देवसेना,[241] घटी या विजया,[242] लैला,[243] सुजाता,[244] रोहिणी,[245] चम्पा,[246] मालविका,[247] ध्रुवस्वामिनी,[248] 'आसू' का नायक,[249] बिम्बसार,[250] स्कद,[251] शकटार,[252] चाणक्य[253] आदि पात्रो के चित्रण द्वारा हम पूर्ण आश्वस्त हो सकते हैं कि मनोभावनाओं के प्रचड द्वद्व की प्रसाद सजीव व यथार्थमूलक कल्पना करते हैं। पर ऐसा जान पडता है कि मानव अतकरण की इन प्रचड वृत्तियों को साहित्य में या रगमच पर अपने नग्न रूप में प्रस्तुत करना प्रसाद को इष्ट नही। सभवत प्रसाद का निजी वृत्ति-गाभीर्य भी इसका उत्तरदायी हो। मल्लिका, विजया, यमुना, लैला, देवसेना, चम्पा आदि पात्रों में सृष्टि में प्रलय मचा देने की सभावनाए थी, पर वे दबा दी गयी। मानो प्रसाद को मानव-अतकरण जैसी निसर्ग मनोहर स्थली को ऐसी प्रवृत्तियों का अध अखाडा बनाना सर्वथा असाहित्यिक कर्म जान पडता है। वे आनदवादी हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रश्रय देकर उसे पोषित करना अपने मूल ध्येय की सिद्धि से विपरीत दिशा मे गमन है। इस सिद्धि के लिए क्षमा, गांभीर्य, अहिंसा, पश्चात्ताप जैसे गुणों की ही अधिक गुंजायश है—और

इन गुणों की महत्ता प्रसाद नें सर्वत्र दिखायी है। धीरता, वीरता व गभीरता पुरुष के ये ही मूल गुण कहे गये है। प्रसाद को अतर्द्वद्व उसी सीमा तक इष्ट है जहा तक वे पुरुष के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले उपादानों के घोर विरोध मे न हो। प्रसाद के पात्रो में अतर्द्वंद्व की समाप्ति प्राय जीवन के श्रेष्ठ गुणो व मूल्यो के साक्षात्कार या नवीन विश्वासों से उनके अभिसिचन के साथ होती है।

समीक्षात्मक निष्कर्ष
चरित्र-चित्रण-कला के क्षेत्र में प्रसाद का प्रदेय

अब हम प्रसाद की चरित्र-सृष्टि सबधी उपलब्धि को तात्त्विक व ऐतिहासिक दोनो दृष्टियों से आक सकने मे कुछ समर्थ हैं। चरित्र-चित्रण-कला की श्रेष्ठता का विद्वानों द्वारा सुचितित जो निकष हमने ऊपर प्रस्तुत किया है, उस पर प्रसाद की कला को रखकर देखने से जान पडेगा कि वह परिपूर्ण कला के आदर्श के पर्याप्त निकट है। कला मे पात्रों का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण काव्यगत सत्य और सौदर्य के जिन नियमों के अनुशासन मे होता है, उनकी प्रसाद ने पूर्ण रक्षा की है। कलाकारोचित अभ्यासगत कौशल व सयम दोनों का यथेष्ट प्रदर्शन हुआ है। प्रेमचद अपने सामाजिक-राजनीतिक-मानवीय उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जिस प्रकार पात्रों पर प्राय शासन रखते हैं, प्रसाद में वह उतना नही मिलता—अवश्य 'ककाल' के पात्र इसके अपवाद है। हम इस सयम को चरित्र-सृष्टि की कला का प्रमाण मानते हैं। यो अपने मूल मतव्य की उच्चाशयता में दोनों कलाकार निश्चित ही महान् हैं।

प्रसाद ने चरित्र-चित्रण की एक नई दृष्टि तैयार की है, जिसमें युग-रुचि और विकसित कला की माग—दोनों की सुदर पूर्ति है। रस और चरित्र-चित्रण, दोनों को प्रसाद अधिकाधिक निकट लाये हैं। इस विकसित दृष्टि के प्रकाश मे रची गयी कला विशेष तुष्टिकारिणी हो गयी है। इस नवीन दृष्टि के उन्मेष का श्रेय प्रसाद को विशेष रूप से मिलना चाहिए।

ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से देखने पर प्रसाद की उपलब्धि अत्यत महत्त्वपूर्ण जान पडेगी। चरित्र-चित्रण की आधुनिक शास्त्र-विहित अधिकाधिक तटस्थता वाली प्रणाली का प्रसाद ने उपयोग किया। भारतेन्दु-युग व द्विवेदी-युग से प्रसाद निश्चय ही बहुत आगे हैं। पात्रो के माध्यम से घटनाओं द्वारा कथा-विकास की अपेक्षा पात्रों की मूल मनोवृत्तियों के क्रियाकलाप से कथा-विकास अधिक प्रभावशाली व कलात्मक होता है। प्रसाद में स्थूल जगत् की घटनाओं के प्रति विशेष आकर्षण नही। जहा मनोजगत् की सूक्ष्म घटनाओं के माध्यम से चरित्र-विकास हुआ है, वहा प्रसाद की कला अत्यत उच्च हो गयी है। यह उच्चता हिंदी चरित्र-चित्रण कला के विकास को सूचित करती है। प्रसाद ने पात्रों के चतुर्दिक् या परिपूर्ण विकास पर अधिक बल दिया है। ऐसे विकास में भावात्मक व कल्पनात्मक विकास के पक्ष छूट नही सकते। पूर्ण विकास न तो कोरी तार्किकता से प्राप्य है और तत्त्व अनिवार्य रूप से जुड़े हैं। रस और आनद के स्रष्टा प्रसाद पात्रों को यह रूप प्रदान किये बिना रह न सके। रस के व भावुकता-कल्पना के गहरे स्रोतों से सबंधित होने के कारण ही प्रसाद के कुछ पात्र उनकी अमर सृष्टिया बन गये हैं।

लघुता में महानता के उद्‌घाटन करने में उनका उत्साह प्रेमचद जैसा ही है। पात्र-सृष्टि के द्वारा जीवन के श्रेष्ठ-सर्वोच्च मूल्यों की स्थापना या पुनर्स्थापना के प्रयास में भी प्रेमचद के

साथ दिखायी पडते है, अवश्य दोनो ही प्रणालियो में कुछ भेद दिखायी पड जायेगा।

ऐतिहासिक पात्रो के निर्माण मे प्रसाद ने जो अपनी गभीर व दीर्घ ऐतिहासिक दृष्टि तथा उसके माध्यम से जीवन-व्याख्या का जो प्रयास किया है, वह भी पात्र-सृष्टि के क्षेत्र की एक बहुमूल्य देन समझी जायेगी।

पर प्रसाद के कुछ अभाव भी स्पष्ट है। उनके पात्र अत्यत दुर्बल है। आरभिक रचनाओ तथा गद्य गीतो-सी कहानियो के पात्र तो प्राय स्थिर, निर्जीव या प्रभावहीन हैं। अनेक पात्र—जैसे, सुदर्शन (आकाश), कालिदास, श्रद्धा, आचार्य मिहिरदेव, व्यास, गौतम, प्रेमानद, दाण्ड्यायन, प्रख्यातकीर्ति आदि प्रवचनकर्त्ता मात्र से है। बहुत से पात्र जीवनधारा के तटस्थ दर्शक मात्र हैं। उनमे जीवन-स्पदन का अभाव है।

पर सब-कुछ मिलाकर देखने पर प्रसाद का ऐतिहासिक व तात्त्विक योगदान अत्यत विशिष्ट है। उन्होने चरित्र-चित्रण की कला को जहा पाया, वहा से उसे वे निश्चित ही बहुत आगे ले गये हैं।

संदर्भ

1 L Abercrombie Principles of Literary Criticism, p 102 द्रष्टव्य
2 "The assumption is strikingly at variance with the assumption of many dramatic critics who regard a dramatic first and foremost as a creator of character"—Ibid, p 102
3 A R Entwistle The study of Poetry, p 87
4 Ibid p 87, द्रष्टव्य
5 "The foundatian of good fiction is character-creating and nothing else" (Arnold Bennett)—Dictionary of World Literature, p 5
6 प्रेमचद का 'उपन्यास' नामक लेख।
7 श्यामसुदरदास, 'साहित्यालोचन', पृ 118
8 बाबू गुलाबराय, 'सिद्धात और अध्ययन'।
9 डॉ नगेन्द्र 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', भूमिका, पृ 163
10 बाबू गुलाबराय, 'सिद्धात और अध्ययन', पृ 92 डॉ बच्चन सिंह, 'हिंदी नाटक', पृ 244
11 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 137-138
12 वही, पृ 139-141
13 वही, पृ 142
14 श्री शचीरानी गुर्टू द्वारा सपादित 'प्रेमचद और गोर्की' में डॉ नगेन्द्र का लेख।
15 तारा, विजय, देवसेना, मालविका का चरित्र।
16 चाणक्य, हर्ष, राज्यश्री, दाण्ड्यायन का चरित्र।
17 मल्लिका का चरित्र।
18. 'देवदासी' कहानी के पुजारी का चरित्र।
19 पर्णदत्त, बन्धुवर्मा, अलका, सिंहरण, चाणक्य का चरित्र, भटार्क की मा (कमला), स्कदगुप्त, चद्रगुप्त, मधूलिका ('पुरस्कार' कहानी)।
20 चाणक्य, मल्लिका का चरित्र।
21 गौतम, दाण्ड्यायन व श्रद्धा का चरित्र।
22 गौतम, मधुआ, सलीम, गूदड़ साई का चरित्र।
23. देवसेना, लैला, रोहिणी ('ग्रामगीत' कहानी) का चरित्र।

24 ममता का चरित्र।
25 सुदर्शन ('समुद्र-सतरण' कहानी), हिमालय का पथिक, कमला का चरित्र।
26 गुडा का चरित्र।
27 प्रताप का चरित्र (महा)।
28 तितली का चरित्र।
29 सालवती, विजया व कमला का चरित्र।
30 देवनिरजन, 'तितली' का महत व काश्यप ('जनमेजय का नागयज्ञ' मे) का चरित्र।
31 'छोटा जादूगर' का चरित्र।
32 देवदासी, इरावती और सुजाता ('देवरथ' का चरित्र)।
33 'ककाल'।
34 'व्रतभग' कहानी की नायिका का चरित्र।
35 'चदा' और 'गुलाम' कहानिया, ' चद्रगुप्त' के शकटार का चरित्र।
36 अनत देवी।
37 भटार्क (स्कद)।
38 अधा कामदेव (ककाल)।
39 रामगुप्त (ध्रुव)।
40 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 82-83
41 वही, पृ 84
42 वही, पृ 95
43 वही, पृ 96
44 वही, पृ 116
45 वही, पृ 117
46 वही, पृ 119
47 अमरनाथ (मदन मृणालिनी), कलश, धनदत्त (इरावती), धनजय (व्रतभग), श्रीचद्र (ककाल)।
48 जीवक (अजातशत्रु), 'सालवती' कहानी।
49 महगू महतो (तितली)।
50 आनद (एक घूट)।
51 प्रज्ञासारथि (आधी), तितली, रामनाथ, मगल, चिदबरम्।
52 उत्तक, 'रूप की छाया' का शैलनाथ, 'मधुआ' कहानी मे ठाकुर सरदार सिंह का लडका।
53 शबनम का बाप (ककाल), रामप्रसाद ('तानसेन' कहानी)।
54 बाथम व विजय (ककाल), 'कला' कहानी में रूपदेव।
55 मलूकी कथक ('गुडा' कहानी)।
56 रहमत खा ढाढी (ककाल), बल्लू ('गुडा' कहानी)।
57 भूरे ('इद्रजाल' कहानी)।
58 'चद्रगुप्त' नाटक, 'इरावती उपन्यास', 'इद्रजाल' कहानी।
59 देवनिरजन (ककाल), 'तितली' में महत जी।
60 ककाल, इरावती मे महाकाल के मदिर का पुजारी बृहस्पतिमित्र।
61 'इरावती' उपन्यास, कपिजल ('व्रतभग' कहानी), महास्थविर ('देवरथ' कहानी)।
62 'वैरागी' कहानी।
63 जान (ककाल)।
64 प्रताप (महा), शेरसिंह (लह), सिंहरण (चद्र), बधुल (अजात) आदि।
65 'हिमालय का पथिक' का पर्यटक, कुमारदास (स्कद)।
66 'बनजारा' (आकाश)।
67 बिसाती (आकाश); 'चूड़ीवाली' कहानी।
68 ब्रजराज ('भीख में' कहानी)।
69 'छोटा जादूगर' कहानी का नायक।

70 नवाव ताग वाला (ककाल)।
71 मन्नू तमोली ('गुडा' कहानी)।
72 रघुनाथ महाराज ('अमिट स्मृति' कहानी)।
73 'अपराधी' कहानी, इरावती, पृ 94 'पाप की पराजय' कहानी, लुब्धक (अजात)।
74 चदुला (एक घूट)।
75 रगैया (अनबोला कहानी); रहीम (तितली)।
76 रामू ('सुनहला साप' कहानी)।
77 रामसिह (तितली), नत्थू (तितली)।
78 'छोटा जादूगर' तथा 'इद्रजाल' कहानिया।
79 मिसिर (तितली); जगन्नाथ ('अघोरी का मोह' कहानी)।
80 बुद्धगुप्त (आकाश), शातिदेव (विकटघोष), ककाल, गाला का बाप (ककाल)।
81 मणिभद्र (आकाश)।
82 'तितली' के अनेक पात्र।
83 अनेक रचनाओ म।
84 अनेक नाटकीय रचनाओ में।
85 परिचारक—दास, कलुवा (आधी), केयूरक (इरा)।
86 अनेक नाटकीय रचनाआ मे।
87 ककाल।
88 नाटको म अनेक चर आदि।
89 मादाम तातारी ('नूरी' कहानी)।
90 ककाल (न्यायालय में)।
91 'ग्राम' कहानी, 'मधुआ' कहानी, चद्रदेव ('सुनहला साप') कहानी।
92 'सलीम' कहानी म लेखराम।
93 'अजातशत्रु' मे 'दीर्घकारायण' के माध्यम से प्रसाद के विचार।
94 द्रष्टव्य सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रश की रचनाए । पाश्चात्य साहित्य की रचनाए।
95 T Marvell Thoughts in Garden'—Ode
96 काव्यदर्श।
97 साहित्यदर्पण।
98 डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा, 'प्रसाद' के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन', पृ 247
99 "An estimate of any dramatic character based on his own part in the play is bound to be misleading and incomplete one must watch the behaviour of others towards him —W B Entwistle The study of Poery, p 88
100 An Introduction to the study of Literature, p 146, Dictionary of World Literature, p 91
101 Two ways of presentation (1) Directly telling personal qualities—This method is most frequent for minor figures Direct description or exposition has the advantage of intant clarity though sometimes it is used cummulatively, gradually building up a full portrait The cummulative method is more frequent indeed is almost inescapable in characterisation through action This has the further advantage of allowing the receptor to form his own conclusions This sense of self-activity also draws the receptor more fully into the flow of tale (2) Through action—personal deeds —Dictionay of World Literature, p 51-52
102 An Introduction to Study of Literature p 147-148, 190-191
103 विशेष रूप से नाटकीय पात्रो में द्रष्टव्य।
104 कहानियों, उपन्यासों व नाटकों में सर्वत्र प्राप्य।
105 स्कदगुप्त, मालविका, देवसेना आदि पात्रों में द्रष्टव्य।

106 मुख्यत नाटको मे। इस प्रबध मे सौंदर्य तथा कल्पना से सबधित प्रकरणो मे विशेष निरूपण किया गया है।
107 विशेषत नाटको व कहानियो मे, विशेष—इस प्रबध का भाव व रस-विषयक प्रकरण द्रष्टव्य।
108 देवसेना, ध्रुवस्वामिनी, देवनिरजन, विजय, यमुना आदि पात्रो मे।
109 'ककाल' में यमुना (हरिद्वार मे मगल के यहां) का चरित्र।
110 'तितली' मे मधुबन की बहिन 'राजकुमारी' के चरित्र मे द्रष्टव्य।
111 'उसे दिखाती जगती का सुख, हसी और उल्लास अजान।
मानो तुग तरग विश्व की हिमगिरि की वह सुघर उठान॥'—कामायनी, आशा सर्ग
112 डॉ नगेन्द्र, कामायनी के अध्ययन की समस्याए, पृ 17
113 W H Hudosn An Introduction to the Study of Literature p 151
114 L Abercrombie Principles of Literary Criticism p 102
115 An Introduction to the Study of Literature p 152-53
116 डॉ श्यामसुदरदास साहत्यालोचन, पृ 165-66
117 For they have these numerous parallels with people like ourselves they try to live their own lives and are consequently often engaged in treason against the main scheme of the book They run away they get out out of hand they are creations inside a creation and often inharmoniours towards it if they are given complete freedom they kick the book to pieces, and if they are kept too sternly in check, they revenge themselves by dying and destroy it by intestinal decay —Aspects of the Novel, p 64
118 फॉर्स्टर ने इसे ही 'Round Charactensation' कहा है।
119 Ibid , p 65
120 चिंतामणि—भाग 1, पृ 319-20 द्रष्टव्य।
121 सिद्धात और अध्ययन, पृ 90
122 प रामचद्र शुक्ल, 'चिंतामणि', भाग 1 में 'साधारणीकरण और व्यक्ति—वैचित्र्यवाद' नामक लेख।
123 अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 108-109
124 बाबू गुलाबराय, 'सिद्धात और अध्ययन', पृ 90
125 वही, पृ 90
126 आचार्य नददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ 102
127 'ककाल' का मगल।
128 विजय (ककाल); मालविका (चद्र.)।
129 'ककाल' का विजय, 'देवरथ' की सुजाता
130 वि दे—हमारा लेख 'प्रसाद के नाटक' (सेठ गोविंददास अभिनदन ग्रथ)।
131 स्कद. 115, 135
132 स्कद., 111 143-44
133 अजात, 121, 130
134 वही, पृ 126 128
139 वही, पृ 95
136 जनमे, पृ 94
137 वही, पृ 104
138 विशाख।
139 स्कद., पृ 135
140 प्रलय की छाया (लहर)।
141 कामायनी, निर्वेद सर्ग।
142 इद्रजाल।
143 कामायनी।
144 राज्यश्री, पृ 69

145 'प्रायश्चित' नाटक।
146 राज्यश्री, पृ 68-69
147 ककाल, पृ 292
148 राज्यश्री, पृ 42
149 विशाख, पृ 89 90 92
150 इद्र, पृ 24
151 An Introduction to the Study of Literature, p 190-91
152 Ibid p 337
153 The Study of Poetry p 88
154 Aspects of the Novel p 43-44
155 ' A full characterisation will present concrete detail is likely to emphasize a dominant trait—one quality that colors all the rest—and will build within the person a synthesis of individual typical and universal characters '—Dictionary of World Literature, p 51
156 The perfect dramatist rounds up his characters and facts within the ring-fence of a dominant idea which fulfils the craving of his spirit —The study of Poetry p 88
and what he is expressing is the idea of life which inspires him —Principles of Literary Criticism p 102
' Character appears to include any outward manifestation of the will ' (Aristotle) —quoted from W B Worsfold Principles of Criticism, p 43
157 साहित्यालोचन, पृ 118-165
158 सिद्धात और अध्ययन, पृ 90
159 तितली, पृ 29 77 143 219 इरा, पृ 23 64 ककाल, पृ 10 23 77 94, 129 180 202 'पाप की पराजय' कहानी, छाया, पृ 11 आकाश, पृ 1 27, 55, 144, 158, 160, इद्र, 6, 26 60, आधी, पृ, 23 76 कामायनी, 237
160 स्कद (सखी-देवसेना), पृ 96-97, 104
161 जनमेजय, 78 कामना, 109 अजात, 131
162 स्कद, 123-125 जनमे, 4 6 79 छाया, पृ 38
163 वही, 138 (मातृगुप्त)।
164 वही, 96-97 104 118
165 'पाप की पराजय' कहानी, आकाश, पृ 55, 99 112 126 इद्र, पृ 34, 126, 128-131 135
166 'सज्जन', 'प्रायश्चित', विशाख, पृ 13
167 अजात, 25 30 88
168 विशाख, पृ 14
169 वही, पृ 33, 57 58
170 अजात, पृ 93
171 'उस पार का योगी' कहानी।
172 'करुणा की विजय' कहानी, 'कामायनी' व 'कामना' में पात्रो के बीच।
173 कामायनी, कुमार का वक्तव्य, पृ 234
174 अजात, स्कद, चद्र, धुव, 'कामायनी', 'प्रलय कहानी', 'कला' कहानी आदि मे अनेक स्थलो पर।
175 'प्रायश्चित', 'आधी' और 'शरणागत' कहानिया।
176 नाटकीय न होकर वर्तमान गद्य काव्य के खड हो गये हैं। प रामचद्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ 663, तथा प जगदीशनारायण दीक्षित प्रसाद के नाटकीय पात्र, पृ 13
177 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 117-119
178 R A Scott James The Making of Literature, p 372, ō,,JÙe, W H Hudson An Introduction to the Study of Literature p 151

179 आचार्य नददुलारे वाजपेयी हिंदी साहित्य—बीसवी शताब्दी, पृ 281
180 आचार्य नददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, पृ 280
181 तितली, पृ 88
182 वही, पृ 115, 123 125 126 128 130 139, 144 147 153 213 215 216 ककाल, पृ 158 (घटी की भयकर स्थिति), स्कद, पृ 110 111 134 पर विजया व स्कद की मन स्थिति, चद्र, पृ 72 'लहर' मे 'प्रलय' की छाया मे कामना की मन स्थिति।
183 तितली, पृ 192, 193
184 अजात, पृ 80
185 ककाल, पृ 58, 59
186 वैरागी कहानी।
187 आकाशदीप, पृ 95, ककाल, पृ 91
188 'प्रतिध्वनि' कहानी की विधवा।
189 कमल (लहर), सालवती, मागन्धी, विजया।
190 तितली, पृ 49, 257 263
191 'आकाशदीप' कहानी का आरभ।
192 ककाल, पृ 165 221, इरावती, पृ 87
193 ध्रुवस्वामिनी, पृ 13-14, 'गुलाम' कहानी।
194 तितली-मधुबन का बालक मोहन।
195 'प्रणय चिह्न' कहानी 'आधी' कहानी मे प्रज्ञासारथि।
196 ककाल, पृ 119, गासा का नये वस्त्रो के प्रति आकर्षण।
197 आधी, पृ 26
198 समुद्र सतरण, पृ 101
199 स्कदगुप्त, पृ 34
200 ककाल, पृ 158
201 अजातशत्रु, पृ 90
202 वही, पृ 93
203 इद्रजाल, पृ 9 92, 94
204 'गुलाम' कहानी।
205 'पुरस्कार' कहानी।
206 'चित्रवाले पत्थर' कहानी।
207 'पुरस्कार' कहानी।
208 ककाल, 274
209 'पुरस्कार' कहानी।
210 'देवदासी' कहानी, चद्र., प. 213
211 स्कद, पृ 91
212 वही, पृ 51
213 तितली, पृ 93
214 चद्र, पृ 109
215 ककाल, पृ 44, 'कलावती की शिक्षा' कहानी।
216 आसू, पृ 15
217 ध्रुव, पृ 41 68
218 'रमला' कहानी, चद्र., पृ 158
219 तितली, पृ 151 157, 177, 249 251, ककाल, पृ 38, आकाश., पृ 10, 76, इद्र., पृ 60, 66
220 ककाल, पृ 18, 20, तितली, पृ 43
221 इरा., पृ 36, 86-87

222 इद्र, पृ 8 कामना, पृ 6 7 23 'पुरस्कार' कहानी ।
223 अजातशत्रु, पृ 88 (मागन्धी), ककाल, पृ 158 (घटी) ।
224 'सालवती' कहानी ।
225 तितली, पृ 265 266 268 274 ककाल, पृ 13 132 'अनबोला' कहानी, आधी, पृ 28 'मधुआ', 'भीख' व 'मृणालिनी' कहानिया ।
226 इरा, पृ 61 ककाल, पृ 224 262 294 तितली, 9 आधी, पृ 25 'चूड़ीवाली' कहानी ।
227 तितली, पृ 75
228 'चित्रवाले पत्थर' कहानी ।
229 'सदेह' कहानी ।
230 'चित्रवाले पत्थर' कहानी ।
231 'नूरी' कहानी ।
232 लहर, पृ 64
233 काव्य-कुसुम, पृ 43 47 49
234 इद्र, पृ 22
235 इरा, पृ 67 92 102
236 मुख्यत 'लज्जा' सर्ग ।
237 साहित्यालोचन, पृ 136-137
238 'प्रसाद' (प्रसाद-विशेषाक, काशी) मे डॉ रामअवध द्विवेदी का लेख ।
239 आधुनिक साहित्य ।
240 लहर (प्रलय की छाया), पृ 68
241 स्कद, पृ 153
242 कु ।
243 'आधी' कहानी ।
244 'देवरथ' कहानी ।
245 'ग्रामगीत' कहानी ।
246 'आकाशदीप' कहानी ।
247 ध्रुव, 13, 14 70
248 अजात, पृ 88, 90
249 स्कद के अनेक दृश्य ।
250 चद्र, पृ 159
251 वही, पृ 67 83, 158
252 वही, पृ 186
253 'आसू' का नायक ।

पचम प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में इतिहास, सभ्यता व संस्कृति

प्रकरण-प्रवेश

प्रकरण-सबध

अब प्रसाद-साहित्य के इतिहास-पक्ष का अध्ययन प्रसग-प्राप्त है। प्रस्तुत प्रकरण प्रबध की योजना मे क्यो आवश्यक है, इसके स्पष्ट कारण हैं। इतिहास के अतर्गत निहित सामग्री साहित्य के विषय अथवा वस्तु का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण अग या स्थायी स्रोत है। प्राचीन साहित्याचार्यों ने, जैसा कि आगे बताया जाएगा, इतिहास को साहित्य की सामग्री के रूप मे ग्रहण करने पर विशेष बल दिया है। फिर, इतिहास, स्वय प्रसाद ने अपना सदेश अथवा जीवनालोचन प्राय इतिहास-पुराण के माध्यम से ही दिया है, अत उस माध्यम की उपेक्षा नही की जा सकती। अपने युग के वृत्त का अभिधा के द्वारा प्रस्तुतीकरण प्रसाद को न रुचा, क्योंकि एक तो वर्तमान का निरावरण तथ्य-कथन स्वभावत सहृदयो के लिए अरुचिकर होता है, और दूसरे, अभिधात्मक तथ्य-कथन की अपेक्षा युग को ध्वनित करनेवाली व्यजना मे पाठकोचित आनद अनुरजन की अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट सभावनाए रहती है। कोरे वार्ताकार न बनकर प्रसाद ने प्राय इतिहास के सहारे ही रसात्मक साहित्य-कर्म करना उचित समझा, जैसा कि साहित्यकार के गौरव के उपयुक्त है, फिर[1] प्रसाद की साहित्य-धारणा का समस्त प्रासाद अध्यात्म की नीव पर खडा है।[2] अत मूल धारणा के व्याख्यान के लिए विशेष रूप मे प्रयुक्त इस सामग्री की उपेक्षा सभव नही। फिर हमारा वर्तमान अतीत की नीव पर ही तो खडा है। साहित्यकार मानव-जीवन का सशक्त व्याख्याता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने स्पष्ट ही कहा है कवि को 'जीवन'—इस महान् शब्द को कभी नही भूलना चाहिए।[3] पर जीवन तो एक अविच्छिन्न प्रवाह है, वह किसी व्यक्ति-विशेष की चेतना तक ही सिमटा हुआ नही। अत स्वाभाविक ही है कि जीवन को समग्रता मे लेकर ही साहित्यकार जीवन-तत्त्व की व्याख्या करे। इस दृष्टि से देखने पर, इस कार्य के लिए इतिहास का ग्रहण अनिवार्य हो उठता है।

प्रकरण के नामकरण की सगति

साहित्य जब इतिहास को ग्रहण करता है, तब उसका सबध कथानक आदि के लिए घटनावली और पात्रो को लेने जैसा स्थूल नही है, घटनावली और पात्र के निमित्त से अतीत युगों की जो अपेक्षाकृत गहनतर सपत्ति साथ-साथ लगी चली आती है, वह है अतीत की सभ्यता और संस्कृति। वास्तव में, इतिहास, सभ्यता और सस्कृति तीनों परस्पर घनिष्ठतम

रूप से सबद्ध है। इतिहास तो अपने शुद्ध रूप मे घटनाओं का एक स्थूल ढाचा-मात्र है, सभ्यता ओर मस्कृति ही उसकी वास्तविक अतश्चेतना है। इतिहास बाह्य स्थूल घटनाओ का एक प्रवाह मात्र हे, जिसमे सभ्यता और सस्कृति का रस प्रवाहित होता है। सभ्यता और सस्कृति से रहित इतिहास से हमारा और हमारी जाति का कोई अतरग या घनिष्ठ सबध नही। यदि इतिहास हमारी जाति या जातीय जीवन की कहानी है तो सभ्यता हमारी जाति का वह दीर्घकालीन सामूहिक उद्योग है, जिसके द्वारा हमने योगक्षेम के लिए अपने बाह्य जीवन को सुडौल, व्यवस्थित एव समुन्नत किया है। पर इस बाहरी व्यवस्था को भी हमने अपने आप मे एक बहुत बडी चीज न मानकर उसे उच्चतर या उच्चतम जीवन का साधनभूत पात्र माना है। यह उच्चतम या आतरिकतम जीवन ही हमारी सस्कृति है। सभ्यता सास्कृतिक चेतना का आवश्यक बाहरी उपादान या आवरण मात्र है। एक स्नेहपूर्ण मिट्टी का दीप है तो दूसरा रस-सिक्त आलोकमयी ज्वाल। इस प्रकार इतिहास, सभ्यता और सस्कृति तीनो परस्पर एक-दूसरे से गुथे हुए हैं और तत्सबधी विवेचन के लिए उनका एकसाथ रखा जाना सर्वथा उपयुक्त जान पडता है।

विषय-सीमा

शोध-स्तर पर साहित्य मे इतिहास का अध्ययन दो प्रकार से हो सकता है (1) साहित्यगत व्यक्ति (पात्रों), घटनाओ के आलोक मे परीक्षण और नवीन तथ्योद्घाटन तथा (2) साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक पात्रो, घटनाओ व स्थितियो को यथावत् स्वीकार करते हुए स्थूल इतिहास के माध्यम से निवेदित वस्तु के द्वारा गभीरतर जीवन-तथ्यो, प्रेरणाओ व उद्देश्यो का उद्घाटन व स्पष्टीकरण, अर्थात् स्थूल ऐतिहासिक तथ्यो में से सूक्ष्म जीवन-सत्यों का व्याख्यान-विश्लेषण। प्रस्तुत अध्ययन मे दोनों पक्षो का युगपत निर्वाह सभव नही। प्रथम पक्ष पर डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा, डॉ जोशी तथा डॉ परमेश्वरी गुप्त आदि विद्वानो ने अपना विद्वत्तापूर्ण अध्ययन किया है प्रस्तुत अध्ययन मे मैंने अपने आपको मुख्यत व्याख्यान और विश्लेषण तक ही सीमित रखा है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता की जाच-पडताल का पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन की एक सर्वथा स्वतत्र शाखा है, जिसकी ओर गमन इतिहास मे सहज रुचिशील विद्वानो का ही विशेष अधिकार होना चाहिए। इतिहास के माध्यम से प्रसाद ने जो सूक्ष्म साहित्यिक-सास्कृतिक अवदान दिया है, उसके मर्म का अन्वेषण करने मे ही मैं विशेष सलग्न रहा हू। अपनी इस मर्यादा का सहज स्वीकार आरभ में ही आवश्यक था।

साहित्य और इतिहास

इतिहास का स्वरूप

इतिहास का स्वरूप : इतिहास यों तो प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, सस्था, जाति, स्थान आदि सभी का हो सकता है, पर सामान्यत 'इतिहास' शब्द से किसी देश के प्राचीनतम युग से लेकर वर्तमानयुग तक की राष्ट्रीय, सामाजिक या सास्कृतिक घटनाओं के क्रमबद्ध प्रवाह का एक रेकॉर्ड या लेखा ही

समझा जाता है। 'इतिहास' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—इति+ ह+आस= अर्थात्, निश्चयपूर्वक ऐसा ही था। यह निश्चय ठोस वास्तविकता को सूचित करता है। इस प्रकार इतिहास मे घटनात्मक तथ्यो की प्रधानना रहती है। पर इतिहास के मर्मियो ने सपूर्ण मानव-जीवन व मानव-ज्ञान के व्यापक प्रसग मे इतिहास के स्थान और महत्त्व की जो व्याख्या की है, उससे उसके सूक्ष्म व यथार्थ स्वरूप का मार्मिक उद्घाटन होता है। इतिहास के अध्ययन को वैज्ञानिकता प्रदान करनेवाले अर्वाचीन यूरोप के प्रथम महापडित वाल्तेयर की धारणा है कि इतिहास मे कोरे तथ्य ही सब कुछ नही है, इतिहास को मानव-मस्तिष्क के विकास का और मानव-सुख के लिए सचालित आदोलनो और शक्तियो-प्रेरणाओ का ही अध्ययन करना चाहिए।[4] वे मानते है कि दार्शनिको को ही इतिहास लिखना चाहिए, क्योकि वे ही जीवन-तत्त्व की सच्ची व्याख्या करने मे समर्थ है।[5] क्रोचे इतिहास को सर्वोच्च महत्त्व देते है।[6] आधुनिक युग के मूर्धन्य इतिहासकार टायनबी की धारणा है कि हम इतिहास के अध्ययन के द्वारा ही अपने युग को अधिक अच्छी तरह समझ सकते है।[7] सुप्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार डॉ ताराचद आत्मा और अध्यात्म की भूमिका पर ही इतिहास की मूलवर्तिनी व्याख्या करते है। वे लिखते है—"इतिहास का ज्ञान इन आध्यात्मिक प्रेरको का ज्ञान है। इतिहास को जानना अपने को जानना है और इस जानने से बढकर किसी ज्ञान का मूल्य नही। इतिहास की खोज आत्म की जिज्ञासा है।"[8] इस प्रकार उनकी दृष्टि मे इतिहास में तथ्य ओर कल्पना का सामजस्य होता है, क्योकि कोरे भौतिक या निर्जीव तथ्यो से आत्मा की अग्नि उत्पन्न नही हो सकती है।[9] इतिहास का काव्यात्मक उपयोग आचार्य शुक्ल को भी यथापूर्व मान्य जान पडता है। उन्होने भी इतिहास की आत्मपरकता स्वीकार की है—"मानव-जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखड परपरा के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता, अखडता और व्यापकता का आभास देती है।"[10]

इतिहास देश और काल मे घटित होनेवाला अविच्छिन्न घटना-प्रवाह है। देश भूगोलशास्त्र का आधार है और काल इतिहास का। काल के अभाव मे इतिहास की कल्पना भी नही की जा सकती। इतिहास-तत्त्व के दार्शनिक मर्म को समझने के लिए काल की व्याख्या आवश्यक है। भारतीय दर्शन के न्याय-वैशेषिक व शैवागम दर्शन मे 'काल' पर विचार किया गया है। तर्कशास्त्र के अनुसार 'काल' प्रमेयों के अतर्गत परिगणित है। तर्क-भाषाकार ने काल का निरूपण करते हुए लिखा है—*"कालोऽपिदिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेय। सख्यापरिमाण-पृथकत्वसयोगविभागवान्। एको नित्यो विभुश्च।"*[11] अर्थात्, दिक् (स्थान, देश) तत्त्व या प्रमेय के विपरीत परत्व-अपरत्व रूप से अनुमेय होता है। उसमे सख्या, परिमाण, पृथकत्व, अपृथकत्व, सयोग और विभाग होते है। पर वस्तुत वह एक है, नित्य है और विभु है। काल के जितने भेद है, वे माया के विकार से उत्पन्न हो जाते है। कणाद और गौतम के पदार्थानुशासन के अनुसार काल का निरूपण इस प्रकार है—*"परमपर युगपच्चिर क्षिप्रमित्यादि-व्यवहार-हेतु काल"*[12] इसका आशय भी ऊपर दिये गये आशय से मूलत भिन्न नही है।

शैवागम दर्शन मे 'काल' इस दर्शन के 36 तत्त्वो मे से सातवा तत्त्व है जो आत्मा के पच कचुकों मे (कला, विद्या, राग, काल, नियति) गिना गया है। आत्मा वस्तुत सब बधनों से मुक्त परम शिवरूप है। सर्वकर्तृत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व उसका वास्तविक रूप है किंतु उक्त कचुको के कारण वह सीमित हो जाता है।[13] आत्मा वस्तुत विभु है, किंतु इन कचुकों से परिबद्ध होकर माया के कारण वह अपने को भूत, भविष्य व वर्तमान

से संबद्ध करके देखने लगता है और विभु से अणु होकर सीमित हो जाता है और इस प्रकार अपने मूल स्वरूप से दूर हो जाता है।[14] जब तक इन कंचुकों को साधना द्वारा उतारकर फेंक न दिया जाये, तब तक आत्मा को अपनी अखंडता व पूर्णता की अनुभूति नहीं होती। काल कंचुक आत्मा के नित्यत्व को संकुचित करनेवाला है। इसी के कारण जीव अपने को अनित्य मानने लगता है।

वेदांत दर्शन के अनुसार भी आत्मा पूर्ण, शुद्ध व निर्विकार है। शांकर वेदांत में देश-काल की कल्पना माया-जनित कही गयी है। देश और काल अयथार्थ हैं, आत्मा की उपाधियां हैं। वे आत्मा के ही अंतर्गत हैं, उनकी भिन्न सत्ता किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं। देश-काल काल्पनिक प्रतीतियां हैं, वे अद्वैत सिद्धि को किसी भी प्रकार व्याघात नहीं पहुंचातीं।[15]

तात्पर्य यह कि एक ओर तो काल आत्मा को सीमित करनेवाला है और दूसरी ओर वह वास्तविक नहीं, माया की उपाधि मात्र है और आत्मा के शासन में ही रहता है, क्योंकि आत्मतत्त्व ही चरम नियंता है, काल अपनी सत्ता के लिए अन्य अमर तत्त्व पर आश्रित है। उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि-रचना के पूर्व काल नहीं था।[16] इस प्रकार काल शाश्वत या अविनाशी तत्त्व नहीं है; वह अचिर, परिवर्तनशील व भंगुर है। इसको लांघकर अमर तत्त्व की प्राप्ति ही काम्य और वरेण्य है।

कवि और साहित्यकार के इस पर्दे को फाड़कर आत्मा का दर्शन करते हैं और कराते हैं। रस की अनुभूति में आवरण-भंग[17] होता है और देश-काल-कल्पना व संबंध-कल्पना सर्वथा तिरोहित या विलीन हो जाती है। वस्तुतः इतिहास आत्मानुभूति का ही एक अखंड व विराट् प्रयत्न है। प्रसाद ने इतिहास की मर्मभेदिनी व तलवर्ती दृष्टि पायी है, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता।

इतिहास की कार्य-पद्धति

साहित्य और इतिहास दोनों ही सत्य के शोध में निरत हैं। पर 'सत्य' बड़ा व्यापक है। इसकी व्यापकता को प्रयोग-रूप में समझते समय प्लेटो जैसे महान् दार्शनिकों को भी भ्रांति हो गयी। वे नैतिक सत्य और कलागत सत्य का भेद करने में न्याय न कर सके। वस्तुतः सत्य केवल प्रकृति का यथातथ्य चित्र या फोटोग्राफी ही नहीं है। दार्शनिक, वैज्ञानिक और इतिहासकार का सत्य मुख्यतः तथ्य (factual truth) तक सीमित रहता है, जबकि साहित्यकार का 'सत्यं-शिवं-सुंदरम्' की समष्टि है। सत्य के प्रति यही दृष्टि-भेद साहित्य व इतिहास की कार्य-पद्धति के अंतर को शासित व रूपायित करता है। इतिहास की कार्य-पद्धति है—वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार अधिकाधिक प्रमाण-संग्रह द्वारा अतीत घटनाओं का अध्ययन करके निष्पक्ष भाव से एक तथ्य स्थिर कर देना। इतिहासकार और साहित्यकार—दोनों ही यदि इतिहास के किसी एक युग को लें तो भी प्रक्रिया-भेद व लक्ष्य-भेद से सामग्री के उपयोग के स्वरूप में अंतर पड़ जाता है। इतिहासकार घटित स्थूल घटना पर अधिक बल देता है, जबकि साहित्यकार उसमें से प्रकट होनेवाली सार्वभौम चेतना को।[20] इतिहासकार वैज्ञानिक निर्ममता के साथ अपने तथ्योद्घाटन में प्रवृत्त रहता है, जबकि साहित्यकार मानवीय सहानुभूति को साथ लेकर ही अपना कार्य करता है।[21] तात्पर्य यह कि

इतिहास का सत्य वस्तुपरक होता है जबकि साहित्यकार का सत्य भावपरक। साहित्यकार अविश्वसनीय सभावना की अपेक्षा विश्वसनीय असभावना को तरजीह देकर चलता है।[22] इन मूल दृष्टि-बिदुओ के अतर के आधार पर साहित्यकार व इतिहास- कार—इन दोनो के द्वारा इतिहास-ग्रहण के ढग या पद्धति के अतर को स्पष्टतया समझा जा सकता है।

इतिहासकार स्थूलत केवल अतीत से सबध रखता दिखायी देता है, किंतु वह केवल निमित्त मात्र है। वास्तव मे तो वह सत्य का पुजारी बनकर, सत्य के अन्वेषण व परिपोषण की भावना से यथार्थ की कठोर भूमि पर खडा होकर, वर्तमान के दृष्टिकोण से अतीत घटनाओ, समस्याओ व सस्थाओं, विधियो, घटना-क्रमो व प्रगतियों का निष्पक्ष शुद्ध वस्तुनिष्ठ अध्ययन करके वर्तमान को सवारता है और अप्रत्यक्ष रूप से भविष्य-निर्माण मे योगदान करता है। यही इतिहासकार की त्रिकालज्ञता है।

साहित्यकार इतिहास की वही सामग्री लेकर अपने विशिष्ट मनोविधान, साहित्य की पद्धति, और लक्ष्य (रस) के कारण जो सृष्टि करता है वह भिन्न प्रकार की होती है वह स्थूल ऐतिहासिक रेखा-जाल मे व्यक्तिगत भावना, मानवीय सहानुभूति व रमणीय कल्पना—इन सबके रस-रग भरकर उसे स्वानुभूत सत्य-सा सजीव व चटकीला कर देता है। अतीत की उपादान-सामग्री, वर्तमान की व्याख्या व भविष्य का सदेश—इन तीनो को वह एक सूत्र मे गूंथ देता है और इस कार्य के द्वारा वह मानो अपनी त्रिकालज्ञता ही प्रमाणित करता है।[23] उसकी इस त्रिकालज्ञता का एक गहरा आधार और है। वह अपनी सामग्री को मानव-भाव के माध्यम से प्रस्तुत करता है। प्रस्तुतीकरण के इस रूप से वह सामग्री एक, अखड व सरस सत्य का रूप ग्रहण कर लेती है। इतिहासकार शिव और सुदर को प्रस्थान-बिदु मानकर नही चलते। उनका प्रयत्न कल्याणकारी और सुदर भी प्रमाणित हो जाए तो दुहरी सफलता है। इतिहासकार व साहित्यकार—दोनों मनुष्य-जाति को सत्य-मार्ग पर लगाते है। दोनों सत्य के पुजारी होते है और तीनों कालों तक उनका सत्य व्याप्त हो जाता है।[24] दोनों के द्वारा उपलब्ध सत्य की प्रकृति में अतर रहता है—इतिहासकार का सत्य वस्तु सत्य होता है, जबकि साहित्यकार का सत्य भावनात्मक या सरस सत्य। चरम लक्ष्य सत्य के इस प्रकृति-भेद मे ही दोनों की कार्य-प्रणाली या पद्धति के भेद का तथ्य निहित है। दोनों अपनी-अपनी सीमा में व अपने-अपने ढग से विश्वकर्म के सिद्धात का सकेत करते है।[25] दोनों की सृष्टि मे तर्क और बुद्धि का प्रत्यक्ष या परोक्ष विनियोग होता है।

विद्वानों ने काव्य या साहित्य और इतिहास के बीच उनकी प्रकृति, कार्य-प्रणाली और प्रभाव-क्षमता को ध्यान में रखकर, चरम मूल्यों को दृष्टि से उनकी उच्चावचता को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया है। अरस्तू ने काव्य को इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक और उदात्त बताया है।[26] इसी प्रकार वर्सफोल्ड ने भी काव्य के सत्य को और लक्ष्य को इतिहास के सत्य व लक्ष्य से क्रमश· अधिक व्यापक और उच्च बताया है, क्योंकि काव्य समष्टिगत है, जबकि इतिहास व्यष्टिगत या विशेषों से संबंधित।[27]

इतिहास और कल्पना

इतिहास अतीत में घटित घटनाओं का एक यथातथ्य लेखा है। किंतु जहा सामग्री का अभाव होता है, वहां उस लेखे को पूरा करने में कल्पना का प्रयोग भी होता है। यह

कल्पना दो प्रकार की हो सकती है—(1) तथ्य-प्रेरित, अनुमानाश्रित, तर्कानुमोदित स्मृत्याभास कल्पना और (2) मुक्त अथवा शुद्ध कल्पना। प्रथम प्रकार की कल्पना का प्रयोग शुद्ध वैज्ञानिक प्रक्रिया का अनुसरण करनेवाले इतिहास के क्षेत्र मे भी होता है। न्यायशास्त्र मे अनुमान प्रमाण भी सत्य प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण आधार माना गया है। इतिहास-क्षेत्र मे प्रयुक्त कल्पना वही तक कार्य कर सकती है, जहा तक तथ्यनिष्ठ रहकर तर्कबल से घटनाओ के काल-क्रम व स्वरूप के सबध मे अनुमान कर सके। स्पष्ट है कि यह कल्पना स्वतत्र होकर भी स्वतत्र नही। कितु इतिहास एक ऐसी अन्य कल्पना के लिए भी विस्तृत आकाश खोलता है, जिसे हम अपेक्षाकृत मुक्त और स्वच्छद कह सकते है। 'अपेक्षाकृत' इसलिए कि इतिहास के स्थल, पात्र अथवा घटना से ही वह प्रेरित होती है, चाहे वह स्थल पात्र व घटना निमित्त मात्र ही हो। इस कल्पना को और आगे चलकर हम उस कल्पना से भी सहज ही पृथक कर सकते है जो नितात मुक्त होती है, जो आत्मा की अपनी निजी क्रिया होती और जो अपनी सत्ता के लिए प्रत्यक्ष रूप से भौतिक जगत् के किमी विशेष वस्तु-व्यापार पर आश्रित नही होती। क्रोचे ने ऐसी कल्पना को ही काव्य का मुख्य क्षेत्र माना है।

इस प्रकार हम देखते है कि इतिहास और कल्पना—दोनो परस्पर न्यूनाधिक रूप से सबधित हैं। इतिहास साहित्यकार को कल्पना के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है। प्रसाद ने इतिहास को आधार या निमित्त बनाकर ऐसे साहित्य की सृष्टि की है, जिसमे कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[28]

साहित्य और इतिहास

साहित्य और इतिहास का सबध बडा घनिष्ठ है। सपूर्ण मानव-ज्ञान के क्षेत्र मे इतिहास का महत्त्व पूर्व व पश्चिम[29]—दोनो मे ही प्राचीनकाल से अत्यत ऊचा समझा जाता रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि इतिहास महद्भूत का निःश्वास है।[30] नाटको और महाकाव्यो आदि के निर्माण में 'कथावस्तु' के विविध स्रोतो में से इतिहास-पुराण को बहुत ऊचा स्थान प्राप्त है। राजशेखर इतिहास को पुराण का ही एक भेद बताते है।[31] साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने नाटक और महाकाव्य की रचना मे ऐतिहासिक वृत्त के ग्रहण का बारबार उल्लेख किया है। कितु उनकी दृष्टि मे इतिहास की यथातथ्य उद्धरणी देना ही साहित्य नहीं है, यह भी स्पष्ट कहा गया है।[32] इतिहास का ग्रहण रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से ही होना चाहिए। इसीलिए विश्वनाथ कविराज का मत है कि अनुचित या रस-विरुद्ध वस्तु (ऐतिहासिक) छोड देनी अथवा बदल देनी चाहिए।[33] महाकाव्य में वे ऐतिहासिक या लोकप्रसिद्ध कथा को रखने का विधान करते है।[34] दडी ने भी महाकाव्य मे इतिहास को आधार बनाने का उल्लेख किया है।[35] कुतक ने 'प्रकरण-वक्रता' के प्रसग मे काव्य-रस की उत्पत्ति की दृष्टि से "इतिहास प्रसिद्ध किसी घटना मे अपनी प्रतिभा से हल्का-सा परिवर्तन कर आख्यात वस्तु को सजीव और उदात्त बनाकर काव्य या नाटक में चमत्कार उत्पन्न करने का विधान किया है।"[36] उनका स्पष्ट कथन है कि 'निरतर रस को प्रवाहित करनेवाले सदर्भों से परिपूर्ण महाकवियों की वाणी केवल (इतिहास में प्रसिद्ध) कथामात्र के आश्रय से ही नही जीवित रहती।'[37] आनदवर्द्धन ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त कथा को कल्पना के संयोग से

रसानुरूप बनाकर ग्रहण करने के ही पक्षपाती है।[38]

दर्शन और मनोविज्ञान आदि विषयो की तरह इतिहास और साहित्य का भी पारस्परिक सबध है। इस सबध के अनुपात या साहित्य मे इतिहास के स्वीकृत परिमाण की कल्पना भारतीय नाट्याचार्यो द्वारा नाटक की वस्तु या वृत्त पर किये गये विचार से सहज ही हो सकती है। आज के रचे जानेवाले ऐतिहासिक नाटको के द्वारा भी इस सबध या परिमाण का अनुमान हो सकता है। फिर भी यह विचार करना प्रसग-प्राप्त है कि साहित्य मे इतिहास का ग्रहण कितना और किस रूप मे स्वीकृत होना चाहिए।

कही-कही यह विचार भी प्रकट किया गया है कि इतिहास साहित्य का निजी क्षेत्र नही है। साहित्य और इतिहास का यह सबध उन युगो का स्मारक है जब काव्य या साहित्य सब क्षेत्रो में अपना दखल रखता था।[39] किंतु आज जबकि प्रत्येक विषय की अपनी-अपनी मर्यादा निर्धारित हो रही है, साहित्य को अन्य क्षेत्र मे पाव नही रखना चाहिए। पर यह प्रश्न विवादास्पद है। जो हो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि साहित्यकार को साहित्यकार रहते हुए इतिहास का उपयोग करना है। दोनों अनेक रूपो मे परस्पर सबधित हैं अवश्य। दोनो सत्य के अन्वेषी है—इतिहासकार घटना-व्यापारो का वस्तुगत तथ्य (factual truth) निकालता है, जबकि साहित्यकार काव्यगत न्याय को लक्ष्य में रखकर जीवन के शिव व सुदर से सयुक्त व्यापक सत्य को प्रस्तुत करता है। साहित्यकार इतिहास की टूटी हुई कडियो को तर्क बल से जोडकर उसके छूटे हुए रिक्ताशों को भाव, विचार व कल्पना से जीवत व मासल बनाता है। पर यद्यपि साहित्यकार इस प्रकार से अपनी वस्तु-सामग्री इतिहास से लेता अवश्य है, किंतु यह समझना भी भूल है कि इस सामग्री के अभाव मे साहित्यकार नितात पगु होकर ही बैठ जायेगा। वस्तुत साहित्यकार भाव-सचार व रस-निष्पत्ति के लिए उपयुक्त सामग्री की टोह में रहता है। इतिहास से प्राप्त हुई सामग्री से उसे अवश्य थोडी-बहुत सुविधा हो जाती है, ऐतिहासिक घटना-व्यापारो के स्थूल ढाचे को लेकर चलने से प्रेक्षको के, पाठको के सस्कारो को उद्‌बुद्ध करने की समस्या—इतिहास की सामान्य सपत्ति होने के नाते—शीघ्र ही हल हो जाती है। यदि साहित्यकार इतिहास की सामग्री के अभाव में भाव-सचार करने मे समर्थ ही न हो तो यह उसकी दुर्बलता ही समझी जायेगी, क्योकि उसमे जीवन की किसी भी स्थिति या घटना के माध्यम से रस उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए। यही उसकी प्रतिभा की परीक्षा का निकष है। अत इतिहास की सामग्री लिए बिना जो रस की निष्पत्ति होती है वह अपने जातीय सस्कारो को उन्मीलित करने की गहरी क्षमता से सपन्न होने के कारण विशेष मनोवैज्ञानिक तुष्टि प्रदान करनेवाली सिद्ध होती है। किंतु रस की सत्ता किसी देश और जाति तक ही सीमित नही कही जा सकती, उसकी व्याप्ति सार्वकालिक एव सार्वलौकिक है। अत राष्ट्रीय, धार्मिक, पौराणिक नाटको के रस से Secular (निरपेक्ष, लौकिक) मानवीय रस अवश्य उच्चकोटि का होगा। तात्पर्य केवल इतना ही है कि इतिहास का साहित्य से सबध एक सीमा तक ही स्वीकृत हो सकता है, उसके आगे नही।

यह ठीक है कि विस्तृत काल-प्रवाह से अवतरित अतीत इतिहास के पात्र व घटनाए काव्य, नाटक, उपन्यास-कहानी आदि में, जीवन-सुलभ उत्थान-पतन की बडी गहरी छाप हृदय पर छोडते है, पर केवल इसी कारण इतिहास को इसका पूरा श्रेय नही दिया जा सकता। श्रेय तो वस्तुत उस कला या निर्माण-कौशल को जाना चाहिए जो कवि-प्रतिभा की स्फूर्ति का

परिणाम है। इतिहास तो साहित्य मे निमित्त रूप बनकर आता है और यही रूप साहिन्य मे गृहीत इतिहास की मर्यादा है। इतिहास-मात्र की पुनरावृत्ति या अवतारणा से साहित्यिक रस की निष्पत्ति नही होती, मूल रूप मे वह कवि-प्रतिभा का ही चमत्कार है।

प्रसाद की इतिहास-सबधी धारणा

प्रसाद की इतिहास-सबधी धारणा (सभ्यता और सस्कृति की धारणा से मिली हुई, अत व्यापकतम है) हमे दो स्रोतो से प्राप्त हो सकती है—(1) प्रत्यक्ष कथन से, और (2) साहित्य मे इतिहास तत्त्व के समावेश के स्वरूप से। प्रथम रूप मे प्रसाद की धारणा हमे 'अजातशत्रु' के कथा-प्रसग तथा 'विशाख' (प्रथम सस्करण) की भूमिका से प्राप्त होती है

"इतिहास से घटनाओ की प्राय पुनरावृत्ति होते देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि उसमे कोई नयी घटना होती ही नही। किंतु असाधारण नई घटना भी भविष्यत् में फिर होने की आशा रखती है। मानव-समाज की कल्पना का भडार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओ का, इच्छाओं का मूल सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा-प्राप्ति किसी व्यक्ति या जाति मे केंद्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नही प्राप्त होती, तब तक वह रूप-परिवर्तन करती हुई पुनरावृत्ति करती ही जाती है। समाज की अभिलाषा अनत स्रोतवाली है। पूर्वकल्पना के पूर्ण होते-होते एक नयी कल्पना उसका विरोध करने लगती है और पूर्वकल्पना कुछ काल तक ठहरकर, फिर होने के लिए अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव-समाज के इतिहास का इसी प्रकार सकलन होता है।" **—अजातशत्रु, कथा-प्रसग, पृ 7**

•

"इतिहास का अनुशीलन किसी जाति को अपना आदर्श सगठित करने के लिए अत्यत लाभदायक होता है क्योकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी जातीय सभ्यता है, उससे बढकर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नही इसमे हमे पूर्ण सदेह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अश में से उन प्रकाड घटनाओ का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"**—विशाख, प्रथम सस्करण, 'भूमिका'**

प्रसाद ने सस्कृति के सबध मे अपने कुछ महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। उनका विश्लेषण करने से पूर्व हम उन्हें अपने कार्य के लिए, उनके सदर्भों से विरहित करके, किंतु यथासभव उन्हें आत्मपूर्ण रखते हुए, उद्धृत करते है

"यह मानते हुए कि ज्ञान और सौंदर्य-बोध विश्व-व्यापी वस्तु है, इनके केंद्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानत· सस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्ती ज्योति-केंद्रों की तरह आलोक के लिए उनका परस्पर सबंध हो सकता है। वही

आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा मे सौदर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।" "यह सस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नही, क्योकि इसका उपयोग तो मानव-समाज मे आरभिक प्राणित्व धर्म मे सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। सस्कृति मदिर, गिरजा और मसजिदविहीन प्रातो मे अत प्रतिष्ठित होकर सौदर्य-बोध की बाह्य सत्ताओ का सृजन करती है। सस्कृति का सामूहिक चेतना से, मानसिक शील और शिष्टाचारो से, मनोभावों से मौलिक सबध है।" "सस्कृति सौदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।" "इसलिए साहित्य के विवेचन मे भारतीय सस्कृति और तदनुकूल सौदर्यानुभूति की खोज अप्रासगिक नही, किंतु आवश्यक है।" "यह रुचिभेद सास्कृतिक है।" "इसका कारण है भारतीय दार्शनिक सस्कृति।" "यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेगे, तो जहागीर की ही तरह प्रमाद कर बैठने की आशका है। भारतीय सस्कृत वाड्मय मे समय-चक्र के प्रत्यावर्तनों के द्वारा इस रुचि-भेद मे परिवर्तनो का आभास मिलता है।" "इस प्रकार काल-चक्र के महान् प्रत्यावर्तनो से पूर्ण भारतीय वाड्मय की सुरुचि सबधी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत-से मिलेगे। उन्हे बिना देखे ही अत्यत शीघ्रता में आजकल अमुक वस्तु अभारतीय है अथवा भारतीय सस्कृति सुरुचि के विरुद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पडी है।" **—काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 4-6**

"यह असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अतर्निहित है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतना है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केद्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणो के समान भिन्न-भिन्न सस्कृतियो के दर्पण मे प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुदर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।"**—काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 18**

"प्राय लोग गाथा और इतिहास को मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किंतु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है।"**—'कामायनी' का आमुख, पृ 1**

"आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते है। तब भी उसके तिथिक्रम मात्र से सतुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते है। उसके मूल मे क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति। हा, उसी भाव के रूपग्रहण की चेष्टा या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर भी वे सत्य घटनाए स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव मे परिणत हो जाती हैं। किंतु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषो की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।" **—'कामायनी' का आमुख, पृ 2**

उक्त धारणा का विश्लेषण-व्याख्यान

अब हम प्रसाद की इतिहास-विषयक उक्त व्यापकतम धारणा के विविध सूत्रों पर सामूहिक दृष्टिपात करके उनके सगुफन का प्रयास करेंगे।

प्रसाद का चिंतन व्यापक और सुसश्लिष्ट चिंतन है जो अपने में मानव-जीवन और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो (इतिहास, सभ्यता, सस्कृति, दर्शन, साहित्य-कला आदि) को सुदर अनुपात मे समेटे हुए है। उनके इतिहास तत्त्व के चिंतन पर भी यह बात लागू होती है। उन्होंने इतिहास

को अतीत की स्थूल भौतिक जीवन की घटनाओ का एक आलेख मात्र न कहकर उसे आत्मा की अभिव्यक्ति कहा है। इसकी व्याख्या करने में वे उसी सृष्टि-बीज से चलते है जिसे उपनिषदो मे 'काम' या मूल इच्छा कहा है। प्रसाद जी की मान्यता है कि मानव (व्यक्ति) और सामूहिक रूप से, समाज उसी अनादि इच्छा की पूर्ति मे, जान या अनजान में, निरतर लगे हुए हैं और अविराम सघर्षों की शृखला के द्वारा मानो वे उसी अनादि इच्छा की गहन-गभीरता व वरेण्यता को प्रकट कर रहे हैं। वह अरूप इच्छा मूर्त्त जीवन में क्या है ? हमारे सास्कृतिक आदर्श जिन्हे हम सौदर्य कहते हैं। आदर्श या सौदर्य को प्राप्त करने के लिए एक अखड मानव-परपरा या समाज-परपरा अनादिकाल से चल रही है और आगे भी चलती रहेगी। व्यक्ति भले ही अपने लघु केद्र मे बनता-मिटता चले, पर सूक्ष्म रूप मे उसकी चेतना उसके बाद भी सृष्टि या विश्व की धरोहर बनकर रहती है। इस प्रकार व्यक्ति केद्रों के मिटते या नष्ट होते चलने पर भी मानव-समाज की एक ऐसी सामूहिक चेतना-धारा की कल्पना की जा सकती है जो सदा सूक्ष्म रूप में इस सृष्टि में विद्यमान है और मानव की अखड प्रयत्न-परपरा की साक्षी है।

सकल्प में गहरा और अटूट बल है। सकल्पशील या व्रती व्यक्ति जीवन में इसे स्पष्ट देख सक्ते है। दार्शनिक शोपेनहावर ने तो 'Will' की ही सत्ता मानी है। सृष्टि के मूल में भी एक सकल्पनात्मक मूल अनुभूति है (जो घटाकाश मे सूर्य प्रकाश की तरह व्यक्ति मे भी है) और वही इस गति और शक्ति-संपन्न ससार में चारो ओर व्यक्त हो रही है। इस सकल्पनात्मक मूल अनुभूति को प्रसाद आत्मा की मननशक्ति की असाधारण अवस्था कहते हैं। मननशक्ति न्यूनाधिक रूप मे तो सभी के पास होती है, किंतु जब इसका असाधारण उत्कर्ष होता है, तभी समाज या व्यक्ति कुछ ठोस अर्जनाए कर पाता है। उदाहरणार्थ, कवि आत्मा की मननशक्ति की इस असाधारण अवस्था मे दार्शनिक, सत या योगी की तरह ही जीवन के परम श्रेय या चरम सत्य का अनुभव करती है, कितु अपनी विशिष्ट भावात्मक प्रकृति के कारण उसे सौदर्य-दृष्टि से या सौदर्य की प्रक्रिया से ही ग्रहण करती है और सौदर्य के माध्यम से ही उसे अभिव्यक्ति भी देती है। इसी प्रकार दर्शन-विज्ञान आदि क्षेत्रो मे भी वह मूल श्रेय उन क्षेत्रो की प्रकृति के अनुसार ही ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की मननशक्ति की साधारण नही, कितु असाधारण अवस्था में ही श्रेय सत्य की प्राप्ति होती है। यह असाधारण अवस्था किसी एक व्यक्ति या किसी एक युग के समाज के ही पास नही रहती। "यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अतर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा प्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केंद्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप मे विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न सस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुदर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।"

यदि प्रत्येक राष्ट्र के जीवन पर विचार किया जाए तो जान पडेगा कि ज्ञान (धर्म, दर्शन के क्षेत्र में) या सौंदर्यबोध (कला-सस्कृति के क्षेत्र मे) ही उसका चरम मूल्य है। यह उनके सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक व सास्कृतिक विधानों से स्पष्ट प्रतीत हो जाएगा। अन्य बातों में राष्ट्र-राष्ट्र में अधिक भेद हो सकता है, पर इनमें कम-से-कम, या नही भी। तात्त्विक

रूप मे यह बात स्वीकार करने मे सभवत कोई आपत्ति नही होगी। पर ज्ञान और सौदर्यबोध की ये विश्व-सामान्य शाश्वत अनुभूतिया या मूल्य प्रत्येक देश अपनी-अपनी भौगोलिक व सामाजिक परिस्थितियो के अनुसार ही ग्रहण करने के लिए बाध्य है। इन परिस्थितियों से ही हमारी विशेष रुचिया बन जाती हैं जो कम महत्त्व की नही, क्योकि ये रुचिया उन परिस्थितियो की अनिवार्य उपज है। एक ही विश्वव्यापी सत्य या सौदर्य अपनी जातीय सस्कृति के दर्पण मे विशेष रूप से ही प्रतिबिबित होगा। अत किसी देश के साहित्य या सस्कृति के मूल्याकन में इन विशिष्ट रुचियो का ध्यान रखना परमावश्यक है, अन्यथा प्रमाद हो जाने का भारी खतरा है। बस, यही हम प्रसाद जी की दृष्टि मे राष्ट्र-प्रेम या राष्ट्रीय सस्कृति के महत्त्व को समझ सकते है। यह राष्ट्र-प्रेम कोई सीमित या क्षुद्र वस्तु होकर विश्व-मानवता का विरोधी कथमपि नही है। हम कह सकते हैं कि यह तो किसी जीवित राष्ट्र के निजी व्यक्तित्व का एक स्वस्थ प्रकाशन है। ऐसी राष्ट्रीयता परम स्वस्थ राष्ट्रीयता है, जिसका पूरा-पूरा सम्मान होना चाहिए और प्राण देकर भी उसकी रक्षा करनी चाहिए। प्रसाद ने एक ही मूल प्रकाश (आत्मज्योति) का विभिन्न नक्षत्रो (राष्ट्रो) में विभिन्न रगो (राष्ट्रो का एकात निजी व्यक्तित्व—साहित्य, राष्ट्रीयता, धर्म, कला आदि) के रूप ग्रहण करने के आलेख द्वारा अपनी राष्ट्रीयता-विषयक दृष्टि नितात स्पष्ट कर दी है।

इतिहास की प्रक्रिया का भी प्रसाद ने निर्देश किया है। जिस प्रकार अनत अभिलाषाओं से भरा व्यक्ति अपने सकल्प बल से व प्रतिभामयी कल्पना से दीपित-नयन होकर व आस्फूर्त होकर जीवन की जय-यात्रा के पथ पर बढता चलता है, उसी प्रकार राष्ट्र, जाति, समाज या विश्व भी अनादि काल से काल-पथ पर बढता चल रहा है—उसी सुदूर आत्मिक पूर्णता व लक्ष्य की ओर। समाज की कल्पना का भडार अक्षय है, क्योकि वह उसकी इच्छा-शक्ति का विकास है। समाज की अभिलाषा अनत स्रोतवाली है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद ने मानव-समाज के जीवन को ही इतिहास कहा है। जीवन के उच्च लक्ष्य की तरह मानव-समाज का भी एक उच्च लक्ष्य है। इतिहास के माध्यम से ही व्यक्ति और समाज उस पूर्णता के लिए जूझ रहे हैं। यह जूझना सकारण व सलक्ष्य है सृष्टि-बीज इच्छा मे इस सघर्ष की जडे हैं और मानव-भाग्य की पूर्णता उसका लक्ष्य है। अत स्पष्ट है कि इतिहास के माध्यम से मानव आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर ही अग्रसर है। यही प्रसाद द्वारा व्याख्यात इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या है। इतिहास के द्वारा मानव आत्मसाक्षात्कार का ही प्रयत्न कर रहा है।

आचार्य वाजपेयीजी ने प्रसाद की इतिहास-विषयक व्यापक धारणा पर अपनी विस्तृत टिप्पणी की है। उनके अनुसार प्रसाद की दृष्टि इस रूप मे प्रस्तुत की जा सकती है—"कोरा इतिहास मानव-जीवन का बहिर्विकास मात्र या अस्थि-पजर मात्र है। प्रसाद ने इतिहास को जीवन से सयुक्त करके मासल व प्राणवान् बना दिया है। कोरी भौतिक घटनाए या कोरा पारमार्थिक दर्शन—परिपूर्ण जीवन की दृष्टि से दोनों ही एकागी हैं। मानव-जीवन ही मुख्य वस्तु है। दर्शन उसकी अत प्रेरणा और इतिहास बाह्य विकास है। इतिहास सजीव व सपन्न तभी होता है, जब उसमें मनोभाव, विचारधाराए, सस्थाए, उद्योग, रहन-सहन की पद्धतिया, उन्नति-अवनति के कारणों का विश्लेषण—सभी तत्त्व समाहित हों। इतना ही नहीं, इतिहास तभी सार्थक है, जबकि वह दर्शन के साथ राष्ट्रीय सस्कृति का अविच्छिन्न अग बन जाए।

तात्पर्य यह है कि दर्शन, जीवन और इतिहास और राष्ट्रीयता सभी मिलकर सच्चे इतिहास की सृष्टि करते है।"[40]

साहित्य और सभ्यता

सभ्यता का स्वरूप

विश्व का निर्माण वैशेषिक दर्शन परमाणुओं से मानता है और साख्यदर्शन त्रिगुणात्मिका प्रकृति से। दोनों दर्शन पदार्थवादी है। आत्मवादी अद्वैत वेदातदर्शन व प्रत्यभिज्ञादर्शन अणु-परमाणु या प्रकृति को न मानकर ब्रह्म या परम शिव को ही सृष्टि का उपादान व निमित्त कारण मानते है। वे साख्य व वैशेषिक की सृष्टि-निर्माण कल्पना को सतोषजनक नही मानते। परमाणुवादियो का यह कहना कि सृष्टि स्वत परमाणुओं के द्वारा बन गई, चेतनवादियो को स्वीकार नही। बिना किसी सजग चेतन सत्ता की सहायना के परमाणु स्वयमेव किसी सार्थक व नियमबद्ध सृष्टि की, जिसे हम प्रत्यक्ष देखते है, रचना कदापि नही कर सकते। सब परमाणु स्वत एक वर्णमाला के रूप मे सगठित नही हो सकते। अस्तु। इतना ही कहना पर्याप्त है कि कुछ दार्शनिको के अनुसार सृष्टि एक अदृश्य विराट् नियम से और एक व्यवस्था के साथ चल रही है। पर इस नियम और व्यवस्था का कोई-न-कोई लक्ष्य या आशय अवश्य ही होना चाहिए। हम यह लक्ष्य व्यापक रूप से और सुरक्षित भाव से मानव की पूर्णता मान सकते हैं। ससार के सब व्यक्ति या राष्ट्र स्वभावत सुख के ही अभिलाषी हैं, अत मानव की पूर्णता को लक्ष्य मानने मे कोई कठिनाई नही जान पडती। महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए महान् ही साधन-उपकरंण चाहिए और महान् ही आयोजन। मनुष्य शारीरिक दृष्टि से दुर्बल है, उसे प्रकृति की प्रचड शक्तियों—शीत, घाम, झझा आदि—से लडना पडता है, उसे हिंस्र व विषैले जतुओ का भय है, उसकी काम व भूख की प्राकृतिक एषणाए तथा अन्य व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाए उसे नाच नचाती है, उसकी जन्मजात प्राकृतिक जिज्ञासा उसे अभ्रकष गिरि-शिखरों पर, हिमाच्छादित ध्रुव प्रदेश में, चद्रलोक पर, समुद्र के तल मे व हिस्र वनो में ले जाती है, उसके हृदय की चिरनिगूढ सौंदर्यभावना, रहस्यभावना आदि उसके लिए अनेक सूक्ष्म-कोमल आवश्यकताए उपजा देती हैं। इस प्रकार मानव का मार्ग पग-पग पर अनेक इच्छाओं, आकाक्षाओ, प्रत्यूहो व परिस्थितियों से अवरुद्ध है। किंतु साथ ही चरम पूर्णता का सुदूर व मोहक लक्ष्य भी वह भूल नही पाता। अपने लक्ष्य को अधिक पूर्णता, सुविधा व सरलता से प्राप्त करने के हेतु वह प्रकृति के कोपों से लडता हुआ अपने चारों ओर फैले साधनों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक जगत् में जो कुछ वह रचता जाता है उसी का नाम है—सभ्यता। सस्कृति आतरिक गुण-शील का पुज है तो सभ्यता हमारा बाह्य और स्थूल निर्माण। प्रत्येक राष्ट्र की जिस प्रकार एक सस्कृति होती है उसी प्रकार एक सभ्यता भी। इस प्रकार समस्त विश्व के धरातल पर भी हम एक विशाल मानव-सस्कृति या विश्व-सस्कृति की और एक विश्व सभ्यता की कल्पना कर सकते हैं।

पर सभ्यता का विकास सदा अनिवार्यत· मानव-सुख की उपलब्धि का ही पर्याय नही।

सुख-सामग्रियों के सपन्न अति विकसित मानव सभ्यता प्राय व्यक्ति व समाज के उच्चतम मूल्यो के लिए नाशकारिणी सिद्ध होती है। इसके विपरीत साधनहीन वन्य या असभ्य जातिया सच्चे सुख या शाति का अधिक जीवत अनुभव करती है। उनके विश्वास व नैतिक नियम आदि अधिक सम्पूज्य होते हैं।

सब कुछ मिलाकर देखने पर सभ्यता का विकास मानव-बुद्धि के विकास व पुरुषार्थ की उत्कटता का तथा प्रकृति पर विजय करके जीवन के महान् आदर्शों के प्राप्ति-पथ पर मानव की जय-यात्रा का प्रतीक है। सभ्यता के रूप मे मानवात्मा की ही अभिव्यक्ति हो रही है। विश्व के अन्य देशों के साथ भारत की भी अपनी एक सभ्यता रही है जो इतिहासकारो के अनुसार अत्यत समुन्नत है।

साहित्यकार और सभ्यता

सभ्यता बौद्धिक विकास है जो प्रकृति पर विजय के साधन-रूप बाह्य आविष्कारो के रूप में मूर्तिमान होती है। पर साहित्य आतरिक भावो की सपत्ति है। साहित्य का सीधा सबध सस्कृति से ही है न कि सभ्यता से। सास्कृतिक मूल्य ही साहित्य के वस्तुगत मूल्य हैं। सभ्यता सास्कृतिक विकास के लिए बाह्य सुविधा मात्र प्रदान करती है या कर सकती है, सभ्यता का विकास अनिवार्यत सास्कृतिक विकास नही। प्रत्युत जहा सभ्यता सर्वोच्च कोटि को पहुची रहती है, वहा प्राय सास्कृतिक ह्रास दिखाई पडता है और जहा सास्कृतिक विकास अपनी चरमावस्था में होता है, वहा प्राय सभ्यता बहुत अविकसित अवस्था में होती है। यह बात साहित्य और सस्कृति के सबध में नही। उनकका विकास प्राय' अन्योन्याश्रित या युगपत् होता है। तात्पर्य यह है कि साहित्य का, सभ्यता की अपेक्षा, सस्कृति से अधिक घनिष्ठ व सीधा सबध है।

पर फिर भी हम ऐतिहासिक साहित्य में सभ्यता के अनेक भव्य चित्र अकित हुए पाते हैं। वस्तुत' भौतिक विकास में भी आत्मा अपने को प्रकाशित करती है, क्योंकि उक्त विकास मूलत' बुद्धि पर आश्रित है, जिसमें चैतन्य आत्मा बुद्धि की सात्त्विकता व निर्मलता के अनुपात मे प्रतिबिबित होती है। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि विभूति (सभ्यता) और श्री (सस्कृति) ईश्वर के तेज अश से ही सभव हुए है। अत सभ्यता की सामग्रिया भी दार्शनिक दृष्टि से उच्च स्थान रखती हैं। सभ्यता के इस स्वरूप से परिचित होने पर साहित्य मे सोत्साह उसके निरूपण के रहस्य से भी हम अवगत हो सकते हैं। मानव-बुद्धि ने अपने विकास-क्रम मे जो कुछ भव्य व अद्‌भुत आविष्कृत किया है वह हमारे मनोभावों के साथा सीधा सबध रखता है। सभ्यता के विकास के सूचक आविष्कारों के निरूपण का समावेश अद्‌भुत रस के अतर्गत हो सकता है। तात्पर्य यह कि हृद्‌गत भाव व काव्यरस के नाते सभ्यता का सबध भी साहित्य के साथ इस प्रकार बैठ जाता है। रस सत्त्वोद्रेक की स्थिति में ही निष्पन्न होता है। सभ्यता का वही रूप उक्त रस का उपकारक होगा जो विमलतम बुद्धि से प्रसूत हो। तामसिक बुद्धि-जन्य सभ्यता (घोर विलास व सहार के साधनोंवाली) उस काव्य-रस की पोषिका न होगी जिसकी मूल प्रकृति सत्त्वशीला ही है।

प्रसाद की सभ्यता-विषयक धारणा

पिछले पृष्ठों में प्रसाद की इतिहास-विषयक व्यापक धारणा के अतर्गत नथा अन्य प्रसगों पर

यत्र-तत्र प्रसाद की सभ्यता-विषयक धारणा पर प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में विचार हो ही चुका है, अत यहा विशेष विस्तार की आवश्यकता नही। यहा प्रसाद का एक ही वाक्य—'सभ्यता सौदर्य की जिज्ञासा है'[41] इस सबध मे पर्याप्त है। हमारे चारो ओर तथा हमारे मन में सौंदर्य विविध रूपो मे (वस्तुओ मे व भावनाओ मे) विकीर्ण है। सौदर्य का आकर्षण अत्यत प्रबल होता है। उस सौदर्य के साक्षात्कार के लिए हम अनेक बाह्य साधन (आवास, वाहन, वेश-भूषाए, खाद्य-पेय पदार्थ आदि) तैयार करते चल रहे है और वे साधन ही सभ्यता है। ये साधन चरम सौदर्य के साक्षात्कार के लिए तैयार किये गये उपकरण मात्र है, स्वय मे उतने महत्त्वपूर्ण नही। जितनी ही चरम सौदर्य के साक्षात्कार की हमारी जिज्ञासा प्रबल होगी उतने ही सूक्ष्म हमारे साधन बनते चलेंगे। सभ्यता का इतिहास भी यही बताता है। प्रसाद ने प्राचीन भारतीय सभ्यता के जो चित्र अकित किये है,[42] उनका अनुशीलन करने पर प्रसाद का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायेगा।

साहित्य और संस्कृति

सस्कृति का स्वरूप

सस्कृति, वस्तुत उन आतरिक मानव-गुणो की समष्टि है, जिसे कोई देश या जाति अपनी जीवन-परपरा द्वारा प्रयोग-सिद्ध रूप मे तथा मानव के व्यक्तित्व के मूल्याकन के चरम या स्थायी आधार के रूप मे प्रतिष्ठित कर उनकी रक्षा के लिए अपना जीवन विसर्जित करती आयी है, जिनके सफल-सुदर निर्वाह मे ही उस जाति के जीवन का स्वरूप, धारणा और आदर्श मूर्तिमान हो उठता है और जिन मूल्यो का समूह अपने वैशिष्ट्य में विश्व की विभिन्न जातियों के बीच उस जाति के व्यक्तित्व को साफ झलका देता है। विशिष्ट भौगोलिक या ऐतिहासिक परिवेशो में प्रत्येक जाति के जीवन का अपना निजी स्वरूप होता है, अत प्रत्येक जाति की सस्कृति और उसके मूल्य भिन्न हो सकते है। हा, विश्व की सब जातियों के सामान्य जीवन-मूल्यों को लेकर विश्व-सस्कृति या मानव-सस्कृति की धारणा भी बाधी जा सकती है। सस्कृति के मूल उपकरण हैं—हमारे भाव, विचार और व्यवहार। इन्ही के पारस्परिक योग से कुछ गुण निर्मित होते हैं, जिन्हे हम जीवन-मूल्य कहते है। ये गुण या जीवन-मूल्य हैं—प्रेम, सत्य, करुणा, दया, परोपकार, विश्वास, क्षमा, उदारता, बधु-भावना, मैत्री, सहिष्णुता, सदाचार, त्याग, आत्मसयम, विसर्जन इत्यादि। प्रत्येक सस्कृति में इनका ग्रहण और अभ्यास उनकी अपनी (जातीय) परिस्थितियों (भौगोलिक, सामाजिक, ऐतिहासिक) व आवश्यकताओं के अनुरूप होता है।

श्री कमा मुशी ने सस्कृति की एक सर्वांगपूर्ण धारणा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार सस्कृति किसी जाति की एक ऐसी जीवन-पद्धति है जो अपनी प्राण-शक्ति को नित्य सजीव रखते हुए अखड व सागोपाग जीवन-धारा के रूप में, सभ्यता के बाह्य परिवर्तनशील रूपों के बीच अक्षुण्ण रहती हुई दु खमय जातीय परिस्थितियों के बीच प्रज्वलित रहती हुई, सामाजिक संस्थाओं का रूप-निर्माण करती हुई, जनता के बौद्धिक और सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण को आशय व दिशा प्रदान करती हुई, जीवन-मूल्यों को अविचलित रखती हुई हमारे विचार, वाणी व

आचरण को आस्फूर्त-आलोकित करती हुई प्रवहमान रहती है। वह हमारे जातीय जीवन के एक ऐसे केद्रीय भाव से शासित रहकर ज्वलत रहती है जो स्वय अपना साध्य हो, किसी भी अन्य साध्य का साधन न हो।[43] जब यह सस्कृति शक्ति की जीवत ज्वाल बनकर कला और साहित्य मे प्रकट हो जाती है तो वही सृजनात्मक आनद का रूप ग्रहण कर लेती है। उक्त केद्रीय भाव को जीती हुई वह जाति अपनी आत्मानुभूति करती है।

आचार्य वाजपेयीजी ने भी रचनात्मक चेष्टाओ को महत्त्व देते हुए सस्कृति का स्वरूप व्यक्त किया है।[44]

विद्वानो ने सस्कृति के स्वरूप का यथार्थ उद्‌घाटन करने की चेष्टा मे उसका सभ्यता से अतर निर्दिष्ट किया है, पर इस अतर के प्रति उनमें आज तक मतैक्य नही।[45]

साहित्य और सस्कृति

साहित्य और सस्कृति का घनिष्ठ सबध है। वस्तुत सस्कृति मानव के श्रेष्ठतम सस्कारो और उसकी समस्त अभिव्यक्तियो का पुजीभूत रूप है। शब्द, स्वर, रेखा, रग, प्रस्तर आदि की सहायता से मानव ने जो कुछ व्यक्त किया है वह सब सस्कृति है। इस दृष्टि से देखने पर साहित्य सस्कृति का वह अग विशेष है जो लिखित या मुद्रित शब्द के माध्यम से हमारे सामने उपस्थित है। इसीलिए डेविड डाइचेज जैसे लेखक साहित्य को सस्कृति का एक खड या अश मात्र मानते है।[46] आचार्य वाजपेयीजी भी साहित्य को एक सास्कृतिक प्रक्रिया ही मानते है।[47]

सस्कृति व्यक्ति की भी होती है और किसी देश अथवा जाति की भी। जातीय सस्कृति ही जब व्यक्ति मे (घट मे सूर्य की तरह) प्रतिबिबित होती है तब व्यक्ति सस्कृत या सुसस्कृत कहलाता है। जिस प्रकार सस्कृति का अध्ययन इतिहास को गौरव प्रदान करता है (इतिहास-पुराण की घटना-व्यापारो के सहारे ही सस्कृति का प्रवाह प्रवाहित है) उसी प्रकार साहित्य को भी, क्योंकि सस्कृति का अध्ययन मानव के उत्कृष्टतम रूप या उत्तमाश का अध्ययन है। सास्कृतिक 'वस्तु' से शून्य साहित्य वास्तव में स्थूल मनोरजन या शैली के प्रयोगो का साहित्य मात्र रह जाता है, अत साहित्य को सार्थकता प्रदान करने के लिए उसमें सस्कृति के प्राण डालने पडते हैं। यों 'रस' साहित्य का अपना निजी मूल्य है, पर विचार करने पर अतत' यह 'रस' भी हमारी सस्कृति के चरम मूल्य मुक्ति, आनद या सुख का साहित्यिक पर्याय है। 'रस' शब्द से वस्तुतः मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया और भोग- व्यापार ही अधिक सूचित होता है। जिस 'वस्तु' का साहित्य में भोग होता है, वह मुख्यत' सास्कृतिक उपकरणो के द्वारा ही निर्मित होती है। इन सास्कृतिक उपकरणों के अभाव में रस की सत्ता ही सदिग्ध होती जान पडती है। इससे साहित्यिक सदर्भ में सस्कृति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। अत' सस्कृति साहित्य को मूल्यवान् बनानेवाला एक उत्कृष्टतम तत्त्व है।

सस्कृति की विविध बाह्य अभिव्यक्तियों में से साहित्य भी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। सस्कृति का स्वरूप अत्यत विशाल है। उसमें धर्म, कला, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, साधना, भक्ति, सभी समाविष्ट हैं। वह जाति, देश या विश्व की सर्वोच्च उपलब्धियों का सार है। इस दृष्टि से सस्कृति की परिधि अत्यत विशाल है, साहित्य उस विस्तृत क्षेत्र का एक अग मात्र है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि शब्द के माध्यम से और

कल्पना की सहायता से जहा सोदर्य की सृष्टि के लिए मानव-भावो और विचारों का रमणीयता से प्रकाशन होता है, वही साहित्य है।

प्रसाद की सस्कृति-विषयक धारणा

प्रसाद की इतिहास-विषयक व्यापक धारणा के निरूपण के अवसर पर पीछे उनकी सस्कृति-विषयक धारणा भी समाविष्ट की जा चुकी है, अत अब स्वतत्र विवेचन की यहा विशेष आवश्यकता नही। सास्कृतिक चिता मे प्रसाद ज्ञान और सौंदर्य-बोध को केद्र मे रखकर विचार करते है, क्योंकि ये ही सस्कृति के मौलिक मूल्य है। ये मूल्य विश्वव्यापी है, पर प्रत्येक देश या जाति इन्हे अपने-अपने जातीय सस्कार, रुचि, भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार ही ग्रहण करती है। उदाहरणार्थ, सस्कृति इस प्रकार विशिष्ट होकर भारतीय सस्कृति का अभिधान ग्रहण करके दार्शनिक या आध्यात्मिक सस्कृति के रूप मे जानी जाती है, क्योकि दार्शनिकता या आध्यात्मिकता भारत की विशेष रुचि या सस्कार है। इस प्रकार सस्कृति उक्त रूप में परिबद्ध होकर भी न तो अपने मूल गुणों को खोती है और न वह विश्ववाद की विरोधिनी ही है, क्योंकि यदि वह विश्ववाद की विरोधिनी ही हो जाये तो सस्कृति की मूल प्रकृति ही विकृत या आहत हो गयी समझिए। सस्कृति हमारे अत करण मे प्रतिष्ठित रहती है और नव-नव कला-रूपों मे अपने आपको अभिव्यक्त करती रहती है। मुख्यता सामूहिक चेतनता, मानसिक शील व शिष्टाचार की ही है। ये ही सस्कृति के मौलिक मूल्य है। विविध कलाओं व साहित्य-रूपों में जो कुछ प्रकट होता है, वे तो उपर्युक्त आतरिक मूल्य ही हैं जो सस्कृति के मूलाधार हैं। सस्कृति के द्वारा हमारा सौंदर्य-बोध विकसित होता है या उसके द्वारा सौंदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टाए होती है। इस मौलिकता के कारण ही सास्कृतिक प्रयत्नों को गौरव प्राप्त होता है।

प्रसाद की सस्कृति-विषयक धारणा का आगे विशेष स्पष्टीकरण होगा।[48]

प्रसाद-साहित्य मे भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति · विश्लेषण

भारतीय इतिहास

प्रसाद द्वारा गृहीत इतिहास का काल-विस्तार प्रसाद ने इतिहास के एक विशाल पाट को अपने अध्ययन-अनुशीलन का विषय बनाया है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर गाधी युग तक उनकी दृष्टि प्रसरित है। इस विस्तार में प्रागैतिहासिक युग, वैदिक युग, पौराणिक युग, बौद्ध युग, मौर्य युग, शुग युग, गुप्त युग, राजपूत युग और ब्रिटिश युग तथा गाधी युग समाविष्ट हैं।[49] अनेक नाटकों, काव्यों व कहानियों आदि के माध्यम से इन युगों का तथ्याश्रित अथवा कल्पनामिश्रित निरूपण हुआ है। इस विस्तार से हमें अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं प्रसाद मानव-जीवन और उसके विकास की कहानी के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हैं। मनुष्य क्या है, उसकी नियति और लक्ष्य क्या हैं, सृष्टि-विधान में उसका क्या स्थान और महत्त्व है?—इन गूढ प्रश्नों के समाधान के लिए प्रसाद एक दार्शनिक की तरह मानव-जीवन की इस लबी व गहरी धारा का अवगाहन करते हैं। वे सरसरी दृष्टि से केवल स्थूल कुतूहल-शाति व मनोरजन

के लिए ही इतिहास का अनुशीलन नही करते। उनका लक्ष्य गभीर है। वे एक ओर तो इतिहासकार की भाति कुहराच्छन्न अतीत इतिहास की सामग्री का गवेषणात्मक अध्ययन करके तथ्योद्घाटन मे निरत दिखायी पडते है और दूसरी ओर तर्क, प्रमाण और अनुमान (तथ्याश्रित कल्पना) से सुनिश्चित ऐतिहासिक सामग्री का रस-चेता साहित्यकार की तरह उपयोग करके मानव-जीवन की कलात्मक व्याख्या करके अपने अत्यत प्रिय आनदवाद की प्रेरणा से मानव को सत्पथ दिखाकर जीवन को आनदमय बनाने में तत्पर है। उनका एक तात्कालिक प्रयोजन भी है—भारनीय इतिहास के स्वर्णिम युगो को अपने साहित्य के माध्यम मे प्रस्तुत कर जातीय चारित्र्य को पुनरुज्जीवित कर, देश को अपने प्राचीन गौरव का स्मरण कराके व उससे अनुप्राणित कराके उसे दासता की बेडियो से मुक्त कराना। वर्तमान को सदेश देने के लक्ष्य से ही उन्होने, इतिहास के तथ्यो की अधिकाधिक रक्षा करते हुए, इतिहास का उपयोग करना उचित समझा है, अतीत की पुनरावृत्ति मात्र उन्हे इष्ट नही।

इतिहास के इस प्रयोग से हम प्रसाद की मानव-तत्त्व-विषयक तीव्र व गहन जिज्ञासा, इतिहास के आलोडन-विलोडन से निर्मित-विकसित दीर्घ सास्कृतिक दृष्टि, मानव-भाग्य मे गहरी रुचि, तथ्यान्वेषिणी शोध-दृष्टि व इतिहास के माध्यम से मानव-जीवन की व्याख्या मे उत्साह व अनुराग आदि बातो से अत्यत प्रभावित होते है। गहरी प्रेरणा व सुस्पष्ट प्रयोजन के बिना इतना प्रकाड प्रयत्न सभव नही जो प्रसाद की ऐतिहासिक कृतियो का अनुशीलन करने पर ध्वनित होता है।

प्रसाद के इतिहास-ग्रहण की प्रेरणा व प्रयोजन · प्रसाद ने इतिहास को माध्यम के रूप में ग्रहण किया यह तो ठीक है, किंतु साथ ही यह जिज्ञासा भी होती है कि प्रसाद की इतिहास-ग्रहण की मूल प्रेरणा क्या है? क्या वे वर्तमान की पीठिका पर ही अपने भावों व विचारों को प्रभावपूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सकने मे असमर्थ थे? यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि सुदूर और अप्राप्य वस्तु या व्यक्ति में एक विशेष प्रकार का आकर्षण सचित रहता है, वर्तमान और प्रस्तुत का अति-परिचय उनके आकर्षण को बहुत कुछ हर लेता है। अत भावुक साहित्यकार उसी भाव-विचार सामग्री को अधिक रोचक व शक्तिशाली बनाने के लिए, रचना के गभीरतम प्रभाव की सभावनाओ से आश्वस्त-आस्फूर्त हो, इतिहास का माध्यम अपना उठता है, जो रस-सचार (साहित्य का लक्ष्य) की दृष्टि से सुविधाजनक होता है। फिर प्रसाद जैसे इतिहास के गभीर और प्रकाड विद्वान्, जो अतीत के अनुशीलन मे निरतर निमग्न रहते हो, अपने अध्यवसाय का सुख लेने के लिए अपनी नयी सास्कृतिक खोजो का परिणाम काव्य, नाटक, कहानी आदि (जो जन-मन पर सर्वाधिक प्रभाव डालते है) के द्वारा सहृदय जनता तक पहुचाना चाहे तो सर्वथा स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म तथ्य और हैं। कल्पना का स्वरूप-विश्लेषण यह बताता है कि अतीत की कल्पना सर्वाधिक रसमयी होती है। साहित्यकार इतिहास के शुष्क रेखा-जाल मे विधायक कल्पना का प्राण फूककर एक अभिनव सृष्टि करने का आनद लाभ करता है और साथ ही रगमच के प्रेक्षकों या काव्य-पाठकों की ग्राहक कल्पना को उत्तेजित करके उन्हें एक अनुभूत नवीन आनद प्रदान करने की आशा से भी पुलकित हो उठता है। इस प्रकार कल्पना की दृष्टि से यह इतिहास-ग्रहण दोनों ओर आनद या रस की नयी सभावनाओं का द्वार खोलता है। फिर वर्तमान के पात्र तो 'मैं-तू' से ग्रस्त रहते हैं, पर सुदूर इतिहास के पात्र पक्षपात व ममत्व छोडकर सभी के हो चुके होते हैं।

अत काव्य-साहित्य मे उनका उत्थान या पतन सहृदय मात्र के हर्ष या करुणा की रसात्मक सभावनाओ को अधिक-से-अधिक आरक्षित रखता है। इस प्रकार रस-निष्पत्ति, जो साहित्य का अतिम लक्ष्य है, सहज हो जाती है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक साहित्यकार अपने अतर्जीवन का उत्तमाश अपनी साहित्य-सृष्टि के द्वारा प्रसारित-प्रचारित करना चाहता है। इस प्रयत्न मे वह अपनी उस आदर्श कल्पना को पूरी ढील दे देता है जो एक ओर तो सामाजिक नियत्रण के कारण प्राय निष्क्रिय या कुठित रहती है और दूसरी ओर अपने पखो के बल के अनुसार दूर से दूर उडने के लिए ख्यात है। ऐसी कल्पना निश्चय ही सुदूर घटनाओ और पात्रो के माध्यम से जीवन मे जो कुछ मूल्यवान् है वह गढेगी। लेखक की कल्पना को यह स्वच्छदता वर्तमान के सीखचो मे नही मिल पाती। अत इतिहास का ग्रहण साहित्यकार की एक मानसिक आवश्यकता-सी हो जाती है। (इसका अर्थ यह नही है कि इतिहास को छोडकर रचना करनेवाले लेखक सफल नही हो सकते। प्रेमचद ने वर्तमान की भूमिका पर ही अपना सृजन किया। पर फिर भी, इतना तो कहा ही जायेगा कि इतिहास का अपना एक अद्‌भुत आकर्षण होता ही है)। फिर प्रसाद पराधीनता के उस युग मे साहित्य-सृजन कर रहे थे, जब राष्ट्रीय भावनाओ के प्रसार-प्रचार पर कडा शासकीय नियत्रण था। पर अपने युग को सदेश तो उन्हे देना ही था। फलत व्याज रूप से इतिहास का ग्रहण उनके लिए अनिवार्य हो गया। अपने शोध और कल्पना के बल से प्रसाद ने उन पात्रो की सृष्टि की जो अपने युग की राष्ट्रीयता का गहरा और मधुर सदेश देनेवाले सिद्ध हुए। इस दुहरी सिद्धि की आशा ने निश्चय ही प्रसाद को उत्प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त, नाट्यशास्त्र तो यह सरलता से बतला ही देगा कि कथा व पात्र ऐतिहासिक या लोक-विश्रुत हो जिससे कि रस-निष्पत्ति अधिक पूर्ण व गहरी हो। अतीत मनुष्य को सहज प्रिय है, यह कहा ही जा चुका है। प्रसाद मानव-जीवन के व्याख्याता थे। मानव-जीवन की व्याख्या इतिहास के विस्तृत फलक पर जितनी सुकरता के साथ प्रभावशाली रूप में हो सकती है, उतनी वर्तमान के सीमित फलक पर नही।

तथ्यात्मक प्रमाण का आधार इतिहास-विषयक प्रत्येक अध्ययन के साथ ऐतिहासिक प्रामाणिकता का प्रश्न जुडा रहता है, अत यहा इस पक्ष का विचार भी प्रसग-प्राप्त है। प्रसाद ने कविता, नाटक, उपन्यास व कहानी, सभी क्षेत्रो में इतिहास के वृत्तो को सामग्री-रूप मे ग्रहण किया है। 'सत्य' ईश्वर का प्रथम नाम है, अत सत्य की रक्षा सदा इष्ट है—यह मानते हुए भी कि काव्यगत या साहित्यगत सत्य इतिहास या गणित के स्थूल सत्य से भिन्न अथवा सूक्ष्म होता है, हो सकता है। बात यह है कि साहित्य जैसे कल्पना-प्रधान क्षेत्र मे भी ताथ्यिक सत्यता पाठकों में वस्तु-विषयक विश्वसनीयता उत्पन्न करती है जो प्रकारांतर से साहित्यिक रसोत्पत्ति में सहायक ही होती है। वास्तविकता के प्रति संदिग्ध रहने की स्थिति में रस मे न्यूनाधिक व्याघात सदा उपस्थित रहेगा। अत यह बात स्वयं साहित्य के ही पक्ष या हित मे है कि वस्तु-जगत के पात्र व घटनाए साहित्य मे, कल्पना, सभावनीयता व अनुमान का समुचित अधिकार आरक्षित रहते हुए, हमारी यथार्थप्रियता की भावना को कोई गहरा आघात न पहुचाए। प्रसाद-साहित्य में भी इस रूप में सत्य की रक्षा के पूर्ण पक्षपाती जान पडते हैं। यह बात कुहराच्छन्न अतीत भारतीय इतिहास के विविध युगों को लेकर तथ्यानुसधान की दृष्टि से की गयी उनकी उन ऐतिहासिक गवेषणाओं से पूर्णतया प्रमाणित होती है, जिनका परिणाम उनकी अनेक रचनाओं की भूमिका के रूप में सगृहीत है। ऐतिहासिक तथ्यों से असम्मत

या विपरीत होने के कारण उन्होने अपना 'यशोधर्म देव' नामक नाटक नष्ट ही कर दिया था।[50] डॉ परमेश्वरीलाल गुप्त का तो कथन है कि 'स्कदगुप्त'-विषयक जो नवीन तथ्य प्रकाश मे आये है उनसे यदि प्रसाद आज अवगत होते तो वे अपना उक्त नाटक भी नष्ट कर देते।[51] कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रसाद को, साहित्य का आवरण लेकर, इतिहास की वास्तविकता की उपेक्षा करना कदापि इष्ट नही था। वे ऐतिहासिक सत्य के चौखटे की यथासभव रक्षा करते हुए ही काव्य-रस की निष्पत्ति करना उचित समझते हे। यदि प्रसाद चाहते तो उन ऐतिहासिक युगो को बचाकर भी अपनी साहित्य-सृष्टि कर सकते थे, जिनके सबध मे ऊहापोह किसी किनारे नही लग पाया था। पर वे तो हमारी आखो के सामने भारतीय जीवन की एक अखड धारा को प्रस्तुत करने के उत्साह से आपूर्ण थे, अत जोखिम उठाकर भी वे इतिहास के घने कातार मे धसे। साथ ही यह तथ्य भी आखो से ओझल नही होना चाहिए कि प्रसाद की मूल प्रकृति कल्पनात्मक व भावात्मक थी, अत तथ्यो के प्रति कल्पनात्मक व भावात्मक प्रतिक्रिया उनके अस्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण सत्य थी। ऐतिहासिक प्रामाणिकता के प्रश्न को इस व्यापक भूमि पर लाकर देखे बिना गहरा प्रमाद हो जाने की सभावना है। ऐतिहासिक व्यक्तियो या पात्रो, घटनाओ, परिस्थितियो आदि मे जो उन्होने परिवर्तन या कही-कही व्यतिक्रम किया है, वह उच्चतर आशयों (साहित्यिक रस, युग-सदेश, जीवन-समीक्षा) से प्रेरित होकर ही, कोरे स्थूल से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म को अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर ही। वे प्रथमत साहित्यकार थे, इतिहासकार बाद मे।

प्रामाणिकता की स्थिति को भली भाति समझने के लिए हम इस विषय को कुछ स्तभो के अतर्गत रखकर देखेगे

1 *पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर वृत्त-विन्यास*—प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकीय इतिवृत्तो का मूलाधार प्राय ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित है। डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा तथा डॉ जगदीशचद्र जोशी ने अपन ग्रथो मे इसे सप्रमाण सिद्ध किया है। अधिकाश पात्र व घटनाए इतिहाम पर आधारित है। विशेष कहने की आवश्यकता नही।

2 *इतिहास और कल्पना के मिश्रण के आधार पर वृत्त-विन्यास*—जहा ऐतिहामिक सामग्री का अभाव रहा है वहा प्रसाद ने तर्काश्रित कल्पना का उपयोग करते हुए ऐतिहासिक पात्रो व घटनाओं का ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ—'अजातशत्रु' मे मागधी श्यामा व अबपाली को मिलाकर एक कर दिया गया है।[52] इसी प्रकार 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे नाग-विद्रोह और ब्राह्मण-विरोध मिलाकर एक कर दिये गये है।[53] 'स्कदगुप्त' मे भटार्क व अनतदेवी, विरोध-पक्ष को पुष्ट करने के लिए कल्पना-बल से निकट कर दिये गये हैं।[54] इस प्रकार अनेक पात्रों व घटनाओ मे कल्पना-बल से जोड-तोड की गयी मिलेगी।

3 *शुद्ध कल्पना के आधार पर वृत्त-विन्यास*—डॉ शर्मा के अनुसार बहुत-से पात्र शुद्ध कल्पित हैं—सुरमा, मालविका, विजया, देवसेना, जयमाला, मदाकिनी, अलका, दामिनी। डॉ गुप्त ने स्कदगुप्त के नारी पात्रो मे अनतदेवी के अतिरिक्त सभी पात्र कल्पित बताये है।[55] पुरुष पात्रों मे भी अनेक पात्र शुद्ध कल्पित है, जैसे—मौर्य सेनापति, शिखर स्वामी, विकट घोष, महापिगल आदि। इसी प्रकार अनेक पात्रो पर विचार हो सकता है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव मे भी बहुत-सी स्थितिया व पात्र ग्रहण कर लिये गये हैं। डॉ शर्मा ने कुछ उदाहरण दिये है—मालव मे राजधानी स्थापित होना, भीमवर्मा-बधुवर्मा का भाई-भाई होना, शर्वनाग,

चक्रपालित व मातृगुप्त की स्थिति सबधित नाटक के अनुसार होना, चद्रगुप्त का मालवों-क्षुद्रको का सेनापति बनकर सिकदर का विरोध करना, चाणक्य का कारावास व मुक्ति, कार्नेलिया के प्रेम के कारण चद्रगुप्त-फिलिप्स का द्वद्व-युद्ध आदि—ये बाते इतिहास से पूर्णतया प्रमाणित नही हैं।[56]

डॉ जोशी ने भी अनेक ऐसे स्थल निर्दिष्ट किये है जो इतिहास के विरोध मे है अथवा उससे असमर्थित हे।[59]

नाटको के अतिरिक्त काव्यो, उपन्यामो व कहानियो के अतर्गत आये पात्रो व घटनाओ की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर भी विचार किया जा सकता है, पर इस विस्तार के लिए न तो यहा स्थान है और न यह हमारा मनोनीत अध्ययन का पक्ष ही है।

सब कुछ मिलाकर, ऐतिहासिक प्रामाणिकता विषयक प्रसाद की स्थिति का आकलन कतिपय निम्न उद्धरणो से किया जा सकता है

"असुनिश्चित और असुलिखित भारतीय इतिहास मे यत्र-तत्र बिखरी सामग्रियो को एक सूत्र मे पिरोने की तर्कसगत चेष्टा प्रसाद की उन विशेषताओ मे है जो वर्तमान और हिदी के अतिरिक्त अन्य साहित्यों मे भी कम दिखायी देती है। इतिहास का गभीर अध्ययन, प्रसग-परिकलन की बुद्धि और उपलब्ध इतिवृत्तों की सगत एकात्मकता स्थापित करने की अद्‌भुत क्षमता प्रसाद मे दिखायी पडती है। जहा तक सभव हुआ है इतिहास की मूल प्रकृति का अनुसरण किया गया है ओर सुसबद्धता स्थापिन की गयी है, परतु जहा कल्पना का प्रयोग नितात आवश्यक हो गया है वहा नाटककार की स्वतत्रता का भी प्रसाद ने उपयुक्त आश्रय लिया है।"[58]

प्रसाद के आरभिक नाटक, ऐतिहासिक होते हुए भी ऐतिहासिक नही है।[59]

"प्रसाद ने अपने नाटको के कथानक का रूप स्थिर करने से पूर्व ऐतिहासिक घटनाओं का भली प्रकार ऊहापोह किया है। यदि हम कहे कि इसके लिए उन्होने अपने ढग पर अनुसधान कर ऐतिहासिक तथ्यो को प्राप्त किया, फिर उनको उन्होने अपने नाटक के लिए कथानक का रूप दिया, तो वह तथ्य के अधिक निकट होगा। प्रसाद अनेक स्थलो पर ऐतिहासिक तथ्यो से दूर जा पडे हैं।"[60]

"प्रसाद जी का यह नाटक (स्कदगुप्त) ऐतिहासिक नाटक के आवरण मे अनैतिहासिक नाटक है। उसमे ऐतिहासिक नामों एव देश पर हूण आक्रमण की चर्चा के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु नही है जिसे ऐतिहासिक कहा जा सके।"[61]

"प्रसाद जी के सबध में कहा जाता है कि ऐतिहासिक तथ्यों की व्यवस्था अपने ढग पर करते अवश्य थे, पर वे ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध नही जाते थे।"[62]

अत में, इस सबंध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि प्रसाद ने सत्य के लिए स्थूल इतिहास की अधिक-से-अधिक रक्षा करते हुए उसे जीवन की सूक्ष्मतम उपलब्धियों का माध्यम बनाया है।

भारतीय सभ्यता

अब हम भारतीय सभ्यता का निरूपण उसके कतिपय मान्य उपशीर्षकों के अतर्गत रखकर करेंगे।

राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था सपूर्ण जीवन-व्यवस्था या सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण अग है। इसके अभाव मे देश मे वह परिस्थिति सभव नही जिसमे सभ्यता फूलती-फलती है और वास्तविक सास्कृतिक उन्नति सभव होती है। राजनीतिक व्यवस्था वह व्यवस्था है जिससे देश की भौगोलिक सुरक्षा व उसका दैनदिन सुसचालन होता है। इन लक्ष्यो की सिद्धि के लिए जो भी पदार्थ, सस्था, व्यवहार, विधान, नीति आदि होते है, उन सबका निरूपण सभ्यता के इस स्तभ से सयुक्त है। प्रसाद ने अपनी ऐतिहासिक कृतियो द्वारा यह बताया है कि अतीत भारत मे राजनीतिक व्यवहार-विन्यास भी विकास की किस कोटि को पहुच गया था। प्रसाद ने व्यापक सुख-शाति की दृष्टि से सुशासन की सर्वत्र महिमा बतायी है।[63] शासन की दृष्टि से भारत मे राजतत्र,[64] सामत प्रथा,[65] प्रजातत्र,[66] गणतत्र[67] आदि सबका प्रयोग करके देखा गया था। राजसिहासन भारत मे निर्बाध भाग्य का प्रतीक न रहकर लोकरक्षण व लोकरजन का प्रतीक था जहा सिहासन एक पवित्र वस्तु है।[68] राजकुल को कलुषित करनेवाला श्रद्धा का पात्र नही।[69] राजा धर्म और सस्कृति की रक्षा के लिए ही होना चाहिए।[70] असमर्थ शासक को पदच्युत करने का अधिकार परिषद् अथवा जनता को था।[71] शासक नीतिपूर्वक राज्य-सचालन करते थे। शातिकाल मे कार्य-सुविधा की दृष्टि से विविध पदाधिकारी रहते थे।[72] शत्रु को पीडित करना नीति है। चद्रगुप्त प्रतिपद यवनों को कष्ट देना चाहता है। शत्रु को उलझाए रखना व शत्रु की सामग्री नष्ट करना नीति-सम्मत है।[73] चाणक्य का मत है कि केवल शौर्य से काम नही चलेगा। चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे भी हों।[74] गुप्त ढग से कार्य करते हुए शत्रु को पराजित व निस्तेज कर देना ही नीति है। चाणक्य कहता है—"पौधे अधकार में बढते हैं और मेरी नीति-लता भी उसी भाति विपत्तितम में लहलही होगी।"[75] चर या गुप्तचरों की व्यवस्था भारतीय शासन-नीति का अग है जिससे जनता की वास्तविक स्थिति जानी जा सके, व युद्धकाल में शत्रुओ की गतिविधि एव गुप्त योजनाओ का पता लगाया जा सके। लगभग सभी ऐतिहासिक नाट्य रचनाओं में गुप्तचरों का विधान मिलता है। राजचिह्न, मुद्रा आदि का महत्त्व भी था।[76] मर्यादासूचक शासकीय शिष्टाचारों का निर्वाह भी आवश्यक समझा जाता था।[77] राजपरिषद् का निर्णय अतिम रूप से मान्य समझा जाता था।[78]

शासन का सबसे बडा दायित्व शत्रुओं के सशक्त आक्रमणों से देश की रक्षा है। इसके लिए सेना तथा पदाधिकारियों की आवश्यकता है। भारत मे युद्ध-कला बहुत विकसित थी। सैन्य रचना व सैन्य व्यवस्था भी उच्चकोटि की होती थी।[79] कार्य के सुस्पष्ट विभाजन की दृष्टि से युद्ध व सेना से सबधित विविध पदाधिकारियों की नियुक्ति होती थी।[80] युद्ध-क्षेत्र में गुल्म-रचना होती थी। सुदृढ प्राचीर-युक्त दुर्ग-रचना भी उच्चकोटि की होती थी।[81] दुर्ग-ध्वंस करने के यत्रो का निर्माण प्राचीन भारत मे हुआ था।[82] युद्धकाल में शत्रु की नौकाओ को डुबो देने के लिए हिस्त्रिकाए भी होती थी।[83] अस्त्र-शस्त्र युद्ध के लिए अनिवार्य साधन हैं। अनेक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण और प्रयोग भारत में होता था।[84] शत्रु-विजय की दृष्टि से गुप्तचरण-नीति के साथ रण-कौशल का प्रदर्शन होता था।[85] नासी,[86] भूगर्भद्वार,[87] स्कंधावार,[88] शिविर[89] आदि के उल्लेख द्वारा युद्धकालीन व्यवस्था का अच्छा बोध होता है।

रणविद्या उच्चकोटि की विद्या समझी जाती थी। वह केवल नृशसता नही है।[90] उसका

आदर्श बहुत ऊचा था। सिल्यूकस चद्रगुप्त की प्रशसा करते हुए अपनी पुत्री कार्नेलिया से कहता है—"किंतु उसने उत्तर दिया कि मै सिल्यूकस का कृतज्ञ हू तो भी क्षत्रिय हू। रणदान जो भी मागेगा, उसे दूगा।"[91] इससे क्षत्रिय धर्म व रणदान की पवित्रता का बोध होता है। रणकौशल, रणनीति और रणकला युद्धविद्या का महत्त्वपूर्ण अग था। रण की प्रक्रिया नीतिमत्तापूर्ण होती थी।[92] तूर्य, शख, दुदुभि आदि रणवाद्यो का भी उपयोग होता था।[93] युद्ध-बदियो के साथ धर्म और नीति के अनुसार व्यवहार होता था।[94] जघन्यतम अपराधो के लिए भी क्षमा जैसे मानवीय दड का उपयोग होता था।[95] राजकिल्विष करनेवाले को दड दिया जाता था।[96]

न्याय व नतिक परपरा भाव-विचार और व्यवहार की शुद्धता सब प्रकार की व्यवस्था की नीव है। पर प्रकृति के सत् के साथ रज और तम नामक गुण भी है जो समाज मे व्यवस्था-भग करते है। अन्याय और असत् का उन्मूलन कर सत्य के आधार पर न्याय की स्थापना सुखी समाज की प्राथमिक आवश्यकताओ मे से है। अत न्याय सभ्यता का एक दृढ स्तभ है। प्राचीन युगो मे भारतीय न्याय की कैसी स्थिति थी, यह प्रसाद की ऐतिहासिक रचनाओ से देखने को मिलता है।

न्याय, न्यायाधिकरण, अभियोग, अपराध, दड, क्षमा, राजदड, नीति आदि का उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है। शस्त्रबल पर टिकी वीरता बिना पैर की है। उसकी दृढ भित्ति न्याय है। दड के आधार पर न्याय राजा का परम धर्म है। केवल स्थूल प्रतिशोध नही, व्यापक हित व कल्याण ही न्याय की नीव है। न्याय के पक्ष की विजय ही सर्वत्र अभीष्ट थी।[97]

इसी प्रकार नैतिक परपरा सभ्यता का एक सुदढतम आधार है। 'नैतिक' शब्द बहुत व्यापक अर्थवाला है। समाज की सुव्यवस्था की दृष्टि से श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों के प्रति निष्ठावान् नैतिक आचरण के युगानुयुग अभ्यास व अखड निर्वाह को हम नैतिक परपरा कह सकते है। नैतिक परपरा वस्तुत स्थूल बाहरी आचरण मात्र ही नही; जब तक उसका भीतरी श्रद्धादि गुणों मे सबध नही बैठता तब तक वह जड है। अत प्रसाद ने सर्वत्र श्रेष्ठ नैतिक आचरणों को भीतरी श्रद्धा-विश्वास आदि गुणो से सबद्ध करके ही उनका प्रकाशन किया है। वास्तव मे व्यापक अर्थ में नैतिक परपरा का सबध धर्मनीति, राजनीति व आचार-नीति सभी से है। अत दैनिक परपरा को हम सास्कृतिक आचरण अथवा सास्कृतिक गुणों का क्रियात्मक या व्यवहार पक्ष भी कह सकते है। प्रसाद ने इतिहास के माध्यम से भारतीय नैतिक परपरा का उत्कर्ष अनेक स्थलों पर दिखलाया है। सर्वत्र ही अनीति का पतन दिखाया गया है। प्रसाद-साहित्य के जितने भी प्रमुख ऐतिहासिक पात्र हैं, यथा—रामगुप्त, विकट घोष, अजातशत्रु, विरुद्धक, छलना, भटार्क, शक्तिमती, विजया, कमला (लहर)—वे सभी किसी-न-किसी अनैतिक आचरण के कारण दडित हुए हैं अथवा पराभूत हुए हैं। इसके विपरीत श्रेष्ठ आचरणशील पात्रों का—मिहिरदेव, चाणक्य, गौतम, व्यास, प्रख्यातकीर्ति, गोस्वामी कृष्णशरण, मल्लिका आदि पात्रो के द्वारा प्रसाद ने समाज की स्वस्थ नैतिक परपरा को जीवित, पुष्ट व अग्रसर रखने का प्रयत्न किया है। भारतीय जीवन में गुरुकुल-ऋषिकुल, आश्रम व तपोवन का विधान भी समाज में नैतिकता की रक्षा व निर्वाह की दृष्टि से ही हुआ है, यह सर्वत्र ध्वनित है।

सौदर्य-बोध को तीव्रतर करने की योजना सौदर्य-बोध को तीव्रतर करने की योजना सभ्यता का एक अन्य दृढ स्तभ है। मानव मे सौदर्य-प्रेम की एक जन्मजात वृत्ति है। इस वृत्ति को सजग-ज्वलत रखना अत्यत आवश्यक है। वस्तुत सौदर्य-बोध की क्षमता के अनुपात मे ही मनुष्य के वास्तविक रूप मे जीवित रहने का प्रमाण मिलता है। सोदर्य की मूल वृत्ति या चेतना तो जन्मजात है, किंतु उसे स्वस्थ, पुष्ट व विकसित रखने के लिए व्यक्ति और समाज के धरातल पर जो योजना होती है, वही हमारी सभ्यता का एक विशिष्ट अग है। दूसरे शब्दो मे किसी जाति की सभ्यता कितनी ऊची है, उसे आकने के विशेष आधारो मे से एक आधार यह भी है कि उस जाति की अथवा उसके व्यक्तियो की सौंदर्य-बोध की शक्ति को तीव्रतर बनाए रखने के क्या उद्योग हुए हैं।

हमारी सौदर्य-वृत्ति नैसर्गिक भावनाओ के उन्मेष व प्रकृति के रहस्यपूर्ण भास से उद्‌बुद्ध होती है। सुदर देखना, सुदर को समझना व उसकी सराहना करना व सौदर्य का कलाकृतियो के रूप में सृजन करना—यही सब सौदर्य-बोध को जीवित रखने व तीव्रतर करने की योजना है। भारतीय जाति ने मानव-जीवन के इस पक्ष को पुष्ट करने के लिए जो उद्योग किया है, वह भारतीय सभ्यता का एक बहुमूल्य पक्ष है। प्रसाद ने अपनी ऐतिहासिक कृतियो के द्वारा हमारी सभ्यता के इस पक्ष का भी उद्‌घाटन किया है।

हमारे जीवन का बाह्य पक्ष भी सुदर होना चाहिए—यह भारतीयों की दृष्टि रही है। परिणामस्वरूप बाह्य सज्जा-सौदर्य के अनेक साधन आविष्कृत हुए।

प्रसाद ने भारत के प्राचीन वैभव, सपन्नता और ऐहिक समृद्धि के अनेक रगीन चित्र अकित किए हैं।[98] बडे-बडे नगर सभ्यता व सस्कृति के केद्र थे। काशी एव पाटलिपुत्र का वैभव विशेष रूप के उल्लेख्य है।[99] बडे-बडे दुर्गों,[100] प्रासादों,[101] राजमदिरो,[102] देवमदिरों,[103] तोरण,[104] प्राचीर,[105] उद्यानों,[106] पाथशालाओ,[107] का उल्लेख प्रसाद ने किया है। परिवहन के अनेक साधनो का विकास हुआ था। नौका,[108] रथ,[109] शिविका,[110] हाथी,[111] अश्व[112] का उपयोग होता था।

विशेष आयोजनो के अवसर पर भव्य सज्जा की जाती थी।[113] भवनो मे ताबूल-वाहिनिया,[114] चामर-धारिणिया[115] होती थी। रसिकता को सजीव बनाए रखने के लिए ललित कलाओं का अभ्यास व प्रदर्शन होता था।

वीणावादन,[116] गान,[117] सगीत,[118] नृत्य,[119] वाद्य[120] आदि का प्राचुर्य था। स्वास्थ्यपूर्ण वीरोचित मनोरजन के अन्य अनेक साधन विकसित हुए थे। मृगया-आखेट,[121] वीरों को बहुत प्रिय था।

स्त्री-पुरुष विविध प्रकार के ऋतु उपयोगी परिधान, सुदर व बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। जरतारी ओढनी,[122] जरी के कपडे,[123] सुगध से बसा उत्तरीय,[124] महीन उत्तरीय,[125] नील सघाटी,[126] स्वर्ण तारों से खचित नीला लहगा,[127] मणि-जटित कचुक पट्ट,[128] चचल चीनाशुक,[129] कौशेय[130] आदि के उल्लेख से भारतीयो की परिधान सबधी सूक्ष्म सुरुचि प्रकट होती है। स्त्रिया केश-विन्यास कला की ओर विशेष आकृष्ट थी,[131] वे अलक्तक,[132] ताबूल राग,[133] नीलाजन[134] आदि सौंदर्य-प्रसाधनों का प्रयोग करती थी। वे सतलडी स्वर्ण-मेखला, मणि-मेखला, नूपुर, मरकत का हार, वैदूर्य का कंकण, एकावली, अगूठी, मणिबध आदि स्वर्ण-रत्नालकार धारण करती थी।[135] वे जूडे में चमेली आदि पुष्पों

का आभरण भी धारण करती थी।[136] इद्रनील, वज्रमणि, पद्मराग, मरकतमणि, मुज्झा आदि का प्रयोग होता था,[137] मणिरत्नो के अच्छे पारखी व व्यापारी होते थे।[138] लोग सुगधित द्रव्यो का भी उपयोग करते थे।[139] सुस्वादु, स्निग्ध व रोचक खाद्य-व्यजन तथा भीनी महकवाले सुगधित पेय प्रयुक्त होते थे।[140] वसत-विनोद-गोष्ठिया, वनविहार, सोदर्य-प्रतियोगिता,[141] रथयात्रा,[142] राजसवारी,[143] आपानक,[144] मदनोत्सव—कौमुदी महोत्सव,[145] सगीत-कला-समारोह[146] आदि का उत्साहपूर्ण आयोजन होता था। इद्रियो के लिए पूर्ण तृप्तिकारक होने की दृष्टि से आयोजन होते थे।[147]

नपी-तुली परिपाटीवाला, मर्यादासूचक, शिष्टजनोचित सामाजिक शिष्टाचारो का पालन किया जाता था।[148] परस्पर के सबोधन मृदु, शालीन व सम्मानसूचक होते थे—शुभे,[149] भद्रे,[150] श्रीमती,[151] आयुष्मती,[152] भन्ते,[153] देव, तात; शुभ, भद्र,[154] आर्यपुत्र,[155] सौम्य,[156] आर्य,[157] आयुष्मान्[158] आदि।

अर्थव्यवस्था व वाणिज्य-विज्ञान आदि इसके अतिरिक्त चिकित्सा कला भी विकसित थी। जीवक[159] तक्षशिला में अध्ययन करके लौटे हुए मगध के राजवैद्य थे। 'सालवती' कहानी व इरावती के द्वारा भी उच्चकोटि की शारीरिक चिकित्सा के सकेत मिलते है।

अर्थ-व्यवस्था, शिल्प, कृषि, जल-थल व्यापार आदि की विकिसित स्थिति का ज्ञान 'आकाशदीप', 'दासी', 'पुरस्कार' आदि कहानियों व 'इरावती' उपन्यास से मिलता है।

'व्रतभग' कहानी, 'इरावती' उपन्यास व 'चद्रगुप्त' नाटक से प्राचीन यात्रिक आविष्कारों या चमत्कारों का भी सकेत मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद-साहित्य के अनुसार भारतीय सभ्यता विकासशील व समुन्नत थी। इस प्रकार भौतिक सुख व समृद्धि का पक्ष भी पुष्ट था।

मानव सभ्यता के समीक्षक—प्रसाद प्रसाद ने भारतीय सभ्यता के सौंदर्य का उद्घाटन करने तक ही अपने को सीमित नही रखा है। वे मानव-जीवन के व्याख्याता, एक सच्चे साहित्यकार की तरह 'स्व' की सीमा से आगे बढकर मानव-सभ्यता की गभीर गवेषणा और विश्लेषण में भी प्रवृत्त व निमग्न हुए है। मानव-सभ्यता की प्रगति ठीक दिशा में और सतोषजनक रूप में हो रही है या नही, इसका स्थायी मानदड उनकी आखों में आदि से अत तक विद्यमान है। वह मानदड है—मानव का सच्चा सुख। अत सभ्यता के विश्लेषक के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि वह मानव-सुख के स्वरूप और उसकी प्रकृति से परिचित हो और मानव की सभावनाओ व क्षमताओं या मानव-जाति के ध्येय के प्रति आस्थावान् हो। प्रसाद बौद्धिक तथा भावात्मक दोनों धरातलों पर मानव-जाति के चरम लक्ष्य के प्रति जागरूक हैं। व्यक्ति-केंद्र में यह लक्ष्य है आत्मा का गभीर आनद और विश्व-केंद्र मे यह लक्ष्य है मानव-जाति का कल्याण; समानता, विश्व-मैत्री आदि के आधार पर मानव जाति की एकता। प्रसाद एक वैज्ञानिक विचारक हैं। सुदीर्घ इतिहास के गभीर अनुशीलनकर्त्ता के नाते प्रसाद मानव और मानव-जीवन की नियति में अत्यत गहरी रुचि रखते हैं। प्रसाद उन विचारकों में से नहीं हैं जो जीवन को एक अधी दौड मानकर चलते हैं। उनकी नियति, जो ऊपर से एक अध शक्ति-सी जान पडेगी, का सिद्धात भी यह बताता है कि जीवन का एक महत् लक्ष्य है और वह इस पृथ्वी पर मानव के द्वारा ही सिद्ध होगा। नियति अपने ढग से चुपचाप इस

योजना को कार्यान्वित करती ही है। जीवन की नैतिक व्यवस्था व उसके लक्ष्य की उच्चता, उनके चितन का प्रस्थान-बिदु है। तात्पर्य यह कि उनका सभ्यता-सबधी चितन मानव और मानव-जीवन के भावात्मक या स्वीकारात्मक लक्ष्य पर टकटकी लगाये रखते हुए गतिशील रहा है। एक आत्मवादी-आनदवादी दार्शनिक का विश्व की मूल व्यवस्था की नैतिकता मे विश्वास रहना अवश्यभावी ही है।

अनेक सभ्यताओ के निर्माण की प्रक्रिया के द्वारा मानव-जाति अपने लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करती आ रही है, पर कभी-कभी वह भ्राति की भूलभुलैया में भी फस जाती है। 'ककाल', 'कामना', 'कामायनी' आदि रचनाओ मे प्रसाद ने मानव-सभ्यता की समस्या को विशेष सभार के साथ उठाया है। 'कामना' की रचना तो मानव को सच्चे सुख का मार्ग दिखाने की ही प्रेरणा से हुई है। मानव सभ्यता के विकास का एक पूरा चित्र प्रस्तुत करके प्रसाद ने दिखाया है कि किस प्रकार एक स्थूल भोगमूलक सभ्यता मानव-जाति का नाश उपस्थित करती है। लालसा, भोग और विलास को ही चरम लक्ष्य मानकर चलनेवाली जाति जिस जीवन-प्रणाली की स्थापना करती है उसके द्वारा मानव की सच्ची शाति आकाश कुसुमवत् है। किस प्रकार वहा अधिकारो की सृष्टि होती है, अपराधो की आधी[160] चलती है, दड, कानून, विधान, शासन, सेना, अपहरण, स्पर्द्धा, हत्या, मारकाट की एक अटूट व जटिल परपरा चल पडती है, विघटन का एक अनवरत विषम चक्र चल पडता है, यह 'कामना' मे अत्यत उच्चाशयता, गभीरता व मार्मिकता के साथ चित्रित हुआ है।

मानव अपने ही बनाए हुए जाल में उलझ-उलझकर मर जाता है, इसका क्रमबद्ध वर्णन 'कामना' में मिलेगा। विलास पर विवेक की विजय दिखाकर प्रसाद ने मानव के सच्चे सुख की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। यद्यपि प्रसाद रस-भोक्त व रस-स्रष्टा के रूप मे साहित्य में विवेकवाद व स्थूल बौद्धिकता के विरोधी हैं, पर एक समाज-शास्त्री के नाते उन्होने मानव-सुख के लिए विवेक को सर्वोपरि स्थान दिया है। हो सकता है कि फ्रास के रूसो द्वारा प्रचारित नारा (कि प्रकृति की ओर लौट चलो), जो 'कामना' में समस्याओं के समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, विकासवादी दृष्टि से प्रतिक्रियावादी अथवा जीवन की यथार्थता की दृष्टि से कोरा भावुकतापूर्ण जान पड़े और इस समाधान से बहुत-से विचारक अपनी असहमति व्यक्त करें, किंतु यह मानने से कदाचित् इनकार नही किया जा सकता कि मानव-जीवन की स्थिति पर प्रसाद अत्यत दुखी है,[161] "हम लोग कहा चले जा रहे हैं।" "रे मनुष्य तू कितने नीचे गिर गया"[162] आदि वाक्य बताते है कि वे मानव-सुख का मार्ग ढूढने के लिए भौंहों में गहरी रेखाए लिए सतत चिंतामग्न है। उनकी अतिम काव्यकृति 'कामायनी' में भी मानव के सुख या आनद की इस शाश्वत समस्या का गभीर ऊहापोह हुआ है। उसमें प्रसाद ने मानव सभ्यता के उद्‌भव और विकास का साकेतिक चित्र उपस्थित करते हुए यह भली भाति दर्शाया है कि केवल विकास के उपकरण जुटा लेने मात्र से या सुदृढ शासन-प्रणाली की स्थापना कर लेने मात्र से ही मानव सुखी नही हो सकता। सारस्वत प्रदेश में मनु की सहायता से इडा के राज्य मे सुशासन की स्थापना व सभ्यता का विकास हो जाने पर भी वहा सच्ची शाति नही है। आनद का सही मार्ग है समरसता की दृष्टि का विकास कर इच्छा, ज्ञान और क्रिया में सामजस्य उत्पन्न कर जीवन व्यतीत करना। वह सभ्यता जो छद्म, गोपन और शरीर सुख पर ही खडी है, मानव

की सच्ची मभ्यता नही है। प्रसाद ने मानव-सभ्यता के विचारक रूप मे जो अपना यह विचार प्रस्तुत किया है वह काव्य और नाट्य की सरस पद्धति से प्रस्तुत किया जाकर अत्यत मरस व विचारोत्तेजक हो उठा है।

भारतीय सस्कृति

सामान्यन प्रसाद-साहित्य मे भारतीय सस्कृति—इस पदावली से प्रसाद द्वारा भारत के अतर्जीवन के विकास का अध्ययन ध्वनित होता है। वृत्तियो की उच्चता और परिष्कार ही सस्कृति का मूल है। व्यक्ति-केद्र की बात छोड दें तो वृत्तियों की उच्चता व परिष्कार की अभिव्यक्ति दो विशिष्ट धरातलो पर होती हैं

1 सामाजिक स्तर पर व्यक्तियो के पारस्परिक व्यवहार व आचरण मे, और
2 एक जाति तथा अन्य जातियो के पारस्परिक व्यवहार व आचरण में।

भारतीय सस्कृति, भारतीय जलवायु मे, एक विशेष प्रकार की जीवन-दृष्टि, जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था तथा एक आदर्श विशेष की प्राप्ति के लिए सतत अभ्यास का प्रतीक है। भारत की सस्कृति क्या है या कैसी थी, यह प्रसाद द्वारा निरूपित पात्रों के उच्चतम जीवनादर्शों, जीवन-मूल्यो व व्यवहारो के अध्ययन से जाना जा सकता है। हमने भारतीय जीवन के कतिपय मूलभूत गुणों, विशेषताओं या मूल्यो को स्वयसिद्ध विवादातीत रूप में स्वीकार कर रखा है। वे ही हमारी 'सस्कृति' के द्योतक है।

भारतीय सस्कृति विश्वसस्कृति का एक अश या अग है। इसके कुछ अपने विशिष्ट गुण है (जो दूसरी सस्कृतियों मे भी हो सकते हैं)। इन गुणों को पात्रो के माध्यम से चरितार्थ करने के लिए या करते हुए प्रसाद ने अपनी रचनाए प्रस्तुत की है। भारतीय सस्कृति की अभिव्यक्ति प्रसाद ने दो प्रकार से की है—(1) परोक्ष रूप से, और (2) प्रत्यक्ष रूप से। परोक्ष रूप से करने से आशय है, लेखक का अपनी सस्कृति के सबध में अपनी ओर से कुछ विशेष न कहकर अन्य सस्कृतियों का इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण या निरूपण करना कि वह समानता या वैषम्य के द्वारा भारतीय सस्कृति के यथार्थ स्वरूप को स्वयमेव उभार दे। प्रत्यक्ष रूप से आशय है, सीधे-सीधे अपनी सस्कृति के गुणावगुण का निरूपण। अब हम प्रसाद द्वारा निरूपित विभिन्न सस्कृतियों पर दृष्टिपात करेंगे।

आर्येतर (यवन, ईसाई, इस्लामी, शक-हूण, चीनी) संस्कृतियो के निरूपण द्वारा, परोक्ष विधि से, भारतीय सस्कृति का निरूपण—यवन सस्कृति प्राचीन यूनानी सस्कृति विश्व की उच्च सस्कृतियों में से एक है। भारतीय सस्कृति के सौंदर्य को प्रस्फुटित करने के लिए प्रसाद ने यवन या ग्रीक सस्कृति को प्रस्तुत किया है। अनेक स्थानो पर प्रसाद ने उस सस्कृति की विशेषताएं मुक्तकंठ से स्वीकार की हैं। ग्रीक-वीरता व गुणग्राहकता के प्रति प्रसाद के मन में सम्मान है। वीरोचित व्यवहार,[163] मैत्री-कामना,[164] अपने स्नेही के सम्मान की रक्षा करनेवाले के प्रति मृदुल भाव,[165] आत्म-सम्मान के लिए प्राण देने की तत्परता,[166] वीर की वीरोचित सराहना,[167] वीरता पर विस्मय-विमुग्ध होना,[168] आदि विशिष्ट गुण ग्रीक पात्रों के आचरण- व्यवहार के माध्यम से लेखक ने विस्तार के साथ दिखाये हैं। अलक्षेंद्र को नीतिकुशल, दूरदर्शी, साधु-सम्मान प्रेमी, सहिष्णु व वीर, अनुग्रह-विनम्र दिखाया है।[169] किंतु

साथ ही ग्रीक सस्कृति का दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत किया गया है। हत्या व लूटपाट से भरी साम्राज्य-लिप्सा,[170] उत्कोच देना,[171] निरीह जनता का अकारण नृशस वध,[172] खडी खेतिया उजाडना, लूटपाट को साम्राज्य-विस्तार के साधन के रूप मे देखना,[173] बलात्कार करना, लूटकर स्त्रियो को बदी या दासी बनाना,[174] ललनाओ के साथ धृष्ट व्यवहार करना,[175] स्त्री पर हाथ उठाना या उसे पकडना,[176] स्त्रियों के प्रति असम्मान प्रदर्शित करना,[177] भगोडे के समान आचरण करना,[178] गाव को जलाना,[179] अपनी प्रतिज्ञा भग करना तथा अचेत सेना पर कदर्य आक्रमण करना,[180] पवित्र रणनीति को भुलाकर आतक फैलाना[181] आदि आचरण ग्रीक-जाति का व्यवहार पक्ष प्रस्तुत करते है। व्यवहार जाति के मूल सस्कारो का ही प्रकाशक होता है। यह व्यवहार हमें किसी जाति की मूल वास्तविकता को आकने या जाचने का सही मानदड देता है। भारतीय सस्कृति कैसी है, इसे परोक्ष रूप मे झलकाना ही उक्त स्थलों पर लेखक को इष्ट है। भारतीय सस्कृति की श्रेष्ठता कार्नेलिया की भारतीय शिक्षा ग्रहण करने की प्रवृत्ति या अनुराग[182] तथा असीम भारत प्रेम[183] के उद्‌गारो द्वारा और भी पुष्ट की गयी है। इस प्रकार गुणावगुणों के साथ दो जातियो की सस्कृतियो का एक स्पष्ट तुलनात्मक चित्र हमारी आखो के आगे आ जाता है। सिल्यूकस के अनुरोध की रक्षा के लिए चद्रगुप्त का पहुचना,[184] उसका यह कहना कि भारतीय कृतघ्न नही होते[185] तथा आर्य लोक निमत्रण अस्वीकार नही करते[186]-जैसी अनके बाते विशेष रूप से तुलना के आधार को स्पष्ट करती है।

मुस्लिम व तुर्क-सस्कृति मुस्लिम सस्कृति का भारतीय सस्कृति के साथ सपर्क पर्याप्त दीर्घकालीन है। प्रसाद ने मुस्लिम सस्कृति का भी स्थान-स्थान पर निरूपण या सकेत किया है। दीन इस्लाम स्वीकार करने को जोराबरसिह, फतहसिह को बाध्य करना व धर्मांधता के वशीभूत हो उन्हे दीवार मे चुनना,[187] धर्म-स्तभ गिराना,[188] रूप-सौदर्य के वशीभूत हो किसी राज्य पर आक्रमण करके उसे त्रस्त-ध्वस्त करना,[189] छलपूर्ण आचरण करना,[190] पिता को मारकर राज्य हथियाना,[191] सहज मानव-भाव को भुलाकर कट्टर साप्रदायिकता से रहना,[192] उत्कोच देकर किले पर अधिकार करना[193] आदि बाते उक्त सस्कृति के अनुयायियो में दिखायी गयी हैं। तुर्कों के द्वारा खुले आम मारकाट और बहुमूल्य पदार्थों की लूट तक का वर्णन भी किया गया है।[194] 'महाराणा का महत्त्व' में नवाब कहता है कि 'तुर्क देश से गाधार तक मुझे सभी क्रूर और निर्दय मिले, सभी अपने स्वार्थ से युद्धकार्य करते थे, जन्मभूमि के लिए और प्रजा के सुख के लिए प्रताप के समान आत्मोसर्ग भला किसने किया ?'[195]

शक व हूण सस्कृति शको और हूणों की सस्कृति की भी एक झलक प्रसाद के नाटको में देखने को मिलती है। शकराज खिगल से कहा है—"हम लोग गुप्तों की दृष्टि मे जगली, बर्बर और असभ्य हैं, तो मेरी प्रतिहिंसा भी बर्बरता के ही अनुरूप होगी। हा, मैंने अपने शूर-सामतों के लिए भी स्त्रिया मांगी थी।"[196] शकराज एक स्त्री (ध्रुवस्वामिनी) को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए अनर्थ कर रहा है।[197] 'स्कदगुप्त' के हूण बर्बर है और रण-विद्या उनके लिए केवल नृशसता है।[198] हूण सोने के लोभ से गोद के बच्चों को छीनकर शूल पर के मास की तरह सेंकते हैं। हूण लुटेरे है, वे सडी लोथें नोचते हैं[199] तथा अर्थ-लोभी पिशाच हैं।[200]

ईसाई सस्कृति प्रसाद ने ईसाई सस्कृति को भी प्रस्तुत किया है। 'ककाल', 'तितली' नामक उपन्यासों एव 'शरणागत' नामक कहानी में यह प्रयत्न दिखायी पडता है। 'ककाल' के

पादरी जान बाथम, लतिका, 'तितली' के शैला, वाटसन, स्मिथ, बार्टली, और 'शरणागत' कहानी के विलफर्ड और एलिस आदि पात्रो के माध्यम से प्रसाद ने ईसाई सस्कृति व विचारधारा को भारतीय सस्कृति का स्वरूप उभारने के लिए प्रस्तुत किया है।

बाथम की पत्नी मारगरेट लतिका ईसाई है, किंतु वह भारतीय ढग से ही रहना पसद करती है।[201] स्वय बाथम को दृढ विश्वास है कि 'गृहिणीत्व' की जैसी सुदर योजना भारतीय स्त्रियो की है वैसी अन्यत्र नही।[202] 'तितली' की शैला भारतीय जीवन के प्रति पूर्णत आकृष्ट होकर भारत में ही बस गयी है। 'इस असहाय लोक में तुम्हारे अपराधो को कौन ऊपर लेगा ? तुम्हारा कौन उद्धार करेगा,[203] पापो का पश्चात्ताप द्वारा प्रायश्चित' 'पर शीघ्र ही उन कर्मों को क्षमा करता है।'—(पादरी)[204] 'यदि यह सत्य हो तो भी इसका प्रचार न होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य को पाप करने का आश्रय मिलेगा।'—(सरला)[205] आदि वाक्यो में प्रसाद का तर्क-वितर्क निहित है। प्रसाद को यह ईसाई भावना नही रुचती कि हम जन्म से ही पापी-अपराधी हें और हम सदा पश्चात्ताप ही करते रहे और यह कि कोई हमारे अपराधों को अपने सिर पर कभी लेगा। अपने को चिर पापी और अपराधी मानने की भावना के बजाय प्रसाद को यह बात अधिक पसद है कि हम शुद्ध आचरण व पुरुषार्थपूर्ण कर्म के द्वारा अपने किये का प्रक्षालन करे, जिससे कि हम सच्ची मानसिक मुक्ति का अनुभव कर सके।

इस प्रकार ईसाई जीवन व सस्कृति की केद्रीय भावना के प्रति प्रसाद की धारणा स्पष्ट है। 'शरणागत' कहानी मे प्रसाद ने भारतीय जीवन, भोजन, वेशभूषा, रहन-सहन, शिष्टाचार आदि की विदेशी सस्कृति या सभ्यता से श्रेष्ठता बतायी है।

चीनी सस्कृति चीनी सस्कृति की एक बडी ऐतिहासिक विशेषता—धर्म-प्रेम, ज्ञान-पिपासा—की एक सक्षिप्त-सी झलक प्रसाद ने 'राज्यश्री' में धर्म और शाति के प्रेमी 'सुएनच्वाग' में दिखायी है।[206] स्त्री-सम्मान, गुणग्राहकता, ज्ञान-प्रचार आदि की भावनाए सुएनच्वाग के चरित्र में द्रष्टव्य हैं।[207] ये गुण भारतीय सस्कृति के विरोध में न होकर उसके मेल में ही हैं, यह स्पष्ट है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि प्रसाद ने जिन विदेशी सस्कृतियों को प्रस्तुत किया है, उन्हें भारतीय सस्कृति के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए कलात्मक साधन के रूप में ही प्रयुक्त किया है, किसी प्रकार उनका उत्कर्ष या अवमूल्यन सूचित करने के लिए नहीं। एक लघु सीमा में किसी भी सस्कृति का मूल्याकन या वास्तविक स्वरूप-निर्देश असभव है। प्रसाद की विश्व-मैत्री की भावना वस्तुत सब सस्कृतियों के प्रति प्रेम व आदर की भावना ही सिखाती है। सस्कृतियों की तुलना वस्तुत एक अत्यत कठिन कार्य है। पर कभी-कभी लेखक अपनी सभ्यता और संस्कृति के स्वरूपोद्घाटन की दृष्टि से (श्रेष्ठता ही बताने के स्पष्ट और निश्चित, सकीर्ण सांप्रदायिक भाव से नहीं) जाने-अनजाने दो सस्कृतियों को हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। परिणामस्वरूप उन सस्कृतियों के वाहक पात्रो व उनकी जीवन-धाराओं पर स्वभावत हमारी एक तुलनात्मक दृष्टि पड जाती है।

प्रत्यक्ष विधि द्वारा भारतीय (देव, हिंदू, बौद्ध सस्कृति का निरूपण पात्रो के भावोद्गार भारत की सस्कृति के गौरव को लक्ष्य में रखकर व्यक्त किये गये अनेक उद्गार बडे मार्मिक हैं। बुद्धगुप्त चम्पा से कहता है—"स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश। वह महिमा की प्रतिमा।"[208] कुमारदास कवि मातृगुप्त से कहता है—"इसलिए मैं स्वप्नों का देश 'भव्य

भारत' छोडता हू। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा ।"[209] कार्नेलिया चद्रगुप्त से कहती है—"नही चद्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है यह स्वप्नो का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना यह प्रेम की रगभूमि—भारत-भूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नही। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।"[210] अन्यत्र भी वह कहती है—"वही भारतवर्ष। वही निर्मल ज्योति का देश, पवित्र भूमि।"[211] भारत से विदा होते हुए सिकदर से चाणक्य कहता है—"तुम वीर हो, भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते है। हम लोग युद्ध करना जानते हैं, द्वेष करना नही।"[212] भारतीय वीर पर्वतेश्वर का गौरव-गान करता हुआ सिकदर कहता है—"मैंने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है। होमर की कविता मे पढी हुई जिस कल्पना से मेरा हृदय भर है, उसे यहा प्रत्यक्ष देखा।"[213] चद्रगुप्त के इस कथन पर कि आर्य कृतघ्न नही होते "सिधु के इस पार अपने सेना-निवेश मे आप है, मेरे बदी नही ।"[214] सिल्यूकस चमत्कृत होकर विस्मय से कहता है—"इतनी महत्ता।"[215] एक और स्थान पर वह कहता है—"यह अद्‌भुत देश है।"[216] भारत से अतिम विदाई के समय सिकदर आर्य चद्रगुप्त से कहता है—"आर्यवीर। मैने भारत मे हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओ को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। सभवत प्लेटो और अरस्तू भी होगे। मै भारत का अभिनदन करता हू।"[217] उसी समय वह आर्य चाणक्य से भी कहता है—"धन्य है आप, मै तलवार खीचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हू। विस्मय-विमुग्ध हू।[218] अनार्य नाग जाति की मनसा आर्य गौरव से चमत्कृत होकर कहती है—"इस जाति की महत्ता देखकर मैं मुग्ध हो गयी हू।"[219] भारतीय त्याग का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सुएनच्वाग राज्यश्री से कहता है—"तुम्ही मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश मे सुनाऊ।"[220]

प्रशसात्मक ये उद्गार तथ्य-सम्मत कितने है, यह इतिहास का विषय है। हा, जिन परिस्थितियो के बीच ये उद्गार कल्पित किये गये हैं, उनमें से अधिकाश परिस्थितिया इतिहासानुमोदित ही जान पडती है। प्रसाद का कवि-हृदय व राष्ट्र-प्रेम भी अवश्य इस रूप मे भारतीय सस्कृति के स्वरूपोद्‌घाटन के उत्तरदायी हैं।

देव सस्कृति प्रसाद ने 'कामायनी' मे देव सस्कृति का भी वर्णन किया है। देव पद की प्राप्ति तो यज्ञवाद, हिसावाद, निर्बाध भोग और विलास पर खडी है,[221] उसमें भोग और विलास मात्र है, 'कर्म का भोग और भोग का कर्म नहीं'। अत वह प्रलय की लहरों में डूब जाती है। प्रसाद ने देव संस्कृति की तुलना में मानव सस्कृति को अधिक उच्च व गौरवमयी बताया है। देव सस्कृति भोग सस्कृति है, अत उसका पतन अवश्यभावी है। 'कामायनी' के आरभ में जो देव सस्कृति का चित्रण हुआ है, वह भावी मानव-सस्कृति की पूर्व पीठिका के रूप में ही। वह एकागी है—केवल भोगमूलक, दभ, निर्बाध विलास, अकर्मण्यता व स्वार्थ ही उसके जीवन-सूत्र हैं। अत उसका पतन कवि को इष्ट है। इस समस्त प्रसग से 'मानव-सस्कृति' की सर्वोत्कृष्टता ही व्यजित है।

हिन्दू सस्कृति हमारी सस्कृति के कुछ आधारभूत गुण हैं समन्वय भाव, सहिष्णुता, बहुत्व में एकत्व की पहचान, स्वातत्र्य (धार्मिक, सामाजिक एव व्यक्तिगत), चैतन्य तत्त्व की सर्वोपरिता, भोगों की क्षणभगुरता समझते हुए भी सांसारिक जीवन की उपेक्षा या अवहेलना न

करना, निश्रेयस के साथ अभ्युदय की प्राप्ति, व्यापक धर्म-भावना, ऊर्ध्वगति या अध्यात्म की साधना, ज्ञानपूर्वक किया गया निष्काम कर्म, लौकिक विजय की अपेक्षा आध्यात्मिक विजय की श्रेष्ठता, लोककल्याण के लिए राजसत्ता का उपभोग, उच्च मानसिक भाव—उदारता, सहिष्णुता, नूतन भावो का स्वागत, त्याग, तप, लोकहित आदि कुछ विशिष्ट गुण मिलकर ही भारतीय सस्कृति का निर्माण करते है।[222]

हिन्दू सस्कृति की आत्मा को प्रदर्शित करनेवाले इन गुणो को रूप-भेद से भिन्न पदावली मे भी रखा जा सकता है। प्रसाद के साहित्य द्वारा हमे भारतीय सस्कृति के प्राय ये ही गुण प्राप्त होते है। अत गुणो के क्रम से ही यदि हम उसे समझने का प्रयास करें तो सुविधाजनक होगा। प्रसाद ने जिन पात्रों की सृष्टि की है, उनमें से कुछ विशेष पात्रो के माध्यम से उन गुणो को समझने का प्रयास करेगे। प्रसाद जीवमात्र के प्रति दया या करुणा, अहिसा, क्षमा, विश्वमैत्री, सहानुभूति, लोकसेवा, परोपकार और मानवता की भावना को सस्कृति के सर्वोच्च गुण मानते दिखायी पडते है। 'करुणा' का गुणगान करते तो वे अघाते नही हैं। उनके अनेक उच्चाशयी पात्र जीवन मे मानव-करुणा से ही परिचालित है।[223] इसी प्रकार अहिसा की भावना भी प्रसाद की दृष्टि में सर्वोच्च सास्कृतिक गुणो में से है।[224] हा, प्रसाद की अहिसा की आरभिक धारणा से उनकी उत्तरकालीन धारणा मे अवश्य कुछ अतर है।[225] क्षमा की महिमा भी उन्होने महत् चरित्रवाले पात्रो के माध्यम से दर्शायी है।[226] अनेक रचनाओं में पृष्ठ-पृष्ठ पर क्षमा की महत्ता का परिचय मिलेगा।[227] पर साथ ही आततायियों से समाज को निरापद करने की दृष्टि से प्रसाद दडविधान को भी विस्मृत नही करते।[228] विश्वमैत्री को अतर्राष्ट्रीय व्यवहार का वे आदर्श मानते हैं।[229] विश्वमैत्री की प्रतिष्ठा के लिए वे वाक् सयम को पहली सीढी मानते हैं।[230] उदारता व सहानुभूति भी श्रेष्ठ मानवीय गुण है।[231] इसी प्रकार लोकसेवा और परोपकार भारतीय सस्कृति के शीर्षस्थ गुण है।[232] अतिथि-सत्कार व शरणागत की रक्षा,[233] कृतज्ञता,[234] उत्तम गुणों की पूजा या गुणग्राहकता,[235] उत्तम निष्काम कर्म आदि गुण भी विशिष्ट है।[236] भारतीय सस्कृति नारी की रक्षा व सम्मान को विशेष उच्च स्थान देती है।[237] उच्चगृहिणीत्व व विवाह की पवित्रता विशेष आकर्षण की वस्तु है।[238] गो, ब्राह्मण, दीन, रोगी व बालक की रक्षा मे भारतीय हृदय विशेष तत्पर रहता है।[239] अभय गुण की भारतीय सस्कृति में बडी महिमा है *(अभय सत्त्वसशुद्धि)*।[240] गीता मे वह दैवी सपद् कहा गया है। डॉ राधाकृष्णन् इसे भारतीय सस्कृति के तीन आधारभूत तत्त्वो (अभय, असग, अहिसा) में से मानते हैं।[241] 'इरावती' में ब्रह्मचारी कहता है—"आनद से भय छूटता है।[242] निर्भय होकर कर्म-कूप में कूद पडनेवाले पुरुषार्थी को नियति का कुछ भी भय नही होता।[243] भारतीय सस्कृति का एक प्रमुख गुण है समन्वय। शस्त्र और शास्त्र का समन्वय,[244] वीरता और शृगार का समन्वय,[245] योग और त्याग का समन्वय, दड और क्षमा का समन्वय, कोमलता और कठोरता का समन्वय आदि। विश्वकल्याण व आत्मिक शाति की कामना—'सर्वे भवन्तु सुखिन' की भावना—भारतीय सस्कृति का नवनीत है। प्रसाद के नाटकों और काव्यों के अत में प्राय सर्वत्र यह भावना मिलेगी। अन्य स्थलों पर भी यह भावना दिखायी पडती है।[246]

बौद्ध सस्कृति : विश्वमैत्री व करुणा को केंद्र में रखनेवाली बौद्ध सस्कृति के प्रति प्रसाद के मन में असीम श्रद्धा है। गौतम, मल्लिका, बिंबसार, हर्ष, राज्यश्री, वासवी, पद्मावती,

सुएनच्वाग आदि पात्र इस सस्कृति की उपज है, पर प्रसाद ने बौद्ध धर्म के ह्रासोन्मुख युग की जीवन-प्रणाली के प्रति सर्वत्र क्षोभ व्यक्त किया है। इरावती ('इरावती' उपन्यास), सुजाता ('देवरथ' कहानी) आदि पात्रो के माध्यम से बौद्ध धर्म व सस्कृति का विकृत रूप ही सामने आता है। पर मूल बौद्ध सस्कृति के प्राणभूत गुणो के प्रति प्रसाद बहुत आकृष्ट है।[247]

अनार्य सस्कृति आर्यजाति के पूर्व की सस्कृति का चित्रण भी कवि ने 'जनमेजय का नागयज्ञ'[248] में किया है। इस जाति की वीरता की प्रशसा करते हुए व्यास कहते हैं—"इस प्रचड वीर जाति के क्षत्रिय होने मे क्या सदेह है।[249] वीरता, साहस, स्वाभिमान की भावना से भरी नागजाति आर्यो के प्रति क्रूर है, पर जनमेजय भी उनसे कम क्रूर नही।" वस्तुत प्रसाद ने आर्यों का गौरव बनाते-बनाते कदाचित् यथार्थ का स्पर्श देते हुए आर्यों की क्रूरता व उनके अनार्यो पर अत्याचार[250] को भी व्यक्त कर दिया है।

मानव सस्कृति प्रसाद ने सस्कृतियो का वह निरूपण सभवत किसी उच्चावचता को प्रमाणित करने की भावना से नही किया है, क्योकि अखड मानवता और मानव सस्कृति को अपना ध्येय बनाकर चलनेवाले प्रसाद किसी जातीय श्रेष्ठता की ऊपरी व स्थूल भावना से सतुष्ट होनेवाले नही थे। 'ककाल' की रक्तशुद्धि की समस्या तथा भारतीय सस्कृति की वर्तमान स्थिति के सबध में उनके विचार स्पष्ट हैं। वास्तव में कोई भी जाति मानवीय सस्कृति की पूर्णता को प्राप्त कर भी नही सकती। अधिक से अधिक वह समग्र मानव-सस्कृति के एक पक्ष का दर्शन कर सकती है।[251] क्योकि प्रत्येक देश या जाति अपने इतिहास व भूगोल की सीमाओं में प्रकृत्या आबद्ध है। यह स्थिति उसे यह गर्व कभी नही करने दे सकती। सस्कृतियों के इस निरूपण द्वारा प्रसाद प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे एक अखिल मानवीय सस्कृति की स्थापना का ही प्रयत्न करते दिखायी पडते हैं। उनके सास्कृतिक निरूपण का मुख्य उच्छ्वास यही है। भारतीय सस्कृति की श्रेष्ठता दिखाना तो वस्तुत उन महान् गुणो का स्मरण मात्र है, जो पूर्ण मानवीय सस्कृति में ही सभव हो सकते हैं।

प्रसाद ने विविध सस्कृतियों के सक्षिप्त या विस्तृत चित्र अकित किये है। साहित्यकार भविष्य का द्रष्टा एव मानव-कल्याण का पुरस्कर्ता होता है। अत यह उनका दायित्व है कि सस्कृतियो की गतिविधियो का लेखा-जोखा करते हुए किसी ऐसी सस्कृति की भी तर्कसम्मत कल्पना करे जो मानव को जीवन की नियत सीमाओं में यथासभव अधिकाधिक सुख व सच्चा सतोष प्रदान करे। प्रसाद ने भारतीय सस्कृति का जो निरूपण किया है वह तो स्पष्ट ही है। इससे आगे बढकर भी प्रसाद ने एक और सस्कृति का आभास दिया है, जिसे हम 'मानव सस्कृति' कह सकते है। प्रसाद के साहित्य में कुछ ऐसे प्रसगों का निर्देश किया जा सकता है, जिनको एकसाथ मिलाकर देखने पर प्रसाद की मानव-सस्कृति की कल्पना अधिक स्पष्ट होती हुई जान पडती है। उन प्रसगों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि प्रसाद जाति, धर्म, वर्ग, रक्त व भूगोल की बाह्य कृत्रिम रेखाओं को लाघकर शुद्ध मानव-भावना के आधार पर एक भावी मानव-समाज की स्थापना के लिए आद्यत चितामग्न व उद्योग-निरत हैं। उस भावी काल्पनिक समाज की संस्कृति ही 'मानव सस्कृति' है। इस नवीन सस्कृति की परिकल्पना में यह तथ्य निहित है कि अभी तक मानव को सुखी बनाने के लिए सिद्धात रूप से भले ही पूर्ण संस्कृतियों की कल्पना की जा चुकी

हो, किंतु व्यवहार मे मानव अभी तक असस्कृत ही रहा है। वह सस्कृति किस प्रकार पूर्ण हो सकती है, यह जातियो व पात्रो के पारस्परिक आचरण-व्यवहार के माध्यम से लेखक ने दिखलाने का प्रयास किया है।

'चद्रगुप्त' मे चद्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह उस सस्कृति की ओर बढने का एक क्रातिकारी चरण है।[252] 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे नागबाला मणिमाला का जनमेजय के साथ विवाह आर्य और अनार्य जातियो की प्रेमशृखला बनकर मानवैक्य की ओर बढने का प्रतीक है।[253] 'राज्यश्री' मे सुएनच्वाग का भारत के प्रति अनन्य प्रेम विश्वैक्य की ही भावना का पोषक है।[254] 'अजातशत्रु' की मल्लिका शुद्ध मानवधर्म से ही प्रेरित है। 'तितली' मे इद्रदेव और शैला का विवाह देश, जाति और रक्त से परे शुद्ध मानव सबधो पर आधारित है। 'ककाल' मे गोस्वामी कृष्णशरण के प्रयत्न से मगल और गाला का विवाह भी एक मानवता की भावना का परिणाम है। वस्तुत 'ककाल' मे तो लेखक ने मानवधर्म पर आधारित विश्व के लिए एक 'मेनिफेस्टो' ही प्रकाशित कर दिया है। 'सलीम' कहानी मे पडित लेखराम और गुलमुहम्मद खा के परिवारो के बीच का सबध मजहब के कठघरे को तोडकर शुद्ध मानव-प्रेम पर खडा है।[255] 'आधी' कहानी की ईरानी 'लैला' राष्ट्र और जाति की भावना को भेदकर रामेश्वरनाथ से प्रेम करती है। 'तानसेन' कहानी में रामप्रसाद (तानसेन) और सौसन का जो विवाह हुआ है वह कला से पोषित 'प्रेम'-धर्म के आधार पर ही, 'शरणागत' कहानी में किशोरसिह व विल्फर्ड दपती के बीच का प्रेम-सबध शुद्ध मानवीय नीव पर खडा है। 'घीसू', 'नूरी' व 'सालवती' कहानियो मे भी मानव-भावना ही पुष्ट हुई है। 'मधुआ' कहानी में शराबी बूढा व मधुआ इसी मानव-प्रेम से बधे हुए है। 'कामायनी' मे तो हृदय की श्रेष्ठ वृत्तियों के आधार पर मानव-सस्कृति की स्थापना का एक विराट् प्रयत्न प्रस्तुत है। इस प्रकार सस्कृतियों, जातियों, धर्मों व सम्प्रदायों की दूरी को पाटकर शुद्ध मानवता के आधार पर एक सस्कृति का प्रयत्न हम प्रसाद-साहित्य मे देखते है। प्रसाद स्वय कहते है—"मानव-सस्कृति के प्रचार के लिए हम उत्तरदायी है। ससार भारत के सदेश की आशा में है, हम उन्हे देने के उपयुक्त बनें (मंगलदेव)"[256]

वन, ग्राम या आदिवासी सस्कृति प्रसाद ने विविध सस्कृतियो के बीच लोक-सस्कृति, ग्राम-सस्कृति व आदिवासियों की सस्कृति के निरूपण के लिए भी पर्याप्त स्थान निकाल लिया है। 'ककाल' (गाला की कहानी) में, तथा 'आधी', 'इद्रजाल', 'चदा' आदि कहानियों में प्रसाद की दृष्टि उस निसर्ग-मनोहर सस्कृति पर बडे मुग्धभाव से अटकी है। उस सस्कृति के बीच में जीवन का शौर्य, स्पर्द्धा, सहज उल्लास, सरलता, पावित्र्य, एकनिष्ठ प्रेम, विश्वास आदि गुण स्थायी मूल्य के रूप में निवास करते है। वनवासियों की सभ्यता विकसित नही है, किंतु उनमें सास्कृतिक गुणों का उच्चतम विकास है। आधुनिक सभ्यता की तुलना में वह कितनी मानवीय व मौलिक है, यही लेखक ने दिखाया है। उस संस्कृति का चित्रण करते समय बीच-बीच में नागरिक जीवन और उसकी सभ्यता पर व्यग्य करके प्रसाद ने स्पष्ट ही उस सस्कृति के प्रति अपने आकर्षण को व्यक्त किया है। लेखक की दृष्टि में मानो उस सस्कृति में ही मानव-जाति के मूल गुण अनाघ्रात कुसुम की तरह अभी लहलहा रहे हैं।

प्रसाद द्वारा भारतीय सस्कृति की आलोचना · भारतीय अथवा हिन्दू सस्कृति का

गुणगान मात्र तो एकागिता ही होगी। प्रसाद इस तथ्य को भी विस्मृत नही करते कि आज हमारी सास्कृतिक दशा क्या है ? 'ककाल' का विजय निरजन से कहता है—"क्यो, क्या हिदू होना परम सौभाग्य की बात है ? जब उस समाज का अधिकाश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, तब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरा पृष्ठ पर नही बची—उसकी सस्कृति विडबना, उसकी सस्था सारहीन और राष्ट्र बौद्धो के शून्य के सदृश बन गया है, जब ससार की अन्य जातिया सार्वजनीन भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खडी हे, तब आपके इन खिलौनों से भला उनकी सतुष्टि होगी ?"[257]

'इरावती' का अग्निमित्र उल्लासमय आर्यधर्म के अवसादग्रस्त और कायर हो जाने की भावना से क्षुब्ध होकर कहता है—"प्राचीन आर्य वीर सम्कृति को लौटाने के लिए प्राचीन कर्मो को फिर से आरभ करना होगा, जिन्हे विवेक के अतिवाद के कारण मानवता के लिए हमने हानिकर समझ लिया था। सर्वसाधारण आर्यो मे अहिसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस, आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी। मै इसीलिए प्रयत्न करूगा कि इनकी वाणी शुद्ध, आत्मा निर्मल और शरीर स्वस्थ हो।"[258] अन्यत्र भी है—"आर्य सस्कृति अपना तामस-त्याग, झूठा विराग छोडकर जागेगी। भूपृष्ठ के भौतिक देहात्मवादी चौक उठेगे। यात्रिक सभ्यता के पतनकाल मे वही मानवजाति का अवलब होगी।"[259]

स्पष्ट है कि जहा प्रसाद हमारी सस्कृति के गौरव के प्रति अत्यत आकृष्ट व निष्ठावान् हे, वहा वे उसकी वर्तमान गति के प्रति भी आलोचक-बुद्धि से पूर्णतया सजग है। वे सस्कृति के कोरे वदन मात्र से ही सतुष्ट नही। उनके सामने मानव का चरम आनद है। उस आनद की पूर्ण अवतारणा व सिद्धि के लिए सास्कृतिक परिस्थिति की जाच-परख आवश्यक ही है।

प्रसाद-साहित्य में गत्यात्मकता का स्वरूप

भाव, विचार-दर्शन, इतिहास और चरित्र-चित्रण के सिद्धात व साहित्यगत व्यवहार की विस्तृत समीक्षा के पश्चात् इन सब प्रकरणो पर सामूहिक दृष्टिपात करने से व साहित्यिक दृष्टि से एक अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है—"प्रसाद ने भावों मे गत्यात्मकता किस प्रकार उत्पन्न की है ?" इस प्रश्न के विशेषत यहा उपजने का कारण यह है कि प्रसाद ने भावों की सृष्टि सामाजिक-ऐतिहासिक कथानकों के सहारे, पात्र-सृष्टि के माध्यम से और एक विशिष्ट साहित्यिक-दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्त्तन के लिए की है। अत इस प्रश्न के समाधान मे उक्त प्रकरणों पर एकसाथ दृष्टि डालना आवश्यक है, क्योंकि भाव एक जड स्थिति नही है, उसमें गत्यात्मकता निहित है। और भावों की गत्यात्मकता कोई स्वाश्रयी या स्वायत्त तथ्य या स्थिति नही है, वह अपने अस्तित्व की सार्थकता के लिए स्रष्टा, सहृदय एव पात्र—इस सपूर्ण त्रिकोण के पारस्परिक आतरिक सबधो व क्रियाकलापों पर ही निर्भर करती है।

भावों में गत्यात्मकता उत्पन्न होने के प्रश्न के विचार से स्रष्टा कवि, सहृदय पाठक व पात्रों के मन में भाव व रस की स्थिति, निर्वाह व परिणति पर स्वतत्र व सामूहिक रूप से दृष्टि जाना आवश्यक है। और प्रस्तुत प्रश्न की परिणति इस चरम प्रश्न के उत्तर में निहित है—

"प्रसाद ने अपने भाव-निरूपण को किन उपायो से पूर्ण गतिशील व सहृदय-आस्वाद्य बनाया है ?"

पहले हम कवि या स्रष्टा की ओर से विचार करे। इद्रियो के विषय-सन्निकर्ष के द्वारा प्राप्त नाना सवेदनो की समष्टि से समृद्ध व पुष्ट एव निज सस्कार, स्मृति व कल्पना से प्रेरित अत करण के द्वारा उसकी चेतना का प्रवाह, उसके भावन की क्षमता के अनुसार तरगित या आदोलित होता है। यहा तक की प्रक्रिया तो सामान्यत सभी द्रष्टाओ मे एक समान ही होती है। किंतु स्रष्टा मे एक ऐसी विशेषता भी होती है जो उसे सामान्य द्रष्टाओ से महत्त्वपूर्ण रूप मे पृथक् करके उसके विशिष्ट व्यक्तित्व की स्थापना करती है, और वह है—अभिव्यक्ति की अदम्य प्रेरणा। यह अभिव्यक्ति निश्चय ही उसके भाव, विचार, निरीक्षण व अनुभव से निर्मित विभिन्न स्तरो की अनुभूति की होती है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति के समय स्रष्टा कवि अपने अनुभूति-द्रव में अपनी मूल जीवन-दृष्टि, अपने स्वप्न, अपने जीवनादर्श व अपने मनोराज्य के तत्त्व आदि को मिलाकर उसे सर्जकोचित विधायक कल्पना द्वारा व नाना विधाओं के माध्यम से, प्रतिष्ठित अथवा नवाविष्कृत साहित्य-रूपो, शैलियो व विधाओ के द्वारा पाठकों के मन तक सप्रेषित करना चाहता है। कल्पनात्मक पुनर्निर्माण-रूप इस क्रिया के द्वारा स्रष्टा एक अनिर्वचनीय तृप्ति और सतोष का अनुभव करता है। निर्माण के क्षणो में उसकी चेतना केवल प्रशात, स्निग्ध व सयत जलधारा के प्रवाह-सी ही न रहकर अनुभूत भाव या सवेदना के अनुरूप अनिवार्यत (यहा तक कि शात रस की कृति की रचना के समय भी) आवर्त्त-विवर्त्त जैसी गति से युक्त रहती है। सजग स्रष्टा का प्रयत्न इन क्षणो मे प्राय यही रहता है कि अपने मन में पूरे वेग से चलती एक विशेष स्थिति या अवस्था को (जिसमे उसकी चेतना के सूक्ष्मतम व बहुमूल्य तत्त्व भी मिले रहते हैं) यथातथ्य रूप में, उसी वेग व क्रम के साथ, सप्रेषित कर दे—न अधिक न कम; क्योंकि अतिम दोनो ही स्थितियों में उसे सत्य के पूर्ण निर्वाह में अपनी अक्षमता के बोध से प्रसूत खेद या क्लाति का अनुभव होगा।

अब पाठक की दृष्टि से विचार करे। ग्राहिका-कल्पनाशील सहृदय पाठक स्रष्टा की कृति और पात्रो के माध्यम से स्रष्टा के अनुभव में सम्मिलित होकर उससे एकत्व या तादात्म्य स्थापित करता है। अपने व्यावहारिक जीवन मे जिन व्यक्तियों, स्थितियों, प्रसगो व व्यापारों से, सभवत उनकी सर्वसुलभता, सर्वसाधारणता या अति परिचिति के कारण, वह प्राय तनिक भी प्रभावित नही होता, उन्ही व्यक्तियों, स्थितियों, प्रसगों व व्यापारों का सक्रिय मानसिक श्रम व सहानुभूति से किया गया मानस-साक्षात्कार, कलाकृति के माध्यम से करके उनसे प्रगाढ रूप से परिचालित, प्रभावित व आनदित होता है, क्योकि कृति के आस्वादन-काल में स्रष्टा कवि के साथ अपने अत करण का योग मानो उसकी (पाठक की) स्वय की आत्मा की एकता व अखंडता की अनुभूति के रूप में ही घटित होकर आस्वाद्य बनता है। पाठक की चेतना पर इस रहस्यमयी मानसिक प्रक्रिया से जो मोहिनी उतरती है, उसका मुख्य कारण सहृदय पाठक की सक्रिय कल्पना है जो जागृत आत्मा की एक आनदमयी क्रिया है और जो अत चक्षुओं के सामने सुखात्मक-दु खात्मक प्रस्तुत वस्तुओं, रूपों और व्यापारों को एक नवीन परिवेश में और एक विशेष ढग में सजाकर प्रस्तुत करती है और स्वतः सत्य व शिव-रूप सब वस्तु और स्थितियों को केवल सौंदर्य के ही रूप में आवेष्टित व परिणत कर देती है। पाठक को जो आनंदानुभव होता है वह कल्पना के ही श्रम का पुरस्कार है।

यदि पात्र, घटनाए या परिस्थितिया समयुगीन न होकर प्राचीन युग की—ऐतिहासिक-पौराणिक युग की—हो तो सहृदय का आनद, एक विशेष स्थिति के कारण कई गुना और भी बढ जाता है, क्योकि ऐतिहासिक रचनाओ के आस्वादन-काल मे काल के दीर्घ विस्तार को लाघकर प्राचीन पात्रो और स्थितियो के साथ एकाकारता के कारण एक तो सहृदय को अखड आत्मा की ही सार्वकालिकता व सार्वभौमिकता के भान से आनदानुभव होता है और दूसरे, सहृदय की आत्मा प्राचीन पात्रो के सुखात्मक या दु खात्मक—दोनो ही प्रकार के क्रियाकलापो में सम्मिलित होने के रूप मे स्वय अपनी ही कहानी को काल-पटल पर अभीनीत होते देखने का सतोष मिलता है। कलाकृति के माध्यम से यह अनुभव तत्त्वत काल की अखडता की ही अनुभूति होने से विशेष सौम्य, तृप्तिकर व उदात्त होता है। कहने की आवश्यकता नही कि इस मानस-व्यापार मे साहित्य व जीवन के अनेक सूक्ष्म तत्त्वो का योग निहित है, पर मुख्यत यह अनुभव मानव-भाव की क्रिया के माध्यम से ही सपन्न होता है।

भावो के व्यापार को लेकर अब एक स्थिति और रह जाती है—कल्पना-सृजित व कृति-निबद्ध पात्रो की भाव-स्थितिया। प्रश्न हो सकता है कि वे पात्र मूर्त्तवत् आचरण भले ही करते हो, पर है तो वे छाया-छविया मात्र, हाड-मास के जीवित व ठोस नही, वे कल्पित ही है, अत भाव की दृष्टि से उनका विचार क्यो आवश्यक है? वस्तुत साहित्य एक मानसी एव काल्पनिक सृष्टि है और लेखक अपने सृजित काल्पनिक पात्रों के माध्यम से ही अपना अरूप भाव-स्वप्न विचार साकार-रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है, वह अपने स्वप्नों की सिद्धि (realisation) उन्ही के माध्यम से करता है, अत वे उतनी ही (सभवत अधिक) महत्त्वपूर्ण है जितने कि ठोस जगत् के हाड-मासवाले प्राणी। यो भी भौतिक या स्थूल जगत् के प्राणियो से और उनके कार्य-व्यापारो से हम उतने अधिक प्रभावित नही होते, जितने कि काल्पनिक जगत् के प्राणियो से, क्योकि वे काल्पनिक भले ही हो, पर वे भौतिक पदार्थों के ही मनोनुकूल जोड-तोड से बने होते है, अत यथार्थमूलक अर्थात् सत्य ही होते है और मन के लिए प्रगाढ रूप से आत्मीय व सत्य होने के कारण वे कोरे ताथ्यिक सत्य से कही अधिक पूर्ण व प्रभावशाली होते हैं। उनके क्रिया-व्यापार, उनके आचरण व सवाद हमारे मन में प्रबल सवेदनाए उत्पन्न करते है। इतना ही नही, वे जीवन के ठोस व्यक्तियो व व्यापारों से बढकर हमारी चेतना पर छा जाते है। हमारे भावो को सचालित करने मे इस प्रकार के मानसिक पात्रो या छाया-छवियो का महत्त्वपूर्ण योग है।

मनोगत भावो की गत्यात्मकता व उनकी कलानिरूपणगत सफलता का अतिम मानदंड सहृदय की उत्प्रेरणा व मानस-तृप्ति ही कही जा सकती है। काव्य-नाटक आदि पढते-देखते समय सहृदय मे भावों अथवा भावनाओं की सृष्टि भाव-निरूपण में गत्यात्मकता-विधायिनी विविध विधियों के उपयोग द्वारा ही निष्पन्न होती है, जिनमें से मुख्य हैं—

1 कथा में चमत्कारक मोड की योजना,

2 पात्रो के मनोद्वद्व का चित्रण,

3 [illegible] वैचित्र्यपूर्ण जीवन-स्थितियों का निर्माण,

4 बिंब आदि सौंदर्यात्मक उपकरणों का उपयोग,

5 अन्य।

कथा में चमत्कारक मोड से सहृदय मे भावपूर्ण औत्सुक्य, भावादोलन व आरोह-अवरोह उत्पन्न होता है। पर यह मोड स्वाभाविक व अस्वाभाविक दोनो ही रूपों मे उपस्थित किया जा सकता हे। आकस्मिक या अस्वाभाविक सयोगों की उत्पत्ति (उदाहरणार्थ, अनेक जगह 'ककाल' मे) कलात्मक नही होती। कथा में स्वाभाविक विकास लानेवाला मोड आरोपण या कृत्रिम अनुशासन से न होकर जहा पात्रो के ही नैसर्गिक क्रियाकलापो और मनःस्थितियो का सहज परिणाम होता है वहा वह गभीर व कलात्मक बन जाता है। सयत भाव से व वाछित लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से उपस्थित किए जाने की विविध विधिया प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र व अरस्तू के नाट्यशास्त्र मे विशेषत त्रासदी के निरूपण में, विस्तार से दी गयी है।

पात्रो मे मनोद्वद्व उपस्थित करके भी सहृदय में भाव-सचार किया जाता है। यहा विशेष विस्तार मे न जाकर केवल विजया, गुडा, सालवती, देवसेना, मल्लिका, चम्पा, ममता, स्कदगुप्त आदि पात्रो की ओर सकेत करना ही पर्याप्त होगा।

यो तो सारी सृष्टि प्रत्येक क्षण किसी-न-किसी स्थूल या सूक्ष्म घटना से गतिशील है, किंतु लेखक अपनी प्रतिभा व कल्पना से मानव-जीवन के प्रतिष्ठित ढाचे मे ही ऐसी मार्मिक व प्रभावशाली जीवन-स्थितियो का निर्माण करता है कि उनका मानस-साक्षात्कार हृदय मे विचित्र उथल-पुथल उत्पन्न कर देता है।

आकर्षक स्पष्ट व सुकर बिब, जो कला-पक्ष की समृद्धि के अत्यत महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं, सहृदय के भावो मे गभीर आदोलन उपस्थित कर देते हैं। वे हमारी चेतना को छौककर हमारे अतर्जीवन में एक विचित्र स्वाद उत्पन्न कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त सटीक पद-प्रयोग, लाक्षणिक मूर्ति-विधान, मादक व व्यजक कल्पनोत्तेजक वातावरण-निर्माण, रहस्य-भावना का निरूपण, प्रतीको का सार्थक व कौशलपूर्ण प्रयोग, भावानुसारिणी व विविध भगिमामयी वाक्य-रचना, सौंदर्यभावना के उत्कर्षसाधक अलकार व छद-सगीत आदि सहृदय की भावधारा में कम आदोलन उपस्थित नही करते।

अधिक विस्तार की यहा आवश्यकता नही, क्योंकि इन तत्त्वो से सबद्ध बातों का निरूपण विविध प्रकरणो से यथास्थल कर दिया गया है। भावों की यह गत्यात्मकता उपयुक्त रीतियों से प्रसाद की अनेक कृतियों में (विशेषत 'प्रलय की छाया' नामक कविता, 'आसू', 'स्कदगुप्त', 'ककाल' तथा अनेक कहानियों में) काव्य को अधिक स्वाभाविक, सशक्त व आस्वाद्य बनाने तथा जीवन व जगत् के मूल प्रकृति का सत्य उद्‌भासित करने व हृदयगम कराने के लिए उपस्थित की गयी है।

समीक्षात्मक निष्कर्ष

इस प्रकार ऐतिहासिक साहित्यकार के रूप में प्रसाद की उपलब्धि हमारे सामने है। प्रसाद इतिहास की दीर्घ दृष्टि से सपन्न हैं। उन्होंने औपचारिकता के निर्वाह मात्र के लिए इतिहास का ग्रहण न करके जीवन के मूल स्वरूप के साक्षात्कार और पुनर्निर्माण की गभीर प्रेरणा से उसका ग्रहण किया है। इतिहास का जीवन प्रसाद की दृष्टि में आत्मा की पूर्णता की प्राप्ति के लिए मानव-जाति का अविराम प्रयत्न है और इस प्रयत्न का, कल्पना के सहयोग से, साहित्यिक

प्रस्तुतीकरण आत्मावलोकन, समाज-निर्माण व भावी के रूपायन की सच्ची प्रेरणा प्रदान करता है। इतिहास का यह विनियोग नवीन कथा-वृत्तो के आविष्करण की अक्षमता से प्रसूत किसी विवशता के परिणाम का द्योतक न होकर एक सच्चे जीवन-शिल्पी का समारोहपूर्ण साहित्यिक आयोजन है। भारतीय इतिहास हिदी मे पहली बार एक समर्थ ऐतिहासिक साहित्यकार के हाथो कलात्मक ढग से सवारा गया है। हिदी मे इतिहास के साहित्यिक विन्यास के क्रम-विकास का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी। प्रसाद-पूर्व हिन्दी के लेखक ऐतिहासिक वातावरण-निर्माण और अतीत की पुनरावृत्ति मात्र ही मे प्राय अपनी सफलता मानते थे। इतिहास का उपयोग रस-निर्माण और जीवन-तत्त्व की व्याख्या की कितनी गहरी साहित्यिक सभावनाओ से ओतप्रोत है, इसका पूरा आश्वासन हमे प्रसाद जी के द्वारा ही पहली बार प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि प्रसाद जी हिदी के पहले साहित्यकार है, जिन्होने इतिहासकार और साहित्यकार के दायित्वों का गाभीर्य समझकर भारतीय इतिहास का हिदी-साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे सफल उपयोग किया है। प्रसाद के युग तक की साहित्यिक अर्जनाओ के परिप्रेक्ष्य मे देखने पर यह तथ्य अधिक स्पष्ट होगा। अवश्य ही ऐतिहासिक तथ्याकलन-सबधी अनेक विच्युतिया प्रसाद मे निर्दिष्ट की गयी हैं, पर वे आशय की उच्चता को देखते हुए शिव व सुदर के क्षेत्र में कोई गभीर दोष नही है। साहित्यकार का जो नियत दायित्व है, उसके परिपालन व निर्वाह मे इतिहास का जिस लगन व निष्ठा के साथ अनुशीलन व विनियोग हुआ है उसे भी देखते हुए तथ्य और प्रामाणिकता-विषयक थोडी असावधानी नगण्य ही है। इतिहास, सभ्यता व सस्कृति के मूल स्वरूप की कसौटी पर कसकर देखने पर प्रसाद की तद्विषयक धारणाए प्राय खरी उतरती है। पर विकास का पथ अभी आगे असीम है और तत्त्व-बोध की कोई इयत्ता नही। इस परिसीमा को ध्यान मे रखकर ही प्रस्तुत क्षेत्र मे प्रसाद की देन का आकलन करना उचित होगा।

सदर्भ

1 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 17
2 वही, पृ 18
3 Let our minds rest upon that great and inexaustible word life, —Essay in Criticism (Second Series) p 102
4 Wil Durat Mansions of Philosophy, p 240—244
5 Ibid, p 241
6 प बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्य-शास्त्र, खड 2, पृ 445 द्रष्टव्य।
7 ' and that we can better understand our times through a study of the past "—Arnold Toynbee (Greek Historical Thought—Preface)
8 अनुसधान की प्रक्रिया और प्रविधि, पृ 164
9 वही, पृ 166
10 चिन्तामणि, भाग 1, पृ 351 357
11 तर्कभाषा, कालनिरूपणम्।
12 कणादगौतमीयम्—पदार्थानुशासनम्, पृ 19
13 "अस्य सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्व च, शक्तयो सकुचिता अपि सकोचग्रहणेन कला-विद्या-

राग-काल-नियतिरूपतया भवन्ति ।"—पराप्रवेशिका, पृ 8 तथा, "कालो हि भावानाभासनाभासनात्मकाना कर्मोऽवच्छेदको भूतादि ।"—वही, पृ 9

14 "अधुनैव जानामि' इति सोऽणु वर्तमानतया, इद प्राक् मया ज्ञात, जानामि, ज्ञास्यामि—इति, एवमपि कृत, करोमि, करिष्ये वा—इति ज्ञानक्रियास्वरूपेण भावनापि तथा कलयन् अवच्छिनत्ति चे—इत्येषोऽस्य काल ।"
—परमार्थसार अभिनवगुप्त, योगराजाचार्य-कृत विवृति सहित, पृ 47

15 प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 419

16 छादोग्य उपनिषद् 6/2/1 तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/7

17 विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्ताया तस्या प्रकाशस्यऽऽवृतत्वाद् विद्यमानेऽपिस्थायी न प्रकाशते ।—पडितराज जगन्नाथ रसगगाधर, तथा भग्नावरणाचिद्विशिष्टौ रत्यादि स्थायीभावो रस इतिस्थितम् । रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रस ।—वही ।

18 But the truth which is required in literature is essntial truth the truth which we expect from the philosopher the historia or the biographer is the actual fact the "whole truth and nothing but the truth' of a witness giving evidence in a court of law Perfect candour in the presentation of the process of information, perfect, accuracy in dates, figures, and in the sequence of events of the marshalling of facts, absolute impartiality of opinion where there is a conflict of evidence" —W Basil Worsfold Judgment in Literature p 65

19 " is to tell not what has happened but what could happen, and what is possible either from its probability, or from its necessary connection with what has gone before ' —Basil Worsfold Principles of Criticism p 38-39
"But poetry relates what may happen according to the law of probability or necessity ' —L Abercrombie Principles of Criticism, p 111

20 for poetry deals rather with the universal History with the particular" —Basil Worsfold Principles of Criticism, p 39

21 ' a note of personal sympathy is tolerated or even welcomed in the (literary) biographer which could be out of place in the historian" —Basil Worsfold Judgment in Literature, p 90

22 ' according to the method of poetry an impossibility which is credible is preferable to a possibility which is incredible" —Ibid p 39

23 'अनुसधान का स्वरूप' मे डॉ विश्वेश्वरप्रसाद का लेख—'ऐतिहासिक खोज की रूपरेखा' ।

24 वही ।

25 वही ।

26 "Poetry is more philosopical and a nobler thing than History —quoted from L Abercrombie's Princeples of Literary Criticism p 110 तथा, अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 7, 30 45

27 "And, therefor, poetry has a wider truth and a higher aim than History , for poetry deals rather with the universal History with the particular —Basil Worsfold Principles of Criticism p 38-39

28 कल्पना तत्त्व का विस्तृत विवेचन—इसी प्रबध के अत में एक स्वतत्र प्रकरण देखिए ।

29 अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका ।

30 बृहादारण्यक उपनिषद्, 2/4/10

31 काव्यमीमासा (प गोपालदत्त सारस्वत का हिंदी अनुवाद), पृ 8

32 'न हि इतिवृत्त मात्र निर्वहिण आत्मपदलाभ' ।

33 यत्स्यादनुचित वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥—साहित्यदर्पण, 6/50

34 साहित्यदर्पण, 6/318

35 काव्यादर्श, 1/15
36 आचार्य विश्वेश्वर हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ 483
37 "गिर कवीना जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता "—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ 495
38 इतिवृत्तवशायाता त्यक्त्वाऽननुगुणौ स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट—रसोचित—कथोन्नय ॥ —ध्वन्यालोक, 3/11
39 C Dey Lewis A Hope for Poetry (Postscript)
40 जयशकर प्रसाद, भूमिका, पृ 1-3, 6 19
41 ककाल, पृ 283
42 इसी प्रकरण मे आगे सभ्यता का विश्लेषण खड देखिए ।
43 "Culture is a way of life dominated by a central idea—an idea which is not a means to an end —K.M Munshi Our Greatest Need, p 58-59
44 नया साहित्य नये प्रश्न, पृ 260
45 युगचेतना (लखनऊ), 'विश्व सस्कृति अक', डॉ देवराज का 'सपादकीय' ।
46 ' Which concerns itself with the whole complex of cultural activities of which the production of Literature is only one fragment" —David Daiches Critical Approaches to Literature p 376
47 काव्य और कला तथा अन्य निबध, प्राक्कथन, पृ 2
48 इसी प्रकरण का विश्लेषण खड देखिए ।
49 डॉ हरदेव बाहरी के 'प्रसाद साहित्य कोश', पृ 41 पर प्रसाद की ऐतिहासिक सामग्री का युगानुक्रम विभाजन दिया गया है, अत तत्सबधी विस्तार यहा अनावश्यक है ।
50 प्रसाद के नाटक, पृ 161
51 वही, पृ 161
52 वही, पृ 48
53 वही, पृ 21
54 प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन, पृ 240
55 वही, पृ 166
56 वही, पृ 240-41
57 प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ 150, 153 154 162 आदि ।
58 डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ 239-40
59 डॉ परमेश्वरी लाल गुप्त प्रसाद के नाटक, 15
60 वही, पृ 18
61 वही, पृ 166
62 वही पृ 167
63 जनमे, पृ 119
64 पुरस्कार (कहानी)
65 'चित्तौड उद्धार' कहानी, ध्रुवस्वामिनी ।
66 'सालवती' कहानी ।
67 चद्रगुप्त, पृ 126, स्कदगुप्त (मालव गणतत्र); 'इरावती' उपन्यास ।
68 ध्रुवस्वामिनी, पृ 84
69 वही, पृ 72
70 स्कदगुप्त, पृ 122
71 ध्रुवस्वामिनी, पृ 84
72 (क) इरावती, पृ 43—दौवारिक, आतवेंशिक, द्वद्वपाल, दुर्गपाल ।
(ख) इरावती, पृ 30—महा अमात्य, अमात्य परम भट्टारक, महादेवी, देवकुलिक ।
(ग) इरावती, पृ 30—प्रादेशिक महामात्य ।

(घ) इरावती, पृ 42 – धर्ममहामात्र ।

(ड) स्कदगुप्त—महानायक, महाबलाधिकृत, महाप्रतिहार, विषयपति ।

73 चद्रगुप्त, पृ 107 130
74 वही, पृ 108
75 वही, पृ 108
76 वही, पृ 202 तथा 'अशोक' कहानी ।
77 इरावती, पृ 25 26 42
78 ध्रुवस्वामिनी, पृ 79 84
79 चद्रगुप्त, पृ 130 स्कद, पृ 48–49 इरा, पृ 36 व 41
80 यथा—सेनापति, सहकारी सेनापति (बधुल का भाजा), दडनायक, महादडनायक, सधिविग्रहिक, महाबलाधिकृत आदि, चद्र, 130, 'पुरस्कार' कहानी ।
81 इरा, 26 चद्र, 1/10
82 चद्र, पृ 136
83 वही, पृ 130
84 चित्रा, पृ 53 (तीर, नाराच, भल्ल); इरा, पृ 35 (कृपाणी, कवच, कटिबध); चद्र, पृ 136 (धनुष कटार) ।
85 चद्र, पृ 130 136 137, 138 209
86 वही, पृ 209
87 वही, पृ 138
88 इरा, पृ 26
89 ध्रुव ।
90 स्कद, पृ 101 चद्र, 207
91 चद्र, पृ 105
92 वही, पृ 130 166
93 इरा, पृ 1, 24
94 चद्र तथा स्कद
95 ध्रुव, पृ 83 अजात ।
96 ध्रुव ।
97 विशाख, पृ 83, राज्यश्री, पृ 39 जनमे, पृ 115 अजात, पृ. 25, 30, 52 स्कद पृ 38, 70 75, 76 81 116 चद्र, पृ 162 163, 168, 170 171, 218 219, ध्रुव, पृ 81-83
98 इरा, पृ 24 26 71 80 84, 90 91
99 काशी—इरा, पृ 79 दासी, पृ 56, पाटलिपुत्र (कुसुमपुरी)—इरा पृ 91 99
100 'चित्तौड़-उद्धार', 'ममता' कहानिया', 'चद्रगुप्त' व 'स्कदगुप्त' नाटकों मे ।
101 इरा, 'पुरस्कार', 'चित्तौड़-उद्धार' कहानिया ।
102 इरा ।
103 देवदासी, इरा, 10
104 'दासी' कहानी ।
105 वही ।
106 इरा, पृ 40, 'अशोक' कहानी ।
107 वही ।
108 चद्रगुप्त ।
109 इरा,पृ 94 दासी, पृ 56
110 ध्रुव, पृ 29 चंद्र, पृ 70 इरा ।
111 'पुरस्कार' कहानी ।
112 वही ।
113 इरा, पृ 10, 24, 99

114 पुरस्कार, इरा, पृ 25 चद्र पृ 184
115 ध्रुव, पृ 29
116 इरा, पृ 99
117 'तानसेन' कहानी।
118 चद्र, पृ 100
119 इरा।
120 मृदग—इरा, पृ 95, बासुरी—इरा, पृ 24, डफली—इरा, पृ 24
121 राज्यश्री, पृ 11 अजात, पृ 24 अपराधी' कहानी।
122 महाराणा पृ 13
123 'दासी' कहानी।
124 इरा, पृ 52
125 वही, पृ 80
126 वही, पृ 17
127 वही, पृ 79
128 वही, पृ 79
129 चित्रा, पृ 62
130 इरा, पृ 24
131 वही, पृ 180
132 वही, पृ 79
133 वही पृ 80 100
134 वही, पृ 80
135 इरा, पृ 1 51, 56, 79-80, 87 105
136 वही, पृ 52
137 'दासी' कहानी, इरा, 90-91
138 वही, 96
139 वही, पृ 24, 52, 99, 100
140 वही, पृ 52 99
141 सालवती।
142 वही।
143 पुरस्कार।
144 स्कद, पृ 18
145 इरावती।
146 वही, पृ 11, 99, 104-105
147 इरा, पृ 100
148 वही, पृ 99
149 वही, पृ 90 चद्र, पृ 120
150 वही, पृ 33, चद्र, पृ 60
151 वही, पृ 90
152 चद्र पृ 199
153 इरावती।
154 वही, पृ 33
155 चित्रा, पृ 43
156 चन्द्र, पृ 55
157 इरा, पृ 90, चद्र, पृ 55
158 स्कद, पृ 72
159 अजात

160. कामना, पृ. 107, 108
161. वही, पृ. 46
162. करुणालय, पृ. 26
163. चंद्र., पृ. 115
164. वही, पृ. 115
165. वही, पृ. 207
166. वही, पृ. 212
167. वही, पृ. 115
168. वही, पृ. 149
169. वही, पृ. 98
170. वही, पृ. 101, 105, 199, 201
171. वही, पृ. 57
172. वही, पृ. 137; डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा के 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' के पृ. 139 की पाद-टिप्पणी नं. 2 साक्ष्य पर।
173. चंद्र., पृ. 143
174. वही, पृ. 81, 101
175. वही, पृ. 78
176. वही, पृ. 102, 137
177. वही, पृ. 78, 79, 81, 101
178. वही, पृ. 114
179. वही पृ. , 132
180. 'सिकंदर' कहानी।
181. चंद्र., पृ. 131
182. वही, पृ. 150
183. वही, पृ. 145
184. वही, पृ. 105
185. वही, पृ. 94
186. वही, पृ. 98
187. कानन-कुसुम, पृ. 121
188. 'चक्रवर्ती का स्तंभ'
189. प्रलय की छाया।
190. चित्रा., पृ. 86
191. 'जहांआरा' कहानी।
192. इंद्रजाल, पृ. 15-16 'सलीम' कहानी।
193. 'ममता' कहानी।
194. आंधी, पृ. 57: 'दासी' कहानी।
195. महाराणा का महत्त्व, पृ. 15
196. ध्रुव., पृ. 44
197. वही, पृ. 50
198. स्कंद., पृ. 101
199. वही, पृ. 129
200. वही, पृ. 141
201. कंकाल, पृ. 121
202. वही, पृ. 121
203. कंकाल, पृ. 122

204 वही, पृ 122-123
205 वही, पृ 123
206 राज्यश्री, पृ 55 67
207 वही, पृ 55 67
208 आकाशदीप, पृ 13
209 स्कद., पृ 25
210 चद्र, पृ 145
211 वही, पृ 196
212 वही, पृ 150
213 वही, पृ 115
214 वही, पृ 213
215 वही, पृ 213
216 वही, पृ 103
217 वही, पृ 149
218 वही, पृ 149
219 जन्मे, पृ 118
220 राज्यश्री, पृ 67
221 कामायनी, चिंता सर्ग ।
222 वि दे—'कल्याण' के 'हिदू सस्कृति अक' मे डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल का 'हिदू सस्कृति के सक्षिप्त सूत्र' नामक सूत्रसग्रहात्मक लेख ।
223 विशेषत करुणालय और 'अजातशत्रु' मे ।
224 करुणालय, अजातशत्रु, कामना, कामायनी आदि रचनाए द्रष्टव्य ।
225 इरा, पृ 47
226 स्कद., पृ 83 131, 152 जन्मे, पृ 114
227 अकेले 'अजातशत्रु' के तीसरे अक के पाचवे दृश्य मे क्षमा शब्द 15 बार आया है ।
228 जन्मे, पृ 56 राज्यश्री, पृ 69
229 अजात, पृ 31
230 वही, पृ 31
231 वही, पृ 31
232 'मधुआ' कहानी, अजात, पृ 121
233 राज्यश्री, पृ 68 जनमे, पृ 103
234 जनमे, पृ 48, 'शरणागत' कहानी, स्कद. पृ 14 ककाल, पृ 42 'अजातशत्रु' मे मल्लिका का चरित्र ।
235 चद्र., पृ 137
236 वही, पृ 150
237 स्वामी कृष्णशरण (ककाल) व श्रद्धा का चरित्र ।
238 चद्र, पृ 72, स्कद. पृ 45 69 ध्रुव, 'सालवती' कहानी ।
239 ककाल, पृ 121, कामना, पृ 52, ध्रुव, पृ 22 29 67, चद्र, पृ 55
240 भगवद्गीता ।
241 History of Philosophy Eastern and Western
242 इरा, पृ 91
243 वही, पृ 91
244 अजात., पृ 38
245 जनमे, पृ 47, 119 चद्र., पृ 58, 73
246 स्कद., पृ 94
247 चद्र., पृ 150, 222 जनमे, पृ 83, 120 करुणा का अत ।

248 जनम पृ 118
249 वही, पृ 118
250 वही, पृ 113
251 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'भारतीय सस्कृति की देन' नामक लेख।
252 चद्र, अतिम दृश्य।
253 जनमे, पृ 106 115 117
254 चद्र, पृ 15
255 वही, पृ 15
256 ककाल, पृ 285
257 ककाल, पृ 78
258 इरा पृ 20
259 ककाल, पृ. 160

षष्ठ-प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में प्रकृति

प्रकरण-प्रवेश

प्रकृति प्रसाद-साहित्य का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण उपादान है। आदि से अत तक यह उपादान किसी-न-किसी रूप मे, वस्तु या शैली-प्रसाधन के रूप में, विद्यमान है। आधुनिक हिंदी-साहित्य मे प्रसाद जी ही पहले कवि है जो अपने काव्य मे प्रकृति की एक ऐसी गूढ-गभीर व रसमयी भाषा में बोलने लगे हैं जो हिदी में प्राय अपूर्व है। प्रसाद का व्यक्तित्व, उनका साहित्य और उनकी जीवन-व्यापी आनद-साधना—तीनो प्रकृति के माध्यम से परिपक्व व पुष्ट हुए हैं। प्रसाद-पूर्व हिन्दी-साहित्य में प्रकृति के जितने भी परपरागत उपयोग होते थे, उनसे कुछ भिन्न या नवीन रूपों मे प्रकृति का उपयोग प्रसाद-साहित्य मे हुआ है। इन सब विशेषताओ को लिये हुए प्रकृति प्रसाद-साहित्य में विशद और व्यापक रूप में विद्यमान है, अत उसका विवेचन एक स्वतत्र प्रकरण का अधिकारी है।

प्रसाद-युग में प्रकृति का नवीन उत्कर्ष और उसकी कारणभूत परिस्थितियां

मानव और प्रकृति का चिरतन सबध होने से साहित्य में, जान या अनजान मे, प्रकृति का किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक युग में विनियोग होता ही रहता है, पर किसी विशेष युग मे परिस्थितियो के विशेष सघात से साहित्य में वह एक प्रमुखतम उपकरण हो बैठता है। उसकी वह प्रमुखता ही तत्सबधी उत्कर्ष की निदर्शक हो जाती है। हिन्दी-काव्य के छायावाद-युग मे भी यही हुआ है। प्रकृति के इस नवीन उत्कर्ष के अभिभावकों में से प्रसाद का महत्त्वपूर्ण (श्रेष्ठ समीक्षकों की दृष्टि में सर्वोपरि) स्थान है। इस प्रकरण में हम प्रसाद-साहित्य में प्रकृति की स्थिति का सर्वागपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करेंगे, अत यह उपयुक्त होगा कि उसके वैशिष्ट्य या उत्कर्ष के मर्म को भली भाति समझने के लिए, परिवेश के रूप में, उन परिस्थितियो पर दृष्टिपात कर लें जो इस उत्कर्ष के लिए विशेष रूप से सहयोगी है।

भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में प्रकृति-विषयक नवीन चेतना हिदी कविता मे शनै-शनै सचित होती चली आ रही थी जो छायावाद-युग में नवीन युग-परिस्थितियों के सहारे नवीन रूप-रगों मे फूट-फैल गयी।[1] प्रकृति की चेतना के इस काव्यगत नवीन प्ररोह का

अध्ययन एक अत्यत रोचक विषय है। स्थानाभाव से तत्सबधी कारणभूत परिस्थितियो का सक्षिप्त उल्लेख मात्र यहा पर्याप्त होगा—

व्यक्ति की तरह ही साहित्य की आत्मा भी अपने प्रसार की आकाक्षिणी है। छायावाद-काल के पूर्व तक हिंदी-साहित्य मे रचित काव्य मुख्यत कवि-हृदय के 'रति' के व्यापकतम क्षेत्र मे पूर्णतया प्रसरित नही हुआ था केवल काता-विषयक रति, ईश्वर-विषयक रति व भूमि या देश-विषयक रति (जो वीरता में अभिव्यक्त होती है) तक ही रति-क्षेत्र सीमित था। प्रकृति-विषयक रति का क्षेत्र जो मानव हृदय के प्रसार के लिए असीम सभावनाए प्रस्तुत करता है, अभी बहुत कुछ अनछेका ही पडा था। छायावाद के कवियो ने उस क्षेत्र को सभाला और इस प्रकार प्रकृति के बहुविध व अतरग प्रयोग से एक विशेष उत्कर्ष का आविर्भाव हुआ। अब तक हिन्दी मे मुख्यत मानव या देव-विषयक रचना ही हुई थी, पर सर्ग-अकुर के दूसरे पल्लव (प्रकृति) पर स्वतत्र दृष्टि कम ही गयी, अब प्रकृति की ओर गहरी दृष्टि जाना प्रतिक्रिया व रुचि-परिवर्तन के नियम के अनुसार स्वभाविक ही था। वेदात दर्शन भारत का प्राचीन व उदात्त दर्शन है। पर शताब्दियो तक उसकी व्याख्या, आनद व उल्लास की प्राचीन वैदिक भावना को भुलाकर, दु ख व क्षणिकता की भावना से अनुप्राणित बौद्ध दर्शन के आलोक में नश्वरता व नैराश्य की भाव-भूमि पर की गयी और परिणामत- सृष्टि का सौंदर्य हमारी आखो से विलुप्त किया जाता रहा या विलुप्त किया जाता रहा। रामानुज व वल्लभ आदि वैष्णवाचार्यों ने शकर के मायावाद का खंडन करके इस दृष्टि में युगातकारी परिवर्तन किये। पश्चिम की वैज्ञानिक व दार्शनिक दृष्टि ने भी सहायता की। विवेकानद, रामकृष्ण, रामतीर्थ, तिलक, रवीन्द्र व अरविन्द की नवीन वेदात-व्याख्या ने नश्वरता की अप्राकृतिक दृष्टि को हटाकर सृष्टि के सौंदर्य को नवीन रग में देखने की प्रेरणा की और उसी चितन-प्रक्रिया मे प्रकृति एक नवीन सौदर्य धारण करके हमारे सामने आ खडी हुई। सृष्टि के सौंदर्य को शिव के नाते सत्य देखने की काश्मीरी शैव दर्शन की दृष्टि ने भी (जिसका नवीन उन्नयन पिछले 50 वर्षों मे हुआ है और जिसका प्रसाद जी से अत्यत गहरा सबध है) निश्चित ही विशेष सहायता की। इस प्रकार प्रकृति को एक अभिनव दृष्टि से देखने की प्रेरणा-उत्तेजना मिली। अग्रेजो का शासन भारत में सुप्रतिष्ठित होने पर अग्रेजी काव्य-साहित्य का प्रसार-प्रचार भी भारत में तेजी से हुआ। अग्रेजी की रोमाटिक कविता में प्रकृति एक बहुमूल्य तत्त्व है जो काव्य-पाठकों में अपने प्रभाव में अचूक सिद्ध होता है। अग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने फ्रास के महान् लेखक रूसो से प्रेरणा ग्रहण करके कोमल व कठोर प्रकृति की आत्मा में गहरी डुबकी लगायी और उसके आतरिक गुणों, शक्तियो व रहस्यों के गान से अपने काव्य को भर दिया। शैली और ब्राउनिंग ने प्रकृति के पीछे एक रहस्यमयी सत्ता के दर्शन किये। उपनिषद् की रहस्य-भावना के सस्कारों से सपन्न भारतीय सहृदयों के लिए इस काव्य-संपत्ति के प्रति एक सहज व अभिनव आकर्षण भरा हुआ मिला। हिंदी-कविता प्रकृति-बहुला इस अग्रेजी रोमांटिक काव्य के संपर्क में आकर बहुत प्रभावित हुई और स्वभावत उसने भी इस चेतना को सोत्साह आत्मसात् किया। रवीन्द्र की 'गीताजलि' (सन् 1913 में नोबेल पुरस्कार—प्राप्त) में प्रकृति, अध्यात्म की वाहिका होकर, अत्यत आकर्षक रूप में सामने आयी, और उसने भी हिंदी कविता को दूर-पास तक प्रभावित किया। नवीन भारतीय

सास्कृतिक पुनरुत्थान के साथ भारत की प्राचीन कला, सस्कृति, इतिहास, काव्य आदि का नवीन उत्साह से अध्ययन किया गया और इस प्रक्रिया मे सात्त्विकता प्रधान वन-जीवन, आश्रम-जीवन व सस्कृति का एक मोहक-मादक सौदर्य पराधीनता के युग की उमस व घुटन मे आखो के सामने बरबस खुल पडा। कालिदास और भवभूति आदि कवियों की कृतियो ने इस आकर्षण को खूब जगाया। फलस्वरूप प्रकृति को हमने एक नवीन भावमय जीवन-स्रोत के रूप में देखना आरभ किया। भारतीय स्वाधीनता-सग्राम के युग में हमने स्वाधीनता-प्राप्ति हेतु, राष्ट्रीय सगठन के लिए, अथर्ववेद की प्राचीन भावना के अनुसार भौगोलिक भारत की माता के रूप की कल्पना की और उसके प्रति कवियों द्वारा एक नवीन रागात्मक सबध जगाया गया। देश का प्रेम देश की प्रकृति के प्रगाढ प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नही। प्रकृति-प्रेम ही इस प्रेम की पहचान या लक्षण है। इस प्रकार राष्ट्रीय वातावरण ने भी भावोपासक कवियो को प्रकृति का सौदर्य अधिकाधिक देखने की प्रेरणा दी। पर पराधीन भारत के नैराश्यपूर्ण वातावरण ने कवियों के मन में स्वभावत ऐसी कुठाए भी उत्पन्न कर दी कि वे उन्हें खोलने के लिए प्रकृति के एकात, शात व मधुर अचलों मे गये जहा वे प्रकृति-प्रेयसी से गंभीर काल्पनिक रति-सबध स्थापित कर पूर्णता व तृप्ति का शीतल अनुभव कर सकें। विज्ञान व उद्योग के व्यापक दुष्प्रभावों, जनाकीर्ण औद्योगिक नगरो के कोलाहल और व्यक्तिगत पीडा ने अग्रेजी कवि शैली को नगरो से दूर प्रकृति के स्निग्ध अचल की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी थी। हिंदी के कवि भी प्राय वैसे ही परिवेश व मनस्थिति में प्रकृति की ओर उन्मुख हुए। नैराश्य के युग में कवि प्राय चार वीथिया पकडते है—वे या तो अतर्मुख होकर अतीत मे डूब जाते है या भविष्य के सुख सजोते हैं, या मनोमथन में लीन रहते है या प्रकृति की मधुर ममतामयी गोद से जा लिपटते हैं। उत्तर द्विवेदीकाल व छायावाद युग के कवि मुख्यत प्रकृति की ओर ही जाते दिखायी पडे, क्योंकि वही उन्हें चिरपालित सपनो का छायादार स्नेह-नीड दिखायी पडा। रोमाटिक कवि प्राय प्रकृति को ही अपने मन का मीत बनाये रखते हैं, यह बात सुप्रतिष्ठित ही है।

इस प्रकार इस परिस्थिति-सघट्ट में प्रकृति को साहित्य में आकर फूलने-फलने का बडा ही अनुकूल अवसर मिला और वह काव्य का एक बहुत ही रजक व गभीर तत्त्व बनकर कवि की सास में समासीन हो गयी। प्रसाद के साहित्य में हम उनके अपने युग की प्रकृति-विषयक चेतना का चरमोत्कर्ष पाते हैं।

प्रकृति : दार्शनिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि

प्रकृति-तत्त्व की अंतरग विवेचना करने से पूर्व 'प्रकृति' शब्द से सबद्ध कुछ आरभिक चर्चा करना उचित होगा—

व्युत्पत्ति, परिभाषा और 'प्रकृति' का क्षेत्र-विस्तार

'प्रकृति' शब्द 'अधिक' अर्थ के बोधक 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कृ' (करना) धातु में 'क्तिन' ('स्त्रिया क्तिन', अष्टाध्यायी, 3/3/94) प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ 'अधिक रचना, अथवा मानव के अतिरिक्त किसी अन्य (शक्ति या सत्ता) के द्वारा की गयी विशेष रचना' किया

जा सकता है। 'अमरकोष' में कहा गया है—'*क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष' प्रधान प्रकृति स्त्रियाम्*' (काल वर्ग, 272)। इससे सृष्टि-विधान मे प्रकृति या प्रधान का महत्त्व सूचित होता है। प्रकृति-प्रधान भारतीय साख्य-शास्त्र मे प्रकृति का क्या स्वरूप है, यह आगे बताया जायेगा।

अनेक विद्वानों ने प्रकृति के मूल स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी सुचिंतित परिभाषाए भी दी हैं जो विचार के लिए पुष्ट आधार प्रस्तुत करती है। पश्चिम मे प्रकृति की धारणा जडवादी विज्ञान की दृष्टि से लेकर चेतनावादी अध्यात्म की दृष्टि तक व्याप्त है। प्रसिद्ध भारतीय दर्शनशास्त्री डॉ आत्रेय के अनुसार "देश और काल के भीतर जो कुछ भी कार्यकारणात्मक नियमो के अनुसार शृखलाबद्ध रूप से सगठित होता है, उस समस्त दृष्ट तथा अदृष्ट जगत् को 'प्रकृति' कहते है।"[2] साख्य की दृष्टि से प्रकृति की क्षेत्र-परिधि या विस्तार निर्दिष्ट करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् प बलदेव उपाध्याय लिखते है—"साख्य ने चैतन्य की सत्ता पुरुष रूप मे स्वीकृत की है और मन तथा भूत का अतर्भाव प्रकृति के भीतर किया है, जिससे मानसिक दशाओ और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है।"[3] भारतीय दर्शन की प्रकृति-विषयक प्रतिनिधि या प्रामाणिक दृष्टि बादरायण ने अपने वेदात-सूत्र मे प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार शाश्वत चेतन तत्त्व से अतिरिक्त और उस चेतन के शासन मे रहनेवाला समस्त जड समुदाय प्रकृति या प्रधान में समाविष्ट होता है।[4] गीता चेतन-तत्त्व से रहित पदार्थ जगत् को आठ भागो मे—भूमि, जल, अग्नि, पवन, आकाश, मन, बुद्धि, अहकार—विभाजित करके उसे 'प्रकृति' की सज्ञा प्रदान करती है।[5] पश्चिम में प्रकृति की सीमा के अतर्गत स्थूल पदार्थ-जगत् को व उसकी व्यवस्था करनेवाली शक्ति को समाविष्ट किया गया है।[6] प्रमुख उपनिषदों से भी प्रकृति के क्षेत्र का बोध इस रूप में होता है। आत्म-तत्त्व प्रकृति से एक सर्वथा स्वतत्र तत्त्व है, जिसके शासन मे ही चराचर प्रकृति रहती है।[7] इसके विपरीत प्राकृतवादियों की एक भारतीय व पाश्चात्य विचारधारा (दर्शन व विज्ञान के जगत् में जिसके अनेक प्रवाह व उपप्रवाह हैं) भी है, जिसके अनुसार प्रकृति एकमात्र स्वतत्र सनातन तत्त्व है। जो हो, चिंतन के क्षेत्र में प्रकृति-विषयक दो मूलभूत व अत्यत महत्त्वपूर्ण दृष्टिया हैं, जिनके अनुशीलन से प्रकृति के क्षेत्र-विस्तार का अनुमान हो सकता है।

वास्तव मे 'प्रकृति' का क्षेत्र अत्यत विशाल है। वह दृश्यमान व अदृश्य—दोनों जगत् को घेरे हुए हैं। उसमें अतःप्रकृति (मन, चित्त, बुद्धि-अहंकार), बाह्य प्रकृति (पच तत्त्व, उनसे प्रसूत नाना रूप समुद्र, पृथ्वी, आकाश व उनसे सयुक्त समस्त पदार्थ) तथा उक्त दोनों के योग से प्रसूत समस्त प्रपच समाहित है। ऐसे विशाल क्षेत्रवाली प्रकृति सब सहृदय व विचारकों को भावन-चिंतन पथ में उनके विविध वय, चित्त-वृत्तियों व परिस्थितियों के भेद से आती है तो वह दुस्तर अनंत समुद्र-सी दिखायी पडने लगती है।

विचार के क्षेत्र में यह जटिलता और भी बढ जाती है, जब प्रकृति को केवल जड माननेवाले वैज्ञानिकों या दार्शनिकों की, जो प्रकृति के अतिरिक्त किसी भी अन्य मौलिक व स्वतत्र तत्त्व की सत्ता नहीं मानते (आत्मा जिनके लिए प्रकृति का ही एक विकार मात्र है) तथा प्रकृति से स्वतत्र एक चेतन आत्म तत्त्व मानकर समस्त प्रकृति को उसी से शासित माननेवाले दार्शनिकों की परस्पर विरोधी विचारधाराए सामने लहराने लगती हैं। विविध दर्शनों में (भारतीय-पाश्चात्य, प्राचीन, मध्युगीन, अर्वाचीन) उस पर तत्त्व रूप में, सप्रदाय-भेद से, विविध दृष्टिकोणों से विचार हुआ है और उसके संबध में विविध तथ्य उद्घाटित हुए हैं। विज्ञान भी

प्रयोग की विश्लेषणात्मक पद्धति से प्रकृति का ही सूक्ष्म अध्ययन करता है। सहृदय कवियो, कलाकारो व साहित्यकारो के लिए भी वह एक प्रमुख उपजीव्य है। ऐसी जटिल शिराओ व गुफित स्नायुजाल वाली प्रकृति पर सुस्पष्ट ढग से विचार करने के लिए आवश्यक है कि उसके केवल उतने अश को अलग करके निर्दिष्ट कर दिया जाये, जिसका साहित्य या काव्य से घनिष्ठतम सबध है। पर काव्य से सबधित प्रकृति को मर्म से समझने के लिए उसे दार्शनिक परिवेश मे रखकर देखे बिना बढना सभव नही।

दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति पर विचार की आवश्यकता

प्रकृति का सबध साहित्य, दर्शन और विज्ञान—इन तीनो विषयो या ज्ञान-क्षेत्रो से है। पर, सबकी दृष्टि प्रकृति के प्रति भिन्न-भिन्न है। उन सब दृष्टियो का विश्लेषण न करके केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'प्रकृति' के द्वारा जिस विषय-प्रसार का बोध होता है उसके केवल एक विशिष्ट अश—नरेतर बाह्य प्रकृति—से ही काव्य का एक विशेष—रागात्मक—सबध है, अत प्रकृति के प्रति साहित्यिक दृष्टि को भली-भाति समझने के लिए यदि उसे पीठिका या परिपार्श्व में रखकर देखे तो उपादेय होगा। दर्शन की बौद्धिक दृष्टि और साहित्य की रसात्मक दृष्टि ऊपर से भले ही विभिन्न क्षेत्रो की दृष्टिया जान पडे, पर अपने मूलो मे ये दृष्टिया परस्पर घनिष्ठ रूप से सबद्ध है। इस नाते प्रासगिक या आनुषगिक रूप में प्रकृति की दार्शनिक दृष्टि पर विचार आवश्यक है। फिर, प्रसाद के साहित्य में एक ओर तो प्रकृति का एक विशिष्ट साहित्य-उपकरण के रूप मे भरपूर उपयोग हुआ है, दूसरी ओर उन्होने प्रकृति-संबधी एक विशेष विचारधारा हमें दी है, काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति कहा है, और समस्त प्रकृति को प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर परम शिव तत्त्व का आभास। इस सब स्थिति से प्रसाद की एक मौलिक प्रकृति दृष्टि सूचित होती है जिसने उनके समस्त चितन, भावन व सृजन को रजित किया है। प्रसाद काव्य का क्षेत्र भाव-विचार से आगे बढाकर आत्मा के प्रदेश तक ले गए हैं, जहा तक जाना भले ही कतिपय मूर्धन्य समीक्षकों को इष्ट व मान्य नही। साहित्य में आत्मा तक बढ जाने का अर्थ हुआ साहित्य का दर्शन व तत्त्वचिंता से भी घनिष्ठ रूप से सबद्ध होने की स्वीकृति। ऐसी स्थिति में प्रकृति के दार्शनिक पक्ष पर विचार करना और भी आवश्यक जान पडता है। दार्शनिक पदार्थों या द्रव्यों की दो सीमाए है—आत्मा, पुरुष या ब्रह्म और भूत-पदार्थ। इन दो सीमा-बिदुओं के द्वारा निर्दिष्ट विस्तार-भूमिका पर प्रसाद-साहित्य को समझना आवश्यक है, क्योंकि उन्होंने उसी दृष्टि-विशेष से अपने साहित्य का प्रणयन किया है, वह दृष्टिकोण किस सीमा तक मान्य है, यह प्रश्न ही दूसरा है।

प्रकृति-विषयक दार्शनिक दृष्टि (विचार) व साहित्यिक दृष्टि (भाव) का घनिष्ठ संबध है। कवि की दृष्टि पूर्ण या समग्र दृष्टि कही जाती है, अत· विचार और भाव की प्रतिनिधि दोनों दृष्टिया जब तक उसमें समजित न हों तब तक वह पूर्ण कैसे ? फिर मनोविज्ञान की दृष्टि से भी विचार व भाव—ऊपर से पूर्णत· भिन्न दिखायी पडनेवाली दो सत्ताए—अपने मूल में परस्पर सबद्ध हैं। एक के बिना दूसरे की सत्ता नही। जब तक बुद्धिपक्ष से भी पूर्णत· विचार न कर लिया जाये तब तक कोरे भावपक्ष का विचार एकदेशीय, अपूर्ण या अप्रामाणिक ही रहेगा। इसीलिए कहा गया है कि भाववृत्त बुद्धिवृत्त के भीतर ही रहता हुआ अपना कार्य करता है,

स्वतत्र नहीं। और बुद्धिपक्ष या दर्शनपक्ष के ग्रहण का आशय इसके अतिरिक्त हो ही क्या सकता है कि अब तक प्रकृति पर जो दार्शनिक चिता हुई है, उसकी पीठिका पर ही विषय का विचार किया जाये। पर इसका यह अर्थ भी कदापि नही कि साहित्य-स्रष्टा या काव्य-स्रष्टा केवल प्रकृति-विषयक दार्शनिक विचारधारा से बधकर ही यात्रिक रूप से साहित्य या काव्य मे प्रकृति का निरूपण करे। वस्तुत प्रकृति-विषयक दार्शनिक विचारधारा तो लक्षित-अलक्षित ढग से प्रत्येक सहज कवि की रचना मे दूध मे घृत की तरह स्वयमेव समायी रहती है। सजग समीक्षक अवगाहन करके उन तत्त्वो को निकाल सकते हैं। कवि काव्य मे प्रकृति का विश्लेषणात्मक (Analytical) बुद्धि से प्रयोग न करके ध्वनि (व्यजना) पद्धति से सकल्पात्मक या सश्लिष्ट (Synthetic) प्रयोग ही करता है। प्रकृति के इसी कल्पनात्मक और भावनात्मक विन्यास मे कवि की सच्ची व पूर्ण प्रकृति-विषयक दृष्टि समायी रहती है।

इस प्रकार प्रकृति को लेकर दार्शनिक दृष्टि और साहित्यिक दृष्टि में घनिष्ठ सबध ठहरता है।

वेदात आचार्य शकर ने 'मायावाद' का प्रवर्त्तन किया जिसके अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है और जगत् मिथ्या, माया या अविद्या है। शकर की यह दृष्टि बौद्धो के शून्यवाद से प्रभावित थी, जिसमें ससार को स्वप्नवत् समझा गया था। शकर 'अनिर्वचनीय ख्याति' को मानते हैं। उनकी दृष्टि मे ससार न तो सत् ही है और न असत् ही, सत् इसलिए नही कि वह कभी नष्ट होगा ही, और असत् इसलिए नही कि वर्तमान मे तो वह अनुभव मे आ ही रहा है। यही ससार की 'अनिर्वचनीयता' है। उनकी दृष्टि में प्रकृति में मूलत आनद नही है। बल्कि सगुण—त्रिगुणात्मिका प्रकृति की रचना मायाकृत है। जब तक यह माया का आवरण नष्ट न हो, तब तक आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन सभव नही। ब्रह्म को प्रकृति समझना या उस पर प्रकृति का आरोप करना तो (रज्जु को सर्प समझने के समान) शकर की दृष्टि में अध्यास, अज्ञान, भ्रम या विवर्त्त का परिणाम है। यदि हमें प्रकृति में आनद मिलता ही है तो केवल पूर्ण आत्मभाव की प्राप्ति होने पर ही, आत्मा और ब्रह्म की एकता की अनुभूति होने पर ही। उसके पहले प्रकृति मे आनद मानना नही बन पडता। तात्पर्य यह कि प्रकृति अपने-आप में जड है। प्रकृति अपनी सार्थकता के लिए ब्रह्म पर ही आश्रित है। प्रकृति की सत्ता वास्तविक नही है, प्रातिभासिक है। इन पदार्थों की सत्ता का स्वीकार अज्ञान मात्र है। व्यावहारिक सत्ता उपासना के लिए स्वीकृत अवश्य है, पर पारमार्थिक सत्ता केवल शुद्ध ब्रह्म की ही है। 'विवर्त्त' नामक वृत्ति के कारण हम भ्राति व अज्ञान से ससार को सत्य समझ बैठे हैं और सुख-दुःखादि द्वंद्वों का अनुभव कर रहे है, प्रकृति या सृष्टि का समस्त प्रसार शकर की दृष्टि में वस्तुत मायामय, भ्रातिजन्य और असत् है।[9] अवश्य ही वे आत्मा के आनद की प्राप्ति (जो जीवन का सर्वोच्च काम्य है) का पथ बताते हैं जिसे साख्यशास्त्र भी नही बताता,[10] पर जिस चिंतन-शैली से वे हमें ले जाते हैं, वह जगत् को माया, मिथ्या व भ्राति कहकर ही।

आगे रामानुज और वल्लभ ने शकर की इस दृष्टि का घोर विरोध किया। रामानुज ने तो यहां तक कह दिया कि उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म का नही, किंतु सगुण का ही प्रतिपादन हुआ है। वल्लभ ने अवश्य ब्रह्म को उभयलिंग माना; यह माना कि उपनिषदों में ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में निरूपित हुआ है। तात्पर्य यह कि शकर की मूलभूत मान्यता को अप्रामाणिक कहकर चुनौती दी गयी और यह प्रमाणित करने का प्रयास किया गया कि ससार

मिथ्या नही है, सत्य है। प्रकृति के प्रति आचार्यों की इस मूल दार्शनिक दृष्टि व दृष्टि-भेद का भारतीय जीवन-दृष्टि से अत्यतं घनिष्ठ सबध है।

शकर ने एक ही पदार्थ—निर्गुण ब्रह्म—माना, किंतु रामानुज ने तीन माने—चित् (जीव), अचित् (जड जगत्) व ईश्वर। शकर ने माया की कल्पना करके सृष्टि-रचना का रहस्य समझाया, पर रामानुज ने माया को अस्वीकार कर चित् और अचित् के रूप मे ब्रह्म का ही विस्तार माना। उनकी दृष्टि मे जगत् मिथ्या नही है, ब्रह्म का ही एक स्वगत भेद है। यह सारी सृष्टि ब्रह्म का ही शरीर है।[11] ईश्वर और सृष्टि का सबध 'अपृथक् सिद्धि' नामक सबध के द्वारा समझाया गया। ईश्वर और सृष्टि के बीच केवल समवाय सबध (ततु और पट) ही नही है, वह तो स्थूल व ऊपरी है। उससे गहरा एक और सबध है जो शरीर व आत्मा के सबध मे देखा जा सकता है। 'अपृथक् सिद्धि' सबध द्रव्य और गुण दोनो मे रहता है। ईश्वर विशेष्य है और जगत् विशेषण। विशेष्य-विशेषण अलग-अलग नही रह सकते। इसी प्रकार सृष्टि व ईश्वर अलग-अलग नही है। चित् और अचित् विशेष्य ईश्वर के विशेषण है, विशेषण विशेष्य से भिन्न नही रह सकता। ईश्वर और सृष्टि को लेकर यही रामानुज की विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टि है।[12] रामानुज की यह दृष्टि निराधार नही, अपितु उपनिषदो से पुष्ट भी होती है। उपनिषदो मे[13] निरूपित हुआ मिलता है कि मूल सत्ता निर्गुण है, और सगुण इसी का प्रसार है। जगत् रूपी वृक्ष पर एक पक्षी (निर्गुण) साक्षीभूत मात्र होकर सब कुछ देख रहा है और दूसरा भोक्ता होकर उसके फलो का रस ले रहा है।[14] जबकि वेद पर आधारित उपनिषद् सृष्टि के इस महत्त्व को स्वीकार करते हैं तब तो शकर की दृष्टि अवश्य ही विचारणीय हो उठती है। जो हो, रामानुज की दृष्टि ने एक ऐसी नवीन सास्कृतिक विचारधारा का प्रवर्त्तन किया, जिससे सृष्टि सजीव व सार्थक दिखायी पडने लगी, जीवन की नीरसता दूर हटने लगी और जनसाधारण चारों ओर प्रकृति मे भगवान का सरस दर्शन करने लगा।

वल्लभ ने इस दृष्टि को, समय की अनुकूलता पाकर, और भी विकसित व पुष्ट किया। उन्होने भी कहा कि सृष्टि मिथ्या नही है। उन्होने भी रामानुज की तरह माया की बात उडा दी। माया कोई वस्तु नही। उन्होने ब्रह्म को माया से शुद्ध करके शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की, मानो ब्रह्म पहले माया के कारण अशुद्ध था। उन्होंने माया के स्थान पर 'आविर्भाव तिरोभाव' की कल्पना की (जिनका सकेत ब्रह्मसूत्रों में मिलता है—ब्रह्मसूत्र, 3-2-5, 4-4-1, तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् 1-11, में भी—*तस्याभिध्यानाद् योजनातत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति ॥*) और बताया कि अक्षर ब्रह्म अपने तीनो—सत्, चित् व आनद—रूपों का आविर्भाव-तिरोभाव करता रहता है, जिनका प्रकाश क्रमश सधिनी, सवित् और ह्लादिनी शक्ति से होता है। जीव में सत्, चित् का आविर्भाव है, व आनद का तिरोभाव, तथा जड (प्रकृति) में चित्-आनद का तिरोभाव रहता है और केवल सत् का आविर्भाव। तात्पर्य यह है कि जड प्रकृति भी अक्षरब्रह्म से सबद्ध है, सर्वथा मिथ्या, अत- उपेक्षणीय नही। वल्लभ ने माया के बिना सृष्टि की व्याख्या की।[15] जगत् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सत् अश से या शरीर से बना हुआ है, वह अविकृत है। वह नित्य पदार्थ है जो ब्रह्म के सत् अश से ही निर्मित है। प्रकृति मिथ्या या मायाकृत नहीं। ब्रह्मसूत्र के 'आत्मकृते'[16] तथा 'परिणामात्'[17] के द्वारा उन्होंने यह कहा कि सारी सृष्टि लीला के लिए—*'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'*[18] रची गयी है, और ब्रह्म का ही परिणाम है। अपने ही आनंद के लिए रची गयी सृष्टि का ब्रह्म के साथ गहरा सबध होना चाहिए। विष्णुस्वामी और

वल्लभाचार्य ने ही साहस के साथ सीधे ब्रह्म का ही परिणाम स्वीकार किया है। कारण से बना हुआ कार्य उससे अनन्य होता है, मिथ्या नही होता।[19] इतना ही नही, वल्लभ ने तो ब्रह्म के सगुण स्वरूप को असली व श्रेष्ठ कहकर निर्गुण स्वरूप को निम्न कोटि का ही प्रमाणित कर दिखाया।

इस प्रकार हम देखते है कि रामानुज और वल्लभ के चितन-पथ मे प्रकृति-विषयक दृष्टि वही हुई जा रही है जो काव्य-दृष्टि के बहुत पास है।

साख्य भारतीय साख्य दर्शन प्रकृतिवादी है। वह प्रकृति अव्यक्त, या प्रधान को जगत् का कारण मानता है, त्रिगुणात्मक प्रधान के सिवाय किसी अन्य को जगत् का प्रेरक, प्रवर्त्तक या कारण नही मानता। मूल तत्त्व 'प्रकृति' सृष्टि का अनादि कारण है। वही सब कुछ उत्पन्न करता है, पर स्वय किसी से उत्पन्न नही होता। साख्य की प्रकृति एक ऐसी सत्ता है जो स्वतत्र, नित्य, त्रिगुणमयी व क्रियावान् तो है, पर है अधी। प्रश्न यह है कि उसके द्वारा जो सृष्टि-सपादन का कार्य चल रहा है, उस क्रिया का मूल कारण क्या है? अकारण क्रिया कैसे हो? अत साख्य मे ही 'पुरुष' नामक ऐसे तत्त्व की कल्पना की गयी है जो स्वय है तो पूर्ण निष्क्रिय, पर है पूर्ण चैतन्य-रूप। प्रकृति उसकी उपस्थिति मात्र से वैसे ही सक्रिय है, जैसे पुरुष की उपस्थिति मात्र से प्रेमिका अथवा रगमच की लज्जाशील नर्तकी।[20] तात्पर्य यह कि साख्य में प्रकृति को एक शाश्वत तत्त्व माना गया, किंतु चैतन्य तत्त्व को माने बिना साख्य का काम न चला। साख्य ने अनेक प्रकार से प्रकृति को ही सर्वोपरि तत्त्व ठहराया और अपने दृष्टिकोण के पोषण मे अनेक युक्तिया प्रस्तुत की, पर चेतनवादियों को उससे पूर्ण सतोष नही हुआ।[21] चेतनवादियों की प्रधान शकाए है—जड प्रकृति मे कर्तृता कहा से आ गयी है? गुणवान् वस्तु नाशवान् अवश्य होती है, फिर प्रकृति नित्य कैसे? प्रकृति व पुरुष का प्रथम सयोग किस प्रकार हुआ? इस प्रकार प्रकृति तत्त्व को सर्वोपरि तत्त्व माननेवाला साख्य दर्शन जिज्ञासुओं को शात न कर सका। दूसरे शब्दो में, चेतन-तत्त्व की स्पष्ट अध्यक्षता के अभाव मे जड प्रकृति स्वत सृष्टि की पहेली हल न कर सकी।[22]

इस दर्शन मे पुरुष या चैतन्य की अवश्य कल्पना की गयी है, क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रथम स्पदन के लिए यह आवश्यक था, पर पुरुष उदासीन ही माना गया है, वह न तो प्रधान का निवर्त्तक है और न प्रवर्त्तक। यदि प्रकृति आरभ मे परिचालित होती है तो उसी प्रकार जैसे चुबक की उपस्थिति में लोहा।[23] अधा और पगु जिस प्रकार अपना कार्य परस्पर चलाते है, उसी प्रकार प्रकृति-पुरुष से यह सृष्टि चल रही है।[24] साख्य का तर्क यह है, कि बछडे के लिए गाय के स्तन का दूध, झरने का जल और मेघ स्वत कार्यशील रहते है,[25] अत प्रकृति के आगे और किसी तत्त्व की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार साख्य ने प्रकृति को ही अतिम तत्त्व मान लिया, किंतु साख्यशास्त्र के अनुशीलनकर्त्ता तत्त्वज्ञों को आज भी उनकी सारी प्रक्रिया असगत और असतोषजनक ही लग रही है।[26]

बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्रों में साख्यशास्त्र के सब तर्कों का समूल खडन करके यह प्रतिष्ठित कर दिया है कि प्रधान या प्रकृति जड है और वह अपनी सत्ता के लिए किसी चेतन तत्त्व पर ही आश्रित है। इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म ही है, साख्योक्त 'प्रधान' अथवा जड 'प्रकृति' नही।[27] ब्रह्म से उसकी पृथक् सत्ता नही है। बुद्धिमान् या चेतन कर्त्ता के बिना प्रकृति जड़ है। जड पदार्थ स्वयमेव न तो कार्यप्रवृत्त ही हो सकता है और न कुछ बुद्धिकौशलपूर्ण रचना ही कर सकता है। साम्यावस्था में प्रथम विक्षोभ भी स्वत सभव

नही। तृण का दूध बनना, गाय के थन से दूध-प्रवाह और निर्झर का जल-प्रवाह सब एक चेतन तत्त्व की ही अपेक्षा करते है। विशिष्ट चेतन के सहयोग के अभाव मे जड प्रकृति की जगत्-रूप मे परिणति असभव है, तृण से सब जगह दूध नही बन सकता, विशिष्ट चेतन गाय के सपर्क से ही तृण से दूध बन सकता है। साख्य का पुरुष असग, निर्विकार, और उदासीन है, अत वह प्रेरक नही बन सकता। लोकरचना के कार्य मे प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति की भी सगति नही बैठती, क्योकि साख्य के अनुसार पुरुष असग, चैतन्यमात्र, निष्क्रिय, निर्विकार, उदासीन, निर्मल, नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। फिर पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग की आवश्यकता ही क्या? अधे और लगडे भी अपनी एक विशिष्ट इद्रिय मे रहित भले ही हो, पर वे अपनी बुद्धि के ही योग से काम करते है। (बुद्धि भी तो किसी चेतन की ही पूर्व-सत्ता या उपस्थिति सूचित करती है), अत अधे और लगडे की कल्पना भी तत्त्वचितको को सतोषजनक नही।[28]

इन परस्पर विरोधी बातों का वर्णन करने से साख्यमत असगत कहा गया है। तात्पर्य यह कि प्रकृति जड तत्त्व मात्र है, वह किसी की सत्ता या शासन में रहकर ही कार्य कर सकती है, स्वयमेव नही। चेतन तत्त्व ही सर्वोपरि है।

शैवागम शैवागम दर्शन मे परासवित् या परम शिव ही परम तत्त्व है जो अपने निर्गुण व अचित्य रूप मे 'विश्वोत्तीर्ण' व सगुण या व्यक्त रूप मे 'विश्वात्मक' कहलाता है। परम शिव प्रकाश-विमर्शमय है और अपने परम स्वतत्र स्वभाव से शक्तिपचक (चिति, आनद, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) के द्वारा सृष्टि का उन्मीलन-निमीलन रूप खेल करते हुए लीला कर रहे हैं।[29] प्रकृति परम शिव का शरीर है। परमेश्वर और सृष्टि का सबध 'दर्पण नगर' का सबध है।[30] प्रकृति शिव से भिन्न दिखायी पडते हुए भी वस्तुत शिव मे ही है। वह परम शिव का प्रतिबिंब या आभास है। इस दर्शन के अनुसार सृष्टि बौद्ध-सृष्टि के समान न तो स्वप्न है और न शाकर वेदात की तरह अध्यास या विवर्तजन्य मिथ्या या भ्राति है। वह तो शिव का शरीर होने के नाते सत्य है।[31] शैव साधक के लिए सर्वत्र शिव ही शिव है; स्वय सुख-दुख भी उसके लिए तो कल्पना है। शैव साधक परम आनद का उपासक है। वह 'अह' रूप आत्मा का 'इद' रूप प्रकृति में विस्तार देखकर आनदमग्न होता है। परम शिव के नाते प्रकृति परम आनदमयी है। सारा विश्व चिन्मयी शक्ति का ही स्फुरण है। सृष्टि और ईश्वर के इस सबध की प्रामाणिकता पर आचार्य प बलदेव उपाध्याय लिखते है—"परिणामवाद में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य आकार ग्रहण करता है। प्रकाशतनु शिव के प्रकाश के तिरोधान होने पर तो यह जगत् ही अधा हो जायेगा। अत न तो विवर्तवाद हृदयगम होता है, न परिणामवाद, प्रत्युत स्वातत्र्यवाद, या आभासवाद, बुद्धिगम्य होने से प्रामाणिक है।[32] इस प्रकार शैवागम की प्रकृति-दृष्टि काव्य की सकल्पात्मक अनुभूति या सश्लिष्ट दृष्टि के बहुत ही निकट आती जान पड़ रही है। शैवागम की दृष्टि प्रकृति को मिथ्या अध्यास नहीं मानती। काव्य-सृष्टि के साथ उसका अच्छा मेल बैठता है।

न्याय-वैशेषिक न्याय-वैशेषिक दर्शन शुद्ध वास्तववादी दर्शन है, जो मुख्यत अपनी पदार्थ-मीमासा के लिए प्रसिद्ध है। प्रकृति नैयायिकों के बारह प्रमेयों तथा वैशेषिकों के आठ द्रव्यों के अतर्गत समाविष्ट है। न्याय दर्शन किसी सार्वभौम परम तत्त्व (Universal absolute Principle) के प्रकाश में समग्र विश्व का एक व्यवस्थित और पूर्ण संतोषजनक

दर्शन हमे नही प्रदान करता।[33] वह आत्मा की, अन्य पदार्थो की तरह एक स्वतत्र पदार्थ के रूप में सत्ता मानकर ही सतुष्ट है। प्रकृति का विवेचन केवल प्रमेयो या द्रव्यो के अतर्गत ही अटका-उलझा रह गया है। इस प्रकृति का अतिम सचालक-नियता कौन है, इसका तृप्तिदायक उत्तर साख्य की तरह यहा भी नही मिलता। वैशेषिक दर्शन ने 'अदृष्ट सहकारिता से ईश्वर की इच्छा' तथा ईश्वरेच्छा से ही परमाणुओं मे स्पदन तथा तज्जन्य सृष्टि-क्रिया मानी है। यह दर्शन परमाणुओ से ही सृष्टि की उत्पत्ति सिद्ध करता है। पर अणुओ मे जीवन स्वत कहा से आ गया ? किसी मूल शाश्वत चेतन तत्त्व की सत्ता माने बिना मनीषी दार्शनिको को सृष्टि की पहेली हल होती नही जान पडती। जो हो, अवश्य ही यह दर्शन कोरे भौतिकवादी दर्शन से ऊपर उठा हुआ बताया गया है। सामान्यत समीक्षकों की दृष्टि मे यह पूर्ण तृप्तिकर दर्शन नही है, क्योकि वह अणु, मन, आत्मा और प्रकृति के नियना सृष्टि के किसी हृदयस्थानीय तत्त्व को प्रतिष्ठित नही करता।[34] आत्मा को इन दर्शनो में एक पदार्थ या द्रव अवश्य माना गया है, किंतु सब स्वतत्र पदार्थों या द्रव्यो का एक मूल केद्रीय चेतन तत्त्व से अनिवार्य व प्रगाढ सामजस्य न घटित हो पा सकने या दूर तक उसका निर्वाह न हो पा सकने से और ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानने से रसजीवी कवि या साहित्यकार के लिए प्रकृति की दृष्टि से ये दर्शन बहुत आकर्षक व उपकारक नही दिखायी पडते। काव्य में जो रसानुभूति-जन्य मुक्ति का अनुभव होता है, वह वैशेषिक मुक्ति जो, भक्ति-समाज मे शिला-सी नीरस कही गयी है, मे बहुत ही दूर की चीज दिखायी पडती है। वास्तविक बात यह है कि इन दर्शनों ने दु:ख-नाश के उपाय तो बताये है, किंतु मानव के लिए आनद जैसी किसी उच्च भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा सभवत ये नही कर सके हैं।

अन्य सृष्टि या प्रकृति को देखने की अन्य दर्शनों की भी अपनी दृष्टि है। मीमासक 'यथार्थ ख्याति' के अनुसार प्रकृति को सत्य कहते है। बौद्धों के विविध सप्रदायों में जगत् को देखने की दृष्टियो में पर्याप्त भिन्नता है। शून्यवादी या माध्यमिक सर्वत्र शून्य देखते हैं, विज्ञानवादी केवल बाहर का सब कुछ असत् मानते हैं। सौत्रातिकों व वैभाषिकों मे न्यूनाधिक भेद से विज्ञान व ससार सत्य है।

अद्वैत वेदात की भूमि पर सूफी साधक भी (जो मूलत भारतीय अद्वैत वेदात से प्रभावित हैं) जगत् के मूल में एक सौंदर्यमयी सत्ता की कल्पना करके समस्त प्रकृति को उसका आभास, प्रतिबिब या छाया मानते हैं। वे समस्त प्रकृति को परम प्रियतम के लिए प्रत्येक क्षण जलती हुई अनुभव करते हैं। जायसी के इस कथन से चेतन तत्त्व व प्रकृति का सबध स्पष्ट हो जाता है—

रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती।

प्रकृति की दृष्टि से विविध ज्ञान-क्षेत्रो (दर्शन, विज्ञान व साहित्य) का पार्थक्य व वैशिष्ट्य

दर्शन, धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अग है। उसमें ब्रह्म, जीव, माया, जीवन, मृत्यु आदि विषयों के साथ प्रकृति भी सूक्ष्म विचार का एक अत्यत गभीर विषय रही है। दर्शन में यद्यपि शुद्ध

अनासक्त बुद्धि से प्रकृति तत्त्व की अतरग मीमासा की जाती है, किंतु प्रकृति-विषयक विचार मे भावना या श्रद्धामूलक धर्म का अग होने के कारण भावना का भी हल्का-गाढा रग प्राय सर्वत्र मिल जाता है, इसलिए पूर्व-पश्चिम के दर्शन की विविध चितन-प्रणालिया भावना के अनुपात-भेद से परस्पर भिन्न हो गयी है। इस दर्शन के एक छोर पर सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकल का जडाद्वैतवाद है तो दूसरे छोर पर शकर या काट का केवलाद्वैतवाद। दोनो वादो मे प्रकृति-विषयक धारणाओं मे आकाश-पाताल का अतर है। एक में प्रकृति ही एकमात्र तत्त्व है तो दूसरे मे प्रकृति चेतन के अधीन एक जड सत्ता मात्र। इस प्रकार प्रकृति-विषयक चिता जड-चेतन की एक सनातन गुत्थी का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।[35] द्रव्य या वस्तु (Matter) और चेतना (Mind) का स्वरूप और उनके सबधो का स्थापन व निरूपण ही प्रकृति-विषयक दर्शन का केंद्र-बिदु बन जाता है। तात्पर्य यह है कि दर्शन का प्रकृति से घनिष्ठतम सबध है।

विज्ञान तो निःशेषत प्रकृति के ही आधार पर खडा है। विज्ञान की विविध ज्ञानशाखाओं में वस्तुतथ्यात्मक दृष्टि से प्रकृति के ही विविध पक्षो का, निरीक्षण-परीक्षण, विश्लेषण-वर्गीकरण, तुलना आदि का प्रक्रिया से प्रयोगात्मक अध्ययन होता है, जिसमे भावना या कल्पना किंचिन्मात्र भी बीच में नही आने दी जाती। इस प्रक्रिया मे जो तथ्य या परिणाम प्राप्त होते है, वे जीवन-मूल्य व जीवन-दृष्टि के निर्माण में पदार्थवादियों के द्वारा आधारभूत या अतिम निर्भ्रात तथ्यों के रूप मे स्वीकार कर लिये जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति विज्ञानक्षेत्र की भूमि है, जिस पर उसकी सारी सृष्टि खडी होती है।[36]

यद्यपि दर्शन व विज्ञान के क्षेत्र मे प्रकृति का प्रभूत प्रयोग होता है, पर क्षेत्र व लक्ष्य-भेद से कभी-कभी उनके तथ्य या परिणाम परस्पर इतने विपरीत हो जाते हैं कि उन्हें परस्पर पाटना दार्शनिकों का, मानव-हित की दृष्टि से, एक अत्यत आवश्यक दायित्व हो जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक कॉलिगउड ने 'The Idea of Nature' नामक अपना ग्रथ 19वी शताब्दी में लक्षित इन दोनों क्षेत्रों के अधिकाधिक बढते अतर को पाटने के ही लिए लिखा है।[37] डॉ दासगुप्त भी मानते हैं कि दर्शन और विज्ञान यद्यपि बाह्यत दो स्वतत्र क्षेत्र हैं, किंतु जिस मूलदृष्टि से वे चालित होते हैं वह मूल अन्वीक्षा की दृष्टि है, जिसका प्रयोग दोनों ही क्षेत्रों में सिद्धात-निर्माण के लिए होता है।[38] तात्पर्य यह कि दर्शन और विज्ञान, पूर्ण सत्य की एकता को देखते हुए मूल से परस्पर एक ही है।

इसी प्रकार साहित्य में व कलाओं में भी प्रकृति का विषय, अलकार व अन्य उपकरण के रूप में, भूरिश उपयोग होता है। पर साहित्य व कला की प्रकृति (स्वभाव), प्रक्रिया व गतव्य के प्रति दृष्टि का निर्माण शुद्ध बुद्धि या तर्क से न होकर भाव और रस से होता है, अत उक्त दृष्टि दर्शन व विज्ञान की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हो जाती है। ललित साहित्य व कला में प्रकृति का न तो कोरा अनुकरण होता है और न उसका तात्त्विक-बौद्धिक विवेचन। उसमे तो प्रकृति का रस-निपत्ति के उद्देश्य से कल्पनात्मक पुनर्निर्माण होता है और यही निर्माण साहित्य या कला में प्रकृति के उपयोग की चरम सार्थकता है। इन मर्यादाओं के साथ ग्रहण की गयी प्रकृति की (अतःप्रकृति और बाह्य प्रकृति की) कोई भी वस्तु ऐसी नही जो काव्य-विषय बनने की क्षमता न रखती या रख सकती हो।

ललित साहित्य में नही, किंतु साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में ही प्रकृति की तात्त्विक समीक्षा हो सकती है। पर साहित्य में कल्पनात्मक पुनर्निर्माण के लिए उपादानभूत रूप में

गृहीत प्रकृति का भाव-भूमि से सबधित रहने का यह अर्थ कदापि नही कि कवि का, इस निर्माण मे, बुद्धि या विचार से कोई सबध ही नही रह जाता। वस्तुत प्रकृति के प्रति यह काव्य-गत भाव-दृष्टि अपने मूलो मे बुद्धि या दर्शन से अत्यधिक प्रभावित रहती है। तुलसी, सूर व जायसी की प्रकृति-दृष्टि क्रमश रामानुज, वल्लभ और सूफीमत की प्रकृति-दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित है।

इन तीनो क्षेत्रो को लेकर सामूहिक रूप से कहा जा सकता है कि क्षेत्र व लक्ष्यभेद से प्रकृति के प्रति इन सबकी विभिन्न दृष्टि-भगिया हैं। प्रकृति-विषयक पूर्ण सत्य तो इन तीनों दृष्टियो के योग या सामजस्य में ही प्राप्त हो सकता है। काव्य मे यह सत्य भाव-मार्ग से कदाचित् अधिक रजक व तृप्तिदायी रूप मे आकलित व अनुभूत होता है।

प्रकृति के प्रति साहित्य का दृष्टिकोण

हमारी अत सत्ता मूलत एक है, भले ही हम स्पष्टता के लिए मन, बुद्धि, चित्त, अहकार आदि में उसका विभाजन करें। जिस प्रकृति को दार्शनिक व सामान्य व्यक्ति देखते हैं उसे ही साहित्यकार या कवि देखता है, पर वह उसे एक विशेष दृष्टि से देखता है। यह दृष्टि उसके मनोविज्ञान, सस्कार, अनुभव आदि से निर्मित होती है। यही नही कि कविजन ही प्रकृति को अन्य द्रष्टाओ से भिन्न रूप मे देखते है, स्वय कवियों के वर्ग में भी भावना तथा स्वभाव-भेद एक कवि की दृष्टि दूसरे कवि की दृष्टि से भिन्न होती या हो सकती है।[39] अब देखना यह है कि प्रकृति के प्रति कवियो की दृष्टि का क्या स्वरूप है ? कवि का प्रकृति या सृष्टि के साथ रागात्मक सबध होता है। अत प्रकृति के केवल उन्ही रूपों या पक्षों को कवि ग्रहण करता है जो उसकी रागात्मकता को उभारनेवाले हों। दार्शनिक प्रकृति के समस्त प्रपच को एकसाथ लेकर सृष्टि के एक तत्त्व रूप में उसकी बौद्धिक मीमासा व विविध सबधो की व्याख्या करते हैं। वे दृश्य व अदृश्य (अत करण) दोनों प्रकृतियों को लेकर उस पर सामूहिक तत्त्वचिंता करते हैं। पर प्रकृति के इस समस्त विस्तार का बौद्धिक विश्लेषण कवि का क्षेत्र नही। (हा, मानव-मात्र की मूल चेतना एक होने के नाते कवि के काव्य में भी, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, उक्त बौद्धिक चेतना आ जाये तो दूसरी बात है) कवि तो भाव-व्यवसायी है, वह व्यक्त प्रकृति के केवल उन्ही कोमल-कठोर रूपों को लेता है जो उसकी रागात्मक वृत्तियों को सहज उभारकर उसे सृष्टि के मूल में स्थित सौंदर्य (जो सत्य व शिव से पूर्णतया पृथक् हो यह आवश्यक नही, कदाचित् वाछित भी नहीं) की अक्षय सत्ता का दर्शन करा सकें। कवि का चिर प्रतिष्ठित लक्ष्य 'रस' या आनद की अनुभूति करना व कराना है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रकृति (व्यापक रूप में) के असीम विस्तार का जितना भाग आवश्यक है, कवि मुख्यत उसके केवल उतने ही अश से सबधित है। इसी प्रकार कवि अत सत्ता के जितने अश से आनद या रस निष्पन्न हो सकता है, उसके उतने ही अश को ग्रहण करता है। दार्शनिक का यह नियत दायित्व नहीं है कि वह हमें सृष्टि में व्याप्त सौंदर्य व रस का दर्शन कराये, क्योंकि मुख्यत वह उन वृत्तियों के यत्र से कार्य करता ही नही जो रस की निष्पादिका होती हैं। इस रूप में विचार करने पर प्रकृति का उतना रूप कटकर साफ सामने आ जाता है जो कवि या साहित्यकार से सबधित है। कवि अंतप्रकृति (भाव, विचार, कल्पना आदि) से भी सबधित है और बाह्य प्रकृति से भी। वह दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया में से ही रस की निष्पत्ति करता है,

किंतु बाह्य प्रकृति से प्रस्थान करके ही।

कवि और साहित्यकार भाव और कल्पना की दृष्टि से ही सृष्टि या प्रकृति के कार्य व मर्म को समझने की चेष्टा करते हैं। उनका चरम सत्य वस्तुगत नही, भावगत होता है, अत वे स्थूल पदार्थवादी दृष्टि से तृप्त नही हो सकते। प्रकृति के क्षेत्र में जो कुछ भी है उसका अधिकाश पचेंद्रिय के लिए रजक और तृप्तिकर है। कवि इस वस्तु-सत्ता के सत्य को झुठला नही सकता, प्रत्यक्षानुभव के आधार पर भी वह इसका मूल्य व महत्त्व समझता है। पर कवि यदि कही सीमित रह जाये तो स्थूल भोगवादी ही ठहरा। वह सत्य (सूक्ष्म सत्य) के दूसरे तट पर भी जाता है और आत्मा के बल पर सृष्टि के मूल में अवस्थित रहस्यमयी परम सत्ता में भी हार्दिक विश्वास रखता है। इस प्रकार वह अपने कार्यक्षेत्र की पद्धति व दायित्व को समझता हुआ इन दोनो विपरीत दृष्टियों में सहज-मधुर रूप में कल्पना की सहायता से, भावपूर्ण सामजस्य स्थापित करता है। वह पदार्थ-सत्ता की उपेक्षा करके चल भी नही सकता, क्योंकि जिस रस की निष्पत्ति वह करता है या करना चाहता है, उसका प्रस्थान-बिदु ही 'विभाव' है, जिसके अतर्गत समस्त प्रकृति समाविष्ट है। अत वह केवल सूक्ष्मजीवी (वेदात धरातल का अद्वैतवादी दार्शनिक) बनकर—सृष्टि को अध्यास या माया मात्र कहकर—भी नही चल सकता। वह आत्मा में विश्वास रखता हुआ, सृष्टि के कण-कण में उसका आभास व सौंदर्य देखता हुआ, कार्य करता है, और यही कवि या साहित्यकार का स्वतत्र व परिपूर्ण प्रकृति-दर्शन है।

कालिदास और भवभूति जैसे भारतीय कवियो ने और वड्र्सवर्थ तथा ब्राउनिंग जैसे अग्रेजी कवियो ने प्रकृति में एक आत्मा का दर्शन किया है। उनके काव्यों का अनुशीलन करने पर प्रकृति के प्रति काव्य की मूल दृष्टि का अनुमान हो सकता है। इन्होंने भावनामयी दृष्टि से प्रकृति में चैतन्य शक्ति से अनुप्राणित, एक आनदोल्लासमयी, जीवित-जाग्रत अखड, व शाश्वत सौंदर्य-सत्ता का साक्षात्कार किया है। विश्व का कण-कण एक अदृश्य, गहरी व हार्दिक सहानुभूति के तार से बधा हुआ है और एक ही जीवन-शक्ति से धडक रहा है। वड्र्सवर्थ लिखते हैं—

> "A Presence that disturbs me with joy
> Of elevated thoughts, a sense sublime
> Of something far more deeply interfused,
> Whose dewelling is the light of setting suns,
> And the round ocean and the living air,
> And the blue sky, and in the mind of man,
> A motion and a spirit, that impels
> All thinking things, all objects of all thoughts
> And rolls through all things" —'Tintern Abbey'

कण्व के आश्रम से शकुतला की विदाई के समय जो रसपूर्ण प्रसग कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुतलम्' (4/11 से 4/15 तक) में चित्रित किया है, वह मानव और प्रकृति में व्याप्त एक ही आत्मा के अस्तित्व का विश्वास बधाने वाला है और कवियों की प्रकृति के प्रति दृष्टि का सच्चा प्रतिनिधि परिचायक है।

दर्शन के क्षेत्र मे प्रकृति सबधी बुद्धि-ग्राह्य अतिम तथ्य जो भी निकले, मानव-हृदय—(और विशेषत कवि-हृदय)—तो उसे उसी रूप में स्वीकारने मे असमर्थ ही रहेगा।[40] कवि और काव्य के सदर्भ मे 'प्रकृति का अध्यात्म पक्ष' निरूपित करते हुए आचार्य प बलदेव उपाध्याय ने प्रकृति के प्रति भारतीय कवियों की प्रतिनिधि दृष्टि को सूत्र-रूप में इस प्रकार रखा है—'अचैतन्य न विद्यते'—जगत् के समग्र पदार्थ जाति मे चैतन्य का सुभग साक्षात्कार करने वाले भारतीय कवियो की दृष्टि में बाह्य प्रकृति सजीवता की ज्वलन्त मूर्ति है।[41] प्रकृति को चेतन सत्ता मानने वाली भारतीय कवि की भावनामयी दृष्टि का सम्यक् प्रकाश कालिदास के माध्यम से भली भाति देखा जा सकता है।[42] कालिदास अपने आराध्य शिव को जल, अग्नि, होता, सूर्य, चद्र, आकाश, पृथ्वी और वायु—इन आठ प्रत्यक्ष रूपों में देखते हैं।[43] प्रतिनिधि भारतीय कवि की दृष्टि में प्रकृति जड नही, वह चैतन्य तत्त्व से परिपूर्ण है। अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही कहना उचित होगा कि 'भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ कवियों ने भी प्रकृति के भीतर एक दिव्य चैतन्य का भव्य दर्शन किया है। प्रकृति दार्शनिक दृष्टि से भले ही जड, आत्मविहीन पदार्थ प्रतीत हो, परतु कवियो की अतर्दृष्टि प्रकृति के भीतर एक दिव्य चैतन्यलोक का साक्षात्कार करती है।[44]

निष्कर्ष रूप मे अब यह कहा जा सकता है—

1 प्रकृति की परिपूर्ण चेतना कविता में ही सर्वाधिक प्राप्त होती है, क्योकि काव्य की दृष्टि सश्लिष्ट दृष्टि होती है और उसमें प्रकृति के पदार्थों की स्थूल सत्ता से लेकर उनकी सूक्ष्मतम आत्मसत्ता (अत सत्ता) तक का सपूर्ण तत्त्व समाविष्ट रहता है।

2 प्रभावशाली प्रकृति-काव्य के मूल में कोई-न-कोई दर्शन अवश्य ही निहित रहता है, कवि इस तथ्य को सजग रूप में जाने या न जाने। हा, जानबूझकर काव्य में किसी दार्शनिक मत या विचारधारा का बलात् समावेश या योजनाबद्ध आरोप काव्य का उत्कर्षविधायक नही हो सकता। सहज जीवन-दृष्टि से उद्भूत दर्शन ही प्रकृति की सच्ची व परिपूर्ण चेतना को उभारेगा।

3 काव्य की मूल प्रकृति (रस), उसकी पद्धति (ध्वनि, वक्रोक्ति), उसका माध्यम (सौंदर्य) और उसके केंद्रीय उपादान (अद्भुत, कुतूहल, पूर्ण, उदात्त आदि) को ध्यान मे रखते हुए दर्शन के उन्ही वादो का इससे घनिष्ठतम सबध दिखायी पडता है जो उक्त तत्त्वों के प्रश्रय व पोषण का सर्वाधिक व सहज आश्वासन देते हैं। तर्क के बल पर ही बढनेवाले दर्शनों ने काव्य को बहुत कम प्रभावित किया है। कहने की आवश्यकता नही कि रामानुज-दर्शन, वल्लभ-दर्शन (अद्वैत शैवागम) व सूफी दर्शन इस दृष्टि से काव्य के लिए सर्वाधिक अनुकूल व उपकारी जान पडते हैं। प्रकृति को ब्रह्म के शरीर के रूप में ग्रहण करनेवाला दर्शन सृष्टि के सौंदर्य को अनुभव करने की असीम सभावना का द्वार खोलनेवाला है, और सौंदर्य की सृष्टि कवि का विशेष उत्तरदायित्व है। शाकर वेदात भी कम महत्त्व का नही दिखायी पडता। यह ठीक है कि वह प्रकृति को असत्, मायाजन्य व अविद्या का परिणाम कहता है, किंतु उसी दर्शन में साधक की आत्मा को मुक्तावस्था की एक ऐसी उच्च भूमिका भी उपस्थित होती है जहा समस्त प्रकृति विराट् आनद से परिपूर्ण हो उठती है, वह एक सौंदर्यपूर्ण पारदर्शी आवरण से परिवेष्टित होकर रहस्य को मधुर बनाती हुई हृदय की ग्रथियों का भेदन कर देती है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिटने पर यह भावना भी समूल नष्ट हो जाती है कि प्रकृति असत् है।

डायसन ने कहा है कि ब्रह्म आनद के समान नही, स्वय आनद ही है।[45] स्वभावन उक्त भूमिका पर प्रकृति आनद की ही अभिव्यक्ति हो जाती है। यही शाकर वेदात दर्शन की काव्योपयोगिता दिखायी पडती है। आश्चर्य नही कि भारतीय सहृदय सस्कारवश अद्वैत की भूमिका पर ही काव्य का सच्चा आस्वाद ग्रहण करने का सामान्यत अभ्यस्त है।

4 किंतु साथ ही सभवत यह मानना भी न्यायोचित जान पडेगा कि आत्मवाद मे विश्वास न करनेवाले दर्शन को भी हम काव्य की चरम सिद्धि की सक्षमता के श्रेय से वचित नही कर सकते। आत्मतत्त्व मे विश्वास परम आवश्यक हो ही क्यो ? कीट्स की ये पक्तिया भी काव्य की धर्म-दर्शन-निरपेक्ष शुद्ध भूमि का सकेत करती है—

A primrose by a river's brim
A yellow primrose was to him
And it was nothing more

यद्यपि अभिव्यजनावादी क्रोचे की बहुत-सी बातें गले नही उतरती, पर काव्येतर ज्ञान क्षेत्रो से सर्वथा निरपेक्ष कला का शुद्ध रूप जो उन्होने उभारा है, वह प्रस्तुत सदर्भ मे कम महत्त्वपूर्ण नही दिखायी पडता।

प बलदेव उपाध्याय की दृष्टि मे जर्मन दार्शनिक शेलिग, जो कलामर्मज्ञ भी है, प्रकृति को जीवित चेतन सत्ता मानते है। उसमे सुव्यवस्था और अभिरामता है। प्रकृति से सबध रखनेवाली कला उनकी दृष्टि मे भी श्रेष्ठ है। "दार्शनिक जगत् मे शेलिग का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने प्रकृति की वास्तविक सत्ता को एक प्रकार से प्रमाणो से उद्धार कर परिपुष्ट किया—उद्धार किया अध्यात्मवादी कल्पनाओ से जो प्रकृति को केवल आभासमात्र मानती थी। भौतिक जगत् सर्वत्र सौदर्य और लालित्य से परिपूर्ण है और यही सौदर्य-भावना उसके स्वतत्र अस्तित्व का प्रबल समर्थक प्रमाण है।"[46]

प्रसाद की प्रकृति-विषयक धारणा

प्रसाद के प्रकृति-विषयक के परिज्ञान के दो मुख्य स्रोत हैं—

(1) प्रसाद के भावात्मक और विचारात्मक गद्य लेख, तथा (2) उनके ललित साहित्य मे निहित प्रकृति की स्थिति।

'चित्राधार' के 'प्रकृति-सौदर्य' नामक लेख में प्रकृति के सौंदर्य के निरूपण द्वारा लेखक की तद्विषयक धारणा प्राप्त होती है। गुण और गुणी का घनिष्ठतम सबध होता है। सौदर्य गुण है और प्रकृति गुणी। अत प्रकृति के सौदर्य-वर्णन से प्रकृति का तात्त्विक स्वरूप भी सहज ही झलक उठता है। "प्रकृति-सौदर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्‌भुत समूह है, अथवा उस बडे शिल्पकार के शिल्प का एक छोटा-सा नमूना है।"[47] कहकर लेखक ने प्रकृति की मूल आध्यात्मिकता की ओर सकेत किया है। प्रकृति के वैचित्र्यपूर्ण क्रियाकलापो, रूपाकारों व मानव-हृदय पर पडनेवाले गभीर प्रभावो के कारण लेखक ने उसे 'अद्‌भुत रस की जन्मदातृ'[48] कहकर नमस्कार किया है। 'ईश्वरीय शिल्पकौशल', 'देवि', 'मनोहारिणी छटा', 'अद्‌भुत दृश्य', 'अद्‌भुत छटा', 'अद्‌भुत रचना', 'आश्चर्य', 'अमूल्य रत्न', 'अद्‌भुत बनाव', 'अद्‌भुत स्थिति',

'समयानुकूल परिवर्तन', 'विचित्र प्रभाव', 'अनियमित स्वरूप', 'तुम्हारा स्वरूप कल्पना में नही आ सकता', 'विकास', 'प्रवाह', 'प्रकाश', 'आभास', 'नटी की नरह यवनिका-परिवर्तन', 'यह सब दृश्य कैसा आनद देता है', 'आश्चर्यजनक लीला', 'अनतवर्ण-रजित मनोहर रूप', 'कौन आश्चर्यचकित नही हो जाता?' इत्यादि पदावली के द्वारा लेखक ने प्रकृति की दिव्यता, रचना-विचित्रता, क्रियाशीलता, प्रभावशालिता, आनदमयता, आनददायिकता आदि का स्पष्ट बोध कराया है। लेखक प्रभावापन्न होकर प्रकृति के प्रचड, भयावह, कठोर व कपकारी रूपों का आतकित भाव से वर्णन करता है, किंतु फिर भी वह उसके सौंदर्य पर एकात मुग्ध है। इससे प्रकृति की महत्ता, अलौकिक रमणीयता व प्रियता सूचित होती है। प्रकृति के माध्यम से कवि किसी 'गुप्त बल' की भावना तक भी पहुच जाता है, जो प्रकृति की विराटता व रहस्यमयता का बोधक है। प्रकृति के दृष्टिगोचर रूप का "पूर्ण वर्णन करने के लिए, मनुष्य की योग्यता और बुद्धि हो ही नही सकती"[49] – इस कथन द्वारा लेखक ने प्रकृति को किसी मानव-अनवगत या चिर दुर्भेद्य तत्त्व या सत्ता से सबद्ध ठहराकर एक अत्यत गूढ सत्ता या शक्ति के रूप मे देखा है। भाव-पथ से गृहीत प्रकृति के सबध में लेखक की यही मुख्य धारणा है।

सजग बौद्धिक विचारक के रूप मे प्रसाद ने प्रकृति-विषयक जो दार्शनिक चिता की है उसके कुछ बहुमूल्य सकेत उनकी रचनाओ मे अन्यत्र भी यत्र-तत्र मिल जाते है। ईसाई धार्मिक सस्कृति के द्वारा प्रकृति या सृष्टि को कलुषित और मूर्त्त ठहराकर उसे निम्न कोटि मे रखने की भावना के ठीक विपरीत भावना भारतीय उपनिषदों और शैवागमो में मिलती है जो मूर्त्त विश्व को निकृष्ट न मानकर क्रमश विश्व को ब्रह्म का मूर्त्त या सगुण स्वरूप और प्रकृति को पुरुष का शरीर मानती है।[50] इस प्रकार प्रकृति कोई हेय या जड सत्ता मात्र ही नही है, "प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिब है।"[51] प्रकृति को प्रसाद एक अन्य स्थल पर 'विश्वसुदरी' की सज्ञा से अभिहित करते है।[52] प्रकृति अथवा शक्ति के बल पर रहस्यवाद जैसा एक वाद खडा होता है, इसका भी प्रसाद के एक कथन से अनुमान होता है।[53] 'सौदर्यलहरी' के 'शरीर त्व शभो' के उल्लेख द्वारा प्रसाद प्रकृति को शभु का शरीर बताकर उसके दार्शनिक गौरव की अभिवृद्धि करते हैं।[54] वर्तमान हिंदी में अन्य बातों के अतिरिक्त प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अह (आत्मा) का इदम् (प्रकृति) से समन्वय होने का सुदर प्रयत्न किया जाना प्रसाद की दृष्टि मे प्रकृति की महान् साहित्यिक भूमिका की ही स्वीकृति है।

प्रसाद जी की अन्य रचनाओं से भी, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, उनकी प्रकृति-विषयक मूल दृष्टि का पोषण-सवर्द्धन होता है। प्रकृति में पाप से मुक्त करने की तथा मुक्ति का रहस्य प्रतिभासित करने की शक्ति है।[55] वह हमारे गहनतम धार्मिक सस्कारों के साथ सबद्ध होकर नयी आस्था को जन्म देनेवाली है।[56] प्रकृति और मानव-चरित्र का घनिष्ठतम सबध है।[57] प्रकृति में आत्म-विस्मृत करने की शक्ति है। वह आतरिक आलोक प्रदान करती है और प्रकृति का प्रेम सर्वत्र सौंदर्य का दर्शन कराता है।[58] प्रकृति में शाति का अलौकिक साम्राज्य है।[59] प्रकृति में हृदय का अनत विकास होता है।[60] प्रकृति मानव के विकास में सहायक है।[61] देखने के लिए उत्तम वस्तुओं में प्रसाद शरद् का प्रसन्न आकाशमडल, वसत का विकसित कानन, वर्षा की तरंगिणी धारा को गिनते हैं।[62] प्रकृति में शाति है, कुछ भी भय नहीं।[63] प्रकृति सयम की उपदेष्टा है। एक तृण कुसुम को देखकर वनलक्ष्मी कहती है—"तू

कुछ कह रहा है। तेरा कुछ सदेश है। तेरी लघुता एक महान् रहस्य है। मै तेरे साथ स्वर मिलकर गाऊगी।"[64] —इस कथन से प्रकृति की लघु से लघु वस्तु मे भी उसकी मूल दिव्यता आभासित होने का सकेत है। प्रकृति का प्रभाव हमारी आत्मा से सबध रखता है। कोकिल की कूक सुनकर मन शीतल, शात और विनोदमय हो जाता है।[65] यह मूर्त्त सचराचर विश्व 'चिति का विराट् वपु मगल' है।[66] पाषाणी प्रकृति ही आत्मतत्त्व से पुलकित होकर हसमुखी कल्याणी हो जाती है। प्रकृति आत्मतत्त्व के होने का माध्यम है, नही तो आत्मतत्त्व किस प्रकार अपने को प्रकाशित करे ?[67] इस प्रकार प्रकृति हमारी उदात्त वृत्तियों को जाग्रत करती है। वह जीवन को प्रेरणा देती है और उसे महत्त्वशील बनाती है। कवि मधुक्रीडा-कूटस्थ जिस पूरे विश्व-गृहस्थ को नमस्कार करता है वह उसे प्रकृति के सुप्रागण मे ही दिखायी पडता है।[68] कवि के मन मे अत्यधिक व्यथा है कि हम कामकाजी लोग ऐसी प्रकृति को आख उठाकर भी नही देखते और उसके स्पर्श से हम परिचित नही।[69] प्रकृति सुदर और परम उदार है।[70] उसके कोष से अनावश्यक व्यय करने का किसको अधिकार है ? यह ऋण है, इसे क्या कभी भी कोई चुका सकेगा।"[71]

आचार्य नददुलारे वाजपेयी ने प्रसाद की दार्शनिक व साहित्यिक चिता का विश्लेषण व मूल्याकन करते हुए प्रसाद के प्रकृति-सबधी दृष्टिकोण पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य स्थिर किये हैं। आचार्यजी यह निष्कर्ष निकालते है—"ब्रह्मानद-सहोदर रस प्रकृति के उपादानों से ही बना है—उनका बहिष्कार करके किन्ही अलौकिक उपादानो द्वारा नही। दार्शनिक क्षेत्र मे यही उपपत्ति इस प्रकार ग्रहण की जाएगी कि आनद की सत्ता को प्रकृति-बाह्य मानने की आवश्यकता नही है, प्रकृति का आनद-स्वरूप मे स्वीकार ही वास्तविक अद्वैत है।"[72] प्रकृति के सबध में प्रसाद जी की मौलिक और उत्तेजक धारणा पर मूल्याकनात्मक टिप्पणी करते हुए वे अन्यत्र कहते हैं—"इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के सबध की प्रसाद जी की दार्शनिक उद्‌भावना—प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नही, वरन् उसमें पर्यवसान अद्वैत है और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकल्प है—आधुनिक आध्यात्मिक क्षेत्रो मे कम उत्तेजना नही उत्पन्न करेगी।"[73]

इस प्रकार प्रसाद के गद्यात्मक विवेचन व ललित साहित्य से हम उनकी प्रकृति-विषयक धारणा का आकलन कर पाते है।

भारतीय दर्शन मे प्रकृति जड मानी गयी है। किंतु कवियों ने उसे एक चेतन सत्ता के रूप में अथवा चेतन का प्रकाश करनेवाली एक माध्यम-सत्ता के रूप में ही ग्रहण किया है। उनकी दृष्टि मे प्रकृति हेय न होकर एक परम रमणीय सत्ता है। प्रकृति को इस अर्थ मे देखते हुए हम प्रसाद को सूक्ष्म व परिष्कृत अर्थों मे प्रकृतिवादी भी कह सकते है। वे प्रकृति के प्रति वैदिककालीन श्रद्धा व अनुराग से आपूर्ण है। प्रकृति का उनके काव्य मे वैपुल्य है, प्रकृति में व महाचिति का दर्शन करते हैं, प्रकृति के माध्यम से ही उनके विराट् आनद की अभिव्यक्ति होती है, साख्य की दृष्टि से वे असहमत होते हैं, व मानव के मूल सुख की खोज मे फ्रास के लेखक रूसो की तरह प्रकृति की ओर लौटना चाहते है (कामना)। वे उसके कोमल पक्षो के साथ ही उसके कठोर पक्षों या रूपो के भी अनन्य प्रेमी है ('प्रलय' कहानी) और साहित्यिक रस-निष्पत्ति के लिए प्रकृति को पूरा-पूरा ग्रहण करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रकृति का प्रेम प्रसाद मे इस अनुपात को ग्रहण कर लेता है कि हम उनके विचारों में फ्रांस के महान्

लेखक रूसो की वाणी की प्रतिध्वनि पाते हैं, जिसने औद्योगिक दुष्प्रभावों से विकृत मानव की स्थिति को देखकर प्रकृति की ओर लौट चलने की अत्यत सशक्त व मनुहार-भरी आवाज लगायी थी—यद्यपि वाल्टेयर ने रूसो की इस प्रवृत्ति का उपहास किया था।[74]

किंतु दूसरी ओर प्रसाद प्रकृतिवादी नही भी है, क्योकि आज के दार्शनिको की दृष्टि मे 'प्रकृतिवाद' से एक भिन्न ही अर्थ लिया जाता है। दार्शनिको की दृष्टि मे "प्रकृतिवादी शरीर के अतिरिक्त किसी सजीव सत्ता अथवा चेतन आत्मा, इद्रियो द्वारा अनुभूत जगत् के अतिरिक्त किसी परलोक, इस जीवन के अतिरिक्त किसी पुनर्जीवन, ऐहिक सुख से विलक्षण किसी आध्यात्मिक सुख तथा प्रकृति के अतिरिक्त किसी दूसरे मूल तत्त्व अथवा नियामक शक्ति ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता मे विश्वास नही करता।"[75] स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद के इस स्वरूप के साथ प्रसाद को प्रकृतिवादी मानना हास्यास्पद है, प्रसाद आत्मवादी, अध्यात्मवादी, चेतनवादी आस्तिक है।

प्रसाद-साहित्य में प्रकृति विश्लेषण

आलबन कविता मे प्रकृति-चित्रण—एक सैद्धातिक दृष्टि

भाव-व्यजना तो कवि का प्रमुख क्षेत्र है ही, इसलिए प्रकृति-विषयक भाव-व्यजना (उसका परिमाण प्रसाद-साहित्य मे चाहे जितना हो) के सिद्धात-पक्ष की चर्चा यहा अभीष्ट नही। पर चित्रण की प्रणाली पर सैद्धातिक चर्चा कुछ आवश्यक है। यद्यपि प्रसाद-साहित्य मे प्रकृति के यथातथ्य कुछेक चित्र प्राप्त हो जाते है, पर इस प्रकार के चित्रो की सख्या व अकन-शैली मे से झाकते हुए व इस प्रकार के कविकर्म के प्रति उनके उत्साह व सामान्य आकर्षण को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रसाद प्रकृति के चित्रण के विशेष पक्षपाती नही। यह बात वस्तुत काव्य की एक महत्त्वपूर्ण मौलिक समस्या और सिद्धात से गहरा सबध रखती है। अत यहा उसका कुछ विस्तार अपेक्षित है।[76]

प्रकृति और मानव एक ही चेतना-बीज के दो अकुर है। अत दोनो परस्पर घनिष्ठ रूप से सबद्ध हैं। जिस प्रकार विविध ज्ञान-क्षेत्रो मे मानव को ही केद्र मे रखकर उसके विविध पक्षो का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार काव्य मे भी मानव का ही अध्ययन होता है—उसकी रागात्मक सत्ता का। काव्य मे मानव-भावो का जीवन के व्यापक धरातल पर क्रियाकलाप निरूपति होता है। उस क्रियाकलाप मे मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का भी न्यूनाधिक योगदान होता है, क्योकि जीवन के लिए उपयोगी स्थूल सामग्रियो से लेकर सौदर्य-तृष्णा की सूक्ष्मतम तृप्ति के लिए आवश्यक अपकरणो का सनातन स्रोत प्रकृति ही है। ऐसी महत्त्वशालिनी प्रकृति की उपेक्षा करके चलनेवाला काव्य जीवन-रस की लालिमा, स्पदन व चहक से शून्य होकर पद्य, सूक्ति, सुभाषित, नीतिकथन मात्र ही कहलाकर रह जायेगा।

काव्य में प्रकृति के विविध उपयोगों में से एक है—आलबन रूप में प्रकृति का ग्रहण। आलबन-रूप में प्रकृति का ग्रहण दो रूप पकडता है—(1) चित्रण और (2) भाव-व्यजना। विचार-विमर्श का केंद्र-बिदु यह है कि क्या काव्य मे प्रकृति का चित्रण ('फोटोग्राफिक',

यथातथ्य अथवा अलकृत, कैसा भी) होना चाहिए। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य और आलोचना की महत्त्वपूर्ण उपलब्ध सामग्री के आधार पर विचार करने पर इस सबध में तीन स्पष्ट मतवाद सामने आते है—

(1) कवियो और आलोचको का एक वर्ग कविता मे प्राकृतिक दृश्य-चित्रण का पूर्ण पक्षपाती जान पडता है। प्राचीन सस्कृत साहित्य मे वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति तथा कतिपय उत्तरकालीन कवियो के काव्य मे प्राप्त प्राकृतिक दृश्य-चित्रो के आधार पर यह निर्भ्रात निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उक्त कवि रस-निष्पत्ति की दृष्टि से ऐसे चित्रो को अपने काव्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। यद्यपि इन कवियो ने अलकार-शास्त्रियो की तरह प्रतिपाद्य का निर्देश करते हुए कही भी प्रकृति-चित्रण-विषयक सैद्धातिक विवेचन नही किया है, तथापि उनके काव्य मे प्राकृतिक दृश्य-चित्रण की प्रणाली एव उससे व्यक्त होनेवाले उनके रति-भाव की गहराई को हृदयगम कर उनके तत्सबधी मत का आकलन अवश्य किया जा सकता है। आचार्यो ने अपने लक्षण ग्रथो में महाकाव्य की आवश्यकताओं के अतर्गत प्रकृति-वर्णन को सैद्धातिक रूप से आवश्यक ठहराया है।[77] हिदी के आचार्य कवि केशवदासजी ने भी अपने 'कविप्रिया' आदि ग्रथों मे तत्सबधी व्यवस्था की है। अन्य कवियो में 'हरिऔध' (प्रियप्रवास), प रामनरेश त्रिपाठी (पथिक), प रामचद्र शुक्ल (बुद्धचरित), गुरुभक्तसिह (वन श्री, नूरजहा), सुमित्रानदन पत (पल्लव), जयशकर प्रसाद (प्रेम-पथिक, कामायनी) आदि कवियों ने भी अपनी रुचि-प्रकृति के अनुसार चित्रकारोचित न्यूनाधिक दृश्य-चित्र अकित किये हैं। प रामचद्र शुक्ल ने 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' नामक अपने प्रसिद्ध निबध में बहुत उत्साहपूर्वक अपना एतद्विषयक सिद्धात प्रतिपादित किया है। इस सबध में उनका मत उनकी निष्ठापूर्ण मान्यताओं एव दृढ स्थापनाओं[78] के द्वारा सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

अग्रेज कवियों में भी कविता मे प्राकृतिक दृश्य-चित्रण की परपरा रही है। थामसन, वड्‌र्सवर्थ, टैनीसन आदि कवियों के नाम इस सबध म विशेष उत्साह से लिये जाते हैं। वड्‌र्सवर्थ ने तो अपने सुप्रसिद्ध कविता-सग्रह 'Lyrical Ballads' की भूमिका में दृश्य-चित्रण की क्षमता को काव्य-सृजन की आवश्यक शक्तियों में परिगणित किया है।[79] प्रो हडसन ने इस प्रकार की कविता के स्वरूप व रचना-पद्धति का निर्देश करते हुए[80] इस ढब की कविता को प्रकृति-विषयक कविता के वर्ग मे उसके एक विभाग या प्रकार के रूप में स्वीकृत किया है।[81]

इस प्रकार काव्य-चिता के क्षेत्र में एक शक्तिशाली वर्ग है जो काव्य में प्रकृति-चित्रण का पक्षपाती है।

(2) अब चितको के एक दूसरे वर्ग को लीजिए। इस वर्ग के विचारक, सामूहिक रूप से देखने पर, काव्य में दृश्य-चित्रण के सिद्धात से पूर्णत असहमत या उसके स्पष्ट विरोधी जान पडते हैं। पूर्व और पश्चिम दोनों के ही मनीषियों ने इस सबंध में अपनी स्पष्ट धारणाएं व्यक्त की हैं।

सी डे लेविस (C Dey Lewis) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'A Hope for Poetry' के पश्चात् लेख 'Postscript' में कतिपय आधुनिक यूरोपीय समीक्षकों में चलते हुए, काव्य की प्रकृति भूमि या सीमाओं के स्पष्ट निर्धारण से संबंधित एक विचार-सूत्र की सूचना दी है, जिसके अनुसार कविता को मानव-ज्ञान के सभी क्षेत्रों में घुसने का प्रयत्न नही करना चाहिए;

कविता को कविता ही बने रहना चाहिए, इतिहास, धर्म, दर्शन सबको वह अपने मे न समेटे।[82] प्राचीन काल के कवि काव्य को इतिहास, धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, आचारशास्त्र आदि सभी क्षेत्रों मे अमर्यादित व अनधिकृत पद-सचार करने देते थे। सक्षेप मे, अब जबकि सब विषयो की स्पष्ट सीमाए निर्धारित की जा रही है या की जा चुकी हैं, कविता को भी कविता ही रहना चाहिए, उसे अन्य क्षेत्रो में अबाध प्रवेश नही करना चाहिए।

सुप्रसिद्ध जर्मन कला-समीक्षक लैसिग (Lessing) ने तो सब विषयो या क्षेत्रो की बात ही क्या, कविता और चित्रकला जैसी घनिष्ठतम कलाओं के क्षेत्रों की सीमाओं का भी स्पष्ट निर्धारण कर दिया है। स्काट जेम्स और बेसिल वर्सफोल्ड ने क्रमश अपने 'The making of Literature' और 'The Principles of Criticism' नामक ग्रथो मे इस विषय का विस्तृत विश्लेषण किया है। वर्सफोल्ड ने इस प्रसग पर लैसिंग के मतव्य का समाहार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि शारीरिक सौंदर्य या प्रकृति के वर्णन काव्य-कला की सीमाओ के बाहर की चीज हैं।[83] जहा आचार्य शुक्ल कहते है—"और इधर के कवियों ने जहा परपरा-पालन के लिए ऐसे चित्र खीचे भी हैं, वहा वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नही हुए है—चित्रकला के प्रयोगो द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है—वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन को लीजिए, और जो-जो वस्तुए आती जाए, उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे "[84] वहा लैसिंग की धारणा है कि काव्य-चित्र अनिवार्यत रग-रेखावाले (material) चित्र में रूपातरित किया जा सके, यह आवश्यक नही।[85] वे कहते है कि वर्णन का प्रभाव चित्रकला के द्वारा जैसा अच्छा जान पडता है वैसा काव्य के द्वारा नही।[86] वर्सफोल्ड लैसिग के विचार समर्थन के स्वर में कहते हैं कि काव्य-चित्र अनिवार्यत रग-रेखावाला चित्र नही।[87] वनस्थली या किसी वस्तु के चित्रण के साधन के रूप में प्रस्तुत कविता चित्रकला की अपेक्षा निम्न कोटि की कला है।[88] वर्सफोल्ड ने इस चर्चा में मैरिडिथ की उस धारणा को भी प्रस्तुत किया है, जिससे उक्त दृष्टिकोण का पोषण होता है। मैरिडिथ कहते हैं कि लेखनी की कला अतर्दृष्टि जाग्रत करती है, न कि तूलिका के साथ जूझती है। वे यह भी कहते हैं कि शेक्सपीयर और दाते जैसे अमर कवि कल्पना के उन्मेष में एक शब्द, मुहावरे, या एक-दो पक्तियों में ही अमर चित्र अकित कर गये हैं।[89]

स्काट जेम्स जैसे विचारक ने भी लैसिंग का समर्थन करते हुए चित्रकला और काव्यकला के क्षेत्रों के स्पष्ट पार्थक्य को स्वीकृति दी है। उनका कहना है कि दोनों कलाए एक दूसरे की वस्तु या सामग्री का अवश्य परस्पर आदान-प्रदान कर सकती हैं, परतु वे माध्यम नही अपना सकती।[90] कवि होरेस तो उपहास के स्वर में यह कहने लगता है कि कवि महोदय (अनुभूति का स्टाक खुटने पर) जब कुछ भी कर सकने योग्य नही रह जाते तो वे फौरन किसी कुज, यज्ञ, वेदी या सुखद हरियाली में से होकर बहते नाले, भागते हुए निर्झर या इद्रधनुष का चित्रण शुरू कर देते हैं।[91] और पोप साहब (Alexander Pope) की तो उनको, जो सत्कवि की संज्ञा से विभूषित रहना चाहते हैं, नेक सलाह यही है कि उन्हें जितनी जल्दी हो सके, वर्णन का परित्याग कर देना चाहिए।[92]

अब इस संबंध में हम दो प्रसिद्ध भारतीय चिंतकों की प्रतिनिधि धारणा प्रस्तुत करते हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपनी समीक्षात्मक मेधा का उज्ज्वल परिचय देते हुए इस विषय की गहरी मीमासा करके स्पष्ट ही कह दिया है कि सच्ची काव्यकला परिणाम और सख्या आदि के

ब्योरो को भेदकर उनके अतस्तल मे मार्मिक प्रवेश करती है, ब्योरों के परे जाकर, उन्हे भेदकर, वस्तुओ की अत सत्ता मे, जहा जीवन का अद्वैत है, गहरी उतरती है।[93] इन बाहरी ब्योरो के भीतर जो अदृश्य तथा गहन है, वही वरेण्य है। रवीन्द्र उसे ही अपनी कला द्वारा प्राप्त करना चाहते है। प्रत्येक ब्योरे का विवरण देनेवाले को तो वे कलाकार ही नही मानते।"[94]

डॉ सपूर्णानद भी अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'चिद्विलास' मे व्यक्त धारणा के अनुसार कवि-बुद्धि को वस्तु-व्यापारो के बाहर के ब्योरो मे न उलझने देकर उनकी केद्रीय भाव-सत्ता मे ही गहरे उतरने देने के पक्षपाती हैं।[95]

(3) तीसरे वर्ग की धारणा पर विचार, कुछ अपनी बात कर लेने पर, आगे किया जायेगा।

आचार्य शुक्ल ने दृश्य-चित्रण की सैद्धातिक चर्चा मे जो अपना प्रस्थान-बिदु बनाया है वह तो हमें पूर्ण सतोषप्रद लगता है, किंतु उसके आधार पर जिस काव्य-व्यवहार पर वे बल देते है अथवा जो विचार-पद्धति उन्होने अपनायी है वह पूर्णतया समर्थनीय नही। काव्य की दृष्टि से उन्होंने दो बाते बहुत उत्तम कही हैं—(1) यदि कवि ने कोरे मानव-प्रसग में ही, अपने सुख-दु ख के रग मे रगकर ही, प्रकृति को देखा तो क्या देखा, यह तो स्वार्थ बुद्धि है, मानवात्मा के प्रसार का इसमे कोई आश्वासन नही। इससे "तो उसका (मानव का) आनद पशुओं के आनद से विशाल किसी प्रकार नही कहा जा सकता।" और (2) रीतिकालीन आचार्यों ने प्रकृति को केवल शृगार रस के उद्दीपन के रूप मे ही ग्रहण किये जो उनकी अत्यत स्थूल दृष्टि का परिचायक है। आचार्यप्रवर की यह सास्कृतिक दृष्टि नितात अभिनंदनीय है। वास्तव मे मनोविज्ञान की दृष्टि से तो यह सर्वथा स्वाभाविक है कि मानव (या कवि) सारी सृष्टि को, वह चाहे या न चाहे, अपने मन के ही रग में रगी हुई देखता है। पर, यथार्थ के अनुरोध पर मानव और प्रकृति का यदि एकमेव यही प्राकृतिक या मनोवैज्ञानिक सबध काव्य मे भी स्वीकार किया गया तो मानव-हृदय की उस उदात्त वृत्ति को ढूढने हम कहा जायेंगे, जिसकी प्रेरणा से काव्य का आनद-प्रवाह जड़-चेतन के स्थूल भेदो को अपने में लीन करके उफन पडता है। नि सदेह आचार्यप्रवर ने तर्क और भावना के सामूहिक बल से इस संबध में जो कुछ कहा है, उससे असहमत होना कठिन ही होगा। यहा तक आचार्य का दृष्टिकोण पूर्णतया समर्थनीय है। किंतु जब वे इससे आगे बढकर अपनी इस मान्यता की काव्यगत परिणति के लिए जिस प्रणाली-विशेष का ग्रहण या पोषण करते हैं तो उसका समर्थन बहुत दूर तक करते नही बनता। इसके तीन प्रमुख कारण हैं—(1) कवि, कवि है, वह केवल चित्रकार या फोटोग्राफर-मात्र नही है। कवि प्रकृति का चित्रण करे, किंतु वह गतिशील प्रकृति का ही चित्रण करे न कि स्थिर प्रकृति का। चित्रण के नाम पर गतिशील प्रकृति का चित्रण ही काव्य की प्रकृति-सीमा के अतर्गत लिया जा सकता है। (2) यदि कवि स्थिर रूपों के चित्रण में ही कला की इतिश्री समझ ले—अर्तात् जो जैसा है उसका वैसा ही तटस्थ चित्रण करके छुट्टी ले ले तो इस व्यापार में कवि की मौलिकता, प्रतिभा, कल्पना का उत्कर्ष, जीवन-दर्शन व उसकी विशिष्ट जीवन-दृष्टि का परिचय हमें कहा से मिलेगा? (3) श्रेष्ठतम काव्य ध्वनि-काव्य ही कहा गया है न कि चित्रकाव्य या अलकार-काव्य। अत विचार करने पर आचार्य शुक्ल का दृश्य-चित्रण सिद्धात सभवत आशिक रूप में ही स्वीकार्य हो सकेगा, पूर्ण रूप में नही।

इसी प्रकार दूसरे खेवे के विचारकों से भी शत-प्रतिशत सहमत होना असभव है।

काव्यकला मे केवल यथार्थ या फोटोग्राफिक चित्रण (जो ऊपर चित्रकला का क्षेत्र बताया गया है) न किया जाये, यहा तक तो बात समर्थनीय-सी लगती है पर अधिक उमग मे आकर यह कहना कि मानव और प्रकृति दोनों का ही वर्णन काव्य-क्षेत्र के बाहर की चीज है, बडी ज्यादती हे। पोप साहब की यह सलाह कि कवि को जल्दी-से-जल्दी वर्णन से पिड छुडा लेना चाहिए—वास्तव मे चितन की आत्यतिक एकागिकता जान पडती है। ऐसा जान पडता है कि इस गडबडझाले का प्रत्यक्ष या परोक्ष कारण उत्तरोत्तर विकास-प्राप्त विज्ञान-युग की यह धारणा है कि अब महाकाव्य के दिन नही रहे। महाकाव्यो मे वर्णनों या चित्रणों की गुजाइश थी और भागदौड (Sick hurry and divided aims of modern life—Mathew Arnold) और आपाधापी के युग मे वर्णनो की गुजाइश नही—पर इसका अर्थ यह तो नही माना जा सकता कि काव्य मे 'रति'मूलक प्रकृति-चित्रण सिद्धात। सभी रूपो मे, सदा के लिए अस्वीकार या बहिष्कृत कर दिये जाने चाहिए। यो, केवल गीति-काव्य की दृष्टि से, हमे यह मानने मे कोई एतराज भी नही कि उसमे कोरे चित्रण की गुजाइश नही। पर कार्य-मात्र से उसे बहिष्कृत करना मानव और प्रकृति के गूढ-घनिष्ठ सबध और काव्य-पद्धति के प्रति अनभिज्ञता ही सूचित करता है। यही नही कि भारत व यूरोप मे काव्यों मे शताब्दियो से प्रकृति-चित्रणो की परिपाटी बराबर रही है। वस्तुत उपमान रूप मे, बिब और कल्पना के प्रेमियों द्वारा प्रकृति के ध्वन्यात्मक, लघु या खडचित्र बराबर आते रहेंगे, और यह बात काव्य मे प्रकृति के चित्रण की, प्रकारातर से, एक छोटे पैमाने पर, स्वीकृति ही है। चित्रण का काम चित्रण ही करेगा और व्यजना का काम व्यजना ही करेगी।

वास्तविक बात तो यह है कि हम कितने ही धधेदार हो जाये, प्रकृति से बच ही नही सकते। और यदि हमें सही-सलामत रहकर जीने में रुचि है तो उससे कतराने की (जीवन मे ही नही, साहित्य में भी) कुचेष्टा नही करनी होगी। यदि यह दृष्टिकोण स्वीकार्य है तो प्रकृति-निरूपण की विविध-प्रणालियो मे कहीं-न-कही प्रकृति के लिए स्थान छोडना होगा। आलबन रूप में प्रकृति का ग्रहण काव्य मे दो रूप पकडता है—चित्रण या भाव-व्यजना। कोरा चित्रण काव्य की प्रकृति पद्धति स्वीकार नही करती, अत॰ प्रकृति-प्रेरित भाव-व्यजना ही अभीष्ट की सिद्धि कर सकेगी। यद्यपि प्रकृति के चित्रण से भी कवि का प्रकृति के प्रति गभीर प्रेम सूचित होता रहता है, किंतु चित्रण की प्रक्रिया ही स्वत॰ कुछ ऐसी ठडी और निर्जीव होती है कि वह उत्तप्त भावों का तेजोमय आवेग व कल्पना की स्वच्छद गति, जो वास्तविक काव्य के अनमोल उपकरण हैं, नही सभाल सकती। अतः चित्रण के माध्यम से नही, किंतु भाव-व्यजना के माध्यम से ही प्रकृति के प्रति मानव-निरपेक्ष 'रति' या प्रेम, मानव-जाति के मन में कवियों द्वारा रक्षित, पोषित और विकसित होना चाहिए। इस उच्च कोटि के प्रेम की रक्षा कविता का विशेष उत्तरदायित्व है। यदि प्रकृतिमूलक शुद्ध 'रति' भाववाला अश किसी कु-चाल या कु-प्रभाव से, मानव हृदय से काटकर फेंक दिया गया तो मानव-जीवन सूखकर कभी कांटा भी हो सकता है। चित्रण की ही क्या बात, प्रकृति के प्रति अलकृत भाव-व्यजना भी आज उपहासास्पद या अस्वाभाविक समझी जा रही है, क्योंकि बिब-निर्माण तक ही अब कवि-मर्म सिमट गया है।

यहीं अब उस तीसरे वर्ग की चर्चा उठनी आवश्यक है, जिसका विवेचन आरभ में हमने आगे के लिए छोड दिया था। ऊपर जो कुछ हमने कहा है, उसमें साहित्य के

समशीतोष्ण चितको के विचारो की ही प्रतिच्छाया है। पीछे कहा ही जा चुका है कि हडसन ने प्रकृति-वर्णन या चित्रणवाले काव्य को, उमके स्वतत्र व्यक्तित्व के साथ, प्रकृति काव्य के अतर्गत सहर्ष स्वीकार किया है। एबरक्राबे ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि यदि हमे अपने अनुभव को साहित्य की वस्तु बनाना है तो जो कुछ हमने देखा है और जो कुछ हमने अनुभव किया है—काव्य मे इन दोनो का ही मिला-जुला रूप प्रस्तुत होना चाहिए।[76]

चितन के इस धरातल पर चित्रकार की पद्धति को छोडकर कवि की पद्धति अपनाते हुए प्रकृति का ग्रहण लैसिग भी स्वीकार करने को तैयार है।[96]

वड्र्सवर्थ भी एक बार अपने काव्य-विकास के पथ पर एक विशेष मन स्थिति के आवर्त मे आ गये थे। आरभ मे उनका सिद्धात था कि निष्क्रिय (Passive) मस्तिष्क को निर्लिप्त रहकर, शुद्ध द्रष्टा-रूप मे, प्रकृति के गभीर प्रभाव अपने मे अविक्षेप रूप से प्रतिबिबित होने देते रहना चाहिए। पर शनै-शनै आत्मवादी जर्मन दर्शन के अनुरागी अपने प्रगाढ मित्र कालरिज के दार्शनिक आलोकवृत्त मे आकर वड्र्सवर्थ अपने इस सिद्धात मे परिवर्तन के लिए बाध्य हुए। परिवर्तन यह हुआ कि मस्तिष्क को निर्लिप्त या निष्क्रिय नही, कितु सजग या जागरूक रखकर ही प्रकृति की चेतना ग्रहण और प्रकाशित करनी चाहिए। प्रस्तुत प्रसग मे वड्र्सवर्थ के इस अतर्जीवन मे घटित प्रयोग के उल्लेख की सगति केवल यही बताने के लिए है कि प्रकृति-निरूपण मे कवि का मस्तिष्क सर्वथा निष्क्रिय या तटस्थ होकर (जैसा कि शुद्ध प्रकृति-चित्रण मे अवश्यभावी है) नही रह सकता। और उसके सक्रिय या सजग हुए बिना न रह सकने का इसके अतिरिक्त और क्या अर्थ हो सकता है कि कवि का कार्य केवल फोटोग्राफी नही है, अपितु काव्य की ध्वनि-पद्धति अपनाते हुए सजग मस्तिष्क से प्रकृति से प्रेरित भावो की व्यजना, जीवन की व्याख्या अथवा प्रकृति की सहायता से जीवन के गहन तत्त्वो का प्रकाश है।

प्रसाद प्रकृति का दृश्य-चित्रण अवश्य कही-कही करते दिखायी पडते है, पर प्रकृति के काव्यगत प्रयोग की उनकी मुख्य भूमि वही है, जिसका हमने ऊपर निरूपण किया है।

वस्तु-प्रसार प्रसाद के प्रकृति-सबधी दृष्टिकोण में ऊपर यह बताया जा चुका है कि उनके लिए प्रकृति जड सत्ता या प्रेय वस्तु मात्र ही न होकर विश्वात्मा का प्रतिबिब, शिव का शरीर या चैतन्यपूर्ण आत्मा का प्रकाशन है। वह मूल आनद की एक उच्छल शक्ति-तरग है। अत विराग की वस्तु न होकर अनुराग की वस्तु है। प्रकृति के प्रति इस दार्शनिक दृष्टि को साहित्यिक पदावली मे हम यों कहेंगे कि प्रकृति कवि के राग (रति) का एक विषय है जो मानव-निरपेक्ष अपनी एक स्वतत्र सत्ता भी रखती है। प्रकृति के प्रति यह अनुराग जहा कवि की उच्च सस्कारिता को व्यक्त करता है, वहा यह तत्त्व उसके काव्य या साहित्य को स्फूर्ति और प्राणपोषकता भी प्रदान करता है।

प्रकृति के प्रति प्रेम जिस प्रकार आत्मदृष्टि या शिव-दृष्टि का परिणाम है, उसी प्रकार स्वय इस प्रकृति-प्रेम का परिणाम साहित्यकार के सृजन में भी सर्वत्र देखा जा सकता है। यह प्रेम साहित्य में कवि के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण, प्रकृति-निरूपण और भाव-व्यजना—तीन विशिष्ट रूपों में अभिव्यक्त होता है। इन तीनों के सबध में चर्चा करने से पूर्व कुछ बातें कहना आवश्यक है। यह प्रकृति-प्रेम नि स्वार्थ होता है और इसके भावन, अनुशीलन या इसकी प्रगाढ अनुभूति के परिणामस्वरूप साहित्यकार मानव और प्रकृति के गूढ सबधों और उनके रहस्यों के उद्घाटन में भी उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होने लगता है। फलत कभी-कभी तो वह प्रवर्त्तमान मानव-जीवन का

आलोचक बनकर शाश्वत मानव की कल्पना आखो मे सजोए हुए एक ऐसे सहानुभूति-स्निग्ध स्वर मे बोलने लगता है जिससे कवि द्वारा मानव-जीवन के मूल स्वरूप के अत साक्षात्कार का पूरा-पूरा आश्वासन बधता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सत्य है कि मुख्यत मानवीय व्यवहारो की अनुकूल या प्रतिकूल स्थितियों के कारण ही हमारी दृष्टि प्रकृति की ओर मुडती है। इससे मानव और मानव-जीवन ही की प्रमुखता जान पडेगी और प्रकृति की गौणता। दूसरे शब्दों में, निश्चय ही यह एक प्रकार की स्वार्थबद्धता या सकीर्णता मात्र कही जायेगी। मनोविज्ञान का हवाला देकर बात करनेवाले तो प्रकृति को इसी रूप मे ग्रहण करना सहज-स्वाभाविक बतायेगे। पर, जिन्होने प्रकृति को आत्मा के प्रकाशन और अद्वय आनद की उल्लास-तरग के रूप मे ही देखने का अभ्यास किया है, कदाचित् उनकी दृष्टि ऊची समझी जाये, क्योकि मनस्तत्त्व (व्यक्तिगत सुख-दुख के अनुरूप ही प्रकृति का उल्लसित या विषादयुक्त देखना मात्र) से आत्मतत्त्व (सुख और दुख सभी मे आनद का दर्शन—शिवदृष्टि) ऊची वस्तु है।

अवश्य ही प्रसाद ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में भी स्वीकार कर यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता का सहज स्वीकार (जो 'उद्दीपन' मे निहित है) किया है, किंतु प्रसाद के साहित्य मे आलबन का रूप भी अत्यत महत्त्वपूर्ण है। इस रूप का प्रसाद ने कितनी पूर्णता के साथ निर्वाह किया है, यह अब हम देखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रकृति के प्रति प्रसाद के प्रेम की गहराई का अनुमान लगाने के लिए उसका निम्न शीर्षको के अतर्गत विचार समीचीन होगा (1) प्रकृति का वस्तु-प्रसार उसके पदार्थो का वैविध्य-वैचित्र्य, (2) वर्ण-वैचित्र्य, (3) गध, (4) ध्वनि, (5) गतिविधि, (6) चित्रण-वर्णन, तथा (7) प्रकृति प्रेम व भाव-व्यजना।

प्रकृति के प्रति कवि के सच्चे अनुराग का एक प्रमुख लक्षण यह है कि उसकी सत्ता के प्रसार को आख खोलकर कितना देखा गया है। इसी से हम कवि के आत्म-प्रसार का परिचय भी पा सकते है। स्पष्टता के लिए, चराचरव्यापी प्रकृति को हम आकाश, पृथ्वी और जल—इन तीनों भागो में बाट सकते हें। इन तीनो क्षेत्रो मे जितना भी रूपो का वैविध्य-वैचित्र्य देखने मे आता है, वह सभी प्रसाद के दृष्टिपथ मे आया है।

ऋतुए प्रसाद ने ग्रीष्म,[98] वर्षा,[99] शरद,[100] शिशिर,[101] हेमत,[102] वसत[103]—इन सब ऋतुओं का वर्णन, साकेतिक (विशेषत कहानियों में) व विस्तृत—दोनों रूपों मे किया है। और भी आगे जाकर लेखक ने दिन-रात्रि के विशेष प्रहरों—प्रभात,[104] दोहपर,[105] सध्या,[106] निशीथ[107] आदि का भी निकटदर्शितासूचक वर्णन किया है। गोधूलि की धूप,[108] पहाडी आकाश की सध्या,[109] सर्दी की रात,[110] वसत की संध्या,[111] पतझड,[112] बीतता शिशिर,[113] शीत की अर्द्धरात्रि,[114] वसत का पवन,[115] वसत की मादक चादनी,[116] पतझड,[117] फाल्गुन के शुक्लपक्ष की चादनी[118] आदि के वर्णनो द्वार कवि ने अपनी प्रकृति-विषयक-दृष्टि के विस्तार को सूचित किया है। वसत और उसकी विविध विशिष्ट विभूतियों (चादनी, मलय पवन, पुष्प-विकास आदि) के प्रति तो प्रसाद ने सर्वत्र गहरा आकर्षण व्यक्त किया है। ऋतु-सुलभ मूल भाव-तरग, ऋतु का मानसिक प्रभाव, उसकी स्वाभाविक सपदा (लता-वृक्ष, मेघ, कुहरा आदि), तज्जन्य सास्कृतिक उल्लास व पर्व-आयोजना[119]—सबका निरूपण द्रष्टव्य है।

वृक्ष-लतादि : विविध वृक्षों व लताओं का भी न्यूनाधिक वर्णन या उल्लेख हुआ है—सिरस, महुआ, जामुन, नीम,[120] इमली,[121] मुचकुद,[122] बकुल,[123] अखरोट,[124]

शाल्मली,[125] तमाल,[126] चीड,[127] धव, अशोक, देवदारु,[128] तून,[129] साल,[130] अश्वत्थ,[131] नारगी,[132] कदब,[133] मौलसिरी,[134] घुमची, सतावर, करज,[135] मालती,[136] चमेली,[137] सेवती,[138] माधवी,[139] वेतस,[140] द्राक्षा[141] आदि की लताए व करील की झाडी[142] भी विस्मृत नही हुई है।

पुष्प फूलो मे जवाकुसुम,[143] कमल,[144] मालती मुकुल,[145] कदब,[146] कुमुद,[147] रजनीगधा,[148] कुरबक,[149] पारिजात,[150] जाती, कुद, मदार, चपक, नवमल्लिका, कर्णिकार,[151] किशुक,[152] सिरस सुमन[153] उल्लिखित हुए हैं।

पक्षी पक्षियो मे सुर्खाब, कोयल,[154] मयूरी,[155] बुलबुल,[156] राजहस,[157] खजन[158] व चातक[159] विशेष उल्लेख्य हैं।

समुद्र प्रसाद ने अनेक स्थानों पर समुद्र का भी रसात्मक व सश्लिष्ट वर्णन किया है।[160] समुद्र के शात[162] और उग्र[163] दोनो ही रूपों का सजीव वर्णन हुआ है। समुद्र के वर्णन में जल-प्रसार, लहरो की गतिविधि, सध्या-उषा के नेत्र रजक वर्णों के प्रसार व सूर्य-चद्र की किरणों की क्रीडा पर भी लेखक की मार्मिक दृष्टि गयी है।

आकाश प्रसाद ने यथास्थान आकाश के सौंदर्य का भी वर्णन किया है। 'तारक खचित नीला अबर' प्रसाद को बहुत प्रिय है।[163] कामायनी,[164] लहर,[165] व 'ग्रामगीत' कहानी में यह विशेषत द्रष्टव्य है।

पहाड पहाड और तत्सबधी विभिन्न दृश्यों के सौंदर्य का भी चित्रण कवि ने अनेक स्थानों पर किया है।[166] 'बिसाती' कहानी में पहाडी आकाश की सध्या, ककाल[167] मे पहाडी प्रदेश की बरसाती चादनी तथा 'कामायनी' में हिमालय के प्रभात, सध्या, चादनी आदि का मनोरम वर्णन हुआ है।

मरुस्थल कही-कही मरुस्थल का वर्णन भी मिलता है। प्रचड गरमी के कारण मरुभूमि की रेत की धू-धू की लहरों[168] और वहा की चादनी के सौंदर्य पर भी कवि की दृष्टि गयी है।[169]

विविध इसके अतिरिक्त लता-वृक्षो की ठडी छाया,[170] अमराइया,[171] साल के जगल,[172] नारियल के कुज,[173] सुपारी के घने कुज,[174] दाख के कुज, [175] चमेली के कुज,[176] कदब-कानन,[177] उजली धूप,[178] रसीली चादनी,[179] छायापथ,[180] कमलगट्टे,[181] जौ की बालें,[182] बनबेर[183] जैसी वस्तुओ के प्रति भी अनुराग व्यक्त हुआ है।

वर्ण-वैचित्र्य रूपो और आकारों के साथ ही वर्णों का वैचित्र्य भी सर्वत्र देखने में आता है। प्रमुख सात रगो का देखना ही पूर्ण वर्ण-दृष्टि का परिचायक नही। इन सात रगों के गुणात्मक मिश्रण से न जाने कितने हल्के-गाढे रग तैयार होते हैं, जिन्हें चारों ओर क्षण-क्षण बनते-बिगडते देखना सजग द्रष्टाओं का ही कार्य है। इसके साथ ही वर्ण-विरोध व वर्ण-मेल की भी एक दृष्टि होती है जो प्रसाद के पास है। उन्होंने इस दिशा में गहरी सजगता दिखायी है।

प्रसाद की वर्ण-भावना का परिचय निम्नलिखित उदाहरणों से मिलता है · नील,[184] नीलोज्ज्वल,[185] नील धवल,[186] नील लोहित,[187] आसमानी,[188] धानी,[189] चपई,[190] खसखसी,[191] पीला,[192] धुधला पीला,[193] नारगी,[194] पिंगल,[195] हेमाभ,[196] भूरा,[197] सुनहला,[198] सतरे-सा,[199] काषाय,[200] गुलाबी,[201] फीरोजी,[202] अरुण,[203] लाल,[204] अरुण

नील,[205] कत्थई,[206] गैरिक,[207] धुआसा,[208] अधकार-रजित,[209] धुधला,[210] कृष्ण,[211] सुर्मई,[212] धूसर,[213] मलिनाभ,[214] तरल पारद-सा,[215] हरित,[216] हरा-भरा अधकार,[217] गौरहरा,[218] हरियाली की छाया-सा,[219] नील सित पीत आरक्तिम,[220] सुरधनुरजित,[221] मुक्ता की स्निग्ध छायावली,[222] मरकत की वेदी पर हीरे के पानी जैसा,[223] धवल,[224] रजताभ,[225] उजला[226] आदि ।

प्रसाद ने कहीं-कही भावना, देश, वृत्ति आदि को भी वर्ण प्रदान किया है—यथा, अरुण विलास,[227] अरुण यह मधुमय देश हमारा,[228] उनका उन्माद सुनहला[229] आदि ।

'कामायनी',[230] 'एक घूट',[231] 'कानन-कुसुम',[232] 'तितली',[233] 'ककाल',[234] 'चित्राधार'[235] तथा अनेक कहानियों में (चक्रवर्ती का स्तभ, बनजारा, रूप की छाया) प्रसाद की वर्ण-भावना खूब खिली है । 'सध्या की घनमाला के रगो की छीट' मे सब रग समाविष्ट है ।

गध-वेदना वर्णो के अतिरिक्त घ्राणेंद्रिय के विषय गध के प्रति भी सवेदनशील कवि अथवा साहित्यकार बडे सजग रहते हैं । नेत्र और कान के अतिरिक्त अन्य इद्रियो (घ्राण, जिह्वा व त्वक्) से सबधित विषयो की प्राय उपेक्षा की जाती है, किंतु भावानुभूति के सप्रेषण की सुभरता या पूर्णता की दृष्टि से से यह आवश्यक है कि अनुभव का यथातथ्य बोध सहृदय को कराया जाये । इस दृष्टि से गध की व्यजना भी महत्त्वपूर्ण समझी जा सकती है ।

प्रसाद गध के प्रति पर्याप्त सजग है । भीनी सुगध,[236] भीनी महक,[237] सुगधरा की मधुर गध,[238] सेवार काई की गध,[239] मधु की धारा की जाली बुनती इदीवर की गध,[240] शिरीष सुमन की गंध,[241] नीबू के फूल और आमों की मजरियो की सुगध,[242] वनस्पतियो की सुगध,[243] उर्वरा भूमि से उठती सौधी बास,[244] जीवन के मधुमय विश्वास को प्रेरित करते अचल की सुगध,[245] पागल कर देनेवाली सुगध,[246] अपनी ही काया की मृदु गध,[247] यौवन की सुगध,[248] निःश्वासों की सुगध,[249] सुरभित निःश्वास[250] आदि द्वारा प्रसाद की गध-भावना की गहराई व्यक्त हुई है ।

ध्वनि-सवेदना इसी प्रकार प्रकृति के क्षेत्र में सुनायी पडनेवाली विविध ध्वनिया भी कवि को आकृष्ट करती हैं । चातक, मयूर, मेघ, भृग, झीगुर, वर्षा आदि की नाना प्रकार की ध्वनिया होती हैं, जिनका स्वरूप और प्रभाव एक-दूसरे से पृथक् होता है । इन ध्वनियो के प्रति भी प्रसाद ने अनुराग व्यक्त किया है ।

गति-व्यापार प्रकृति मे प्रतिक्षण चारों ओर स्वाभाविक क्रिया-व्यापार चलते रहते है—मेघों का रलकना, पत्तियों का हिलना, लहरों का थिरकना, सूर्योदय या सूर्यास्त की लालिमा का फैलना, दूर्वा का स्पदन, किरणों की जल-क्रीडा आदि । सजग नेत्र कवि दत्तचित्त होकर इन सूक्ष्म मौन व्यापारों का पर्यवेक्षण करते हैं । प्रसाद ने इसका भी अनेक स्थलों पर अच्छा परिचय दिया है । प्रसाद का एक लघु गतिचित्र यहा असगत न होगा—

"क्षितिज में नील जलधि और व्योम का चुबन हो रहा है । शात प्रदेश में शोभा की लहरिया उठ रही हैं । गोधूली का करुण प्रतिबिंब, बेला की बालुकामयी भूमि पर दिगत की प्रतीक्षा का आवाहन कर रहा है ।

"नारिकेल के निभृत कुजों में समुद्र का समीर अपना नीड खोज रहा था, सूर्य लज्जा या क्रोध से नहीं, अनुराग से लाल, किरणों से शून्य, अनत रसनिधि में डूबना चाहता है । लहरिया हट जाती हैं । अभी डूबने का समय नही है, खेल चल रहा है ।"

प्रकृति के उपर्युक्त अध्ययन के बीच दो बाते विशेष महत्त्व की दिखायी पडेगी। प्रसाद ने प्रकृति के केवल कोमल, मधुर, उज्ज्वल व भव्य पक्षो को ही नही लिया है (यद्यपि उसकी प्रचुरता इतनी है कि आचार्य शुक्ल ने उस प्राचुर्य को 'मधुचर्या' कहकर सकेतिन किया है) अपितु कठोर, परुष, अनगढ, सामान्य, भदेस और रूखे रूपो पर भी स्नेह की दृष्टि डाली है।

भाव-व्यजना कवि का प्रकृति-प्रेम प्रकृति के प्रति भाव-व्यजना के रूप मे अपने को अभिव्यक्त करता है। प्रकृति के प्रति स्वतत्र प्रेम की व्यजना के अनेक गूढ उद्गार भी प्रसाद-साहित्य मे मिलते है जो दो रूपो में हैं—(1) गीति-काव्य अथवा मुक्तक काव्य मे कवि के निज उद्गारो के रूप मे, और (2) कवि-निबद्ध पात्रो के उद्गारों के रूप मे मानव के सुख-दुःख की भावना से सर्वथा असपृक्त प्रकृति के प्रति सहज या उच्छल प्रेम की व्यजना भी कही-कही दिखायी पडती है।[251] पर प्रकृति के प्रति मानव-निरपेक्ष रूप मे उस गूढ हुलास[252] की व्यजना कम ही दिखायी पडती है जो प्रकृति पर बौद्धिक या दार्शनिक दृष्टि डाले बिना ही अपने आदिम नैसर्गिक रूप मे मानव-हृदय या कवि को अनुभूत होता है। हा, प्रसाद के अनेक पात्र अवश्य प्रकृति के प्रति अपने आदिम उल्लास को प्रदर्शित करते है। प्रेमानद परिव्राजक होकर प्रकृति का दर्शन करने की अभिलाषा करता है।[253] विशाख वनस्थली को 'मधुरिमामयी' कहता है। वह कहता है—"हम लोग क्या सदैव इसी तरह प्रकृति की सुदर भ्रूभगी देखते जीवन व्यतीत कर सकेगे।"[254] एक और स्थान पर वह कहता है—"हिमवान की बहुत-सी सुरक्षित गुफाए है, प्रकृति के आश्रय मे वही सुख से रहेगे।"[255] इसी प्रकार कार्नेलिया,[256] जनमेजय,[257] मणिमाला,[258] मधूलिका,[259] मिहिरदेव,[260] यमुना,[261] गाला,[262] देवगुप्त,[263] कामना,[264] विवेक,[265] सतोष,[266] विशाख,[267] नरदेव,[268] मधुवन,[269] साजन[270] आदि पात्र अपने प्रकृति-निरीक्षण व क्रिया-व्यवहार द्वारा अपना गभीर या उच्छल प्रकृति-प्रेम व्यक्त करते है। अनेक स्थलो पर जीवन के व्यावहारिक कष्टों के बीच भी पात्रो का प्रकृति-प्रेम उनकी स्मृतियो मे जीवित रहता है, यह अनुराग ही उनके जीवन का गुप्त सबल बनकर उन्हें थामे रहता है।[271]

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि प्रकृति के प्रति मुक्त उल्लास की गहरी व्यजना ग्राम-खेतो मे होनेवाले सामाजिक पर्वो-उत्सवो के वर्णनो के बीच हुई है।

वर्णन और चित्रण दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रकृति का आलबनगत वर्णन तीन प्रकार का दिखायी पडता है—(1) संश्लिष्ट, विशद व धाराप्रवाह वर्णन, (2) प्रकृति के एक लघु दृश्य या दृश्य-खड का अलकृत वर्णन, तथा (3) अपेक्षाकृत लघु सीमा मे तूलिका-कौशल का प्रदर्शक महीन चित्रण। प्रथम के अतर्गत प्रकृति के गत्यात्मक सौदर्य का वर्णन लिया जा सकता है—यथा, 'कामायनी' के प्रथम सर्ग में प्रलय का वर्णन। द्वितीय (अलकृत) के अतर्गत प्रकृति के वे चटकीले चित्र लिये जा सकते हैं जो अलकृत भाषा के जडाऊ काम की दृष्टि से अभिराम है।[272] तृतीय प्रकार के चित्र वे हैं जो निरलकृत रूप मे शुद्ध या यथार्थमूलक तूलिका-चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

उद्दीपन

आश्रय के मन मे आलंबन के सहारे जगे हुए भावों को उद्दीप्त कर देनेवाली सामग्री को

उद्दीपन कहते है। आचार्यो ने प्रकृति को काव्य मे शृगार रस के उद्दीपन के रूप मे ही स्वीकृति दी है, जो (आलबन रूप मे प्रयुक्त प्रकृति से सबधित विचारणा को अपने स्थान पर ठीक मानते हुए) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त ही है। इसमे कोई सदेह नही कि विरह-मिलन की मनोदशा मे प्रकृति द्वारा भावो का उद्दीपन अत्यत स्वाभाविक होता है। आचार्य शुक्ल की इस धारणा का हार्दिक समर्थन करते हुए भी प्रकृति को शृगार का उद्दीपन मात्र मानना दृष्टि-संकोच मात्र है, यह कहना भी सत्य होगा कि सामान्यत प्रकृति का उद्दीपन के रूप में ग्रहण ही अधिक नैसर्गिक है, क्योकि यह नित्य अनुभव व व्यवहार के धरातल का एक मनोवैज्ञानिक या प्राकृतिक सत्य है। हा, जब वर काव्य मे केवल रूढिबद्ध या यात्रिक रूप मे ही आने लगता है तो अवश्य ही प्रभावशून्य हो जाता है।

प्रसाद ने सुख व दुख दोनों ही मनस्थितियों मे प्रकृति का सहज मानवीय धरातल पर ग्रहण किया है, और अत्यत मार्मिकता के साथ। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

इस हमारे प्रिय के मिलन से, स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा,
कोकिलों का स्वर विपची नाद भी, चद्रिका मलयज पवन, मकरद औ
मधुप माधविकाकुसुम से कुज में, मिल रहे, सब साज मिलकर बज रहे—

—झरना 'मिलन' कविता

ये सब स्फुलिग हैं मेरी इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के।+ +
बुलबुले सिधु के फूटे नक्षत्र-मालिका टूटी,
नभ, मुक्त-कुतला धरणी दिखलायी देती लूटी। —आसू

'आसू' में उद्दीपन के रूप मे प्रकृति का उपयोग आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मत में 'विलक्षण' है। "प्रसादजी ने तादात्म्य की ऐसी मार्मिक अनुभूति भी सामने रखी है जिससे विरही प्रकृति को कष्टप्रद न पाकर अपनी दशा के मेल में पाता है।"[273] आचार्यजी का कथन है कि प्रकृति नायक-नायिका की वियोग-जन्य दुखावस्था में ही उद्दीपन का काम करे, ऐसी बात नही। यदि कवि (या नायक-नायिका) और प्रकृति दोनों एक ही भाव में मग्न हैं तो भी भाव-साम्य व सहानुभूति के तादात्म्य की वह अनुभूति विरह में विषाद के उद्दीपन का काम करेगी। तात्पर्य यह है कि प्रकृति के साथ दुख में भी तादात्म्य की अनुभूति होती है। यही विलक्षणता है।[274] 'साकेत' और 'यशोधरा' में गुप्तजी ने प्रकृति का उद्दीपनगत उपयोग इस रूप में दिखाया है।

"प्रकृति के उद्दीपनगत उपयोग के प्रसग में आचार्य वाजपेयी जी भी प्रसाद की एक अत्यत मार्मिक विशेषता का निर्देश करते हुए लिखते है—"प्रसादजी मनुष्यो के और मानवीय भावनाओं के कवि हैं। शेष प्रकृति यदि उनके लिए चैतन्य है, तो भी मनुष्य-सापेक्ष है। यह विकास-भूमि यदि सकीर्ण है, तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है। 'आसू' में प्रसाद जी ने यह निश्चित रीति से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट् प्रकृति को भी साज सजाकर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता की विजय का शखनाद है। कवि जयशकर प्रसाद का प्रकर्ष यही पर है। यही प्रसादजी, प्रसादजी हैं। 'आँसू' में वे, वे हैं।"

इन विशेषताओं के आलोक में हमें यह दिखायी पडता है कि प्रसाद जी ने 'उद्दीपन' के

क्षेत्र मे भी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया। उद्दीपन का यह स्वरूप उनकी अनुभूति के गाभीर्य तथा प्रकृति की अपेक्षा मानव के महत्त्व की भावना से रूपायित हुआ है।

अलकार-प्रतीक

अलकार के रूप मे प्रकृति का प्रयोग साहित्य-क्षेत्र में इतना व्यापक है कि उस पर किसी प्रकार के विस्तार की आवश्यकता नही।[275] उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, निदर्शना, अन्योक्ति, दृष्टात, उदाहरण आदि रचनाओ मे उपमान रूप मे गृहीत प्रकृति का पुष्कल व्यवहार होता है। प्रसाद की आरभिक रचनाओ मे उपमान रूप मे गृहीत प्रकृति प्राय रूढ रूप मे ही थी, 'चित्राधार' से लेकर 'झरना' तक की रचनाओं में यह देखा जा सकता है। जैसे—"नील गगन पर कुजर को यह सोहै घटा भारी"[276] मे माघ द्वारा प्रयुक्त उपमान की पुनरावृत्ति मात्र है।

अलकार रूप मे प्रकृति मुख्यत दो रूपो मे आती है—(1) वस्तु के उल्लेख मात्र के रूप में और (2) सश्लिष्ट रूप मे, व्यापार या चित्र के रूप में। प्रथम रूप मे रूढ और नवीन दो प्रकार के पदार्थ आ सकते है। इसी प्रकार दूसरे रूप मे प्रकृति के सश्लिष्ट रूप-व्यापार या चित्र रूढ अथवा मौलिक रूप मे आ सकते है। वास्तव में नवीन, निजी या मौलिक निरीक्षण के बल पर उपमान-उपमेय के बीच के सामान्य गुण-धर्म के आधार को स्पष्ट करने वाली उपमान चित्र-मालिका में ही कवि-कल्पना या प्रतिभा वैशिष्ट्य है। कवि ने अपने अनेक उपमानों को उसी चित्र में अन्य उपमानों के लिए आगे उपमेय बनाकर एक ही स्थान पर उपमानों की दुहरी योजना का भी कौशल प्रदर्शित किया है।[277]

श्रेष्ठ काव्य ध्वनि-काव्य होता है, जहा कम से कम शब्दो में गभीर व रजनकारिणी बात कही जाती है। इस लक्ष्य की सिद्धि में प्रतीकों का प्रयोग बहुत सहायक होता है। यद्यपि प्रतीक जीवन व जगत् के अनेक क्षेत्रों से लिए जा सकते हैं, तथापि मार्मिक प्रतीकों का चयन कवि प्रकृति के क्षेत्र से ही करता आया है। प्रतीक शब्द अपने सकेतित पदार्थ के सब गुणों की सश्लिष्ट चेतना का वाहक होता है। गुणो का कथन करना शुष्क विवरणात्मक मात्र होता है, मर्म-स्पर्श या मर्म-वेध, लाघव से ही अधिक साध्य होता है। फिर कवि द्वारा प्रतीक शब्दों का उपयोग जहा एक ओर कवि की कल्पना-शक्ति का चमत्कार व्यक्त करता है, वहा दूसरी ओर वह काव्य की रसाभिव्यक्ति के लिए पाठक या श्रोता का मानसिक सहयोग तथा उसकी कल्पना-शक्ति की परीक्षा लेने वाला भी होता है। इस प्रकार अर्थगर्भत्व और क्रमागत प्रयोग से सचित शक्ति के कारण प्रतीक का महत्त्व साहित्य में अक्षुण्ण है।[278] कमल, दीपक, मीन, मेघ, लहर, आदि प्रतीक शताब्दियों के प्रयोग से विशेष गुणों के लिए रूढ हो चुके हैं, अत कुशल कवि उन्ही प्रतीकों का, युग-जीवन के नवीन परिवेश में उनमें नवीन अर्थवत्ता भरकर नवीन ढग से प्रयोग करते हैं। प्रतीकों का प्रयोग उपमानों के प्रयोग से आकि मार्मिक होता है। उपमान रूप में जो वस्तु आती है वह अपने गुणों के अतिरिक्त और अधिक कुछ व्यक्त नही करती; क्योंकि वह प्रस्तुत (उपमेय) के साम्य (सादृश्य) को साधकर विश्राम ले लेती है। किंतु प्रतीकों में कल्पना और भावुकता की अतिरिक्त आवश्यकता होती है।

प्रसाद ने अनेक प्रतीकों[279] का प्रयोग किया है—यथा, मधुऋतु (यौवन), सूखे तिनके

(निराशापूर्ण जीर्ण विचार), कोकिल (सोंदर्य, प्रेम-भावना), मलयानिल (प्रणय की मधुमयी भावना), प्राची (यौवनोदय का युग), अधकार (दुख व निराशा), शशिकिरणे (प्रणय का प्रकाश विकीर्ण करने वाली भावनाए), राका प्रणय के पूर्ण विकास का युग), लहर (मन की आनद-तरग), झरना (अजस्र भाव-प्रवाह), रजनी (मन के विश्राम का प्रहर), शरद शर्वरी (जीवन की प्रणय वेला), पतझड (प्रणय की मधुर भावनाओ के ह्रास या नाश का युग) आदि।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है कि, "प्रसादजी ने अलकार-रूप मे प्रकृति का उपयोग करने में माधुर्य का विशेष ध्यान रखा है। ऐसी मधुर योजना दूसरा कवि नही कर सका है।"[280] आचार्य वाजपेयीजी ने भी प्रसाद के प्रतीक-विधान का वैशिष्ट्य-निर्देश करते हुए लिखा है कि, "उन्होने अपने पूर्वयुग की कृत्रिम काल्पनिकता के स्थान पर वास्तविक आनदात्मक काव्य-प्रतीको को चुना और उन्हे ऊची रहस्य-भूमि पर ले जाकर आध्यात्मिक काव्यधारा मे मिला दिया।"[281] इस प्रकार, हम देखते है कि प्रकृति के प्रसग मे अलकार व प्रतीक-विधान के क्षेत्र मे भी प्रसाद ने मौलिकता या नवीनता का परिचय दिया है।

उपदेश

धार्मिक या नैतिक उपदेश, काव्य और कला की मूल प्रकृति के मेल मे नही—हा, 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' वाली पद्धति तो स्वीकृत है ही। साहित्यकार मे जीवन की कोई मार्मिक शिक्षा या तथ्य, प्रकृति के माध्यम से या प्रकृति के उपकरणो की सहायता से, सीधे-सीधे न कहकर साकेतिक ढग से (पात्रो के सवाद द्वारा या प्राकृतिक कार्य-व्यापार द्वारा) व्यक्त करने के लोभ का सवरण नही कर पाते। प्रसाद-साहित्य मे अनेक स्थलो पर यह देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—

अपने आसू की अजलि आखो मे भर क्यो पीता,
नक्षत्र पतन के क्षण में उज्ज्वल होकर जीता —आसू

यहा प्रकृति के माध्यम से व कलात्मक प्रणाली से कवि ने भौतिक अवनति के समय मे भी अपनी आतरिक उज्ज्वलता को बनाये रखने की बात कही है। अन्यत्र भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[282]

मानवीकरण-चेतनीकरण

दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में प्रकृति की चेतनता व जडता के प्रश्न को लेकर शाश्वत सघर्ष चलता रहा है, पर भावुक कवि-हृदय तो उसे चेतन ही (चेतना का आरोप कह लीजिए) कहते आये हैं—मुख से ही नही, हृदय से अनुभव करके उसके साथ चेतन सत्ता का-सा ही व्यवहार करते आये हैं। कालिदास के 'मेघदूत' का मेघ सचेतन ही है। फिर, प्रसाद यदि अपनी शैव दृष्टि से समस्त प्रकृति को चेतन ही मानकर चलें तो इसमें क्या आश्चर्य? प्रसाद की प्रकृति सजीव है। वह मानव को उसके दुख में आश्वासन देती है, वह मानव के प्रति सहानुभूतिशीला है,[283] वह दयामयी है तथा अनेक मधुर सुझाव-सकेत देती है।[284] इतना ही नहीं गतिशील मानव जगत् की ही तरह जड (?) प्रकृति में भी अपना एक निजी जीवन बराबर

चलता रहता है।[285] अपनी ही चेतना से कुरबक की कलिया क्रीडा करती है,[286] लहरे अठखेलिया करती है,[287] व लहर, गुलाब, दक्षिण पवन, अधकार, मलयानिल, रजनीगधा सब गतिशील हैं।[288]

कवि की दृष्टि तो सर्वत्र चैतन्य का ही साक्षात्कार करती है। वह जड पदार्थो को चेतन बनाकर उन्हे मानवोचित क्रियाकलाप मे निमग्न करके सर्वत्र चेतना और गतिशीलता का ही दर्शन कराती है। पूर्ण चैतन्य आत्मा का गुण है। काव्य में प्रकृति का मानवीकरण वस्तुत विदेशी देन ही नही है। जड को चेतन व चेतन को जड के रूप मे कल्पित करना हमारे प्राचीन कवि-कर्म मे सम्मिलित था—

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्ट सुकवि काव्ये स्वतन्त्रतया॥

अर्थात्—"सुकवि (अपने) काव्य मे अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान और चेतन पदार्थो को भी अचेतन के समान जैसा चाहता है वैसा व्यवहार करता है।" आचार्य विश्वेश्वर का अनुवाद।[289]

पृष्ठभूमि

मानव-जीवन, उसकी घटनाओं या उसके दैनिक कार्य-व्यापारों के महत्त्वाकन व स्वरूपबोध की दृष्टि से साहित्य की प्राय सभी विधाओं में प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप मे भी प्रचुर प्रयोग होता है। 'पृष्ठभूमि' शब्द से ही स्पष्ट है कि उस प्रकार से प्रयुक्त प्रकृति का प्रस्तुत जीवन-दृश्यों या घटनाओं से सीधा सबध नही होता, निरूपित प्राकृतिक दृश्य-खड अप्रत्यक्ष, निष्क्रिय व मौन रहकर मानव-जीवन या उसके क्रियाकलापों की नैतिक दार्शनिक जीवनालोचना (मानवीय क्रियाकलापो की सारासारता) या व्याख्या ध्वनित करता रहता है। निरूपित जीवन और पृष्ठभूमि के रूप मे चित्रित दृश्य-खड या तो परस्पर तीव्र विरोध भाव के व्यजक होते है या पूर्ण तादात्म्य के। कवि द्वारा मनोनीत इस विरोध या साम्य का लेखक द्वारा कहीं भी स्पष्ट कथन नही किया जाता। वस्तुत कथन तो पृष्ठभूमि-निर्माण की इस योजना के मूल उद्देश्य को ही नष्ट करनेवाला सिद्ध होगा। इसके विपरीत व्यजना को लक्ष्य में रखते हुए इस प्रकार की योजना अनेक साहित्यिक सिद्धियों की उपलब्धि कराने वाली जान पड़ेगी। यह साकेतिक योजना सहृदय पाठकों की कल्पना-शक्ति को मूल से उत्तेजित कर रसानुभूति में योगदान कराने वाली है। इससे पाठकों की सहृदयता व कल्पनाशीलता की परीक्षा भी हो जाती है। इस प्रकार की पृष्ठभूमि का गभीर उद्देश्य वही हृदयगम कर सकता है तो उपर्युक्त साम्य-वैषम्य की मूलवर्तिनी भावना को पकडने में सजग-सक्षम हो। यह भी ध्यान देने की बात है कि पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का उपयोग अत्यत सीमित रेखाओं में ही होना चाहिए, अन्यथा यदि वह आलबनगत वर्णन या चित्रण जैसा विस्तार ग्रहण कर बैठा तो इस विषयानुपात से दृश्य-खड की व्यजकता मारी जायेगी। लाघव में ही इसकी विशेषता है। वस्तुत' प्रकृति का आलंबनगत प्रयोग और पृष्ठभूमिगत प्रयोग दो भिन्न निरूपण-विधाएं हैं और यदि उन दोनों की मर्यादा हमें निभानी है तो यह आवश्यक है कि दोनों विधाओं के लिए नियत स्वतत्र प्रभाव-विधियों को ध्यान में रखकर ही पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का उपयोग हो। पृष्ठभूमि के रूप मे प्रयुक्त प्रकृति को चेतन ही मानना पडेगा, मानव-जीवन की

आलोचना जड-पदार्थ केसे कर सकता है। हा, प्रकृति चेतन तो होगी पर यह परोक्ष रहकर ही कार्य करेगी। मानव-जीवन के प्रति व्यग्य, सहानुभूति, प्रोत्साहन, सहयोग-समर्थन आदि बाते प्रकृति के इस प्रयोग मे निहित है। इससे स्पष्ट है कि पृष्ठभूमि के रूप मे प्रकृति का उपयोग स्रष्टा के कोशल की अपेक्षा रखता है।

प्रसाद ने अपनी सभी साहित्य-विधाओ मे मानव भावनाओ व घटनाओ की पृष्ठभूमि के रूप मे प्रकृनि का भरपूर उपयोग किया है।[290]

वातावरण

वातावरण-निर्माण के रूप में प्रकृति का उपयोग वहा देखा जाता है जहा प्रकृति का भाव-निरपेक्ष यथातथ्य वर्णन करके छोड दिया जाये, या प्रकृति एक शक्तिशाली सत्ता बनकर, मानव-चरित्र को प्रभावित व निर्मित करती हुई निरूपित की जाये। जिस प्रकार भौतिक जीवन मे भौगोलिक वातावरण का मानव-चरित्र पर प्रभाव पडता है, उसी प्रकार साहित्य मे भी पात्रों के चारित्र्य को प्रकृति रूपाकृत करती है। प्रसाद के नाटको, उपन्यासो व कहानियों में हम अनेक ऐसे पात्रो को देखते है जो प्राकृतिक परिवेश मे वन्य कुसुम-से खिलते है और जिनकी मूल चारित्रिक विशेषताए—स्वच्छदता, सरलता, मुक्ति-प्रेम, अल्हडता, सहानुभूति—प्रकृति का ही मुक्तहस्त दान है। गाला (ककाल), किन्नरी (हिमालय का पथिक), तितली, मधुबन, रमला ('रमला' कहानी), मधूलिका (पुरस्कार) व 'कामना' के अनेक पात्र (जैसे करुणा, वनलक्ष्मी) वड्र्सवर्थ के पात्रो की तरह अपने चारो ओर के प्राकृतिक वातावरण की ही उपज हैं। वस्तुत प्रकृति के प्रसग में वातावरण या वातावरण-निर्माण की इसके अतिरिक्त और कोई अन्य उपयोगिता कल्पित करना भी कठिन है, क्योकि पात्र अथवा चारित्र्य की कल्पना से शून्य प्राकृतिक पदार्थों का उल्लेख करके यों ही कुछ वातावरण की सृष्टि कर देना तो निरर्थकता ही है। यदि प्रकृति के विविध उपयोगों में से एक उपयोग वातावरण भी है तो इस उपयोग की सार्थकता पात्रों के चरित्र-निर्माण के सदर्भ में ही हृदयगम हो सकती है। प्रकृति का वातावरण भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप ही होता है। पहाड़ी, मैदानी, मरुस्थली, समुद्री प्रदेश, पात्रो के चरित्र को अपनी प्रादेशिक विशेषताओ के अनुरूप ही चारित्र्य व व्यक्तित्व के साचे में ढालते हैं।[291]

मानव व प्रकृति की तुलना

प्रसाद ने प्रकृति का उपयोग एक अन्य रूप में भी किया है जो मानव और प्रकृति की आकृति-प्रकृतिगत तुलना पर आधारित होकर तत्त्वत: सांस्कृतिक है। व्यक्ति और समाज के सब प्रयत्नों का अतिम लक्ष्य पृथ्वी पर मानव का सच्चा सुख ही है, इसमें सभवत कोई विप्रतिपत्ति नही। पर त्रिगुणों का पुज मानव अतत तो अपनी प्रकृति के गुणो से ही परिचालित होता है, अत राजसिकता व तामसिकता की प्रमुखता या अतिरेक से व्यावहारिक जीवन में वह अपनी प्रकृति में निहित परम सत्त्व को स्थायी रूप से प्राप्त नही कर पाता—हा, काव्यानुभव में अवश्य उसके उद्रेक से वह अखड रस का अनुभव कर सकता है। एक ओर कवि मानव-जीवन की विषम व करुण गति देखता है और दूसरी ओर वह अपने चारों ओर प्रकृति का एक ऐसा प्रसार देखता है, जहा प्राय नित-नवीनता, नियमितता, व्यवस्था, मुक्ति,

उल्लास व आत्मिक शाति है। कवि मानव होने के नाते स्वभावत एक अनुकरणशील या तुलनाप्रिय प्राणी है, अत प्रकृति मे व्यजित इन गुणो को मानव-समाज व जीवन मे भी उतारकर देखना चाहता है (अवश्य ही प्रकृति मे चाहे कठोरता, प्रचडता, नाश व निर्दयता भी है)। रमणीय प्रकृति पर मुग्ध होकर वह प्रकृति के जीवन को ही आदर्श या सुखी मानव-जीवन के स्वरूप का सच्चा आधार मान लेता है। पर तुलना की प्रथम दृष्टि मे ही वह देखता है कि विषमता तो कितनी गहन है। एक ओर तो मुक्ति ओर आह्लाद का अतलात सिधु और उधर मानव-जीवन मे सर्वत्र अशाति, दु ख- दारिद्र्य, स्पर्द्धा-सघर्ष, युद्ध, हिसा, रक्तपात, कुचक्र और प्रतारणा। कवि स्पष्ट कहता है—

नील नभ मे शोभन विस्तार, प्रकृति है सुदर, परम उदार।
नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ, बात जचती कुछ नही यथार्थ॥ —झरना

निरीक्षण पर आधारित भावना की इस मनोभूमि पर पहुचकर खिन्नता के स्वर मे कवि शोक और पश्चात्ताप के उद्‌गार व्यक्त कर उठता है—

तुम तो अविरत चले जा रहे हो कही, तुम्हें सुधार ये दृश्य दिखाते है नही।
शरद-शर्वरी ! शिशिर प्रभजन-वेग मे, चलना है अविराम तुम्हें उद्वेग में॥[292]

इन पक्तियो मे जो मानव की गति व उसके जीवन की विडबना, विवशता व प्रकृति की सहज-सनातन आनदप्रदायकता व्यक्त हुई है, वह उसकी गहरी सास्कृतिक चिता की द्योतक है। ध्यान देने पर दिखायी पडेगा कि यह कोरा भावोद्‌गार ही नही है, इसके पीछे मानव-भाग्य की चरम परिणति की गहन चिता से आपूर्ण विशाल समुद्र-सा एक सच्चा कवि-हृदय धडक रहा है। सकेतात्मक शैली मे मानव-जीवन की यह सही व्याख्या और परोक्ष रूप में मगल के विधान का प्रयत्न प्रकृति के माध्यम से ही सभव हो सका है। और यही कवि की एक सास्कृतिक देन है।

सामान्य जीवन-तथ्यो की व्यजना

प्रसाद ने अनेक गहन भावो, विचारों व मार्मिक परिस्थितियों को सीधे-सीधे व्यक्त न कर प्राय प्रकृति की भाषा मे ही व्यक्त किया है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति से भाव-विचार और परिस्थितिया अधिक स्पष्ट व सजीव होकर प्रकट हुई हैं। प्रसाद-साहित्य में प्रकृति का इस रूप में पुष्कल प्रयोग मिलेगा।

कवि सदा भाव की भाषा में ही बोलता है। और इस भाषा के लिए सबसे सशक्त साधन हैं प्रकृति के पदार्थ व व्यापार। कवि का कथ्य अपने प्रभाव में अचूक रहना चाहिए। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसे प्रकृति की पदावली पर पूरा-पूरा भरोसा रहता है। भाव-व्यजना[293] के लिए प्रकृति के रूप-व्यापारों का माध्यम के रूप में उपयोग तो सर्वत्र होता ही है, उसमे कोई नवीनता नही। किंतु, जीवन-विषयक सामान्य तथ्यों की व्यजना के लिए भी वह प्रकृति के ही सिक्को का उपयोग करता है। इस प्रकार कवि सभ्यता-सबधी तथ्यो को भी प्रकृति की भाषा देता है।[294] उदाहरणार्थ यौवनारभ, अतीत स्मृति की मादकता, भाग्य की स्थिति, राष्ट्रीय जागरण की भावना आदि को भी कवि प्रकृति के माध्यम से ही व्यक्त करता है।[295] तथ्य-व्यजना के लिए भी जो कवि प्रकृति का ही माध्यम ग्रहण करे, यदि वह आध्यात्मिक आनद जैसी गहन भावना की अभिव्यक्ति के लिए

भी वसत का समस्त प्रसार (मधुचर्या की सीमा तक) ही नियोजित कर ले, तो क्या आश्चर्य ?[296]

रहस्य व अध्यात्म की अभिव्यक्ति

प्रकृति के प्रसग मे 'दर्शन', 'रहस्य' व 'अध्यात्म' आदि पदावली का प्रचुर किंतु प्राय शिथिल प्रयोग होता है। प्रसाद में इस पदावली द्वारा सकेतित वस्तु का आकलन करने के लिए सर्वप्रथम उक्त तीनो क्षेत्रों का स्पष्ट पार्थक्य-ज्ञान उपयोगी होगा। 'दर्शन' का अर्थ है—देखना, बाह्य और आतरिक नेत्र (मन) के सम्मिलित योग द्वारा यथार्थ को देखने की सामान्य सज्ञा 'दर्शन' है। जो कुछ आखो के लिए प्रत्यक्ष है, उसके अतिरिक्त भी, दृश्य जगत् के परे, एक ऐसी सत्ता है जिसके अस्तित्व का अनुमान तो होता है पर जो प्रत्यक्षत दिखायी नही देती। उस सत्ता का साक्षात्कार करने के लिए भावुक और जिज्ञासु व्यक्ति उत्कठित रहते है। इस 'दर्शन' या देखने के दो विशाल क्षेत्र हैं—रहस्य का क्षेत्र और अध्यात्म का क्षेत्र। रहस्य का बीज है—जिज्ञासा। जिज्ञासा के प्रबल होने पर ही अभीप्सित वस्तु का दर्शन सभव है। अत हम विकास-क्रम में रहस्य को पहले और अध्यात्म को उसके पश्चात् रख सकते है—सभव है कि जिज्ञासा और तत्त्वबोधजन्य तृप्ति की प्रक्रिया साथ-साथ भी चलती हो। जब तक अनुसधेय वस्तु एक रहस्य मात्र बनी रहती है तब तक द्रष्टा या अनुसधाता प्राय बौद्धिक जिज्ञासा के स्तर पर ही बना रहता है। जिज्ञासा बुद्धि का व्यापार है और बुद्धि सीमित व जड कही गयी है। जब तक उसे चैतन्य आत्मा का प्रकाश प्राप्त न हो तब तक बुद्धि में चेतना-माद्य व तत्त्व की अनवगति का सूचक चाचल्य ही रहता है। बुद्धि जितनी ही निर्मल होगी, आत्मा का प्रकाश उस पर उतना ही उज्ज्वल प्रतिबिबित होगा। पर सामान्यत बुद्धि भेद-विग्रह उपजाकर जीव को आनद से दूर ही रखती है, अत वह जड कही गयी है। रहस्य-भावना की स्थिति में जिज्ञासा, आकुलता, उत्कठा आदि वृत्तिया प्रवर्त्तमान रहती है। स्पष्ट है कि अखड आनद की दृष्टि से यह स्थिति अधिक काम्य नही। यह हमारी आध्यात्मिक यात्रा का एक आवश्यक पडाव मात्र ही है। अन्वेषणशील आत्मा इस भूमि पर अपने चिर वरेण्य को अभी प्राप्त नही कर पायी रहती।

विकास-क्रम में इससे ऊपर अध्यात्म का क्षेत्र है। आत्मा बुद्धि से सूक्ष्म, उच्चतर व स्थायी सत्ता कही गयी है। इस भूमि पर चित्तवृत्तिया आत्मा मे विश्रात हो जाती है। यही सविद्-विश्रांति है। आनद की अनुभूति का यही क्षेत्र है क्योंकि यहा हृदय-ग्रथि का भेदन हो जाता है, सर्वसशयो का छेदन हो जाता है, सब कर्मों का क्षय हो जाता है और प्रकाश के पारावार का दर्शन होता है। रहस्य-भावना की स्थिति में जो अस्थिरता, अनिश्चयात्मकता तथा आकुलता थी, उन सबका यहां पूर्ण उपशमन हो जाता है।

अपने शुद्ध रूप में रहस्यवाद सृष्टि के मूल एकत्व रूप सत्य के शोध की दृष्टि से, सृष्टि की मूल सत्ता के प्रति एक तीव्र बौद्धिक जिज्ञासा-मात्र है। पर साहित्य में भी उसका इतना महत्त्व है कि उसका गभीर अनुशीलनकर्त्ता इस पक्ष की उपेक्षा नही कर सकता।[297] पर यही जिज्ञासा जब शुद्ध दर्शन या हठयोग (साधना) की भूमि से भावना के क्षेत्र में संक्रमण कर (जायसी की तरह) प्रकृति के माध्यम से झाक उठती है तो समस्त प्रकृति सौंदर्यवान् होने के साथ ही परम रहस्यमयी (किसी अमर सौंदर्यसत्ता की प्रकाशिका या वाहिनी) होकर दिव्य

आभा मे विमडित हो उठती है। अडरहिल तो यहा तक कहते हैं कि सृष्टि का रहस्य ही वास्तव मे उसने जाना है जिसने प्रकृति से प्रेम किया है।[298]

प्रसाद ने रहस्य और अध्यात्म भावना की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का उपयोग किया है। 'कामायनी' के मनु जिज्ञासा करते है—

महानील इस परम व्योम में, अतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से सधान।
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिचे हुए? —**आशा सर्ग**

मनु की जिज्ञासा रहस्यभूमि की है। मनु अतिम तत्त्व को अभी समझ नही पाये हैं, क्योकि उनमें परिस्थितिजन्य क्षोभ, अवसाद व क्लाति भरी हुई है। अन्यत्र भी रहस्य-भावना के विशिष्ट स्थल हैं। कवि कहता है कि प्रकृति के मन मे एक गुप्त भाव है—"प्रकृति मनोगत भाव सदृश जो गुप्त, यह, कैसा दुखदायक है? हा, बस ठीक है।"[299] पक्षी कोई रहस्यमय सकेत करते रहते है।[300] आकाश का नीला पर्दा रहस्यमय है।[301] प्रकृति का रहस्यमय महाभिनय चलता रहता है।[302] कही कोई एक रहस्य का लोक है।[303] प्रकृति दार्शनिकता का आधार है। वह ऐसी चिर निगूढ सत्ता है कि उसके प्रति मन में अनेक जिज्ञासाए, प्रश्न, कुतूहल आदि उत्पन्न होते हैं।[304] प्रकृति अनेक रहस्य-कल्पनाए हममें जाग्रत करती रहती है।[305] प्रकृति मानव व पक्षी के द्वारा पृथ्वी के प्राणियों को किसी प्रेम-शाति के लोक का नीरव-मधुर सदेश देती रहती है।[306]

मनु, सुदर्शन (समुद्र-सतरण), बिंबसार, 'हिमालय का पथिक' साजन ('रमला' कहानी) व 'प्रलय' कहानी के नायक के माध्यम से प्रसाद मानो अपनी ही प्रकृतिगत रहस्य-भावना व्यक्त करते हैं।

आत्मतत्त्व की प्राप्तिजन्य आनद की अभिव्यक्ति भी 'कामायनी' में प्रकृति के माध्यम से हुई है—

रश्मिया बनी अप्सरियाँ अतरिक्ष में नचती थी,
परिमल का कन कन लेकर निज रगमच रचती थी।
मासल सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी,
उस लास रास में विह्वल थी हँसती-सी कल्याणी। —**आनद सर्ग**

मनु के आनद की यह अभिव्यक्ति तब हुई है जब वे श्रद्धा की सहायता से समरसता की अवस्था को प्राप्त कर चुके है। प्रसाद आनदवादी हैं। आनद की स्थिति में पाप-ताप, द्वद्व-विग्रह आदि कुछ नही रहते। निश्चय ही यह स्थिति रहस्य की स्थिति से उच्चतर है। मनु की सब जिज्ञासाओं की शाति मे हम मानो प्रसाद की ही अपनी जिज्ञासा-शाति को देखते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रसाद, प्रकृति के सदर्भ में जिज्ञासा के बौद्धिक धरातल को छोडकर ऊपर उठे है अन्यथा आनदवाद की स्थापना की सगति किस प्रकार बैठेगी? आनद और जिज्ञासा तो परस्पर असगत हैं, जिज्ञासा पथ की मजिल है और आनद गतव्य। इस चरम आनद की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से हुई है। और यह आनद प्रकृति के साथ तादात्म्य के बिना सभव नही।

सक्षेप में, प्रकृति के सदर्भ में प्रसाद के रहस्यवाद की स्थिति इस प्रकार जान पडती

है : प्रसाद का रहस्यवाद मूलतः मानव अथवा मानव-सौंदर्य से प्रेरित हुआ है; प्रकृति द्वारा वह पुष्ट व समृद्ध किया गया है। प्रसाद मानव व मानव-भावना को सर्वोच्च महत्त्व देते हैं क्योंकि मानव उनकी दृष्टि में अध्यात्म का अभिन्न अंग है। ऐसे मानव की भावनाएं भी सहज ही अध्यात्म का अंग होने की अधिकारिणी हैं। मानव और उसकी भावनाओं के प्रति प्रसाद इतने निष्ठावान् हैं कि वे मूलतः इसी कारण मानव और मानव-भावनाओं के ही कवि कहलाते हैं। प्रकृति का भी स्थान उनके काव्य में अत्यंत उच्च है पर मानव से असंपृक्त प्रकृति अपने आप में विशेष महत्त्व की नहीं रह जाती। हिंदी-काव्य की अनेक धाराओं में शीर्षस्थानीय रहस्यवादी कवि हुए हैं (कबीर, जायसी आदि) पर उनके रहस्यवाद पारमार्थिक रहस्यवाद है जो परोक्ष आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। इसके विपरीत प्रसाद जी मानव धरातल पर रहकर जिस रहस्यवाद की प्रतिष्ठा करते हैं उसे हम प्राकृतिक या मानवीय आध्यात्मिक रहस्यवाद कह सकते हैं।[307] हमारी दृष्टि में भी, पारमार्थिक रहस्यवाद की तुलना में प्रसाद का रहस्यवाद नगण्य या निम्न किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह प्रभाव व भाव-सत्यता की दृष्टि से अधिक काव्योचित, सगुण-निर्गुण के कृत्रिम भेद का संहारक होकर उपनिषद् की भावना से सहज-सम्मत, व्यावहारिकता की दृष्टि से अधिक सुबोध-सुग्राह्य, मानवोचित, युगोचित व मनोविज्ञान-समर्थित है। इन्हीं गुणों के कारण 'रहस्यवाद' के क्षेत्र में प्रसाद का यह मौलिक योगदान है और प्रसाद का काव्य (साहित्य के अर्थ में) 'अतिशय मनोहर रहस्यमयी आभा से अनुरंजित है।' यह रहस्यवाद पूर्णतः प्रकृति पर आधारित नहीं हो सका है। 'कण कण में ब्रह्म व ब्रह्म में कण कण'—सर्ववाद की यह आधारभूत भावना है। प्रसाद ने स्वरुचिवश रमणीयता, भव्यता व औदात्त्य के प्रति ही अधिक आकर्षण व्यक्त किया है (साथ ही, सामान्य या साधारण से वे सर्वथा अपरिचित या असंपृक्त रहे हों, यह बात भी अमान्य है)। इस दृष्टि से देखने पर निश्चय ही वड्र्सवर्थ प्रसाद की तुलना में अधिक गंभीर व रहस्योन्मुख हैं, क्योंकि वे प्रकृति से ही प्रस्थान करते हैं।

प्रसाद का प्रकृति के साथ तादात्म्य : एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न[308]

प्रकृति-निरूपण के प्रसंग में यही अब एक अत्यंत केंद्रीय या मूलवर्ती प्रश्न उपस्थित होता है—क्या प्रकृति के साथ प्रसाद का तादात्म्य स्थापित हुआ है? बहुत थोड़े विद्वानों ने इस समस्या का स्पर्श किया है; हमारे देखने में केवल आचार्य वाजपेयीजी की ही चिंतना आई है जो मूलबद्ध, स्वच्छ, पैनी, संक्षिप्त और विचारोत्तेजक है। प्रसाद के समस्त साहित्य की भूमि पर इस विषय का विचार एक अत्यंत रोचक विषय है और वह यहां प्रसंग-प्राप्त भी है।

तादात्म्य (तत्+आत्म=तदात्म की भाववाचक संज्ञा—तादात्म्य) का अर्थ है द्रष्टा या प्रमाता की किसी वस्तु के साथ एकाकारता, एकात्मता, एकरसता या तदाकार परिणति। इस विश्लेषण के द्वारा द्रष्टा और प्रकृति के बीच एकपक्षीय (चेतन या जड़ प्रकृति के प्रति) व्यवहार ही ध्वनित होता है, पर छायावाद के प्रसंग में हमें इस व्यवहार की उभयविध कल्पना (द्रष्टा व दृश्य का पारस्परिक आत्मिक संबंध) करनी होगी, क्योंकि प्रकृति पर चेतन का आरोप छायावादी काव्य की सर्वोपरि दृष्टि-भंगियों में से एक प्रमुख दृष्टि-भंगिमा है।

इस रूप मे इस व्यवहार को न देखने से यह समस्या अपने मूल प्रास्थानिक स्वरूप से ही वचित हो जाती है। छायावादी कल्पना-सौदर्य के चरम परिपाक की सगति भी तभी अच्छी बैठती है। तादात्म्य तो भावना-सपन्न व्यक्ति से ही (प्रकृति के जड पदार्थो से काव्य मे कल्पना के बल से) भली भाति सपन्न हो सकता है।

काव्य-सदर्भ प्रकृति के साथ तादात्म्य की प्रतिष्ठा के तीन स्पष्ट नैसर्गिक सोपान दिखायी पडते है—ऐद्रिय सोपान, भावनात्मक सोपान और रहस्यात्मक-आध्यात्मिक सोपान। ऐद्रिय सोपान इस क्रम मे सर्वप्रथम आता है। भावना तथा रहस्य-अध्यात्म की वृत्ति से प्राय असपृक्त रहकर इद्रिय समूह से जो सहज प्रेयात्मक सवेदन-सग्रह किया जाता है वही प्रथम सोपान का निर्माण करता है। उक्त सवेदन-राशि प्राणि-धर्म-सुलभ भोग-भावना से प्रेरित आह्लाद मे, जीवन या साहित्य मे, अपनी अभिव्यक्ति करती है। इस सोपान पर प्रकृति मुख्यत अपनी बाह्य सुषमा या रूपवर्णच्छटा से ही महिमान्वित रहती है। शनै-शनै प्रथम सोपान की दृष्टि भावनात्मक विकास के साथ एक उच्चतर व गभीरतर दृष्टि मे परिणत होती है। यही द्वितीय सोपान है। इस अवस्था मे कवि का मन प्रकृति के, चाहे अब वह आखो से ओझल ही क्यो न हो, सूक्ष्मतर व गभीरतर रूपो व सदेशो से अभिभूत रहता है, और प्रकृति मन के गभीर स्तरो पर अनवरत गहरा अधिकार रखने लगती है। पर यह अवस्था भी अतत पूर्ण सतोषदायिनी सिद्ध नही होती, क्योकि गभीर भाव-आह्लादो के बीच भी अब बार-बार व आग्रहपूर्ण जिज्ञासात्मक प्रश्न-विशेष विक्षेप उपस्थित करते है और वे हठी प्रश्न समाधान के बिना मानते नही। इस स्थिति मे प्राकृतिक सौदर्य का यह कमनीय प्रसार कोई मानसिक आदर्शलोक बसाकर चैन के साथ बैठने नही देता, क्योकि इस भूमि तक आते-आते मानव जगत् की यथार्थताए भी (प्रकृति के साथ मानव के मूलवर्ती प्रगाढ सबधो के कारण) कवि के सामने अपने समाधान के लिए मुह बाए रहती है। अब प्रकृति का लोक एक निरपेक्ष सौदर्य-लोक मात्र नही रह जाता। मानव और प्रकृति दोनों परस्पर धूप-छाया के रोओ-से घुले-मिले जान पडने लगते है और दोनो मिलकर किसी भीतरी सनातन व रहस्यमयी सत्ता के आगे कवि की आखो के लिए एक पर्दा मात्र रह जाते है। बाह्य दृश्य जगत् का आस्वादन मात्र अब परम सत्ता के अन्वेषण मे लीन प्रश्नभरी अतरात्मा को सतुष्ट रखने मे सर्वथा असमर्थ रहता है। मानव (कवि) मन और प्रकृति के गभीर आतरिक सबधो में दृढता आ जाती है। प्रकृति एक जीवित जाग्रत सत्ता हो जाती है और अतर्मन उसके साथ सीधा व स्थायी व्यवहार-सबध स्थापित कर लेता है। इस सोपान पर भी एक मानसिक उल्लास रहता है जो प्रथम ऐद्रिय भूमि के उल्लास से भिन्न है। अब एक आनदमयी सत्ता बार-बार चेतना मे कौध-कौंध उठती है। अब पुष्प केवल पुष्प नही रहते, वे किसी गभीरतर सत्ता के आह्लाद के प्रतीक मात्र रह जाते है। उन पुष्पों का भौतिक अस्तित्व इस नवीन अस्तित्व में विलीन हो जाता है। यह स्थिति अतिम सोपान है जिसे हम रहस्यात्मक या आध्यात्मिक कह सकते है। जिज्ञासा या प्रश्नों में अत्यधिक उलझा हुआ कवि रहस्यात्मक भूमि का अधिवासी रहता है और धार्मिक श्रद्धा आदि से परिपूर्ण कवि आध्यात्मिक भूमि का। इन दोनों भूमियों की उच्चावचता का निर्देश करना अत्यत कठिन है। कवि की मूल अतःप्रकृति के सघटन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए दोनों ही भूमिया महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं। हा, उनके स्वरूप का स्पष्ट पार्थक्य अवश्य निर्दिष्ट

किया जा सकता है रहस्यात्मक भूमि अधिक बौद्धिक अथवा जिज्ञासात्मक होती है, जबकि आध्यात्मिक भूमि दृढ धार्मिक-नैतिक विश्वास पर आधारित। आध्यात्मिक भूमि पर रहस्यात्मक प्रश्नो का उपशमन हो जाता है और सत्ता के प्रति नि शेष समर्पण का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है।

यदि प्रकृति के प्रसग मे कवि या साहित्यकार के अतर्विकास का यह क्रम मोटे तौर से स्वीकार्य है तो इस निरूपण के आलोक में प्रसाद के प्रकृति के साथ तादात्म्य के प्रश्न पर अधिक स्पष्टता से विचार किया जा सकता है।

प्रसाद के प्रकृति-निरूपण के द्वारा यह स्पष्ट है कि वे वर्ड्सवर्थ की तरह प्रकृति की ऐंद्रिय सवेदनावाली प्रारभिक भूमि को उत्साह के साथ पार करके नही आये है। आचार्य वाजपेयीजी की आपत्ति है (यद्यपि यह आपत्ति 'चित्राधार' के विवेचन के प्रसग मे की गयी है)—"अग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की भाति प्रकृति के प्रति उनका निसर्ग-सिद्ध तादात्म्य नही दीख पडता। प्रत्येक पुष्प मे उन्हें वह प्रीति नही, जो वर्ड्सवर्थ को थी, प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी, उनकी आत्मीय नही। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नही करते। ' आचार्यजी का यह आकलन यथार्थ है, पर प्रसाद के पक्ष से यहा कुछ विनम्र निवेदन करना है। यह स्वीकार करने मे तो कोई आपत्ति नही कि कवि मानव की शिराओं में मूलत उल्लास और आनद की गहरी व अनादि चेतना को जीवित व प्रज्वलित रखने के ही लिए नियत है। अत यदि प्रकृति के माध्यम से यह कार्य अधिक सुविधापूर्वक और अधिक प्रभविष्णुता के साथ हो सकता है तो कवि को इस भूमि और सोपान की उपेक्षा नही करनी चाहिए। पर अनेक बातें विचारार्थ उपस्थित होती हैं। सभ्यता का विकास व्यक्तिगत रूचि-सस्कार व अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी साथ लिये बिना यह प्रश्न सरलता से हल होता दिखायी नही पडता। 20वी शताब्दी के वैज्ञानिक व बुद्धि-युग का कवि वर्ड्सवर्थ की तरह आदि मानव के उस उल्लास (Pagan joy) को अभिव्यक्त नही कर सकता था जो 18-19वी शताब्दी में विज्ञान की बाल्यावस्था में सहज-स्वाभाविक था—अवश्य ही कवि के व्यक्तिगत सस्कार की प्रबलता भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। फिर प्रसाद प्रकृति को केवल प्रकृति के लिए तो प्यार नही करते। या तो वे उसे शिवतत्त्व के प्रकाशन के माध्यम के रूप में देखते हैं या वे उसे मानव-सदर्भ में ही महत्त्व देते हैं (जो कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सर्वथा स्वाभाविक है)। ये दोनों स्थितिया प्रकृति को एक गाभीर्य से परिवेष्टित कर देती हैं, और वे कवि को केवल ऐंद्रिय सौख्य तक ही सतुष्ट नही रहने देती।

पर यही तक का विस्तार अभी समस्या का समाधान नही करता। वर्ड्सवर्थ का काव्य-विकास यह बताता है कि वे ऐंद्रिय धरातल से भावना के धरातल पर और भावना के धरातल से रहस्य-अध्यात्म के धरातल पर बढते गये और सभवत वही उन्हें तृप्ति मिली। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्ड्सवर्थ जिस ऐंद्रिय उल्लासमयी भूमि को स्वय ही एक सोपान मात्र मानते हैं, उस सोपान के ही आधार पर प्रसाद के प्रकृति-प्रेम के गुण या स्वरूप को आंकने में पूर्ण परितुष्टि नही मिलती। अवश्य ही 'चित्राधार', 'कानन-कुसुम' व 'झरना' में उस अमिश्रित प्राकृतिक आनंदोल्लास का हल्का-सा स्पर्श मिलता है, पर प्रसाद की वह प्रकृति-भूमि उनकी अपनी प्रकृति भूमि नहीं। प्रसाद प्राय जिज्ञासा और रहस्य की भूमि पर ही रहते हैं, यह रहस्य जिज्ञासा अनुदिन बढती जाती है। 'लहर' और 'कामायनी' में इसका चरम विकास दिखायी पड़ता है।

कहने का हमारा आशय यह है कि रहस्य-भावना के रूप मे देखी गयी प्रकृति मे ऐंद्रिय धरातल का उल्लास व भाव-धरातल की प्रभावुकता स्वयमेव निहित है। सौंदर्य का आकठ पान और उसका मनन किये बिना रहस्य-भावना मे प्राण ही नही पडते। प्रसाद केवल जिज्ञासा ही करते रह गये—इसका अर्थ सभवत यह नही होगा कि उनका प्रकृति के साथ तादात्म्य नही हुआ था। कहना चाहे तो यो कह सकते है कि यह तादात्म्य रहस्य के माध्यम से परिस्फुट हुआ। यदि वर्ड्सवर्थ ऐंद्रिय धरातल पर ही रुककर प्रकृति-विषयक सर्वोच्च उपलब्धिया छोड जाते तो प्रसाद की स्थिति चिंत्य हो उठती। पर वर्ड्सवर्थ स्वय उस धरातल को गतव्य नही मानते। अत यही जान पडता है कि काव्य-क्षेत्र मे प्राकृतिक दृष्टि का विकास-क्रम है—ऐंद्रिय प्रेम > भावना > रहस्य-अध्यात्म। प्रकृति के प्रति जिज्ञासा प्रसाद के स्वभाव की विवशता है या उसकी उत्तरदायी उनकी आत्मा की मननशीलता है, जिसे वे सकल्पात्मक अनुभूति के क्षेत्र में अत्यत ऊचा स्थान देते है।

मानव को महत्त्व देते हुए प्रकृति का आकलन प्रकृति-विषयक नैसर्गिक विकास-क्रम का ही द्योतक है। चेतना की मात्रा मे एक पडाव वह आता है, जब प्रकृति मानव के ही नाते सार्थक जान पडती है। केवल प्रकृति और उसके सुखोपभोग, मानव-समाज के दुख-दर्द के युग मे (छायावाद युग ऐसा ही था) विडबना मात्र जान पडने लगते है। इस प्रकार मानव-सदर्भ मे ही प्रकृति को देखना एक ओर तो मनोविज्ञान-सम्मत है और दूसरी ओर वह प्रकृति-विषयक काव्य-चेतना के नैसर्गिक क्रम से समर्थित व पोषित है।

इसी प्रकार प्रतीको की भूमि पर प्रकृति का अधिकाधिक आकलन (उत्तरकालीन प्रसाद काव्य में यह प्रचुर परिमाण मे है) भी विकास के उक्त नैसर्गिक क्रम के अनुरूप ठहरता है। प्रतीक-व्यापार तो कल्पना पर ही खडा है, कल्पना काव्यात्मा रस या ध्वनि की कितनी उपकारिणी है, यह कहने की आवश्यकता नही।

प्रसाद-साहित्य मे ऐसे अनेक स्थल हैं जिनके आधार पर प्रकृति के साथ उनके हृदय का तादात्म्य घटित होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[309]

प्रकृति-विषयक कवि-चेतना का नैसर्गिक विकास-युग, युग-परिसीमा, कवि के व्यक्तिगत सस्कार, मनोविज्ञान, मानव का महत्त्व, सास्कृतिक विकास-सोपान, काव्य-स्वरूप, और प्रसाद की काव्य-दृष्टि के व्यापक सदर्भ में देखने पर सभवत जान पडेगा कि प्रसाद का प्रकृति के साथ तादात्म्य हुआ है। प्रसाद की प्रकृति-विषयक रहस्य-भावना कोरी बौद्धिकता की प्रसूति नही है, उसमें प्रकृति के रूप-सौंदर्य (चाहे वह शुद्ध प्रकृति-विषयक रति से प्रेरित हो चाहे मानव-संदर्भ से) का निर्निमेष गभीर दर्शन व उसमें से व्यजित किसी गूढ रहस्यमयी सत्ता का गभीर मानस-साक्षात्कार निहित है। कोरे ऐंद्रिय धरातल पर ही प्रसाद की आत्मा की मननशीलता तृप्त नही हो सकती थी।

फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नही है कि प्रसाद ने सामने फैली वसुधा व आकाश को देखकर अपना सहज उल्लास (elemental joy) व्यक्त नही किया, प्रत्येक चिरपरिचित और सामान्य वस्तु पर उनकी सरल व मार्मिक दृष्टि नही पडी, तथा प्रस्तुत प्रकृति के सहज सौंदर्य व उससे छलकते रस की ओर वे प्रबलता से आकर्षित नही हुए। वे यह नही कह सके—

"To me the meanest flower that blows can give—
Thoughts, that do often lie too deep for tears."

(छोटी से छोटी फूल-फुलडिया भी मुझे ऐसे अनुभूति-उपहार दे जाती है, जो अश्रुओं के लिए भी गहन हैं।)

समीक्षात्मक निष्कर्ष प्रकृति के क्षेत्र मे प्रसाद का प्रदेय

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रसाद उन शीर्षस्थ कवियों मे से है जिन्होंने प्रकृति का काव्य के एक बहुमूल्य उपादान के रूप मे ग्रहण कर उसका परपरागत रूपो के अतिरिक्त अन्य अनेक नवीन रूपो मे और भरपूर उपयोग किया। प्राचीन हिंदी-साहित्य मे प्रकृनि मुख्यत- उद्दीपन व अलकार के ही रूप में प्रयुक्त होती थी, उसका कोई निजी व स्वतत्र महत्त्व नही था, वह मानव की सेविका व अनुवर्तिनी मात्र थी। अवश्य ही तुलसी, सेनापति, भारतेन्दु, प्रेमघन, श्रीधर पाठक, हरिऔध आदि कवियो ने उस पर कही-कही स्वतत्र व न्यूनाधिक अनुरागमयी दृष्टि डाली थी। कबीर ने आध्यात्मिक वेदना की अभिव्यक्ति मे उसका सशक्त प्रतीको के रूप मे उपयोग किया था। जायसी ने सूफ़ी भावना के अनुसार उसमे परम प्रियतम का प्रतिबिब देखकर उसे रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनाया था, व सूर-तुलसी ने उससे प्रौढ उपमान पक्ष के निर्माण का कार्य लिया था, पर प्रकृति के उस विशाल महत्त्वपूर्ण उपयोग का पृष्ठ खुलना अभी शेष था, जिसमे एक ही चेतना-बीज के फूटे दो अकुरों—प्रकृति और मानव—के गूढ-गुफित आतरिक सबधो की मधुर कहानी अकित है। प्रसाद ने यह पृष्ठ सबसे पहले खोला, क्योंकि वे छायावाद के आदि प्रवर्तक है।[310] प्रसाद ने इद्रियो के धरातल पर प्रकृति के सभी मृदु-परुष प्रभावो या सवेदनाओ का सहज ग्रहण कर उसके पुलक-रोमाच का मानवीय स्वर मे व क्रातदर्शी या रहस्यवादी की दृष्टि से गान किया। उन्होने प्रकृति को उसकी परपरागत जडता से मुक्त कर एक स्वतत्र व मासल व्यक्तित्व प्रदान किया, उसे सौरभ-उष्मापूर्ण व भावभरित स्पदन-उच्छ्वसन प्रदान किया, एक धडकता मानव-हृदय दिया और उसके साथ विविध मानवीय सबधों की स्थापना की। अब प्रकृति और मानव छाया-प्रकाश के ततुओं की तरह परस्पर गुथने लगे। वर्ड्सवर्थ के शब्दो में अब प्रकृति एक जीवित-जाग्रत सत्ता (Living presence) बनी। ऐसी चेतन-सत्ता के हृदय मे उतरकर उसकी विविध मनोदशाओं (moods) को तन्मयतापूर्वक समझने की हिंदी मे पहली बार चेष्टा हुई। उस 'छवि-परदे' के पीछे कौन है, यह हमारी पुरानी निर्गुणी जिज्ञासा नये सिरे से आरभ हुई। प्रकृति की सत्ता में से हीरे की किरणो-सी फूटती किसी रसमयी रमणीय कात अतर्ज्योति को युगों बाद, नवीन परिवेश में, पहली बार देखा गया। पहली ही बार प्रकृति के साथ गूढ-गभीर अंतर्संलाप आरभ हुआ। पकृति पर कुतूहल व विस्मय की एक नवीन दृष्टि पडी, और पहली ही बार कातरता के साथ यह गभीर पीडा व्यक्त हुई कि हाय, ऐसी प्रकृति को कोई नही देखता। उसके कठोर और कोमल दोनों ही रूपों से सच्चा अनुराग पहली ही बार लक्षित हुआ। ताप-तप्त जीवन के लिए प्रकृति स्निग्ध हाथों के मृदुल प्रलेप की तरह अनुभव की गयी और वह आत्मा की एक अकथ्य-अमिट भूख की तृप्ति बनकर आयी। कान लगाकर पहली ही बार सुनने की हार्दिक चेष्टा की गयी कि एक अनजान रहस्यमय सदेशों से भरा हुआ नीरव सगीत प्रकृति में प्रतिपल निनादित-तरगित हो रहा है। मानव-जगत् के साथ प्रकृति को भी लेकर यह अनुभव शताब्दियों बाद फिर से हुआ कि समस्त चराचर आत्मा के एक ही तार में

गुथे है। आधुनिक साहित्य मे सर्ववाद की भावना की यह कलात्मक अभिव्यक्ति थी।

प्रकृति के प्रति प्रसाद की परिष्कृत मानवीय या रोमाटिक दृष्टि उन्हे कालिदास व अग्रेज कवियो के निकट लाती है, प्रकृति के माध्यम से रहस्य-अध्यात्म साधना की अभिव्यक्ति मे वे जायसी, रवीन्द्र, शैली व ब्राउनिग के, शुद्ध सौदर्य-चेतना की अभिव्यक्ति मे वे कीट्स के, परुष व प्रचड प्रकृति के प्रेम मे वे भवभूति व बायरन के तथा सास्कृतिक व्याख्या मे वे वड्र्सवर्थ के निकट है।

हम प्रसाद को द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता, रुक्षता, तथ्यकथनप्रियता का अतिक्रमण करके प्रकृति की नयी कोमल सवेदनाओ, मर्म पुलको व रहस्य-स्पर्शो का सरस व स्वस्थ-मृदुल कठ से गान करते हुए देखते हैं। प्रकृति की भूमि मे प्रसाद का यह योगदान काव्य-साहित्य के उपकरणो या तत्त्वों की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, ऐतिहासिक दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि हिदी मे प्रकृति का यह स्वर प्राय सर्वथा नवीन व अश्रुतपूर्व है।

इस प्रकार प्रसाद-साहित्य मे प्रकृति उपमान या उद्दीपन के सतही धरातल की ही वस्तु नही है। उसकी जडे गहरी है जो मानव-अस्तित्व की धरित्री का साग प्राण-रस खीचकर उसे चारो ओर बाहर प्रसारित कर रही है। वह साख्य की जड प्रकृति नही है। वह एक चेतन व परिपूर्ण सत्ता है। वह प्रसाद के रसवाद और आनदवाद का एक अत्यत बहुमूल्य उपादान एव उपकरण है।

संदर्भ

1 विशेष देखिए—प्रस्तुत लेखक की कृतिया 'आधुनिक हिदी कविता मे प्रेम और सौदर्य' (शोध प्रबध), पृ 226-232, 275-280, 299-309, 374-381, 416-425, 'कविता मे प्रकृति-चित्रण', पृ 115-118, 'आधुनिक हिदी कविता मे प्रकृति' (लेख), 'राष्ट्रवाणी', सितबर, 1960

2 डॉ आत्रेय प्रकृतिवाद पर्य्यालोचन, पृ 10

3 प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 342

4 ब्रह्मसूत्र, 2/1/1-10, 1/4/25

5 गीता, 7/4-6 7 9/8, 9/10

6 Nature commonly means the sum-total of events in space-time, or what can in principle become known by scientific method in the broadest sense —Dictionary of World Literature, p 278

"Nature is divinely appointed motivating and ordering power in things '
—Dictionary of World Literature, p 279

7 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1/9-10 4/5 4/10, 6/8 छादोग्योनिषद्, 3/14/1, 6/1/2-4 6/2/3, तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/7, 2/1 2/6—7 मुडकोपनिषद्, 1/1/6—7 3/1/3, विष्णुपुराण, 1/1/31

8 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 17

9 Dr K.C Pandey Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study p 298

10 Dr J N Sinha History of Indian Philosophy, vol II p 102

11 प्राचीन यूनान मे भी यह 'जगत् शारीरिक ब्रह्मवाद' विकसित हो चुका था। इस वाद पर भारतीय दर्शन की छाप थी। रामानुज दर्शन की तरह यूनानी स्तोइक दर्शन में यह माना गया है कि "ब्रह्म (ईश्वर) अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है, अर्थात् ब्रह्म और जगत् दो नही हैं, जगत् भगवान् का शरीर, एक सजीव शरीर है।"—वि दे राहुल साकृत्यायन का 'दर्शन-दिग्दर्शन', पृ 31-32

'the Cit (Individual Souls) and the Acit (non-sentient) divisions of the world could not be regarded as apart from the Parama Purusa, as they fromed his

body —'Sribhashya of Ramanuja' (Pooa)—Edited by R.D Karmarkar Part I Catuhsutri Introduction, p xxvii

12 वि दे—डॉ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ 145, तथा प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 468
13 ऐतरेय, उपनिषद्, 1-1-1-3, श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4-4-5 तैत्तिरीय उपनिषद् 2-6-7
14 श्वेताश्वतर उपनिषद् 4-6
15 वि दे—आचार्य शुक्ल सूरदास, पृ 114-15
16 ब्रह्मसूत्र, 1-4-26
17 वही, 1-4-27
18 वही, 2-1-33
19 वि. दे—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सूरदास, पृ 110-11
20 ईश्वरकृष्ण 'साख्यकारिका', कारिका 59-61
21 प बल्देव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 344-45
22 वही, पृ 343
23 ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका
24 वही, कारिका 21
25 वही, कारिका 57, भारतीय दर्शन, पृ 344
26 Dr J N Sinha History of Indian Philosophy, Vol II p 102 तथा प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 344-45
27 ब्रह्मसूत्र, 2/2/1 से 2/2/10 सूत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् 3/7/4, 4/5/6 छादोग्य उपनिषद् 6/1/4 मुडक उपनिषद् 1/2, 1/1/7 श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/8, 3/1/9 गीता 7/4-7 9-10
28 वि. दे—बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 342-45
29 चिति स्वतत्रा विश्व सिद्धि हेतु स्वेच्छया स्वभितौ रिस्वमुन्मीलयति प्रत्यभिज्ञाहृदयम् 1-2
30 दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमिवभाति। भाति विभागेनैव च परस्पर दर्पणादपि च॥ विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि। अन्योन्य च ततोपि च विभक्तभानाति जगदेतत्॥ —परमार्थसार, कारिका 12-13
31 "While the Vedanta holds that the universe (jagat) is unreal, the Realistic Idealism maintains it to be real, because it is a manifestation of the ultimate Therefore while according to the former, all that we know disappears at the time of self-realisation according to the latter the objective universe stands even when the self is realised but is known in its true perspective or in all its aspects of bearings' —Dr K C Pandey Abhinavagupta An Historical and Philosophical study, p 298
32 भारतीय दर्शन, पृ 588
33 Chatterji and Datta An Introduction to Indian Philosophy p 222
34 Ibid, p 252-253
35 हरवश सिह शास्त्री सौंदर्य विज्ञान, पृ 72 Will Durant Mansions of Philosophy p 56
36 Will Durant Mansions of Philosophy, p 78-82
37 R.G Collingwood. The Idea of Nature p 1-3
38 डॉ सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त सौंदर्य-तत्त्व, पृ 65 (डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित का हिंदी अनुवाद)
39 प. बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्य-शास्त्र, प्रथम खड, पृ 673
40 डॉ. आत्रेय प्रकृतिवाद पर्यालोचन (अभिभाषण), पृ 26
41 प. बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्य-शास्त्र, प्रथम खड, पृ 663, 670 तथा 679
42 'कालिदास ग्रथावली' (प सीताराम चतुर्वेदी-सपादित) में प करुणापति त्रिपाठी का 'कालिदास और प्रकृति' नामक लेख।

43 अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/1
44 प बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्य-शास्त्र, प्रथम खड, पृ 679
45 Paul Deussen The Philosophy of the Upnishads p 141
46 प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 641-42
47 चित्राधार, पृ 125
48 वही, पृ 125
49 वही, पृ 126-27
50 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 14
51 वही, पृ 149
52 वही, पृ 59
53 वही, पृ 59
54 वही, पृ 59
55 ककाल, पृ 236
56 वही, पृ 236
57 चित्रा, 117, ककाल, 223 विशाख, 42
58 चित्रा, 20
59 'तानसेन' कहानी
60 'चदा' कहानी
61 'चित्रमदिर' कहानी
62 कामना, 89
63 कानन, 41
64 वही, 94, वड्र्सवर्थ ने लिखा है—

"To me the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears " (Immortality Ode)

65 कानन, 48
66 कामायनी, 288
67 वही, 294
68 कानन, 92
69 वही, 13, ध्रुव 39,

' Little we see in Nature, that is ours,
We have given our hearts away, a sordid boon ' — Wordsworth

70 झरना, 28
71 कामना, 93
72 काव्य और कला तथा अन्य निबध, भूमिका, पृ 13
73 वही, पृ 16
74 Will Durant The Story of Philosophy, p 270
75 डॉ आत्रेय प्रकृतिवाद पर्य्यालोचन, पृ 11
76 वि. दे.—लेखक की रचनाए, आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौंदर्य', पृ 189-191, 'महाकवि प्रसाद', प्रकरण 4, 'कविता में प्रकृति-चित्रण', प्रकरण 2 'राष्ट्रवाणी' (सितम्वर '60) में प्रकाशित लेख—'आधुनिक हिंदी काव्य में प्रकृति'
77 साहित्यदर्पण, 6/322, काव्यादर्श, 1/16 काव्यालकार (भामह), 1/20
78 "प्राकृतिक दृश्य वर्णन मात्र को, चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे, हम काव्य कह सकते हैं।"—"मैं आलबन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हू।"—'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', चिन्तामणि, भाग 2
79 The powers requisite for the production of poetry are first, those of Observation

and Description—i e the ability to observe with accuracy things as they are in themselves, and with fidelity to describe them, unmodified by any passion of feeling existing in the mind of the describer Whether the things depicted be actually present to the senses or have a place only in memory —Quoted from George Saintsbury s—Loci Critici pl 301

80 The poetry of set description in which the poet undertakes to do with his pen what the landscape painter does with his brush '—W H Hudson 'An Introduction to the Study of Literature' p 327

81 But descriptive poetry has still to be recognised as a division of the poetry of nature —Ibid p 327

82 यह मत वस्तुत बडा विवादास्पद है। काव्य की मानव-जीवन-व्यापी चौडे पाट वाली गगा को इस प्रकार सीमित कर देना बहुत ही विचारणीय है। दृश्य-चित्रण-प्रेमी वर्ड्सवर्थ ने तो कहा है— Poetry is the breath and finer spirit of all knowledge, it is impassioned expression which is in the countenance of all science '—Loci Critici, p 275

83 "Descriptions then whether of physical beauty or of nature are, as such, outside the limits of the art of poetry —Worsfold 'The Principles of Criticism , p 109

84 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' नामक लेख, चिन्तामणि, भाग 2

85 'A poetical picture is not necessarily one which can be converted into a material picture"—Worsfold 'Principles of Criticism p 105

86 R A Scott-James The Making of Literature' p 188

87 because a poetic picture is not the same thing as an 'artistic' picture —Worsfold Principles of Criticism p 104

88 " as a means of representing a landscape or a figure, poetry is inferior to painting —Ibid p 107

89 'The art of pen is to arouse the inward vision, instead of labouring with a drop-scene brush That is why the poets, who spring imagination with a word or a phrase paint lasting pictures The Shakespearian the Dantesque, are in a line, two at most ' —Ibid p 109

90 ' may doubtless borrow much that belongs more obviously to another, but he cannot borrow his medium ' Painter and poet express not the material detail of the practical world, but their own single state of mind —R.A Scott-James 'The Making of Literature ' p 188

91 R.A Scott-James The Making of Literature, p 188

92 who could take offence, while pure description held the place of sense " (Pope) —quoted from R.A Scott-James The Making of Literature , p 188

93 "It could not be gauged by any quantity or number but by something invisible and deep ' —Tagore Personality', p 23· also, 'To get to the heart of things where they are One', Ibid , p 23

94 "If you ask me to draw some particular tree and I am no artist I try to copy every detail, lest I should otherwise lose the peculiarity of the tree, forgetting that the peculiarity is not the personality But when the true artist comes, he overlooks all details and gets into the essential characterisation"—Tagore 'Personality', p 23

95 "कलाकार फोटो नही खींचता। वह प्रकृति की अनुकृति नही करता।—शब्दो का प्रयोग भी ऐसा होता है कि बुद्धि ब्योरे की बातों में न उलझकर उसी तत्त्व पर टिके, जहा कवि उसे जमाना चाहता है।" —डॉ. सम्पूर्णानन्द चिद्विलास, पृ. 212

96 "I do not give you my experience of looking at a landscape if my words merely represent what I have seen, nor if they merely represent my feelings if this

experience is to be matter of literature it must be experience whole and entire both what I saw and what I felt in perfect combination —L Abercrombie Principles of Literary Criticism p 34

97 R A Scott-James 'The Making of Literature p 188
98 चन्दा, चक्रवर्ती का स्तम्भ, ममता, प्रतिध्वनि आदि कहानिया
99 ग्राम, गुलाम, दुखिया, पुरस्कार, अपराधी, प्रणयचिह्न आदि कहानिया, ककाल, पृष्ठ 31, 89 164
100 अघोरी का मोह, सहयोग, उस पार का योगी, आकाशदीप, बनजारा कहानिया, ककाल, 38, जनमे, पृ 72 कामायनी, 'आशा' सर्ग, चित्रा, पृ 144
101 'अघोरी का मोह'
102 'भिखारिन'
103 तानसेन, चन्दा, रसिया बालम, अशोक, खडहर की लिपि, प्रतिध्वनि, देवदामी, देवरथ, नूरी, सालवती कहानिया
104 ककाल, 146, कामायनी, 'आशा' सर्ग का आरभ
105 अनेक कहानिया
106 ककाल, पृ 92 109, बिसाती कहानी, लहर, पृ 44
107 कामा., 'दर्शन' सर्ग
108 ककाल, पृ 227
109 'बिसाती' कहानी
110 ककाल, पृ 212
111 लहर, पृ 44, ककाल पृ 92 109
112 कामा., पृ 64, 64
113 ककाल, पृ 91
114 'आकाशदीप' कहानी
115 कामा., पृ 64 ककाल, पृ 246 247
116 ककाल, पृ 209, 246, 247
117 महा., पृ 1-2
118 ककाल, पृ 115
119 तितली, पृ 137
120 वही, पृ 10
121 वही, पृ 77
122 इरा., पृ 44
123 वही, पृ 37
124 ध्रुव., पृ 53
125 कानन., पृ 25
126 वही, पृ 144
127 चित्रा., पृ 2
128 वही, पृ 55, कामा., पृ 1
129 ककाल, पृ 38
130 इन्द्र., पृ 123
131 वही, पृ 111
132 तितली, पृ 220
133 ककाल, पृ 112
134 वही पृ 149, 180, 271
135 तितली, पृ 10
136 वही, पृ 152
137 इरा., पृ 50
138 ध्रुव., पृ 1

139 कानन, पृ 18 चन्द्र, पृ 71
140 इन्द्र, पृ 90
141 चित्रा, पृ 11
142 ककाल, पृ 112
143 लहर, पृ 40
144 वही, पृ 44
145 वही, पृ 59
146 वही, पृ 56
147 कानन, पृ 19
148 वही, पृ 35
149 वही, पृ 83
150 वही, पृ 104
151 चित्रा, पृ 55
152 वही, पृ 172
153 कामा, स्वप्न सर्ग, चित्रा, पृ 173
154 तितली, पृ 11, 137
155 इरा, पृ 72
156 कानन, पृ 38
157 वही, पृ 54
158 वही, पृ 67
159 वही, पृ 124
160 कामा (प्रथम सर्ग) लहर की अनेक कविताए (पृ 14 15, 26), मदनमृणालिनी, प्रलय, आकाशदीप, समुद्र सन्तरण, देवरथ, अनबोला आदि कहानिया
161 मदनमृणालिनी, समुद्र सन्तरण आदि कहानिया
162 कामा, प्रथम सर्ग, 'प्रलय' तथा 'आकाशदीप' आदि कहानिया
163 इरा, पृ 20, लहर पृ 61, कामा, पृ 5, झरना, पृ 43
164 कामा, पृ 34, 39, 40, 65
165 लहर पृ 25, 45
166 कामायनी, आशा सर्ग स्वप्न सर्ग, सुनहला साप, हिमालय का पथिक, बनजारा आदि कहानिया
167 ककाल, पृ 194
168 'प्रणय चिह्न' कहानी प्रेम, पृ 15
169 वही
170 ककाल, पृ 38, 201, एक घूट पृ 25, तितली, पृ 192
171 तितली, पृ 65
172 इन्द्र, पृ 123
173 वही, पृ 119
174 वही, पृ 118, तितली, पृ 94
175 ध्रुव, पृ 53
176 इरा, पृ 50, आधी, पृ 48
177 कामा, पृ 223
178 तितली, पृ 77
179 वही, पृ 164
180 इरा, पृ. 50
181 वही, पृ. 70
182 तितली, पृ 137

183 वही, पृ 10
184 'नील' वर्ण प्रसाद को अत्यधिक प्रिय है। प्रसाद की प्राय प्रत्येक रचना में दूर-पास इस शब्द का प्रयोग मिलता है। वर्ण के साथ व्यक्ति के मनोविधान का घनिष्ठ सबध रहता है। इस शब्द के भूरिश उपयोग के आधार पर प्रसाद का मनोविश्लेषण एक रोचक विषय है। देखिए—'Encyclopaedia Brittanica', 14th edition p 272
185 कानन, पृ 67
186 आकाशदीप, पृ 97
187 ध्रुव, पृ 54
188 'करुणा की विजय' कहानी
189 छाया, पृ 24
190 तितली, पृ 86
191 ककाल, पृ 201
192 तितली, पृ 159
193 वही, पृ196
194 ककाल, पृ 233
195 लहर, पृ 15 49
196 प्रेम, पृ 1
197 तितली, पृ 2
198 'आकाशदीप' कहानी
199 प्रति, पृ 20
200 आकाश, पृ 27
201 वही, पृ25
202 'शरणागत' कहानी
203 झरना, पृ 5
204 इन्द्र, पृ 76
205 लहर, पृ 15
206 तितली, पृ 196
207 इन्द्र, पृ 90 इरा, पृ 62, लहर पृ 32, आकाश, पृ 104, कामा, पृ 277
208 आधी, पृ 37
209 'तानसेन' कहानी
210 वही
211 इन्द्र, पृ 90
212 ककाल, पृ 201
213 लहर, पृ 26, झरना, पृ 20, आधी, पृ 34
214 चित्रा, पृ 160
215 'प्रलय' कहानी
216 इरा, पृ 79
217 आकाश, पृ 27
218 कानन, पृ 24
219 इरा, पृ 80
220 चित्रा, पृ 163
221 लहर, 27
222 इरा, पृ 90
223 कामा, पृ 284
224 Fvõ, He= 76

225 कानन, पृ 43
226 आधी, पृ 41
227 झरना, पृ 5
228 'चन्द्रगुप्त' नाटक
229 आसू, पृ 54
230 श्रद्धा का रूप-सौंदर्य वर्णन
231 एक घूट, पृ 21
232 कानन, पृ 34
233 तितली, पृ 9, 10, 127
234 ककाल, पृ 87, 93 99
235 चित्रा, पृ 35 163
236 इरा, पृ 50
237 ककाल, पृ 199
238 वही, पृ 164
239 तितली, पृ 272
240 कामा, पृ 65
241 वही, पृ 178
242 आधी, पृ 89
243 आकाश, पृ 108
244 आधी, पृ 112
245 कामा, पृ 9
246 आकाश, पृ 25
247 लहर, पृ 59
248 आकाश, पृ 30
249 अजात, पृ 44
250 वही
251 कानन, पृ 13, प्रेम, पृ 1-4
252 'That simple, spontaneous unreflecting pleasure which all unsophesticated beings feel in free open—air life "
"fresh child—like delight in nature"—J C Shairp (quoted from W H Hudson's 'An Introduction to the study of Literature', p 320)
253 विशाख, पृ 32
254 वही, पृ 42
255 वही, पृ 74
256 चन्द्र, पृ 100
257 जनमे, पृ 24
258 वही, पृ 47
259 'पुरस्कार' कहानी
260 ध्रुव, पृ 53
261 ककाल, पृ. 88
262 वही, पृ 262
263 राज्य, पृ 4
264 कामा, पृ. 16
265 वही, पृ 44, 109
266 वही, पृ 4-5
267 विशाख, पृ 12

268 वही, पृ 51
269 तितली, पृ 216
270 'रमला' कहानी।
271 आधी, पृ 44, 76, 83, 85
272 देखिए, आकाश, पृ 7, 25, 26, 97, 167 इन्द्र. पृ 113
273 आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र हिंदी का सामयिक साहित्य, पृ 117
274 वही, पृ 177
275 विशेष आगे 'प्रसाद की कला' नामक प्रकरण में विवेचित होगा।
276 चित्रा, पृ 161
277 प विश्वनाथप्रसाद मिश्र हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृ 178
278 "A symbol, I take it, is what we use to express meaningfulness in a permanent way which cannot be expressed in direct words or formulas of words with any completeness , a symbol is a cumulus of meaning which, once established attracts further meanings to it until, overloaded, it collapses" –Richard P Blackmur quoted from 'Literary Criticism in America', p 325-326
279 देखिए, 'लहर', पृ 40–47
280 हिंदी का सामयिक साहित्य, पृ 179
281 जयशकर प्रसाद, पृ 69
282 कानन, पृ 36-37, कामा, पृ 52, चन्द्र, पृ 217
283 प्रेम, पृ 7, 22, आसू, पृ 47
284 ध्रुव, पृ 5, 38
285 कामा, पृ 3, लहर, पृ 59, कामा, 'लज्जा' सर्ग का आरभ।
286 प्रति, पृ 24
287 वही, पृ 39
288 वही, पृ 46, 55, छाया, पृ 1, कामा, पृ 39, कानन, पृ 33
289 ध्वन्यालोक, पृ 3/43 की वृत्ति (दे 'हिन्दी ध्वन्यालोक', पृ 422-423
290 कामायनी, आशा सर्ग, प्रेम, आरभ, महा, आरभ, तथा, 'आकाशदीप' की अधिकाश कहानियों का आरभ।
291 वि. दे.—'सेठ गोविन्ददास ग्रथ' में प्रस्तुत लेखक का लेख—'प्रसाद के नाटक'।
292 कानन, 13 इसी भाव-भूमिका पर प्रकृति की सत्ता के साथ एकाकार होने वाले कवि वर्ड्सवर्थ के भी इसी प्रकार के उद्गार प्राप्त हैं। मिलाइए

"The world is too much with us, late and sooon
Getting and spending we lay waste our powers,
Little we see in nature, that is ours
We have given our hearts away, a sordid boon –Wordsworth

293 कामा, पृ 4, 5, 11, विशाख, पृ 12, 39, चित्रा, पृ 24
294 कामा, पृ 19, 20, 28, 29, 40, 52, 79
295 लहर, पृ 26, 27, 61, विशाख, पृ 42
296 कामा, आनद सर्ग।
297 "The experience of the mystics are another matter which none but mystics know But it enters into the thought of so many of our great poets that no serious student of poetry can afford to ignore it" –W B Entwistle The Study of Poetry, p 267
298 " he who, falling in love with nature, sees the landscape 'touched with light divine' all these (lover of a woman, lover of nature, lover of the Holy) have truly known for an instant something of the secret of the world" –Evelyn Underhill Mysticism p 73

299 करुणा, पृ 13
300 कामा, पृ 20
301 अजात, पृ 86
302 'समुद्र सन्तरण' कहानी
303 ककाल, पृ 215
304 कामा, आशा सर्ग, अजात, पृ 86
305 कामा, पृ 4, 5, 13, आधी, पृ 22, चित्रवाले पत्थर (इन्द्र), पृ 73
306 कामा, 1, 14, 25 ध्रुव 5, 38
307 वि दे—जयशकर प्रसाद, पृ 58, 59, 61, 62, 63
308 इस सबध में आचार्य वाजपेयीजी से हमने अपनी जिज्ञासा की थी। उत्तर सहित वह यहा प्रस्तुत है—

प्रश्न प्रकृति के माध्यम से व्यक्त अज्ञात के प्रति जिज्ञासा-भाव प्रकृति-विषयक कवि-चेतना की किस अवस्था का द्योतक है? क्या प्रकृति के प्रति कवि का पूर्ण तादात्म्य उस विकास-सरणि के दार्शनिक जिज्ञासात्मक उत्कर्ष का द्योतक नहीं है जो इद्रिय सौख्य या प्रेयानुभूति से आरभ होती है? प्रेयानुभूति >अदृश्य सत्ता का प्रकृति में प्रतीक-रूप से दर्शन>दार्शनिक जिज्ञासा—क्या यह विकास-क्रम प्रकृति-विषयक कवि-चेतना के विकास का निसर्ग-सिद्ध रूप है? सभवत वर्ड्सवर्थ की विकास-सरणि यही रही है। आपके विचार में, इस दृष्टि से रहस्यवादी दार्शनिक कवि प्रसाद की स्थिति कैसी मानी जानी चाहिए?

उत्तर प्रकृति-विषयक प्रसाद की रचनाओ में सौंदर्य के प्रति आकर्षण और उस सौंदर्य के विषय की तात्त्विक जिज्ञासा तो मिलती है, परतु प्रकृति के प्रति रहस्यवादियो का सर्वात्मवादी दृष्टिकोण प्रसाद में विकसित नही हुआ है। इसीलिए कहा गया है कि प्रसाद मुख्यत मानव और मानवीय भावनाओं के कवि हैं। वर्ड्सवर्थ का प्रकृति-सबधी दृष्टिकोण कदाचित् अधिक गभीर और रहस्योन्मुख है। प्रसाद का रहस्यवाद मानव-अनुभूतियों पर अधिक आश्रित है—प्रकृति पर कम (अनुमतिपूर्वक साभार उद्धृत)

309 दे—इस प्रकरण मे 'आलबन' का विवेचन, तथा 'सेठ गोविन्ददास अभिनदन-ग्रथ' में हमारा लेख—'प्रसाद के नाटक' ('चरित्र-चित्रण' शीर्षक के अतर्गत प्रकृति का विवेचन)
310 आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक काव्य-रचना और विचार, पृ 68, 108, 111

सप्तम प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में सौदर्य

प्रकरण-प्रवेश

प्रकरण-सगति

मानव-जीवन के सार्वभौम सार्वकालिक मौलिक मूल्यो (सत्य, शिव व सुदर) मे से सौदर्य का स्थान अत्यत उच्च है। भारतीय दार्शनिक चिता मे सत्, चित् व आनद नामक ब्रह्म के तीन स्वरूपो मे से 'आनद' स्वरूप उसके चरम विकसित रूप का द्योतक समझा जाता है, क्योकि सत्ता व चेतना वस्तुत आनद-रूप के विकास मे ही अपने को आशयपूर्ण या सार्थक करती है।[1] आनद और सौदर्य का घनिष्ठतम सबध है। आत्मानुभव की सर्वोच्च स्थिति या सार आनद है और यह आनद-भावना ही सर्वत्र सौंदर्य का दर्शन कराती है। वास्तविक सौदर्य का दर्शन हममें अनिवार्यत आनद-भावना का सचार करता है। तात्पर्य यह कि भारतीय जीवन-दृष्टि सौंदर्य को अत्यत उच्च स्थान देती है। सौंदर्यानुभूति आत्मानुभूति के साथ समवाय सबध से निवास करती है। सौदर्य जीवन के स्थायी व शाश्वत प्रेरणा-स्रोतों में से एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। वह मानव-सस्कृति का एक सक्रिय तत्त्व है।

वस्तु-जगत् का सौंदर्य साहित्यिक रस की निष्पत्ति के लिए वस्तु-व्यापारों के वर्णन या चित्रण के प्रसग में साहित्य में भी निरूपित किया जाता है। अत सौंदर्य साहित्य का भी एक शीर्षस्थानीय विषय है। इसके अतिरिक्त साहित्य-निर्माण और आस्वादन की प्रक्रिया में वही बाह्य जगत् का सौदर्य कल्पना द्वारा साहित्य में पहुचकर तथा कलागत सौंदर्य की सज्ञा धारण कर अद्‌भुत आनद का जनक होता है। साहित्य मे सौंदर्य का प्रसार वर्ण्य वस्तु से लेकर शैली के सूक्ष्मतम उपकरणों तक प्रवर्त्तमान रहता है।

प्रसाद-साहित्य में सौदर्य की स्थिति अनेक रूपों में प्राप्त होती है—साहित्य-प्रेरणा के रूप में, वस्तु के रूप में और कला या शैली के उपकरण के रूप में।

ऐसे गभीर विषय का समावेश प्रस्तुत प्रबंध की योजना में अनिवार्य रूप से महत्त्वपूर्ण है।

यों तो रस-विचार के प्रसग में आश्रय की भावना तथा आलबन (जिसमें उसका रूप, शील, चेष्टा-व्यापार, सब कुछ सम्मिलित है) के गुण-धर्म में निहित सौंदर्य का विचार सहज समाविष्ट है, किंतु प्रसाद-साहित्य में सौंदर्य-तत्त्व की मौलिक व सूक्ष्म चिंता तथा सौंदर्य का विविध अधिष्ठानों में विविध स्तर का चित्रण या वर्णन इतना बहुविध व विशाल है कि सौंदर्य का विचार एक स्वतत्र प्रकरण का अधिकारी जान पड़ता है। साहित्यमात्र में उसका महत्त्व,

छायावाद मे उसका विशिष्ट माहात्म्य और प्रसाद-साहित्य मे उसका उक्त निर्दिष्ट महत्त्व व विस्तार इस निर्णय के औचित्य को स्पष्ट करेगा।

प्रतिपाद्य की विषय-सीमा

सौदर्य का स्वरूप और सौदर्यानुभव की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया इतनी विशद और जटिल है कि वह सक्षिप्त परिचय मात्र के लिए भी विस्तार की अपेक्षा रखती है, प्रस्तुत प्रबध की परिधि मे यह सभव नही। अत सौंदर्य-तत्त्व की केद्रीय व अति सक्षिप्त चर्चा, जितनी कि प्रसाद के सौंदर्य-निरूपण के लिए अत्यावश्यक आधार या पृष्ठभूमि के रूप में अपेक्षित है और जो प्राय सामान्य रूप से सर्वस्वीकृत है, करके तुरत ही हम प्रकरण के मुख्य प्रतिपाद्य को उठाएगे।

साहित्य-क्षेत्र मे कुछ अतिवादी विचार-सरणियों मे, 'सौंदर्य' की परिधि प्राय कलागत सौदर्य तक ही सीमित रहती है (जिसका समावेश प्रस्तुत प्रबध के अन्य प्रकरणों में किया गया है), उनमें वस्तु-क्षेत्र का सौंदर्य-साहित्य का निजी सौंदर्य नही समझा जाता। उनकी दृष्टि में भौतिक जगत् के पदार्थ जब मनोविज्ञान की प्रक्रिया से कल्पना से समन्वित होकर सौंदर्यात्मक या आध्यात्मिक हो जाते हैं तभी वे सुदर समझे जाते हैं, अन्यथा नही। इस चितन-प्रणाली के अनुसार तो जीवन के वस्तु-व्यापारो का सौदर्य साहित्य का विचारणीय विषय ही नही।[2] पर भारतीय दर्शन से प्रेरित भारतीय साहित्यिक विचारधारा कुछ भिन्न रही है। पदार्थ-जगत् के या प्रकृति के पदार्थ भी ब्रह्म के सगुण पक्ष मे सम्मिलित किये जाते हैं, अत ब्रह्म के नाते इनकी सत्ता भी स्वीकार्य ठहरायी गयी है। प्रसाद जिस दार्शनिक भूमिका (शैवागम प्रत्यभिज्ञा दर्शन) पर स्थायी रूप से अवस्थित हैं, उसके अनुसार भी सृष्टि या प्रकृति के सगुण रूप किसी प्रकार हेय या उपेक्षणीय नही। पश्चिम मे ईसाई भावना के अनुसार भले ही 'कलुषित और मूर्त्त ससार निम्न कोटि में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्च कोटि में माना गया हो,[3] पर भारतीय तत्त्वचिता ने इस प्रकार के भेद को कभी प्रश्रय नही दिया।[4] अत मानव व प्रकृति का सौंदर्य भी साहित्य-चिता की प्रकृत भूमि के अतर्गत है। फिर साहित्य तो वस्तु (आलबन) की उपेक्षा करके चल ही नही सकता, क्योंकि आलबन ही उस रस-निष्पति का प्रस्थान-बिंदु है जो भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य का प्राण-तत्त्व कहा गया है। वस्तु की सत्ता ही यदि स्वीकार्य नही, तो रस का सारा मार्ग ही अवरुद्ध है। यद्यपि भारतीय साहित्याचार्यों ने रस, ध्वनि, अलकार, गुण, रीति, औचित्य आदि को ही कलागत सौंदर्य का मुख्य क्षेत्र ठहराया है पर वे कभी अतिवादी नही हुए। वस्तु की महत्ता उन्होंने काव्य-विषय के अतर्गत सर्वत्र स्वीकार की है। आनदवर्द्धन की 'वस्तु ध्वनि' इसका प्रमाण है। 'पानक रस' कहने से स्पष्ट ही है कि काव्य की आधारभूत वस्तु लौकिक या भौतिक ही है। सौंदर्य के नाम पर वे मानव या प्रकृति आदि के सौंदर्य को भुलाकर कभी नही चले। दार्शनिक दृष्टि से वस्तु की सत्ता की स्वीकृति में सच्चिदानद ब्रह्म के आनद स्वरूप का समावेश स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि स्वय वस्तु जगत् या प्रकृति का भी अपना निजी सौंदर्य है, उसे सौंदर्य से सर्वथा शून्य कहना सभव नहीं है।

सौंदर्य का समस्त विषय मोटे तौर से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है · शारीरिक सौंदर्य, मानसिक सौंदर्य, प्राकृतिक सौंदर्य और कलागत सौंदर्य। प्रस्तुत प्रकरण में

मुख्यत शारीरिक सौंदर्य की ही विवेचना होगी, मानसिक सौंदर्य का विचार इस प्रबध के रस प्रकरण मे, प्राकृतिक सौंदर्य का प्रकृति-विषयक प्रकरण मे और कलागत सौंदर्य का साहित्य-रूप और कला-विषयक प्रकरणों में किया गया है।

सौंदर्य-विषयक चिता की सब ग्रथिल जटिलताओ को बचाते हुए अब हम सौंदर्य सबधी कुछ अति आवश्यक चर्चा करेंगे।[5]

प्रसाद-युग में सौंदर्य की नवीन चेतना का उन्मेष और उसकी कारणभूत परिस्थितिया

सौंदर्य के क्षेत्र में प्रसाद की देन को भली भाति समझने के लिए तत्कालीन तद्विषयक परिस्थितियों पर दृष्टिपात आवश्यक है।

यो तो सौंदर्य एक शाश्वत उपकरण है और उसका अनुभव करनेवाला मानव-मन सदा ही विद्यमान रहता है, पर व्यक्ति-मन के अधिष्ठान की तरह प्रत्येक युग मे एक नई सौंदर्य-दृष्टि भी बराबर विकसित होती चलती है जो पूर्व-युगीन सौंदर्य-दृष्टि का उत्कर्ष या अपकर्ष सूचित करती है। एक युग जिस वस्तु, स्थान या प्रसग में सौंदर्य नही देखता, वहा दूसरा युग समृद्ध नवीन जातीय अनुभव-शृखला के प्रकाश में उसमें सौंदर्य देखने लगता है अथवा इसके विपरीत होता है। उदाहरणार्थ, बौद्धकाल में रगशाला का आनद दु'खवादी भिक्षुओ के लिए निदनीय था न नर्त्तन का रस लेनेवाले भिक्षु दडनीय थे।[6] किंतु जीवन को आनदमूलक माननेवाले आर्यों ने रगशाला के आनद से अपने को वचित नही किया। इसी प्रकार प्रसाद के युग में भी रीतिकाल तथा द्विवेदीकाल की सौंदर्य-दृष्टि की प्रतिक्रिया में एक नवीन सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेष हुआ। सम्राट् हर्षवर्द्धन के पश्चात् से ही देश एक सुदीर्घ राजनीतिक, बौद्धिक, प्रशासनिक व सास्कृतिक शृखला से निकलता हुआ किस प्रकार सौंदर्य, आनद और उल्लास की मूल दृष्टि से विच्युत होकर वर्जनामूलक अपने निरानद अस्तित्व को ढोता जा रह था, यह कहने की आवश्यकता नही। अपनी राजनीतिक-सास्कृतिक स्थिति के परिष्कार की दिशा में प्रयत्नशील जाति के लिए उपाय-रूप में, सीमातीत रूप में आत्म-सयम या आत्म-दमन (जो मनोविज्ञान की दृष्टि से अस्वस्थ है) के नियमों में सुधार-सशोधन प्राय आवश्यक हो जाता है, पर जान-अनजान में कालातर में कठोर साधन-नियम हमारी मूल चेतना व जीवन-दृष्टि (जो सर्वत्र सौंदर्य व आनद का साक्षात्कार चाहती है) को सौंदर्य मात्र की ओर से (विशेषत नारी सौंदर्य की ओर से) सर्वथा अचेत व सुन्न कर देते हैं, फिर तो हम सौंदर्य की सहज सराहना में भी अनैतिकता को सूघ कोरे नीतिवादी या आदर्शवादी होने के दभ से ही सुखी रहने लगते हैं। स्वस्थ मन-प्राण वाली एक जीवित जाति के लिए यह एक भयकर सास्कृतिक व्याधि या रुग्णता है—विशेषत· जिसका अतीत कला-सौंदर्य के क्षेत्र में विश्वमान्य उदात्त सर्जनाए कर चुका हो। प्रसाद ने हमारी इस जातीय-सास्कृतिक क्षति व भावात्मक क्लैव्य को भली भांति पहचाना और उन्होंने प्राणपण से इसका उपचार करने का उद्योग किया। परिणामस्वरूप एक नवीन व गभीर सौंदर्य-चेतना का जन्म हुआ। निश्चय ही इस दृष्टि के आविर्भाव में अनेक राष्ट्रीय-अतर्राष्ट्रीय प्रभाव व परिस्थितिया सक्रिय थी। उन सबको अपनी निजी सृजन-चेतना में आत्मसात् कर प्रसाद ने अपने ढग से उस नवीन सौंदर्य-दृष्टि को जन्म देने और हिंदी के

आगन को आनदोल्लासपूर्ण करने में भरपूर योगदान किया।

हिदी के रीतिकालीन काव्य में नारी-सौंदर्य का जो स्थूल रूप आकलित हुआ, वह अपनी निर्जीव एकधृष्टता के अतिरेक में सौंदर्य के नवीन धरातलो और नवीन ऊर्जाओं का आह्वान कर रहा था। रीतिकाल का नारी-सौदर्य द्विवेदीकाल मे आकर, नैतिकता के आतक से वासना-विरत तो हो गया, पर वह युगीन नैतिक जड मर्यादाओं में ऐसा परिबद्ध हुआ कि वह भौतिक-आध्यात्मिक की कृत्रिम दीवारे तोडते हुए सहज मानवता की भूमि पर, अब भी अपने मूल तत्त्वों में खुलकर सांस न ले सका। रामकृष्ण, विवेकानद, रामतीर्थ, दयानद, तिलक व गाधी आदि युगपुरुषो ने जीवन-तत्त्वों का यथाक्रम व यथास्थान स्थापन करते हुए जीवन व अध्यात्म के स्वरूप की अपने-अपने ढग से ऐसी मौलिक व नवीन व्याख्या की कि हम रूढ वैचारिक कठघरे से निकलकर स्वच्छद रूप से सोचने-विचारने के लिए प्राथमिक आवश्यकता-स्वरूप मुक्ति का अनुभव करने लगे। स्वच्छद होकर सौंदर्य-तत्त्व का पुनराख्यान करने के लिए यह भूमिका कम महत्त्व की नही थी। अवश्य ही द्विवेदी काल का सौंदर्य-चितन बहुत सतोषजनक नही है, दयानद की नैतिकता व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी का कठोर शासन—उसके कारण अवश्य बताये जाते हैं पर विचार करने पर जान पडेगा कि द्विवेदीकाल में हम सौंदर्य-चितन में उस भूमि पर अवश्य ही आ चुके है जहा से हमार लक्ष्य की ओर अभियान इतना सरल-सभव हो सका है। नवीनतम सौंदर्य-दृष्टि की प्राप्ति या सिद्धि में द्विवेदी-युग का उद्योग नगण्य नही ठहराया जा सकता।[7] फिर नवीन सौंदर्य-दृष्टि के उन्मेष में फ्रास और इग्लैंड के स्वाभाविक स्वच्छदतावादी काव्य का सही-सही महत्त्व समझना आवश्यक होगा। प्रकृति और मानव के सहज सौंदर्य को जितनी ललक व उत्साह के साथ इस काव्य में स्वीकार किया गया, वह सुविदित है। इसी के साथ हम मानव सौंदर्य या प्रकृति सौंदर्य के उस विशेष व्यजन को भी न भूलें जो कल्पना कहलाता है और काट, कालरिज, क्रोचे आदि विद्वानों व कवियों द्वारा जिसकी गहन मीमासा होने पर हम नवीन सौंदर्य के केंद्रीय मर्म को अधिक स्पष्ट समझ पाए हैं। सौंदर्य-दृष्टि के इस नवीन उन्मेष में युग की भावात्मक आदर्शवादिता (जो नवीन सास्कृतिक उत्थान के साथ जगे भारत के स्वर्णिम अतीत के प्रति दृढ विश्वास से प्रसूत है) व वृत्ति की स्वच्छदता (जो छायावाद के आदोलन का प्राण है) का भी कम हाथ नही है।

हिंदी में यह आदर्शवाद पहली बार नारी को पूर्ण सहृदयता के साथ अत्यत ऊचा स्थान देकर उसके शारीरिक सौंदर्य व आत्मिक गरिमा का शत-शत कठों से विह्वल गान गा लेना चाहता है। व्यापक स्वच्छदता की नवीन वृत्ति ने स्वच्छद भाव से नारी के नैसर्गिक सौंदर्य की अबाध चर्वणा करने की प्रेरणा हिंदी कवि को पहली बार प्रदान की। रवीन्द्र की 'गीताजलि' ने नारी सौंदर्य-विषयक इस नयी चेतना को काव्य-जगत् में विकसित व समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। परपरा, विचार और आदर्श की ऐसी जलवायु में प्रसाद का हिंदी में आविर्भाव होता है।

जहां प्रसाद ने भावात्मक आदर्श प्रस्तुत किये हैं, वहा उन्होंने सौंदर्य जैसे सूक्ष्म विषय पर यथार्थवादी देमोक्रतु व कणाद की तरह तत्त्व-चिंता करते हुए अणुओं को ही सृष्टि-विकास के मूल में माना। प्रसाद अपनी सौंदर्य-चिंता में भी अणुओं से ही चले हैं। पर प्रसाद की कल्पना में, कार्य-व्यापारशील सृष्टि का निर्माण करनेवाले ये सूक्ष्म, अविभाज्य अणु-परमाणु

कोरे जड नही है, वे चेतना या जीवनी-शक्ति से सपन्न हैं।[8] सृष्टि-निर्माण के लिए ललकते व उद्योग-निरत अणुओ की मूल चेतना व्यक्त करते हुए व उनका मानवीकरण करते हुए प्रसाद लिखते है—

वह मूल शक्ति उठ खडी हुई अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड पडे जिसका सुदर अनुराग लिये।
कुकुम का चूर्ण उडाते-से मिलने को गले ललकते-से,
अतरिक्ष के मधु उत्सव में विद्युत्कण मिले झलकते से।

—कामायनी, काम सर्ग

प्रसाद सृष्टि के मूल मे काम की ही प्रेरणा मानते है जो सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेष करती है। वे सौदर्य को प्रकृति का एक अलभ्य दान मानते हैं और इस नाते उसका सोल्लास अभिनदन करते है। वे आदिम आर्यो की तरह सौदर्यपूजक है और उससे शक्ति, आनद व उल्लास ग्रहण करते है। सौदर्य जड नही है, वह चेतन आत्मा की उच्छल अभिव्यक्ति है। जड आदर्शवादियों व अस्वाभाविक जीवन-प्रणालियो के पुरस्कर्त्ताओ से लड-झगडकर उन्होने जीवन मे मानवीय सौदर्य व प्रेम की नये सिरे से प्रतिष्ठा की है। स्वस्थ काम, सौदर्य और प्रेम को जीवन की विशद योजना में समुचित स्थान दिलाने को उन्होंने अपने साहित्य मे क्राति मचायी है। इतना ही नही, अपनी भावना या धारणा के अकाट्य पोषण के लिए वे शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) से वह दृष्टि लाये है जो आध्यात्मिक व भौतिक जैसा कोई भेद नही मानती और सर्वत्र शिव, चिति, आनद का ही दर्शन करती है। नारी के सौदर्य मे भी वही चिति अभिव्यक्त हो रही है। नारी का सौदर्य हेय, त्याज्य या घृणास्पद नही, नारी के सौदर्य मे शिव ही विश्वात्मक रूप मे सर्वत्र व्याप्त है। प्रसाद सबसे पहले लेखक है जिन्होने सौदर्य को इस उदात्त भूमिका पर उठाकर जीवन-योजना में उसका असदिग्ध महत्त्व-स्थापन किया है।

सौदर्य का स्वरूप

प्रसाद द्वारा निरूपित सौंदर्य पर विस्तार से विचार करने से पूर्व सौंदर्य के स्वरूप से अवगत होना आवश्यक है, क्योकि वही प्रसाद की उपलब्धियो को आकने का उचित व व्यापक निकष प्रदान करेगा।

सौदर्य क्या है? वह बाह्य पदार्थों का गुण-धर्म मात्र है अथवा एक निरूपाधिक मानसिक भावना, अथवा उन दोनो का एक मिश्रित परिणाम? सौदर्य एक सार्वजनीन और सार्वकालिक अनुभूति है, अत धर्म, दर्शन, कला, मनोविज्ञान, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में अपने-अपने ढग पर इसकी चर्चा मिलेगी। परिणामस्वरूप स्थूल वस्तु या देह के प्रत्यक्ष गुण-धर्म और उपयोगिता से लेकर आत्मा (यदि कोई ऐसी वस्तु है) के प्रदेश की सूक्ष्मतम या निराकार भावना तक—इन दो सुदूर छोरों के बीच इस अनुभूति का विस्तार सौदर्य-विषयक शास्त्र-चिता मे देखा जा सकता है। इस विषय पर इतना व्यापक और तीव्र मतभेद है कि सौंदर्य के स्वरूप का अतिम या सर्वमान्य निर्णय सर्वथा असभव है। सौदर्य-विषयक विचारकों को तीन स्पष्ट वर्गों मे रखा जा सकता है—(1) वे यथार्थवादी,

भौतिकवादी या पदार्थवादी विचारक जो प्रेय-पक्ष को महत्त्व देते हुए सौदर्य को मुख्यत व्यक्त वस्तुओं व व्यक्तियो के रूप-रग, आकार-प्रकार आदि तक ही सीमित रखते है, (2) वे आदर्शवादी, अध्यात्मवादी या चेतनावादी विचारक जो श्रेय पक्ष को महत्त्व देते हुए सौदर्य को अतःकरण, हृदय या आत्मा मे ही मानते है, और (3) वे समन्वयवादी विचारक जो बाहर-भीतर के झमेले को छोडकर बाहरी पदार्थ और भीतरी भावना के एक विशिष्ट सबध या क्रिया-प्रतिक्रिया में ही सौदर्य की सत्ता का साक्षात्कार करते है। तीनो ही वर्गो के विचारको का अपना-अपना दृष्टिकोण और तर्क-प्रणालिया है। सौदर्य को स्थूल धरातल से ऊपर उठाकर सूक्ष्म के धूमिल आकाश मे ले जानेवाले आदर्शवादी चितको की चिता विशेष रूप से अत्यत वायवी हो गयी है। जबकि सौदर्य का विचार व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, व्यक्तिगत व जातीय सस्कार, मनोविधान, विश्वास, उपयोगिता, आयु-भेद, काल-भेद, देश-भेद, प्रकृति-जलवायु-भेद आदि के सूक्ष्मतम विचारो से[9] शासित व नियत्रित होता हो, सौंदर्य के स्वरूप का निर्भ्रांत शब्दो मे विवेचन तो क्या, उसका सतोषजनक स्थूल रेखा-जाल बना लेना भी दुःसाहस मात्र है। ऐसी स्थिति में सब प्रकार के आत्यतिक और विरोधी मतवादो के निरीक्षण-परीक्षण को बचाकर यहा सौदर्य के स्वरूप का एक स्थूल ढाचा खडा कर देना ही पर्याप्त होगा।

व्युत्पत्ति तथा लक्षण

व्युत्पत्ति 'सौंदर्य' शब्द की सिद्धि सस्कृत के 'सुदर' (विशेषण) शब्द से भाव अर्थ मे 'ष्यञ्' प्रत्यय जुडकर होती है। स्वय 'सुंदर' शब्द की व्युत्पत्ति सदेहास्पद है। 'वाचस्पत्य कोष' में 'सुन्दर' शब्द को 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द्' धातु से 'अरन्' प्रत्यय जोडकर सिद्ध किया गया है,[10] इसलिए धात्वर्थ के अनुसार 'सुदर' शब्द का अर्थ हुआ—'सु' अर्थात् सुष्ठु या अच्छी प्रकार, और 'उद्', अर्थात् आर्द्र करना, और 'अरन्' = कर्तृवाचक प्रत्यय, इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ—अच्छी प्रकार आर्द्र (गीला) या सरस करनेवाला।

इस शब्द की निष्पत्ति भ्वादि गण के 'टुनदि समृद्धौ' सूत्र से भी हो सकती है सु (उपसर्ग) अर्थात् अच्छी प्रकार और 'नदयति', अर्थात् जो प्रसन्न करता है, अर्थात् जो अच्छी प्रकार प्रसन्न करे वह 'सुदर' कहलाता है।

इस प्रकार 'सुदर' शब्द 'उद्' तथा 'नद'—इन दोनो धातुओं से सिद्ध हो सकता है। 'सु' (उपसर्ग) 'नर' (व्यक्तिवाचक सज्ञा = सुष्ठु नर अर्थात् सुनर इन दो शब्दों के बीच में भाषा-विज्ञान के मुखसुख (Euphony) के नियम के अनुसार 'द' वर्ण का आगम होकर, 'वानर' = बदर ('द' का मध्य व्यजनागम) के भ्रामक सादृश्य पर, 'सुनर' से 'सुदर' बन गया है। मध्यागम से अर्थ-विस्तार भी हो गया है। 'सुनर' से मानवीय सौंदर्य ही प्राय लक्षित होता है, किंतु 'सुदर' शब्द से मानव व मानवेतर जगत् के सौंदर्य को प्रकट करने की व्यापकता भी प्रकट होती है। सस्कृत में मूर्त्त वस्तु के लिए ही प्राय 'सुदर' शब्द का प्रयोग होना कहा जाता है। यूरोपीय देशों, मुख्यत रूस, में भी 'सुदर' से प्राय बाहरी सौदर्य का ही अर्थ ग्रहण किया जाता रहा था। बुद्धि या भावना के सूक्ष्म मानसिक सौंदर्य का द्योतन करने के लिए 'सौदर्य' शब्द का प्रयोग सस्कृत-साहित्य में प्राय कम ही मिलता है। हिंदी में इस शब्द के साथ अब बहुत व्यापक और गहरा अर्थ सयुक्त हो गया है।[11] सस्कृत में, अमूर्त्त के लिए 'सुदर' शब्द

की अपेक्षा 'शोभन' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है।

'सौदर्य' शब्द की एक व्युत्पत्ति और भी हो सकती है—'सुन्द राति इति सुन्दरम्, तस्य भाव सौन्दर्यम्।' 'सुद' को जो लाता हो वह सुदर, और उसका भाव जहा हो, वह 'सौदर्य' कहलाता है। सुद पूर्वक 'रा' (धातु) अर्थात् 'आदाने' (लाना) धातु से औणादिक 'अच्' प्रत्यय से 'सुदर' शब्द तथा गुणवचन 'ब्रह्मणादिभ्य ष्यञ्' इस पाणिनि सूत्र से 'ष्यञ्' प्रत्ययोपरात 'सौंदर्य' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। 'सुद' का अर्थ है 'कर्तनी', अर्थात् जो कैची की तरह काटनेवाला हो, उसको जो लाता हो, वह 'सुदर' हुआ। सौदर्य हृदय पर, नेत्र के द्वारा, कैची की-सी काटवाला पक्का प्रभाव करता ही है, यह कौन नही जानता।

इसी प्रकार एक व्युत्पत्ति और भी विचारणीय हो सकती है। बोली मे 'अचानक' शब्द का रूपातर 'अचानचक' है, किंतु सतत बाहुल्य प्रयोग की धारा में इस 'अचानचक' के 'अ' का भी लोप हो गया। इस प्रकार इस मौलिक शब्द 'अचानक' का रूप 'चानचक' हो गया, जिसका प्रतिदिन के व्यवहार में अधिक प्रयोग होता है। इसी तथ्यानुसार सस्कृत शब्द 'असून' अर्थात् 'प्राणो को' तथा 'ददाति'='देता है', अर्थात् जो प्राणो को दे वह 'सुदर' हुआ। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'असून' शब्द के आकार का लोप ('अचानक' की तरह ही) हो गया—तथा मुखसुखार्थ दीर्घ ऊ-कार के स्थान मे ह्रस्व उ-कार हो गया—यथा, सस्कृत शब्द पूत=(अमरकोष, 1443)= अर्थात्, पुत्र (अमरकोष, 1128) का पालि भाषा मे रूप 'पुत्त' होता है। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से 'सुदर' शब्द का अर्थ, 'जो प्राणों को दे' अर्थात् 'जो जीवन या आनद दे'—यह हुआ।

'सौदर्य' के लक्षण और गुण-धर्म को निर्धारित करना सरल कार्य नही है। असाधारण धर्म को लक्षण कहते है—'लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्'—(तर्कभाषा)। अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असभव दोष को बचाते हुए पदार्थ का, व्यावृति (सजातीय व विजातीय पदार्थों से भेद करना) व व्यवहार—इन द्विविध प्रयोजनों से स्वरूप स्पष्ट करना ही 'लक्षण' है। सौंदर्य किसी पदार्थ का गुण होता है। सौदर्य नामक इस गुण को अन्य गुणो से पृथक् करनेवाले किसी लक्षण का निर्देश करने पर उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना सरल हो सकता है। प्राय सौदर्य का लक्षण आह्लाद या आनददायकता समझा जाता है, किंतु हमारी समझ मे यह लक्षण अति व्याप्ति से ग्रस्त है, क्योंकि आनददायकता बहुत-सी वस्तुओ का गुण या फल हो सकता है, किसी विशेष पदार्थ का लक्षण नही। सौदर्य का व्यवच्छेदक लक्षण तो 'आकर्षण' ही समझा जाना चाहिए। हा, आकर्षण के कारण आगे चलकर आनद भले ही मिले। जहा-जहा आकर्षण है, वहा-वहा सौदर्य अवश्य है। अत सौदर्य का स्वलक्षण 'आकर्षण' है। इस लक्षण से युक्त सौंदर्य को ग्रहण करने पर ही हम सौदर्य की अत्यत व्यापक भूमिका पर पहुच सकते है। साहित्य या कला-चिता मे सौदर्य केवल स्थूल वस्तुओ का बाह्य गुण-धर्म मात्र ही न रहकर वह कर्म, शील-चारित्र्य, भावना-कल्पना तक अपना प्रसार रखता है, जिनके प्रति हम पहले आकर्षण का अनुभव करते है। अवश्य ही इस आकर्षण का परिणाम आनददायकता हो सकता है।

सौदर्य-विषयक मतैक्य की असभवता

सौदर्य के अतिम स्वरूप के सबध में विद्वान् एकमत नही। क्रोचे का कथन है कि प्लेटो

जिस सौदर्य का प्रवचन करते है, उसका कला तथा कलात्मक सौंदर्य से कोई सरोकार नही।[12] उधर स्काट जेम्स क्रोचे के सबध मे कहते है कि वे सौंदर्य और सप्रेषण दोनो ही बातो को प्राय भुला बैठे हैं।[13] सौंदर्य का वैयक्तिक या व्यक्ति-निष्ठ भूमि पर ही चितन करनेवालो के प्रति ओर उस चितन को बुद्धि से छानकर ग्रहण न करनेवालों के प्रति रिचर्ड्स ने खेद व्यक्त किया है, क्योकि सौदर्य-चिता का यह ढग सौदर्य के सही मूल्यों की छानबीन मे बडा बाधक रहा हे।[14] टाल्सटाय ने अपने युग की सौदर्य-विषयक धारणाओ से घोर असतोष व्यक्त किया है।[15] तो उधर डॉक्टर भगवानदास ने उनकी कला-विषयक धारणा को उन्ही के तर्कों से खडित कर दिया है।[16] कैर्ड ने पश्चिम के शीर्षस्थानीय दार्शनिक हेगेल की सौंदर्य-चिता पर लिखा है कि वह शब्दो की भूलभुलैया है, पागलखाने की बकवास है जो हेगेल मे पराकाष्ठा को पहुच गयी है और जो जर्मन दार्शनिक मूर्खता की भव्य यादगार बनकर रहेगी।[17]

इधर, आचार्य प रामचद्र शुक्ल ने स्थान-स्थान पर पाश्चात्य सौंदर्य-चिता से अपना असतोष व्यक्त किया है और उसे शब्दो का गडबडझाला मात्र कहा है।[18]

ऐसी स्थिति मे सोंदर्य के किसी सर्वमान्य स्वरूप का उद्‌घाटन करना यहा असभव है।

सौदर्य का वर्गीकरण

इसी प्रकार, सौदर्य के वर्गीकरण की भी कोई चेष्टा असगत ही है। उदाहरणार्थ, टाल्सटाय के सुप्रसिद्ध ग्रथ 'कला क्या है ?' मे उल्लिखित पश्चिम मे सौदर्य के वर्गीकरण के प्रयत्न द्वारा इसका कुछ अनुमान हो सकता है

विचारको ने मौंदर्य के भेद कई प्रकार से किये हैं। पीअर एण्ड्रे ने सौदर्य तीन प्रकार का बताया है—(1) दिव्य (Divine), (2) प्राकृतिक (Natural), और कृत्रिम (Artificial)।[19] विकलमैन ने सौंदर्य के भेद भिन्न रूप में किये है—(1) रूप-सौदर्य (Beauty of form), (2) विचार या प्रत्यय का सौदर्य (Beauty of idea) व (3) अभिव्यक्ति का सौंदर्य (Beauty of expression)।[20] एडम मुलर ने सौंदर्य दो प्रकार का बताया है—(1) सामान्य सौदर्य (General beauty), (2) व्यक्तिगत सौदर्य (Individual Beauty)।[21] ये भेद विचारकों ने अपने-अपने प्रतिपाद्य विषय की आवश्यकता के अनुरूप किये हैं, जिन पर विचार करने पर सौंदर्य मात्र का विस्तार समाविष्ट किया जा सकता है। किंतु, विषय-निरूपण की सुविधा के लिए हम सौंदर्य के चार भेद करना चाहेंगे—(1) शारीरिक, (2) मानसिक, (3) प्राकृतिक व (4) कलागत। साहित्य की सीमा में जितना भी सौंदर्य कल्पित किया जा सकता है वह सब, हमारी दृष्टि में, इन भेदों में समाविष्ट किया जा सकता है।

सौंदर्य-तत्त्व का अन्वेषण और प्रमाता की जिज्ञासा

मानव की जिज्ञासा-वृत्ति बडी प्रबल-गहन है। वह वस्तु के मूल रहस्यों को जाने बिना तृप्त नही होती। सौंदर्य के सबंध में भी यही बात ठीक है। सौंदर्य क्या है ? जीवन व साहित्य में उसकी मोहिनी शक्ति व गहन-व्यापक प्रभाव को देखते हुए हम उसे रूप-रग या आकार के बाहरी तथ्यों में ही खोजकर तृप्त नही हो पाते। क्योंकि रूप-रंग, आकार आदि तो ऐसे गुण हैं

जो द्रव्यो के आश्रित है और वैशेषिक के सप्तपदार्थों या न्याय के सोलह पदार्थों में परिगणित हुए हैं,[22] वे स्वय स्वतत्र पदार्थ नही। अत जिज्ञासा-शाति के लिए कारण-परपरा में और आगे बढे बिना काम नही चलता। विद्वानों को इसी कारण न तो न्याय-वैशेषिक[23] से पूर्ण सतोष होता है और न प्रकृति-पुरुष वाले साख्य दर्शन[24] से ही। वास्तविक बात तो यह है कि सौंदर्य का विषय मानव की मूल सृजन-चेतना में बद्धमूल है। अत एक स्वच्छ बौद्धिक विश्लेषण तभी सभव है जब सृष्टि के भूतों की कारण-परपरा का उद्घाटन करते हुए वैशेषिक के अणु, साख्य के पुरुष, वेदात के ब्रह्म या शैवागम के परमशिव तत्त्वो तक पहुचा जाये, योगसूत्र की ऋतम्भरा प्रज्ञा व सप्रज्ञात समाधि तथा मनोविज्ञान का सूक्ष्म स्नायु-जाल भी भुलाया नही जा सकता। अत चेतन की गहराइयों में ही डुबकी लगाकर सौंदर्य-विषयक अतिम तथ्य को जानने की प्रेरणा होती है।

साख्य दर्शन में जड प्रकृति को ही अतिम तत्त्व माना गया है, पर प्रकृति सक्रिय तो है, कितु है अधी। अत विवश होकर एक ऐसे चेतन तत्त्व की कल्पना करनी पडी, जिसके सान्निध्य से प्रकृति सृष्टि-रचना में तत्पर रहे। अर्थात् चैतन्य तत्त्व की अनिवार्य आवश्यकता है। बादरायण ने अपने वेदात सूत्रों में जड प्रकृति का खडन करके अकाट्य तर्कों के आधार पर शुद्ध चैतन्य या ब्रह्म की ही चरम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठा की है। शकर ने अपने उपनिषद् भाष्य मे आत्मा की स्वयसिद्धता, ज्ञानरूपता तथा अद्वैतता की ही सिद्धि की है।[25] इस मूल दृष्टि का खडन आज तक न हो सका—यद्यपि कालातर में माया को लेकर अनेक वाद-प्रवाद चले, उधर, जड प्रकृतिवाद का अकाट्य तर्कों के आधार पर पूर्व व पश्चिम में आज सफल खडन किया जा रहा है।[26] ऐसी स्थिति में आस्था और अद्वैत की भूमि पर ही सौदर्य की सतोषजनक व्याख्या सभव है।

मनोविज्ञान की सहायता से सौदर्य-तत्त्व की अवगति

प्राचीन भारतीय सौंदर्य-विषयक विचारधारा भारतीय काव्य से आकलित की जा सकती है। पर हमारे यहा सौंदर्य पर, उसे मन की एकात भावना के रूप में ही लेकर, कभी विचार नही किया गया।[27]

वास्तव मे सौदर्य के स्वरूप-निर्णय की अनेक भूमिया हैं, जिनमें से एक भूमि मनोवैज्ञानिक है। डॉ दासगुप्त ने सौंदर्य की व्यवस्था अवचेतन मन को आधार बनाकर मनोवैज्ञानिक ढग से चित्त के सस्कारों की भूमि पर की है। यद्यपि वे आत्म-लाभ, आनद जैसी पदावली का सौदर्य-विवेचन में प्रयोग करते हैं, पर उन्होने तार्किक क्रम को अपनाकर शुद्ध वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक ढग पर ही सौंदर्य की प्रमाण-पुरस्सर व्याख्या की है।

उद्बोधक सामग्री या प्रत्यक्ष, अन्वीक्षा, स्मृति सस्कार, सुख-दु खादि अनुभवों व सवेगों से निर्मित समष्ट्यात्मक अवचेतन, व्यक्तित्व व विभिन्न पुरुषों (जैसे, जैव पुरुष, बौद्ध पुरुष आदि) के स्वतत्र व्यापार व उनकी तृप्ति—इन प्रमुख उपकरणों को लेकर डॉ. दासगुप्त ने सौदर्य के स्वरूप का गभीर विवेचन-विश्लेषण किया है,[28] जो अत्यत सूक्ष्म व रोचक है। उन्होंने अत्यत तर्कसम्मत ढग से उपर्युक्त उपकरणों का क्रम व सबध-स्थापन करके, ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, चेतना को बीच में न लाकर, उपचेतन मन के देश-काल-पात्र-वर्जित सस्कारों को ही केंद्र में रखकर सौंदर्य की समस्या का समाधान किया है। इससे यह स्पष्ट

हो जाता है कि व्यष्टि धरातल पर हमें सौंदर्यानुभव क्यों होता है या सौदर्य से आनद क्यों मिलता है।

वास्तव मे मूल समस्या है, सुदर वस्तु सबको समान भाव से आनद क्यों देती है? वस्तुत जब तक विषय को इस भूमि पर नही लाया जाता तब तक सौंदर्य-सबधी जिज्ञासा पूर्णत शात नही होती। काट ने अपनी सौंदर्य-चिता में यह बताया है कि सौंदर्य निष्काम आनद देता है, सबको आनद देता है, अनिवार्यत अपरिहार्य रूप से आनद देता है और उसमें सबधों का ध्यान नही रहता।[29] श्री हरवशसिह शास्त्री ने (डॉ सम्पूर्णानन्द के निरीक्षण में सपन्न अपने ग्रथ) 'सौंदर्य विज्ञान' में इस मूल समस्या को उठाकर (एक ही वस्तु का सौंदर्य सबको समान आनद किस प्रकार देता है?) विचार-विमर्श किया है और काट, हेगेल, शापेनहावर आदि विचारकों की धारणाओ को सौदर्य-विषयक सत्य के निकट पर्याप्त पहुची हुई होने पर भी अपूर्ण दर्शाते हुए व उनकी त्रुटियों का निर्देश करते हुए अद्वैत वेदात के धरातल पर सौंदर्य की इस प्रकार की व्याख्या की है कि उसमें उक्त मनीषियो की चिता भी समाविष्ट हो गयी है और (उनकी दृष्टि में) सौंदर्य की सतोषजनक व्याख्या को अपने में समेटे एक व्यापक परिभाषा भी प्रस्तुत हुई है। उपर्युक्त मनीषियों ने सकल्प, प्रज्ञा, ईश्वर आदि के आधार पर सौंदर्य की व्याख्या करनी चाही है, पर लेखक की धारणा में ये सब सत्ताए तो स्वय ही किसी चेतन तत्त्व के आश्रित है। फिर केवल इनके ही आधार पर सतोषजनक व्याख्या कैसे हो सकती है।[30]

शास्त्रीजी ने वस्तु के बाह्य गुणों में भी सौंदर्य की सत्ता को अस्वीकृत किया है, क्योंकि नाम और रूप का यह प्रसार तत्त्व-दृष्टि से ब्रह्म का उपाधिगत रूप ही है, कोई स्वतत्र सत्ता नही।

वास्तव मे जब तक यह समस्या हल न हो कि एक ही सुदर वस्तु सबके लिए आनदप्रद क्यों होती है, तब तक सौंदर्य की समस्या का समाधान कठिन ही है। जब तक इस रूप में वस्तु की सुदरता प्रतिष्ठित न हो तब तक तो मानो सौंदर्य-दृष्टि सीमित या वैयक्तितक ही है। यदि इस वैयक्तिक दृष्टि को ही अतिम दृष्टि मान लिया जाए तो एक के लिए सुदर और दूसरे के लिए असुदर का द्वैत या विग्रह का पथ खुला ही रहेगा। आनद जो सौंदर्य का प्राण है, वह व्यक्तिगत धारणाओं से किस प्रकार निष्पन्न हो सकेगा, जबकि आनद की मूल प्रकृति स्वायत्तता में नही किंतु व्यापकता, विभुता, औदात्त्य व आत्मप्रसार में है। अत यदि आनद सौंदर्य का स्थायी गुण-धर्म है तो सौंदर्य की कुछ ऐसे धरातल पर और इस रूप मे ही व्याख्या करनी होगी कि वह सबके लिए समान भाव से आनदप्रद हो। सौंदर्यानुभव की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विश्लेषण जहा महत्त्वपूर्ण है, वहा यह भी अत्यत महत्त्वपूर्ण है कि सौंदर्य सबको एक समान आनददायी क्यों होता है।

आत्मगत सौंदर्य-दृष्टि

आत्मगत सौंदर्य-दृष्टि आत्मा की सत्ता या स्थिति के विश्वास या बौद्धिक निर्णय से परिचालित व अनुप्राणित है। विश्व की दार्शनिक व वैज्ञानिक विचारधारा आज आत्मवादी तथा अनात्मवादी नाम के दो शिविरों में विभक्त है। अनात्मवादी विचारधारा के प्रचारक 'आत्मा' जैसी किसी भी वस्तु में विश्वास नहीं करते। वे अधिक-से-अधिक आत्मा को मन के

विकसिततम रूप का पर्याय मानने को तैयार है। उनकी दृष्टि मे मन अणुओ से निर्मित है और अणु पार्थिव वस्तुओ के ही सूक्ष्मतम व अविभाज्य चरम रूप हैं, किंतु उधर भारतीय आत्मवादी आत्मा की स्वतत्र सत्ता, स्थिति व इकाई में विश्वास करते है। वेदात, शैवागम, न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों मे वैज्ञानिक चितन-प्रणाली द्वारा शुद्ध, सनातन, अखड व एकरस आत्मतत्त्व की निर्भ्रात पदावली मे प्रतिष्ठा कर दी गयी है। ऐसी स्थिति में सौंदर्य-चिंता भी आत्मतत्त्व से ही परिचालित हो तो कोई आश्चर्य नही।

भारत की ही तरह पश्चिम मे भी आत्मवादी दर्शन अनेक शताब्दियो से एक शीर्षस्थानीय दर्शन रहा है। प्राकृतवाद, विज्ञानवाद, जडवाद, विकासवाद आदि के बीच भी वह आज पश्चिम का एक जीवित दर्शन है। सौंदर्य के प्रसग में उनकी मूल विचारधारा के प्रवाह को, जिससे पश्चिम का सारा अध्यात्मपरक सौंदर्य-चितन रूपायित है, तीन-चार शीर्ष-स्थानीय विचारकों के माध्यम मे, विहगम दृष्टि से देख लेना उपयोगी होगा।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने कहा कि प्रत्येक वस्तु का एक पूर्वनिर्धारित व काल्पनिक चरम आदर्श रूप (Absolute Idea) होता है। जो वस्तु अपने इस चरम आदर्श रूप के जितनी ही अधिक निकट होगी, वह वस्तु उसी अनुपात में सुदर होगी। प्लेटो ने यह भी कहा कि हम बाह्य स्थूल पदार्थो या शारीरिक सौंदर्य से आरभ करके उत्तरोत्तर सूक्ष्म सौंदर्य की ओर (उच्च भावो व नैतिकता के सौंदर्य, आत्मा के सौंदर्य की ओर) बढते चलते हैं। पूर्ण सौंदर्य का दर्शन इसी गति की परिणति पर होता है। शाश्वत, विलक्षण, अविनाशी सौंदर्य का अनुभव ही पूर्ण सौंदर्यानुभव है। सौंदर्य का एक अक्षय कोष है, जहा से सब पदार्थ सौंदर्य प्राप्त करते है। इस प्रकार प्लेटो की सौंदर्य-कल्पना परम उदात्त है। उनकी मूल दृष्टि नैतिक है, अत वे सौंदर्य की उच्चतम कल्पना नैतिक दृष्टि से ही करते हैं। नैतिक सौंदर्य का कल्याणकर होना अनिवार्य ही है। प्लेटो सौंदर्य-दृष्टि के गहन प्रभाव को बडे मार्मिक शब्दो मे व्यक्त करते हैं। वे कहते है कि सौंदर्यानुभव से हमारी दृष्टि दिव्य होती है, हममें आतरिक उदात्तता आती है और तलस्पर्शिनी जीवन-दृष्टि की प्राप्ति होती है। ध्यान देने की बात विशेष रूप से यह है कि सौंदर्य बीज रूप से व्यक्ति और पदार्थ की (विभाव की) उपेक्षा करके नही चलता।[31]

जर्मन तत्त्वदर्शी हेगेल ने कहा कि सौंदर्य जड (Matter) के माध्यम से आइडिया (Idea) का प्रकाशन है।[32] ईश्वर अपने आपको दो रूपो मे—प्रकृति और आत्मा (Matter and Sprit) में—प्रकट (Manifest) करता है। सौंदर्य मूलत आत्मिक तत्त्व है जो ऐंद्रिय माध्यमों से व्यक्त होता है। हेगेल के अनुसार सत्य और सुदर एक है। केवल आत्मा और उससे सबधित वस्तुए ही वस्तुत सुदर हैं। सौंदर्य का मूल द्रव्य आध्यात्मिक ही है, जो ऐंद्रिय माध्यमों से ही प्रकाशित होता है। आत्मा के सर्वोच्च सत्यो को जाग्रत करने व अभिव्यक्त करने के लिए सौंदर्यपूर्ण कला (जिसमे ईश्वर अपने को प्रकट करता है) धर्म और दर्शन के साथ या समान ही 'Idea' (आइडिया) को प्रकाशित करनेवाली एक उपज है, एक साधन है।[33]

सौंदर्य की इस धारणा में हम दार्शनिक धरातल पर रामानुज की विचारधारा के निकट पहुंचते हैं। रामानुज के अनुसार ब्रह्म केवल त्रिर्गुण ही नही, वह सगुण भी है। उसमें सजातीय, विजातीय भेद तो बिल्कुल नही, किंतु स्वगत-भेद अवश्य है। अत ब्रह्म चित् व अचित् (जड,

प्रकृति) मे भी प्रकाशित हो रहा है। हेगेल का ईश्वर चित् (मानवात्मा) और अचित् (जड प्रकृति) दोनो मे प्रकाशित होता है। दर्शन के क्षेत्र मे शकर की तुलना मे रामानुज जितने अधिक व्यावहारिक है, कला व सौंदर्य-चिता के क्षेत्र मे हेगेल कदाचित् काण्ट व क्रोचे से यहा अधिक व्यावहारिक जान पड रहे है। यद्यपि यह भी सत्य है कि हेगेल के यहा कला (जिसमे आत्मा का चैतन्य धर्मपूर्ण और सक्रिय रहता है और जिसमें ईश्वर प्रकाशित रहता है) की तुलना मे प्रकृति (जड) अपेक्षाकृत हीन है।

हेगेल की प्रक्रिया के विरोधी शापेनहावर ने कहा कि ससार इच्छाशक्ति या सकल्प का ही परिणाम है। इच्छा या सकल्प बधन का कारण प्रसिद्ध ही है। सौंदर्यानुभव में हमे इस बधन से मुक्ति मिलती है। कलाओ मे हमारी इच्छा के स्थूल रूप ग्रहण करने या मूर्त होने की प्रक्रिया मे एक सोपान पर किसी आतरिक शक्ति की एक अवस्था विशेष का या इच्छा का ही साक्षात्कार होता है। इच्छा के स्थूलीकरण की प्रक्रिया में जिस अनुपात मे कोई पदार्थ इस मूल इच्छा को आत्मतोष के लिए व्यक्त करेगा वह उतना ही सुदर कहा जायेगा। प्लेटो ने वस्तु मे Idea (आइडिया) के प्रकाशन की बात कही, किंतु शापेनहावर ने सकल्प शक्ति के प्रकाशन की। दोनो प्रकाशनो में अंतर है। शापेनहावर Idea (आइडिया) को "सकल्प के परिणाम की ही एक सीढी मानते है।"[34] इसका यह अर्थ हुआ कि शापेनहावर का सकल्प (Will) प्लेटो के Idea (आइडिया) से भी अधिक सूक्ष्मतर शक्ति या मानसिक सत्ता है जो वस्तुत उसके उस कथन के मेल मे ही है जिसके अनुसार सकल्प ही ससार का बीज है, ससार सकल्प शक्ति का ही परिणाम है। सौंदर्य एक ओर तो हमें इच्छा से, जो बधनों का मूल है और हमारे लिए पाप-पुण्य दारिद्र्य-दुर्भाग्य व कार्य-कारणात्मक परिस्थिति शृखला बनाती रहती है, मुक्ति प्रदान करता है और दूसरी ओर वह हमारे मन को सौंदर्यवान् पदार्थो के साक्षात्कार के समय ऐसे भाव (Idea) से भर देता है जो सकल्प (Will) का ही प्रकाशन है। प्रकृति मे जो सौंदर्य होता है वह कवि ही हमे खोलकर दिखाता है। यह कार्य कवि के सकल्प और प्रकृतिगत सकल्प की अन्विति से ही सपन्न होता है।[35]

हमारा सकल्प (Will) इस ससार में अनेक धरातलों (Planes) पर अपने आपको स्थूलीकृत (Objectivize) करता है। जितने ही ऊचे धरातल (Plane) पर यह स्थूलीकरण होता है सौंदर्य उतनी ही उच्चकोटि का होता है। प्रत्येक धरातल का अपना सौंदर्य होता है। अपने भाव (Idea) को विभिन्न धरातलों पर मूर्त्त रूप देने की क्षमता सभी मे होती है, पर कलाकार में यह क्षमता सर्वाधिक होती है अत वह उच्चकोटि के सौंदर्य का निर्माण करने में सक्षम होता है।[36] पश्चिम मे काट, हेगेल और शापेनहावर की सौंदर्य-चिता अत्यत सूक्ष्म है, पर भारतीय विचारकों को वह पूर्णतया सतोषजनक नही। काट की सार्वदेशिक बुद्धि या प्रज्ञा (Universal Reason), हेगेल का अद्वय या प्रज्ञा (Absolute or Thought) और शापेनहावर का सकल्प (Will) उनके दर्शन मे सर्वोपरि तत्त्व हो बैठे है। भारतीय दार्शनिक तत्त्व-चिंता से परिचित व्यक्ति जानता है कि प्रज्ञा, बुद्धि या सकल्प सृष्टि-विस्तार की प्रक्रिया में (शैवागम में उन्मीलन-क्रम या अवरोहण-क्रम मे) बहुत आगे आते है। आदि तत्त्व तो आत्मा, ब्रह्म, पुरुष, या परमशिव ही है। साख्य मे बुद्धि जड है,[37] उससे आत्मा महान् है।[38] कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—'बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर।'[39] शैवागम में भी बुद्धि को ऊचा स्थान प्राप्त नही है। अत आश्चर्य नही कि भारतीय जिज्ञासा प्रज्ञा बुद्धि या सकल्प के

बल से सौंदर्य की समस्या के समाधान से पूरी तरह सतुष्ट न हो। इन विचारको के प्रयत्न अत्यत गभीर है, पर फिर भी आत्मतत्त्व का प्रेमी भारतीय जिज्ञासु और भी गहरे गये बिना तृप्त नही होता।

आत्मगत सौंदर्य-दृष्टिवाले ईश्वर को लेकर भी सौदर्य की व्याख्या करते है। उनके लिए ईश्वर ही परम सुदर है। जहा-जहा भी ईश्वर का प्रकाश है, वही सौदर्य है। वस्तु इसलिए सुदर है कि उसमे ईश्वर ही प्रकाशित हो रहा है। कुछ विचारक विश्व-कल्याण व नैतिकता की भावना या जगन्मागल्य मे ही सौदर्य का दर्शन करते है। इस सब सौंदर्य को हम आध्यात्मिक सौदर्य का ही अग मान सकते है, क्योकि ये भावनाए तत्त्वत आत्मा की अथवा ईश्वर की सत्ता में विश्वास से ही प्रेरित हुई है। प्लेटो, प्लाटिनस, सेट आगस्तिन, बर्क, टाल्सटाय, रस्किन, शेफ्ट्सबरी व श्लेगेल आदि पाश्चात्य दार्शनिक ईश्वर से सबधित व नैतिकतामूलक सौंदर्य के प्रति आकृष्ट है।

वेदातानुसार ईश्वर सोपाधिक ब्रह्म है। उसकी सृष्टि तो माया के ही कारण सभव हुई है। अत विचारको की दृष्टि मे ईश्वर भी सौदर्य का चरम या मूल कारण नही समझा जाता। शैवागम दर्शन मे भी अवरोहण क्रम मे ईश्वर चौथा तत्त्व (क्रम यह है—परमशिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर आदि) है, मूल तत्त्व तो वहा 'परमशिव' या 'परासवित्' ही है, जिसकी मूल शक्तियो में से एक विशिष्ट 'आनद शक्ति' से ही सौदर्य का सबध ठहरता है। साथ ही, ईश्वर को सौदर्य का कारण मानें तो ईश्वर की रचना के नाते सभी कुछ सुदर होना चाहिए, पर व्यवहार मे ऐसा नही दिखायी देता। नैतिकता का सौंदर्य भी वस्तुत हमारी आत्मा का ही सौंदर्य है, क्योकि जिन-जिन आचारो को हमने सुदर आचारों के रूप मे स्वीकृत व प्रतिष्ठित कर लिया है वे आरभ में हमारी आत्मा की ही तृप्ति के रूप में हुए थे। तात्पर्य यह कि सौदर्य के मूल का अन्वेषण करने मे हम ईश्वर या नैतिकता तक ठहरकर भी सतुष्ट नही हो सकते।

भारत की आध्यात्मिक दृष्टि तो शताब्दियों से प्रसिद्ध है और शीर्षस्थानीय रही है। भारत मे जब भी किसी वस्तु या विषय पर तात्त्विक चर्चा हुई है तो भारतीय वेदात, जो एकात आत्मपरक दर्शन है, किसी भी रूप मे विस्मृत नही हुआ है। भारत में सौंदर्य की चिता मुख्यतः अध्यात्म की भूमि पर ही हुई है। भक्ति-मार्ग मे (जहा रूप और गुणों का निरूपण सगुण की भूमि पर हुआ है) भी आत्मा की विशद भूमिका ही ग्रहण की गयी है। काव्य और कलाओं के सौंदर्य के सदर्भ में उसी ब्रह्म का आधार लिया गया है, जिसके तीन रूप हैं सत्, चित्, आनद। सौदर्य का सबध मुख्यत आनद से ही है। स्पष्ट है कि सौदर्य की व्याख्या में आनद स्वरूप किसी भी प्रकार उपेक्षित या विस्मृत नही किया जा सकता था। इस प्रकार भारतीय सौदर्य चिता नि'शेषत आत्मवाद से ही अनुप्राणित रही। कुछ विचारकों का कहना है कि भारत में सौदर्य-तत्त्व का विवेचन नही हुआ। किंतु ऐसा कहना पूर्ण सत्य नही। यह ठीक है कि पश्चिम की तरह उसकी विस्तृत विशद व्याख्या नही हुई। पर दर्शन व तर्क की भूमिका पर उसकी मूलग्राही, सक्षिप्त, स्वच्छ व सूत्रात्मक व्याख्या (साहित्य में लक्ष्य व लक्षण ग्रथों में भी) इतनी अवश्य हो गयी है कि उस पर सौदर्यशास्त्र का एक विशाल भवन अब सहज ही खडा किया जा सकता है। डॉ शशिभूषण, दासगुप्त तथा प्रो ए सी. शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने इस दिशा में स्तुत्य उद्योग किया है। प्रो शास्त्री ने इस मत से असहमति दिखायी है कि भारत में सौंदर्य-तत्त्व की व्याख्या नही हुई।[40] उन्होंने विस्तारपूर्वक भारतीय सौंदर्य-चिंता के स्वरूप

का विश्लेषण किया है। कहने की आवश्यकता नही कि भारतीय सौंदर्य-चिता मुख्यत आत्मपरक है।

वस्तुगत सौंदर्य-दृष्टि

कुछ ऐसे सौंदर्यशास्त्री भी हुए है जो आत्मसत्ता मे विश्वास न रखते हुए सौंदर्य को वस्तु की आकृति, सुषमा, सम्मात्रा, अगान्विति, सुव्यवस्था, प्रमाणबद्धता, सगति, सवादित्व, वैविध्य-वैचित्र्य आदि बाह्य गुणों तथा चटकीले विविध छायाओ व हल्के गाढे मिश्रणवाले वर्णो व सुखद-कोमल स्पर्शो मे ही देखते है। वस्तुत यह भी एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि है जो वस्तुवादियों या प्रकृतिवादियो द्वारा प्रवर्तित-प्रचारित है। पर आत्मवादी दार्शनिक पूछ बैठेगा कि इस वैविध्य या वैचित्र्य का मूल क्या है ? वेदात की दृष्टि से यह नानात्व या वैचित्र्य तो मायिक या कल्पित है, वास्तविक नही। अत सौदर्यानुभूति मे इन बाह्य गुणों का अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी (आचार्य शुक्ल मानते हैं) वहीं टिक जाने मे समस्या का समाधान नहीं। नामरूप को ही मुख्य समझ बैठना तो तत्त्व से अनभिज्ञता है। ये सब रूप और आकार कहा से आये ? आत्मवादी दार्शनिक कहता है कि इस भेद के मूल मे एक अभेद सत्ता है, वही चरम सत्ता है और सौदर्य का कारण है। सृष्टि का एक ही मूल उपादान (ब्रह्म) है जो माया की अनिर्वचनीय शक्ति से अगणित नाम-रूप धारण करता है, अत बाह्य सौंदर्य की बात बिना बीज या मूल की है। बाह्य जगत् का समस्त वैचित्र्य उस मूल ब्रह्म का ही प्रकाश है, जिसमे समस्त नाम-रूप कल्पित हैं और इस नाम-रूप की कल्पना के बावजूद जो मूलत एक है। यदि यह कहा जाये कि ब्रह्म के सगुण रूप में प्रकाशित होने से पूर्व तो नाम-रूप थे ही नही, अत नाम-रूप एक स्वतत्र या अवातर सृष्टि है, तो वेदाती का वही पुराना उत्तर है कि नाम-रूप का यह प्रसार अनिर्वचनीय माया की उपाधि है जो ब्रह्म ने धारण कर रखी है। वस्तुत नाम-रूपों मे वह एकमेव अखड सनातन ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। नाम-रूप वास्तव में उसके अभिव्यक्त होने के माध्यम मात्र हैं, उनकी अपनी कोई निजी या स्वतत्र सत्ता नही। जो नाम-रूप जितना ही ब्रह्म को सफलतापूर्वक प्रकाशित करते है या उसके प्रकाशित होने के माध्यम बनते है वे उसी अनुपात में सुदर हो उठते हैं। ब्रह्म या आत्मा से असपृक्त पदार्थ जड मात्र है, उनमें कोई सौंदर्य नही।

सौंदर्य को बाह्य पदार्थो में देखनेवाले विचारक भी आगे दो वर्गो में विभाजित किये जा सकते हैं—(1) शुद्ध पदार्थवादी, जो किसी सूक्ष्म चेतना में या आत्मा मे किसी भी प्रकार का विश्वास नही करते, व (2) आत्मवादी, जो एक मूल सौदर्य-सत्ता अमर आत्मा में ही मानते है, किंतु उसका प्रकाशन वस्तुओं में ही देखते हैं। शुद्ध पदार्थवादियों के सबध में यहा विशेष नहीं कहना है। भारत में उपनिषद् के ऋषि आत्मवादी सौंदर्य-द्रष्टा है जो ईश्वर को ही प्रथम सौंदर्य मानते हैं। 'सुदर' नामक विभूति ईश्वरीय या दिव्य है, वह ब्रह्म के 'आनद' स्वरूप का ही प्रकाश है।[41]

सस्कृत के प्राचीन भारतीय कवि उपनिषद्कालीन इसी सौदर्य-भावना के उत्तराधिकारी हैं, पर वे सौंदर्य चिंता के एक नवीन उत्थान पर हैं और उस मूल सौंदर्य को इद्रिय धरातल पर, पार्थिव रूपों में भी देखकर तृप्त होते हैं।[42] रामानुज व वल्लभ ने सृष्टि का सबध ब्रह्म के साथ दिखाया ही है। हा, सौंदर्य की आधारभूमि पर अवश्य ही वे सौदर्य सबधी अपनी विशिष्ट दृष्टि-भगिमा रखते हैं।[43] भारतीय सौंदर्य-स्रष्टा सौंदर्य को मनोवैज्ञानिक कोण से—

सौंदर्य को केवल मन की एक भावना के ही रूप में—देखने व उसकी व्याख्या करने में प्रवृत्त नही हुए। उन्होंने सौंदर्य को वस्तुगत रूप में ही देखा, क्योंकि सौंदर्य की भारतीय तत्त्व-चिता (Metaphysical Theory) सौदर्य को वस्तु के एक रूप 'Aspect' के रूप मे ही देखती है।[44] सौदर्य एक सूक्ष्म चरम भावना (Absolute Idea) है जो ऐद्रिय माध्यम से प्रकाशित होती है। प्लेटो और हेगेल समस्त सौदर्य को मूल भाव (Idea) का ही प्रकृति में प्रकाशन मानते है, यह कहा जा चुका है।

सक्षेप में, रूप, रग, आकार, कोमलता आदि में ही सौदर्य देखना सौंदर्य की समस्या को हल नही करता। क्योंकि इनसे अभिव्यक्त होनेवाले सौदर्य का मानदड व्यक्ति से व्यक्ति तक बदलता जाता है। इन सब धर्मों या गुणो (Attributes) के प्रति हमारी रुचि या आकर्षण देश-काल व व्यक्ति-सापेक्ष है, अत सौदर्य की सामान्य या सर्वमान्य तथा पूर्ण सतोषप्रद धारणा इनके आधार पर खडी नही हो सकती। फिर ये सब गुण पदार्थो के परिवर्तनशील बाह्य अस्थिर धर्म हैं जो सौदर्य के प्राथमिक या मूल गुण आकर्षण व नवता के मेल में नही। इसके अतिरिक्त कारण-परपरा की ओर बढते ही यह स्पष्ट होने लगता है कि इन गुणों का स्रोत कोई भीतरी शाश्वत या सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका ये नाम-रूप या गुण बाह्य प्रकाशन मात्र है। अत चेतन तत्त्व से असपृक्त इन बाह्य गुणो तक ही सौंदर्य की सत्ता को स्वीकार करना सौदर्य को मूल से न समझकर उसके डाल-पात को ही समझने का प्रयास है। अत यद्यपि ये बाह्य उपकरण सौदर्यानुभूति में पर्याप्त सहायक या सहयोगी होते है, पर उन्हे हम सौदर्य का स्थायी आधार नही कह सकते। वेदात, साख्य, शैवागम—किसी भी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि के अनुसार इन उपकरणों को हम अपने आप में चरम गुण नही मान सकते। यह हम ऊपर बता ही चुके है कि आत्मा या चैतन्य से असपृक्त सौंदर्य निर्जीव, अचिर व भगुर सौंदर्य है जो सबको एकसाथ तृप्त कर नही सकता।

पर इस सबध में एक आत्यतिक दृष्टि को—पदार्थ में अपना निजी सौदर्य होता ही नही—भी अनुचित प्रश्रय नही मिलना चाहिए। कुछ दार्शनिक आदर्शवादिता के आवेश मे वस्तु का अपना निजी सौदर्य किसी भी रूप में मानने को तैयार नही हैं।[45] यह मानते हुए भी कि वस्तुत पदार्थो में सौदर्य की उत्पत्ति हमारी मानसिक या आत्मिक क्रियाओ से ही होती है, फिर भी उक्त आत्यतिकता को भारतीय दर्शन की भूमिका पर स्वीकार नही किया जा सकता। द्रष्टा उपस्थित हो या न हो, दृश्य पदार्थ अथवा प्रमेय वस्तु का अपना सौदर्य उसके ब्रह्म की सृष्टि होने के नाते सुरक्षित है। द्रष्टा तो सच्चिदानद ब्रह्म की रचित उस सगुण या पहले से ही सुदर वस्तु मे आत्मा के योग से सौदर्य का साक्षात्कार मात्र करता है। सर्ववाद की भावना हमें इस आत्यतिकता को पूर्णत स्वीकार नही करने देगी।

समन्वयात्मक सौदर्य-दृष्टि

केवल बाह्य और केवल आतरिक दोनो को अतिवादी मानकर सौदर्य-चितन की एक नवीन विचारधारा का विकास हुआ, जिसे हम समन्वयवादी विचारधारा कह सकते हैं।[46]

आचार्य शुक्ल ने, पाश्चात्यों की दृष्टि मे सौदर्य के केवल मन के भीतर की वस्तु होने पर कहा—"पर वास्तव में यह भाषा के गडबडझाले के सिवा और कुछ नही है।"[47] "बाहर-भीतर का भेद व्यर्थ है जो भीतर है वही बाहर है।[48] पश्चिम मे सली (Sully) को भी

यह झगडा साफ कर अत मे भारतीय साधारणीकरण या शुक्लजी द्वारा समर्थित लोक-सामान्य भावभूमि वाली बात की ही शरण लेनी पडी।[49]

अधिकाश भारतीय कवि समन्वयवादी ही समझे जाएगे। साहित्य-क्षेत्र में सौदर्य का यह मध्यमार्गी मत ही ग्रहण किया जाता है, क्योकि कोई भी कवि या साहित्यकार रसानुभूति (जो उसका अतिम लक्ष्य है) के लिए विभाव या आलबन की सत्ता की उपेक्षा करके नही चलता। साहित्य का रस-चक्र यह बताता है कि विभाव के अभाव मे रस-निष्पत्ति का बीज-वपन ही नही होता। गीतिकाव्य मे जहा केवल अनुभूति या भावना का ही निरूपण होता है वहा पाठक-श्रोता अपनी कल्पना में विभाव का अध्याहार किये रहता है। न तो वह विभाव के स्थूल आलबन या आधार को छोडकर सौंदर्य की निर्गुण भावना मात्र से अपना कविरूप सुरक्षित रख सकता है और न वह उस सूक्ष्म भावना को सर्वथा छोड केवल स्थूल पदार्थ की जड उपासना ही कर सकता है, क्योकि स्थूल आलबन तो उसका प्रस्थान-बिदु मात्र है, अतत तो उसे उस रस की प्रतिष्ठा करनी होती है जो अलौकिक, प्रकाशमय व अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार दार्शनिक भले ही अपने अतिवाद में सौदर्य के शुद्ध या अतिम स्वरूप को वहा प्रतिष्ठित कर दे जहा मन की भी पहुच नही, पर कवि या साहित्यकार, जो काव्य की पद्धति, स्वरूप या प्रणाली से शासित है, तो अनिवार्यत दोनों अतिवादों को बचाकर मध्यमार्ग ही ग्रहण करने के लिए बाध्य है। न वह जडवादी है और न निर्गुणवादी, न शून्यवादी या स्वप्नवादी-मायावादी। साहित्यकार की सौदर्य-चिता मूलत उक्त दृष्टिकोण के ढाचे में ही रहकर निर्मित होती है। प्राचीन भारतीय कवियों ने यही दृष्टि ग्रहण की थी।

भारतीय भक्तिमार्ग के कवियों व आचार्यों की भी यही दृष्टि जान पडती है। उन्होंने 'सौदर्य' को केवल एक सूक्ष्म या निर्गुण भावना मात्र न कहकर उसे अधिक स्पष्ट व पुष्ट भूमि प्रदान की है। रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रथ मे अग-प्रत्यग के यथोचित सन्निवेश को ही सौदर्य कहा है—

अगप्रत्यगकाना य सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टसधिबन्ध स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते॥[50]

इस पर जीव गोस्वामी की टीका है—

> *अगाना बाह्वादीना प्रत्यगाना प्रगण्डप्रकोष्ठमणिबन्धादीना यथोचित स्थौल्यकार्श्यवर्तुलत्वादिक यत्र यत्र यद्यदुचित भवति तदनतिक्रम्य सन्निवेश सुश्लिष्ट· यथोचित मासलत्वेनैक्यमाप्त सन्धीना कफोण्यादीना बन्धो यस्मिन् स॥*
>
> 'श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भी रूप गोस्वामी लिखते हैं— "*भवेत्सौन्दर्यमंगाना सन्निवेशो यथोचितम्।*"[51]
>
> वे स्पष्ट ही सौंदर्य को सुरम्य अगत्व का पर्याय कहते हैं—"अत्र सौन्दर्य सुरम्यांगत्वपर्यायम्।"

अग-प्रत्यग के यथोचित सन्निवेश पर बल देने का अर्थ सौदर्य-दृष्टि की स्थूलता या भौतिकता नही है। इस सन्निवेश का मर्म तो श्रीकृष्ण के वल्लभ सप्रदाय में कल्पित रूप की कल्पना के परिवेश में ही भली भाति समझा जा सकता है। सौंदर्य की यह भावना,

सक्षेप मे, न तो कोरी वायवी है और न पदार्थवादियो की-सी कोरी भौतिक या स्थूल। यह सन्निवेश आत्म-तत्त्व का ही प्रकाशक या उससे अनुप्राणित है। साहित्य क्षेत्र में इसे हम समन्वय की दृष्टि के अतर्गत ही ले सकते है। सगुण भक्त कवि या आचार्य का कोरे निर्गुण या कोरे पार्थिव—दोनों से जी घबराता है। ऊपर सन्निविष्ट किये जानेवाले जिन अगो की चर्चा है, उनके विवरण के बीच से एक अलौकिक सौदर्य-चेतना सुलगी-फूटी पड रही है।

वस्तुत सौदर्य-चिता में यह समन्वय की भूमि अत्यत महत्त्वपूर्ण है। सौदर्य की जो निर्गुण भावना है, उसका तो सौंदर्य-चिता से विशेष सबध ही नही ठहरता, क्योकि सौदर्य के लिए किसी पदार्थ के माध्यम की नितात आवश्यकता है। सौंदर्य का अनुभव योग की सप्रज्ञात समाधि से सबध रखता है,[52] जिसमें अनुभवकर्त्ता सूक्ष्म विषय के आधार पर अधिक-से-अधिक 'निर्विचारा' सप्रज्ञात समाधि तक पहुचता है। आगे असप्रज्ञात समाधि मे माध्यम के रूप मे किसी वस्तु की आवश्यकता नही रहती। सौदर्यानुभूति का इस समाधि से सबध नही समझा जाता। दूसरी ओर वस्तु के बाहरी गुण-धर्म मात्र मे ही सौंदर्य नही रहता। जिस सीमा तक गुण-धर्म आत्मा का प्रकाशन करते हैं, उसी सीमा तक पदार्थ सुदर अनुभूत होता है। दोनो अतिवादों को बचाकर मध्य की भूमि ही सौंदर्यानुभूति की सामान्य भूमि कही जा सकती है। आचार्य शुक्ल इस मध्यमार्ग को ग्रहण करते जान पडते हैं।[53]

समन्वयात्मक सौदर्य-दृष्टि सौदर्य-चिता के क्षेत्र की एक अत्यत महत्त्वपूर्ण दृष्टि है—तात्त्विक दृष्टि से भी और प्रसाद-साहित्य पर विचार करने के लिए व्यावहारिक प्रयोजन की दृष्टि से भी। इस दृष्टि के अतर्गत आत्मा अथवा चेतना तथा पदार्थों का बाह्य सौदर्य—दोनो का महत्त्व समाविष्ट है। समन्वय का अर्थ सम और अन्वय, अर्थात् समान मेल या मिश्रण किया जा सकता है। पर समन्वय से हम अर्थ लेना चाहेंगे—आत्मा के निरीक्षण या शासन में अथवा आत्मा की अध्यक्षता में पदार्थों के सौंदर्य की स्वीकृति। समन्वय का मार्ग प्राय सक्षेप या शार्ट कट का मार्ग होता है जिससे कि अन्वित किये जानेवाले दो पदार्थों के पारस्परिक अनुपात का स्पष्ट ज्ञान नही होता। चूकि सौंदर्य की समन्वयात्मक दृष्टि में आत्मा ही प्रधान तत्त्व है;—आत्मा में ही वस्तुगत सौदर्य अन्वित होता है—अत समन्वय का अर्थ उक्त रूप में ही ग्रहण करने की आवश्यकता है।

उक्त समन्वय की दृष्टि का महत्त्व जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस कारण से है कि आत्मा व पदार्थों का सौदर्य—दोनों का ही महत्त्व इसमें स्वीकृत है। आत्मा की शुद्ध स्थिति तो अरूप-अनाम व अनिर्वचनीय है, फिर व्यावहारिक धरातल पर केवल 'आत्मा' से व्यवहार कैसे चलेगा? उधर केवल पदार्थ और उसका बाह्य सौंदर्य, आत्मा से अस्पृष्ट रहकर, जडमात्र रह जायेगा। दोनों ही स्थितिया पूर्ण संतोषकर नही। हम आत्मा को बाहर प्रकाशित होते हुए अथवा किसी व्यक्ति, पदार्थ या स्थिति के माध्यम से व्यक्त होते हुए देखकर ही तृप्त व प्रसन्न हो सकते हैं। आत्मा का बाह्य प्रकाशन कोई ऐसी निम्नगामी स्थिति नही है कि हम उसका नाम सुनकर ही किसी अध्यात्म-ह्रास या अध्यात्म-विमुखता जैसी वस्तु से खिन्न या विकल हो उठें। आत्मा जब तक प्रकाशित न हो तब तक उसकी सत्ता का विश्वास कैसे जमे। अब यदि आत्मा प्रकाशित होगी ही तो किसी वस्तु के माध्यम से ही तो। अग्नि ईंधन के माध्यम से ही तो प्रकट होगी। पदार्थों के माध्यम से

आत्मा प्रकट होती है—इस स्थिति से भी बहुत से अध्यात्म-प्रेमी खिन्न जान पडते है मानो बाह्य पदार्थ कोई ऐसी अत्यत निकृष्ट वस्तु है कि आत्मा जैसी सूक्ष्म-निर्विकार वस्तु के साथ जिसकी कल्पना-मात्र अत्यत असह्य हो। जब तक स्थूल पदार्थ के प्रति हमारी सम्यक् दृष्टि नही होगी तब तक हम इन दोनों सत्ताओ को निकट कल्पित करने मे भयभीत होते रहेंगे। भारतीय वेदात की दृष्टि से देखने पर स्थूल पदार्थ भी ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अपने आप मे भले ही तुच्छ व नगण्य हो पर आत्मा के सपर्क के साथ ही वे दिव्य चेतना के माध्यम या वाहक हो उठते हैं। तात्पर्य यह कि सौंदर्य-चिता के क्षेत्र मे समन्वय की दृष्टि सर्वाधिक सतोष प्रदान करनेवाली दृष्टि है। कवियो, कलाकारों और भक्तों की दृष्टि में उक्त समन्वय-दृष्टि सहज समाविष्ट रहती है।

प्रसाद को भी हम समन्वयवादी विचारधारा से ही सबद्ध मानेंगे, क्योकि वे सौंदर्य-चेतन मे एक ओर तो आत्मवादी है और दूसरी ओर कवि होने के नाते वे आलबन के मूल पदार्थगत सौंदर्य की उपेक्षा नही कर सकते। वे सौंदर्य सबधी दोनों अतिवादी विचारधाराओ से सर्वथा मुक्त होकर सौंदर्य को व्यापक रूप में ही ग्रहण करते है।

सौदर्य सबधी कुछ विशिष्ट धारणाए

सौंदर्य के स्वरूप की एक परिपूर्ण धारणा कतिपय विशिष्ट सौंदर्य-चिंतकों की धारणाओ के समुच्चय द्वारा खडी की जा सकती है।[54]

यों तो सौंदर्य के वैशिष्ट्य की सूचक अनेक विशेषताए बतायी जा सकती हैं, पर उनमें से कुछ ऐसी हैं जो सौंदर्य की प्राणभूत हैं—जिनके अभाव मे सौंदर्य जीवन की एक महान्, उदात्त व गभीर अनुभूति नही कहला सकता। सौंदर्य की ये विशेषताए वस्तु या प्रमेय के बाहरी स्थूल रूपाकार या गुणों को भेदकर भीतर से प्रकट होनेवाली उसकी आत्मस्थानीय विशेषताए हैं। इन विशेषताओं के आकलन के बिना सौंदर्य की अनुभूति स्वादहीन, निष्प्राण और झकृति-शून्य है।

हैंस लारसन ने सौंदर्य-चिंता के प्रसग में कहा है, तर्कभूमि से उठकर वस्तु के सम्यक् रूप के अवबोध के क्षणों में मानो द्रष्टा का तीसरा नेत्र ही खुल जाता और सब कुछ प्रकाशित हो जाता है।[55]

प्रसिद्ध सौंदर्य-चितक एमर्सन की धारणा है कि सौंदर्य में एक विराट्ता (Cosmical quality) होती है जो वस्तु को उसके लघु व्यक्ति से ऊपर उठाकर उस केंद्रीय लाभ (Benefit) का आख्यान करती है जो कि प्रकृति की आत्मा है।[56]

प्रसिद्ध रहस्य तत्त्वचिंतक अडरहिल की धारणा है कि जो व्यक्ति प्रकृति और नारी मे सौंदर्य की रहस्यमयी भावना से स्पृष्ट हुए हैं, उन्हें ही वास्तव में दिव्य ज्योति ने स्पर्श किया है, और उन्होंने ही एक क्षण के लिए वास्तव में सृष्टि के रहस्य को समझा है।[57]

डेवीस (W.H Davies) का कथन है कि वास्तविक जीवन का मानदड यह नही है कि हम कितनी बार सांस लेते हैं, किंतु यह है कि हम सौंदर्य दर्शन से जीवन में कितनी बार स्तंभित-रोमांचित या आत्म-विभोर हुए हैं।

कालिदास की दृष्टि में सौंदर्य पावनकारी है[58] तथा उसका सबध जन्म-जन्मातर से है।[59] भवभूति उसे ही सुंदर मानते हैं जो दिव्य गुणों से समन्वित हो।[60] माघ उसे ही

सुदर कहते है जो प्रत्येक क्षण नवीन जान पडता हो।[61] भारवि ने उसे ही सुदर कहा है जो आत्मपर्यवसित हो और जिसे किसी अन्य की अपेक्षा न हो—'न रम्यमाहार्य्यमपेक्षते गुणम्।[62] श्रीहर्ष विशेषत सम्मात्रा व सामजस्य (Symmetry and Harmony) में ही सौंदर्य देखते हैं।

सूरदास की दृष्टि मे श्रीकृष्ण के सौदर्य के आगे महामुक्ति की भी कोई पूछ नही। उनकी दृष्टि मे रूप को छोडकर कोई दूसरा रक्षक नही। श्रीकृष्ण रूप को देखे बिना सब ससार गोपियो को सूना लगता है। रूप के प्रभाव से द्रष्टा की सहज समाधि लग जाती है।

सामूहिक रूप से सौदर्य की भावना अन्य सब प्रकार के आनद से भिन्न आनद की एक विलक्षण भावना है। वह सामान्य उपयोगिता से पृथक् असाधारण आह्लादमयी अनुभूति है, जिसमें एक अलौकिक तत्त्व का समावेश है। वह व्यक्तिगत उल्लास और भाव से आगे सार्वभौमिक भावना है और ज्ञान की एक आनदमयी अवस्था है जो नवसृजन न नवीन आत्मलाभ से समन्वित है। वह स्वय ही अपना प्रमाण है और ज्ञान के सामान्य साधनों से प्राप्य नही। उसके प्रभाव अवचेतन मे बडे धुधले व अस्पष्ट रूप में भासमान होते है, अत यह भावना अनिर्वचनीय है।[63]

प्रसाद की सौदर्य-विषयक धारणा

सौंदर्य-तत्त्व की इस सामान्य चर्चा के बाद यह देखना आवश्यक है कि प्रसाद की सौदर्य सबधी धारणा क्या है, क्योंकि प्रसाद की साहित्यगत सौंदर्य-सृष्टि उसी से अनुप्राणित है और उस सृष्टि की मूल प्रेरणा और उपादानो की जाच-पडताल के लिए अतिम प्रामाणिकता का सुनिश्चित और दृढ आधार वही प्रदान कर सकती है।

प्रसाद सामाजिक दृष्टि से प्रवृत्तिवादी, साहित्यिक दृष्टि से रसवादी और दार्शनिक दृष्टि से आनदवादी है। उनकी जीवन-दृष्टि मे इन तीनो दृष्टियों का सुमजुल समाहार है। प्रसाद की सौदर्य-विषयक धारणा या विचारणा का मर्म समझने के लिए उक्त सूत्र महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

सामाजिक दृष्टि से प्रसाद प्रवृत्तिवादी हैं। सनानत काल से जीवन के प्रति सामान्यत दो दृष्टिया रहती आयी है—प्रवृत्ति मार्गी और निवृत्ति मार्गी। प्रवृत्ति मार्गी दृष्टि भारत में आर्यजाति की ऋग्वेदकालीन आदि दृष्टि है जो जीवन के आमोद-उल्लासपूर्ण गार्हस्थ्य, सामाजिक व धार्मिक आयोजनों, उत्सवों व समारोहों में प्रकट हुई। कालातर मे कर्मकाड-मूलक वैदिक सस्कृति की प्रतिक्रिया में जैन व बौद्ध जीवन-दृष्टिया विकसित हुई, जिन्होने अपने अहिसा व करुणा की भावना के अतिरेक में जीवन को दु'खमूलक ठहराकर जीवन व प्रकृति का सहज सौंदर्य हर लिया और सयम व आत्म-दमन के आधार पर मठों व विहारो की अप्राकृतिक जीवन-प्रणाली की प्रतिष्ठा की। आत्मा के सहज उल्लास और आनद की भावना जो उपनिषदों व शैवागमों में पायी जाती है, प्राय पूर्णतया भुला दी गयी और हृदय के राग व काया के रूपयौवन आदि के प्रति एक कुत्सा व घृणा उत्पन्न की गयी। प्रसाद-साहित्य में हम इस अप्राकृतिक जीवन-दृष्टि के प्रति एक विद्रोह और उसके जीर्णोद्धार का एक विराट् सकल्प और प्रयत्न देखते हैं। 'इरावती' उपन्यास, 'देवरथ', 'सालवती' आदि कहानिया व अन्य

रचनाए इसका प्रमाण है। तात्पर्य यह कि प्रसाद ने अस्वाभाविक निवृत्ति-दृष्टि का परिहार कर जीवन की स्वस्थ प्रवृत्ति दृष्टि[64] की स्थापना की, जिसका सृष्टि के सौदर्यानुभव व काव्य के रसानुभव से गहरा सबध है।

साहित्यिक दृष्टि से प्रसाद रसवादी है। यह रसवाद रसावयवो के यात्रिक निर्वाह मात्र से प्रसूत न होकर दार्शनिक 'आनदवाद' का साहित्यिक पर्याय है, जिसकी दृढ आधारभूमि प्रसाद ने मर्मग्राहिणी बौद्धिक मीमासा के द्वारा अपनी गद्य रचनाओं में प्रस्तुत की है।[65] इस साहित्यिक रस का मूल उन्होंने मानवीय वासना में माना है जो मनोविज्ञान की प्रक्रिया से आत्मा मे विश्रात होती है। 'वासना' की यह स्वीकृति एक ओर तो कला के जन्म-संबधी आधुनिक मनोविज्ञान की नवीनतम स्थापनाओं के मेल मे होकर प्रामाणिक है और सस्कार व वासना के आधार पर की गयी आचार्य अभिनवगुप्त[66] के सर्वस्वीकृत अभिव्यक्तिवाद की व्याख्या के पूर्ण मेल मे है और दूसरी ओर यह प्रसाद की सौंदर्य-विचारणा के मर्म को समझने का मार्ग प्रशस्त करती है, क्योकि वासना के अभाव मे सौंदर्य की सत्ता मनोविज्ञान-समर्थित नही। पर यह सौदर्य-चिता केवल मनोविज्ञान और साहित्य की प्रक्रिया का ही परिणाम नही, उसमे तो दो ऐसे (यदि इतना ही होता तो इसमे प्रसाद का निजी महत्त्व अत्यल्प होता) विशिष्ट व बहुमूल्य तत्त्वो का समावेश है जो इस दृष्टि को एक स्पष्ट मौलिक व्यक्तित्व अथवा 'प्रसादत्व' प्रदान करते है। वे तत्त्व हैं—शैवभावना और रहस्यदर्शिता।

दार्शनिक दृष्टि से प्रसाद आनदवादी है। यह आनदवाद कोरा स्थूल विनोद न होकर एक गहरी दार्शनिक भित्ति पर आधारित है। इस आनदवाद ने ही प्रसाद की रस-विषयक धारणा को, अभिनवगुप्त के अनुकरण पर, आध्यात्मिक पीठिका प्रदान की है। भारत मे रस की जो धारणा मिलती है वह विनोद को लेकर ही है। आचार्य भामह ने ही उसे गभीर आनद की भूमि पर उठाने का सबसे पहला प्रयास किया।[67] आगे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस दार्शनिक आनदवाद के आधार पर साहित्यिक रस की आध्यात्मिक व्याख्या की। प्रसाद इसी व्याख्या का समर्थन व पोषण करते है। वे सौंदर्य को भी इन्ही दार्शनिक व आध्यात्मिक दृष्टियो से देखते हैं, क्योकि उनकी दृष्टि मे वास्तविक सौदर्य का मर्मोन्मेष वही है। प्रसाद की सौदर्य-चिता व सौंदर्य-निरूपण का विचार करते समय उनकी उक्त आनदवादी दृष्टि को ध्यान में रखना अत्यत आवश्यक है। सृष्टि के सौंदर्य को आनदवादी दार्शनिक की दृष्टि से देखकर उन्होंने साहित्य-निरूपित प्रकृति व नारी के सौंदर्य को एक अभिनव गरिमा व काति प्रदान है। तात्पर्य यह कि प्रसाद के सौंदर्य-निरूपण के मर्म को समझने के लिए उनकी आनदवादी दृष्टि को ध्यान में रखना अनिवार्य है। उन्होंने अपने काव्य-विकास के आरभिक चरण से लेकर अतिम चरण तक इस आनदवाद के प्रति अपनी गहरी निष्ठा रखी है।

ये तीनों दृष्टिया सश्लिष्ट होकर जगत्, मानव और प्रकृति को एक ऐसी नवीन व ताजी दृष्टि से देखने की प्रेरणा करती हैं जो इसमें निहित सौंदर्य को नेत्रों के सामने उभार दे। यह दृष्टि यथार्थ और आदर्श, भौतिक और आध्यात्मिक जैसा कोई कृत्रिम भेद नही मानती। इस कृत्रिम दृष्टि से मुक्त होकर आत्मा के सहज आनद के उल्लास मे जीवन-सौंदर्य को देखना ही इस दृष्टि का रहस्य है। जब तक यह जीवनोपयोगी रहस्य-दृष्टि न प्राप्त हो जाये तब तक गूढ आनदमय सौंदर्य का दर्शन असभव है। आनदवादी प्रसाद ने वही सौदर्य-दृष्टि पायी है। यह

दृष्टि वासना, रूप, यौवन, राग—इनमे से किसी की भी उपेक्षा नही करती, बल्कि उनका सौदर्य आकती है। ये सब शक्ति, उल्लास और आनद की अभिव्यक्तिया है और इनका निषेध या अस्वीकार जीवन के सर्वागपूर्ण विकास के लिए घातक है। वास्तव मे प्रसाद की इस सौदर्य-दृष्टि का मूल उद्‌गम समझने के लिए प्रसाद का एक सूत्र दृढता से पकड लेना पडेगा, जिसके सहारे उन्होंने अपने साहित्य-सृजन का दृष्टिकोण उपस्थित किया है और उसके मूल्याकन का एक दृढ और स्थायी आधार हमे प्रदान किया है—वह सूत्र है 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति'। यह सूत्र मौलिक और क्रातिकारी है। ऊपर हमने जिस मूल अभेद की बात कही है उसका रहस्य इस पदावली की व्याख्या के द्वारा ही खुलता है। अनुभूतिया दो प्रकार की है—सकल्पात्मक और विकल्पात्मक।

विकल्पात्मक दृष्टि विश्लेषण, वर्गीकरण, विभाजन की प्रक्रिया को स्वीकार करती है। यह दृष्टि भेद उत्पन्न करनेवाली है। यह सकल्पात्मक मूल अनुभूति आत्मा की असाधारण मननक्रिया का परिणाम है। इस पदावली मे जो कुछ निहित है, उस सब कुछ के प्रति प्रसाद इतने निष्ठावान् है कि केवल हिदी साहित्य या काव्य ही नही, समस्त भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन की वे बडी गहराई व प्रामाणिकता से व्याख्या करने में समर्थ हो सके है।

प्रसाद की सौदर्य-दृष्टि का इस विचारधारा से सीधा सबध है। विवेक, द्वयता या भेद-बुद्धि से उस अखड सौदर्य के दर्शन का लक्षण है सर्वत्र सौदर्य का दर्शन करना। फिर तो नारी का रूप-सौदर्य, यौवन-भावनाए आदि भी इसी व्यापक सौंदर्य-दर्शन का अग बन जाती है और नारी के वे सब उपकरण जिनको धार्मिक, नैतिक बुद्धिजीवियों ने त्याज्य व हेय ठहराया है, उसी शाश्वत, अखड व अमर सौंदर्य के उपकरण या प्रतीक बन जाते है। इस मानसिक धरातल पर पहुचे बिना प्रसाद की सौदर्य-दृष्टि की सतोषजनक व्याख्या सभव नही।

प्रसाद ने कामायनी मे सौदर्य की यह धारणा प्रस्तुत की है

सौंदर्य में विद्युत् की वह उन्मादयुक्त प्राणमयी धारा बहती है जो अबरचुबी हिमशृगो से कलरव (प्रेमालाप का) और कोलाहल (युद्धनाद) को साथ लिये हुए उतरी है। उसमें मगल कुकुम की श्री और उषा की लाली निखरती है या निखरी हुई रहती है तथा जिसमे ऐसी हरियाली रहती है कि भोला सुहाग इठलाता हो। वह आनद-सुमन के समान विकसित होकर नयनो का कल्याण बना रहता है तथा वासती के वन-वैभव में कोकिल के पचम स्वर-सा रहता है। वह मूर्च्छना के समान मचलता-सा शरीर की नस-नस मे गूज उठता है और आखों के साचे मे आकर रमणीय रूप बनकर ढल जाता है। नयन रूपी नीलम की घाटी सौंदर्य रूपी रस के बादल से छा जाती है। सौदर्य वह कौध है जिससे अतर की शीतलता तक ठडक पाती है। सौंदर्य में वसत का हिल्लोल भरा रहता है और गोधूली की-सी ममता रहती है। उसमें जागरण प्रभात के समान हसता है (या वह जागरण के प्रभात-सा मुसकराता है) और स्वय मध्याह्न भी (जिससे बढकर उज्ज्वल और कुछ नहीं) उससे निखर उठता है। वह सौंदर्य मानो उस नवल चद्रिका (चादनी) से प्रकट होकर मन या मानसरोवर की लहरो पर बिछलता है जो चकित होकर सहसा अपने प्राची के घर (प्राची रूपी घर) से निकल आयी हो। फूलों की कोमल पखुडिया उस सौंदर्य के अभिनदन में बिखर पडती है और उसके स्वागत के लिए जो कुकुम

का चदन (या कुकुम और चदन) बनता है उसके लिए वे (पखुडिया) अपना मकरद मिलाती हैं। कोमल किसलय मृदु-मृदु स्वर से सौंदर्य का ही जयघोष सुनाते रहते हैं। सौंदर्य में (सौंदर्य की भावना या उसकी अनुभूति मे) मन के दु ख और सुख दोनों (अपना वैषम्य छोड) मिलकर उत्सव और आनद मनाते है। वह चेतना का उज्ज्वल वरदान है और ससार में सौंदर्य के नाम मे सर्वत्र पुकारा या जाना जाता है। उस सौंदर्य में अनत अभिलाषा के सब सपने जगते रहते हैं।[68]

सौंदर्य किसी भी प्रकार का (शारीरिक, मानसिक, प्राकृतिक, कलागत) हो, उसके जो भी मूल गुण, धर्म आदि हो सकते है, वे सब इस सौंदर्य-विवेचना में काव्यात्मक पद्धति पर समाविष्ट कर दिये गये है। यह सौंदर्य के स्वरूप का भावात्मक निरूपण है, जिसमें सौंदर्यशास्त्रियों के द्वारा निर्दिष्ट सौंदर्य की प्राय सभी विशेषताए अत्यत रमणीय रूप से सजा दी गयी हैं। यह कोरी भावुकना कहकर टालने की बात नही, प्रसाद ने सौंदर्य की शक्ति व प्रभाव का विशेष अनुभव करके सौंदर्य स्वरूप का यह चित्र अकित किया है जो अनुभति और सौंदर्य-शास्त्र की तुला पर पूरा खरा उतरेगा।

इस काव्यात्मक निरूपण में कवि ने सौंदर्य के मार्मिक गुणों—(आकर्षण, आनद-प्रदायता, सद्यप्रभावशालिता, पावित्र्य, नवता, रहस्यमयता, रमणीयता, अमरता, आत्ममूलकता) का अत्यत सक्षिप्त व प्रभावशाली व्याख्यान किया है। गुणो की कोरी गणना ही नही कर दी गयी है। इन गुणों को भरे-पूरे जीवन-व्यापारो के बीच अवस्थित करके उन्हे सजीव बनाया गया है।

प्रसाद-साहित्य में अन्य स्थलो पर भी सौंदर्य-विषयक विचारधारा प्राप्त होती है। प्रसाद यह मानते हैं कि किसी रहस्यमयी आत्मिक क्रिया से जीवन में सहसा किसी दिन, किसी क्षण सौंदर्य का प्रथम अनुभव होता है।[69] इस क्षण के बाद ही सब कुछ एक मोहिनी और मधुरता से ओतप्रोत हो उठता है।[70] प्रसाद रूप और सौंदर्य में भेद करते हैं। बाह्य रूप की अपेक्षा हृदय का सौंदर्य ही उन्हें प्रिय है, जो ससार की दूषित वायु से नष्ट नही होता।[71] जब बाह्य आकृतियों का आवरण हट जाता है, तभी विश्व का रूप रसमय होता है।[72] ऐसे अनुभव से ही आतरिक ज्योति के उन्मेष से आखे पारदर्शी हो जाती हैं।[73] आतरिक, आत्मिक सौंदर्य की आभा से स्नात बाह्य रूप ही या हृदय की अनुकृति बनकर प्रकट हुआ वास्तविक रूप है।[74] जीवन में स्निग्धता सौंदर्य के ही कारण आती है।[75] सौंदर्य के निर्माता उपकरणों में, प्रसाद की दृष्टि से, एक अत्यत महत्त्वपूर्ण उपकरण है सरलता,[76] वैभव नहीं। रीतिकाल में वैभव व मादकता के अभाव में सौंदर्य की कल्पना भी नही होती थी,[77] यह यहा द्रष्टव्य है। सौंदर्य की यही सुषमा है कि उसके प्रभाव से लौह या पाषाण का हृदय भी मृदुल-स्निग्ध व द्रवित होकर ही रहता है।[78] प्रसाद की मान्यता है कि सृष्टि में सब कुछ सुदर है। अपना हृदय प्रशात बनाये बिना इस सृष्टि में वह सच्चा सौंदर्य दिखायी ही नहीं पड़ेगा।[79] वे तो इस सौंदर्य को ही निरखने के लिए जन्म लेकर पृथ्वी पर आना चाहते हैं।[80] क्योंकि प्रिय का दर्शन वस्तुत सौंदर्य से कोई पृथक् वस्तु नहीं है, स्वयं सौंदर्य का दर्शन ही प्रिय का दर्शन है और सर्वत्र उस सौंदर्य की ही प्रभा जगमगा रही है।[81] मानवी या प्राकृतिक, कैसा भी सौदर्य हो, है किसी दिव्य शिल्पी का ही कला-कौशल।[82]

प्रसाद रहस्यवादी है। वे विश्व-भर में विकीर्ण इस सौंदर्य का मूल उत्स कही दूर देखते है, जहा किसी परम सुदर या चिर सुदर का शाश्वत का निवास है।[83] वह एक ऐसी सत्ता है

छोटे छोटे कुसुम श्यामला धरणी मे जिसका सौदर्य
इतना ले कर खिलते हैं, जिन पर सुदरता का गर्वी—
मानव भी मधुलुब्ध मधुप-सा सुख अनुभव करना फिरता।

+ + +

उस सौदर्य-सुधा सागर के कण है हम तुम दोनो ही
चलो, मिले सौदर्य-प्रेमनिधि मे—तब कहा चमेली ने
जहाँ अखड शाति रहती है [84]

यह अतीद्रिय व आदर्शवादी सौदर्य है जिसमे प्रसाद की सौदर्य-विषयक मार्मिक या केद्रीय चिता सचित है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जानेवाला यह अतींद्रिय सौदर्य पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो की धारणा के निकटतम है।[85]

सौदर्य-धारणा-विषयक कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण सूत्र भी प्राप्त होते है

सौदर्य मे बडी सुषमा होती है जो कठोर हृदय को भी पिघलाकर मृदुल बनाने में समर्थ होती है।[86] सुषमा चाहे प्राकृतिक हो या मानवीय—दोनो दिव्य शिल्पी के कला-कौशल है।[87] सौदर्य की साधना से अतत सत्य ही सुदर बनकर प्रकट हो जायेगा।[88] प्रेमी के लिए इस मिथ्या जगत् में अतिम सत्य सुदर ही बनकर रहता है।[89] कवि की दृष्टि में यह ससार वास्तव मे ही सौंदर्य का समुद्र है।[90]

सस्कृति सौदर्य की जिज्ञासा है।[91] इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी[92] प्रसाद ने सौदर्य के स्वरूप, प्रकृति व प्रभाव आदि की अत्यत कार्यात्मक व्यजना की है।

सौंदर्य की इस विचारधारा पर गभीर दृष्टि डालने पर जान पडेगा कि प्रसाद की विचारधारा अत्यत व्यापक है प्रसाद न तो सौदर्य को केवल भावना मात्र कहते है और न वस्तु का बाहरी गुण-धर्म मात्र। उनकी दृष्टि मे तो जहा-जहा भी आत्मा का प्रकाशन है, वही सौदर्य है। यह तथ्य उनके साहित्य से हमे सर्वत्र प्राप्त होता है।

प्रसाद-साहित्य में सौदर्य . विश्लेषण

अब हम प्रसाद द्वारा निरूपित सौंदर्य के अतरग विश्लेषण में प्रवृत्त होंगे।

शारीरिक सौदर्य

नारी-सौदर्य कुछ विशिष्ट चित्र प्रसाद-साहित्य में नारी-सौदर्य के कुछ अत्यत कलात्मक व रमणीय चित्र मिलते है, जिनमें प्रसाद की रूप-चित्रण कला अपनी पराकाष्ठा को पहुची हुई दिखायी पडती है।

कामायनी,[93] इडा,[94] 'आसू' की नायिका,[95] 'लहर' की नायिका,[96] कमला (लहर),[97] 'झरना' की नायिका,[98] नवाब पत्नी,[99] 'प्रेम-पथिक' की नायिका,[100] देवसेना,[101] विजया,[102] पुतली,[103] मागन्धी,[104] मल्लिका,[105] बेला,[106] लैला,[107] देवदासी,[108] सालवती,[109] 'अमिट-स्मृति' कहानी की मुख्य पात्री,[110] मधूलिका,[111] नूरी,[112] सुजाता,[113] सरला,[114]

मंगला,[115] रोहिणी,[116] इरावती,[117] कालिन्दी,[118] तितली,[119] शैला,[120] यमुना,[121] शबनम,[122] घंटी,[123] गाला,[124] आदि नारी पात्रों के रूप-सौंदर्य का चित्रण प्रसाद ने विशेष मनोयोगपूर्वक किया है। इस चित्रण में प्रसाद ने सूक्ष्म निरीक्षण; कौशलपूर्ण सजीव रेखांकन, वर्ण, ध्वनि व गति-व्यापार के प्रति गहरी संवेदन-क्षमता तथा ध्वन्यात्मकता व उत्कृष्ट शब्द-शिल्प-कौशल का परिचय दिया है।

नारी-सौंदर्य के चित्रण के क्षेत्र में प्रसाद में संस्कृत के कवियों तथा हिंदी के रीतिकालीन कवियों का-सा जीवंत उत्साह दिखायी पड़ता है। नख-शिख परंपरा काव्य की पुरानी रूढ़ि है। प्रसाद ने उस रूढ़ि को कहीं-कहीं[125] अपनाया है। उसमें युगानुरूप व रुचि-अनुरूप नवीन प्राण-प्रतिष्ठा भी की है। नारी के अंग तो वे ही हैं, उनमें घट-बढ़ कहां से हो ? हां, उन्हीं अंगों के निरूपण में प्रत्येक युग का कवि अपने परिवेश, स्व-रुचि व युग-रुचि, सौंदर्य-भावना, शिक्षा-संस्कार, चित्रण-कौशल, नवीन उपमान-चयन, सूक्ष्म व विस्तृत निरीक्षण आदि से सौंदर्य-चित्रण के सामान्य या परंपरागत ढांचे में नवीन ज्योति अवश्य भर सकता है। प्रसाद ने भी यही किया। 'आंसू' और 'कामायनी' का नख-शिख वर्णन इसका प्रमाण है। साथ ही नख-शिख की पुरानी रूढ़ि से सर्वथा हटकर उन्होंने कुछ स्वतंत्र व अत्यंत आकर्षक रूप-चित्र भी, जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है, हमें प्रदान किये हैं। उन सबकी कुछ मार्मिक विशेषताओं को झलका देना ही यहां इष्ट है।

नख-शिख सौंदर्य : समस्त देह का चित्रण करने में प्रसाद पतली काया,[126] लंबा छरहरा अंग,[127] ढीली नमित अंगलता,[128] कुसुम आभरण से भूषित अंगलता,[129] 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लंबी काया उन्मुक्त'[130] के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हैं। घुंघराले बाल,[131] लहरीली नीली अलकावली[132] तथा 'बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल',[133] काली जंजीर व मणिधर सर्प से केश[134] व अगरु धूम्र की श्याम लहरियां जिनमें उलझी हों, वे केश उन्हें प्रिय हैं। विश्व-मुकुट-सा, शशिखंड-सा भाल,[135] सहज उन्नत ललाट[136] उनकी कल्पना के अनुकूल है। कमला (लहर) की मुसकान पद्मराग के समान है[137] तो श्रद्धा की मुसकान मानो रक्त किसलय पर विश्राम लेनेवाली अरुणा की एक अम्लान करिण।[138] श्रद्धा की हंसी का मद-विह्वल प्रतिबिंब मधुरिमा की अबाध क्रीड़ा-सा है।[139] बल खाती भवें,[140] घनी, आपस में मिली भवें,[141] सहज खिंची हुई भवें,[142] पहरा देती हुई सेना-सी काली भौंहें,[143] काली घनी भौंहें,[144] प्रसाद की सुंदर भौंहों की कल्पना प्रस्तुत करती हैं। आंखों के वर्णन में प्रसाद की कल्पना ने विशेष श्रम किया है। 'दो पद्म पलाश चषक-से दृग'[145] भोली मतवाली आंखें,[146] सुर्मई आंखें,[147] 'तिर रही अतृप्ति-जलधि में नीलम की नाव निराली',[148] 'निद्रानिमीलित पद्मपलाश लोचन',[149] तरल नील शुभ्र करुण आंखें,[150] सुरमीली आंखें,[151] मदिरा मंदिर के द्वार-सी खुली आंखें,[152] लाली से भरी कजरारी आंखें,[153] बरस पड़ने की धमकी देनेवाली आंखें,[154] सुरमे का घेरा जिसकी सत्ता का साक्षी हो, ऐसी आंखें,[155] मादकता के डोरेवाली आंखें,[156] माणिक मदिरा (यौवन मद) से भरी नीलम की प्याली-सी काली आंखें,[157] सदैव गंभीर स्वप्न देखती काली रजनी-सी उनींदी आंखें,[158] तर आंखें,[159] बरसाती ताल-सी लहराती आंखें,[160] विभ्रममयी आंखें,[161] कुसुमोत्सव वाली (रतिमानपूर्ण अनुरागमयी) आँखें[162] प्रसाद को सुंदर जान पड़ी हैं। अंजन-युक्त आंखें उन्हें विशेष प्रिय हैं। अपांग में नीलांजन की रेखा[163] व कालापनी बेला-सी अंजन रेखा[164] आकर्षक हैं। नेत्र के मदोद्धत[165] व अलस[166]

कटाक्ष ही प्रभाव मे अचूक हैं। आखो के साथ ही पलकों और बरौनियो का सौदर्य भी चित्रित हुआ है। मदिरा-भार से झुकी पलके[167] व छज्जे के समान फैली पलकें[168] व चिको-सी बरौनिया,[169] छतराती हुई काली बरौनिया,[170] काली पुतलियों के समीप घेरेदार मोटी और काली बगैनिया[171] आकर्षक है।

मुख की शोभा अधखिले सरोज-सी[172] सुदर कही गयी है। श्रद्धा का मुख अरुण रवि मडल-सा है तथा वह नयन का अभिराम इद्रजाल है।[173]

मधूक से कपोल,[174] कपोल का तिल,[175] कपोलो के गढे,[176] कपोल पाली,[177] कपोलों के लाल मुहासे[178] इत्यादि भी विस्मृत नही हुए है।

वेणी की शोभा ने भी स्थान पाया है। पुच्छमर्दिता वेणी,[179] घुघराली वेणी,[180] पुष्पमाल से बधा जूडा[181] व करौंदे के फूलों से अलकृत केश-राशि तथा सुदर माग[182] आदि ने नारी-सौदर्य को चटका दिया है।

बकग्रीवा,[183] पतली लबी गरदन,[184] कम्बुक कठ,[185] सहज नुकीली नाक,[186] रोमावलि,[187] नासापुट के नीचे हल्की-हल्की हरियाली,[188] नासिका की नोक,[189] पतले अधर,[190] पुरइन के किसलय से कान,[191] कर्णमूल,[192] मसूढे,[193] अपाग,[194] पतली बाहुलता,[195] भुज,[196] पतली अगुलिया,[197] जलदागम मारुत से कपित पल्लव सदृश हथेली,[198] अस,[199] त्रिवली,[200] चरणतल,[201] मृदुल रसमयी एडिया,[202] गुल्फ[203] तथा काया का वर्ण—गौर श्यामल आदि-आदि सबके सौदर्य के प्रति लेखक सजग है।

आभूषणादि व सूक्ष्म सौदर्य-प्रसाधन—स्वर्ण रत्नालकार व पुष्पाभरण का वर्णन भी सौदर्य के प्रसग मे हुआ है। मरकत हार और बडे-बडे लटकते मोती, किरणे छोडनेवाले वैदूर्य ककण, मणिजटित कचुक पट्ट, मणि मेखला,[204] रत्नालकार,[205] सतलडी मेखला,[206] अलक्तक रजित चरणो के नूपुर,[207] मोतियो की एकावली,[208] माणिक्य से काटकर बनाया स्तवक[209] आदि का वर्णन हुआ है। पुष्पाभरण मे जूडे पर बधी करौदे के फूलो की माला,[210] स्वर्ण मल्लि की माला,[211] चमेली की माला,[212] कुसुमाभरण[213] भी उल्लिखित हुए हैं। काच की चूडिया व नथ भी सम्मिलित है।[214]

आभूषण के साथ ही सौदर्य के कुछ विशिष्ट सूक्ष्म प्रसाधनों का भी उल्लेख किया जा सकता है सुरमा,[215] अगराग,[216] कपोलो के लिए कल्पवृक्ष का पीत पराग,[217] ताबूल की लाली,[218] अलक्तक[219] आदि।

परिधान परिधान, सौंदर्य का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। परिधान के आयोजन में प्रसाद ने वस्त्र, वस्त्र के वर्ण, गुण, जाति, गति धारण-शैली आदि सब विवरणो की बारीकी और उसके माध्यम से अपनी व्यक्तिगत सुरुचि व शालीनता का परिचय दिया है। वेशभूषा भव्य व सामान्य—दोनों प्रकार की, यथावसर आयी है। मसृण गाधार देश के नील रोमवाले मेषों के चर्म,[220] आलोक वसन लिपटा अराल,[221] तारक खचित नील पट,[222] जरतारी ओढनी,[223] काशी के बहुमूल्य कौशेय,[224] नवीन कौशेय, चीनाशुक,[225] काशी का बना स्वर्ण तारो से खचित नीला लहगा, घुघराली वेणी के ऊपर एकक नवीन उत्तरीय,[226] सुगध से बसा उत्तरीय[227] सरके हुए घूघट से निकली अलके।[228]

नील मेष वाले रोमों के नील वसन, नील परिधान[229] आदि विवरण से लेखक की परिधान सबधी सुरुचि व्यक्त होती है। नील वर्ण के प्रति प्रसाद का अत्यधिक आकर्षण है। साथ ही, छीट

का घाघरा और चोली,[230] गोटे से टकी ओढनी, सालू की छीट,[231] चपई रग की चौडे किनारे की धोती[232] आदि से सौम्य व सादी वेशभूषा ने भी लेखक को आकृष्ट किया है।

अनुभाव आश्रय व आलबन की भाव-प्रेरित व लोक मे बाहर प्रकाशित होने वाली विभिन्न शारिरिक चेष्टाएँ[233] उनके सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करती है। प्रसाद ने रूप-सौंदर्य के बीच्र अनेक मनोहर मुद्राओं की कल्पना की है जो एक ओर तो कवि की भाव-पहचान को सूचित करती है, और दूसरी ओर उसकी निजी रुचि व कल्पना को सकेतित करती है।

ताबूल लेकर मचलना,[234] पास मे खिसकना,[235] अधरों पर उगली रखना,[236] कनखियो से देखना,[237] प्रेमी के कधे पर सिर रखना,[238] चद्रमा की ओर देखकर आख बद करना,[239] सिर झुकाकर तिरछी चितवन से देखना,[240] चिबुक पकडकर सकरुण देखना,[241] भुजाओं से छाती दबाना,[242] अधरो पर उगली रखकर सोचना,[243] भवो का हसना व ओठों को बडे दबाव से रोकना,[244] सुमन नोचना,[245] सिर नीचा कर मधु-धार चुआते फूलो की माला गूथना,[246] उत्तरीय को सभालना,[247] लज्जा से सिर नीचा करना,[248] कुसुम-ककण-मडित करो पर कपोल धरना,[249] भवो से पानी पोछना,[250] कुतूहल उत्पन्न करते हुए किसी की आख मीचने के लिए चुपचाप दबे पाव आना,[251] किसी की कोमल हथेलियों को धीरे से अपने हाथ मे ले लेना,[252] कोरी आख निरखना[253] आदि चेष्टाओं का सुदर चित्रण हुआ है।

क्रोध के मारे मुह का झाग से भर आना,[254] होंठ काटना,[255] होंठ चबाना,[256] होंठ फडक उठना,[257] कनपटी लाल होना व बरौनियो का तन जाना,[258] मस्तक की रेखाओं को ऐंठना[259] आदि अन्य रसो के अनुभावों का भी यथास्थान चित्रण मिलता है।

अश्रु, स्तभ,[260] स्वेद,[261] रोमाच,[262] कप[263] आदि सात्त्विक भावो का भी समावेश हुआ है।

गति ही जीवन है, जीवन का लक्षण है। व्यक्ति या वस्तु मे गति का समावेश होते ही वह चैतन्य से परिपूर्ण हो जाता है। पवन-प्रेरित सौरभ-सी साकार व मधु-पवन क्रीडित शिशु सालवृक्ष-सी श्रद्धा की गति,[264] इडा के चरणों की गति भरी चाल,[265] बेला की थिरकती चाल, मदिर गति व परिमल के उद्‌गार वाला प्रत्येक आदोलन,[266] कुसुमाभरण से भूषित देवदासी की अगलता का सचालन,[267] यौवन की अगडाइयों का लहर-सा तरगित होना[268] आदि बातें गति-चित्रण की सूचक है।

वाणी का माधुर्य व भावभरित आरोह-अवरोह, सौदर्य को सजीव करनेवाला उपकरण है। वीणा की झकार से भरी वाणी,[269] कठ से निकली वनस्थली की-सी काकली,[270] कदब पुलक-सा गद्‌गद बोल,[271] प्रथम कवि के सुदर छद-सी व मधुकरी के गुजार-सी श्रद्धा की वाणी[272] आदि उल्लेख वाणी-सौंदर्य के प्रति कवि की सजगता के सूचक है।[273]

प्रसाद रूप और यौवन[274] के कवि कहे गये है। रूप और यौवन का घनिष्ठतम सबध है, क्योंकि यौवन ही रूप का ईंधन है। प्रसाद जी ने अरूप यौवन की अलक्षित प्रेरणा, उसके स्वरूप, लक्षण, शक्ति व प्रभाव का अत्यत काव्योचित वर्णन किया है या उसके प्रति उद्‌गार व्यक्त किये हैं। यौवन एक अवस्था है, एक भावना है, जिसका रूप-सौंदर्य से घनिष्ठ सबध है। यौवन हमारे तन, मन व प्राण—सभी पर एक विलक्षण प्रभाव रखता है। ऐसे यौवन के स्वरूप व शक्ति पर प्रसाद ने मार्मिक उद्‌गार व्यक्ति किये है और उसका प्रतीकात्मक चित्रण

किया है। यौवन की अधीरता, उत्कठा, विकलता, उद्दाम गति आदि सबका बडा सजीव अकन हुआ है।

यौवन के मालती मुकुल का खिलना,[275] यौवन का उद्वेल उठना,[276] दारिद्र्य में भी क्रीडा-विह्वल यौवन का न छिप पाना[277] आदि कथन यौवन की केंद्रीय मार्मिकताओ के परिचायक हैं।

वयःसधि और यौवनोदय का उसकी समस्त रूप-श्री व आतरिक ओज व काति, भाव-वैभव व अन्य व्यजनो (शारीरिक विकार, अगडाई, चचलता, छेडछाड, भावचाचल्य, रोम-जागरण, उन्माद, उत्कठा, स्वर-मरोर, वाणी-वेदना, विभ्रम, लीला-विलास, लुट जाने की चाह) के साथ सूक्ष्म निरूपण हुआ है।[278] 'लहर' की कविता 'आह रे, वह अधीर यौवन' मे तथा 'ककाल'[279] मे मादक व उद्दाम यौवन के स्वरूप का अत्यत मार्मिक उद्घाटन हुआ है।

प्रसाद अपनी यौवन-कल्पना को कही-कही नित्य यौवन-छवि तक खीच ले गये है।[280] पर भगुर मानवो का यौवन भी उन्हें कम प्रिय नही। कही वह यौवन-कुमुदो से प्रफुल्लित भादों की भरी हुई नदी-सा है,[281] तो कही शरद्काल के ताल-सा भरा हुआ,[282] कही कामदेव के चित्र-सा[283] है तो कही मस्त घोडे-सा व मछली-सा।[284] यौवन तेज और रूप से परिपूर्ण एक स्फुलिंग है। उसी के कारण अग-अग मे लावण्य की ज्योति[285] भरी रहती है।

प्रसाद ने यौवन की धारा मे आकठ डूबकर उसका अनुभव किया है।

भाव-व्यजना कोरा चित्रण तो एक ठडा-ठडा अनुकरणमूलक, अवकाशापेक्षी व अभ्यास-साध्य शिल्प-कौशल मात्र जैसा कार्य है जो अपने में पर्याप्त उच्चकोटि का होते हुए भी, काव्य के मूल क्षेत्र, उसकी प्रकृति या पद्धति को देखते हुए, कुछ निम्नस्तरीय ही कहा जा सकता है (हम प्रतीकात्मक या कल्पनात्मक चित्रकला की बात नही कर रहे हैं)। इसी आधार पर चित्रकला (अनुकरणमूलक ही) कदाचित् काव्य से निम्नकोटि की कला कही गयी है।

काव्य का वास्तविक क्षेत्र भाव-व्यजना ही है और इसी मे कवि की आतरिक भावदीप्ति, ज्योति और ऊर्जस्वित चेतना के समग्र दर्शन होते हैं। अत प्रसाद ने यद्यपि रूप का उच्चकोटि का चित्रकारोचित रेखाकन किया है, पर अपनी पूरी परितृप्ति के लिए वे भाव-व्यजना के बिना रह नही सके है। यह भाव-व्यजना कही तो स्पष्टत रूप-यौवन के शब्द-चित्रो के सहारे हुई है और कही अपने शुद्ध रूप में—आह्लाद, आश्चर्य व हर्ष की व्यजना मे। यो भाव-व्यजना, अपने सूक्ष्म रूप में, शुद्ध चित्रणों में भी समायी रहती है, क्योकि सौंदर्य-भावनाजन्य कवि की स्फूर्ति ही सौदर्य-चित्रण की प्रेरिका होती है। प्रसाद-साहित्य में रूप-सौदर्य-विषयक भावों की व्यजना अनेक स्थलो पर अत्यत सुदर रूप में हुई है।

सौंदर्य के चित्रण व वर्णन के साथ ही प्रसाद ने सौदर्य के प्रभाव व शक्ति के प्रति गभीर भावोद्गार भी व्यक्ति किये है। विस्मय, हर्ष, आह्लाद, कुतूहल आदि भावनाओं की इस अभिव्यक्ति में प्रसाद की सौदर्य-भावना के अवगाहन की गहरी क्षमता निहित है।

उनके सस्कार की उच्चता, चित्त-द्रुति की गहरी क्षमता व सौदर्यबोध के उच्च विकास की द्योतक है।

तूलिका-चित्रण प्रसाद ने जहा एक ओर रूप मे निमज्जन करके उसकी मर्म-केंद्रीय भावना की भावोच्छ्वासमयी प्रगल्भ व्यजना की है, वहा दूसरी ओर उन्होने एक पर्यवेक्षण-पटु कुशल चितेरे की तरह नारी-सौंदर्य का अत्यत सधे हाथो से, शब्द-माध्यम से सूक्ष्म-कोमल यथातथ्य रेखाकन भी किया है। वर्ण्य वस्तु के रूप, रग, रेखा, ध्वनि आदि का जीवत चित्रण करके लेखक ने अपनी आख की बारीकी का परिचय दिया है। वस्तु की केंद्रीय सत्ता का साक्षात्कार कराने के लिए उन्होने ऐसे चित्रणों मे कही-कही तटस्थ चित्रण-वृत्ति छोडकर वस्तुगत विविध उपकरणो के मानवीकरण के बल पर, भावपूर्ण क्रियाकलाप व रागरगपूर्ण स्वतत्र जीवन भी प्रदान किया है, जिससे कि हमे वस्तु की सार-सत्ता मे डूबकर उसकी भावगत वास्तविकता को छोडकर खीच लाने व उपस्थित करने की लेखकीय क्षमता का भी पूरा-पूरा परिचय मिलता है। इस व्यापार को हम लेखक का चित्रकारोचित तूलिका-चित्रण कह सकते हैं, जो भाव-व्यजना से एक विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति-विधा है।

तूलिका-चित्रण दो प्रकार से सपन्न हुआ है—यथातथ्य अकन शैली मे और सकेत शैली में।

प्रभाव-व्यजना रूप का जो प्रभाव होता है उसका ग्रहण द्रष्टा की प्रभाव-ग्रहण की जन्मजात क्षमता के अनुपात मे ही होता है। इसमे चित्तभूमि की स्निग्धता-सजलता या उर्वरता की मात्रा का विकास निहित है। एक ही दृश्य विविध सस्कारशील द्रष्टाओं में विभिन्न प्रभाव या अपील छोडता है। प्रसाद ने सौंदर्य के जो चित्र या उद्‌गार प्रस्तुत किये हैं, उनसे उनकी प्रभाव-ग्रहण-क्षमता का गहरा परिचय मिलता है। सामान्य व्यक्ति या कवि भी रूप के प्रभाव को पूरी तरह अपने मे विविध सवेदन-भगिमाओ के साथ ग्रहण भले ही कर सकते हो, पर ग्रहण करने के साथ ही उसे तदनुकूल (दृश्य या वर्णवस्तु का मूल भावना की गुण-प्रकृति के सर्वथा अनुरूप) चारु शब्द परिधान दे सकना कुछ दूसरी ही बात है। प्रसाद मे प्रभाव-ग्रहण व चारु चित्रण—दोनो ही गुण एकसाथ समजित रूप मे दिखायी पडते है। अग-अग मे मकरद की छलकन का व लावण्य की ज्योति का अनुभव करना, यौवन को छूटते स्फुलिग-सा कहना, रूप को एक ज्योति, महत्ता आलोक कहना, उससे आखो मे श्यामा कादम्बिनी की शीतलता का प्रसार अनुभव करना, ससार के अत्याचारो से शीर्ण-विदीर्ण हृदय पर उसका आगमन स्निग्ध मलयानिल-सा अनुभूत होना, उसके द्वारा दिव्य अनुभूतिमयी सरसता का सचार होना आदि बातें प्रभाव-ग्रहण की गभीर शक्ति की परिचायिका है।[286]

पिंड पारद हृदय का वसतकालीन चलदल की तरह काप उठना,[287] कपोलों की अरुणिमा की गुलाबी छटा के नीचे सारे संसार का मधुर विश्राम करने लगना[288]—आदि के द्वारा रूप की शक्ति का व्यक्ति व विश्व पर प्रभाव स्पष्ट है।

वर्ण-भावना पचतन्मात्राओं के वर्णन से सयुक्त सौदर्य सजीव व परिपूर्ण हो जाता है। प्रसाद ने इस ओर भी ध्यान दिया है। उनकी वर्ण-भावना बहुत परिष्कृत व गभीर है। श्रद्धा के रूप व परिधान में नील वर्ण, बिजली का-सा स्वर्णोज्ज्वल वर्ण, नीलम व ज्वालामुखी की अग्नि का वर्ण,[289] 'आसू' की नायिका के नेत्र के वर्णन में कथित नीलम की प्याली मे भरी माणिक मदिरा का वर्ण,[290] चरणों के अलक्त की लाली का वर्ण,[291] उज्ज्वल श्याम वर्ण,[292] मरकत के

हार की हरियालीमयी छाया का वर्ण,[293] रत्न और आलोक की छाया का वर्ण,[294] आलोक-अधीर अतरिक्ष,[295] शरीर के रग मे धोती के चपई रग का घुल-मिल जाना,[296] वैदूर्य के ककण से किरणें निकलना,[297] काली घनी भौहों के नीचे घने अधकार का खेलना,[298] पीली रेशमी साडी का चपा की कली-सा दिखना,[299] मस्तक पर रोली का अरुण बिदु,[300] गुलेनार चादर,[301] गेहुआ रग[302] आदि के उल्लेख प्रसाद की वर्ण-भावना के विकास व परिष्कार के प्रदर्शक है।

गध-भावना इसी प्रकार प्रसाद की गध-भावना भी बहुत विकसित है।[303] पवन की गध, शरीर की गध, पुष्पों की गध आदि का अनुभव तो प्राय सामान्य होता है। सुशोभित हो सौरभ सयुक्त,[304] पागल हुई मै अपनी ही मृदु गध से, कस्तूरी मृग जैसी[305] और सास लेता था समीर मुझे छूकर,[306] सौरभ से भरी रगरेलिया,[307] सुगध की पुतलिया,[308] 'मुद्रित मधुर भीनी-भीनी रोम मे',[309] 'उषा अरुण प्याला भर लाती सुरभित छाया के नीचे',[310] सुगध की सुधा का सोता मद-मद,[311] मुख के नि श्वासो में कदब की भीनी महक,[312] मुख की सुरभित भाप,[313] मरद-उत्सव,[314] सौरभ से पूरित दिगत,[315] सुरा सुरभिमय अरुण-वदन,[316] उठी लहर मधुगध अधीर[317] आदि के उल्लेख प्रसाद की सूक्ष्म गध-भावना का परिचय देते है।

नाद-व्यजना इसी प्रकार ध्वनि या नाद के प्रति भी प्रसाद के कान सजग है। मणि-नूपरों की झनकार,[318] दूरागत वशी रव,[319] 'ककण क्वणित रणित नूपुर थे',[320] काकली का स्वर[321] आदि उल्लेख इसके प्रति आश्वस्त करते है।

स्पर्श-भावना स्पर्श की अनुभूति का चित्रण भी इस प्रसग मे उल्लेख्य है। मसृण,[322] स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड मे स्फूर्ति,[323] स्निग्धता बिछलती थी जिस मेरे अग पर,[324] स्पर्श का विकारमय अनुभव,[325] 'धीर समीर परस से पुलकित'[326] आदि के द्वारा स्पर्श की सवेदना मूर्तिमान हो उठती है। स्थूल स्पर्श अनुभूति को प्रत्यक्ष की सत्यता देकर अत्यत प्रामाणिक बना देता है, अत वह अनुभूति की पूर्णता का एक सहायक या सहयोगी उपकरण समझा जा सकता है—यद्यपि सौदर्यानुभव में आख या कान ही मुख्य इद्रिया है। स्पर्श स्थूल भौतिकता या ऐद्रिय सपर्क का वाचक है, सौंदर्यानुभूति को सूक्ष्म और पावन बनाने के लिए कवि उसका एक उच्च धरातल पर भी अवस्थान करता है। वह ऐंद्रिय विकार से बचाने के लिए या तो अपनी अनुभूति को स्वर्गीय स्पर्श कहता है[327] या अपने प्रिय को 'तुम स्पर्शहीन अनुभव सी'[328] कहकर ही सतुष्ट होता है।[329]

विश्लेषण द्वारा सूक्ष्मतर तथ्यो की अवगति तथ्यों पर आधारित इस विश्लेषण से अब कुछ सूक्ष्मतर सत्य की अवगति की जा सकती है प्रसाद ने सौदर्य का गहन अनुभव किया है, क्योंकि उसके अभाव में इतना विशद-सूक्ष्म निरीक्षण सभव ही नही हो सकता था, साथ ही इससे प्रसाद की मूल जीवन-दृष्टि भी सूचित होती है। निवृत्ति मार्गी इतने उत्साह के साथ सौदर्य की ओर कभी आकृष्ट नही होगा, क्योकि उसे भय है कि उसकी इद्रिया उसे उधर फसा देंगी। पर प्रसाद अपनी शिव-भावना के साथ बडे उत्साह से सौंदर्य के इस नदन-कानन में विहार करते है। वे जानते हैं कि *'सर्वं शिवमय जगत्।'* इद्रिया आखिर लेकर जाएगी कहा ? सर्वत्र शिव ही तो हैं, फिर भय किस बात का ? उनके लिए तो सारा

ससार ही सौंदर्य-जलधि है। भागकर जाएगे कहा? बस एक ही निरापद और आश्वासनकारी मार्ग है—*'तेन त्यक्तेन भुजीथा'*—ईशोपनिषद्। प्रसाद को कोरा वैराग्य व तप कदापि रुचिकर नही—'तप नही केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद' (कामायनी)। प्रसाद का प्रिय दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) भी वैराग्य को अनुचित प्रश्रय नही देता।[330] प्रसाद उसी सहज की भूमि पर है जिस पर कबीर ने कहा था—'ऑख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ तनिक कष्ट नही धारूँ। खुले नयन पहचानूँ हरि को सुदर रूप निहारूँ॥' यह सौंदर्य सृष्टि-बीज काम मे पूर्णतया सबद्ध व समर्थित है। समाधिस्थ होने में सहायक होने के रूप मे मनचाही वस्तु का ध्यान करने की छूट पातजल योग-शास्त्र भी देता है।[331] इस नाते सौंदर्यपूर्ण अगो व अन्य पदार्थों का ध्यान किसी प्रकार साधना में बाधक नही, वह साधना के लिए सहायक ही है। इस प्रकार प्रसाद का यह सौंदर्य-प्रेम उनकी साधना व जीवन-दृष्टि का प्रतीक है। सौंदर्य के प्रति उनका गहरा आकर्षण यह व्यक्त करता है कि कवि ने भावभूमि पर माया के सरस प्रसार के रहस्य को हस्तामलकवत् कर लिया है। यह प्रसाद का जीवन की स्वीकृति का दर्शन है, निषेध का नही। इस रस और रगीनी की स्वीकृति के बिना विश्व की यात्रा मरुस्थल की यात्रा है। आनदवादी, रसवादी और जीवनवादी कवि सौंदर्य को इसी रूप मे ग्रहण करता है, अन्य किसी भी रूप में नही। यह सौंदर्य काव्य-रस की उत्पत्ति करता है, इससे यह प्रमाणित है कि इसमे नैतिकता का विरोध नही है, क्योकि नैतिकता का जहा अपकर्ष या ह्रास हो वहा 'रस' नही, 'रसाभास' ही होता है।

प्रसाद की रूप-चित्रण-कला के सबध में अब दो-चार बातें यहा समाहारात्मक रूप मे और कही जा सकती है। एक ओर ग्रामीण, सौम्य, सरल व अनलकृत और दूसरी ओर अभिजात, उदात्त व अलौकिक (सुधी, अमृत, नदनवन, छायापथ, कल्पवृक्ष, शची आदि शब्द इसके परिचायक है)—दोनों प्रकार के सौंदर्य के अकन में प्रसाद का पूरा उत्साह दिखायी पडता है। सौंदर्य की पूरी मोहिनी को अभिव्यक्त करने के लिए विस्तार व व्याख्या से काम न चलता देखकर उन्होंने व्यजक प्रभाव की दृष्टि से सूफी प्रतीकों व उपकरणों की भी सहायता ली है। प्रसाद ने तिक्त वासनात्मक से लेकर उदात्त आदर्शात्मक तक—दोनो सीमाओं के बीच पडनेवाले सभी सौंदर्य का वर्णन किया है। विवरणात्मक और साकेतिक दोनों ही शैलियों का प्रयोग हुआ है। प्रसाद ने रूप के अत्यत चटकीले मादक और वासना-तिक्त चित्र भी अकित किये है, पर इससे निम्न वासनाओं की उत्तेजना उन्हे इष्ट नही, वस्तुत एक भावुक कवि या कलाकार के रूप में उन्होंने वे चित्र अकित किये है, पर जीवन-मूल्यों के एक अधिष्ठाता या पुरस्कर्त्ता के रूप में ही उन्होंने ऐंद्रिय या वासनात्मक चित्रों का अकन, केवल पात्रों के भावी ह्रास या पतन की पीठिका के रूप में ही, अभिप्रेत वस्तु को उभारने के लिए ही किया है, साहित्य मे यह विधि स्वीकार्य है। रूपजीवी पात्रों के जीवन मे चरम परिणति से प्रतीत होता है कि आत्मा के आलोक से उजागर रूप को ही प्रसाद ने वास्तव मे सच्चा रूप माना है, शेष को स्थूल रूप या चाकचिक्य मात्र, जिसकी तुच्छता सर्वत्र व्यजित है और ऐसे रूपधारी सर्वत्र पराभूत हुए हैं।

प्रसाद ने जहा एक ओर रूप को,[332] कवि और कलाकार की दृष्टि से सर्वत्र एक दिव्य विभूति के रूप में देखकर उसका विह्वल गान किया है, वहां, दूसरी ओर आत्मा के अछूते

रूप का सर्वत्र तिरस्कार भी किया है—'नारी। तेरा रूप यह जीवित अभिशाप है'[333] बाह्य चाकचिक्य से जगर-मगर सौदर्य, आत्मिक सौदर्य से अछूता रहकर, विगर्हणीय ही है। कमला (प्रलय की छाया), सालवती (इद्रजाल), विजय (स्कदगुप्त), इडा (कामायनी), मागधी (अजातशत्रु), कामना (कामना), तिष्यरक्षिता ('अशोक' कहानी), सरला (रूप की छाया), चूडी वाली (आकाशदीप) आदि रूपजीवी पात्रो का जीवन में नि शेष पराभव प्रसाद की इस दृष्टि को प्रकट करता है। इसके विपरीत, बाह्य रूप के अभाव मे भी प्रसाद ने अनेक पात्रों मे आतरिक या आत्मिक सौंदर्य की जगमगाहट भर दी है।

कवि की सौदर्यानुभूति की निजता व गभीरता का प्रमाण सौदर्य के प्रभाव के निरूपण द्वारा ही मिल सकता है। प्रसाद ने अनेक स्थलो पर सौदर्य के अत्यत लीनकारी प्रभाव को निरूपित किया है, जिससे हम उक्त अनुभूति की मौलिकता या प्रामाणिकता के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो सकते है।[334]

सौदर्य हमारी सब वृत्तियो पर स्वाधिपत्य करके हमे अपने मे इतना एकतान व स्व-केद्रीभूत कर देता है कि हम चारों ओर से सिमटकर उसकी विलक्षणता व अलौकिकता से अभिभूत हो आश्चर्य-कुतूहल से उसकी सत्ता के स्रोत के अनुसधान मे निमग्न हो जाते है। यह प्रवृत्ति सौंदर्य के सबध मे जिज्ञासा, रहस्य और कुतूहल की भावना को जागृत-उत्तेजित करती है। अडरहिल ने सौंदर्य के साथ रहस्य का घनिष्ठ सबध बताया है।[335] प्रसाद सौदर्यानुभूति के तल में उतरे हैं, इसका परिचय अनेक स्थलो से हमें मिलता है।[336]

सौदर्य एक इतनी अबूझ वस्तु है कि वह मानो इस जन्म की सीमाओं में ही रखी जाकर नही समझी जा सकती, अत सौंदर्य के अनुभवी उसे पूर्वजन्म के साथ सयुक्त करते है।[337] प्रसाद ने सौदर्य के इस उपकरण को अपनी सौंदर्यानुभूति मे मिश्रित कर नि सदेह उसे एक असाधारण गाभीर्य प्रदान कर दिया है,[338] जिससे सहृदयों की अपूर्व तुष्टि होती है।

प्रसाद कोमल, सरस, भव्य या रगीन में ही सौदर्य नही देखते। वे भयकर, भदेस, रूखे, अनगढ, साधारण और चिरपरिचित में भी सौदर्य का दर्शन करते है। प्रलय की भयकरता में भी 'प्रलय' कहानी का नायक आनद का अनुभव करता है। 'कामायनी' में प्रलय का वर्णन कवि ने बडे मनोयोग से किया है।

प्रसाद ने व्यक्ति, वस्तु, भाव, विचार, कर्म, गुण, स्थिति—सभी मे सौदर्य देखा है। उनकी सौदर्य-भावना कुछ ही मनभाते रूपो तक सीमित नही है। उनकी इस व्यापक सौदर्य-दृष्टि का प्रमाण अनेक स्थलों पर सहज ही मिल जाएगा।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद की सौंदर्यानुभूति ने पार्थिव जीवन मे बद्धमूल होकर ही प्रस्थान किया है, कितु उसका गतव्य विराट् सौदर्य, आनद व औदात्त्य ही है। इस सौदर्य का मानव-वासना से निश्चय ही गहरा सबध है, पर वही उसकी परिणति नही। प्रसाद सौदर्य को जीवन की एक उच्च विभूति मानते हैं। उसकी उपेक्षा करके, उसे मिथ्या, मायामय या पतन का साधन कहकर, मानव-जीवन या ससार को निरानद या श्रीहीन होते देखना भी उन्हे कदापि पसद नही। प्रसाद की यह सौदर्य-दृष्टि उनके प्रिय शैवागम दर्शन की विचारधारा से ही शासित है जो परम शिव के नाते सर्वत्र शिव व सौदर्य ही देखती है। परम शिव की चित्, आनद, इच्छा, ज्ञान व क्रिया शक्तिया इस सौदर्य के साथ सयुक्त होकर उसे गरिमामय बनाती

हैं। जीवन का ऐसा सौंदर्य प्रसाद को कदापि उपेक्षणीय नही, ससार मूलत 'सौंदर्य-जलधि है'—सौंदर्य को इस रूप में देखना व समझना भारतीय सास्कृतिक दृष्टि के जीर्णोद्धार की दिशा मे प्रसाद का एक अत्यत श्लाघ्य प्रयत्न है।

अब सौंदर्य के कतिपय अन्य रूपो या क्षेत्रो पर भी दो शब्द कहना आवश्यक है।

(ii) **पुरुष सौंदर्य** प्रसाद ने नारी-सौंदर्य के साथ ही पुरुष-सौदर्य (शारीरिक सौदर्य व कर्म-सौदर्य आदि) का भी कही-कही, प्रसगानुसार वर्णन किया है, पर शारीरिक सौंदर्य के वर्णन मे न तो इतना विस्तार है और न गहराई। 'मोह न नारि नारि के रूपा' की तरह ही 'मोह न पुरुष-पुरुष के रूपा' भी तो ठीक है। पुरुष का बाह्य सौंदर्य और परिधान-वर्णन कुछ स्थलो पर बहुत सुदर बन पडा है।[339]

(ii) **बाल सौंदर्य** इसी प्रकार बालको के रूप-सौदर्य, अग-विन्यास, शौर्य-सौष्ठव और उनकी चेष्टाओं का सौदर्य भी प्रसाद की आखों से सर्वथा विलुप्त नही रह सका है। वत्सल भाव का यहा-जहा भी निरूपण है वहा प्राय बाल-सौदर्य की झाकी मिल जाती है।[340] सत्य तो यह है कि वह क्षेत्र सूर और तुलसी का है, प्रसाद का नही।

शारीरिक सौंदर्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सौदर्य की भी अल्प चर्चा अब प्रसग-प्राप्त है।

मानसिक सौदर्य

भावना, विचार और कल्पना के सौंदर्य को हम मानसिक सौंदर्य कहते है। आचार्य विनयमोहन शर्मा साहित्य मे इस सौदर्य का महत्त्व बताते हुए लिखते है—"सौदर्य को भावगत मानने से ही हमारे यहा आचार्यों ने रस को आनद की पराकाष्ठा माना है और जहा आनद की पराकाष्ठा है, वही सौदर्य है। पडितराज जगन्नाथ ने लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करनेवाले ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण को रमणीयता से सबोधित किया है।"[341] प्रसाद कल्पना के सौंदर्य के लिए कहते हैं—"आह, कल्पना का सुदर यह जगत् मधुर कितना होता।" अत सौदर्य का एक बहुत विशाल कोश या रूप हमारे मन में ही है। वस्तुत उसी के सौदर्य से हम बाह्य जगत् को सुदर बनाते है। प्रसाद-साहित्य मे यह मानसिक सौदर्य उनकी कला, कल्पना, चरित्र-सृष्टि तथा भाव व रस-सृष्टि मे सर्वत्र परिव्याप्त है, अत उसका यहा वर्णन न करके सबधित प्रकरणो मे अन्यत्र किया गया है।

प्राकृतिक सौदर्य

सौंदर्य का एक विशाल क्षेत्र या उद्गम प्रकृति है। प्रकृति के सौदर्य को लेकर दो विचारधाराए प्रचलित हैं—(1) प्रकृति का अपना कोई निजी सौंदर्य नही होता, द्रष्टा अपनी कल्पना से प्रकृति को सौंदर्य प्रदान करता है और यह सौंदर्य कलाओं में पूर्णतया अभिव्यक्त या अनुभूत होता है, तथा (2) प्रकृति का अपना एक निजी सौदर्य है। प्रकृति ईश्वर की रचना है। ईश्वर के निकटतम होने से वह सुदर है। उसी में विश्वात्मा प्रकाशित हो रह है। प्रकृति को सुदर कहने के लिए कलाकार या दार्शनिक की प्रतीक्षा नही करनी पडती। प्लेटो ने प्रकृति को ईश्वर की प्रतिकृति और कला को (अनुकरण सिद्धात के आधार पर) अनुकृति की अनुकृति कहा। स्पष्ट है कि प्रकृनि उनकी दृष्टि में कला की अपेक्षा ईश्वर के अधिक निकट है। हीगेल ने भी

प्रकृति को इसी ढग से सुदर कहा है। इस सबध में विशेष विवेचना 'प्रसाद-साहित्य मे प्रकृति' नाम प्रकरण में की गयी है।[342]

कलागत सौदर्य

प्रसाद के साहित्य का समस्त अभिव्यक्ति पक्ष कलागत सौदर्य के अतर्गत आता है। कलागत सौदर्य, साहित्य या कला की दृष्टि से अत्यत महत्त्व का है। कलागत सौदर्य से अभिप्राय उस सौदर्य से है जो वस्तु-जगत् के पदार्थो, घटना-व्यापारों व पात्रों आदि को कवि-कल्पना की सहायता से साहित्य में प्रस्तुत किये जाने पर भावक या पाठक-श्रोता के मन मे उसकी ग्राहक कल्पना के द्वारा उत्पन्न होता है। कहने की आवश्यकता नही कि एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से उत्पन्न होकर यह सौंदर्य अत्यत प्रभावशाली होता है। इस सौदर्य का मूल उद्‌गम (प्रकृति, व्यापक अर्थों में) भी स्वय सुदर होता है या नही, यह प्रश्न अत्यत विवादास्पद है, अत यहा अप्रासगिक है, प्रसाद के कलागत सौदर्य पर आगे विस्तार से स्वतत्र विचार होगा।

समीक्षात्मक निष्कर्ष . सौदर्य के क्षेत्र में प्रसाद का प्रदेय

प्रसाद के सौदर्य-निरूपण की वास्तविक देन उसे ऐतिहासिक अनुक्रम में रखकर देखने पर आकलित की जा सकेगी। वीरगाथा काल में सौंदर्य-निरूपण सस्कृत-अपभ्रश साहित्यों की रूढियों का अनुगामी है, उसमें कही कोई मौलिकता नही दिखायी पडती। भक्ति-काल में सौंदर्य का अत्यत परिपूर्ण, विशद व उदात्त चित्रण हुआ है, इसमें कोई सदेह नही। पर प्रतिक्षण हम इस चेतना से अभिभूत रहते हैं कि यह सौंदर्य अपार्थिव आलबन का अपार्थिव सौंदर्य है, उसे हम विमुग्ध भाव से, चकित होकर, मानवीय भूमि से परे किसी काल्पनिक भूमि पर छहराता हुआ देखते हैं। उसमें औदात्य व पावनता है जो हमें ऊपर उठाती है। निश्चय ही यह सौंदर्य और सौदर्य-चित्रण की सिद्धि है। पर मनोविज्ञान व यथार्थवाद के युग का सहृदय आज पार्थिव भूमि, स्वानुभूति व आपबीती को, भाव-सत्यता की दृष्टि से, अत्यधिक महत्ता देता है, अध्यात्म का आवरण उसे आज कृत्रिम जान पडने लगा है। मनोविज्ञान ने आज यह स्पष्ट कर दिया है कि अध्यात्म हमारी वासनाओं का उन्नयन मात्र है, अत आज का साहित्य-रसिक मनोविज्ञान-सम्मत भाव-सत्यता का ही आग्रह रखता हुआ प्रत्यक्ष जीवन की निजी अनुभूतियों को अधिक मानवीय व प्रामाणिक रूप में ग्रहण करता है। वह अध्यात्म को आवरण के रूप में प्रयुक्त करने पर कवि पर दभ, मिथ्यात्व व गोपन का आरोप करता है। भक्ति काव्य की सौंदर्यानुभूति का पूरा रस लेता हुआ भी वह यथार्थ जीवन की छद्महीन अनुभूति के सौंदर्य का अवमूल्यन नही करना चाहता, क्योंकि उसकी दृष्टि में आत्मा की अध्यक्षता में अनुभूत ऐंद्रिय धरातल की अनुभूति भी कम आध्यात्मिक नही है। नवीन अध्यात्म व मानवता की व्याख्या ने उसके इस दृष्टिकोण को बहुत पुष्ट किया है। उसकी दृष्टि में आज आध्यात्मिकता और परिष्कृत मानवता मे कोई अतर नही रह गया है। इस व्याख्या के प्रकाश में प्रसाद की सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-चित्रण की विशेषता स्पष्ट परिलक्षित होगी। भक्तिकाल की सौंदर्य-भावना का महत्त्व अपने स्थान पर अक्षुण्ण रखते हुए हम इस दृष्टि से प्रसाद की

नवीनता व मौलिकता को पा सकेगे। रीतिकाल के सौदर्य से प्रसाद का सौदर्य अधिक परिष्कृत व उदात्त समझा जाएगा, क्योकि रीतिकालीन सौंदर्य में वह औदात्य, पावनता व आत्म-झकृति प्राय नही मिलती, जिससे कि सौदर्यानुभूति जीवन की अनमोल निधि समझी जाती है। रीतिकालीन सौदर्य में सूक्ष्मता है, मसृणता है, रगीनी व चमक-दमक है, पर उसका सबध (घनानद जैसे कवियों को अपवाद रूप मे रखकर देखने पर) उस आत्मस्रोत से कम ही है जो हमारी तुष्टि का सच्चा आधार है। प्रसाद के पूर्ववर्ती द्विवेदी-युग की सौदर्य-भावना नैतिकता के कृत्रिम बधनों से ग्रस्त है, वह ऊपरी व स्थूल सुदरता है। प्रसाद ने लौकिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के, एक सुदर अनुपात मे, मिश्रण द्वारा एक ऐसी सौदर्य-भावना तैयार की है जो हमारे अतरतम के लिए एक तुष्टि-पुष्टिकारी रसायन है।

सौदर्य के क्षेत्र मे प्रसाद की उपलब्धि एक दूसरी पद्धति से भी आकी जा सकती है। प्रस्तुत प्रकरण मे हमने सौदर्य की एक सार्वत्रिक या व्यापकतम धारणा या मानदड तैयार किया है। इस मानदड पर प्रसाद की सौदर्य-विषयक धारणा व भावना को रखकर परखने से प्रसाद की सौदर्य-विषयक उपलब्धि या प्रदेय की अवगति हो सकेगी।

सौंदर्य की व्यापक धारणा से ऊपर उभरकर आए विशिष्ट उत्कर्ष-बिदुओ को ध्यान में रखकर देखने पर विदित होगा कि प्रसाद की सौदर्य-धारणा एक परिपूर्ण धारणा है। सौंदर्य का गभीर अनुभव जो भी भाव-वैभव हमे प्रदान कर सकता है, वह प्रसाद-साहित्य में बिखरा हुआ, अथवा कही-कही एक ही साथ घनीभूत रूप में, मिलेगा। सौदर्यानुभव बाह्य वस्तु के माध्यम से होता है, जो साहित्यिक रस की निष्पत्ति के लिए विभाव रूप में अनिवार्यत ग्रहण किया जाता है। सौंदर्य का अनुभव काल्पनिक न होकर वस्तुमूलक या जीवनमूलक होता है। उसका हमारी आत्मा के साथ घनिष्ठ सबध है। सौंदर्यानुभूति हमें देश और काल की सीमाओं से मुक्त कर आत्मपद-लाभ कराती है। हम विराट् और व्यापक हो जाते है। यही सौंदर्यानुभूति का स्वरूप तथा फल है। ऊपर के 'विश्लेषण' द्वारा हम पूर्णतया आश्वस्त हो सकते हैं कि प्रसाद की सौंदर्यानुभूति अत्यत गहन, व्यापक व (ऐतिहासिक अनुक्रम में रखकर देखें तो) आधुनिक हिदी साहित्य में अपूर्व है। प्रसाद की उपलब्धि को आकने में यह तथ्य एक परम उपयोगी तथ्य है।

सौंदर्य की समग्र अनुभूति के क्षेत्र में चिंतन और भावनागत जो भी उत्कृष्टतम तात्त्विक स्फूर्तियां मानव को आज तक उपलब्ध हुई हैं, प्राय वे सब प्रसाद के अनुभव-पथ मे आ चुकी हैं और उनके साहित्य में निरूपित की जा चुकी हैं। और इसी में प्रसाद की सौंदर्यानुभूति की पूर्णता निहित है। यों तो प्रत्येक भाव-सजग कवि सौंदर्य की, उसके सब रूपों व पक्षों के साथ अनुभूति करता है, पर जो उसकी सूक्ष्मतम ऊर्मियो, झकृतियों व सवेदनाओं व विरल ज्योतिकणों को (सौंदर्यानुभूति के क्षणों में अधकार में कौंध उठनेवाले जुगनुओं की ज्योति-से अत्यत विरल-विशिष्ट अनुभव-कण) अवदानपूर्वक ग्रहण करने में अधिक समर्थ होता है, उसका काव्य या साहित्य एक विशेष स्वर व आभा में प्राणवान् रहता है। प्रसाद का साहित्य सौंदर्य की एक ऐसी ही चेतना से अनुप्राणित है। सौदर्य का यह तत्त्व प्रसाद के साहित्य को एक अभिनव गरिमा से मंडित किये हुए है।

प्रसाद ने अत्यंत उत्साह के साथ, नैतिकता[343] और मर्यादा के निषेधमूलक एव कृत्रिम बंधनों को (जिनसे इतिवृत्तात्मक व सुधारवादी द्विवेदी-युग की कविता जकड़ी हुई थी),

निर्ममता से तोडकर मानव-हृदय की प्राकृतिक राग-भूमि मे पहुचकर, स्वानुभूति के आधार पर सपन्न, स्वस्थ व तृप्तिकारी सौदर्य का सृजन किया। नवीन अध्यात्म की परिभाषाओ के अनुसार हम इसे आध्यात्मिक[344] कह सकते है।

यह सौदर्यानुभूति कोरी काल्पनिक न होकर यथार्थ में बद्धमूल है, जीवन की सौंधी मिट्टी से उपजी है जिसे सच्चा धर्म, सस्कृति व मनोविज्ञान पूरा प्रश्रय देता है, अत रसरक्तपूर्ण व मानवीय होकर प्रामाणिक है। छायावाद-युग मे इस प्रकार हम सौदर्य-वर्णन की एक ऐसी भूमिका पर पहुचे है जो उदात्त है और हिदी मे अभूतपूर्व है। प्रसाद अन्य कवियो के साथ इस नवीन दिशा का उद्‌घाटन करनेवाले व नयी भूमिया तोडनेवालो मे अग्रणी हैं।

प्रसाद की सौंदर्यानुभूति वय-कर्म से क्रमश गभीर होती गयी है और काव्याभ्यास से सौंदर्य-चित्रण क्रमश सूक्ष्म। उनकी सौदर्य-भावना मे वे सब उपादान या व्यजन (आश्चर्य, कुतूहल, जिज्ञासा, उल्लास, पावित्र्य) समाविष्ट हुए है, जिनसे सौदर्यानुभूति सार्थक होती है। स्थूल रूप का सर्वत्र पतन दिखाकर प्रसाद ने सौदर्य की उच्च भूमिका का निर्वाह किया है। ध्यान देने की बात है कि अनैतिकता का किसी भी रूप मे प्रश्रय या पोषण अखड आनद या रस मे व्यवधान-रूप है।[345] ऐतिहासिक परिवेश मे देखने पर प्रसाद आधुनिक साहित्य में प्रथम सौदर्य-चेता है, जिन्होने साहित्य को, उदात्त सौदर्य-भावना के समावेश से, महिमा- मडित किया है। उन्होंने सौदर्य का उसके सब रूपों के साथ—रूप-सौंदर्य, कर्म-सौदर्य, शील-सौंदर्य, भाव-सौदर्य के साथ—विशाल जीवन-फलक पर दर्शन कराया है और उनके सौदर्य-निरूपण मे सौदर्यानुभूति और सौदर्य-निरूपण की श्रेष्ठ साहित्यिक परपराए समाविष्ट है। उन्होने सौदर्य को विषयगत और विषयिगत दोनो रूपो मे स्वीकार करके स्वय के एक व्यापक, न कि सकीर्ण, साहित्यकारोचित सौंदर्य-चेता होने का परिचय दिया है। उनकी सौंदर्य-दृष्टि ने कालिदास, माघ, भारवि, कुतक और अभिनवगुप्त आदि श्रेष्ठ सौदर्य-साधकों की सौदर्य-दृष्टियो से परिमार्जित व समृद्ध होकर हिदी-साहित्य को सुषमावान् बनाया है। सौदर्य के क्षेत्र मे प्रसाद की उपलब्धि ऐतिहासिक व तात्त्विक दोनो दृष्टियो से अत्यत महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ

1 'But in the Upanishads bliss appears not as attribute or a state of Brahman, but as his peculiar essence Brahma is not Anandin possessing bliss, but Ananda bliss itself ' –Paul Deusen The Philosophy of the Upanishads p 141

2 "आचार्य शुक्ल सौंदर्य-चिंता के प्रसग में वस्तु-जगत् को भुलाकर नही चल सकते। वे उसका आधार अनिवार्य मानते हैं।" देखिए 'चिन्तामणि', भाग 1 मे 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक लेख।

3 दे. काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 14

4 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4/6

5 वि दे—लेखक का 'आधुनिक हिदी कविता मे प्रेम और सौंदर्य' नामक शोध-ग्रथ का प्रथम प्रकरण।

6 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 94

7 दे. हमारा शोधग्रथ—आधुनिक हिदी कविता में प्रेम और सौंदर्य, प्रकरण-3

8 वि. दे.—डॉ नगेन्द्र कामायनी के अध्ययन की समस्याए, पृ 68 तथा, श्री सुमित्रानन्दन पत गद्य-पथ, पृ 162। इस सबध में प्रसाद के विचार-सबधी प्रकरण में हमने भी विचार किया है।

9 The Psychology of Beauty an article by Dr B L Atreya (B H U Journal, Golden Jubilee Number, 1942)
10 वाचस्पत्य कोष, पृ 5314
11 प सद्गुरुशरण अवस्थी 'बुद्धितरग' (1950), पृ 15-16, तथा 'समालोचक' (आगरा) का 'सौंदर्यशास्त्र विशेषाक', सपादकीय, पृ 3-4
सौंदर्य शब्द के अर्थ मे वस्तुत अनेक भाव-तरगें समाविष्ट हैं, जैसे—उदात्त, सौम्य, मनोहर, रमणीय, मनोज्ञ, मनोरम, मधुर, पेशल (Variegated) चारु, मजुल, शोभन, रुचिर, साधु, कान्त, लावण्यवान्, द्युतिवान्, छविवान्, सुषमावान, अभिराम, मगलकारी, भला, शुभ आदि। इनमें से प्रत्येक शब्द सौंदर्य की सामान्य भावना के अतिरिक्त, एक-दूसरे से पृथक् अपना स्वतत्र रग और झाई (Colour and shade) रखता है।
12 the beauty of which Plato discourses has nothing to do with art or with artistic beauty' —Croce Aesthetic p 163
13 "Croce has almost forgotten communication as he has almost forgotten beauty —R A Scott-James The making of Literature, p 329
14 I.A Richards Principles of Literary Criticism, p 18
15 the same enchanted confusion and contradictoriness in defending beauty '—What is Art p 109 also p 86, 87
16 Dr Bhagawan Das The Science of the Emotions, p 447-48
17 Will Durant The Story of Philosophy p 318
18 'कविता क्या है?' ('चिन्तामणि' मे लेख) के 'सौंदर्य' स्तभ के अतर्गत।
19 What is Art, p 95
20 Ibid, p 93
21 Ibid, p 98
22 तर्कसग्रह, 1-3, तर्कभाषा—प्रमेयनिरूपणम्।
23 प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 268-69 306, 308 309
24 वही, पृ 344-45
25 प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 415-20
26 डॉ आत्रेय प्रकृतिवाद पर्य्यालोचन, पृ 15-28
27 Prof A C Shastri Studies in Sanskrit Aesthetics, p 16 (Introduction)
28 देखिए—सौंदर्य-तत्त्व (डॉ आनदप्रकाश दीक्षित का अनुवाद)—पहला अध्याय।
29 Tolstoy What is Art p 97, सौदर्य विज्ञान, पृ 49 (पाद-टिप्पणी)।
30 सौंदर्य विज्ञान, पृ 90-96
31 Plato Symposium, p 92-94
32 Beauty is the shining of Idea through matter"—What is Art, p 100
33 What is Art p 100
34 हरवशसिंह सौंदर्य विज्ञान, पृ 51
35 B Bosanquet History of Aesthetic, p 365-66
36 What is Art, p 102
37 प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 332
38 वही, पृ 311
39 कठोपनिषद्, 1/3/10
40 Prof A C Shastri Studies in Sanskrit Aesthetics (Introduction)
41 गीता, 10/41
42 "Roughly speaking, their gross senses were capable of taking cognizance of beauty in its material form"—Prof A C. Shastri Studies in Sanskrit Aesthetics, p 16
43 Ibid, पृ 17, and "But as the mind works on the mental images in a different way, their opinions of beauty have differed"

44 Ibid , पृ 16

45 The beautiful is not a physical fact beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity and this is a mental or spiritual fact ' – Wildon Carr (प बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' द्वितीय खड, पृ 453 से उद्धृत) तथा "Beauty is no quality of things Wheather trees or pigments but like every other value only comes into being as the rseult of spiritual activity ' –श्री हरवशसिंह के 'सौन्दर्य विज्ञान', पृ 102 से उद्धृत ।

46 वि दे—प्रस्तुत लेखक का ग्रथ, 'आधुनिक हिदी कविता में प्रेम और सौंदर्य', पृ 163-166

47 चिन्तामणि, भाग 1 पृ 224

48 वही, पृ 225

49 Being the production of some permanent object or passing action fitted to suppply active enjoyment to the producers and a pleasurable impression to a number of spectators of listeners quite apart from any personal advantage derived from it –What is Art p 110

50 'उज्ज्वलनीलमणि', उद्दीपनप्रकरणम्, पृ 29

51 श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु', दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी ।

52 'The Psychology of Beauty – an article by Dr B L Atreya B H U Journal Silver Jubilee Number (1942)

53 चिन्तामणि, भाग 1 'कविता क्या है ?' नामक निबध ।

54 वि. दे—'आधुनिक हिदी कविता मे प्रेम और सौंदर्य', पृ 169-72

55 डॉ सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त सौंदर्य-तत्त्व (हिदी अनुवाद), पृ 96

56 " is a certain cosmical quality or a power to suggest relation to the whole world and so lift the object out of pitiful individuality ' – Emerson (Edited by C Lindeman), p 114

57 ' touched with light divine – have truly known for an instant something of the secret of the world ' –Evelyn Underhill Mysticism p 73

58 कुमारसम्भव, 1/28, 5/33

59 अभिज्ञानशाकुन्तल, 5/2

60 मालतीमाधव, पृ 1/21

61 शिशुपालवधम्, पृ 4/23

62 किरातार्जुनीयम्, 4/23

63 S N Dasgupta Fundamentals of Indian Art p 1-3

64 ककाल, पृ 86

65 दे. 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' ।

66 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 71 तथा Dr C Pandey Comparative Aesthetics, Vol I p 131

67 काव्यालकार का प्रो देवेन्द्रनाथ शर्मा कृत हिदी भाष्य, भूमिका, पृ 47

68 कामायनी, 'लज्जा' सर्ग ।

69 आकाश, पृ 99 (समुद्र सन्तरण), कामा, पृ 222 ककाल, पृ 283

70 आकाश, 101

71 वही, पृ 75

72 वही, पृ 77

73 आकाश, पृ 77

74 वही, पृ 77 कामा, पृ 46

75 इन्द्र., पृ 22 (सलीम)

76 आकाश., पृ 100, 102

77 डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिदी साहित्य उसका उद्भव और विकास, पृ 338-39

78 कानन, पृ 51
79 झरना, पृ 52
80 वही, पृ 54
81 कानन, पृ 51
82 वही, पृ 51
83 प्रेम, पृ 24-25
84 वही, पृ 25-26
85 Plato Symposium (Penguin Classics) p 92-94
he will see it as absolute existing alone with itself unique external and all other beautiful things as partaking of it yet in such a manner that while they come into being and pass away, it neither undergoes any increase of diminution nor suffers any change (page 94)
86 कानन, पृ 50
87 वही, पृ 51
88 वही, पृ 51
89 आसू, पृ 16
90 कामा., पृ 163
91 ककाल., पृ 283
92 कला, समुद्र सन्तरण, सालवती नामक कहानियों में, प्रलय की छाया में, 'सौंदर्य' नामक लेख (चित्राधार) व आसू मे।
93 कामा., पृ 46-48
94 वही, पृ 168
95 आसू, पृ 19-24
96 लहर, पृ 10
97 वही, पृ 59-62 व 76
98 झरना, पृ 8
99 महा, पृ 13
100 प्रेम, पृ 10 12 18
101 स्कद।
102 वही
103 वही
104 अजात, पृ 44, 96
105 वही, पृ 55
106 इन्द्र., पृ 2 5 7
107 आधी, पृ 9
108 आकाश, पृ 85, 86, 89
109 इन्द्र., पृ 127, 128, 137 48
110 आधी, पृ 97 98
111 वही, पृ 113
112 इन्द्र., पृ 40, 41
113 वही, पृ 111
114 आकाश, पृ 147
115 इन्द्र., पृ 71
116 आधी, पृ. 89
117 इरा., पृ 79, 80
118 वही, पृ. 52, 55-56

119 तितली, पृ 86, 118, 161
120 वही, पृ 117
121 ककाल, पृ 34 37 38 46 93
122 वही, पृ 201
123 वही, पृ 102, 116
124 वही।
125 आसू, पृ 21-24 कामायनी मे श्रद्धा—सौंदर्य-वर्णन
126 इरा, पृ 56
127 तितली, पृ 86
128 ककाल, पृ 37 38
129 आकाश, पृ 89
130 कामा, पृ 46
131 वही, पृ 47
132 प्रलय की छाया
133 कामा, पृ 168
134 आसू, पृ 21
135 कामा, पृ 168
136 तितली, पृ 86
137 लहर, पृ 76
138 कामा, पृ 46
139 वही, पृ 48
140 लहर
141 इन्द्र., पृ 111
142 तितली, पृ 86
143 ककाल, पृ 35
144 वही, पृ 24
145 कामा., पृ 168
146 ककाल, पृ 102
147 वही, पृ 201
148 आसू, पृ 22
149 ककाल, पृ 35
150 'देवदासी' कहानी
151 आधी, पृ 9
152 'अमिट स्मृति' कहानी
153 'इद्रजाल' कहानी
154 ककाल, पृ 37, 38
155 वही
156 इरा., पृ 12
157 आसू, पृ 21
158 तितली, पृ 86
159 ककाल, पृ 130
160 देवसेना की स्कद
161 तितली, पृ 100
162 इन्द्र., पृ 5
163 'ग्रामगीत' कहानी
164 आसू, पृ 22

165 लहर, पृ 76
166 इन्द्र., पृ 5
167 लहर, पृ 60, 'ग्रामगीत' कहानी ।
168 'अमिट स्मृति' कहानी
169 वही
170 'ग्रामगीत' कहानी
171 ककाल, पृ 111
172 लहर, पृ 62
173 कामा., पृ 46
174 महा., पृ 13
175 ककाल, पृ 24
176 वही, पृ 102
177 आसू, पृ 22, ककाल, पृ 35
178 ककाल, पृ 201
179 महा., पृ 13
180 'ग्रामगीत' कहानी
181 देवदासी, पृ ककाल 37
182 आसू, पृ 21
183 कानन., पृ 30
184 आधी, पृ 9
185 इरा, पृ 80, 106, झरना, पृ 8 तितली, पृ 19
186 ककाल, पृ 24
187 कामा., पृ 99
188 इन्द्र., पृ 111
189 कामा., पृ 94, 169
190 तितली, पृ 86
191 आसू, पृ 23
192 कामा., 'लज्जा' सर्ग
193 आसू, पृ 23
194 आकाश., पृ 95, आसू, पृ 71, झरना, पृ 11, इरा., पृ 80
195 आकाश., पृ 85, आसू, पृ 24
196 आसू, पृ 24
197 तितली, पृ 86, ककाल, पृ 37
198 कामा., पृ 127
199 वही, पृ 47
200 वही, पृ 168
201 प्रलय की छाया ।
202 लहर, पृ. 10
203 कामा., पृ 142
204 इरा., पृ 57
205 'देवदासी' कहानी
206 इरा., पृ 79, 80
207 वही
208 वही, पृ 56
209 वही
210 'देवदासी' कहानी

211 आकाश, पृ 85
212 इरा, पृ 79, 80
213 देवदासी
214 ककाल, पृ 201
215 आसू, पृ 22, आधी, पृ 9
216 देवदासी
217 कामा, सर्ग 1
218 इरा, पृ 79, 80
219 वही, लहर, पृ 60
220 कामा, पृ 46
221 वही, पृ 168
222 लहर, पृ 61
223 महा, पृ 13
224 देवदासी
225 झरना, पृ 8
226 इरा, पृ 79-80
227 वही
228 अमिट स्मृति
229 कामा, पृ 46-48, इरा, पृ 79-80
230 इन्द्र, पृ 5
231 अमिट स्मृति कहानी
232 तितली, पृ 86
233 उद्बुद्ध कारणै स्वै स्वर्बहिर्भाव प्रकाशयन्।
लोके य कार्यरूप सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो।—साहित्यदर्पण, 3/132-133
234 इरा, पृ 100
235 महा, पृ 17
236 कामा, लज्जा सर्ग
237 इन्द्र, पृ 64
238 वही, पृ 36
239 प्रति, पृ 19
240 वही, पृ 49
241 ध्रुव, पृ 37
242 इन्द्र, पृ 84
243 ध्रुव, पृ 14
244 ककाल, पृ 204
245 आसू, पृ 15
246 कामा, पृ 97
247 आधी, पृ 79
248 आकाश, पृ 106
249 आकाश, पृ 97
250 वही, पृ 47
251 लहर, पृ 10
252 कामा, पृ 127
253 आसू, पृ 32
254 इन्द्र, पृ 3

255 तितली, पृ 19
256 आकाश, पृ 67
257 वही, पृ 110
258 ककाल, पृ 78
259 इन्द्र., पृ 38
260 लहर, पृ 60
261 ककाल, पृ 272
262 तितली, पृ 52
263 आसू, पृ 36 इन्द्र, पृ 8, कानन, पृ 100
264 कामा., पृ 46-48
265 वही, पृ 168
266 इन्द्र.,
267 आकाश, पृ 89
268 लहर, पृ 62
269 इन्द्र
270 वही
271 कामा, पृ 94
272 वही, पृ 45
273 गध-चित्रो, गति-चित्रों आदि की गणना द्वारा साहित्यकार के मन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन यूरोप में हुआ है, पर हम विस्तारभय से इस ओर यहा इस साख्यिकी में प्रवृत्त नही होगे। इस प्रकार का आयोजन वस्तुत हास्यास्पद समझा गया है।—वि दे डॉ गुलाबराय 'सिद्धात और अध्ययन', पृ 270-271
274 आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' (3/89 से 3/110 तक) में नायिकाओ के 28 सात्त्विक अलकार गिनाये हैं—3 अगज, 7 अयत्नज और 18 स्वभावसिद्ध। यौवन और उसके सब प्राकृतिक व्यजनों या विभूतियों का समावेश इन अलकारो मे हो जाता है।
275 लहर, पृ 59
276 इन्द्र, पृ 2
277 प्रतिध्वनि कहानी
278 आकाश, पृ 147 ककाल, पृ 102, घटी, ककाल, पृ 201 आधी, शबनम, पृ 97, 98
279 ककाल, पृ 116
280 कामा, पृ 46-48
281 स्कन्दगुप्त
282 वही
283 ककाल, 102
284 लहर, पृ 21-22, ककाल 102
285 इरा., पृ 79-80
286 'प्रलय की छाया', अजात, पृ 55, आकाश पृ 89, इन्द्र., पृ 71 आदि
287 मगला, इन्द्र., पृ 71
288 वही
289 कामा., श्रद्धा सर्ग
290 आसू
291 लहर, पृ 60
292 आकाश., पृ 85
293 इरा., पृ 79
294 वही, पृ 56
295 कामा., पृ 11

296 तितली, पृ 86
297 वही
298 ककाल, पृ 24
299 तितली, पृ 117
300 वही, पृ 117
301 ककाल, पृ 93
302 वही, पृ 24
303 वि दे—श्री रत्नशकर प्रसाद का लेख 'प्रसाद' (काशी) के प्रसाद-विशेषाक मे। तदनुसार प्रसाद की गधानुभूति अत्यत तीव्र थी और वे गध के सूक्ष्म विभेदो से परिचित थे।
304 कामा, पृ 59
305 लहर, पृ 59
306 वही
307 वही
308 वही, पृ 60
309 लहर, पृ 62
310 कामा, पृ 221
311 वही
312 इरा, पृ 79-80
313 कामा, पृ 10
314 वही, पृ11
315 वही, पृ 11
316 कामा, पृ 11
317 वही, पृ 36
318 लहर, पृ 60, इरा, पृ 79-80
319 वही, पृ 59
320 कामा, पृ 11
321 वही, पृ 63
322 वही, पृ 46-48
323 वही, पृ 46-40
324 लहर, पृ 62
325 'अमिट स्मृति' कहानी
326 कामा, पृ 36
327 कानन, पृ 56
328 आसू, पृ 54
329 वि दे—चित्रा, पृ 100, ऑसू, पृ 36 कानन, पृ 100
330 डॉ के सी पाण्डेय के ग्रथ, 'Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study (2nd ed) के आरभ मे अभिनवगुप्त का एक चित्र दिया गया है, जिसमें आचार्य समस्त लालित्य और सौख्य के बीच आत्मस्थ भाव मे समासीन चित्रित किये गये हैं। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन की साधना का प्रतीक है।
331 योगसूत्र।
332 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार', कामा पृ 46
333 लहर, पृ 79
334 अजात, पृ 96, आसू, पृ 19, 20, 21, 33, 41, 67, प्रेम, पृ 25 महा, पृ 13, झरना, पृ 53, कामा, पृ 33
335 Under Hill Mysticism, p
336 कानन, पृ 56, प्रेम, पृ 25, चित्र, पृ 1, आसू, पृ 17, 74, लहर, पृ 11, 15, 26, 30, 61, झरना,

पृ 50 55, ध्रुव, पृ 3 जनमे, पृ 82 काम, पृ 80 83, एक घूट, पृ 12, ककाल, पृ 237-278, 290 291, इरा, पृ 91, तितली, पृ 276 'समुद्र सन्तरण' कहानी का अत।

337 कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तल, 5/2

338 कामा, पृ 89, आसू, पृ 74 आकाश, पृ 111

339 इन्द्र, पृ 91, 128, इरा, पृ 9 33, 38 58 94, ककाल, पृ 23 100 145, तितली, पृ 1, चित्रा, पृ 22 महा, पृ 8, 16

340 कामा, पृ 179, कानन, पृ 106, 116 119

341 आचार्य विनयमोहन शर्मा 'साहित्यावलोकन' में 'कलाकार और सौंदर्य-बोध' नामक लेख

342 वि दे.—हमारा ग्रथ 'आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौंदर्य, पृ 180, 183

343 वि. दे.—जयशकर प्रसाद, पृ 50-53, 67

344 वही, पृ 58, 59, 62, 63

345 डॉ नगेन्द्र विचार और विश्लेषण, पृ 3

अष्टम प्रकरण

प्रसाद-साहित्य में कल्पना

प्रकरण-प्रवेश व सामान्य

प्रकरण-सगति

काव्य या साहित्य में जगत् और जीवन का यथातथ्य अनुकरण-मात्र स्रष्टा की वास्तविक या सर्वोच्च प्रतिभा का प्रकाशन नही होता। यह अनुकरण (जैसा कि चित्र काव्य में होता है। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में हीन कोटि का होता है। साहित्य तो कल्पनात्मक पुनर्निर्माण[1] का क्षेत्र है जिसमें वस्तु-जगत् के आधार पर स्रष्टा के निगूढतम अवचेतन के भावो, आकाक्षाओं, स्पृहाओं, स्वप्नो व आदर्शों की तृप्ति या सिद्धि के लिए, एक नवीन व रमणीय मानसी सृष्टि का निर्माण होता है। यह निर्माण मुख्यत एक रहस्यमयी आतर शक्ति के द्वारा सपन्न होता है जिसे 'कल्पना' कहते हैं।

इस प्रकार कल्पना साहित्य का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। ललित या प्रेरणात्मक साहित्य कल्पना से ही अनुप्राणित होता है। साहित्य का मानवज्ञान के विविध क्षेत्रों से पृथक् स्वरूप व व्यक्तित्व स्थापित करनेवाले जितने तत्त्व है उनमें कल्पना का स्थान अत्यत उच्च है। पश्चिम में साहित्य के चारों तत्त्वों—बुद्धि तत्त्व, भाव तत्त्व, कल्पना तत्त्व और शैली तत्त्व—में कल्पना तत्त्व प्रमुख रूप से समाविष्ट है। क्रोचे जैसे विचारकों ने कल्पना को तो मूर्धन्य स्थान ही दे डाला है।[2] सामान्यत कल्पना साहित्य में रजन व रोचकता का तत्त्व है। वस्तु-तत्त्व का सुदर व आकर्षक विन्यास करने में कल्पना का बहुत बडा हाथ है। इसे हम वस्तु व कला का सयोजक तत्त्व भी कह सकते है। प्रसाद-साहित्य मे यह कल्पना अपना एक विशिष्ट स्थान व महत्त्व रखती है। प्रसाद ने अपने साहित्य के प्राय सभी प्रकारों मे (समीक्षात्मक निबधों व भूमिकाओं को छोडकर) कल्पना का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। छायावादी कवियों में हम स्वच्छद कल्पना का महत्त्व जो एकदम बढा हुआ पाते हैं (विशेषत द्विवेदीकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि में) उसे देखते हुए प्रसाद-साहित्य में कल्पना तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत प्रबध का अनिवार्य अग है।

साहित्य मे कल्पना का महत्त्व व उसके विविध उपयोग

मन अपनी ही शक्ति से कार्य नही करता, वह अपने से किसी उच्चतर शक्ति पर आश्रित है। केनोपनिषद् में ऋषि प्रश्न करते हैं—"केनेषित पतति प्रेषितं मन।"[3] जो अतिम शक्ति है वहा तक आख, कान, वाणी, मन आदि नही पहुच सकते—"न तत्र चक्षुर्गच्छति, न

वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो "[4] उससे ही मनुष्य का मन जाना या समझा जा सकता है—'येनाहुर्मनो मतम्।'[5] तात्पर्य यह कि मन किसी उच्च शक्ति की प्रेरणा से ही अपनी क्रिया करता है। सम्यक् ज्ञान शक्ति, तत्काल जनने की शक्ति, देखने की शक्ति, मनन शक्ति—ये सब शक्तिया प्रज्ञान परमात्मा के नाम, अर्थात् उसकी सत्ता के बोधक लक्षण कहे गये है।[6] ऊपर जो शक्तिया बतायी गयी है उनका कल्पना से घनिष्ठतम सबध है। कल्पना के द्वारा हम पूर्वानुभूत पदार्थों के आधार पर मनोनुकूल विभिन्न रूपो को देखते है।

स्वच्छद व मुक्त कल्पना इस प्रकार आत्मा की ही स्वतत्र क्रीडा ठहरती है। कालरिज तथा अन्य अग्रेज स्वच्छदतावादी कवियो ने भी कल्पना के कुछ इसी प्रकार के उद्गम का अन्वेषण किया है। कल्पना की आध्यात्मिकता में विश्वास रखनेवालों के लिए कल्पना का इतना महत्त्व है कि वे उसके बिना कविता को असभव मानते हैं।[7] कल्पना को मस्तिष्क की सबसे प्राणवान् क्रिया (Vital activity) मानने का उनका आग्रह है।[8] कल्पना उनके लिए एक यत्र है जो कवियो की अतर्दृष्टि की शक्तियों (Visionary Powers) को सक्रिय बना देता है।[9]

समस्त साहित्य-क्षेत्र को सामने रखकर देखने पर कल्पना के अनेक उपयोग दिखलायी पडते है।[10] कथानक (विशेषत, ऐतिहासिक) के निर्माण में कल्पना का जितना भाग होता है, यह दण्डी, कुन्तक, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने अपने ग्रथो मे निर्दिष्ट किया है। जहा कथानक उत्पाद्य या शुद्ध काल्पनिक होता है वहा तो कल्पना का परिमाण स्पष्ट ही लक्षित हो जाता है। पर जहा धूमिल अतीत की विशृखल कडियों को जोडकर एक व्यवस्थित कथानक गढने की आवश्यकता होती है, वहा भी कल्पना का न्यूनाधिक उपयोग होता है। पात्रों की चरित्र-सृष्टि मे भी कल्पना प्रयुक्त होती है।[11] इतिहास में से उतारे गये पात्रो का, जिनका वृत्त अधूरा प्राप्त हो, चरित्र तर्कसगत कल्पना के बल से ही पूरा किया जाता है। लेखक प्राय· सामाजिक या समसामयिक रचना मे भी कल्पित पात्र रखते हैं, अथवा यथार्थ जीवन मे प्राप्त अनेक पात्रों के चरित्रों की मनोनुकूल या आदर्शानुकूल जोड-तोड से पात्रो का निर्माण करते है। भावो या विचारों को मूर्त्त रूप देते हुए उनका पात्रों के रूप में प्रस्तुतीकरण भी कल्पना के ही द्वारा होता है। सवादों मे भी कल्पना का प्रयोग स्पष्ट है, क्योंकि लेखक पात्रो पर अपने ही भावों-विचारों का प्रक्षेपण करता है। 'जड या निर्जीव वस्तुओ में भी चेतना का आरोप (मानवीकरण के रूप में) करके कवि उनके बीच सवादों का विधान करता है (प्रसाद की 'उस पार का योगी' कहानी में 'लहर-नलिनी' का सवाद) वस्तु-वर्णन, व्यक्ति-वर्णन अथवा आलबन की रूप-प्रतिष्ठा[12] (जो विभाव पक्ष के अतर्गत है) भी कल्पना का ही व्यापार है व आश्रय के वचनों की उद्‌भावना भी कल्पना के ही बल पर होती है।[13] भाषा-शैली को अधिक व्यजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में कल्पना ही काम करती है।[14] इसके अतिरिक्त वस्तु की पूर्ण प्रभावोत्पत्ति की दृष्टि से उपयुक्त व सटीक साहित्य-रूप की अवधारणा भी कल्पना के ही द्वारा सभव है।[15] वस्तुत· कल्पना से कुछ भी रिक्त नही, यहा तक कि वस्तु-जगत् में जो कुछ भी हम देखते हैं वह भी हमारी भीतरी कल्पना का ही प्रतिबिंब है।[16]

प्रसाद-युग मे कल्पना का नवीन उत्कर्ष व उसकी कारणभूत परिस्थितियां

प्रसाद-साहित्य और छायावाद काव्य में हम कल्पना का महत्त्व सहसा अत्यधिक बढा हुआ पाते है। छायावाद के पूर्ववर्ती द्विवेदी-युग में जहा वस्तुपरकता या इतिवृत्तात्मकता की ही प्रधानता है, वहा उसके पूर्ववर्ती काव्य मे रमणीय, रगीन व स्वच्छद कल्पना की विपुलता है। इसके कई कारण है, यथा—अग्रेजी की स्वच्छदतावादी काव्यधारा का हिदी-काव्य पर लक्षित-अलक्षित ढग से गहरा प्रभाव पडा। प्रकृति की ओर फिर से लौट चलने के लिए रूसो ने यूरोप मे प्रकृतिवाद की प्रतिष्ठा की, जिसके प्रमुख सूत्र थे—(1) प्रकृति एक ममतामयी सत्ता है। हमारी जर्जर व क्षत-विक्षत आत्मा के लिए उसके रूखे, बीहड व दुर्गम अचलो में एक मधुर विश्राम की शीतल गोद है, तथा (11) प्रकृति और मानव दोनो किन्ही अदृश्य आत्मिक स्नेह-सूत्रों से आबद्ध है। वड्र्सवर्थ इस दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित हुए थे। प्राचीन सस्कृत कवि कालिदास, भवभूति, भारवि, बाण आदि कवियों का प्रकृति के बीहड, निर्जन व कठोर रूपो के प्रति अनुराग प्रसिद्ध ही है। कहने की आवश्यकता नही कि प्रकृति के सुदूरतम अचलों मे पहुचने की भावना में रमणीय कल्पना निहित है। शैले के Away, away from man and towns-जैसे उद्‌गार भी इसी भावना से प्रेरित जान पडते हैं। इन कवियो ने कल्पना को आत्मा की एक विशिष्ट या आध्यात्मिक क्रिया कहकर काव्य के अत्यत उच्च तत्त्वो मे प्रतिष्ठित किया है। अग्रेजी साहित्य के प्रसार-प्रचार से भी हिदी काव्य में कल्पना का महत्त्व बढा। सन् 1913 ई में रवीन्द्र की 'गीताजलि' को नोबेल पुरस्कार प्राप्त होने पर उक्त रचना में निहित कल्पना का वैभव हिदी के लेखको के लिए अत्यत आकर्षक सिद्ध हुआ। भारतीय सास्कृतिक पुनरुत्थान ने, जो रामकृष्ण, विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, दयानन्द व गाधी द्वारा उपस्थित किया गया था, अपने विशाल प्राचीन साहित्य, कला, शिल्प आदि सास्कृतिक सपत्ति की ओर हिदी कवि को एक बार वेग से आकृष्ट किया। कालिदास, भवभूति आदि रससिद्ध व कल्पना के धनी कवियो की कृतियो ने रवीन्द्र, पत, प्रसाद आदि कवियों को प्रभावित किया। कालिदास की अलका (मेघदूत) की कल्पना एव प्रकृति-प्रेम व प्रकृति-पर्यवेक्षणजन्य उनकी मौलिक उपमाओ में निहित सद्य कल्पनाओं ने उन्हे नये-नये कल्पनात्मक रूप-व्यापार गढने की प्रेरणा दी।

छायावाद या प्रसाद-युग भारतीय पराधीनता के युग का सहवर्ती है। प्रस्तुत की नग्न व कठोर वास्तविकताओं, विवशताओं, असफलताओ और निराशाओ के भार से आक्रात कवि-मन स्वभावत कल्पना-लोक में विचरकर अपने प्रस्तुत या वर्तमान के दश को भुलाया करता है। छायावाद-युग में भारतीय जन-मन की निराशा और घुटन अपनी चरम सीम पर थी। ऐसी स्थिति मे आदर्शप्रिय कवियो के लिए मानसिक विश्राम व सतुष्टि के लिए एक मात्र मार्ग क्षितिज के पार पहुच जाने अथवा सौंदर्य और प्रेम का कोई मोहक, ऐकातिक व स्वर्णिम मनोराज्य का निर्माण करने, अतीत या भविष्य की कल्पना करने, या प्रकृति के आनद लोक मे जाकर अपने घाव सहलाने के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था। इस स्वच्छंद वृत्ति ने प्रकृति में रहस्य-भावना का भी द्वार खोल दिया। अग्रेजी के रहस्यवादी कवि ब्लेक, यीट्स तथा बगला के रवीन्द्र आदि कवियों ने हिदी काव्य में उस रहस्य-भावना को उत्प्रेरित किया,

जो प्रसाद जी की धारणा में भारत की प्राचीनतम काव्यधारा (रहस्यवाद) है। उपनिषद् के 'न तत्र सूर्यो भाति',[17] 'कि कारण ब्रह्म कुत स्म जाता',[18] 'हा 3 वु हा 3 वु हा 3 वु',[19] 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे',[20] 'ॐ केनेषित पतति प्रेषित मन'[21] आदि रहस्यात्मक उद्गारो ने प्राचीन भारतीय धर्म-सस्कृति व काव्य के नवीन अनुशीलन के युग मे काव्य-क्षेत्र मे नवीन कल्पनाओ को उत्तेजित किया।

इसके अतिरिक्त कृत्रिम नैतिकता के आवरण-भग के द्वारा प्रवर्तित नवीन सौदर्य-बोध, इतिहास के सुदूर व गरिमामय अतीत का अनुशीलन, भावी की नवीन कल्पना-मुक्त तथा नैतिक व सामाजिक कृत्रिम रूढियो के निर्मम ध्वस ने भी कवियों की कल्पना को मुक्त विहार के लिए नये-नये आकाश पकडा दिये। स्वच्छद कल्पना की यह स्थिति हिदी में अभूतपूर्व थी। प्रसाद इस स्वच्छद कल्पना के वरण करनेवालों में अग्रणी थे।

कल्पना-विषयक प्रसाद की गुणात्मक उपलब्धि को आकने के लिए अब हम कल्पना के व्यापक स्वरूप का आकलन करेंगे।

कल्पना का स्वरूप तात्त्विक चिंता

पाश्चात्य स्वरूप

पश्चिम मे कल्पना काव्य व साहित्य का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। इस तत्त्व के अनेक अग्रगण्य पुरस्कर्ता रहे हैं।

अरस्तू, लोजाइनस, दाते, ड्राइडन, स्पेन्सर, काट, शेलिग, ब्लेक, कालरिज व वर्ड्सवर्थ ने कल्पना का ऊचा मूल्य आका है। प्लेटो ने नैतिकता के आग्रह से काव्य के प्रति पूरा न्याय नही किया। उन्होंने कला को मूलभाव (Idea) की अनुकृति की अनुकृति कहा। किंतु अरस्तू ने व्यापक दृष्टि रखकर आनददायक कलागत सत्य की प्रतिष्ठा की, जिससे कल्पना का महत्त्व उद्घाटित हुआ। कलागत सत्य उनकी दृष्टि में नैतिक सत्य से अधिक मूल्यवान् हुआ। यह काव्य-पद्धति और उसके प्राण—कल्पना—के महत्त्व की स्वीकृति थी।[22] दाते ने, प्लेटो के विपरीत, कल्पना को लोकोत्तर काव्य उत्पन्न करने की क्षमता से सपन्न तत्त्व माना है। ड्राइडन ने कथानक व चरित्र के बाद महत्त्व देते हुए उसे जीवन को प्राणवान् स्पर्श देनेवाली वस्तु कहा है। काट व शेलिग ने उसे बाह्य प्रकृति पर अपना गभीर प्रभाव डालनेवाली एक मध्यस्थ सत्ता माना है। ब्लेक ने उसे आध्यात्मिक सवेदनाओं तथा मानव की शाश्वतता से सबधित किया है। कालरिज व वर्ड्सवर्थ ने उसे अतर्जगत् की एक अत्यत गहन व उदात्त शक्ति मानते हुए उसके गौरव की प्रतिष्ठा की है।[23]

अग्रेजी साहित्य में एडिसन ने सबसे पहले कल्पना का स्वरूप-निर्माण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कल्पना को मन की एक स्वतत्र शक्ति कहा है।[24] उनकी दृष्टि मे सफल कला के लिए आवश्यक है कि उसमें हमारी कल्पना को प्रभावित करने की क्षमता हो।[25] तत्पश्चात् कालरिज ने कल्पना का सबसे अधिक सतोषजनक निरूपण किया। रिचर्ड्स ने भी इस क्षेत्र मे उनकी देन को स्वीकार करते हुए उनकी प्रशसा की है। कालरिज ने प्राथमिक कल्पना (Primary Imagination) को कल्पना का सबसे अधिक प्रकृष्ट व महत्त्वपूर्ण रूप कहा है

तथा डाइचेस ने उसे व्यवस्था का एक महान् सिद्धात बताया है।[26] रिचड्र्स ने कालरिज की कल्पना-विषयक धारणा को एक चमत्कार के रूप में अभिहित किया है।[27]

वस्तुत स्वाभाविक स्वच्छदतावादी कवियो ने ही कल्पना को एक नया महत्त्व व गौरव प्रदान किया। कालरिज[28] और बावरा[29] ने उसकी आध्यात्मिक या लोकातिक्रातता की स्थापनी की—यद्यपि रिचड्र्स कल्पना में किसी प्रकार की रहस्यात्मकता नही मानते।[30] यों तो एडिसन भी मन की एक सश्लिष्ट क्रिया के इस रूप (कल्पना) को विषय के निरूपण की सुविधा के एक साधन (Device) मात्र से अधिक कुछ नही मानते,[31] पर फिर भी वे उसका सबध आत्मा के साथ अवश्य स्थापित करते है—चाहे आत्मा के खंड नही हो सकते, पर कल्पना करना आत्मा का कार्य है अवश्य।[32] सोल्जेर ने कल्पना के द्वारा विश्व के मूलभाव (Fundamental idea) की ऊचाई तक पहुच सकने की सभावना व्यक्त की है।[33] यीट्स का कथन है कि हमारी कल्पनाए विश्व की समस्त कल्पना की अश मात्र हैं। ज्यों-ज्यों हम काल्पनिक सहानुभूति द्वारा अपनी कल्पना का विस्तार बढाते चलते हैं और कला के सौंदर्य और शाति के साथ जगत् के सुख-दु खों को परिणत करते चलते है, त्यों-त्यों हम अपना सीमित व क्षण-भगुर रूप अधिकाधिक या उत्तरोत्तर छोडकर असीमित या अमर मानवता का रूप धारण करते चलते हैं।[34]

इस प्रकार पश्चिम मे कल्पना तत्त्व पर गहन चितन किया गया है।

पश्चिम मे कल्पना के अवमूल्यन की चेष्टा भी कम नही रही है।[35] स्वय प्लेटो ने इसे 'भ्राति' के लिए उत्तरदायी निम्नस्तरीय आत्मा का व्यापार (Function of the lower soul responsible for illusion) कहा है—यद्यपि अन्यत्र रहस्यात्मक अतर्दर्शन (Vision) मे उसकी क्षमता को उन्होने स्वीकार भी किया है। मध्ययुगों में वह एक अविश्वसनीय-सा मानसिक तत्त्व समझा जाता रहा है। पुनरुत्थान युग में वह बौद्धिक जीवन के लिए विक्षेप-रूप समझी गयी है। हाब्स ने तो उसे ह्रासोन्मुख भावना (Sense) ही कह दिया है।

भारतीय स्वरूप

प्राय कहा जाता है कि भारतीय साहित्य शास्त्रीय चितन में पश्चिम की तरह कल्पना तत्त्व का स्वतत्र विवेचन नही मिलता। पर वास्तविकता यह है कि 'कल्पना' शब्द को लेकर भले ही विवेचन न हुआ हो, किंतु साहित्य में कल्पना-तत्त्व के महत्त्व और उसके विविध साहित्यगत प्रयोगों से कवि और आचार्य तल-पर्यंत परिचित थे। भारतीयों की कल्पना-तत्त्व सबधी विचारधारा उनके द्वारा रचित काव्यों, नाटकों और समीक्षा ग्रथों में सचित है। भाव, प्रतिभा, विभावन-व्यापार या साधारणीकरण, रस-प्रक्रिया, अलकार, ध्वनि, ख्यात व उत्पाद्य कथावस्तु आदि के विवेचन में कल्पना-तत्त्व का गहन-सूक्ष्म आलोडन-विलोडन व महत्त्व-स्वीकृति निहित है।

भारतीय विवेचना में कल्पना (Imagination or Intuition) शब्द को न पकडकर 'प्रतिभा' या 'भावना' शब्द को ही लिया गया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि जिसे आजकल के लोग कल्पना कहते हैं उसे ही साहित्यवाले भावना कहते हैं।[36] पडित बलदेव उपाध्याय का मत है कि जिसे कल्पना कहा है वह हमारे साहित्यशास्त्र में 'प्रतिभा' है।[37]

उनकी दृष्टि मे, अलकारशास्त्रीय कल्पना पर प्रतिभा के विवेचन का प्रभाव विशेष रूप से पडा है।[38] उन्होने त्रिक् दर्शन की 'प्रतिभा' की स्थिति का मूलग्राही स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'विश्वोत्तर' रूप मे परमशिव अपनी सब शक्तिया समेटे रहते है। परमशिव के हृदय मे विश्व-सिसृक्षा के उदय होने पर वे शिव-रूप व शक्ति-रूप हो जाते हैं। चिद्रूप शिव, शक्ति के अभाव में वस्तुत अचेतन है। प्रकाश स्वरूप परमशिव विश्वात्मक भाव ग्रहण करते समय विमर्श-रूपा शक्ति से ही चेतन बनते हैं, जिसकी अनेक अपर सज्ञाओं में से एक सज्ञा है—'प्रतिभा'। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रतिभा का आयतन हृदय है, बुद्धि नही। "वह प्रतिभा 'स्वात्मायतन विश्रान्ता' रहती है—कवि का हृदय ही प्रतिभा का आयतन रहता है, जहा वह सतत विश्राम करती है।"[39]

इस प्रकार उक्त दर्शन के अनुसार प्रतिभा शक्ति मूलत परमशिव में ही निवास करती है, पर उन्मीलन की अवरोह-परपरा मे वह विमर्श-रूपा शक्ति की एक अपर सज्ञा के रूप में कार्य करती है। विमर्श-रूपा शक्ति के बिना स्वय परमशिव अपने ही स्वरूप को नही पहचान सकते—जैसे मधु स्वय ही अपने स्वाद को, या व्यक्ति, दर्पण की सहायता के बिना, अपने मुख को। यह प्रतिभा हमें त्रिकालज्ञ की तरह विश्व के कण-कण का समग्र दर्शन करानेवाली है। इस प्रकार शैवागम में प्रतिभा एक अत्यत उदात्त व गभीर तत्त्व है। कल्पना का सबध मूलत इसी 'प्रतिभा' से है।

साहित्याचार्यों ने 'काव्य-हेतु' के प्रसग में 'कल्पना' शब्द को न लेकर 'प्रतिभा'[40] की ही व्याख्या की है। दण्डी,[41] वामन,[42] रुद्रट,[43] क्षेमेन्द्र,[44] मम्मट,[45] राजशेखर,[46] पडितराज जगन्नाथ[47]—सभी आचार्यों ने शक्ति या प्रतिभा शब्द को ग्रहण किया है जो वस्तुत कल्पना से भी अधिक गहरे स्रोतो से सबध रखती है। साहित्याचार्यों के शक्ति या प्रतिभा के विवेचन से कल्पना की अपेक्षा प्रतिभा की उत्कृष्टता का अनुमान हो सकता है। इन पडितों ने 'काव्य-साधन', 'काव्य-अग', 'काव्य-हेतु', 'काव्य-कारण', 'प्रतिभा' आदि शीर्षकों से कल्पना के स्वरूप की अत्यत सूक्ष्म व मौलिक विवेचना प्रस्तुत की है। यह विषय साहित्यशास्त्र में इतना प्रसिद्ध है कि उसका अनावश्यक विस्तार करने की यहा आवश्यकता नही। हम विश्वस्त हो जाते है कि भारतीय पडित प्रतिभाजन्य कवि-कल्पना के स्वरूप, शक्ति व उत्कर्ष के ज्ञान में पारगामी है।

प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि-रूपा कही गयी है। वह अपूर्व वस्तुनिर्माण क्षमा प्रज्ञा का एक विशेष रूप है। दण्डी उसे नैसर्गिकी कहते हैं—'नैसर्गिकी च प्रतिभा'[48]। आचार्य रुद्रट स्वस्थ चित्त में निरतर अनेक वाक्यों की स्फूर्ति करानेवाली तथा अर्थप्रतिपादन में समर्थ पदों को प्रस्फुटित करानेवाली शक्ति को प्रतिभा कहते हैं। उनकी दृष्टि में सहजा प्रतिभा ही उत्कर्षाधायक होती है।[49] आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि प्रतिभा के होने पर ध्वनि और गुणों के आश्रय से वर्णनीय काव्यार्थों की कभी कमी नही पड सकती।[50] "ध्वनि स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है।"[51] अभिनवगुप्त के अनुसार वासना की रस रूप में चरम परिणति में कल्पना अन्य तत्त्वों के साथ महत्त्वपूर्ण सहायक है।[52] राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किये हैं—'कारयित्री' और 'भावयित्री'। इनका स्पष्ट पृथक्करण करते हुए उन्होंने सहजा कारयित्री प्रतिभा को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। 'काव्यमीमासा' के चतुर्थ अध्याय में उन्होंने अत्यत मनोयोगपूर्वक इस

विषय का प्रतिपादन किया है। पडितराज जगन्नाथ काव्य का कारण एकमात्र प्रतिभा को ही मानते है। उनके मत में काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति कराने मे ही प्रतिभा का प्रकाश होता है—"तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा। सा च कार्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति।"[53] तथा, "कारण च तदवच्छिन्ने भावनाविशेष- पुन पुनरनुसन्धानात्मा।"[54]—कहकर पडितराज ने प्रतिभा के विवेचन मे वस्तुत कल्पना के ही महत्त्व को स्पष्ट किया है, क्योकि पुन-पुन अनुसधान में पाठक के पक्ष मे कल्पना की ही अपेक्षा निहित है।

यह ध्यान देने की बात है कि आचार्यो ने इस विवेचन मे शक्ति, प्रतिभा आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है, 'कल्पना' का नही। पर कल्पना तो प्रतिभा की ही स्फुरणा है। प्रतिभावान् व्यक्ति ही काव्योचित या उत्कृष्ट कल्पना कर सकता है। अत 'कल्पना' शब्द के प्रयोग का अभाव विशेष महत्त्वपूर्ण नही ठहरता।

रस, ध्वनि, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि के तत्त्वों मे कल्पना तत्त्व का अपरिसीम महत्त्व निर्भ्रांत रूप से निहित है। रस और ध्वनि तत्त्व मे तो कल्पना का सर्वोत्कृष्ट और सूक्ष्मतम रूप समाहित है। रस ध्वनित होता है, और ध्वनि-व्यापार में कवि और सहृदय पाठक दोनो पक्षों मे कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता है। सहृदय में रस की चर्वणा और उसका आस्वाद—दोनों उसकी कल्पना-शक्ति के अनुपात मे प्राप्त होते है। भट्टनायक के 'भावकत्व' या विभावन व्यापार में तथा अभिनवगुप्त द्वारा विवेचित 'साधारणीकरण' में कल्पना की ही महत्त्व-स्वीकृति है। रस और ध्वनि मे सहायक रीति, गुण औचित्य व वक्रोक्ति के तत्त्वो मे भी कल्पना-व्यापार विभिन्न रूपों मे निहित है। उदाहरणार्थ, सलक्ष्यक्रम-ध्वनि के अतर्गत आनेवाली अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि के विचार में व्यजक अर्थ के प्रकारों में से एक प्रकार है—'कवि-प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध'। इस प्रकार असभव अर्थों के वर्णन में स्वच्छद कवि-कल्पना का अनत क्षेत्र है।

भारतीय कवि-कल्पना के इस मर्म-बोध का आश्वासन देनेवाला एक और साधन है और वह है प्राचीन भारतीय कवियों का काव्य। उसके अनुशीलन में हमे भारतीय कवि की कल्पना की उडान की ऊचाई का ज्ञान होता है। वस्तुत प्रतिभा या कल्पना का जो विवेचन भारतीय समीक्षकों ने प्रस्तुत किया है, उसका मूलाधार कवियों के लक्ष्य ग्रथ ही तो है। विषय और कला—काव्य-साहित्य के दोनो ही क्षेत्रों मे, इस प्रकार कल्पना का साम्राज्य फैला हुआ है। काव्यों में जहा भी रस-निष्पत्ति हुई है, वहा-वहा कल्पना का ही विस्तार है, क्योंकि रस-निष्पत्ति या रसास्वाद मूलत एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। भाव या रस का कथन नही होता, वे व्यग्य होते हैं। कवि और पाठक दोनों का ही कल्पना-व्यापार रसास्वाद में ही सार्थक या चरितार्थ होता है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय सृजन व समीक्षा—दोनों ही क्षेत्रों से हमे कल्पना तत्त्व के उत्कृष्टतम स्वरूप की अवगति का परिचय मिलता है।

आधुनिक पडितों ने भी कल्पना के उक्त महत्त्व को पूरी-पूरी स्वीकृति दी है। आचार्य शुक्ल उसी कल्पना को महत्त्व देते है जो हृदय की तह में प्रवर्त्तक या प्रेषक भाव से प्रेरित होकर भाव को सभालने या बढानेवाली हो। भावोद्रेक और कल्पना में, उनकी दृष्टि से, घनिष्ठ सबंध है।[55] उन्होने अपने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' (चिन्तामणि, भाग 1) नामक निबध में वस्तु-जगत् के महत्त्व को काव्य के लिए आधारभूत रूप मे स्वीकार करते

हुए, रूप-विधान के तीन प्रकारों (प्रत्यक्ष, स्मृत व कल्पित) में से 'स्मृत' (जिसमें प्रत्यक्ष-मिश्रित स्मरण या प्रत्यभिज्ञान तथा स्मृत्याभास कल्पना समाविष्ट है) और 'कल्पित रूप-विधान' के अतर्गत काव्योपयोगी कल्पना के प्राय सभी रूपों का सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। हमारी दृष्टि में भी कल्पना का समस्त काव्योचित प्रसार इसमें समाविष्ट है, शेष कुछ छूट नही जाता। ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य ने स्पष्ट शब्दों मे कोरी कल्पना को, जो वस्तु से सर्वथा असपृक्त है और भाव-प्रेरित नही है, कोई महत्त्व नही दिया है। भाव या रस से सपर्क रखनेवाली कल्पना का वे हार्दिक स्वागत करते है और इस रूप मे इतिहास के माध्यम से वे प्रकारातर से कल्पना के उस रूप को भी स्वीकृति देते जान पडते है जो कालरिज आदि रोमाटिक साहित्यशास्त्रियो द्वारा आत्मा से सबधित ठहरायी गयी है।[56] पर इस सबके मूल मे वस्तु की निश्चित स्वीकृति है। आचार्य शुक्ल, यूरोप के कई अतिवादी चितको की तरह, यह नही मानते कि रूपों-व्यापारों व वस्तुओं के काव्यगत होने से पूर्व उनका कोई कलात्मक महत्त्व नही। उन्होंने तो इस विचार का प्रत्याख्यान उक्त निबध के आरभिक भाग मे अत्यत मार्मिकता के साथ किया है। वस्तुत उनकी दृष्टि मे कल्पना की समस्त सत्ता और उसका प्रसार प्रत्यक्ष रूपों पर ही आश्रित है। ध्वन्यालोककार ने 'वस्तु-ध्वनि' की ध्वनि का प्रथम भेद मानकर मानो उसी वस्तु की सत्ता को काव्य में भी स्वीकार किया है, जिसके प्रति आचार्य शुक्ल इतने आग्रही हैं।

आचार्य वाजपेयीजी ने व्यक्तिगत व सामाजिक विकासोन्मुख जीवन और कवि द्वारा उसके साक्षात्कार के सदर्भ में कवि-कल्पना का सैद्धातिक स्वरूप अत्यत स्पष्ट रेखाओं मे अकित किया है। वे लिखते हैं—"साहित्य का स्रष्टा युग के विकासोन्मुख जीवन और प्रवृत्तियों का अनुभवी और हिमायती हो। इससे भी अधिक उसमें वह ऊची प्रतिभा होनी चाहिए कि वह न केवल जीवन-विकास का साक्षात्कार कर सके, बल्कि ललित, उदात्त और सुग्रथित कल्पनाओं और रचना-शैलियों द्वारा उनका साक्षात्कार पाठकों को भी करा सके।"[57] इस कथन में कवि-कल्पना के जिन विश्लेषणों का उल्लेख (ललित, उदात्त और सुग्रथित) हुआ है, वे काव्योचित स्वस्थ कल्पना के स्वरूप को भली भाति हृदयगम कराते हैं।

डॉ. नगेन्द्र ने कल्पना तत्त्व का मूलवर्ती महत्त्व दर्शाते हुए लिखा है—"कल्पना उस शक्ति का नाम है जो पहले कवि को वर्ण्य विषय का मनसा साक्षात्कार कराती है और फिर भाषा में चित्रात्मकता का समावेश कर श्रोता के मन चक्षु के सामने भी उसे प्रत्यक्ष कर देती हैं।"[58] उन्होंने कल्पना का पूरा-पूरा महत्त्व स्वीकार करते हुए भी अनुभूति की अपेक्षा उसे निम्न स्थान ही दिया है—"अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि काव्य का सवेद्य वही है। कल्पना इस सवेदन का अनिवार्य साधन अवश्य है, परतु सवेद्य नही है।"[59] उन्होंने भट्टतौत और अभिनवगुप्त की प्रतिभा-विषयक धारणा को पूरी स्वीकृति इस आधार पर दी है कि 'प्रतिभा अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' कहकर कल्पना को वस्तु के सच्चे स्वरूप से छुड़ाकर हवाई या इद्रजाली नही होने दिया गया है।[60] और वस्तुत यही पक्ष आचार्य शुक्ल जी और आचार्य वाजपेयीजी का भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्पना के मूल निर्माता तत्त्वों के सबध में भारतीय पडितों में प्राय पूर्ण मतैक्य है।

कल्पना के इस भारतीय और पाश्चात्य स्वरूप पर सामूहिक दृष्टिपात करने पर हम इस तथ्य से भली भाति अवगत हो जाते हैं कि कल्पना का मूल स्वरूप अत्यत गभीर और उदात्त है और साहित्य मे उसके समावेश से एक अद्‌भुत प्राणवत्ता का सचार हो जाता है।

अब हम अपने आलोच्य कवि प्रसाद की कल्पना-विषयक धारणा को भी देखे कि वह इस स्वरूप की तुलना मे कैसी है।

प्रसाद की कल्पना-विषयक धारणा

प्रसाद-साहित्य में कल्पना के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व प्रसाद की कल्पना-विषयक धारणा से परिचित होना उपादेय होगा।[61] 'कल्पना-सुख' शीर्षक कविता मे प्रसाद ने कल्पना के स्वरूप को उसके स्तवन या प्रशस्ति के माध्यम से पूर्णतया व्यक्त कर दिया है, जो सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—कल्पना 'सुख-दान' सुखद या प्रभु का सुखमय दान) है। वह मनुजों (भावुकों, सहृदयो) की जीवन-प्राण है। वह व्योम के समान विशद है, मनुष्य उसका पार नही पा सकते। वह प्रत्यक्ष, भावी और भूत प्रकृति कल्पना के तार को ही तानकर शुचि ससार रूपी पट बुनती है। वह विश्व का विश्राम है। उसका ध्यान ललाम व मधुर है। अतीत की कल्पना की मधुर मूर्ति हृदय को शीतल करती रहती है। भविष्य की कल्पना-मूर्ति भी सुखद है, आशाप्रद और स्फूर्तिवान् है। मनुष्य उसी में जीकर सुख पा रहे हैं। कल्पना छाया के बहुत-से सुदर चित्र बनाया करती है। कवि कल्पना की अनमोल शक्ति को प्राप्त कर अद्‌भुत खेल करते रहते हैं। कल्पना सबके हृदय को आनद का दान करती रहती है, नहीं तो यह संसार विषम है, यहा शाति की बयार कहा।

उक्त धारणा में प्रयुक्त पदावली इतनी स्पष्ट है कि विशदीकरण की कोई आवश्यकता नही जान पडती। अन्यत्र भी कल्पना-विषयक कुछ सूत्र-सकेत हाथ लगते हैं

"तो मै भी कल्पना का आनद ले लू।"[62]

" कोमल कल्पना वाणी की वीणा में झकार उत्पन्न करेगी।"[63]

"आह, कल्पना का सुदर यह जगत् मधुर कितना होगा।"[64]

"कल्पना का कुसुम-कानन।"[65]

"विश्व कल्पना-सा ऊचा यह सुख शीतल सतोष निधान।"[66]

"जहा हमारी सुदर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है।"[67]

निःसशय रूप में कल्पना-शक्ति के जीवनगत व कलागत महत्त्व, स्वरूप, शक्ति-क्षमता, गतिविधि व प्रभाव आदि का प्रसाद-प्रणीत बडा प्रामाणिक, सर्वागपूर्ण व अंतरग स्वरूप-विवेचन हमें प्राप्त होता है। प्रसाद के समस्त साहित्य के विवेचन-विश्लेषण के बाद हमे कल्पना-सबधी ये ही तथ्य हाथ लगेगे। कल्पना-तत्त्व के प्रति प्रसाद का कितना गहरा आकर्षण है और उसके फलस्वरूप उनकी साहित्य-सृष्टि में उसके समावेश का अनुमान अत्यधिक हो उठना कितना अपरिहार्य है, इसका अनुमान भी हमें हो चलता है। पूर्व और पश्चिम में कल्पना-तत्त्व के जो अत्यत प्राणवान् व प्रकृष्ट विधायक अणु-परमाणु है, वे

प्रसाद-साहित्य में प्राप्त होते है। अत कल्पना की दृष्टि से अब प्रसाद-साहित्य का विश्लेषण आवश्यक है।

प्रसाद-साहित्य मे कल्पना विश्लेषण

मोटे तौर से प्रसाद में दो प्रकार की कल्पना मिलती है—(1) रूढ और (2) स्वच्छद, मौलिक या नवीन। ब्रजभाषा तथा खडी बोली मे लिखित रचनाओ मे (जैसे, 'चित्राधार', 'कानन-कुसुम' आदि मे) कल्पना के नाम पर पुराने रूढ उपमान ही प्राय सर्वत्र दिखायी पडेगे। 'प्रेम-पथिक' से ही स्वच्छद कल्पना अपने पख फडफडाने लगी।

प्रसाद ने स्वरुचिवश मधुर व रगीन-सुकोमल रूपों की ही अधिक सृष्टि की है, किंतु रूखे, अनगढ व परुष रूप-व्यापारो की कल्पा का भी उनमें अभाव नही है।[68] प्रसाद जीवन के कठोर-अनगढ रूपों की भी बडी रसात्मक उद्भावना करते थे। वीर, रौद्र, वीभत्स आदि रसों के निरूपण के अवसर पर उनकी इस प्रकार की क्षमता व प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

प्रसाद की कल्पना की एक दूसरी विशेषता यह है कि कल्पना के द्वारा जो रूप-व्यापार वे प्रस्तुत करते है वे भाव, रस अथवा परिस्थिति की मूल भावना के सर्वथा अनुरूप होते हैं और प्रस्तुत भाव को अधिक चर्वणीय बनाने मे सफल होते है।

काल के प्रति रुचि-विशेष की दृष्टि से प्रसाद की कल्पना का प्रसार मुख्यतया अपने जीवन के तथा राष्ट्र के अतीत जीवन के क्षेत्र मे हुआ है।

कवियों में भविष्य की कल्पना प्राय- दो रूप ग्रहण किया करती है—(1) रस या भाव से असपृक्त हवाई, निराधार कल्पना तथा (2) परिस्थितियों या काल-प्रवाह के सर्वथा अनुरूप तर्कसगत ढग पर स्वप्नद्रष्टा की भाति, भविष्य की आशाप्रद रमणीय कल्पना। प्रथम रूप की कल्पना प्रसाद मे प्राय नही दिखायी पडती। द्वितीय रूप कही तो प्रत्यक्ष मिलता है और कही रचनाओं द्वारा ध्वनित रूप में।

प्रसाद की कल्पना का विशेष उपयोग निम्नलिखित रूपो मे हुआ है

1 वस्तु-सघटन व चरित्र-निर्माण में,
2 उपमान-पक्ष के निर्माण में,
3 लक्षणा व मानवीकरण आदि के विधान मे;
4 काल्पनिक आनद लोक के निर्माण मे,
5 कुछ अन्य रूपों में।

अब हम प्रत्येक पर स्वतत्र रूप से विचार करेंगे।

1 **वस्तु-सघटन व चरित्र-निर्माण मे** यों तो इतिहास के सुनिश्चित तथ्यो को तोड़ने-मरोडने या विकृत करने का किसी भी लेखक को अधिकार नही, पर युग की आवश्यकता के अनुरूप, इतिहास के स्थूल ढाचे की रक्षा करते हुए, कल्पना के बल से उसमें एक सीमा तक, नयी भावनाओं का नया रग भरने का विशेषाधिकार साहित्यकार को प्राप्त है। प्रागैतिहासिक, पौराणिक, अर्द्धऐतिहासिक वृत्तों में, जहा इतिहास की सामग्री अपूर्ण है, साहित्यकार को, तर्कसम्मत और औचित्यपूर्ण कल्पना का विनियोग करने की पूरी छूट रहती है। प्रसाद ने इस अधिकार का उपयोग करते हुए अपनी ऐतिहासिक कृतियों में कल्पना की

सहायता ली है। ऐतिहासिक कृतियो मे प्रसाद की कल्पना निम्नलिखित रूपो मे नियोजित हुई है

(क) प्राचीन पात्रो की जोड-तोड में व नवीन पात्रो के निर्माण मे, (ख) नवीन प्रसगो की उद्‌भावना में, व (ग) ऐतिहासिक प्रसगों या घटनाओ की पुनर्योजना मे, आदि।[69]

2 **उपमान-पक्ष के निर्माण मे** अलकार का क्षेत्र कल्पना के लिए अत्यत उर्वर क्षेत्र है। प्रस्तुत रूप-व्यापार के मेल मे अप्रस्तुत या उपमान प्रस्तुत करने में कल्पना को पूरी छूट रहती है। उपमा, रूपक, हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, मुद्रा, विभावना, निदर्शना, व्यतिरेक, विशेषण-विपर्यय, प्रौढोक्ति, व्याजस्तुति, मिथ्याध्यवसित, ललित आदि अलकार विशेष रूप से कल्पना को गति प्रदान करनेवाले हैं। ध्वनिमूलक अलकारों में (जहा व्यजित वस्तु का ग्रहण प्रबुद्ध पाठक की ग्राहक कल्पना की विशेष अपेक्षा रखता है—जैसे, अप्रस्तुत प्रशसा, अन्योक्ति, विशेषोक्ति आदि में) कल्पना का सौदर्य विशेष रूप से दर्शनीय होता है।

स्थानाभाव से सब अलकारों को न लेकर केवल एक प्रमुख अलकार—रूपक—के सहारे अलकारगत कल्पना की ओर सकेत मात्र ही करना पर्याप्त होगा।

रूपक (साग व निरग) के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण—

साग रूपक जीवन-समुद्र रूपक,[70] शाति-द्वीप रूपक,[71] उषा-नागरी रूपक,[72] सरिता-समुद्र रूपक,[73] जीवन-उपवन रूपक,[74] यौवन-तुरग रूपक,[75] उषा-पनिहारिन रूपक।[76]

निरग रूपक तन छवि-सर,[77] सपनो के बादल,[78] सपनो की सोनजुही,[79] अतीत-नाविक,[80] निर्मोह काल का काला पट,[81] यौवन-तुरग,[82] लावण्य-धारा,[83] पावक-सरोवर,[84] नयन रूपी नीलम की नाव,[85] अगडाई-लहर,[86] प्रकृति-प्रियतम।[87]

निर्दिष्ट साग रूपकों का मूल में अनुशीलन-विश्लेषण करने पर प्रसाद की कल्पना-शक्ति का सौदर्य दिखायी पडेगा। उपमेय और उपमान—इन दोनों पक्षों के सबधों का बिब-प्रतिबिब रूप से आद्यत निर्वाह, दोनों के सामान्य गुण की परख, रूप-आकार और प्रभाव आदि की समग्रता के द्वारा कल्पना की सूक्ष्मता, उच्चता व परिपूर्णता का परिचय मिलेगा। निरग रूपको में इस विवरण का चयन (विशेषत गुण के आधार पर चुने गये उपमान में) प्रसाद की कल्पना के सब गुणों को मूर्तिमान कर उठेगा। जैसे—'सपनो की सोनजुही'। स्वप्न (उपमेय) के लिए सोनजुही (उपमान) का कथन मात्र ही इस निरग रूपक मे है, पर इतने से ही उन दोनों के बीच की सामान्य गुण-भावना हृदयगम हो जाती है। अमूर्त व सूक्ष्म-सुकुमार स्वप्न की भावना मूर्त सोनजुही के उपमान द्वारा कैसी स्पष्टता से परिस्फुट हुई है।

इसी प्रकार अन्यत्र अगणित उपमाओ के विधान मे कवि की कल्पना-शक्ति के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की कोमल, रगीन व वैभवशालिनी कल्पना-शक्ति का समस्त वैशिष्ट्य कतिपय निम्न उदाहरणो से और अधिक स्पष्ट हो सकेगा ·

अब शेष धूम्ररेखा से चित्रित कर रहा अधेरा,[88] अलको में मलयज बद किये,[89] कोर बरौनी कान लगे,[90] माधव सुमनो में गूथ रहा तारों की किरन अनी,[91] मलयानिल की परछाई सी,[92] आखों की छाया,[93] सपनों की छाया,[94] मधुमालतिया सोती है, कोमल उपधान सहारे।[95] इसके अतिरिक्त उच्छ्‌वास और आसू में विश्राम का थककर सोना,[96] राग का दिन को

रगना,[97] सध्या को नहलाना,[98] काटो को ओस बिदु मे मोती से मडित करना,[99] पृथ्वी और आकाश को प्रेमी-प्रेमिका बनाना,[100] चद्रमा का बाल सूर्य-युक्त प्राची को चुबन-चिह्न-युक्त नायिका का कपोल बताना,[101] आखो की अजन रेखा को कालापानी (द्वीप) का समुद्र-तट कहना,[102] सध्या के द्वारा सगीत का पीया जाना,[103] सुगधों की घटा उठाना[104] — कोमल चित्रात्मक कल्पना को अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रस्तुत करते है।

प्रलय के चित्रों ('कामायनी', चिता सर्ग तथा 'प्रलय' कहानी आदि) में तथा 'निज अलको के अधकार में' (लहर) या 'अगरु धूम की श्याम लहरिया' जैसे गीतो मे कल्पना का सौदर्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

इन उदाहरणो में प्रसाद की कल्पना की सुकुमारता-कोमलता, सूक्ष्मदर्शिता तथा निकटदर्शिता भाषा की लक्षणा शक्ति के सहारे प्रकट हुई है। कवि के व्यक्तित्व के विशेष पक्ष की निदर्शक एकात निजी अभिरुचिया भी सामने आयी है।

प्रसाद ने अलकार-विधान में अपनी मुक्त व रमणीय कल्पना का पूरा वैभव प्रदर्शित किया है। उपमान प्रकृति, जीवन, लोक-व्यवहार, स्वर्गलोक, पुराण आदि से लिये गये हैं। अवश्य ही अनेक उपमान आरभिक कृतियों में नये सदर्भ में विन्यस्त होकर सुदर हो उठे है। उपमान-रूप मे जो पूरे चित्र-खड प्रस्तुत किये गये है वे प्रसाद की सुरुचि, सौंदर्य-प्रेम और चयन-कौशल के परिचायक हें। वास्तव मे प्रसाद की कल्पना-शक्ति की उच्चता-उत्कृष्टता का अनुमान लगाने के लिए यह रूप सामान्य सहृदय पाठक के लिए सबसे अधिक सहायक होता है। सूक्ष्म उपमान के लिए स्थूल उपमेय या स्थूल उपमान के लिए सूक्ष्म उपमेय का चयन भी कवि की कल्पना-शक्ति का निदर्शक है।

3 **लक्षणा व मानवीकरण आदि के विधान मे** कल्पना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण व पुष्कल प्रयोग शब्द की लक्षणा शक्ति के उपयोग के समय होता है। छायावाद के काव्य की मुख्य विशेषता लाक्षणिक मूर्तिमत्ता है। अभिधा के द्वारा शब्द के सामान्य अर्थ का कथन-मात्र होता है, जो वस्तु-बोध के लिए प्राथमिक रूप में आवश्यक, व्यवहार या इतिवृत्त में चलता है। पर कथन को रसात्मक बनाने के लिए इसे चित्र या मूर्ति रूप में उपस्थित करना काव्य या साहित्य की विशिष्ट पद्धति है। कोई भी कथन रोचक अथवा रसात्मक रूप में तभी ग्रहीत होगा, जब वह मन पर चित्र रूप, बिब रूप या मूर्ति रूप में उपस्थित हो। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए साहित्यकार लक्षणा शक्ति का उपयोग करते हैं। इस उपयोग में कल्पना का भरपूर व्यवहार निहित है। छायावादी काव्य मे यह लाक्षणिक मूर्तिमत्ता पद-पद पर मिलेगी। सारोपा लक्षणा (रूपक-अलकार) में, उपचार के द्वारा, गुण या सादृश्य के आधार पर जो लक्षणा की जाती है, उसमें कवि की कल्पना निहित रहती है। साध्यवसाना लक्षणा (रूपकातिशयोक्ति) मे जहा केवल उपमान-मात्र का कथन होता है वहा भी कल्पना का ही प्रयोग निहित होता है, क्योंकि एक ही पक्ष (उपमान) के बल पर उपमेय की कल्पना करनी पडती है।

यही बात लक्षणा के अन्य भेदों (उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा आदि) के सबध में है।

चेतनीकरण व मानवीकरण में भी कवि-कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग होता है। जड जड ही है, वह चेतन नही। पर विश्व को सर्वत्र आनद की चेतना में तरगायित देखने का अभिलाषी कवि कण-कण को चेतन बनाकर देखता-दिखाता है। उससे आगे बढकर वह

मनोभावो व पदार्थो का मानवीकरण करके उन्हें मानवोचित क्रियाकलापों से सयुक्त कर देता है। प्रसाद ने सर्वत्र यह करके अपनी कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ वह (मणिदीप) पावक पुज हुआ अब, किरणो की लट बिखराये,[105] मधुमालतिया सोयी हैं, कोमल उपधान सहारे,[106] रोती करुणा कोने में,[107] कामना के नूपुर की झकार,[108] करुणा की नव अगराई सी,[109] जिसमे शीतल पवन गा रहा पुलकित हो पावन उद्‌गीथ,[110] हसती सी सुरभि सुधार रही, अलको की मृदुल अनी[111]।

4 **काल्पनिक सौंदर्य-लोक के निर्माण मे** प्रसाद ने विधाता की सृष्टि को सदोष या अपूर्ण देखकर अपने आदर्शानुरूप एक मनभावते जरामरणहीन, दिक्कालावच्छिन्न भावलोक, सौंदर्य-लोक या आनद-लोक के निर्माण मे या क्षितिज के पार की, लोक-लोकातर की और जन्मजन्मातर की भी मधुर कल्पना की है। प्रसाद की कल्पना जहा पूर्णत उन्मुक्त या उन्मत्त हो उठी है वहा यह पृथ्वी की सीमा को पार कर बैठी है। उदाहरणार्थ

ले चल वहा भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे-धीरे !
जिस निर्जन मे सागर लहरी, अम्बर के कानों मे गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे !
श्रम विश्राम क्षितिज-बेला से—जहा सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—बिखराती हो ज्योति घनी रे[112]।

उस सौंदर्य-सुधा सागर के कण है हम तुम दोनों ही,
मिलो उसी आनद अबु निधि मे मन मे प्रमुदित होकर[113]।
"चलो, मिलें सौदर्य-प्रेमनिधि मे"—तब कहा चमेली ने—
"जहा अखड शाति रहती है—वहा सदा स्वच्छद रहे[114]।"

पृथ्वी से दूर जल-राज्य मे, जहा कठोरता नही केवल शीतल, कोमल और तरल आलिगन है, प्रवचना नही सीधा आत्मविश्वास है, वैभव नही सरल सौदर्य है[115]।

"अब मुझे अपने मुख-चद्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीद्रिय जगत् की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करनेवाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ अवनी की सीमा को लाघ जाऊ और तुम्हारा सुरभि-नि श्वास मेरी कल्पना को आलिगन करने लगे[116]।"

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणे उसे चूमने को लोटती थी, सध्या में शीतल चादनी उसे अपनी चादर से ढक देती थी। उस मधुर सौंदर्य, उस अतींद्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैने हाथ बढाया था—वही स्वप्न टूट गया[117]।"

"उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद मडल में दो बिजलियों के समान क्रीडा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जाये। और उस क्रीडा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगो के विलीन हो जाने पर भी जगत् की आखो को थोडे काल के लिए बद कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराए और इस लोक के अनत पुष्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्यचकित हों, वही मादक सुख, घोर आनद, विराट् विनोद, हम लोगो का आलिगन करके धन्य हो जायें[118]।"

ये कल्पनाए हमारे जीवन की अनुभूतियो मे से फूटी है, और यही इनकी अपील का

रहस्य है। इन चित्रों मे मानव-हृदय की एक चिरतन ललक, स्पृहा और लाडली आकाक्षा है। विश्लेषण करने पर हम यह तथ्य पायेगे कि वे चित्र तमोगुण से प्रेरित न होकर अधिकाशत मतोगुण से प्रेरित है। लोको का विवरण, उनकी चित्रात्मकता, लक्षणाओ का सौदर्य और पदावली का सगीत—सब मिलकर 'प्रसाद' की सूक्ष्म-गभीर कल्पना का ऐश्वर्य छिटका रहे है। 'चिति स्वतत्रा विश्व सिद्धि हेतु' (प्रत्यभिज्ञाहृदय) मे जिस परमशिव की स्वतत्रता शक्ति का उल्लेख है, आत्मा की उसी मधुरतम स्वतत्रता की आकाक्षा इन चित्रों में से छनती आ रही है।

इसी के साथ हम उस कल्पना को भी ले सकते है जो जन्म और मृत्यु के दो चरम क्षणों के बीच के विस्तार का अथवा दृश्य भौगोलिक विस्तार का अतिक्रमण करके जन्म और मृत्यु के पार तथा लोक-लोकातरों मे भी भ्रमण करने की पूरी स्वतत्रता रखती है। प्रसाद की भावना जन्म-जन्म की कल्पना भी करती है—

हे जन्म-जन्म के जीवन,[119] चौदहों भुवन में,[120] नदन वन की अनग बालिकाए,[121] नदन की कुसुम कुतला अप्सराए,[122] नदन तमाल के तल,[123] सोने की सिकता, स्वर्गंगा में इदीवर की या एक पक्ति कर रही हास।[124] नदन व अमरावती,[125] स्वर्गगा की धारा,[126] सुधा का सुदर सरोवर[127] आदि। 'कामायनी' मे देव-सृष्टि या स्वर्ग की तो भरी-पूरी ही कल्पना प्रस्तुत की गयी है।

5 **कल्पना के कुछ अन्य रूप भी द्रष्टव्य है** (1) एक इद्रिय के विषय का दूसरी इद्रिय के विषय मे सयोग कराने मे

"नूपुरो की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से।"[128]

(2) वस्तु या भाव को वर्ण (रग) प्रदान करने में—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा",[129] उनका उन्माद सुनहला,[130] स्मित का नील नलिन रस[131] आदि।

(3) लघु को विशाल व विशाल को लघु बनाने मे—

"कन-कन अनत अबुधि बनते।"[132]

"छोटा-सा मुकुर प्रकृति का था सोई राका रानी।"[133]

यहा कल्पना के बल पर कण को समुद्र और मानसरोवर को मुकुर बनाया गया है।

धर्मी के लिए धर्म और धर्म के लिए धर्मी तथा जड को चेतन और चेतन को जड रूप में कल्पित करने के उदाहरण तो पर्याप्त मिल जायेंगे।

समीक्षात्मक निष्कर्ष

ऐतिहासिक अनुक्रम में देखने पर तो यह प्राय: सुनिश्चित है कि आधुनिक हिंदी साहित्य मे प्रसाद जी ने इतिवृत्तात्मकता से आगे बढकर ध्वनि या व्यजना तत्त्व को ही प्रधानता दी, जिससे उनके साहित्य में कल्पना-तत्त्व का महत्त्व असदिग्ध है।

कल्पना के क्षेत्र मे प्रसाद की उपलब्धि को भली भाति आकने से पूर्व उनके साहित्य के प्रति एक गभीर व महत्त्वपूर्ण आक्षेप पर विचार करना आवश्यक है।

प्रसाद-साहित्य मे कल्पना-तत्त्व के आधिक्य या विषमानुपात पर प्राय आपत्ति की जाती है। इस विषय पर मतभदे हो सकते है पर हमे एक तर्क-सम्मत समाधान दिखायी पडता है। प्रत्येक साहित्य का निर्माण निर्माता की किसी-न-किसी दार्शनिक दृष्टि से ही अनिवार्यत नियत्रित होता है। प्रसाद-साहित्य भी इसका अपवाद नही है। वेदात, रामानुज-दर्शन, वल्लभ-दर्शन, शैवागम-दर्शन आदि दर्शनो मे न्यूनाधिक अतर से आनद को ही आत्मा का मूल गुण या लक्षण माना गया है। जगत्-व्यवहार में लिप्त होकर भले ही हम आनद से वचित या दूर हों (वल्लभ तो स्पष्ट कहते है कि जीव मे 'आनद' का तिरोभाव रहता है, 'सत्' और 'चित्' का आविर्भाव), कितु साधना के सर्वोच्च स्तर पर शुद्ध-बुद्ध आत्मा का एक ही कार्य रह जाता है—आनद मे किलोले करना या ब्रह्म-विहार करना—तत्रो हस प्रचोदयात्,[134] आत्मन्येवात्मना तुष्ट,[135] आदि। आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म या श्रीकृष्ण के तीन स्वरूपो की कल्पना की है—सत्, चित् व आनद। इन तीनो स्वरूपो का साक्षात्कार क्रमश सधिनी, सवित् व ह्लादिनी शक्तियो से होता है। ह्लादिनी शक्ति से अनुभूयमान भाव आनद स्वरूप सबसे ऊचा स्वरूप है, जिसका अनुभव क्षरब्रह्म व अक्षरब्रह्म से भी ऊपर बैकुठ लोक के एक भाग गोलोक में अनुभूत होता है, जिसमें प्रेमलक्षणा भक्ति से पुष्ट पुष्टि-जीव लौकिक व वैदिक मर्यादाओ से सर्वथा अतीत हो लीलापति के साथ नित्य लीला करते है। सब बधनो से मुक्त यह नित्य लीला ही आत्मा का एकमात्र कार्य है, दूसरा कुछ नही। इसी प्रकार शैवागम-दर्शन मे परम शिव की पाच विशिष्ट शक्तियों मे से एक शक्ति है 'आनद शक्ति'। इस शक्ति से युक्त परम स्वतत्र स्वभाववाले शिव लीलापूर्वक सृष्टि का खेल अपने ही आनद के लिए करते रहते है—"स्वेच्छया स्व भित्तौ विश्वमुन्मीलयति।"[136]

विचार के इस धरातल पर आकर ही काव्य मे कल्पना के स्वरूप का वास्तविक मर्म उद्घाटित होता है। यह कल्पना-विहार केवल अलस निरुद्देश्य क्रीडा नही है। यह वस्तुत निर्बध आत्मा की शुद्ध आनदमयी क्रीडा का द्योतक है जो काव्य में 'सहृदय' का और साधना-पथ मे जीवात्मा का चरम वरेण्य है। काव्य के चरम लक्ष्य रसास्वाद में भी वही सहायक है। कल्पना यदि वस्तुमूलक होकर सच्ची भाव-प्रेरणा से चालित व अनुप्राणित है तो वह अलस और निरुद्देश्यमयी न मानी जाकर आत्मपदलाभ की स्थिति की प्रधान साधिका के रूप में अपरिहार्यत स्वीकार की जानी चाहिए।

शुद्ध वास्तववादी, तथ्यवादी या अभिधावादी प्राय कल्पना के वरण को असत्य या मिथ्या को प्रश्रय देने के समान समझते हैं। पर यह अत्यत स्थूल दृष्टि है और साहित्य के मूल लक्ष्य व प्रक्रिया की अज्ञता की द्योतक है। तथ्य यह है कि अपूर्ण, सात व सीमित मानव कल्पना मे ही अपनी पूर्णता का दर्शन करता है। कल्पना का मुख्य कार्य है नवनवोन्मेष। यह नवनवोन्मेष मानव की आत्मा के विशिष्ट गुण नवीनता, स्फूर्ति व ताजगी का द्योतक है। कल्पना की नवीन सृष्टि से स्रष्टा को जो गभीर रजन व आनद प्राप्त होता है, वह तो आत्मा का ही सर्वोपरि गुण कहा गया है। इस आनदानुभूति की स्थिति में ही मानवात्मा अपने पचकचुकों को उतार फेंकती है।

जब कल्पना मानव और ससार को सुखी और स्वतत्र बनाने की मूल प्रेरणा से परिचालित रहती है तो कवि की सूक्ष्म उडानें, ऊपर से कोरी और रीती दिखायी पडने पर भी, वस्तुत केवल कल्पना मात्र नही होती। वे मानवात्मा के सुदूरतम लक्ष्यों की प्राप्ति की विकलता से उज्जीवित

रहती है। जो प्रिय है और अवश्य प्राप्त करने योग्य है, वह प्राणो मे बस जायेगा और कल्पना-चित्रो के रूपो मे प्रतिक्षण अतर्चक्षुओ मे उभरता ही रहेगा। कल्पना का नव-नव रूपो मे उभरते ही रहना कवि-विशेष अथवा युग-विशेष की जीवतता का और कुछ नया सृजन करने की और प्राप्त करने की बलवती और सच्ची आकाक्षा का प्रतीक है। हमारी सच्ची सृजनात्मक शक्ति कल्पना-चित्रों मे ही अपने अस्तित्व की सार्थकता की घोषणा करती है।

कल्पना दुनियादारो की आखों मे प्राय निठल्लो का धधा समझी जाती है, पर सदा ही यह समझना नादानी है और जीवन की एक अनमोल प्राकृतिक विभूति वरदान की अनभिज्ञता का सूचक है। कल्पना और सत्य के सबध पर यदि हम विचार करने लगे तो जान पडेगा कि कल्पना सत्य की प्राप्ति का सोपान है। जो कल कल्पना थी, वही आज सत्य है। कल्पना किये बिना हम किस प्रकार सत्य को पाने के लिए प्रयत्न कर सकेंगे ? इस दृष्टि से कल्पना करना मानव-विकास की अनिवार्य आवश्यकता है। अग्रेज कवि शैली बडी हवाई कल्पना करता रहता था, पर साथ ही यह भी एक सत्य है कि वह सुखी और स्वतत्र मानव समाज की प्रतिष्ठा मे तत्पर था। जिस कवि ने वायवी कल्पनाए की, उसके काव्य और उसका गद्य—दोनो ही मानव जाति के कल्याण की भावना से झकृत है। वस्तुत सर्जनात्मक व रमणीय कल्पना करना जीवनी शक्ति से आपूर्ण एक चैतन्यपूर्ण व क्रातदर्शी कवि का लक्षण है। जो कवि जीवन के रस से हरी-भरी कल्पनाओ से हमे परिचालित या उच्छ्वसित नही कर सकता, उसके लिए मानो रस-निष्पत्ति का राजपथ ही अवरुद्ध है। आवश्यक शर्त केवल यही है कि कल्पना की जडे जीवन की मिट्टी मे ही हो। अतिवाद से बचते हुए, सघन व अखड रस की सृष्टि के लिए प्रयुक्त कल्पना हमारी जडता के हिम को तोडकर जीवन मे नवीन प्राणोष्मा व नवीन कल्लोल भरकर आत्मा का साक्षात्कार कराने मे सहायक ही होगी, बाधक नही। ऐसी कल्पना काव्य-क्षेत्र मे नित्य अभिनदनीय है।

इस रूप मे मोचने पर ही प्रसाद की कल्पना का वास्तविक मर्म व महत्त्व जान पडेगा। फिर तो कल्पना की दुरूहता भी कोई गभीर समस्या खडी करती नही जान पडेगी।

इस आपत्ति या आक्षेप का परिहार कर लेने प अब अवातर विचारों से मुक्त होकर शुद्ध कला की दृष्टि से प्रसाद की कल्पना के गुण और स्तर का अधिक आश्वस्त भाव से समाकलन किया जा सकता है। प्रसाद ने अपने युग मे अगणी रहकर नयी-नयी कल्पनाओ के क्षेत्र खोले हैं। वे कोमल और कठोर—जीवन के दोनों पक्षो की कल्पना कर सकने मे पूर्ण सक्षम है। उनके कल्पना-प्रयोग मे कल्पना की वे ऊची से ऊची उडाने है जो युग-युग के दार्शनिको कलाकारों व साहित्यशास्त्रियों द्वारा, स्वीकृत व विवेचित है। कल्पना के प्राय सभी साहित्योचित उपयोग प्रसाद-साहित्य मे मिलेगे। पूर्व और पश्चिम के कल्पना-विषयक चितन द्वारा, जिसका आभास इस प्रकरण में दिया जा चुका है, कल्पना का जो स्वरूप उभरा है, उससे मिलान करने पर कल्पना के सभी प्राणपोषक उपकरण प्रसाद की कल्पना में सरलता से देखे जा सकते हैं। सघन रस-सृष्टि के उत्तरदायित्व के निर्वाह की दृष्टि से प्रसाद हमारी दृष्टि में, कल्पना के प्रयोग में अत्यत विवेकशील रहे है—उन्होने अपनी कल्पना को मानव जीवन-व्यापार[137] अथवा वस्तु व रस के शासन में ही रखा है। सर्वत्र यह कल्पना रस या आनद की निष्पत्ति में साधनभूता ही रही है, साध्य नही।

आचार्य वाजपेयीजी ने प्रसाद के साहित्य की मूल प्रकृति या स्वभाव का मर्म-बोध

कराते हुए लिखा है—"अवश्य प्रसादजी का साहित्य 'रोमाटिक' या कल्पना-प्रधान श्रेणी मे रखा जायेगा।"[138] पर रोमास या रोमाटिक शब्दो के प्रयोग से कही भ्रम न हो जाये, इसलिए उन्होने रोमास के दो भेद—प्रगतिशील व ह्रासशील—करके प्रसाद-साहित्य को प्रगतिशील रोमाटिक वर्ग में रखा है,[139] जो स्वस्थ व रसात्मक प्रकृति का होता है। आचार्यजी 'लाल तारा' व कोरमकोर रोमास—दोनो को आत्यतिक साहित्यिक छोर मानते जान पडते है।[140] स्वस्थ रोमास उनकी दृष्टि मे साहित्य की प्रकृति-भूमि की ही वस्तु है। प्रसाद में भविष्यद्रष्टा की सी एक नयी कल्पनाशीलता है और उनका दर्शन एक कल्पनाविशिष्ट दर्शन है।[141] कल्पना के क्षेत्र मे प्रसाद की देन को उक्त धारणाओ के प्रकाश मे समझकर हम उनके साहित्य के स्तर व कोटि को हृदयगम कर सकते है। "साहित्य मे उन्होने जागृति की मनोरम और प्रगतिमयी भावनाओ का ही विन्यास किया है, उषाकाल की प्रभाती ही गायी है, कल्पना का प्रयोग नवीन शक्ति और नवसौंदर्य की सृष्टि मे ही किया है।"[142] इन शब्दो मे हम प्रसाद के कल्पना-विषयक प्रदेय को आक सकते हैं।

संदर्भ

1 अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 10
2 B Cioce Aesthetic p 171
3 केन, पृ 1/1/18
4 वही, पृ 1/1/3
5 वही, पृ 1/1/5
6 ऐतरेय उपनिषद्, पृ 3/1/2
7 But for the iomantics imagination is fundamental, because they think that without it poetry is impossible —Sii Mauiice Bowra The Romantic Imagination', p 1
8 Ibid p 3
9 Ibid — ' it was the instrument which set their visionary powers in action " p 12
10 रिचर्ड्स ने 'कल्पना' के अनेक अर्थ बतलाते हुए उसके विविध उपयोग बतलाये हैं। देखिए—'Principles of Liteiary Criticism p 239-42
11 The masters of creative literature have made regions of their own which they have peopled with the children of their genious ' —W B Worsfold Judgement in Literature, p 14
12 प रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, भाग 1, पृ 361
13 वही, पृ 361-63
14 वही, पृ 366-69
15 David Daiches Critical Approaches to Literature p 110
16 What we experience externally is merely a translation of the mental conception and imagination —S N Dasgupta Fundamentals of Indian Art (1954), p 95
17 श्वेताश्वतर, 6/14
18 वही, 1/1
19 तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/10
20 ऐतरेय, 1/1
21 केनोपनिषद्, 1/1/18
22 Rightly considered he (Aristotle) said such representations were not less but

more truthful ; because under the method of art it was the most essential aspects of realities that were reproduced." –W.B. Worsfold : Judgment in Literature, p. 33

23. Dictionary of World Literature. p. 219-21
24. "Imagination as a separate faculty of mind......" quoted from – W.B. Worsfold : Principles of Criticism, p. 86
26. "The primary Imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perception. and as a repetition in the infinite mind of the external act of creation in the infinite I am" –Coleridge (quoted from I.A. Richards : Principles of Literary Criticism, p. 191)
"......imagination, which in its primary manifestation is the great ordering principle – or rather, an agency which enables us both to descriminate and to order, to separate and to synthesize, and thus makes perception possible." –David Daiches : Critical Approaches to Literature, p. 107
27. "To point out that 'the sense of musical delight is gift of imagination was one of Coleridge's most brilliant feats." – I.A. Richards : Principles of Literary Criticism, p. 245
28. I.A. Richards : Principles of Literary Criticism. p. 191 (foot note). and George Saintsbury : Loci-Critici., p. 309
29. "......despite many major differences, agreed on one vital point : that the creative imagination is closely connected with a peculiar insight into an unseen order behind visible things." – Bowra : Romantic Imagination : p. 271. ××× "The great romantics, then, agreed that their task was to find through the imagination some trancendental order which explains the world of appearances ... ×××Conviction that what then moves us cannot be a cheat or on illusion, but must derive its authority from the power which moves the universe...For them this reality could not but be spiritual ×××but in the delighted, inspired soul which in its full nature transcends both the mind and the emotions." – Bowra : Romantic Imagination, p. 22
30. 'There in nothing particularly mysterious about imagination! – Principles of Literary Criticism, p. 191
31. "There is no such division in the soul itself since it is......" quoted from W.B. Worsfold : Principles of Criticism, p. 85
32. "The whole soul that remembers, wills, or imagines." – Addison
33. "In the world we see only distortions of the fundamental idea, but art, by imagination, may lift itself to the height of this idea." –Solger (Tolstoy : What is Art., p. 991
34. W.B. Entwistle : The Study of Poetry, p. 19
35. Dictionary of World Literature, p. 219-21
36. चिन्तामणि, भाग 1, पृ. 220
37. "पाश्चात्य आलोचना का Imagination तथा Intuition भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रतिभा ही है।" —पं. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खंड, पृ. 423
38. पं. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खंड, पृ. 422
39. वही, पृ. 424
40. कहीं-कहीं कल्पना शब्द भी व्यवहृत हुआ है—"ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येन वश्यति"—दण्डी : काव्यादर्श 2/1
41. 'नैसर्गिकी च प्रतिभा।'''' —काव्यादर्श 1/103
42. "कवित्व बीजम प्रतिभामानम्।"—काव्यालंकार सूत्र 1/3/16, तथा 1/3/1

43 काव्यालकार 1/14-17
44 'प्रतिभाभरण काव्यमुचित शोभते कवे "—औचित्य विचार चर्चा, 35
45 काव्यप्रकाश, 1/3
46 "या शब्दग्राममर्थसार्थमलकार तन्त्र मुक्तिमार्गमन्यदपि
तथा विधमधिहृदय प्रतिभासयति या प्रतिभा । अप्रतिभस्य
पदार्थ सार्थ परोक्ष इव प्रतिभावत पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष
इव । सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च ।" —काव्यमीमासा, चतुर्थ अध्याय
47 "तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा"—रसगगाधर, प्रथम आनन
48 काव्यादर्श, 1/ट 3
49 काव्यालकार 1/14-17
50 ध्वन्यालोक, 4/6
51 हिन्दी ध्वन्यालोक (डॉ नगेन्द्र-लिखित भूमिका, पृ 45)
52 Aesthetic experience according to him, begins at the sense level and it is only through imagination emotion and Katharsis that it rises to the trancendental level' –Dr K C Pandey Comparative Aesthetics vol 1 p 131
53 रसगगाधर, प्रथम आनन
54 वही
55 भारतीय काव्यशास्त्र की परपरा, पृ 489
56 चिन्तामणि, भाग 1, पृ 351
57 जयशकर प्रसाद, पृ 15-16
58 काव्य में उदात्त तत्त्व, भूमिका, पृ 19
59 हिन्दी ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ 70
60 अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ 59
61 चित्राधार, पृ 141-42
62 आकाश, पृ 119
63 स्कन्द, पृ 25
64 कामा, पृ 37
65 कानन, पृ 18
66 कामा, पृ 29
67 स्कन्द, पृ 51
68 महराणा का महत्त्व, आसू, प्रेम-पथिक, कामायनी (प्रलय-वर्णन, चिंता सर्ग, सघर्ष सर्ग), करुणालय, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, तितली, ककाल तथा प्रलय, चन्दा, आकाशदीप आदि कहानिया ।
69 डॉ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डॉ जगदीशचन्द्र जोशी तथा श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने ऐतिहासिक पक्ष पर अपनी कृतियो में विस्तृत व सूक्ष्म विचार किया है, अत स्थानाभाव से इस विषय का विस्तार यहा उचित न होगा ।
70 लहर, पृ 70
71 चन्द्र, पृ 188
72 लहर, पृ 19
73 लहर, पृ 15-16
74 चन्द्र, पृ 207
75 लहर, पृ 21
76 वही, पृ 19
77 आसू, पृ 24
78 लहर, पृ 37
79 आसू, पृ 54

80 लहर, पृ 43
81 आसू, पृ 45 ।
82 वही, पृ 21
83 वही, पृ 62
84 लहर, पृ 63
85 आसू, पृ 22
86 लहर, पृ 62
87 वही, दूसरा गीत
88 आसू, पृ 30
89 लहर, पृ 19
90 झरना, पृ 30
91 चन्द्र., पृ 207
92 लहर, पृ 9
93 वही, पृ 27
94 वही, पृ 75
95 आसू, पृ 36
96 वही, पृ 53
97 लहर, पृ 41
98 वही, पृ 38
99 वही, पृ 18
100 कानन
101 आसू, पृ 32
102 वही, पृ 22
103 लहर, पृ 60
104 कानन
105 आसू, पृ 39
106 वही, पृ 36
107 वही, पृ 12
108 झरना, पृ 4
109 लहर, पृ 9
110 कामा, पृ 34
111 चन्द्र., पृ 208
112 लहर, पृ 14
113 प्रेम, पृ 25
114 प्रेम, पृ 26
115 आकाश, पृ 102
116 अजात., पृ 44
117 स्कन्द, पृ 24
118 वही, पृ 142-143
119 आसू, पृ 74
120 वही, पृ 53
121 लहर, पृ 60
122 वही, पृ 60
123 आसू, पृ 54
124 कामा, पृ 142
125 स्कन्द, पृ 154

126 आसू, पृ 17
127 कानन, पृ 41
128 लहर, पृ 60
129 चन्द्र ।
130 आसू, पृ 54
131 वही, पृ 55
132 लहर, पृ 30
133 कामा, पृ 284
134 उपनिषद् ।
135 गीता 2/55
136 प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ 2
137 जयशकर प्रसाद, पृ 5 (भूमिका)
138 वही, पृ 4 (भूमिका)
139 वही, पृ 4 (भूमिका)
140 वही, पृ 4-5 (भूमिका)
141 वही, पृ 6, 11
142 वही, पृ 11

नवम प्रकरण

प्रसाद की कला

प्रकरण-प्रवेश

प्रकरण-सगति

प्रसाद-साहित्य के वस्तु-पक्ष पर विस्तृत विचार कर लेने के पश्चात् अब कला-पक्ष पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि वस्तु को सवेद्य व रमणीय रूप में प्रस्तुत करना, जो कला का मुख्य क्षेत्र तो है ही, साहित्य का प्रमुख लक्षण या वैशिष्ट्य भी है। इसी वैशिष्ट्य में साहित्य के स्वतत्र व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रसाद ने केवल उच्च स्तरीय या सत्त्वशील वस्तु ही हमे प्रदान नही की, उस वस्तु को कला के उपयुक्त लालित्य व सुषमा के साथ भी प्रस्तुत किया। अत प्रसाद के अवदान का पूर्ण आकलन करने के लिए कलापक्ष का अध्ययन भी नितात आवश्यक है। सैद्धातिक दृष्टि से प्रसाद अभिव्यक्ति से अधिक महत्त्व अनुभूति (वस्तु) को ही देते हैं। इतना होने पर भी वे अत्यत उत्कृष्ट व आकर्षक छायावाद की शैली के आदि प्रवर्तक समझे जाते है। यह एक विचित्र विरोधाभास है।

अनुभूति (वस्तु) और अभिव्यक्ति (कला) का पारस्परिक सबध

साहित्य का अभिव्यक्ति-पक्ष प्राय चार सज्ञाओ से अभिहित किया जाता है—रूप, शैली, कला और अभिव्यक्ति। चारो शब्द सप्रति समानार्थक-से प्रयुक्त हो रहे है, यद्यपि सूक्ष्म विचार करने पर चारों में विभिन्न अर्थच्छायाए देखी जा सकती है। 'रूप'-प्रकरण में हम इस पर कुछ विस्तृत विचार कर ही चुके है। हमने इस पक्ष के अध्ययन के लिए बहुप्रचलित शब्द 'कला' का ही ग्रहण किया है। कला अपने सीमित अर्थ में, काव्य का पर्याय न होकर काव्य की प्रणाली या काव्य का कौशल-पक्ष है, जिसका महत्त्व अनुभूति या रस के शासन में भारतीय साहित्य-साधना में अक्षुण्ण रहा है। छठी शताब्दी में ही आचार्य भामह ने कार्य की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि साधु काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में और कलाओं में प्रीति-कीर्ति आदि की देनेवाली होती है।[1] आचार्य भट्टतौत तथा कुन्तक भी अभिव्यक्ति के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार केवल द्रष्टा होना ही पर्याप्त नही, कवि के लिए शब्द-स्रष्टा होना भी उतना ही आवश्यक है। भट्टतौत तो वर्णना के अभाव में कवित्व का उदय ही नही मानते।[2] कुन्तक की भी मान्यता है कि सरस वक्र उक्ति के रूप में प्रकट होकर ही अनगढ वस्तु, जो पहले प्रतिभा से उद्‌भासित मात्र रहती है, अरुचिकर रहती है, शाण पर चढ़े मणि के समान उज्ज्वल हो उठती है।[3]

आधुनिक भारतीय आचार्य भी कला या अभिव्यक्ति का महत्त्व इस रूप में मुक्त कठ से स्वीकार करते है कि उपाख्या प्रख्या को चमका देती है। उपाख्या से प्रख्या चमक उठती है। किंतु साथ ही वे अभिव्यक्ति को अतत अनुभूति की अनुवर्तिनी दासी मानते है।[4] कुछ विद्वान् विषय और उसकी अभिव्यक्ति को समान महत्त्व देने के पक्ष मे है। "सुदर अभिव्यक्ति के बिना विषय पगु रह जाता है और विषय के सौदर्य के बिना कला का सौदर्य खोखला है।"[5] डॉ दासगुप्त महोदय प्राचीन भारतीय कला-दृष्टि को समझाते हुए लिखते है कि कला-विषय और कलाकार मे आरभ में पूर्ण एकतानता स्थापित हो जाती है, किंतु जब तक कलाकार का मानसचित्र बाहर व्यक्त नही होता, तब तक कला-निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण नही होती। कला-पद की प्राप्ति के लिए आतरिक अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति अनिवार्य है।[6]

पश्चिम में क्रोचे ने अभिव्यक्ति-पक्ष को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनकी तो यहा तक मान्यता है कि वस्तु की, बाहर शब्दादि के माध्यम से, भौतिक अभिव्यक्ति न होकर यदि भीतर बिब-निर्माण के रूप में मानस-अभिव्यक्ति ही हो जाये तो भी पूरी अभिव्यक्ति हो गयी समझिए। डॉ नगेन्द्र ने क्रोचे के पक्ष को सूत्र-रूप में रखते हुए लिखा है कि "क्रोचे के अनुसार कला मूलत सहजानुभूति है, जो अभिव्यक्ति से अभिन्न है। कला का मूलरूप कलाकार के मानस मे घटित होता है—रग-रेखा, शब्द-लय आदि मे उसका अनुकरण सर्वथा आनुसगिक घटना है।"[7]

इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति के सबध को लेकर विविध दृष्टिया समीक्षा-जगत् मे विद्यमान है। पर निर्विवाद रूप से प्रतिनिधि भारतीय दृष्टि यही है कि अभिव्यक्ति अनुभूति की अनुवर्त्तिनी है, अनुभूति ही अभिव्यक्ति के स्वरूप का नियमन-नियत्रण करती है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति के तारतमिक महत्त्व को लेकर पूर्व-पश्चिम के साहित्य-क्षेत्र मे बडा तीव्र विवाद रहा है। इस विवाद मे तीन स्पष्ट पक्ष रहे है—(1) वस्तु या अनुभूति ही सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु है, (2) वस्तु या अनुभूति नही, अभिव्यजना ही वस्तुत कला या साहित्य है, और (3) वस्तु या अभिव्यजना का सामजस्य ही वास्तविक कला या साहित्य है। तीनों पक्षों ने अपना-अपना दृष्टिकोण पर्याप्त वस्तून्मुखता व विवेक से रखा है। भारतीय विद्वानों की दृष्टि सामजस्यमयी है जो आनदवर्धन के ध्वनि-सिद्धात के रूप में अब चिरप्रतिष्ठित है। ध्वनि-सिद्धात में साहित्य के सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों या उपकरणों का यथास्थान नियोजन हुआ है, और उन उपकरणो में से वास्तविक महत्त्व किसे प्राप्त है, इस सबध मे अब भ्राति का कोई अवकाश नही रह गया है। ध्वनि के भेदों—रसध्वनि, अलकारध्वनि व वस्तुध्वनि—पर विचार करने पर महत्ता स्पष्टत रसध्वनि या अनुभूति की है, रीति, गुण या वक्रोक्ति आदि तत्त्व रस के अगभूत ही हैं, उनकी कोई स्वतत्र सत्ता नही। पर वस्तु, रस या अनुभूति को प्रतिष्ठित कर लेने पर भी अभिव्यक्ति की किसी भी प्रकार उपेक्षा नही की गयी है। प्राचीन और नवीन आचार्य उपाख्या, अभिव्यक्ति या कला का महत्त्व मुक्तकठ से स्वीकार करते हैं।

इतना ही नही, बाह्य अभिव्यक्ति पर बहुत अधिक आग्रह भी रहा है। राजशेखर ने, क्रोचे की तरह कवि-वर्गों में मूक कवियों का भी उल्लेख किया अवश्य है,[8] पर जब तक मनोभावो की मूर्त अभिव्यक्ति न हो, तब तक किसी भी साहित्यिक कृति पर विचार का

आधार क्या ? मूक कवि तो एक से एक श्रेष्ठ हो सकते है (और यह भी सत्य है कि उस मूकता में ही कवि-हृदय अपने वास्तविक रूप मे अवस्थित रहता है), पर व्यवहार मे तो कवि-पद उसे ही प्राप्त हो सकता है जो अपने विवक्षित भावो को सटीक वाणी देने मे समर्थ हो सके। अत निश्चय ही बाह्य अभिव्यक्ति ही कवि-यश प्रार्थी का एकमात्र आरभिक मानदड माना जा सकता है।

कोरी अनुभूति, गहनतम अनुभूति, बहुतो के पास हो सकती है, पर वे कवि-पद के अधिकारी नही ठहराये जा सकते। कला के प्रति प्रतिनिधि भारतीय दृष्टिकोण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यही रहा है कि आरभ में कवि या कलाकार अपनी वस्तु के साथ तदाकार होकर तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाये, किंतु कलाकृति बनने के लिए तो तदुपरात उस अनुभूति का बाह्य प्रकाशन होना ही चाहिए।[9] क्रोचे और अधिकाश भारतीय विचारक यही से दो भिन्न मार्ग ग्रहण कर लेते हैं। कोरमकोर अनुभूतिप्रवणता या अनायास मानस-बिब-निर्माण करते चलने की उत्कृष्टतम क्षमता भी, भारतीय दृष्टि से, किसी को कवि-पद प्राप्त नही करा सकती। वस्तुत अनुभूति और अभिव्यक्ति के एक विशिष्ट मेल (कवि-भेद से इस मेल के अनुपात मे अनेक अतर स्वीकृत हो सकते है) मे ही काव्य-सत्य की तर्कसम्मत व सतोषजनक कल्पना की जा सकती है, जिसमे कला या शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है।

पश्चिम मे कला-सबधी दो प्रमुख दृष्टिकोण रहे हैं—(1) कला अनुकरण है (प्लेटो) तथा (2) कला अभिव्यजना है (क्रोचे)। अनुकरण सिद्धात और अभिव्यजना सिद्धात मे सबसे प्रमुख अतर यह है कि जहा अनुकरण सिद्धात में पहले-पीछे का क्रम है, वहा अभिव्यजना-सिद्धात में अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों मिलकर सहजानुभूति का रूप ग्रहण कर लेती है।[10] इन दोनों सिद्धातों मे सप्रति अभिव्यजना सिद्धात ही मनोवैज्ञानिक भूमि पर अधिक सम्मान्य है। वस्तुत सवेदनशील सहृदय या कलाकार के मन में अनुभूति और अभिव्यक्ति की स्थिति अभिन्न रहती है, दोनों का समुदय एकसाथ होता है। इस दृष्टिकोण के प्रति कोई विप्रतिपत्ति नही, पर कठिनाई तो यह है कि क्रोचे अपने पक्ष को आत्यतिक सीमा तक घसीट ले गये हैं। उनका कथन है कि यह अभिव्यक्ति बाहर कागज पर या शब्दो मे हो ही, यह आवश्यक नही। वास्तविक कला या कविता तो तभी हो गयी समझिए, जब कोई अनुभव हुआ और उसके साथ ही मन मे बिब या मूर्ति तैयार हो गयी। कागज पर यह सब उतारना तो औपचारिकता मात्र है, आगे के लिए ठडा-निर्जीव रेकार्ड मात्र है। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से सभी व्यक्ति क्रोचे की दृष्टि से कवि हैं। भारतीय दृष्टि इतनी आसानी से किसी को कवि-पद प्रदान नही करती, क्योंकि कवि-पद की प्राप्ति प्रातिभाज्ञान, अतर्दृष्टि, दीर्घ अभ्यास व साधना की माग करती है, काव्य निष्क्रिय बैठकर मानस-बिब-निर्माणजन्य अलस विनोद से ही साध्य नही। भारतीय कला-साधना में बाह्य अभिव्यक्ति कला की एक अनिवार्य आवश्यकता है। मम्मट के काव्य-हेतुओं में 'अभ्यास' कला के महत्त्व की ओर सकेत करता है। तुलसी के इस कथन के द्वारा भी कला-नैपुण्य में आवश्यक श्रम, अभ्यास व युक्ति की ओर सकेत मिलता है ·

हृदयसिधु मति सीपि समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना॥
जौ बरखइ बर-बारि-बिचारू। होंहि कबित मुकुता मनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि, रामचरित बर ताग ।

मानसिक बिबो के निर्माण मात्र को ही कला की इयत्ता मानने के कारण कला के वास्तविक आशय से स्खलित हो जाने की सभावना से ही आशकित होकर हमारे यहा अनुभूति को अधिक निरापद व सुनिश्चित आधार के रूप मे दृढता से पकड रखने का कदाचित् इतना आग्रह रहा है। आचार्य शुक्ल, आचार्य वाजपेयी, बाबू गुलाबराय व डॉ नगेन्द्र आदि सभी आचार्यों का यही पक्ष जान पडता है। डॉ नगेन्द्र की स्पष्ट मान्यता है कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति का स्वरूप निर्धारित करती है।[11] अनुभूति की अपेक्षा रीति और अभिव्यजना पर अत्यधिक आग्रह रखने से ही वामन और कुतक के काव्य-सिद्धात एक उचित सीमा से आगे मान्य नही हुए।

यहा इस आरभिक विवेचन का आशय केवल यही निर्दिष्ट करना है कि प्रसाद अनुभूति के ही कवि है और कला या अभिव्यक्ति सबधी उनकी दृष्टि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के सबधो की भारतीय कल्पना के अनुरूप ही ढली है। उनकी इस दृष्टि के पीछे सपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र का बल है। प्रसाद की कला या अभिव्यक्ति-विषयक धारणा के स्वतंत्र विवेचन की अब आवश्यकता नही।

'कला' शब्द का प्रयोग

प्रसाद की कला पर विचार करने से पूर्व साहित्य में 'कला' शब्द के प्रयोग के औचित्य पर विचार कर लेना उचित होगा। भारत मे 'कला' शब्द का प्रयोग कामशास्त्र की 64 कलाओ के सदर्भ में हुआ है, अत बहुत-से विद्वान् 'कला' शब्द के प्रयोग को साहित्य में प्रश्रय नही देते। 'साहित्य' विद्या है और 'कला' उससे निम्नतर—उपविद्या है, अत भारतीय विचारकों की दृष्टि में 'साहित्य' या काव्य जैसी वस्तु के लिए 'कला' शब्द का प्रयोग हल्का है।

प्रसाद ने भरत, भामह, दण्डी, अभिनवगुप्त, भोजराज और शिवसूत्रविमर्शिणीकार क्षेमराज आदि के विचारों के साक्ष्य पर यह निश्चित किया है कि कला (शैवागम में स्वीकृत आत्मा के पच कचुको में से एक कचुक या आवरण) आत्मा की सकुचित कर्तृत्वशक्ति का रूप है (ध्यान रहे कि काव्य मे हम सीमित नही रहते, असीमित होकर परम आनद का अनुभव करके पूर्णकाम हो जाते हैं) तथा छद, समस्यापूर्ण, गीत, वाद्य, नृत्य, सगीत, वास्तुनिर्माण, मूर्ति-शिल्प आदि तक ही सीमित है और वह (कला) सिद्धात, शास्त्रीय विषय व विज्ञान से ही अधिक सबध रखती है।[12] अत काव्य व कला दोनो परस्पर भिन्न वर्ग की वस्तुए है।[13] वस्तुत अन्य विषयो की तरह कला भी काव्य का एक विषय ही है।[14] आचार्य शुक्ल के विचारों द्वारा भी यह धारणा पुष्ट होती है।[15] डॉ. नगेन्द्र ने भी कला को साहित्य-कोटि से निम्नकोटि की—'उपविद्या' के अतर्गत माना है।[16] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी 'कला' का स्थान निम्न ही माना है।[17] प्राचीनों में राजशेखर ने विद्या और उपविद्या के क्षेत्र स्पष्टत पृथक् रखते हुए काव्य को विद्या मे ही स्थान दिया है, उपविद्या मे नही—कला जिसके अतर्गत है।[18] फिर भी प्रसाद लोक-व्यवहार की दृष्टि से "अनुभूति और अभिव्यक्ति के अतरालवर्ती सबध को जोडने के लिए" 'कला' शब्द के प्रयोग को (विकल्प रूप में ?) स्वीकृति देते जान पडते हैं। वे लिखते हैं—"उस अनुभूति—अभिव्यक्ति के अंतरालवर्ती सबध को जोडने के लिए हम चाहे तो कला का नाम ले सकते है। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड

रखने की साहित्य मे प्रथा-सी चल पडी है।"[19]

कला का मूल स्वरूप

कला अपने यथार्थ व व्यापक रूप में एक ऐसा मानवीय प्रयत्न है जो अपूर्ण व ससीम सृष्टि में प्रयत्नकर्त्ता कलाकार को अपनी आत्मा की पूर्णता और असीमता का अनुभव कराकर उसे अलौकिक आनद प्रदान करती है। कला मे मानव की वृत्तियों के परिष्कार द्वारा मानवता की उच्च भूमिका की प्राप्ति का प्रयास होता है। ससार मूलत दु'खदाहमय है। इस दु'ख और दाह का निरसन और निवारण कला की साधना के द्वारा सुगमता से होता है, अत कला मानव-मुक्ति के लिए मानव-मन का एक अत्यत सूक्ष्म व सशक्त आविष्कार है। कला के द्वारा मानव-मन की सूक्ष्म-गहन, अक्षय, अनादि सौदर्य-तृषा की तृप्ति होती है। कला की तृप्ति यद्यपि योगी-सुलभ तृप्ति से अपेक्षाकृत अल्पकालिक होती है, कितु प्रकृति के अनुकरण व प्रकृति के अतिक्रमण—दोनो ही प्रकार के प्रयत्नों में कला के विषय, माध्यम व प्रक्रिया के सम्मिलन से कुछ एक ऐसा कल्पनात्मक पुनर्निर्माण होता है जो भोक्ता की अत'सत्ता के सब स्तरो को अनिर्वचनीय मोहिनी से अभिभूत कर एक अनोखी तृप्ति प्रदान करता है। और इस बिदु पर कला दु'खदग्ध जगती व मानव-जीवन के लिए एक महान् वरदान जान पडने लगती है। कला का निर्माण भी तृप्तिदायक है और कला का आस्वाद भी, क्योकि दोनों ही व्यापारों में उस कल्पना का निर्बाध क्रियाकलाप निहित है जो आत्मा को कुछ देर के लिए प्राकृत बधनों से पूर्ण मुक्त कर देती है। और यही आत्मा का आवरण-भग है। मानवात्मा की यही मुक्ति कला की चरम सार्थकता है। साधारणीकरण व तादात्म्य की प्रक्रिया द्वारा कला मानव को सीमित 'स्व' से व्यापक 'पर' के धरातल पर उठा ले जाती है और इस उठान के अनुपात में ही मानव-मन मुक्ति का अनुभव करता है। धर्म और दर्शन जहा 'शिव' और 'सत्य' पर ही टिके रहते हैं, वहा सश्लेषणमयी कला मानव को उस परमफल 'सुदर' या 'आनद' के लोक तक उठा ले जाती है जहा स्थूल नीति-आचार व उपयोगिता के प्रश्नों की कोई पहुच नही। यही कला की शुद्ध भूमि है। इस प्रकार कला में मानव स्थूल से मुक्त हो, सूक्ष्म होकर सर्वव्यापक हो जाता है। मानवीय सीमाओं में रहते हुए यही स्रष्टा जीव का 'ब्रह्म-विहार' है जो कला के द्वारा सुलभ है। विराट् प्रकृति के ऐश्वर्य का भोग, इद्रियो की मधुर-मधुर तृप्ति, जीवन व जगत् की सहज स्वीकृति, अत'करण की स्वस्थ जागृति व चैतन्य का आलोक—इन सबकी सम्मिलित भूमि पर कला के स्वस्थ, आनदमय और कल्याणकारी रूप का निर्माण होता है। कविजन इसी कला में अपनी वाणी की पूर्णता का दर्शन कर पूर्णकाम हो जाते हैं।

पर वस्तु-जगत् की स्थूल सामग्री व जीवन की अनुभूति मात्र अपने आप में कला नही। शब्द की शक्ति और साहित्य के रजन और रमणीयता के उपकरणों से उसका रूप-विन्यास किया जाता है, तभी स्थूल-लौकिक अनुभूति भाव-जगत् का सच्चा सन्य बनने की क्षमता धारण करती है। और यही कला के स्थूल-रूप (भाषा, छद, अलकार, रीति, वक्रोक्ति आदि) के महत्त्व का साक्षात्कार होता है। अत कला का स्थूल बाह्य रूप भी कम महत्त्व का नही है। वस्तुत' वही अनुभूति को सवेद्य व आस्वादनीय बनाता है। कलाकार नवसृजन के द्वारा अभिव्यक्ति का सुखानुभव करता है और रस-भोक्ता उस अनुभूति का रमणीय रूप में मानस-साक्षात्कार करता है। यही कला की जीवनी है।

कलाकार की रचना-प्रक्रिया का घनिष्ठ सबध उसके आतरिक चैतन्य से है, जो कलाकार के मन को गतिशील बनानेवाला है। उस चैतन्य के जाग्रत होने पर ही मन समूर्त्तन प्रक्रिया, जो कलाकार की विशिष्ट प्रक्रिया है, में समर्थ होता है। आचार्य डॉ हजारीप्रसादजी द्विवेजी ने कलाकार की सिसृक्षा के विवेचन के प्रसग मे चैतन्य, मन, इद्रिय और बाह्य प्रकृति की सम्मिलित गतिविधि का मार्मिक स्वरूप प्रकट किया है। कलाकार अपनी चक्षु कनीनिका पर सर्जनात्मक प्रक्रिया के निरतर दबाव मे अपने द्रष्टव्य का ग्रहण व निरूपण करता है। उसके भीतर का चैतन्य अपनी इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति व ज्ञान-शक्ति—इन शक्तियो से जाग्रत रहता है, जिससे वह अपने द्रष्टव्य को देखता है, रचता है और जनता है।[20]

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, जिसमे शक्ति-पचक (चिति, आनद, इच्छा-ज्ञान व क्रिया) की विस्तृत विवेचना मिलती है, के आलोक में भी कला के मर्म की व्याख्या बहुत सफलतापूर्वक हो सकती है, क्योकि उसमे परमशिव तत्त्व की आनदशक्ति व क्रियाशक्ति (जिसका घनिष्ठतम सबध कलाकार के सृजन के साथ बैठाया जा सकता है) का बहुत महत्त्व है। वेदात में आनद तत्त्व की व्याख्या तो अत्यत सूक्ष्म है, पर ब्रह्म के साथ कर्त्तव्य की व्यवस्था कदाचित् ऐसी नही है, जो सुबोध हो।

भाषा

भाषा एक अखड चेतना

भाषा मूलत एक अखड चेतना है।[21] भाषा का निर्माण करनेवाले विविध अवयव अपने आपमें निर्जीव पिड है, वे परस्पर मिलकर ही सप्राण होते हैं। ऐसी स्थिति मे भाषा के अवयवो को खोलकर देखना उनकी मूल सश्लिष्ट चेतना के दर्शन में अवश्य ही बाधक होता है। पर शोध-धरातल पर विश्लेषण-प्रक्रिया एक अनिवार्य व निर्मम आवश्यकता है, अत प्रसाद की भाषा के स्वरूप के अध्ययन के लिए अब हम उनके शब्द-भडार, वाक्य-रचना, लोकोक्ति-मुहावरे, व्याकरण आदि पर स्वतत्र स्तभों मे विचार करेगे और फिर यह देखने का प्रयत्न करेगे कि काव्यभाषा के व्यापक रूप से मान्य आदर्श पर प्रसाद की भाषा-विषयक उपलब्धि कैसी है।

भाषा का दर्शन और प्रसाद की भाषा का मूल स्वरूप

काव्य-भाषा, अरूप भावों व विचारो को, शब्द के माध्यम से, कल्पना चक्षुओं के सामने मूर्तिमान करती है। तथ्य-कथन मात्र काव्य नही है, तथ्य को रमणीय रूप से प्रस्तुत करने के लिए कवि को भाषा की लक्षणा व व्यजना शक्तियों से काम लेना पडता है। इन शक्तियों के प्रयोग के कोई पूर्व निश्चित ढग या बने-बनाये साचे नही रहते। भाव-विचार के तप्त द्रव की आवश्यकता के अनुरूप प्रत्येक कवि अपनी-अपनी प्रतिभा, ऊर्जा व भावनाशक्ति के सम्मिलित योग से भाव-प्रकाशन की विविध व अगणित भगिमाए ग्रहण करता है जिनमें कवि की आत्मा के एकात निजी गुण भाषा के स्वरूप-निर्माण मे उत्साहपूर्वक सक्रिय रहते हैं। इन

अर्थो मे हम कह सकते हैं कि प्रत्येक कवि की भाषा अपनी निजी होती है, वह कवि से कवि तक बदलती रहती है। भाव-प्रकाशन की चरम सिद्धि का आधार मनस्तुष्टि है। अत कथन के जिस रूप या भगिमा से कवि के मन का, विवक्षित अर्थ के प्रकाशन की दृष्टि से, पूर्ण तोष हो, वही उस कवि का भाषा-विषयक सत्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर भाषा की सरलता या कठिनता का प्रश्न स्वत हल हो जाता है। और फिर, जो कवि मानव-जीवन में वाणी या भाषा के दिव्य वरदान होने के गहन मर्म से परिचित है, वे तो भाषा-प्रयोग के सभी कृत्रिम नियमों, आदेशो व औपचारिकताओ की उपेक्षा करके अपने अतःकरण की तृप्ति को मानदड बनाकर चलने को विवश है। भाषा आत्मा का प्रकाश करती है। भाषा की इस शक्ति को समझकर उसका उपयोग करनेवाले कवियो के भाषा-प्रयोग के औचित्य-अनौचित्य पर विचार किन्ही स्थूल, हल्के व ओछे पैमानों पर नही होना चाहिए।

कला के एक अत्यत विशिष्ट अग—भाषा के क्षेत्र मे प्रसाद की उपलब्धि के गुण या स्तर को आकने के लिए भाषा की एक सक्षिप्त तात्त्विक चिता यहा आवश्यक है। ऋग्वेद व उपनिषद् मे वाणी की महिमा का भावात्मक स्तवन किया गया है। वाणी ईश्वर की रचना है जो सर्वत्र अवस्थित है।[22] सपूर्ण सृष्टि के मुख पर वाणी-रूप साधन की आवश्यकता स्पष्टता से अकित है।[23] वाणी के माध्यम से ही व्यक्ति जीवित है और वह दूसरे की बात सुनता है।[24] विद्वानो की वाणी सुदर होती है।[25] अर्थ-रहित वाणी या भाषा बिना पुष्प व फल-सी होती है।[26] वाणी सुदरी सभोगशालिनी सुवेषधारिणी भार्या के समान है जो अपने स्वामी के पास अपने रूप-सौंदर्य व यौवन का प्रदर्शन करती है।[27]

उपनिषद् मे वाक् को ब्रह्म कहा गया है।[28] वाक् ज्योति है।[29] वाणी के वरदान के सिवा मनुष्य गूगा है, वह अपने सुख-दुख व आनद-उल्लास की अभिव्यक्ति नही कर सकता।[30] यही बात आचार्य दण्डी अत्यत सुदरता से कहते है कि यदि शब्द नाम की ज्योति न अवतरित हुई होती तो ये तीनो लोक अधकार में डूबे रहते।[31] आचार्य सुबधु कहते हैं कि जिसकी कृपा से कविजन सारे पृथ्वीतल को हथेली के बेर के समान सूक्ष्मता के साथ देख सकते है, उस वाणी सरस्वती की जय हो।[32]

ऋग्वेद मे 4 प्रकार की वाणी, 7 प्रकार के छद, काव्य-हृदय मे वैश्वानर अग्नि, वत्स के वाक्य की मधुमयता, कवि और काव्य, मूल वाक्य समझनेवाला—आदि विषयक अत्यत बहुमूल्य सकेत प्राप्त है, जिनके आधार पर आगे दर्शन व भाषाशास्त्र मे भाषा-तत्त्व की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना विकसित हुई है। परा, पश्यती, मध्यमा, बैखरी—भाषा के इन चार रूपों का भरत-नाट्यशास्त्र में, शैवागम दर्शन में, तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय आदि व्याकरणशास्त्र के ग्रथों में उल्लेख व निरूपण पाया जाता है।

वाणी की उत्पत्ति परम रहस्यमय है। इसके मर्म को समझने के लिए आत्मा, मन, वाक्करण, प्रयत्न के सामूहिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाकलापों या क्रिया-प्रतिक्रियाओं का अवबोध अनिवार्य है। इस प्रक्रिया की सूक्ष्मता का अनुमान शब्द-उत्पत्ति-विषयक भर्तृहरि के इस कथन[33] से ही हो सकता कि "जिस प्रकार बरसने से पहले आकाश में बादल उमड आते है, उसी प्रकार शब्द-परमाणु भी अभिव्यक्ति से पहले उमड़े-से पडते हैं।"[34] परमाणु के दर्शन की वास्तविकता और सूक्ष्मता वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद के भाष्य, यूनानी दार्शनिक देमोक्रितु का परमाणु सिद्धांत, शाकर अद्वैतवाद और शैवागम के आत्मतत्त्व और परमशिव तत्त्व से ही

समझी जा सकती है। ऐसी अविज्ञात रहस्यमयी भाषा के काव्य-निबद्ध रूप का आचार्यो ने यदि लक्षणा-व्जयजना-व्यापार के रूप मे सूक्ष्म व जटिल विधान प्रस्तुत किया हो तो आश्चर्य ही क्या है।

प्रसाद ने भाषा के इस मूलतत्त्व को अध्यात्मदर्शन, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान व कला-साहित्य के विविध धरातलो पर सूक्ष्म रूप से हृदयगम किया है।[35] उसका सार यही है कि "वाड्मय अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है काव्य को इन आरभिक तीन भागो (ऋक्, यजु, साम) मे विभक्त कर लेने पर उसकी आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता का हम स्पष्ट अभास पा जाते है, और यही वाणी आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।[36] ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद ने काव्य को जो आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति कहा है, उसका तर्कसम्मत या प्रमाण-पुरस्सर निर्वाह भाषा के धरातल पर भी (अन्य धरातलो पर भी सहज द्रष्टव्य है) बराबर दिखायी पड रहा है। यहा केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रसाद का भाषा-विषयक चितन सतही न होकर अत्यत गहन व मूलवर्ती है, अत उन पर काव्य-भाषा सबधी कोई भी गभीर आरोप-अभियोग लगाने से पहले हमें उन मूलो के ज्ञान से स्वय परिचित होन का उत्तरदायित्व गभीरता से समझ लेना चाहिए। भाषा-विषयक सामयिक रुचि-विशेष को ही आधार बनाकर उनके भाषा-सामर्थ्य को आकने का प्रयत्न सही समाधान न दे सकेगा। काव्य की भाषा का एक विशेष स्वरूप व स्तर होता है, फिर आत्मा की गहराइयो से बोलनेवाले की भाषा मे एक अतिरिक्त दीप्ति व ऊष्मा होती है।

काव्य-भाषा का स्वरूप, काव्य के मूल उद्देश्य व उसकी प्रक्रिया से रूपायित होकर, निश्चय ही गद्य की भाषा से भिन्न होता है, अत काव्य-भाषा के सौदर्य व उत्कर्ष का अकन करने के लिए स्थूल व्यवहार की भाषा, तद्विषयक विचार का संतोषजनक आधार प्रदान न कर सकेगी। यूरोप में वड्र्सवर्थ व दान्ते के काव्य-भाषा-विषयक सिद्धातों मे पर्याप्त सघर्ष रहा। जनभाषा के अधिकाधिक निकट आने का वड्र्सवर्थ का सिद्धात अत मे अमान्य ही रहा।[37]

आधुनिक युग में भी यूरोप मे काव्य-भाषा के उदात्त व सगीतात्मक स्वरूप के निर्वाह के प्रति सजग व मूर्धन्य विचारकों का आग्रह है। ब्लैकमूर ने काव्य-भाषा की आत्मा व गति को लेकर अत्यत सूक्ष्म विवेचन किया है। वे काव्य-भाषा का प्राण उसकी अतर्भंगिमा (Gesture) को मानते हैं। काव्य-भाषा के शब्दों की विशेषताए उन्होने परिगणित की है।[38] वस्तुत वे सब विशेषताए भारतीय काव्य-शास्त्र के शब्द-शक्ति प्रकरण का स्मरण करा देती है।

प्रसाद की भाषा का विश्लेषण

शब्द-सपत्ति भाषा के विचार मे सबसे पहले शब्द-भडार पर दृष्टि जाती है। प्रसाद की भाषा पर समग्र दृष्टि से विचार करने पर शब्द-समूह सबधी पहला महत्त्वपूर्ण तथ्य यह सामने आता है कि उन्होने अपने युग की साहित्यिक भाषा के सामान्य प्रवाह को अपनाते हुए अपनी भाषा में सस्कृत के तत्सम शब्दो का पर्याप्त व्यवहार किया है। यदि उनकी भाषा के विकासात्मक स्वरूप को देखे तो आरभ मे ब्रजभाषा का पर्याप्त व्यवहार देखा जाता है, खडी बोली का अधिकाधिक ग्रहण होते चलने पर भी ब्रजभाषा के शब्दो और वाक्याशों का प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाता है। पर शनै-शनै, यह प्रवृत्ति कम होकर शात हो जाती है। सस्कृत भाषा के शब्दों

के प्रति आकर्षण आद्यत बना रहता है—एक तो ऐतिहासिक कृतियो में वातावरण मे सजीवता व यथार्थता लाने की दृष्टि से, और दूसरे, सूक्ष्म भावों और प्रौढ विचारों की यथावत् अभिव्यक्ति के लिए सहज उपलब्ध देश के प्राचीन भडार से ही शब्दों को ग्रहण करने की स्वाभिमानमयी राष्ट्रीय-सास्कृतिक भाव-तुष्टि की दृष्टि से। प्रसाद के नाटकों और काव्यों मे तो सस्कृत के शब्दो का प्राधान्य है ही, उपन्यासो व कहानियों मे भी उनका अभाव नही। यों तो परिनिष्ठित हिदी भाषा का कलेवर सस्कृत के तत्सम या तद्भव शब्दों के समावेश से ही घटित-गठित हुआ है, पर प्रसाद-साहित्य मे कुछ ऐसे विशिष्ट सस्कृत शब्दो[39] का या शब्द-समूहों का भी प्रयोग हुआ है जो एक ओर तो प्रसाद के स्वाभाविक सस्कृत-मोह के परिचायक हैं और दूसरी ओर हिदी भाषा की मूल प्रकृति (व्यवहृति-प्रधानता) की दृष्टि से कुछ दुर्वह या अस्वाभाविक भी हो उठे है।

जहा एक ओर सस्कृत की पदावली के प्रति इतना मोह है, वहा दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि प्रसाद ने अग्रेजी-उर्दू[40] आदि भाषाओं के सैकडो शब्दों का स्वच्छद व्यवहार किया है। यह बात प्राय उन उपन्यास-कहानियो मे दिखायी पडती है, जिनका कथ्य अर्वाचीन भारतीय युग व वातावरण से सबधित है। 'प्रायश्चित्त' नामक ऐतिहासिक नाटक में मुहम्मद गोरी और उसके साथियों के पात्र रूप मे प्रवेश होने के कारण उर्दू का स्वच्छद प्रयोग हुआ है। आगे की रचनाओं में भी उर्दू शब्द व मुहाविरे प्रसगानुसार सहज रूप में आये हैं। अग्रेजी-उर्दू के शब्दो के इस प्रकार के प्रयोग से यह तथ्य तो स्पष्ट होता ही है कि प्रसाद जी भाषा-प्रयोग में कट्टरतावादी नही थे, प्रत्युत वे भाषाओं की जीवनी शक्ति से प्रभावित होने की पूरी-पूरी क्षमता भी रखते थे। वे हिंदी भाषा के प्रवाह में अन्य भाषाओं के व्यजक, सरल व प्रवाही शब्दो को डालकर अपनी भाषा को भाव-विचार-प्रकाशन में सक्षम, व्यापक व लचीला बनाने के पक्षपाती थे।

प्रसाद ने अनेक देशज शब्दो का भी प्रयोग किया है जो कुछ तो खडी बोली में प्रचलित हैं और कुछ अर्द्ध-प्रचलित या अप्रचलित। सस्कृत व अग्रेजी शब्दों के अपभ्रष्ट रूप भी उनमें मिलेंगे। उदाहरणार्थ

अटवारों, अडबड, अगोछा, अटे-बटे, आकडे, आसेब, उजबको, उजड्डु, उधेडबुन, उफ, उभचुम, उलाकी, ऊबडखाबड, ऐंड, खटक, कनटोप, कारचोबी, कुभिला, कगलों, कामचलाऊ, किताब, कैडा, गुदाम, गेंडुरी, गूदड, घोघिया, चटक, चस्का, चारमारी, चिकनी-चुपडी, चुनटदार, चुडैल, छप्पर, छुट्टी, छोकरा, झाडखड, झझट, झखते, झासा, झीसी, झुर्रिया, टटकी, टपरियो, टाट, टापता, टिकठी, टिक्कर, टोह, ठुनककर, डकार, डब्बा, डोलची, डौल, ढाढी, ढूह, ढोंका, तमोली, तह, थेटर, थोडा-घना, दिहाती, धक्कमधक्का, धौलधप्पड, निरस्त, पई, पचडा, पखा, पाजी, पावना, पैंग, पोटली, पोस्तीन, फबनी, फरसा, बकना, बरजोरी, बरफ, बहाली, बहिया, बटा, बारिस्टरी, बूते, बेढब, बेतरह, बोझाई, बोदी, बोरिया-बधना, बोहनी, व्यालू, भगोडे, भडारा, भौचक्के, भडाफोड, यार, राड, लच्छेदार, लट्टबाज, लगोट, लालटेन, सायत, सासत, सेंक-साक, सेंकना, हाडियां, हेकडी आदि।

अनेक शब्द अपने मूल तत्सम रूप से विकृत होकर—लोक-जिह्वा पर घिसने से कोमलीकृत व सहज होकर प्रयुक्त हुए हैं—बेधरम[41] ब्याह, बनिज,[42] बरस,[43] पूरनिमा,[44] किरन,[45] तीछन,[46] मुकता,[47] सिपारस,[48] बरजती रही,[49] सरबस,[50] मरम[51] आदि।

प्रसाद की हिंदी मे कही-कही बनारसी प्रयोग भी अपनी झलक दिखा जाते है—

बूटी छोड दिया, बीमार न हू, गाडी खुल गयी,[52] रहा चद्रिका निधि गभीर, दीन पोत का मरण रहा, क्षणभर रहा उजाला मे, चुपचाप बरजती रही खडी, कितने कष्ट सहे हो,[53] चलो अच्छी भई, जौन,[54] दस ठो रुपये,[55] बरसा दिया मकरद की झीनी झडी उल्लास से,[56] तुम बना लिये होते[57] आदि।

ब्रजभाषा के कुछ शब्द पर्याप्त होंगे

लसै,[58] मनो,[59] भई है,[60] बिसरि गई,[61] नगीच,[62] लख रहे,[63] गैल,[64] लहि सग तरुन के,[65] नेक[66] आदि।

प्रसाद ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें वर्ण-विन्यास के प्रति शैथिल्य दिखायी पडता है। मात्राओं की ह्रस्वता, दीर्घता, मात्रा-लोप, मात्रा-परिवर्तन, अक्षर-द्वित्व, अल्पप्राण-महाप्राण का परस्पर परिवर्तन—ये सब बाते भी (कारण कुछ भी हो) सामने आती है

धोका,[67] बिनने लगा,[68] मूठी,[69] गबराहट,[70] घूरा,[71] सिहनी,[72] बाबागीरी,[73] पहिला,[74] ध्वनी,[75] पती,[76] प्रकृति,[77] पियूष,[78] तरगिनि,[79] सीघ,[80] रोब,[81] असख,[82] औषधी,[83] तिरता[84]।

कही-कही शब्दो के रूप अनिश्चित-सा दिखायी पडता है—

उभचुम,[85] और ऊभचूम,[86] मुसक्याने लगी,[87] और मुसकिराता,[88] मुस्कुराकर,[89] मुस्क्याता रहता है,[90] मुस्किरा,[91] मुस्करा,[91] मुसक्याकर[93]।

कही-कही ऐतिहासिक काल स्थिति का ध्यान भुलाकर भी शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है

बडल,[94] पसद,[95] कैफियत,[96] खुमारी,[97] जूस[98]।

कुछ शब्द प्रसाद को अत्यत ही प्रिय है जो उनके साहित्य में अगणित बार आये हैं—इस सीमा तक कि वे कभी-कभी अतिपरिचित के कारण प्रभावशून्य-से हो बैठते हैं—अनत, नील, छाया, विडबना, कुतूहल, तरावट, छलना, नियति, करुणा, मलयज, मधु, कुहक, कृत्या, वन्या, बिछलन, तर, तरी, गभीर आदि। जहा ये शब्द आ जायें, समझिए प्रसाद मिल गये। कही-कही तो इनका परिमित व सटीक प्रयोग प्रसाद की मूल भावुक चेतना की प्रकृति से हमको अत्यत सफलतापूर्वक परिचित कराता है, इसमें भी सदेह नही। 'नील' और 'निर्यात' शब्द के प्रयोग की तो गणना भी कठिन है। हा, नीलवर्ण के प्रति यह उत्कट व्यामोह प्रसाद की प्रकृति व मनोविज्ञान का एक अत्यंत सूक्ष्म व मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने की प्रेरणा देता है।

ध्वन्यात्मक (नादानुयायी) शब्दो का प्रयोग विवक्षित वस्तु-सप्रेषण में बडा सहायक होता है। प्रसाद ऐसे शब्दों की प्रभाव-क्षमता से भली भाति परिचित जान पडते है। उदाहरणार्थ

फिसफिस,[99] डूपडूप,[100] साय-साय,[101] दनादन[102] आदि। गुर्राना, हरहराहट, घरघराहट, सर्राटा, खटखट, अर्राहट, गर्मागर्मी, गर्माहट, गुन्नाहट, भर्राहट, धक्कम-धक्का, भक्भक्, सन्न, सर्र, धक्धक्, छपछप, सनसन आदि शब्द भी अन्यत्र देखे जा सकते है।

प्राचीन भारतीय शब्दकोश अत्यत सपन्न है। अपनी सस्कृति के विकास के प्रति आश्वस्त स्वाभिमानी कवि के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपने प्राचीन आकर से

सुदर व अर्थपूर्ण शब्दो को लेकर उन्हे पुन प्रचलित करे। प्रसाद-साहित्य मे ऐसे अनेक शब्द देखे जा सकते है

अनुशोचना, अपदेवता, अपाग, अभ्यर्थना, अलम्बुषा, अवभृत, अतेवासी, अनुशय, उत्कोच, उद्‌गीथ, उपधान, उद्यापन, उष्णीश, ऊभचूम, कदर्थना, कबरी, कशाघात्, कुक्कुट, कुड्‌मल, कुहक, कृत्या, क्रतुमय, गर्वस्फीत, गुल्म, गौल्मिक, चषक, चामर, चिति, चिरायध, च्युत, डिम्भ ग्रथि, तिमिगल, त्वरा, देवविग्रह, दौरात्म्य, धर्म्म, ध्वान्त, नाराच, निर्माल्य, पण्य, पुष्पलावी, पुरोडाश, प्रकोष्ठ, प्रतिपत्ति, प्रभास, प्रव्रज्या, प्रज्ञा, प्रवचक, प्रालेय, पाथ निवास, भर्त्सना, भद्रक, भैरवी, लोम-विलोम, वर्त्तिका, वदान्य, वन्या, वयस्य, बलभी, वल्गा, वात्याचक्र, विटपि, व्रज्या, व्यालोक, शतघ्नी, शैलेय, श्वापद, सन्नद्ध, सविता, सौध, स्पन्द, स्वस्त्ययन, स्वाप।

उपर्युक्त शब्द-समूह में अनेक ऐसे शब्दो का प्रयोग हुआ है जो तत्सम रूप में सस्कृत मे विद्यमान है और प्रसाद जी ने सभवत हिंदी मे उनके प्रयोग की वाछनीयता को सकेतित किया है। इनमें दर्शनशास्त्र आदि के पारिभाषिक शब्द भी आये हैं, जिनका प्रयोग भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से 'अप्रतीतत्व' दोष के अतर्गत रखा गया है।

नाटक जैसी लोकप्रिय विधा, रगमच और गीतिकाव्य जैसी कोमल रचना की दृष्टि से निम्न शब्दो का व्यवहार भी कदाचित् बहुत उपयुक्त नही समझा जायेगा—

अरिगण, अम्लान, अस्तित्व, आनद भैरवी, आपानक, आसक्ति उच्छृखलता, कर्णिका, कल्पद्रुम, कल्पना, कैरवी, जिह्वा, छिद्र, तरुणाब्ज, तृण, तृष्णापाश, द्रुमदल, ध्वनि, द्वद्व, निस्तब्ध, पद्य, परिरम्भ, पुज, बाड़व, बिथुरी, मधुजलनिधि, मद्यप, याज्ञिक, रागरक्त, राक्षसत्व, लेलिहान, वरुणालय, विनम्र, विपची, शारदी, सात्त्विक स्वेद बिदु, सदृश, सृष्टि, स्फुट, स्मित, स्मृति चिह्न, ह्रेषा, क्षत, क्षितिजतट, क्षुद्र, क्षेत्र, त्रयत्रिश।

प्रसाद के शब्द-समूह या शब्द-भडार पर विचार कर चुकने पर अब हम उनकी वाक्य-रचना पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

वाक्य-रचना

प्रसाद की पुष्ट, सुदृढ व सुडौल वाक्य-रचना का पूरा विकास उनके समीक्षात्मक गद्य में देखा जाता है, जहा भाषा हिंदी गद्य मे पूरे सामर्थ्य के साथ ढली है। पर प्रसाद की सर्जनात्मक कृतियो में जहा भावो का आवेग और परिस्थितियो की प्रेरणा ही भाषा के स्वरूप को बहुत कुछ नियत्रित-शासित करती है, वहा कई स्थानो पर बिना क्रिया के वाक्य भी मिलेंगे।[103]

वाक्य-विपर्यय के उदाहरण तो अगणित हैं। जहा कभी भी भाव का आवेग अपने तटो को तोड बहा है, वहा वाक्य की सामान्य रूप-रचना मे एक वक्रता उपस्थित हो गयी है— क्रियापद अपने प्रकृति स्थान से दूर जा पडा है, वाक्य के आरभ मे या मध्य में। इस योजना से निवेदित भाव में एक गभीर मार्मिकता या तडप उत्पन्न हो गयी है। यथा

" और देखा दर्प से उद्धत गुप्त साम्राज्य के तीसरे प्रहर का सूर्य।"[104]

"लिवा चलो इसे"[105]

"और मन में सोच रही थी अपने अतीत-जीवन की घटनाए।"[106]

"जब तितली मर रही थी पानी के बिना ?"[107]

" और सुना अरुणाचल आश्रम नाम के स्वास्थ्य निवास का यश।"[108]

" और इरावती देख चुकी थी अग्निमित्र को।"[109]

इस प्रकार वाक्याश भी वाक्य में अपना स्थान बदलकर भाव के आवेग की सूचना देता है

"उन्ही के साथ दो-तीन कहारो के भी घर बच रहे—उस छोटी-सी बस्ती में।"[110]

"जमीदारी नीलाम खरीद हुई थी श्याम दुलारी के नाम।"[111]

"यह भला कौन-सी बात है इतनी सोचने-विचारने की।"[112]

"मै तुम्हारे समीप आने का प्रयत्न कर रही हू—तुम्हारी सस्कृति का अध्ययन करने।"[113]

कही-कही उर्दू ढग की वाक्य-रचना भी दिखायी पडती है। यथा

"इस पोखरी का झगडा बिना पहले का कागज देखे समझ में नही आवेगा।"[114]

"हीनकला शशि"[115]

अग्रेजी प्रभाव भी वाक्य-रचना पर देखा जाता है। यथा—"यही तो पूछने जा रहा था।"[116] "यह गुरुकुल इस जीवन-यात्रा का पहला पत्थर है।"[117] "जो नई भूमि तोडी जा रही है।"[118] "मैं सोने जाता हू।"[119] "आठ बसत बीत गये।"[120] "न्याय को अपने हाथ में लेकर "[121]

छदानुरोध अथवा प्रयोग-शैथिल्य के कारण ऐसे वाक्य अथवा वाक्याश भी मिलते है जो सभवत 'च्युत संस्कृति दोष' के उदाहरण प्रस्तुत करें

तम चूर्ण बरस जाता था,[122] हा, कौन बरस जाता था,[123] नचती है नियति नटी सी,[124] चल जाती सदेश विहीन,[125] वे जीव पकडना चाहते हैं,[126] उसने आज भी कला का अपने मनोनुकूल चित्र नही बना पाया[127] आदि।

इन असाधारण या चित्य प्रयोगो पर विचार न करे तो प्रसाद की वाक्यरचना सामान्यत- पुष्ट-गठित ही मिलेगी।

लोकोक्ति-मुहावरो का प्रयोग प्रसाद ने अपनी भाषा को लोकोक्तियो और मुहावरो से जीवत, समृद्ध व प्राणवान् भी बनाया है। उन्होने अपने साहित्य में जितनी लोकोक्तियों व मुहावरों का प्रयोग किया है उन पर सामूहिक दृष्टिपात करने पर कुछ तथ्य स्पष्ट ही सामने आते हैं (1) प्रसाद ने अपने आरभिक रचना-काल से (चित्राधार, छाया और प्रतिध्वनि के युग से) ही भाषा को लोकोक्तियो-मुहावरो से सजीव व लोचदार बनाये रखने का प्रयास किया। 'ककाल' और 'तितली' मे हम इसका चरम विकास देख सकते है। (2) छायावाद के कवि प्राय सजग रहकर अपनी भाषा को असाधारण रूप से सुस्नात, साधु-स्वच्छ व परिनिष्ठित रखते थे। इस प्रयत्न मे भाषा लोकस्तरीय भाषा की जीवत चेतना से प्राय असपृक्त-सी रहती थी। यदि लोकभाषा के स्तर पर उतरने की विवशता आ ही पडती तो 'पानी पीकर जात पूछना' के लिए 'वारि पीकर पूछता है घर सदा' (पत 'ग्रथि') का प्रयोग होता। अवश्य ही प्रसाद ने लोकोक्तियों-मुहावरो का प्रयोग कविता में उतना न किया जितना उपन्यासों व कहानियो में। पर फिर भी यह तथ्य तो प्राप्त होता ही है कि वे प्रकृत जन-वाणी की गहरी शक्ति से परिचित थे, साहित्यिक भाषा को ओप, चटक व व्यजकता के आतरिक व सूक्ष्म तत्त्वों से सपन्न बनाने के लिए उसके समावेश की आवश्यकता को समझते थे और

लोक-धरातल पर व्यवहृत लाघव और गठनवाली उक्तियों को कलात्मक साहित्य मे स्थान देने के पक्षपाती थे। लोकोक्तियो-मुहावरो का परिमाण और उसमें निहित उनका प्रयोग-उत्साह लोक-चेतना के प्रति उनकी आस्था व आदर-भाव को व्यक्त करते हैं। उनके जीवन के त्रिकोण—घर, दशाश्वमेध और नारियलवाली गली की दूकान से ही उनके इस लोकचेतना के आत्मसात् करने के अर्थ का रहस्य नही खुलता। निश्चय ही वे जन-अचलो की भाषा की शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विविध साधनो का उपयोग करते रहे होंगे। 'तितली' के ग्रामीण अचलों की लोचदार व जीवत भाषा को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'कामायनी' के 'रहस्य सर्ग' के नटराज की ताडव क्रीडा का वर्णन करनेवाला कवि बनजरिया व शेरकोट के ग्रामीओ की भाषा भी कितनी सहजता से लिखता है। प्रसाद लोकमानस से असपृक्त तो कहे ही नही जा सकते।

व्याकरण-विचार मानव-ज्ञान की विविध शाखाओ-उपशाखाओं मे भाषा-विज्ञान का स्थान दिनो-दिन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हुआ जा रहा है और कदाचित् उसी अनुपात में व्याकरण का औपचारिक महत्त्व आज कम होता जा रहा है। कारण स्पष्ट है। भाषा-विज्ञान मानव-भाषा की गतिशीलता के तत्त्वो पर विशेष आग्रह रखता है, जबकि व्याकरण भाषा को व्यवस्थित करने की दृष्टि से उसकी नियमबद्धता पर अधिक बल देता है। भाषा मूलत एक अनवरत प्रवाहशील स्वाभाविक धारा है जो नियमबद्धता के कारण स्थिर होकर जड हो जाती है और अपने इस रूप में स्वभावत नवीन भावबोधमयी ताजी चेतना को वहन नही कर पाती। साहित्यकार जहा भाषा के व्याकरण-सस्कारित परिनिष्ठित रूप को प्रतिष्ठित जातीय चेतना की एक सम्मानित उपलब्धि के रूप में ग्रहण करता है (इस ग्रहण से निश्चय ही अभिव्यक्ति का स्वर स्वच्छ व उदात्त होता है और सस्कृत हृदयों के साथ साहित्यकार का तादात्म्य अधिक व्यापक व गभीर होता है), वहा वह नवीन लोक-चेतना की ताजी उद्‌बुद्धियों को भी अपने मे आत्मसात् करता हुआ भाषा को जीवत व स्वच्छद रूप प्रदान करने के लिए समान रूप से समुत्सुक व क्रियाशील रहता है। इस दृष्टि से निश्चय ही व्याकरण का वह औपचारिक अनुबध आज का कवि विशेषत स्वच्छदतावादी, स्वीकार करने के लिए तैयार नही दिखायी पडता। व्याकरण के प्रति अतर्भावना-लीन छायावादी दृष्टिकोण, मधुर व्यग्य की पद्धति से, कदाचित् इन पक्तियो में देखा जा सकता

तेरा कैसा गान, विहगम। तेरा कैसा गान?
न षड्‌दर्शन न नीति-विज्ञान, तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य, रस, छदों की पहचान?

प्राचीन व मध्यकालीन कवि इतना स्वतंत्र नही दिखायी पडता। भामह के काव्यालकार (षष्ठ परिच्छेद) और वामन काव्यालकारसूत्र (पचम अधिकरण में अध्याय 1-2) के द्वारा यह स्पष्ट है। 'शब्दब्रह्मातिवर्त्तते' (गीता, 6/44) तथा "एक शब्द सम्यग्ज्ञात सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" के द्वारा शब्द की शुद्धता का आदर्श हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। भामह ने व्याकरण-समुद्र को पार किये बिना शब्द-रत्न की प्राप्ति (जो कवि के लिए अत्यत आवश्यक है) को असभव बताया

नापारयित्वा दुर्गाधमभु व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयगम्यमल कुर्तुमयं जन॥ —काव्यालकार, 6/3

पर परिस्थितिवश आज शब्द की यह पावित्र्य-रक्षा स्वाभाविकता, अत प्रेरणा व सूक्ष्म सौदर्य-भावना के आगे बहुत महत्त्व नही रख पा रही है। वैज्ञानिक सभ्यता सुलभ सुव्यवस्था-सुघडता से आज का भावुक व्यक्ति उकताया-ऊबा-सा जान पड रहा है, परिणामत वह अधिक अनगढ प्राचीन सभ्यताओ, रूपो-व्यापारो व वस्तुओं के प्रति विशेष आकर्षित दिखायी पड रहा है। भाषा के क्षेत्र को भी उसकी इस नवीन प्रवृत्ति ने प्रभावित किया है। वह साचे में ढली—टकसाली, कृत्रिम व यान्त्रिक भाषा, ऐसी भाषा जिसका निर्माण व्याकरण की प्रक्रिया का सहज परिणाम है—को छोडकर आज का साहित्यकार अधिक निर्बध होकर रहना चाहता है। इस व्यापक तथ्य को ध्यान मे रखकर ही प्रसाद की भाषा के व्याकरण पक्ष पर विचार किया जा सकता है।

अब हम व्याकरण के कुछ प्रमुख स्तभों के अतर्गत प्रसाद की भाषा-विषयक कतिपय असाधारणताओं पर दृष्टिपात करेगे

क्रियापद, लिग, वचन, सर्वनाम, विभक्ति आदि के प्रयोग मे प्रसाद ने अनेक स्थलो पर विशेष स्वच्छदता प्रदर्शित की है। खडी बोली के व्याकरणिक ढाचे की दृष्टि से अनेक प्रयोग असाधारण या चित्य दिखायी पडते है। उदाहरणार्थ ·

क्रिया करा भी,[128] यह कही रहा था,[129] बिन्दो ने रो दिया,[130] बिठा दू,[131] तिनककर,[132] महाजाल खीचकर आया,[133] तागा लोप हो गया,[134] दीन दशा मगल को सकट से दिखलाया,[135] दौडा हुआ,[136] माया नाचती, चपलाए नचती, चल जाती सदेश विहीन,[137] उषा सुनहले तीर बरसती,[138] मृदु आलस को पाके,[139] बिलखाती हो,[140] हा कौन बरस जाता था,[141] लोग मुझी को कहते हैं[142]। इसी प्रकार, अनखाकर, सुखला, मुस्क्याय आदि ब्रज तथा देशज क्रियाओं के प्रयोग भी मिलते है।

लिग उसकी वातायन,[143] रूखे अलको,[144] ईटों के ढेर,[145] लेने की लालच मे,[146] उसके पीठ पर,[147] अपनी इच्छानुसार,[148] मेरे भाभी के पैर,[149] तुम्हारी अच्छी चालचलन,[150] मेरी रूमाल,[151] किसके शरण में,[152] तीन दिन हो गया,[153] गीत अच्छी लगी,[154] कोई वस्तु फेंक दिया,[155] बाए ओर,[156] उषा के किरणो के समान,[157] एक सजीव तपस्या जैसे पतझड मे कर वास रहा[158]। सुख-दुख का मधुमय धूप-छाह,[159] एक ही सतान होता हुआ आया है,[160] अपनी-अपनी पलंग,[161] मेरे मा के मन में,[162] दिया अनेक बधाई,[163] कामधेनु न दिया,[164] मेरी इगित,[165] दुखिया है सारा अग-जग[166] आदि प्रयोग प्रचलित हिदी-व्याकरण की दृष्टि से विचारणीय है।

वचन इसी प्रकार, दो तीव्र ज्योति,[167] पाच रुपया दिया था,[168] कई सौदा,[169] दो प्रतिमा,[170] एक-एक बातों,[171] एक-एक पतली जूडियों,[172] दो मार्ग अलग हुआ है,[173] दस के नोट,[174] दो अवगुण्ठनवती,[175] तीन दिन हो गया,[176] प्रत्येक परमाणुओं,[177] प्रत्येक प्रश्नो[178] और भी कई काम करना है,[179] एक-एक मिठाइया दी[180] आदि प्रयोग भी चित्य हैं।

सर्वनाम पुतलो। तेरे वे जयनाद,[181] जिनने,[182] दिवा रात्रि तेरा नर्त्तन[183] आदि प्रयोगों मे सर्वनाम व वचन के बीच की सगति तथा सर्वनाम रूप विचारणीय है। वो ही, वो जैसे सर्वनाम रूप भी आरभिक रचनाओं मे मिलते है।

विभक्ति विभक्ति चिह्नो का लोप तथा एक विभक्ति के स्थान में दूसरी विभक्ति का प्रयोग प्रसाद में अनेक स्थानो पर देखा जा सकता है। यथा

विभक्ति	*उदाहरण*	*प्रयोग-वैचित्र्य*
द्वितीया	व्यथा साथिन को[184]	चतुर्थी के विभक्ति चिह्न 'के लिए' के स्थान मे द्वितीया का प्रयोग।
तृतीया	मादकता माती नीद लिये[185]	तृतीया के विभक्ति-चिह्न 'से' का लोप।
षष्ठी	कर देती अत कहानी[186] आसू वर्षा से सिचकर[187]	षष्ठी के चिह्न 'का' का लोप।
सप्तमी	में अभ्यास किया[188] हस्त-कौशल मे मुग्ध थे[189]	षष्ठी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग, 'पर' के स्थान पर 'मे' का प्रयोग।
	बैठ शिला की शीतल छाह[190] ओर की तारक द्युति की गोद[191]	सप्तमी के विभक्ति-चिह्न का लोप।

विराम-चिह्न विराम-चिह्नो के प्रयोग में शैथिल्य 'कामायनी' में विशेष रूप से दिखायी पडा है। कही-कही उक्त चिह्नो की अव्यवस्था के कारण अर्थ-बोध मे अत्यत बाधा पडती है और मूल मतव्य शीघ्रता से पकड मे नही आता।[192]

प्रत्यय "मेरी इन दुखिया अखडियों के सामने।"[193] में आखो के स्थान पर 'अखडियों' मे स्वार्थिक प्रत्यय 'ड' लगा है, वह आखो की प्रकृति व स्थिति का सुदर बोध कराता है। 'जायसी' का 'सदेसडा' प्रसिद्ध ही है।

समास-सधि अपने प्रारभिक विकास-युग में प्रसाद जी सस्कृत-सुलभ दीर्घ समासो व सधियो के प्रति पर्याप्त आकृष्ट दिखायी पडते हैं। पैतृक रस-प्रवाह-पूर्ण, प्रेम-कज-किजल्क, अरुणराग-रंजित, गद्‌गद-हृदय-नि:सृता,[194] मिलन-क्षितिज-तट-मधु जलनिधि, सरोज-पराग-धूलिधूसर, तोषामोदकारों,[195] उच्चप्रासाद वेष्टित,[196] इन्दुकला परिवेष्टित,[197] नक्रकुलाकुल[198] जैसे समास व सधियो के प्रयोग उनके आरभिक अभ्यासकालीन युग मे बहुत मिलेंगे। पर 'ऑसू', 'कामायनी' आदि मे यह प्रवृत्ति नही दिखायी पडती।

अन्य चिंत्य प्रयोग उसे और कोई न था,[199] मुझे हृदय के साथ ही मस्तिष्क भी है,[200] सबो का,[201] छात्री होऊगी,[202] औषधि,[203] केहुनियों,[204] तुम बना लिये होगे,[205] कबताया,[206] असख (असख्य के लिए),[207] चल जाय कही,[208] 'आकर्षणपूर्ण जीवन केंद्र' के स्थान पर 'पूर्ण आकर्षण जीवन केंद्र',[209] 'दोड चलता है बिखराता सा अपने ही पथ मे रोडे'[210] आदि प्रयोग चिंत्य है। 'जलधि के फूटे कितने उत्स'[211] मे 'कितने' के साथ 'ही' अव्यय के अभाव से 'न्यूनपदत्व दोष' स्पष्ट ही है।

इन उदाहरणों से प्रसाद की भाषा के बाह्याकार के व्यापक स्वरूप का बोध होता है। सक्षेप में, भाषा की इस स्थिति की केवल यही व्याख्या हो सकती है कि प्रसाद भाषा के बाह्य स्वरूप के प्रति उदासीन ही थे। वे व्याकरणिक पावित्र्य की रक्षा मे सन्नद्ध नही दिखायी पडते। साहित्य में वे स्थूल व बाह्य भाषावरण की अपेक्षा आत्मस्थानीय अनुभूति या अतप्रेरणा को ही सर्वोपरि स्थान देते हैं। यदि प्रसाद भाषा के बाह्य को भी समान महत्त्व देते तो कोई कारण नही था कि भाषा इतनी अव्यवस्थित रह जाती। जहा तक भाषा की आतरिक

शक्ति-स्फूर्ति का प्रश्न है उसमे प्रसाद प्राय सर्वत्र उच्चस्तर का निर्वाह कर सकने मे समर्थ हुए है।

प्रसाद की भाषा आक्षेप और उत्तर

प्रसाद जी की अलकार-बहुल, भावुकतापूर्ण व जडाऊ शैली पर भी अनेक बार कृत्रिमता का आरोप हुआ है। कविता तो ठीक, गद्य, नाटक तथा उपन्यास-कहानी जैसी लोकप्रिय विधाओं मे भी उक्त शैली अनेक जगह अपनी सीमा को पहुच गयी है। सामान्य वर्ग के पात्र भी अनेक स्थलों पर कारु-खचित भाषा का प्रयोग करते हैं।

प्रसाद की भाषा-विषयक धारणा उनकी साहित्य-प्रयुक्त भाषा तथा उनके भाषा-विषयक सैद्धातिक विवेचन से आकलित की जा सकती है। उनकी भाषा के प्राय तीन रूप है—(1) लोक-व्यवहार की भाषा से भिन्न लाक्षणिक प्रयोग-बहुला और स्निग्ध कोमलकात पदावली से समन्वित, कार्य-रीति के साचे में ढली हुई रसोपजीवी समलकृता भाषा, (2) लोकोक्तियो व मुहावरो को लिये सामान्य बोलचाल की जीवत व प्रवाह- मयी भाषा, (3) भाषा-लालित्य के उपकरणो से सर्वथा विमुक्त विचार-वाहिनी शुद्ध समीक्षोपयोगी भाषा जो उनके सिद्धात-समीक्षा तथा भूमिकाओं में व्यवहृत हुई है। सब कुछ मिलाकर, प्रसाद की भाषा प्राय सामान्य बोलचाल के स्तर की भाषा से बहुत ऊची है और सुसस्कृत साहित्य-प्रेमियों को ही बोधगम्य है। उनकी भाषा के सबध में कुछ वर्गों के पाठकों, समीक्षकों व साहित्य-प्रेमियों का एक स्थायी आक्षेप (आक्रोश की सीमा तक) व शिकायत रही है, पर प्रसाद ने उन्हें अपना समुचित उत्तर भी दिया है।[212]

प्रसाद की भाषा के स्वरूप के सबध में हमें कुछ कहना है। साहित्य मे भाषा कैसी प्रयुक्त हो—यह सदा से एक बडे विवाद का विषय रहा है। यूनान में भाषा और रीति को लेकर दो दलो में कडा सघर्ष रहा। वड्र्सवर्थ ने ग्रामीण अचलों की यथार्थ भाषा के प्रति गहरी आस्था व्यक्ति की, किंतु कालरिज आदि विचारकों के द्वारा उसके भाषा-सिद्धात का प्रबल खडन हुआ। वास्तव में भाषा की सरलता और क्लिष्टता एक सापेक्षिक स्थिति है। किसी के लिए सरलतम भाषा भी क्लिष्ट हो सकती है तो किसी परिष्कृत रुचिशील पाठक के लिए क्लिष्टतम भाषा भी सहज-सुबोध। फिर, कालिदास व तुलसी क्रमश सरल-मधुर सस्कृत व हिदी (अवधी) में रचना करके जिस प्रकार पूर्ण सफल हैं, उसी प्रकार भारवि, श्रीहर्ष, पिडार, मिल्टन, ईलियट व पत क्लिष्ट होकर भी सहृदयों को सदा आकृष्ट करते हैं। अत क्लिष्टता-सरलता का प्रश्न पाठक-सापेक्ष ही है। फिर, प्रश्न यह भी है कि कवि आखिर किस वर्ग के भाषा-स्तर को ध्यान में रखकर लिखें ? विद्वानों के ? या सामान्य जनता के ? आगे प्रश्न है—सामान्य जनता, अर्थात् कौन-से आर्थिक स्तर या विचार-स्तर का व्यक्ति समूह ? फिर, लेखक या कवि अपने उद्दीप्त-आस्फूर्त्त भाव विचार के ठीक समानातर व अनुरूप शब्द प्रतीकों को चुनकर सत्य हृदयता की रक्षा करे, या उस चयन-विवेक की उपेक्षा करके सभी वर्गों का एकसाथ ध्यान रखकर—भाषा-विषयक विविध स्तरों की मा को एकसाथ पूरी करने के प्रयत्न में बौखलाकर, लडखडाकर गिर पडे। माना कि सच्ची प्रेरणा का आवरण लेकर, जिसके लिए कविता लिखी जा रही है—उसे भुला बैठना छलना है। अत हमारी समझ मे भाषा की उपयुक्तता की सबसे अधिक निरापद कसौटी यही हो सकती है कि वह लेखक के

बाव-विचार के स्वरूप, वेग, या प्रकृति के समानातर है या नही, लेखक को अपने भाव-विचार व्यक्त करके हार्दिक सतोष है या नही। फिर, साहित्य और कला अतत है तो कौशल या नैपुण्य ही, जिसमे थोडी कृत्रिमता के प्रवेश की व्यक्तिगत छूट रखनी ही होगी। कला अतत है ही कृत्रिम। कथ्य को मथकर, चाक पर या खराद पर चढाकर उसे सुपुष्ट-समुज्ज्वल रूप मे प्रस्तुत करना ही तो कला है। हा, वह कृत्रिम होकर भी जीवनोचित (Life like) जान पडे, यही उसका सर्वग्राह्य आदर्श हो सकता है। लेखक के आत्मसतोष का आधार वस्तुत कथ्य और अभिव्यक्ति के सतुलन में ही है। फिर, प्रसाद का अपना एक चितन-स्तर, भाषा-स्तर व सामाजिक आभिजात्य का स्तर भी है। इस सबके कारण प्रसाद को भाषा का स्वरूप यदि ऐसा है तो कोई आश्चर्य नही।

पर प्रसाद की शैली ऐसी भी नही जो सर्वथा कृत्रिम हो। अपनी भाषा के मूल स्वर और साहित्य की परपरा से अनुराग रखनेवालो को वह मुग्ध करनेवाली भी है। फिर ज्यो-ज्यो हिंदी भाषा और साहित्य का विकास हो रहा है, प्रसाद की शैली अधिकाधिक सुग्राह्य और रोचक हुई जा रही है। इतने बडे देश—विशेषत हिन्दी-भाषी—मे लेखक किस प्रात या अचल को ध्यान मे रखकर लिखे, यह भी तो एक समस्या है। ऐसी स्थिति में सबसे उत्तम मार्ग सस्कृत के निकटतम रूप का ग्रहण ही दिखायी पडता है, जिसके धरातल पर उसकी सुग्राह्यता अधिक निश्चित है। अवश्य ही प्रसाद की भाषा में प्रसाद गुण का अभाव है। उसमें क्लिष्टता है, दुरूहता है, किंतु उस भाषा में साहित्योचित सयम, आभिजात्य, शालीनता व गरिमा है जो भाषा की उच्च व उज्ज्वल सस्कृति के बोधक है। लोकोक्तियो-मुहावरों आदि के प्रयोग से प्रसाद की गद्य-भाषा अनेक स्थलो पर अत्यत जीवत उतरी है। यदि क्लिष्टता की कीमत पर हमे कुछ महगी वस्तु मिली है तो भी सौदा महगा नही है। सभवत कवि की विवशता अपरिहार्य थी। प्रसाद के बोझीले युगीन साहित्यिक दायित्वो और सघर्षों के सदर्भ में यदि हम विचार करें तो भाषा-शैली के क्षेत्र में, अनेक त्रुटियों व विच्युतियों के बावजूद, प्रसाद की उपलब्धि अत्यत महत्त्वपूर्ण जान पडेगी।[213]

प्रसाद की भाषा और व्याकरण की स्थिति को देखते हुए निश्चय ही उनकी भाषा कुछ अशों में अस्तव्यस्त व ऊबड-खाबड कही जा सकती है। उनकी भाषा के प्रति हल्का-गाढा आक्रोश विद्वानों के द्वारा व्यक्त होता भी रहा है।[214] फिर भी, प्रसाद की भाषा के स्वरूप पर कुछ निर्णय लेने से पूर्व इतनी बातों का विचार रखना आवश्यक होगा—प्रसाद खडी बोली के उस युग में लिख रहे थे, जबकि वह निर्माणाधीन थी और आचार्य द्विवेदीजी द्वारा उसके शुद्धि-सस्कार का अभियान चल रहा था। प्रसाद ने ब्रजभाषा से अपना सृजन आरभ किया था, अत- वे ब्रजभाषा के सस्कारों से बहुत वर्षो तक पूर्णतया मुक्त न हो सके थे। भाषा मे बनारसी प्रयोगों का प्रवेश भी एक अत्यत स्वाभाविक बात थी, क्योंकि 'बनारसी' या भोजपुरी प्रसाद जी की अपनी बोली थी। प्रात-भेद से खडीबोली के शब्दों में रूप-भेद व उच्चारण-भेद अत्यंत स्वाभाविक है। प्रातिशाख्यों में प्रात-भेद से स्वय सस्कृत के उच्चारण-भेदों का तथ्य प्राप्त होता है। प्रसाद-साहित्य में विविध सामाजिक श्रेणियों या कोटियों के शताधिक पात्र समाविष्ट हैं। अत प्रसाद द्वारा प्रयुक्त खड़ीबोली में रूपगत व उच्चारणगत अतर का थोड़ा-बहुत उपस्थित हो जाना सहज स्वाभाविक है। आचलिक पात्रों के द्वारा साहित्य की खडीबोली अवश्य ही कहीं-न-कही न्यूनाधिक रूप में विकृत होगी। छदानुरोध व तुक आदि

के अनुरोध से भी (विशेषत आरभिक रचनाओ मे) शब्दो मे रूपातर पाया जाता है। और फिर प्रसाद स्वच्छदतावादी कलाकार ठहरे। स्वच्छदतावादी कलाकार स्वभावत भाषा की दृष्टि से पवित्रतावादी नही होता, यह प्राणमयी अनुभूति के तापतप्त लावे को (अग्रेजी कवि बायरन की कविता द्रष्टव्य) किसी प्रकार बाहर ढालकर ही तृप्त हो जाना चाहता है। भाषा और व्याकरण के स्थूल नियम, अनुभूतिवेग के आगे, उसके विशेष महत्त्व के नही होते। इस ओर वह प्राय बडा उदार व लचीला होता है। हा, विरामचिह्नो के अनियमित व शैथिल्यपूर्ण प्रयोग तो अवश्य खटकनेवाले कहे जा सकते है। इन मोटे तथ्यो को ध्यान मे रखकर ही भाषा के अवदान पर यथार्थ विचार किया जा सकता है। इतने विशाल साहित्य मे भाषा व व्याकरण सबधी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक ही है। किंतु जहा युग-रुचि व परिस्थितियो आदि की पूरी सम्मानपूर्ण गुजाइश छोडते हुए इतनी न्यायसम्मत छूट देने पर भी कलाकारोचित प्रौढ सयम की ओर उनके अकारण शैथिल्य के प्रति हम सहज ही आश्वस्त हो जाते है, वहा अनावश्यक उदारता छोडकर हमे इसका लेखा भी लेना होगा, क्योंकि साहित्यिक कृतित्व के चरम मूल्याकन मे सभवत छोटी-से-छोटी बात भी अपना प्रभाव रखती है।

अलकार-विधान

काव्य मे अलकार-प्रयोग का यथार्थ रूप

काव्य में अलकार की स्थिति को लेकर दो-तीन महत्त्वपूर्ण पक्ष है। पहला पक्ष भामह, उद्‌भट आदि शुद्ध अलकारवादियो का है जो चद्रालोककार के इस कथन के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है

अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती॥

अर्थात्, यदि काव्य को अलकार-रहित रूप मे स्वीकार करते हो, तो अग्नि को शीतल क्यो नही मानते।

दूसरा पक्ष आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की इस कारिका के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि।

अर्थात्, 'दोषो से रहित, गुण-युक्त और (साधारणत· अलकार सहित परतु) कही-कही अलकार-रहित शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य (कहलाती) हैं।[215]

एक और पक्ष कविवर पत की इस पक्ति से निर्मित किया जा सकता है—

वाणी मेरी चाहिए तुझे क्या अलकार।

प्रसाद वस्तुत अलकार-प्रयोग की दृष्टि से मध्यमार्गी हैं। वे अलकार के विशेष आग्रही नही दिखायी पडते। उनका अनुभूति-गाभीर्य तथा रसप्रेरित वचन-वक्रता—दोनों मिलकर सवेगमय वाग्धारा मे जो आवर्त्त-विवर्त्त उत्पन्न कर देते है, वे ही प्रसाद की वाणी के सहज अलकार बन जाते है। हमारा आशय यह कदापि नही कि प्रसाद अलकार-प्रयोग में जायसी आदि कवियों के समान आयासहीन है। ऐसा तो नही कहा जा सकता। प्रसाद व्युत्पन्न पंडित

है, भारतीय काव्यशास्त्र की परपरा के पारदर्शी अनुशीलनकर्त्ता है, और मम्मट की भाषा मे उनका काव्य 'निपुणता' एव 'अभ्यास' नामक काव्य-हेतुओं मे निहित गुणो से पुष्ट और समृद्ध है। ऐसा सजग स्रष्टा अलकार-प्रयोग के कौशल-प्रदर्शन की भावना से सर्वथा असम्पृक्त रहा होगा, यह विश्वसनीय-सा नही। हम केवल यही कह सकते है कि उन्होने अपनी व्युत्पत्ति का विनियोग सहजता और स्वाभाविकता के साथ किया। उनके अलकार-प्रयोग का यही प्राथमिक तथ्य जान पडता है।

अलकारों का स्वाभाविक उपयोग वही पर समझा जाता है जहा वे पहले से ही सुदर अर्थ की और अधिक शोभा बढाते है। अलकार 'काव्यशोभाकर', 'काव्यशोभातिशायी', 'अलमर्थमलकर्तु' कहे गये है। तात्पर्य यह कि वस्तु और अलकार परस्पर उपकारक हो तभी काव्य स्वाभाविक होकर आनददायी होता है। कोरे अलकार-प्रेम की भद्दी रुचि से प्रेरित होकर यो ही किसी स्थान पर अलकार पर अलकार लादते चलना अलकार का दुरुपयोग है और उसके प्रयोगकौशल की अनभिज्ञता को सूचित करना है। प्रसाद ने अलकारो के प्रयोग मे परिष्कृत रुचि व सिद्धहस्तता का परिचय दिया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के प्रयोगों में उन्होने उपमेय-उपमान के बीच आकृतिगत साम्य और गुणसाम्य दोनो का ही पूरा-पूरा ध्यान रखा है। आकृतिगत साम्य कही भी भद्दा या हास्यास्पद नही मिलेगा। 'कामायनी' में श्रद्धा के रूप-वर्णन के आकृतिगत साम्य का विधान हुआ है, कितु पूर्ण कलात्मकता के साथ। आकृतिगत साम्य मे यद्यपि वस्तुओ के रग, रूप, आकार, अनुपात व सामान्य गुण को परखनेवाली गहरी भावुकतापूर्ण दृष्टि अपेक्षित है, कितु साम्य-स्थापन जहा उपमेय-उपमान के मूल या केद्रीय गुण के आधार पर होता है, वस्तुत वही हम भाव-विदग्धता, मर्मानुभूति व वस्तुओं या भावनाओं मे गहरे उतरने की असाधारण शक्ति या प्रतिभा से प्रभावित होते है। अलकार-विधान में ध्वन्यात्मक प्रतीको व अत्यत स्पष्ट, स्वच्छ व आनददायी बिबों का प्रयोग हुआ है।

प्रसाद-साहित्य मे अलकार-वैविध्य

अलकार का विषय अत्यत जटिल व विस्तृत है। अत सब अनावश्यक विस्तार को बचाते हुए अब हम अपने अभिप्रेत-बिंदु पर आयेगे। पहले हम प्रसाद द्वारा प्रयुक्त अलकारो के वैविध्य पर एक दृष्टि डालें, जिससे कि हम उनकी अलकार-प्रयोग-विषयक मूल चेतना से परिचित हो सकें। इस वैविध्य को प्रस्तुत करने मे हमारा एक स्पष्ट आशय है। कवि जितने ही अधिक अलकारों का (यथास्थान या स्वाभाविक) प्रयोग करता है, उतना ही वह भावुक या विदग्ध समझा जा सकता है। अलंकार वस्तुत वर्णन की प्रणाली है, एक ही कथ्य कितने अधिक रूपों में या कितनी कथन-भगिमाओं या वक्रताओं में प्रस्तुत किया जा सकता है, वह इस बात का परिचायक है। कवि का अतःकरण पूर्णतामयी अभिव्यक्ति की तृप्ति का चिर आकाक्षी है। इस अभिव्यक्तिगत पूर्णता के लिए वह निरतर अधीर-सचेष्ट रहता हुआ विविध वर्णन-प्रणालियों के प्रयोग या नव-नव आविष्कार करता चलता है। इस प्रयोग या आविष्कार द्वारा हम इस बात के प्रति आश्वस्त होते हैं कि कवि की चेतना सतत-सजग व विकासोन्मुख है, वह अनुकरणगत रूढ़ि की भक्त होकर ही कही बैठ नही गयी है। निश्चय ही कवि का इस रूप में हमारे सामने परिचय (कवि तो जड को भी चेतन बनाता है, यदि वह स्वयं ही चेतन न

रहे तो कवि कैसा !) उसके व्यक्तित्व और कृतित्व के मूल्याकन मे सहायक होता है।

इस दृष्टि से अब कुछ उदाहरण देखिए—

उपमा— *"करुणा की नव अँगराई-सी, मलयानिल की परछाई-सी,*
इस सूखे तट पर छिटक छहर।"[216]

रूपक (साग) *"बीती विभावरी जाग री।*
अम्बर पनघट मे डुबो रही तारा-घट ऊषा नागरी।
खग कुल कुल-कुल सा बोल रहा, किसलय का अचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—मधु मुकुल नवल रस गागरी।"[217]

उत्प्रेक्षा— *"घिर रहे थे घुँघराले बाल अस अवलबित मुख के पास,*
नील घन-शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।"[218]

उल्लेख—"सोने की परिभाषा कदाचित् सबके लिए भिन्न-भिन्न हो। कवि कहते है—सवेरे की किरणे सुनहली हैं, राजनीति-विशारद—सुदर राज्य को सुनहला शासन कहते है। प्रणयी यौवन मे सुनहला पानी देखते है और माता अपने बच्चे के सुनहले बालो के गुच्छो पर सोना लुटा देती है।"[219]

व्यतिरेक— *"मृग-शावक के साथ मृगी भी देख रही थी।*
सरल-विलोकन जनक-सुता से सीख रही थी।"[220]
"जिसके अरुण कपोलो की मतवाली सुदर छाया मे।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधु-माया में।"[221]
"जल की लहरियाँ घेरती बन मेघमाला-सी उसे।
हो पवन-ताडित इन्दु कर मलता निरख करके जिसे॥"[222]

प्रतीप—"सामने एक कमल सध्या के प्रभाव से कुम्हला रहा था। भुवन को प्रतीत हुआ कि वह घनमित्र की कन्या का मुख है।"[223]

विषम— *"जिन कबहुँ न दीन्हे पावहूँ को धरा में।*
तिन समिध बटोरै औ करैं शयन मृत्तिका में॥"[224]

विरोधाभास— *"शीतल ज्वाला जलती थी, ईधन होता दृग जल का।"*[225]
"हीरे-सा हृदय हमारा, कुचला शिरीष कोमल ने।"[226]
"कल्याणी शीतल ज्वाला।"[227]
"लघुता चली थी माप करने अनन्त की।"[228]
"मधुर युद्ध"[229]
"भीषण कमनीयता"[230]

इसी प्रकार, 'जलधि लहरियो की अगडाई बार-बार जाती सोने,[231] रोदन बन हँसता है क्यों,[232] कोमल कठोरता,[233] मधुमय अभिशाप,[234] विराग की प्यार,[235] मूक घंटा ध्वनि,[236] दुर्भाग्य पीछा करने मे आगे था,[237] भयानक शाति,[238] सोने को जग पडे,[239] भयानक रमणीयता,[240] शीतल ज्वाला,[241] विजय का अधकार[242] आदि उदाहरणो से भी प्रसाद का विरोधाभास के प्रति आकर्षण स्पष्ट है।

सहोक्ति— *"बालू की दीवाल मुगल-साम्राज्य की*
आर्य शिल्प के साथ गिरा वह भी

जिसे, अपने कर से खोदा आलमगीर ने ।"[243]

प्रौढोक्ति— "चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुज में जैसे।"[244]
"जल भी रँगा था श्यामलोज्ज्वल राम के अनुराग से।"[245]
"जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली।"[246]
"हरित कुज की छायाभर थी वसुधा आलिगन करती।"[247]
"वर्षा के कदम्ब-कानन-सा सृष्टि-विभव हो रहा था।"[248]

विशेषोक्ति— "जलमयी हो रही यह धरा है।
कठ फिर भी न होता हरा है।"[249]
"जल-वैभव है सीमा-विहीन, बह रहा एक कन को निहार।"[250]

मुद्रा— "इस करुणा-कलित हृदय मे क्यों विकल रागिनी बजती
क्यो हाहाकार स्वरों मे वेदना असीम गरजती ?"
"अभिलाषाओ की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना हो जाना भीगी पलको का लगना॥"
"जीवन की जटिल समस्या है बढी जटा-सी कैसी।
उडती है धूल हृदय में किसकी विभूति है ऐसी ?"
"जो घनीभूत पीडा थी मस्तक में स्मृति-सी छायी।
दुर्दिन मे आँसू बनकर वह आज बरसने आयी॥"[251]

अपह्नुति— "उससे (कमल से) मकरन्द नही, अश्रु गिर रहे है।"[252]

असगति— गद्गद कठ स्वय सुनता है जो कुछ है वह कह जाता।"[253]

काव्यलिंग— "वेदना विकल फिर आयी, मेरी चौदहो भुवन मे।
सुख कही न दिया दिखायी विश्राम कहाँ जीवन में ?"[254]
"निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है, श्रीमान भोगते सुख वन मे भी।"[255]

परिवृत्ति— "दीजिए 'प्रसाद' सुख सौरभ को लीजिए जू।"[256]

अर्थान्तरन्यास— "कटक नहि पददलित होत मारग में जौ लौं
मुख की तीछनता को त्यागत है नहि तौ लौं।
नीच प्रकृति जन मानत नाहिन हैं बातन ते।
ये पूजा के योग सदा ही हैं लातन ते॥"[257]

विभावना— "बीच नदी में नाव किनारे लग गयी।"[258]

निदर्शना— "हँस, झिलमिल हो लें तारा-गन,
हँस, खिले कुज मे सकल सुमन,
हँस, बिखरे मधु मकरद के कन
बन कर ससृति के नव श्रमकन,
सब कह दे 'वह राका आई'।"[259]

मानवीकरण— "किन इन्द्रजाल के फूलों से ले कर सुहागकण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिससे मधुधार ढरे ?"[260]

विशेषणविपर्यय— *"मधुमालतियाँ सोती हैं कोमल उपधान सहारे।"*[261]

इसी प्रकार यमक,[262] श्लेष,[263] मालोपमा,[264] परम्परित रूपक,[265] रूपकातिशयोक्ति,[266] भेदकातिशयोक्ति,[267] समासोक्ति,[268] अन्योक्ति,[269] सन्देह,[270] अपह्नुति,[271] निदर्शना,[272] परिकर,[273] प्रत्यनीक,[274] स्मरण,[275] अप्रस्तुत प्रशसा,[276] व्याजस्तुति,[277] व्यतिरेक,[278] प्रस्तुताकुर,[279] उदाहरण,[280] परिकर[281] आदि अनेक अलकारो के प्रयोग द्वारा हम प्रसाद की आलकारिक अभिव्यक्ति के वैविध्य से परिचित होते हैं।

प्रसाद के उपमानो का अतरग अध्ययन

अब हम प्रसाद द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रमुख उपमानो का, उनके उद्‌गम-क्षेत्रों का निर्देश करते हुए, विवरण प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति का अधिकाश क्षेत्र उपमान-चयन का एक ऐसा पिष्टपेषित क्षेत्र है कि उसे यहा सयुक्त करने की कोई आवश्यकता नही दिखायी पडती। जिस दृष्टि से हम क्षेत्र-निर्देश सहित उपमानो की यह तालिका प्रस्तुत कर रहे है, वह हमे प्रसाद की जीवन-दृष्टि व उनके साहित्य-मूल्य से सबधित कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यो की अवगति करायेगी।

पृथ्वी के लिये गये उपमान दूर्वा सदृश कौमार्य,[282] सतान-सुख की फसल,[283] फल्गु की धारा-सा वामा का हृदय,[284] शिथिल शयन सभोग,[285] तरलवृत्ति गैरिक निर्झर की तरह उबल पडी,[286] सपनों की सोनजुही,[287] जवाकुसुम-सी उषा,[288] वशीरव परिमल-सा फैल रहा,[289] अरावली शृग-सा समुन्नत सिर,[290] मनोवृत्तियाँ खगकुल-सी,[291] हीरे-सा हृदय हमारा[292] आदि।

आकाश से लिये गये उपमान धूमकेतु से सूर्यमल्ल,[293] उल्का-सी रमणी,[294] बृहस्पति ग्रह की तरह,[295] बिजली की रेखा की तरह टेढी राजशक्ति,[296] पुच्छल तारा सदृश,[297] आकाश-सी नीली ऑखें,[298] मकरन्द मेघमाला-सी वह स्मृति[299]।

समुद्र से लिये गये उपमान महत्त्वाकाक्षा का मोती, निष्ठुरता की सीपी,[300] अतृप्त जलधि[301] आदि।

पुराणो से लिये गये उपमान देव-दुदुभी का गभीर घोष,[302] सुधा कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे,[303] मानो जल-बालिका वरुण के चरणों में,[304] इद्र-शची से,[305] देवबाला-सी,[306] अमरबेलि-सा आलिंगन,[307] कुम्भकर्ण-सा,[308] स्वर्गगा मे इदीवर-सी,[309] महत्त्वाकाक्षा का दुर्गम स्वर्ग,[310] चचला राजलक्ष्मी[311] आदि।

कला, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, छद शास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि से लिये गये उपमान अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ,[312] जगत् रगशाला,[313] प्रथम कवि का ज्यों सुदर छद,[314] दक्षिण नायक की तरह,[315] प्रकृति अनागत पतिका[316]।

अत्यत तिरस्कृत अर्थ सदृश,[317] विस्मृति के गीत की तरह,[318] स्वर लहरी-सी मूर्ति[319] विसवादी स्वर की-सी हॅसी,[320] विरामचिह्न-सी,[321] करुणा के अट्टहास की तरह,[322] करुणा की नव अँगराई[323] आदि।

मनोविज्ञान से लिये गये उपमान धरा के तरल अवसाद-सी,[324] सौंदर्यमयी वासना की ऑधी-सी,[325] उठी एक गर्व-सी,[326] सब यवन की बुद्धि-सा आच्छादित हुआ,[327] आर्द्र हृदय में करुण कल्पना के समान,[328] विश्वकल्पना-सा ऊँचा वह,[329] चला आ रहा मौन धैर्य-सा,[330]

ईश दया-सी छायी है,[331] हृदयोपम सूना आकाश,[332] उत्साह सदृश अभिनव आलोक,[333] जीवन मे पुलकित प्रणय सदृश,[334] बढने लगा विलास वेग-सा,[335] अलम्बुषा की व्रीडा-सा,[336] तिरस्कार की लहर[337] आदि।

वस्तुजगत् से लिये गये उपमान अधकार रूपी अजन,[338] बगदादी ऊँट की तरह,[339] पुच्छमर्दिता मिहिनी के समान,[340] विरक्ति की थैली,[341] कलाई ककडी की तरह तोड दी,[342] शरबत मे हरे नीबू के रस-सी,[343] छोटी-सी सदूक की तरह,[344] पिड पारद के समान,[345] मिट्टी-सी सफेद डाले,[346] रुपये के समान चॉद,[347] विशाल सफेद अजगर-सी सडक,[348] मदिर के द्वार-सी खुली ऑखे,[349] धुऑ-से कम्बल-सा सूर्य,[350] खीलो के समान फूट पडा,[351] बदनवार-सा,[352] महाकापालिक के पिये हुए पान पात्र की तरह,[353] कपूर-सा हिमाशु,[354] उत्तरीय समान,[355] खुले किवाड सदृश,[356] सिहद्वार है खुला दीन के मुख सदृश,[357] दूध फेननिभ,[358] विस्मृति का नीला परदा,[359] वेतनमुक्त पुजारी-सा,[360] रिक्त चषक-सा चद्र,[361] सरसो के पीले कागज पर,[362] निरुपाय मे ऐठ उठी डोरी-सी,[363] जरठ भिखारी-सा,[364] लावण्य शैल राई-सा,[365] उल्काधारी प्रहरी से,[366] भीड चीटियो की तरह,[367] रूप का कूप,[368] प्रेम की अफीम,[369] विचारो की चौलत्ती,[370] पलको के परदे में[371] ईर्ष्या की पट्टी,[372] महत्त्वाकाक्षा का प्रदीप्त अग्निकुड,[373] बिहार बिल,[374] कर्म कुलालचक्र[375] आदि।

अन्य विविध क्षेत्रो से लिये गये उपमान प्रेम की दीवाली,[376] विजया के आशीर्वाद के समान चादनी,[377] करता चारण सदृश प्रचार,[378] प्रणव के समान गूजने लगा,[379] प्रकाश रूपी शासन-पत्र पर, प्रकृति के हस्ताक्षर के समान बिजली की रेखा,[380] अविचार की वन्या,[381] प्रथम भाषण ज्यो अधरान मे,[382] भव-बधन से खुलो किवाडो,[383] विस्मृति-समाधि,[384] प्रेम सुतीर्थ,[385] धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,[386] गुप्त रहस्य समान,[387] मुखरित आभूषण से सुदर करते कलरव बाल-विहग,[388] अनुलेपन-सा मधुर स्पर्श था[389] आदि।

प्रसाद के अलकार-विधान के विशिष्ट तथ्य

अपनी सुविधा के लिए हमने अलकार के विस्तृत विषय को केवल उपमान-विचार तक ही सीमित कर लिया है, किंतु उपर्युक्त निरूपण से जो तथ्य हमें प्राप्त हो सकते हैं वे इस सीमा मे भी अत्यत महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद के उपमानो, अर्थात् उपमान पक्ष में निहित चित्र-खडों को देखकर प्रथम तथ्य यह प्राप्त होता है कि प्रसाद की ऐंद्रिक सवेदना सूक्ष्म, गहरी और परिपूर्ण है। उसमे पाचों ज्ञानेंद्रियो की सजग चेतना के दर्शन होते हैं। उपमान पक्ष प्रसाद की बिब-निर्माण की उच्च क्षमता से सपन्न है। अनेक उपमान प्रतीक की गहरी शक्ति से सयुक्त हैं, उनकी सकेतात्मकता गूढ व्यजनाओं से गर्भित है। दूसरा तथ्य यह प्राप्त होता है कि प्रसाद कोरमकोर कोमल कल्पना और अतीद्रिय भाव-जगत् के ही कवि नही हैं, जैसा कि उन पर प्राय आरोप लगाया जाता है, वे प्रत्यक्ष व व्यावहारिक जीवन व जगत् के अशेष पदार्थों को काव्यायित करके उन्हें नवीन कार्य-सवेदनाओं से परिपूर्ण करने के लिए उत्सुक व प्रयत्नशील हैं। आदर्शलोक और यथार्थलोक को निकट लाकर एक परिपूर्ण जीवन व सृष्टि के निर्माण का जो उपक्रम आज अतर्राष्ट्रीय धरातल पर सुधी दार्शनिकों के बीच हो रहा है, उसकी काव्यात्मक ध्वनि प्रसाद के इस प्रयत्न के बीच सुनी जा सकती है। उपमानों के द्वारा प्रसाद का विस्तृत जीवन-निरीक्षण और शास्त्र-ज्ञान भी

झलक रहा है। मम्मट ने जिसे 'निपुणता' और राजशेखर ने 'व्युत्पत्ति' कहा है, वह इस उपमान पक्ष के निर्माण मे स्पष्ट दिखायी पड रही है। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि प्रसाद कोरी कल्पना को छोडकर जीवन के निकट आते दिखायी पड रहे है। यदि प्रसाद की प्रीति अतीद्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा-सी है तो वे खुले किवाड, धनिये की गध, चिक, रुपया जैसे पदार्थ भी उपमान-रूप मे सोत्साह ग्रहण कर सके है। इस प्रकार प्रसाद की जीवन-चेतना का पाट सकीर्ण न होकर अत्यत विस्तृत दिखायी पडता है। इन तथ्यों को ध्यान में रखना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि प्रसाद जैसे जीवनवादी कलाकार को अनेक विचारक मुख्य स्वप्न, विस्मृति व पलायन के कवि ही मानते रहे है। कवि के उपमान पक्ष का विकासात्मक अध्ययन करने पर हम प्रसाद में साहित्योपयोगी यथार्थ[390] का सच्चा प्रेम देखने से नही चूक सकते।

छंद-विधान

छद स्वरूप व भेद

वस्तु की मूल प्रकृति के भेद से वस्तु-निवेदन की दो चिर प्रतिष्ठित पद्धतिया है—गद्य और पद्य। विचार और भाव के परिमाण व वेग के तारतम्य से गद्य या पद्य की विधा अपनायी जाती है। शुद्ध या आदर्श गद्य प्राय शब्द की अभिधा शक्ति के सहारे, व्याकरण के नियमों के कठोर अनुशासन में रहकर, रजन व रोचकता क उपकरणो से न्यूनातिन्यून सबध रखकर, तथ्य व तर्क को अधिकाधिक प्रश्रय देते हुए निर्मित होता है। ज्यों-ज्यो सगीत कल्पना व ध्वनि के उपकरण गद्य मे बढते जाते है, त्यो-त्यो गद्य अपना प्रकृत रूप छोडकर वक्रता का पथ पकडता जाता है। इस प्रकार एक ही कथ्य, गद्य और पद्य के भेद से, विभिन्न रूपो और शैलियो मे विन्यस्त हो सकता है। वर्ण्य विषय की प्रकृति, कवि-स्वभाव व रचना का लक्ष्य—गद्य और पद्य के गृहीत स्वरूप का नियत्रण करते हैं।

पद्य-रचना की भी दो प्रतिष्ठित शैलिया है—तुकात व अतुकात। तुकात छद में पद्य के सम या विषम चरणो मे, या स्वच्छद छद मे सम-विषम आकार की पक्तियों के द्वारा वाछित प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से तुक का विधान अनिवार्य रूप मे रहता है, किंतु अतुकात छद में पद्य के सम या विषम आकार की पक्तियों में तुक का विधान नही रहता। तुकात और अतुकात—दोनो ही प्रकार के छदों में सगीत-तत्त्व लय का सहज समावेश होता है, किंतु अतुकात छद मे तुक-रहितता की क्षति-पूर्ति लय की रजनकारी व्यवस्था के द्वारा विशेष रूप से की जाती है। सम तुकात-छदो में मात्राओं व अक्षरों की सख्या, पक्ति के आकार-प्रकार में एक नियमितता उत्पन्न करती है जो अतुकात छदों में प्राय नही होती। मुक्त या अतुकात छदों मे भावो का प्रवाह, वेग व आरोह-अवरोह ही पक्ति की लघुता-दीर्घता व यति-विराम आदि का नियमन करते है।

तुकात व अतुकात छदों के पक्ष-विपक्ष मे एक सुदीर्घ तर्क-शृखला है जिसे यहा प्रस्तुत करना अप्रासगिक है। हम यहा इतना ही कहना चाहेंगे कि यदि नियमित विन्यास गणितीय व्यवस्था या स्थापत्य का भी जीवन में एक सौंदर्य है, तो प्राकृतिक जीवन-रस से परिपूर्ण, अपने

स्वरूप का आप निर्माण करती हुई स्वच्छद-मृदुल वन-वल्लरी का भी। यदि सगीत के तत्त्व का समुचित परिमाण मे व रूपो में विनियोग हो और काव्य के अतरग उपकरणों—अनुभूति, कल्पना व ध्वनि का प्रभावशाली रूपो मे विन्यास हो तो दोनो ही शैलिया अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण जान पडेगी। केवल व्यवस्था के जड नियम की पूर्ति या पाद-पूर्ति के लिए ही भद्दी भर्ती के विराम-चिह्न, पद, वाक्य, वाक्याश आदि का प्रयोग हो तो यह भाव-जगत् का मिथ्याचरण ही है, उधर केवल कवि-प्रकृति की प्रगल्भता या अबाध उच्छृखलता की तुष्टि के लिए मुक्त छद, भाव के प्रति सच्चे न रह सकने का एक छद्म आचरण मात्र हो तो यह भी मिथ्याचरण है। सहज व सच्चे भाव अपनी प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति के लिए जो भी साचा ग्रहण करे, वही सम्मान्य है या होना चाहिए। छद-विधान काव्य में सगीत-तत्त्व के समावेश का एक विधान मात्र है। काव्यगत भाव ही मुख्य है, सगीत नही। सगीत-तत्त्व सहायक मात्र है, काव्य का स्थानापन्न नही।

प्रसाद के तुकात व अतुकात (मुक्त) छद

यद्यपि प्रसाद ने अतुकात मुक्त छदो के प्रति भी आकर्षण दिखाया है, किंतु उनकी अधिकाश काव्य-रचना तुकात (शास्त्रीय या स्वच्छद प्रतिभा से नवाविष्कृत) छदों में ही है। 'चित्राधार' व 'कानन-कुसुम' की रचनाओं से लेकर 'कामायनी' तक यह, कुछ विशिष्ट अपवादो को छोडकर देखा जा सकता है। प्रसाद जी का अन्यत लोकप्रिय दीर्घ प्रगीत 'ऑसू' एक ऐसे छद में रचा गया है, जो अपनी कसावट, प्रवाह, प्राजलता और भावानुरूप बाह्याकृति की दृष्टि से अपने युग का बेजोड छद समझा गया है। छद-रचना की दृष्टि से 'झरना' और 'लहर' की अधिकाश कविताए भी उल्लेखनीय हैं। दोनों रचनाओ में प्राय सर्वत्र कवि की छद-विषयक नवाविष्कार-बुद्धि द्रष्टव्य है। अनेक छदों का प्राचीन छदो के चरणों की जोड-तोड से निर्माण हुआ है। कई छद तो ऐसे हैं जिनका सभवत अभी नामकरण भी नही हुआ हो। इस जोड-तोड से प्रसूत नवीन छदों में कथ्य को विशेष प्रभावशालिता के साथ प्रस्तुत करने की गहरी क्षमता उत्पन्न हो गयी है। ध्यान देने की बात यह है कि सस्कृत के वर्णवृत्त प्राय· अब छूट गये है। नूतन छद-आविष्कार-बुद्धि व छदो का वैविध्य इन सग्रहों की एक मुख्य विशेषता है।

महाकाव्य 'कामायनी' के छदो के सबध में भी कुछ कहना है। महाकाव्य का धरातल विराट्, उसका 'कार्य' महत्, उसकी घटनाए ('कामायनी' में स्थूल जगत् की भौतिक घटनाए उतनी नही हैं) सूक्ष्म व मानसिक तथा उसका स्वर (टोन) उदात्त होता है। अत ऐसे ही छदों का प्रयोग वाछित होता है जो इस दायित्व का गरिमा के साथ वहन व निर्वाह कर सकें। महाकाव्य एक महाप्राण कवि की सृष्टि होती है। अत छदो में भी एक पुष्टता, अभ्यासगत परिष्कार व आभिजात्य होता है। 'कामायनी' के 15 सर्गों में लगभग एक दर्जन छदो का बडा प्रौढ विधान किया गया है—यथा, वीर या आल्हा (चिंता व आशा सर्ग), शृगार (श्रद्धा सर्ग), पदपादाकुलक (काम, लज्जा, ईर्ष्या व दर्शन सर्ग), रूपमाला या मदन (वासना सर्ग), सार या ललित (कर्म सर्ग), ताटक (स्वप्न व निर्वेद सर्ग), रोला या काव्य (सघर्ष सर्ग), सखी (आनद) आदि छदों के कवि ने यथास्थान पद्धरि, कुकुम, चौपाई, गीति आदि छंदो के मिश्रण से अनेक सर्गों में—विशेषत चिंता, कर्म, ईर्ष्या सर्गों में—छद-गीत की एकधृष्टता के परिहार के लिए,

कर्ण-सुखद लय-परिवर्तन के कलापूर्ण सूक्ष्म-अदृश्य सगुफन से, नवीन योजनाए प्रस्तुत की है।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वासना सर्ग, सघर्ष सर्ग व आनद सर्ग को छोडकर सभी सर्गो मे प्रथम चरण अनिवार्यत 16 मात्राओं का है, और आशा, काम, लज्जा, ईर्ष्या, दर्शन व रहस्य सर्गो मे तो प्रत्येक चरण प्राय अविकल रूप से ही 16 मात्राओं का है। 16 मात्राओ के उच्चारणकाल मे प्राणवायु का जितना व्यय होता है, उसका निश्चय ही अभिव्यक्त भाव की आतरिक प्रकृति व स्फूर्ति के साथ गहरा सबध होना चाहिए। 16 मात्राओ के छद मे, उसी मात्रा-सीमा मे, विविध भगिमामय भावों को कौशलपूर्वक अभिव्यक्त करते हुए, भावाभि-व्यक्ति मे कवि ने जो विशेष रुचि-वैचित्र्य प्रदर्शित किया है वह प्राण विज्ञान व मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन का एक रोचक विषय है। शोध के द्वारा कवि की मूल प्रकृति—शक्ति, आनद और करुणा के तत्त्वों से निर्मित—का अवश्य इस तथ्य से कोई घनिष्ठ सबंध बैठाया जा सकता है।

अतुकात प्रसाद ने अतुकात या भिन्न-तुकात छदों का प्रयोग सन् 1913 से आरभ किया जो 'लहर' के युग तक चलता रहा। स्पष्ट है कि वर्षो तक प्रसाद इस प्रकार के छदो की काव्योपयोगिता या शक्ति के प्रति आश्वस्त रहे होंगे और फलत निरंतर तत्सबधी प्रयोग करते रहे होंगे। यह तथ्य मुक्त छद के प्रति उनकी निष्ठा का प्रतीक है।

प्रसाद के अतुकात छद दो प्रकार के है—(1) अतुकात सममात्रिक छद, जिनमे पक्तियों की लबाई समान रहती है—जैसे, 'प्रेम-पथिक' व 'करुणालय' मे, तथा (2) अतुकात विषम-मात्रिक छद, जैसे 'लहर' की अतिम तीन रचनाए, जिनमे रचना की पंक्तिया भावों की प्रकृत शक्ति या स्फूर्ति के अनुरूप कटाव-छटाव लेकर आकार मे छोटी या बडी रहती है। हमें यह कहने में तनिक भी सकोच नही है कि प्रसाद के अतुकात छद, लय, प्रवाह व भावानुरूप आरोह-अवरोह की दृष्टि से बहुत सफल उतरे है। 'अरिल्ल' छद मे लिखित 'करुणालय' तथा 'महाराणा का महत्त्व' मे, अथवा 30 मात्राओं के 'ताटक' छद मे लिखित 'प्रेम-पथिक' में तो कोई विशेष कठिनाई नही, क्योंकि छद की मात्राओ की नियत सख्या व प्रवाह कवि से बलात् नियमानुसार रचना करवा लेते हैं, पर जहा इस प्रकार का पूर्व-निर्धारित कोई बंधन नहीं है (अर्थात् स्वच्छद छद में) और भाव-वेग को ही सब कुछ नियत्रण करना पडता है, वहा अनेक प्रकार के शब्द-प्रयोगगत आकर्षण या लोभ अभिव्यक्ति के गठन में व्यवधान-विक्षेप उपस्थित कर कवि के भाषा-सयम की कडी परीक्षा लेते हैं। अत अतुकात छद में सफलतापूर्वक रचना करना अधिक कठिन कहा जा सकता है। भावों का प्रकृति तथा वेग, तप्त भाव-द्रव का सटीक साचों में ढलाव और लय का अव्याहत निर्वाह—सब एक उच्चकोटि के कलाभ्यास व सयम की अपेक्षा रखते हैं।

प्रसाद का अधिकाश काव्य छदोबद्ध और तुकात है। कितु 'कानन-कुसुम' केवल प्रथम प्रभात, मर्मकथा, निशीथ नदी, गगा सागर, भाव सागर, मिल जाओ गले, भरत, शिल्प सौंदर्य, वीर बालक, श्रीकृष्ण जयती नामक कविताए, 'करुणालय', 'प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व', 'झरना' (केवल प्रथम प्रभात, रूप, पावस प्रभात, अर्चना, स्वभाव, प्रत्याशा, स्वप्नलोक, दर्शन, मिलन) तथा लहर (केवल शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया) आदि कृतिया अतुकात या भिन्न-तुकात रचना की दृष्टि से भी विचारणीय है।

'कानन-कुसुम' की कविताए छंदोबद्ध व अतुकात या भिन्न-तुकात, दोनों ही प्रकार की

है। 'गीति नाट्य के ढग पर लिखा गया दृश्य नाट्य् 'करुणालय' तुकातविहीन मात्रिक छद मे है, जिसमे वाक्य की आवश्यकता के अनुसार पक्ति के अत में, या कही बीच मे भी, विराम-चिह्न दिया गया है। यह छद सस्कृत के कुलक, अग्रेजी के ब्लैक वर्स, बगला के अमित्राक्षर छद के ढग का है।[391] – "मात्रिक वृत्तो मे उसका प्रयोग तथा भावो और वाक्यो की—चरणों के बधन मे न पडकर—स्वतत्र गीत, आरभ और अवसान—प्रसाद जी की ही सृष्टि है। वृत्तो मे ऐसी स्वतत्रता पाकर भाषा मे एक विलक्षण प्रवाह और रस आ जाता है, जो बहुत ही आनददायक होता है। प्रस्तुत पुस्तक इसका प्रमाण है।" 'करुणालय' 21 मात्राओं वाले छद मे रचित है।[392] 'प्रेम-पथिक' छदोबद्ध भिन्न-तुकात रचना है जिसकी प्रत्येक पक्ति 30 मात्राओं की है। 'महाराणा का महत्त्व' भी एक भिन्न तुकात या तुकातविहीन रचना है जो वही 21 मात्राओं वाले छद मे है जो 'अरिल्ल'[393] कहा गया है। 'वर्ण-विन्यास का प्रवाह और श्रुति के अनुकूल गति' इस छद की विशेषता है।[394]

यद्यपि तुकातविहीन अधिकाश कविताए या रचनाए 21 मात्राओ वाले छद मे ही मिलती है, किंतु अन्य छदों का भी व्यवहार हुआ है। 'प्रेम-पथिक' मे 30 मात्राओं वाले[395] छद का प्रयोग हुआ है, यह ऊपर कहा जा चुका है। 'कानन-कुसुम' की 'निशीथ नदी' नामक कविता 24 मात्राओ की है, 'गगासागर' नामक कविता वर्णिक छद में है, तथा 'झरना' की 'मिलन' कविता 19 मात्राओ मे है। 'लहर' की अतिम तीन कविताए मुक्त छद मे व अतुकात है, पक्तियों की लबाई भाव के आरोह-अवरोह के अनुसार अपना आकार ग्रहण करती है। जहा 'प्रलय की छाया' मे 'रूप यह।' जैसी लघु पक्ति है, वहा 'सती के पवित्र आत्मगौरव की पुण्य गाथा' भी है।

मुक्त छद अथवा भिन्न तुकात या अतुकात कविताओं के सबध मे इतना जान लेने पर दो-तीन तथ्य सामने आते है—(1) प्रसाद परपरा से आगे बढकर हार्दिक भाव से नये-नये छदो का प्रयोग करने के भी पक्षपाती थे। उनक यह उत्साह, उनकी रचनाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि जीवनपर्यंत बना रहा ['कानन-कुसुम' (1912) से 'लहर' (1933) तक]। लगभग 21-22 वर्षों तक कवि का मुक्त छद मे या भिन्न तुकातता मे आस्था बनाये रहना यह व्यक्त करता है कि प्रसाद इस प्रकार की रचना की शक्ति व प्रभाव के प्रति जागरूक थे। दूसरी बात यह है कि हिंदी में 'निराला' को ही नही[396] प्रसाद को भी मुक्त छद के प्रवर्त्तन व प्रसार-प्रचार का यह श्रेय मिलना चाहिए। तीसरा यह कि अनुभूति पक्ष ही नही (प्रसाद अनुभूति को ही प्रमुखता देते हैं) कला-पक्ष के प्रति भी कवि प्रसाद आरभ से ही पर्याप्त जागरूक रहे।

प्रसाद द्वारा प्रयुक्त छदो का वैविध्य

प्रसाद की छद-चेतना सजग और व्यापक है। उन्होंने विविध स्रोतों से छद लेकर उनका अपने काव्य में समावेश किया है। यथा—

सस्कृत सस्कृत के वर्णवृत्त या छद वर्णों या मात्राओ की अपनी नियमित व्यवस्था से उत्पन्न स्वच्छता, सुषमा, गति और प्रभावशीलता के कारण अत्यत प्रसिद्ध है। अपने विकास के आरभिक युग में प्रसाद जी हिंदी के प्राचीन व नवीन मात्रिक छदों के साथ ही सस्कृत के वर्णवृत्तों के प्रति भी आकृष्ट दिखायी पडते है। द्रुतविलबित,[397] रूपमाला,[398] मालिनी,[399] वशस्थ,[400] तोटक,[401] मोतियदाम,[402] वसततिलका[403] आदि प्रसिद्ध वर्णवृत्तों का उन्होंने प्रयोग किया है। 'अयोध्या का उद्धार' (चित्राधार) नामक कविता में सस्कृत के प्रियम्वदा,

सुदरी व मालिनी तथा हिंदी के अनेक अन्य छदों का एक साथ व्यवहार हुआ है।

बगला बगला में प्रयुक्त छदो की ओर भी प्रसाद का ध्यान गया। हिंदी में बगला का 'पयार छद' बहुत पहले ही भारतेन्दु ने प्रयुक्त किया था। प्रसाद ने 'सध्या तारा,'[404] 'वर्षा में नदी कूल'[405] नामक कविताए क्रमश पयार व त्रिपदी छद मे लिखी है।[405] 'रसाल'[406] नामक कविता ('समीरन मद-मद चलि अनुकूल' की गति वाली) भी मभवत बगला के छदों से प्रेरित है।

अग्रेजी अग्रेजी की चतुर्दशपदिया बहुत प्रसिद्ध है। शेक्सपियर, वड्र्सवर्थ व कीट्स की कला 'सानेट' के माध्यम से अत्यत सफलतापूर्वक व्यक्त हुई है। प्रसाद ने इस ओर भी अपनी दृष्टि डाली और चतुर्दशपदियों के प्रयोग किये। 'रमणी हृदय'[407] 'खोलो द्वार'[408] व 'स्वभाव'[409] प्रसाद की प्रसिद्ध चतुर्दशपदिया है।

उर्दू उर्दू के छदों मे बडी रवानी व जीवतता होती है। हिंदी के छद-भडार को समृद्ध करने के लिए प्रसाद ने उर्दू छदों का भी प्रयोग किया। उन्होने 'गजल' की शैली पर 'भूल' नाम की कविता बहुत पहले लिखी।[410] प्रभो, मदिर, महाक्रीडा, सरोज, पतितपावन, मोहन आदि कविताए भी उर्दू के छंद-विधान से प्रेरित जान पडती है।[411]

हिंदी के प्राचीन छदो को भी प्रसाद ने प्रयुक्त किया है। दोहा,[412] सोरठा,[413] छप्पय,[414] सवैया,[415] कवित्त,[416] बरवै,[417] चौपाई,[418] अरिल्ल,[419] ताटक,[420] गीतिका,[421] हरिगीतिका,[422] ललित,[423] वीर,[424] रोला,[425] उल्लाला,[426] पद्धटिका, पद्धरि, प्रज्वलय, या मौलिक,[427] दिग्पाल,[428] ग्रथि,[429] लावनी या राधिका,[430] तोमर[431] आदि प्रसिद्ध छदों का व्यवहार अनेक रचनाओ में देखा जाता है।

प्रसाद का छद-चयन-कौशल

छद का चयन एक गहरे कवि-कौशल की अपेक्षा रखता है। छद काव्य-पुरुष की गति और चाल है। हमारी चाल प्राय हमारे आतरिक भावो की गति के अनुरूप ही होती है—शोक मे शिथिल, उल्लास में निश्चित व थिरकनमयी आदि। काव्य के छदो की गति का नियत्रण भी तद्गत भाव ही करते हैं। भाव की प्रकृति के अनुसार ही छद की गति सुस्निग्ध, गरिमामयी, सभ्रात, लद्धड, बोझीली, उन्मुक्त, हल्की या बेफिक्री से भरी, आदोलनमयी, तेज, फुर्तीली एव झटकेदार होती है।[432] छदो के रूप-निर्धारण में भाव की आतरिक पहचान की अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा भाव व गति में तालमेल न रहने से छद अपना प्रभाव खो बैठेगा। प्रसाद ने इस दिशा मे सुदर कल्पना व भावुकता का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ

1 *दिग्दाहों के धूम उठे या जलधर उठे क्षितिज तट के*
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झझा के चलते झटके।[433]

2 *कौन तुम ससृति जलनिधि तीर, तरगो से फेकी मणि एक,*
कर रहे निर्जन का चुपचाप, प्रभा की धारा से अभिषेक।[434]

3 *इस रजनी में कहा भटकती जाओगी तुम बोलो तो,*
बैठो आज अधिक चचल हू व्यथा गाठ निज खोलो तो।[435]

4 *समरस थे जड या चेतन, सुदर साकार बना था,*
चेतनता एक विलसी, आनद अखड घना था।[436]

5 *जलता है यह जीवन-पतग।*
जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल मे मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन-रग?[437]

6 *अरे कही देखा है तुमने?*
मुझे प्यार करने वाले को?
मेरी आखो मे आकर फिर
आसू बन ढरने वाले को?[438]

प्रथम उदाहरण मे छद की द्रुत गति प्रलयकालीन दृश्य की प्रचडता-भयावहता व फलक की विराटता को साकार कर देती है। महाप्राण ऊष्म वर्ण (ह, घ, क्ष, झ, भ, ध) 'र' कार, सयुक्ताक्षर (प्र, क्ष), परुष वर्ण (ट, ठ), पचम या अनुनासिक वर्ण (जैसे, 'प्रकपन', 'झझा' मे), अतिम दीर्घ वर्ण—ये सब मिलकर छद की गति को मूल भावानुरूप बना देते हैं। दूसरे उदाहरण में श्रद्धा का चरित्रगत धैर्य व गरिमा, छद की गति में भी एक शालीन गरिमा उत्पन्न कर रही है। चरणात का लघु वर्ण श्रद्धा की शात गरिमा को व्यक्त कर रहा है। तीसरे छद की सरल स्निग्ध पदावली चरणात के गुरु वर्णों से अन्वित होकर एक असहाय करुण विकलता व सहानुभूति के वातावरण का सृजन कर रही है। चौथे उदाहरण में अविकल व विश्रात आत्मा की स्वस्थता, निश्चितता व पूर्णता का छद की गति से ही आतर ध्वनन होता है। पाचवें छद में, इसके विपरीत, दीर्घ मात्रा वाली लघु-लघु पक्तिया शोकाकुल मन की उथल-पुथल व पश्चात्ताप की गाढी छाया को मूर्तिमान कर रही है। अतिम उदाहरण में दीर्घ वर्ण बहुला लबी पक्ति, अतिम गुरु वर्णो से युक्त हो प्यार की कातर स्वरमयी पुकार वाले असहाय याचक के नैराश्य व क्लाति को पूर्णतया प्रकट कर रही है। इसी प्रकार, अनेक स्थलो पर भावानुरूप छद-चयन का कौशल देखा जा सकता है।

अभिव्यजना के सूक्ष्म प्रसाधन

अभिव्यजना का अर्थ

सामान्यत· 'अभिव्यक्ति' सत्ता के बाह्य प्रकाशन की व्यापकतम सज्ञा है। साहित्य में यह व्यापकता भाषा, अलकार और छद, जिसे हम क्रमश काव्य की वेशभूषा, सज्जा-सामग्री और गति (चाल) कह सकते हैं, की समग्र सीमाओं को घेरे हुए है। इस प्रकरण के ऊपर के स्तभों के अतर्गत इनका वर्णन हो ही चुका है। किंतु इन उपकरणों के अतिरिक्त, पर इनसे घनिष्ठतम

रूप से सबद्ध, कुछ अन्य प्रसाधन-सामग्रिया (जैसे, ध्वनि, रीति-गुण-वक्रोक्ति आदि, जो काव्य-व्यक्ति की रीति-नीति, शील-सौजन्य, स्थिति आदि सूक्ष्म आत्मप्रकाशक तत्त्व हैं) और भी है जिन्हे हम 'अभिव्यजना' के अतर्गत रख सकते है। सामान्यत अभिव्यजना शब्द की व्युत्पत्ति, 'अभि' उपसर्गपूर्वक, 'व्यज्' धातु मे 'अनट्' प्रत्ययोपरात 'टाप्' के योग से है, परतु साहित्यिक दृष्टि से 'अभिव्यजना' शब्द 'अभि' ('किसी की ओर गमन' अर्थ का वाचक) तथा 'वि' ('विशेष' अर्थात् विशुद्ध या निर्मल अर्थ का वाचक) उपसर्गपूर्वक 'अजन' (नेत्र को निर्मल, स्वच्छ व ज्योतिवान् बनाने वाला द्रव्य-विशेष, और अजना—अर्थात् अजन करने की क्रिया या पद्धति) शब्द से बना हुआ जान पडता है, जिसका साहित्य के परिवेश मे यह अर्थ किया जा सकता है—वह प्रक्रिया या व्यापार-विशेष जिसके द्वारा कवि अथवा लेखक अपनी कला-कुशलता से अपनी विवक्षित या वर्णित वस्तु के प्रति पाठक या श्रोता के मनश्चक्षुओं को ध्वनि, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सामग्रियो के मेल से ऐसा निर्मल बना दे कि जिससे वर्णित पदार्थ अपनी पूर्ण कला में उनके समक्ष खिल उठे। तात्पर्य यह है कि जब तक अभिव्यजना के सूक्ष्म प्रसाधनो का कौशलपूर्वक प्रयोग न हो, तब तक वस्तु का मार्मिक व पूर्ण अत साक्षात्कार सभव नही है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अभिव्यजना साधन मात्र है, वास्तविक वस्तु तो मूल नेत्र-ज्योति या आत्म-ज्योति ही है, यदि वह बुझ गयी तो मनो अजन भी क्या कर लेगा।

'अभिव्यजना' के इस स्वरूप और सीमा से परिचित होकर अब हम अभिव्यजना के अवयवों की सक्षिप्त तात्त्विक विवेचना करते हुए प्रसाद-साहित्य में अभिव्यजना के सौदर्य पर दृष्टिपात करेंगे।

ध्वनि (लक्षणा सहित)

'रस' काव्य की आत्मा है। रस का कथन नही होता, वह ध्वनित होता है। तात्पर्य यह कि ध्वनि और रस—दोनों परस्पर पर्याय नही हैं। ध्वनि वस्तुत साधन है, प्रक्रिया है। ध्वनि के भेदो—रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि, अलत्कार ध्वनि—को देखने पर जान पडता है कि रस गौण है और ध्वनि प्रमुख। किंतु विचार करने पर रस ही तत्त्व ठहरता है, ध्वनि नही। आचार्य गुलाबरायजी ने ठीक ही कहा है कि "रस यदि काव्य की आत्मा है तो ध्वनि काव्य-शरीर को बल देने वाली प्राणशक्ति अवश्य है।"[439] आचार्य वाजपेयीजी ने 'निराला'-काव्य के विवेचन के प्रसग में आलोचकों को स्पष्ट शब्दों में सावधान किया है कि " प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ है, पर इस आग्रह को हम हद के बाहर लिए जा रहे है। नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह सभव नही कि वह परपरा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। यह ध्वनि और अभिधा काव्य-वस्तु के भेद नही हैं, केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद है। हमे प्रत्येक प्रणाली को प्रश्रय देना चाहिए न कि किसी एक को। व्यजना की प्रणाली में यदि कुछ विशेषता है तो यही कि उसमें काव्य को मूर्त्त आधार अधिक प्राप्त होता है। व्यजना के अतिशय से काव्य-चातुरी बढती है, जो प्रत्येक अवसर पर अभीष्ट नही कही जा सकती और सबसे बडी बात तो यह है कि ये अभिव्यक्ति की प्रणालिया मात्र है, जो काव्यवस्तु को देखते हुए छोटी चीज हैं।"[440] आचार्यजी ने ध्वनि के महत्त्व को युगोचित अनुपातों में अवस्थित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है, स्पष्ट ही गद्य,

विज्ञान और चितन के युग में सब साहित्यिक कर्म ध्वनि की शैली से सभव नही। ध्वनि के प्रति अत्यधिक आग्रह रस के निर्विवाद महत्त्व का भी अनावश्यक अपकर्ष करता है, अत रस के सदर्भ में ध्वनि की मर्यादाए बाधना आवश्यक है। प्रसाद जी भी अभिनवगुप्त के साक्ष्य पर ध्वनि की अपेक्षा रस को ही अधिक महत्त्व देते हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही रस को सर्वोपरि स्थान दिया है।[441] डॉ नगेन्द्र भी ध्वनि की अपेक्षा रस को ही स्पष्टत ऊची वस्तु मानते है।[442] इस प्रकार, सैद्धातिक विवेचना में ध्वनि का अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु वह रस का पर्याय कदापि नही है, जो प्राय भ्रमवश समझ लिया जाता है। सामयिक परिस्थितियों मे ध्वनि-सिद्धात का मूल्य, ध्वनि की स्वाभाविक सीमाओ के साथ आज नवीन ढग से समझने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो साहित्य के विकास की दृष्टि से एक स्वस्थ लक्षण है।[443]

ध्वनि के दो भेद है—अभिधामूला ध्वनि और लक्षणामूला ध्वनि। आगे, अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—असलक्ष्य क्रमव्यग्य ध्वनि और सलक्ष्य क्रमव्यग्य ध्वनि। भाव और रस में पहली ध्वनि होती है और वस्तु तथा अलकार में दूसरी। लक्षणामूला ध्वनि के भी दो भेद है—अर्थातर सक्रमितवाच्य ध्वनि और अत्यत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि। अर्थांतर सक्रमितवाच्य ध्वनि का आधार उपादान लक्षणा, (जिसमे लक्ष्यार्थ अपने मुख्यार्थ का साथ नही छोडता—अजहत् स्वार्थालक्षणा) और अत्यत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का आधार लक्षण-लक्षणा (जिसमें लक्ष्यार्थ अपने मुख्यार्थ का साथ छोड देता है, इतना ही नही विपरीत अर्थ भी देने लगता है—जहत्स्वार्था लक्षणा) या विपरीत लक्षणा है। आगे, गूढ और अगूढ ध्वनि के अतर्गत ध्वनि के विषय में और विस्तृत प्रपच मिलता है। ध्वनि का विस्तार वर्ण से लेकर प्रबध तक व्याप्त रहता है।

ध्वनि के साथ लक्षणा का घनिष्ठ सबध है और छायावाद की लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता भी प्रसिद्ध है। अत विषय-पूर्णता की दृष्टि से, लक्षणा पर भी स्वतत्र व सक्षिप्त विचार उपादेय होगा।

प्रतिभावान् कवि जीवन के स्थूल या सतही रूपो, व्यापारो व परिस्थियों के आवरण को भेदकर मानव-मन व जीवन के सूक्ष्म सत्यों में प्रविष्ट हो अपनी वास्तविक भावुकता व क्रातदर्शिता को प्रकट करता है। उसे चराचर के साथ अपना व्यक्तिगत जीवत सबध स्थापित करना पडता है। चेतन से तो चेतन का-सा व्यवहार करने से विशेषता ही क्या? वह तो कल्पना के बल से जड से भी चेतनवत् व्यवहार करता है और सूक्ष्म भावो और स्थितियों का भी इस प्रकार साक्षात्कार करता है मानो प्रत्यक्ष वास्तविक जीवन में ही व्यवहार हो रहा हो। यह सब कार्य सूक्ष्म कल्पना की अलौकिक शक्ति के द्वारा सपन्न होता है। मानवीकरण और प्रकृति पर चेतना के आरोप की आधुनिक छायावादी कला 'लक्षणा' के अतर्गत ही है।

लक्षणा का क्षेत्र कल्पना और मानवीकरण का क्षेत्र है जो अत्यत विशाल है। लक्षणा का लक्षण ही है मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सबध और रूढि अथवा प्रयोजन। इससे यह स्पष्ट है कि कवि स्थूल सत्यों या तथ्यों से परे जाकर, किंतु यथार्थ से बिल्कुल सबध न तोडकर जब किसी गूढ तथ्य को व्यजित करता है तभी उसके वास्तविक साहित्यकार का रूप प्रकट होता है। कविता ही नही (अवश्य ही भावना-कल्पना-प्रधान विधा कविता में ही लक्षणा के लिए निस्सीम क्षेत्र है) सृजनात्मक साहित्य के प्राय· सभी रूपो मे तथ्य-कथन से हटकर लक्षणा और ध्वनि के द्वारा ही कोई जीवत व सूक्ष्म सत्य उद्घाटित किया जा सकता

है। इस प्रकार लक्षणा का महत्त्व अत्यधिक है। काव्य मे ध्वनि या व्यग्य ही चमत्कार होता है। लक्षणा और ध्वनि की पद्धति ही साहित्य की अपनी निजी पद्धति है।

साहित्य-शास्त्र में लक्षणा और ध्वनि का अत्यत सूक्ष्म व जटिल प्रपच मिलता है जिसका स्थान-सकोच के कारण, स्पर्श करना भी यहा असगत है। फिर, प्रसाद-साहित्य मे इन साहित्य-उपकरणों का सौदर्य प्राय सर्वत्र परिव्याप्त है और विद्वानों ने उस पर पर्याप्त विचार कर ही लिया है, अत केवल विषय-विवेचन-शृखला के निर्वाहमात्र के लिए ही हम यहा प्रस्तुत विषय पर विचार करेगे।

शब्द की शक्तियो में 'लक्षणा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दण्डी द्वारा निर्दिष्ट गुणो में 'समाधि' गुण शब्द की लक्षणा शक्ति ही है। जहा मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सबध, मुख्यार्थ का बाध तथा रूढि या प्रयोजन—इन तीनो से मिलकर कारण-समूह विद्यमान हो वहा लक्षणा होती है। दण्डी ने 'समाधि' गुण की स्थिति वहा मानी है जहा लोकसीमानुरोध (लोक-सीमा में ही रहते हुए, लोक का अतिक्रमण करते हुए नहीं) से एक वस्तु का धर्म अन्यत्र पूर्ण रूप से स्थापित हो।[444] उपचार से (जो अलकारो मे रूपक है) या सादृश्य सबध से लक्षणा गौणी और सादृश्य सबध के बिना किंतु अन्य सबधो की उपस्थिति से (जैसे तादर्थ्य, सामीप्य, धार्य-धारक, अगागिभाव) लक्षणा 'शुद्धा' कहलाती है।

दण्डी ने लक्षणा में निहित शक्ति का प्रसार व गाभीर्य दिखलाते हुए ही कदाचित् 'समाधि' गुण 'काव्यसर्वस्व' कहा है।[445] दण्डी के पहले भामह ने और बाद मे वामन ने (जिन्होने लक्षणा को 'वक्रोक्ति' नामक अलकार माना है—'सादृश्या लक्षणा' वक्रोक्तिं।) लक्षणा की शक्ति को स्वीकार किया था।[446]

लक्षणा शक्ति लक्ष्यार्थ का बोध कराकर विरत हो जाती है, पर 'प्रयोजनवती लक्षणा' मे लक्ष्यार्थ द्वारा जो प्रयोजन-रूप व्यग्यार्थ होता है वह लक्षणा शक्ति से प्राप्त न होकर व्यजना शक्ति से ही प्राप्त होता है।[447] व्यग्यार्थ के बिना प्रयोजनवती लक्षणा हो ही नही सकती। तात्पर्य यह है कि रस-प्राप्ति के लिए लक्षणा ही पर्याप्त नही है, लक्षणा से तो लक्ष्यार्थ मात्र प्राप्त होता है, लक्ष्यार्थ में प्रयोजन रूप जो व्यग्यार्थ होता है वह व्यजना शक्ति से ही प्राप्त हो सकता है। पर इससे लक्षणा का महत्त्व कम नही होता। यों, अभिधामूलक व्यजना मे लक्षणा शक्ति या लक्ष्यार्थ की आवश्यकता होती भी नही।

प्रयोजनवती लक्षणा के भेदों मे से गौणी लक्षणा मे तो सादृश्य सबध होता है, किंतु शुद्धा मे यह सादृश्य सबध नही होता। जान पडता है, दण्डी ने 'समाधि' गुण पर विचार करते हुए, शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा तक अपना विचार नही दौड़ाया था, रूपक अलकार को अपनी योजना मे 'समाधि' गुण में समाविष्ट कर दिया था। साध्यवसाना लक्षणा (रूपकातिशयोक्ति) तक भी, जहा आरोप्यमाण (उपमान) का ही कथन होता है, आरोप के विषय का नही, दण्डी की दृष्टि नही गयी। लक्षणा का यह विस्तार तो आगे मम्मट में ही दिखायी पडा।

लक्षणा के मूल दो भेदों—रूढि और प्रयोजनवती—में से प्रयोजनवती ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही लक्षणा उस गूढतर व्यग्य की उत्पादिका है जो सहृदयों को कल्पना से उत्तेजित व रस-मग्न कर देती है। पर कोरी प्रयोजनवती लक्षणा ही हृदय के गूढतर स्तरो को नि:शेष रूप से प्रभावित करने की क्षमता नहीं रखती, प्रयोजन में से आगे उत्तरोत्तर सबध से और भी एक या अनेक गूढतर व्यग्य या व्यंग्य-शृखला झकृत होती चलती है, वही ध्वनि

का सर्वोच्च सौंदर्य प्रकट होता है। इसीलिए आचार्यों ने निर्भ्रात रूप से ध्वनि को स्वतत्र काव्य-तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो प्रमुख भेद हैं—'गौणी' और 'शुद्धा'। जहा मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सबध का आधार सादृश्य (गुण) होता है वहा 'गौणी', और जहा सादृश्य के अतिरिक्त कोई अन्य सबध हो वहा शुद्धा लक्षणा होती है।

लक्षणा का एक दूसरा विभाजन है—उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा, जो मुख्यार्थ के बनाये रखने अथवा छोडे देने पर निर्भर करता है। 'उपादान लक्षणा' मे मुख्यार्थ बना रहता है और अपनी सिद्धि के लिए सबधित वस्तुओ को भी साथ ले आता है। इस लक्षणा को अजहत्स्वार्था (जिसने अपना अर्थ नही त्यागा है) भी कहते है। इस लक्षणा में भी कोई प्रयोजन रहता है। 'लक्षण-लक्षणा', 'जहत्स्वार्था' (जिसने अपना अर्थ छोड दिया है) कहलाती है क्योकि इसमें मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ की सिद्धि के लिए अपना अर्थ छोड देता है—अपने को समर्पित कर देता है—और कभी-कभी अर्थ (मुख्यार्थ या अभिधार्थ का) बिल्कुल पलट भी जाता है, विपरीत हो जाता है। प्रयोजन इस लक्षणा मे भी रहता है।

लक्षणा का एक और प्रकार-भेद उपमेय-उपमान के बीच आरोप के रहने और न रहने पर निर्भर करता है, और वह है—सारोपा व साध्यवसाना। 'मुख कमल है'—यह लक्षणा है, क्योकि मुख कमल नही हो सकता। इसमें मुख्यार्थ का बाध है, मुख और कमल के बीच सबध भी है, और इस कथन में मुख की कोमलता को व्यजित करना प्रयोजन है। इस लक्षणा में उपमान (कमल) का मुख पर स्पष्ट आरोप किया गया है, अत यह सारोपा लक्षणा है। किंतु इस उपमेय का कथन न करके मुख के लिए केवल इतना ही कथन हो कि 'कमल है।' तो यह साध्यवसाना लक्षणा हुई। इस लक्षणा में कवि-कथन में लाघव, पाठक में कल्पना की तीव्रता, सजगता तथा परपरागत उपमानों का ज्ञान अभीष्ट होता है, उपमान के उल्लेख मात्र के द्वारा उपमेय के गुण का कलात्मक ध्वनन हो जाता है। लक्षणा प्रकरण की 'सारोपा' व 'साध्यवसाना' लक्षणा, अलकार प्रकरण में क्रमश रूपक व रूपकातिशयोक्ति अलकार कहलाते हैं। दोनों लक्षणाओं में भी प्रयोजन गर्भित रहते हैं।

(ग) अलकार पर पहले विचार हो चुका है अत यहा पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

रीति और गुण

'विशिष्ट पदरचना रीति।' (वामन)—अर्थात्, विशिष्ट पद-रचना ही रीति है। वृत्ति, प्रवृत्ति, गुण, रीति आदि काव्य-सामग्री का इतिहास भरत से लेकर राजशेखर, विश्वनाथ और जगन्नाथ तक चलता है और परस्पर इतना अन्योन्याश्रित व गुफित है कि उसका पल्लवन भी यहा अनुपयुक्त है। हमें तो प्रसाद की पद-रचना पर विचार करना है। पद-रचना का कार्य प्राय दो दृष्टियों से देखा गया है—(1) रस और गुण के विचार से असपृक्त केवल स्थूल विनोद या नाद-सौंदर्य मात्र के लिए की गयी पद-रचना, और (2) रस के धर्म-रूप गुणो—प्रसाद, ओज व माधुर्य—से अनुप्राणित पद-रचना। वामन ने जहां काव्य की अवयवस्थानीय रीतियों को ही काव्य की आत्मा कह दिया, वहां उन्होंने 'विशेषोगुणात्मा' भी कहा, जिससे रीतियों को रस के धर्म गुणों से जोडकर देखने में सहायता मिली। यों, केवल रीति-मात्र को काव्य की आत्मा कहना उचित नहीं कहा जा सकता।

पहले के आचार्य देश या प्रात-भेद से शैलियों का विभाजन (वैदर्भी, गौडी आदि) करके प्रातो की विविध जातीय रुचियों को पद के स्वरूप (समास—बहुल, सरल आदि) का आधार बना बैठे थे, और इस दृष्टि से गौडी को निकृष्टतम और वैदर्भी को उत्कृष्टतम रीति मान बैठे थे। पर यह दृष्टि मूलत भ्रात थी, क्योकि काव्य मे भावावेग की आवश्यकता के अनुसार सभी रीतियो की आवश्यकता होती है, किसी एक विशेष स्वरूपवाली रीति की ही नही। भामह ने इस दृष्टि से स्वच्छ चितन का मार्ग खोला और कहा कि वैदर्भ, गौडीय आदि मार्गों को सकीर्ण दृष्टि से सर्वथा अलग-अलग या स्वतत्र न मानकर हमे "काव्य के वास्तविक गुणो की ही खोज करनी चाहिए।" अलकारवत्ता, अग्राम्यत्व, अर्थत्व, न्याय्यत्व, अनाकुलत्व आदि बातें ही काव्य को सत्काव्य बनाती हैं, रीति मात्र का स्थूल विन्यास मात्र नही।[448] इस प्रकार एकागी दृष्टि का परिहार कर स्वतत्रचेता भामह ने नये ढग से रीति-विचारणा का प्रवर्त्तन किया।

भामह ने कोमलता, प्रसन्नत्व, श्रुतिपेशलत्व आदि गुणो को वैदर्भी रीति से सबद्ध करके शैली मे अर्थ पोष, वक्रोक्ति, अर्थत्व, न्यायत्व तथा अनाकुलत्व को काव्य का प्रधान साधन बताया है और इन साधनों का क्षेत्र गुण की परिमित सीमा से कही अधिक बढकर है, यह निर्दिष्ट किया है।[449]

आचार्य दण्डी ने अलकार को प्रचलित सीमित अर्थ से निकालकर काव्य के समस्त शोभावर्द्धक या शोभाकर धर्म को ही अलकार कहा।[450] प्रत्येक व्यक्ति की शैली भिन्न होती है और उनका सूक्ष्म अतर गन्ना, दूध, गुड के मिठास के सूक्ष्म अतर के समान भिन्न होता है।[451] दण्डी ने वैदर्भ मार्ग की सर्वोत्कृष्टता बताते हुए उसके दस गुण—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, काति, समाधि—निर्धारित किये, जो वस्तुत भरत ने काव्य मात्र के सामान्य गुण माने थे। जो हो, दण्डी ने रीति को गुणो से सयुक्त करके भामह की रीति के अतरग तत्त्व-विषयक मूल कल्पना को अधिक स्पष्टता और विशदता प्रदान की और रीति को गुण ही नही, अलकार और रस से भी जोडा।

दण्डी की दृष्टि मे पदों मे महाप्राण वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न गाढ बधता हो, पद-विन्यास में केवल कोमल व अल्पप्राण अक्षरों के प्रयोग से उत्पन्न शैथिल्य न हो, पद प्रसाद गुणयुक्त हो व स्फुटबध मृदुबध की अपेक्षा मध्यम बध (केवल अल्पप्राण व केवल महाप्राण वर्णों को बचाकर दोनों का सुष्ठु मिश्रण) द्वारा पद-प्रयोग में 'समता' हो, शब्द-माधुर्य व अर्थ-माधुर्य का उचित मिश्रण हो, कोमल और परुष वर्णों के मिश्रण से 'सौकुमार्य' गुण हो, पदावली विवक्षित अर्थ के सर्वथा उपयुक्त हो—न अधिक, न न्यून, श्लाघनीय विशेषणों के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न करके 'औदार्य' गुण की सृष्टि हो, समासयुक्त पदों के प्रयोग से ओज उत्पन्न किया जाये, पद-रचना इस प्रकार की जाये कि लौकिक अर्थ का अतिक्रमण न हो। अस्वाभाविक अत्युक्तियों को बचाकर सत्य की रक्षा की जाये। यही 'काति' गुण है। उपचार और लक्षणा के प्रयोग द्वारा वक्रोक्तिपूर्वक एक तडप या चमत्कार उत्पन्न करके अर्थों को रुचिकर बनाना जाये। यही 'ममाधि' गुण है।

इस प्रकार दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के गुणो के विवेचन के व्याज से एक प्रकार से सब काव्य-गुणो को प्रस्तुत कर दिया है। इसमें सदेह नही कि इस दृष्टि से दण्डी की पद-रचना स्थूल पद-रचना मात्र न होकर गुण (जो रस के धर्म हैं)—प्रेरित होने से काव्य की आत्मा या अतरग की ही साधिका है।

प्रसाद जी अपने प्रिय आनंदवाद के आधार पर भारतीय साहित्य और समालोचना का विश्लेषण करते हुए रीति-सिद्धांत के प्रति कोई विशेष आकर्षण नहीं दिखाते। वे लिखते हैं कि अलंकार मत जिसमें रीति और वक्रोक्ति का भी समावेश था, प्राचीन रसवाद के विरोध में खड़े हुए थे।[452] स्वभावतः रसवादी और ध्वनिवादी कवि और आचार्य प्रसाद जी स्थूल रीति के उपासक नहीं हैं। दण्डी ने जिन विशिष्ट काव्य-गुणों का उल्लेख किया है वे सब नवीन रुचियों के अनुरूप, प्रायः सर्वत्र देखे जा सकते हैं। प्राचीनों के दस गुणों को आचार्य मम्मट ने केवल तीन गुणों—'प्रसाद', 'ओज' और 'माधुर्य' में समाविष्ट कर लिया। 'प्रसाद' गुण संभवतः कुछ कम हो, पर 'ओज' और 'माधुर्य' से उनका काव्य परिपूर्ण है।

भारतीय रीति-सिद्धांत की परीक्षा करते हुए डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं—"रीति-सिद्धांत भारतीय काव्य शास्त्र में अंततः मान्य नहीं हुआ···अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। देह को महत्त्व देना तो आवश्यक है, परंतु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार ही मान लेना प्रवंचना है।[453] रस को शैली का अंग मानने और काव्य के बीस गुणों में से एक गुण 'कांति' (और वह भी गौड़ीया का है) में ही रस की सत्ता मानना उचित नहीं।"[454]

सब काव्य-सिद्धांतों का 'ध्वनि' में समाहार करनेवाले आनंदवर्धन ने रीतिवादी वामन आदि आचार्यों को काव्य-तत्त्व (ध्वनि) की व्याख्या कर सकने में असमर्थ ही बताया।[455]

वक्रोक्ति

'वक्रोक्ति' को दो सीमाएं हैं—एक ओर तो वह एक सामान्य शब्दालंकार मात्र है और दूसरी ओर वह आचार्य कुन्तक द्वारा काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित एक व्यापकतम (वस्तु और कला, दोनों को लिये हुए व रस में बद्धमूल) काव्य-सिद्धांत है जिसका साम्राज्य वर्ण-चमत्कार से प्रबंध-कल्पना तक परिव्याप्त है—"वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।" आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय और डॉ. नगेन्द्र ने वक्रोक्ति-सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक की सूक्ष्म मनीषा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं—"भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य काव्य-सिद्धांत का नहीं है और काव्य कला का इतना व्यापक और गहन विवेचन तो ध्वनि-सिद्धांत के अंतर्गत भी नहीं हुआ। वास्तव में कार्य के वस्तुगत सौंदर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण केवल हमारे काव्यशास्त्र में ही नहीं, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी सर्वथा दुर्लभ है।"[456]

वक्रोक्ति-सिद्धांत रस के शासन में कला की समृद्धि का सिद्धांत है। यह सिद्धांत कवि-निष्ठ कल्पना पर आधारित है; ध्वनि-सिद्धांत की तरह सहृदय-निष्ठ नहीं है।[457] कुन्तक की वक्रोक्ति रस और अनुभूति से ही अपना प्राण-रस ग्रहण करती है। पर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने में कुन्तक को सफलता प्राप्त नहीं हुई। कारण स्पष्ट है—वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है यह सत्य है, परंतु वह उसका जीवित या प्राण-तत्त्व है यह सत्य नहीं है।[458] साथ ही, पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद अनुभूति से कटकर जितना स्वच्छंद व आत्म-पर्यवसित रहने का आग्रही है, वैसा कुन्तक का वक्रोक्तिवाद नहीं। कुन्तक की वक्रोक्ति स्थूल चमत्कार उत्पन्न करनेवाली वाक्चातुरी मात्र नहीं; वह भाव-प्रेरित

वचनवक्रता है, जिसका आग्रह आचार्य शुक्ल रखते है।[459] सूरदास का 'भ्रमरगीत' उनकी दृष्टि मे रस-प्रेरित वक्रोक्ति काव्य है।

वक्रोक्ति का तत्त्व प्रसाद-साहित्य मे (और छायावादी काव्य मे भी) किस रूप मे और कितना समाविष्ट है इसका अनुमान इसी से लग सकता है कि प्रसाद ने छायावादी काव्य के नवीन आतर सौदर्य की मार्मिकता की प्रतिष्ठा कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के ही आलोक मे की है।[460] प्रसाद छायावाद का प्राण उसी वक्रता मे मानते है जिसकी गहन समीक्षा कुन्तक ने की है।

इस प्रकार हम वक्रोक्ति को प्रसाद-साहित्य मे सर्वत्र देख सकते है। वर्ण, पद, वाक्य, विषय, प्रकरण व प्रबध मे जहा-जहा भी काव्य-सौदर्य है, वहा वक्रोक्ति का ही सौदर्य है। साहित्य वस्तुत वक्रोक्ति ही है, क्योकि सीधा-सीधा तथ्य-कथन या इतिवृत्त-निवेदन मात्र तो साहित्य नही होता। इतना होने पर भी अतत यह वक्रता साधन या माध्यम ही है, साध्य कदापि नही। प्रसाद ने वक्रोक्ति को साधन या माध्यम रूप मे ही स्वीकार किया है, साध्य तो रस या अनुभूति ही है।

औचित्य

आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य सप्रदाय' की प्रतिष्ठा करके साहित्य मे 'औचित्य' की सार्वत्रिक महिमा को सूचित किया है। कला मूलत कृत्रिम है, उसका सौदर्य इसी मे है कि वह कृत्रिम होते हुए भी स्वाभाविक या जीवनोपम (Lıfe lıke) जान पडे। साहित्य के सब उपकरणो को विवेकपूर्वक, महत्त्व और औचित्य के क्रम से, अवस्थित करने मे ही कला का वास्तविक सौदर्य फूटता है—अधी भावुकता से, विशृखलित रूप मे उन उपकरणो का, बलवती या उद्दाम प्रेरणा के नाम पर ढेर लगा देने मात्र से, स्वत- कला का रूप नही उभर आता। कला-निर्माण में यही औचित्य का महत्त्व है। क्षेमेन्द्र ने वर्णौचित्य से लेकर प्रबधौचित्य तक औचित्य का विस्तार दिखाकर इसे रससिद्ध 'काव्य का जीवन' बताया है—'औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।"

वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य, सभी सप्रदायो मे वस्तुत यह अनुपात और व्यवस्था का ही सौदर्य है जो कला को उसका वास्तविक लक्षण व स्वरूप प्रदान करता है।

उचित क्या है और अनुचित क्या है ?—इसके नियम परपरा, व्यवहार और रीति-नीति से जाने जाते है और प्रस्तुत परिस्थिति के बीच सामयिक या तात्कालिक विवेक भी इसका निर्णय करता है। एक समय की अनुचित बात दूसरे समय पर उचित, और एक समय की उचित बात दूसरे समय अनुचित हो सकती है। अत औचित्य का अतिम निर्णय तो स्थान, व्यक्ति व परिस्थिति-भेद से ही हो सकता है। हम पूर्णत शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही आज सभवत औचित्य-अनौचित्य का निर्णय नही कर सकेंगे। आज जीवन-मूल्य, साहित्य-मूल्य व दार्शनिक दृष्टियो मे बहुत परिर्तन आ चुका है। फिर भी जीवत काव्य में औचित्य-अनौचित्य सबधी अनेक विधान आज भी स्वीकार्य होगे।

प्रसाद ने अपने सद्‌विवेक के आधार पर अपने साहित्य में देशकालोचित अनेक परिवर्तन करके और श्रेष्ठ साहित्यिक परपराओ को सुरक्षित रखकर अपनी औचित्य भावना का पूरा परिचय दिया है। वर्ण, शब्द, वाक्य, साहित्य-रूप, विचार, चित्रण, वस्तु-चयन आदि सभी क्षेत्रों में अपने औचित्य-विवेक का प्रदर्शन किया है।

प्रसाद का औचित्य-विषयक विवेक किस कोटि और प्रकार का है यह प्रस्तुत प्रबध के प्रत्येक प्रकरण मे निरूपित गुणो व विशेषताओ तथा अभावो-असगतियों के बीच से देखा जा सकता है। वस्तुत किसी भी वस्तु को अनुचित बताने के लिए उसे विविध दृष्टियो व जीवन-मूल्यो की तुला पर राई-रत्ती तोले बिना निर्णय का सतोषजनक आधार नही मिलता। सामान्यत यहा इतना ही कहा जा सकता है कि प्रसाद ने साहित्यिक औचित्य-भावना के साथ अपना साहित्य-कर्म किया है। यो, सहृदय पाठक के मन पर जहा भी ठेस या आघात लगता है, वही अनौचित्य देखा जा सकता है। औचित्य-सिद्धात—वस्तु और कला पर, सर्वत्र अपना शासन रखता है।

अभिव्यजना का सामूहिक सौदर्य

प्रसाद-साहित्य मे ध्वनि, अलकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति और औचित्य के तत्त्वो की नियोजना पर अब सामूहिक दृष्टि से कुछ कहा जा सकता है। प्रसाद-साहित्य मे, विशेषत काव्य मे, ये सभी तत्त्व यथावश्यक रूप मे सर्वत्र विद्यमान है। ध्वनि मे रस-ध्वनि, अलकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि—सब ध्वनि-भेदो का प्रयोग देखा जा सकता है। कविता और कहानी मे ध्वनि का उपयोग विशेष रूप से हुआ है। अलकारो के प्रयोग मे प्रसाद ने एक ओर तो अलकार-भक्त केशव और दूसरी ओर शुद्ध यथार्थवादी दोनो के अतिवादों को बचाते हुए मध्यमार्ग ही ग्रहण किया है। प्रसाद का रीति-प्रयोग विशिष्ट काव्य-गुणो पर ही आश्रित होकर रसानुकूल रहा है, रीति के प्रति अस्वाभाविक व अनुचित व्यामोह प्रौढ या उत्तरकालीन कृतियों में नही दिखायी पडता। वक्रोक्ति के प्रति प्रसाद का गहरा आकर्षण है पर यह वक्रोक्ति सर्वत्र रसाश्रित है, कही भी स्थूल व भद्दा उक्ति-वैचित्र्य ('विशाख' जैसी कृतियो को छोडकर) प्राय नही दिखायी पडता। वस्तुत साहित्य उक्ति की वक्रता ही है, सीधा कथन साहित्य नही। अत प्रसाद साहित्य का समस्त श्रेष्ठ अश वक्रोक्ति ही है। उपर्युक्त निर्दिष्ट सब तत्त्वो का यथास्थान सयोजन ही साहित्य में 'औचित्य' कहलाता है। प्रसाद ने परपरा, लोकव्यवहार, प्रसग व साहित्यिक विवेक का ध्यान रखते हुए अपना औचित्य-प्रेम प्रदर्शित किया है।

अभिव्यजना के सभी तत्त्वो का सुंदर समायोजन निम्नलिखित उद्धरणों मे देखा जा सकता है

1 *कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की*
हुई एकत्र इस मेरी अगलतिका में
पलके मदिर भार से थी झुकी पडती।
नन्दन की शत-शत दिव्यकुसुम-कुन्तला
अप्सराएँ मानो वे सुगन्ध की पुतलियाँ
आ-आकर चूम रही अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वय ही मुसकान खिल पडती।
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से।
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त व्यापी सन्ध्या-सगीत को।

—लहर · प्रलय की छाया

2 *बहती थी धीरे-धीरे सरिता*
उस मधु यामिनी मे।
मदकल मलय पवन ले ले फूलों से
मधुर मरन्द-बिन्दु उसमे मिलाता था।
चाँदनी के अचल में।
हरा-भार पुलिन अलस नीद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य-सी परखने को मुझको
तारकाएँ झाँकती थी।
शत शतदलो की
मुद्रित मधुर गध भीनी-भीनी रोम मे
बहाती लावण्य-धारा।

—लहर प्रलय की छाया

3 *देवकामिनी के नयनों से, जहाँ नील नयनो की सृष्टि—*
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।

—कामायनी चिंता सर्ग

4 *दिग्दाहो से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के।*
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झझा के चलते झटके।

—कामायनी चिंता सर्ग

5 *सबल तरगाघातों से उस क्रुद्ध सिधु के, विचलित सी*
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकसित सी।

—कामायनी चिंता सर्ग

6 *दुर्बलता इस अस्थिमास की—*
ठोक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का—खण्ड के निकष पर कस कर।

7 *चूर्ण अस्थि पुज सा हँसेगा अट्टहास कौन ?*
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि सी उडेगी किस दृप्त फूत्कार से।

—लहर पेशोला की प्रतिध्वनि

उपर्युक्त उद्धरणों में से आरभिक दो में अनेक रमणीय लक्षणाओ का कौशलपूर्ण विधान हुआ है। कमनीयता का अगलतिका में एकत्र होना, सुगध की पुतलियो का अरुण अधर चूमना, अतरिक्ष की अरुणिमा का सध्यासगीत पीना, तारिकाओं का झाकना—सब लक्षणाओं के उदाहरण है, क्योकि इन उक्तियों में मुख्यार्थ का बाध है, लक्ष्यार्थ और अभिधार्थ के बीच सबध बना हुआ है और कमला के अनिंद्य रूप-सौंदर्य को ध्वनित करना प्रयोजन है। व्यतिरेक अलकार की ध्वनिया स्पष्ट ही हैं। उदाहरण सख्या 5 व 7 में गौणी लक्षणाओं का विधान हुआ है। शृगार व वीरता के उपयुक्त पदों का सुष्ठु विन्यास करके कवि ने रीतिपूर्ण

रचना मे कुशलता का परिचय दिया है। अल्पप्राण और महाप्राण वर्णो का रसानुकूल प्रयोग करके गाढबध और मध्यबध पदो का सुदर विधान हुआ है। ओज और माधुर्य गुण यथास्थान सयोजित हुए है। प्रसाद गुण की आवश्यकता तो सर्वत्र ही अनिवार्य मानी जाती है—'ओज' मे भी और 'माधुर्य' मे भी। भाषा सुसस्कृत व लालित्यपूर्ण होते हुए प्रसादगुणमयी है। वक्रोक्ति तो प्राय सर्वत्र ही है, क्योकि जहा-जहा भी हमारी आतर जडता इन उक्तियो का आनद लेकर द्रवित व तरलित होती है, वहा-वहा अभिव्यक्तिगत वक्रता का ही परिणाम है। सब उपकरणो का विन्यास औचित्यपूर्ण है, इसीलिए हमें इन उक्तियो के द्वारा आनद का अनुभव होता है। मानवीकरण की छायावादी कला का सब सौंदर्य लक्षणाओ के उदाहरणों मे देखा जा सकता है। 'लहर', 'आसू' व कामायनी में प्रसाद का अभिव्यक्ति पक्ष अपने पूर्ण विकास को प्राप्त दिखायी पडता है। आचार्य विनयमोहन शर्मा की, 'आँसू' के सबध में धारणा है कि "युग की काव्य-प्रवृत्ति की उसमे ठीक-ठीक व्यजना हुई है। उनकी दृष्टि मे, "यदि 'आसू' का प्रादुर्भाव न होता तो छायावाद की भूमि अनिर्दिष्ट रह जाती और अतर्भावनाओ की, जो यौवन को झकझोरा करती है, अभिव्यक्ति साकार न हो पाती।"[461] प्रसाद के कला पक्ष की प्रौढता का इस कथन द्वारा सहज ही अनुमान हो सकता है।

प्रसाद-साहित्य के विविध 'रूपों' मे कला और प्रसाद की प्रगीत कला

साहित्य के प्रमुख-प्रमुख भेद है—बोधात्मक या सूचनात्मक साहित्य (Informatıve Lıterature or Lıterature of knowledge) अर्थात् वाङ्मय, और ललित साहित्य या शक्ति का साहित्य (Creatıve Lıterature or Lıterature of power)। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी निबध आदि ललित साहित्य या शक्ति-साहित्य के भेद है। अत लालित्य और शक्ति या प्रेरणा इन सब भेदों का सामान्य लक्षण है, अवश्य ही विधा-भेद से इन लक्षणों या तत्त्वों के समावेश का अनुपात परिवर्तित होता रहता है। गीत या कविता में ये तत्त्व सर्वाधिक रहते है और निबध आदि में न्यूनतम।

जहा तक विविध साहित्य-रूपो के बाह्य रूप या स्थापत्य का प्रश्न है, उस पर विस्तृत विचार रूप-विषयक प्रकरण में हो ही चुका है। प्रसाद-साहित्य के सभी रूपों में कला के लालित्य या प्रेरणा के उपकरण, गद्य और पद्य की विभिन्न विधाओं में महत्त्व के अनुपात से, सन्निविष्ट मिलेंगे, जिनका विश्लेषण-व्याख्यान भी इस प्रबध के प्रस्तुत प्रकरण तथा रूप व कल्पना-विषयक अन्य प्रकरणों में किया जा चुका है। अत तदतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण कथ्य हमारे पास न होने से यहा अब कुछ सामान्य चर्चा ही पर्याप्त होगी। कला का मूल गुण आनददायकता है। यह आनददायकता प्राचीन काल में काव्य और नाटकों में भरपूर मात्रा में रहती थी, किंतु विज्ञान और गद्य के युग में सामान्यत रसात्मकता का उतना महत्त्व नही समझा जा रहा है। फिर भी प्रसाद ने अपने नाटकों[462] व काव्यों में इस प्राचीन रसात्मकता का पर्याप्त निर्वाह कर लिया है। उपन्यास और कहानी (प्राचीन कथा व आख्यायिका) के साहित्य-रूप भी पहले रसात्मक ही होते थे, किंतु आज कथा-साहित्य के स्वरूप और लक्ष्य में पर्याप्त युगोचित अतर आ जाने के कारण उनका मुख्य लक्ष्य आनददायकता उतना नही रहा है, जितना कि जीवनालोचन (Crıticısm of lıfe)। अतः कथा-साहित्य में आज आनद या लालित्य के

तत्त्वो की खोज बहुत सफलतापूर्वक या प्रचुर परिमाण में सभवत नही हो सकेगी—यद्यपि प्रसाद ने अपनी अधिकाश छोटी कहानियों में तो, जो ध्वनि-प्रधान शैली में लिखी गयी हैं, इस रसात्मकता या आनददायकता के तत्त्व के निवेश की प्रशसनीय व्यवस्था कर ली है। रस और लालित्य के तत्त्व प्राय कविता में ही सर्वाधिक (बौद्धिक युग को देखते हुए आज भी) होते है, अत प्रस्तुत प्रकरण मे हम कविता के, विशेषत गीतिकाव्य के, सदर्भ मे ही प्रसाद की कला का सौंदर्य देखेगे।

प्रसाद की कला (काव्यगत) या शैली के समस्त सौदर्य को हम 'छायावाद'—इस एक शब्द के अतर्गत समाविष्ट कर सकते है। छायावाद के दो पक्ष हैं—वस्तु और शैली। वस्तु-पक्ष मे छायावाद की जो विचार-दर्शनगत चेतना है वह प्रस्तुत प्रबध के विचार-दर्शन, प्रकृति और सौदर्य-विषयक प्रकरणो मे विवेचित की जा चुकी है। अत उसका विस्तार भी यहा अनपेक्षित है। शैली-पक्ष मे छायावाद के जितने उपकरण है, उनमें से भी अधिकाश का विवेचन रूप, कल्पना और कला (प्रस्तुत) प्रकरणो में किया जा चुका है। फिर, हमारे प्रस्तुत अध्ययन की मूल प्रकृति समग्रता की ही होने से हमने अब तक किसी भी कृति-विशेष को स्वतत्र रूप से विचारार्थ नही लिया है। इस मर्यादा को ध्यान मे रखते हुए जितना विवेचन अभीष्ट था, वह काव्य-तत्त्वो के क्रम से यथास्थान हमने कर लिया है। 'कामायनी' सास्कृतिक पीठिका पर छायावादी शैली का एक उत्कृष्ट महाकाव्य है, पर गीत ही काव्य का प्राण-तत्त्व है। अत यहा हम केवल प्रसाद की गीत-कला को ही अत्यत सक्षेप मे लेंगे, जो अपनी विशेष प्रकृति के कारण प्रसाद की कला अथवा छायावाद के विशिष्टतम गुणों का अत्यत सुदर रीति से वहन करती है। यदि नाटकों में भी वह विशिष्ट कला या शैली प्रकट हुई है तो वह इसी कारण कि प्रसाद मूलत कवि हैं। अत उनके कवि-रूप को और कवि-रूप मे से भी उनके गीतिकार[463] के रूप को ही देख लेना पर्याप्त होगा।

कला-सबधी इस प्रकरण में यद्यपि गीत पर केवल कला (अभिव्यक्ति) की दृष्टि से ही विचार करना इष्ट है, पर अनिवार्यत वह अनुभूति-पक्ष को सर्वथा विस्मृत करके सभव नही, क्योंकि गीत मे अनुभूति व अभिव्यक्ति सूक्ष्म-मृदुल व स्निग्ध-सुदृढ ततुओ से परस्पर गुथे रहते हैं। यह अतर्गुम्फन दोनों पक्षो की अनिवार्य सापेक्षता का सकेत करता है।

प्रसाद के गीतों मे काव्य के उपकरण तो प्राय सर्वत्र प्रचुर परिमाण मे पाये जाते है, किंतु कतिपय विशिष्ट अपवादो को छोडकर, गीत की समृद्ध भावना के अनुरूप उसका विन्यास अनेक स्थलो पर बहुत कलात्मक नही हो पाया है।

भारतीय गीतो में सगीत का योग अनिवार्यत रहता है, किंतु पाश्चात्य या आधुनिक प्रगीतो मे नही जो पाठ्य अधिक होते हैं और जिनकी रचना वैयक्तिक भूमियों पर ही अधिकाशत होती है। प्रसाद के गीतों में सगीत का योग वैसा या उतना विशद नही जितना 'निराला' के गीतो में बताया गया है। प्रसाद के गीत काल्पनिक (कल्पना-वैचित्र्यपूर्ण) और रोमाटिक अधिक है और उनके गीतों के छद सगीत के छदों की दृष्टि से नही रचे गये हैं। प्रसाद ने स्वच्छद सगीत-शैली अपनायी है।

अनेक गीतो के मूल द्रव में आत्मा के तारल्य व द्रुति का अभाव है, घनता (दार्शनिक गाभीर्य) का आधिक्य। परिणामत- अनेक गीत बोझिल हो उठे हैं, उनमें गीत की सहजता का अभाव है, हा कलात्मक सौष्ठव व परिमार्जन अवश्य द्रष्टव्य है।

प्रसाद के अनेक गीत, मूल गीतात्मक अनुभूति व प्रेरणा खरी होने पर भी, अपनी अति-वर्णना, कला-चातुरी व गीत के अनुपयुक्त छद-चयन के कारण बाह्यार्थनिरूपिणी कविता के रूप मे, सक्रमित हो गये हैं। उदाहरणार्थ, 'हिमालय के आगन मे उसे—'(स्कन्दगुप्त), 'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की—' (ध्रुवस्वामिनी) तथा 'ओ मेरी जीवन की स्मृति—' (चन्द्रगुप्त) नामक गीत।

गीत का आकार (दीर्घता या विस्तार) कही तो गीत की प्रकृति व मूल उच्छ्वास के सर्वथा अनुरूप है, जैसे 'सखे। यह प्रेममयी रजनी' नामक गीत (चन्द्रगुप्त), किंतु अनेक स्थलों पर वह विस्तार-मर्यादा को छोड बैठा है। नाटको मे ऐसी अनेक रचनाए देखी जा सकती है।

गीत भाव-दृष्टि से मूलत एक अनुभूति-तरल व अतर्मुखी रचना है जो बहुत घने इतिवृत्त को वहन नही कर सकता। गीतो के प्रभाव का प्रमाण उसकी तन्मयकारिणी क्षमता है जो वस्तु (अनुभूति व अभिव्यक्ति की पूर्ण समानातरता, स्वर की गेयता व स्वच्छ प्रवाह, काव्य उपकरणो के उचित अनुपात व केंद्रीय भावना से सगति आदि बातो के योग से उत्पन्न होती है। जहा गीत प्रकृत मानवीय सुख-दु'ख की भूमिका पर रहते हुए तादात्म्य की अधिक प्रशस्त भूमिका प्रस्तुत करते है, वहा तो सहज ही उनसे मानसिक ऐक्य स्थापित हो जाता है, जैसे, 'उठ उठ री लघु लघु लोल लहर' (लहर) नामक गीत, अन्यथा कलात्मक सौष्ठव के होते हुए भी अनेक गीत हृदय पर वाछित अधिकार नही कर पाते। जहा आत्मनिवेदनात्मकता के तत्त्व का अभाव है, विशेष रूप से वहा पाठक का हृदय कवि के साथ-साथ नही चल पाता। वैयक्तिकता के तत्त्वो के आधिक्य से भी कही-कही तादात्म्य की अनुभूति नही हो पाती।

गीत की टेक गीत के स्थापत्य की एक अनिवार्य आवश्यकता है, चाहे उसका उपयोग सगीत-रूप मे हो अथवा पाठ्य-रूप मे। टेक गीत की भावना का मर्म-स्थल होता है, जिससे गीत का प्रत्येक छद उसी तरह जुडा रहता है, जिस तरह रथ-चक्र की अराए उसकी नाभि से। पाठक गीत के प्रत्येक छद मे निहित चित्र-सपत्ति का मानसभोग करता हुआ टेक पर विश्राम लेने की मनोवैज्ञानिक (और प्राण-वायु के विश्राम की भी) आवश्यकता अनिवार्यत महसूस करता है, क्योंकि टेक विविध छदों के पूर्वापर कल्पना-चित्रों में, जो परस्पर स्वतत्र रहकर पूर्ण चेतन नही हो पाते, पाठक के लिए एक गहरी अन्विति या सामजस्य साधती हुई उन चित्रों को एक विशेष रसात्मक परिणति की ओर ले जाने में अत्यत सहायक होती है।

प्रसाद की बहुत-सी रचनाए, अपनी प्रकृति से मूलत गीतात्मक होते हुए भी, उक्त आवश्यकता के अभाव मे, गीत का रूप छोडकर कविता का रूप धारण कर लेती हैं। गीत और कविता मे स्पष्ट अतर है, यह बताने की यहा आवश्यकता नही। पर, साथ ही यहा यह भी निर्देश करना आवश्यक है कि न तो टेक की उपस्थिति मात्र ही किसी रचना को श्रेष्ठ गीत का गौरवशाली पद प्रदान कर सकती है और न उसकी अनुपस्थिति सभी स्थितियों मे किसी रचना को गीत की सज्ञा से वचित ही कर सकती है। कालिदास का 'मेघदूत' और प्रसाद का 'ऑसू' भावना की दृष्टि से गीत ही है, चाहे वे लबे हों या प्रबधात्मक शैली में लिखे गये हो। अस्तु। टेक किसी मार्मिक भावना को स्वय झकृत करनेवाली हो और साथ ही गीत के सब छद उस मार्मिकता के स्पष्टीकरण व पादात निर्वाह में सहायक हो, तभी टेक का कलात्मक महत्त्व सिद्ध हो सकता है।

इस दृष्टि से 'ले चल मुझे भुलावा देकर', 'बीती विभावरी जाग री', 'वे कुछ दिन कितने

सुदर थे', 'आह वेदना मिली विदाई', 'मीड मत खिचे बीन के तार', 'तुम कनक किरण के अतराल मे' आदि गीत अत्यत सुथरे व ललित है। गीतात्मक सभावनाओ से सपन्न गीत 'अगरु धूम की श्याम लहरिया' गीत अधिक वर्णनात्मक होकर कविता की ओर सक्रमित हो गया है।

नाटको मे आये बहुत-से गीत मच की दृष्टि से लबे, क्लिष्ट-दुरूह, अति-अलकृत, शिथिल-गति, लबी पक्तियो के कारण अ-सुगेय व प्रसग-परिस्थिति की दृष्टि से प्राय अधिक भारी हो उठे है।[464] वस्तु व अभिव्यक्ति के सवादित्व, कलात्मकता, सुषमा, अन्विति, गेयता, सुमर्यादित काव्योपकरणो की दृष्टि से प्रसाद-साहित्य के कुछ ही गीत सर्वाग सुदर व सफल बन पडे हैं। अधिकाश गीत साहित्यिक उपकरणों से अति आक्रात, अति चित्र-वर्णनामय, दर्शन-गभीर व कवितात्मक हो गये है।

अत कोई आश्चर्य नही कि प्रसाद गीत-रचना में, विशेषत उसके कुछ विशिष्ट पक्षों में गीतात्मक प्रतिभा के धनी अपने समयुगीन महाकवि 'निराला' की भूमियों तक न पहुच पाये हो, क्योकि आचार्य वाजपेयीजी के अनुसार, "विविधता और प्रयोग की दृष्टि से 'निराला'जी अपने समय के सर्वश्रेष्ठ गीतकार है। उनमे ('निराला' के गीतो में) सगीत और काव्य-कला के दोहरे प्रयोजन सिद्ध होते हैं, जिनका अन्य कवियो मे सापेक्षिक अथवा सपूर्ण अभाव है।"[465]

सब कुछ मिलकर इन त्रुटियो के बावजूद प्रसाद के प्रगीत, काव्य की दृष्टि से हिंदी की अमर निधि व उपलब्धि हैं। आचार्य वाजपेयीजी के शब्दों में—"प्रसाद मूलत श्रेष्ठ प्रगीतों के रचयिता की प्रतिभा रखते थे।"[466] प्रसाद के काव्यत्व के गुणों का अन्यत्र विशद निरूपण हो चुका है, अत विस्तार अनावश्यक है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रसाद की गेय रचनाए गीत है या प्रगीत ? यह भी स्वतत्र रूप से विचारणीय प्रश्न है। मुक्तक रचना के प्रसग में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र गीत और प्रगीत का अतर इस प्रकार करते हैं—"राग-रागिनी के अनुकूल जिन पदो की रचना होती है, वे विशेषत गेय होने के कारण 'गीत' कहलाते है। साहित्य की रूढियों के अनुकूल जो कवियो द्वारा निर्मित हुए है, वे साहित्यिक गीत हैं। खडी बोली मे इस समय गीत तो बहुत-से लिखे जा रहे हैं, पर कुछ को छोड बहुतो की पद्धति विदेशी दिखायी देती है। उन्हें गीत न कहकर प्रगीत कहते हैं। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इधर कुछ दिनों से हिंदी में प्रगीत (लिरिक्स) भी लिखे जाने लगे है। प्रगीत और गीत में अतर है। प्रगीत में कवि का व्यक्तित्व विशेष रूप से व्यक्त होता है।"[467] आचार्य वाजपेयीजी के अनुसार "प्रगीत काव्य मूलत वैयक्तिक भावात्मक द्वद्वों की क्रीडाभूमि है। मनोभावनाओं का ऊहापोह प्रगीत काव्य की विशेषता है।"[468] उन्होने गीत और प्रगीत का स्पष्ट अतर किया है, जिसे सक्षेप में हम यो रखने का प्रयत्न करेंगे—गीत काव्य और सगीत दोनों की सम्मिलित भूमिका पर अवस्थित होता है। गीतो मे शास्त्रीय और स्वच्छद—दोनो सगीत-शैलियो का उपयोग हो सकता है। गीत की रचना सार्वजनिक रस की सृष्टि के उद्देश्य से की जाती है। उसमें तात्कालिक प्रभाव की सिद्धि अधिक काम्य होती है। गीत केवल पाठ्य ही नही, सगीत के सपर्क से गेय ही अधिक होते हैं। श्रुतिमधुरता, सुपरिचित अलकार व अन्य परपरानुमोदित उपकरणों का गीत में सहज समावेश होता है। किंतु प्रगीत अधिक आधुनिक रचना-प्रकार है। वह पाठ्य अधिक होता है। उसका रूप काल्पनिक-रोमाटिक होता

है। उसमें भाव-सघनता व रस-प्रवाह का उतना दर्शन नही होता जितना कल्पना-वैचित्र्य और सौदर्य-प्रधानता या कलात्मक सौष्ठव का। वह काव्य के अधिक निकट होता है, सगीत के उतना नही।

इस दृष्टि से प्रसाद के अधिकाश गीत 'प्रगीत' कोटि में ही रखे जायेगे।

कला-क्षेत्र मे प्रसाद का प्रदेय . ऐतिहासिक व तात्त्विक

प्रसाद के कला-विषयक प्रदेय को आकने के लिए हमे दो दिशाओं से विचार करना होगा ऐतिहासिक और तात्त्विक।

'कला' शब्द के प्रयोग पर प्रसाद की आपत्ति को अब कुछ देर के लिए भुलाते हुए (वे इस प्रचलित प्रयोग से सतुष्ट-से ही जान पडते हैं) और इस शब्द में निहित प्रचलित अर्थ को यथावत् रखते हुए ही हम इस विषय पर विचार करेंगे। व्यापक रूप से 'कला' की समग्र धारणा-परिधि में चार उपकरण समाविष्ट होते है—(1) रूप या बाह्य स्थापत्य, (2) शैली अथवा रचनाकार के व्यक्तित्व के विधायक गुणो की समष्टि, (3) सृजन के द्वारा स्रष्टा की आत्माभिव्यजन-जन्य नि शेष मनस्तुष्टि तथा कला-कृति के द्वारा श्रोता-पाठक को आनद प्रदान करने की शक्ति, और (4) मानव-अभिव्यक्ति की चरम पूर्णता के आदर्श की प्राप्ति के लिए रचना-काल मे कलाकार के हृद्‌गत मानसिक सघर्ष को समानातर ढग से रूपायित करने की विकलता। कला की पूर्णतम भावना इन चार अनिवार्य अवयवों या उपकरणो से सघटित होनी है। कला की सृष्टि इतनी सकुल व सश्लिष्ट होती है कि इन उपकरणों में से पृथक्-पृथक् की क्षेत्र-मर्यादा का निर्धारण एक असभव कार्य है। किसी भी निर्मित कलाकृति को लेकर यह बात समझी जा सकती है। कविता को ही लें। भाव, विचार, कल्पना, बिब, प्रतीक, उपमान, भाषा, रीति, छद, सगीत, उक्ति-वैचित्र्य, रस, ध्वनि, औचित्य—इनमे से किसका महत्त्व सर्वोपरि समझा जाये ? अथवा किसके महत्त्व का अनुपात ऊचा आका जाये ? सर्वोत्कृष्ट व परिपूर्ण कला में सभी तत्त्वों का महत्त्व यथास्थान सुरक्षित है। तात्पर्य यह कि कला एक अखड-अविभाज्य आनददायिनी कल्पना-सृष्टि है। खड-खड करके उसका विश्लेषण असभव व अस्वाभाविक है। समग्रता में ही कलाकार या रसभोक्ता के मन का वास्तविक रजन व परितोष होता है। 'प्रपानक रस' और 'अलौकिक आनंद' कहकर कला-प्रभाव के स्वरूप को हमारे यहा स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया गया है। पश्चिम की पदावली—'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' में जो कल्पना का महत्त्व है, वह उसकी समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की स्वीकृति के साथ, भारतीय पदावली में निर्विवाद निहित या स्वीकृत है। 'कला' के इस स्वरूप और प्रभाव को ध्यान मे रखकर ही अब हमें प्रसाद की तद्विषयक उपलब्धि पर विचार करना है।

पहले ऐतिहासिक अनुक्रम में देखें। वस्तु और शैली के पारस्परिक सबधों के सदर्भ में ही प्रसाद की उपलब्धि का सही आकलन हो सकता है। उक्त संबधों के दो अतिवाद हमें समीक्षा-जगत् में देखने को मिलते हैं कट्टर नैतिकतावादी दार्शनिक प्लेटो का आत्यतिक वस्तुवाद और कोरे रूपों के उपासक रूपवादियों (Formalists)—हिंदी में सभवत नकेनवादी उनके प्रतिनिधि हैं—का रूपवाद। प्रसाद इन दोनों ही अतिवादों से सर्वथा बचे हुए हैं। अब

हिंदी-साहित्यधारा मे उन्हे रखकर परिस्थिति का विचार करना अधिक आवश्यक है। कला की दृष्टि से प्रसाद की तुलना भक्तिकाल के कवियो से भी सभवत सतोषजनक रूप मे न हो सके। भक्तिकाल के कवि वस्तु या अनुभूति के प्रति अधिक समर्पित जान पडते हैं—यह मानते हुए भी कि सूर और तुलसी का पाडित्य आचार्यत्व की कोटि का और उनका कलाभ्यास सुदीर्घकालीन था। अनुभूति से रहित होकर मानो वे अपने अस्तित्व को सार्थक ही न मानते हो। उनकी दृष्टि में कला अनुभूति की तुलना मे सभवत गौण है, कला के बाह्य स्थूल आवरण या चाकचिक्य से रहित होकर भी वे मानो अपने पौष्टिक आत्म-रसायन से पूर्ण सतुष्ट हैं। कविता या कला तो उनके लिए अभिव्यक्ति का एक माध्यम-मात्र है, बस। यदि वह माध्यम आकर्षक बन पड गया तो बहुत भली बात। वे अभिव्यक्ति के लिए नही जी रहे है, जी रहे है वे प्राणपोषिका अनुभूति के लिए ही। वह जान या अनजान मे बाहर अभिव्यक्त भी हो रही है, यह दूसरी बात है। यह उनका कोई बहुत सजग प्रयास नही। इधर प्रसाद को हम अभिव्यक्ति के प्रति इतना निर्मोह या निर्द्वद्व नही पाते। प्रसाद भक्त कवियो की तरह अनुभूति को सर्वाधिक महत्त्व देते है, पर साथ ही कला के प्रति भी उनका सजग मोह है, और यही विशेषता उन्हे भक्त कवियो की वस्तु और कला के सबधो के परिप्रेक्ष्य में एक नवीन महत्त्व प्रदान करती है।

रीतिकाल बहुत कुछ शुद्ध कला का युग है। अपनी जगह पर निश्चय ही यह एक महान् उपलब्धि है। उसमे वस्तु या अनुभूति सभवत बहुत महत्त्व की नही है—देव, घनानन्द जैसे कवियों की बात दूसरी है। आचार्य श्यामसुन्दरदासजी की धारणा ठीक ही है कि रीतिकाल के कवियो के लिए भक्तिकाल के पश्चात् अनुभूति के क्षेत्र मे अब कुछ करने को मानो शेष रह ही नही गया था। यह धारणा रीतिकाल की कविता की आकृति-प्रकृति को स्पष्ट व्यक्त कर देती है। प्रसाद सैद्धातिक दृष्टि से रीतिवादी नही थे, क्योकि रीतिवाद अन्य अनेक साहित्यिक वादों की तरह, उनकी दृष्टि में, स्थूल विवेक की प्रसूति है जो काव्य की मूल आनदात्मक प्रकृति के लिए अस्वास्थ्यकर है। यों रीति की परिष्कृत काव्योचित आत्मा प्रसाद मे सर्वत्र देखी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि जीवन की उदात्त अनुभूति तथा वस्तु और शैली के घनिष्ठतम सबधो की दृष्टि से रीतिकाल की कविता सभवत पूर्ण नही कही जायेगी। काव्य का अहेतुक आनद हमे उससे प्राप्त होता है, हो सकता है—रीतिकाल की कविता का यह निश्चय ही सर्वोच्च मूल्य है। भौतिक जीवन के सौदर्य का उद्घाटन अवश्य रीतिकालीन काव्य का वस्तुगत मूल्य है, जो हमे स्वीकार करना होगा, पर यह तथ्य भी हमारे उपर्युक्त कथन को गहरी बाधा पहुचाता नही जान पडता। इस सदर्भ मे भी प्रसाद की उपलब्धि स्पष्ट है। प्रसाद के पास जो विदग्ध अनुभूति है वह रीतिकाल मे (घनानद आदि को छोडकर) कहा। कला मे रीतिकाल भले ही उत्कृष्ट हो।

भारतेन्दु-युग सक्रातिकालीन था, अत उसमें कला-परिष्कार का कोई विशेष आयोजन नही दिखायी पडता। द्विवेदी-युग तो 'इतिवृत्तात्मकता' का ही युग ठहरा। प्रगतिवाद मे भी वस्तु का ही महत्त्व अधिक रहा। प्रयोगवाद यद्यपि वस्तुपक्ष में जीवन के नवीन मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए सकल्पशील दिखायी देता है, पर उसका मूल कर्म कला-सम्मार्जन ही विशेष जान पडता है। उनकी प्रेरिका अमरीकी कविता की उपलब्धि से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी।[469] तात्पर्य यह कि छायावादेतर आधुनिक काव्य प्रसाद के विचार के लिए बहुत सतोषजनक भूमिका प्रदान नही करता।

कला-दृष्टि से छायावादी कवियों का ढाचा (अवश्य कवि-भेद से न्यूनाधिक भेद दिखायी पड जायेगे) प्राय समकालीन और सहयात्री होने से, एक-सा कहा जा सकता है। प्रस्तुत ऐतिहासिक अनुक्रम मे विचार करने के लिए उनकी पारस्परिक तुलना यहा अभीष्ट भी नही।

ऐतिहासिक अनुक्रम मे प्रसाद की कला-विषयक विशेषता (अपने सहवर्गी छायावादी कवियो को छोडकर) यह है कि वे अनुभूति को पूरा-पूरा महत्त्व देते हुए भी कला-सवर्द्धन व परिष्कार की ओर उत्साहपूर्वक अग्रसर हुए है। प्रसाद ने वस्तु और कला का सामजस्य किया है—यह कहना श्रम से बचने का 'शार्ट कट' मात्र है—न यह वास्तविकता है और न प्रसाद की सजग चेष्टा का ही परिणाम। प्रसाद स्वय ही सामजस्य की बात नही करते, वे अनुभूति को जितना महत्त्व देते है, अभिव्यक्ति को उतना नही। पैमानों और बटखरो से नाप-तौल असभव है। हा, सुरक्षित भाव से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद ने अपेक्षाकृत विशाल साहित्य के धरातल पर वस्तु और कला को अधिकाधिक निकट लाने का प्रयास किया—ऐसा प्रयास जो विशिष्ट छायावादी कवियों को छोडकर, सामान्यत अन्य कोई करता नही दिखायी पडता। और बस इसी प्रयत्न मे प्रसाद का कला-क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व व वैशिष्ट्य दिखायी पडता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्मिलित योग से जो व्यापक व गभीर तृप्ति प्रसाद प्रदान करते हैं वह अन्यत्र (विशिष्ट भक्त कवियों व छायावादी कवियों को छोडकर) दुर्लभ ही है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि इस तृप्ति में योग अनुभूति का अधिक है या अभिव्यक्ति या कला का ? उत्तर स्पष्ट है। प्रसाद स्वय ही अभिव्यक्ति को उतना महत्त्व नही देते जितना अनुभूति को। अत हमें उनके कलाकार से अधिक आशा भी नही करनी चाहिए। पर यह एक अत्यत रोचक विरोधाभास[470] है—और साहित्य में ऐसे रोचक विरोधाभास अन्यत्र भी देखने को मिल जाते है—कि कला को गौण महत्त्व देते हुए भी प्रसाद हिंदी की एक अत्यत समृद्ध छायावादी शैली के प्रवर्त्तक, उन्नायक व पोषक माने गये है। इस प्रकार सिद्धात में तो वे शैली व कला के पोषक नही, किंतु व्यवहार मे वे एक अत्यत आकर्षणमयी शैली के आविष्कर्ता व पुरस्कर्ता हैं। चाहे विद्वानों के द्वारा प्रसाद-साहित्य के रूप व कलापक्ष मे चुन-चुनकर शताधिक दोष ही क्यों न निकाले गये हो। जो हो, प्रसाद वर्तमान रूप में भी अनुभूति और कला के सबधों के सदर्भ में हिंदी की अपने समय तक प्राप्त उपलब्धियों की रेकार्ड-रेखा को तोडकर आगे नवीन प्रतिमान स्थापित करते दिखायी पडते हैं।

अब कला के तात्त्विक निकष पर प्रसाद को देखना है। कला के विविध अगों पर स्वतंत्र विचार तो यत्र-तत्र हो ही चुका है, अत यहा अब सामूहिक रूप से ही विचार करना शेष है। और इस निकष पर देखने की सबसे अच्छी पद्धति यही हो सकती है कि कला के विधायक विभिन्न उपकरणों के रासायनिक योग से जिस आह्लादकता की या कलाकार के आनद की उत्पत्ति होती है उसी को अतिम मानदड माना जाये। कला (व्यापक अर्थ मे) से ही आत्मा का आवरण-भग होता है। तो, प्रश्न यों किया जाये—क्या प्रसाद की कला का आस्वाद हमारी आत्मा का आवरण भग कर देता है ? इसका उत्तर एक सास में देना थोडा कठिन है। मुख्यतः यह पाठक-पाठक के सस्कार पर निर्भर है। मोटे तौर से यही कहा जा सकता है कि प्रसाद की कला में एक विशिष्ट वर्ग के (जो काफी विशाल कहा जा सकता है) पाठकों को आनद प्रदान करने की सजग और गहरी क्षमता है, किंतु जहा स्थापत्य या शिल्प

सबधी न्यूनताए व विच्युतिया है, वहा अवश्य सहानुभूतिशील किंतु सजग पाठको के मन मे भी एक हल्की-भारी दचकन का अनुभव होता है। परस्पर विरोधी साहित्यिक-राजनीतिक विचारधाराए भी प्रसाद की कला का आनद लेने मे साधक-बाधक हो सकती है। किंतु मूल तत्त्व निश्चय ही प्राण-पोषक है।

ऐतिहासिक और तात्त्विक दृष्टि से एकसाथ विचार करने पर दिखायी पडेगा कि कला के क्षेत्र मे प्रसाद का योगदान युगातकारी और अविस्मरणीय है। वे न तो प्लेटो की तरह तथ्यवादी या वस्तुवादी है और न क्लाइवबेल, ब्रेडले व क्रोचे की तरह कलावादी-अभिव्यजनावादी है। उन्होने अपनी रुचि व सस्कार से वस्तु और कला का एक ऐसा मेल किया है जो सहृदयो को तृप्तिकर है।

संदर्भ

1 काव्यालकार, 1/2
2 'नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।'—काव्यानुशासन (प बलदेव उपाध्याय के भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ 450 से उद्धृत)
3 वही, पृ 351
4 वही, पृ 451-453
5 बाबू गुलाबराय सिद्धात और अध्ययन, पृ 276
6 "The Hindu view held that though in the preliminary state the art and the artist must be unified in a state of trance yet it is only when the internal picture is reproduced that the true picture can be formed The inner representation must be transported outside " –Fundamentals of Indian Art (1951) p 100
7 अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ 13 (भूमिका), भारतीय बौद्ध विचारक बुद्धघोष की भी कुछ ऐसी ही मान्यता है, दे—Dr S N Dasgupta 'Fundamentals of Indian Art (1954), p 93
8 काव्यमीमासा, पचम अध्याय
9 अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 13
10 वही, पृ 13
11 काव्य में उदात्त तत्त्व, भूमिका, पृ 11
12 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 23-24
13 वही, पृ 23-24
14 वही, पृ 25
15 काव्य में रहस्यवाद, पृ 19 चिन्तामणि, भाग 1 तथा चिन्तामणि, भाग 2 भी द्रष्टव्य।
16 अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ 30 (भूमिका)
17 वाड्मय विमर्श, पृ 35-36
18 काव्य-मीमासा अध्याय, द्वितीय अध्याय
19 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 25
20 कलाकार की सिसृक्षा और सर्जन सीमा नामक लेख—आलोचना (27)
21 "Expression is an indivisible whole Noun and Verb do no exist in it but are abstractions made by us, destroying the sole linguistic reality which is the sentence ' —B Croce Aesthetic (1960) p 146
तथा, बाबू गुलाबराय सिद्धात और अध्ययन, पृ 231
22 ऋग्वेद 10/10/125/3
23 ऋग्वेद, 10/10/125/4

24 वही, 10/6/71/5
25 वही, 10/10/114/8
26 वही, 10/7/71/2
27 वही, 10/6/71/4
28 बृहदारण्यक उपनिषद्, 7/1/8
29 'वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति'—वही, 4/3/5
30 बृहदारण्यक उपनिषद्, 6/1/8 तथा छादोग्य उपनिषद्, 5/1/8
31 दण्डी काव्यादर्श, 1/3-4
32 करबदरसदृशमखिल भुवनतल यत्प्रसादत कवय ।
पश्यन्ति सूक्ष्मतय सा जयति सरस्वती देवी ॥—आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र के 'काव्यादर्श' (व्याख्या), पृ 5 से उद्धृत
33 स्वशक्तौ व्यज्यमानाया प्रयत्नेन समीरिता ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणव ॥—भर्तृहरि वाक्यपदीय ।
34 डॉ सत्यकाम वर्मा का अनुवाद 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय', पृ 44 से उद्धृत
35 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 20-23
36 वही, पृ 23
37 डॉ नगेन्द्र भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ 123-25, तथा R.A Scott-James The making of Literature Chapter X
38 'The words sound with music, make images which are visual, seem solid like sculpture and spacious like architecture, repeat themselves like the movements in a dance ××× sound in the inward ear of his ear , and so play upon each other by concert and apposition and pattern that they not only drag after them to gestures of life but produce a new gesture of their own To make words play upon each other both in small units and large is one version of the whole technique of imaginative writing" —Language as gesture—an article by Richard P Blackmur in Literary Criticism in America', quoted from pages 321-22
39 देखिए, परिशिष्ट, सख्या 1
40 वही, सख्या 2
41 ककाल, पृ 252
42 छाया, पृ 111
43 इन्द्र., पृ 80
44 आसू, पृ 33
45 आधी, पृ 38
46 चित्रा, पृ 36
47 वही, पृ 145
48 वही, पृ 18
49 कामा, पृ 99
50 ककाल, पृ 242
51 वही, पृ 192
52 वही, पृ 32
53 कामा, पृ 35, 17 19, 99, 114
54 चित्राधार, पृ 123
55 ककाल, पृ 299
56 कानन, पृ 72
57 प्रतिध्वनि, पृ 38
58 चित्रा, पृ 1

59 वही, पृ 47
60 वही, पृ 36
61 वही, पृ 35
62 वही, पृ 96
63 कानन, पृ 13
64 कामा, पृ 28
65 कानन, पृ 38
66 वही, पृ 40
67 आकाश, पृ 75
68 वही, पृ 57
69 वही, पृ 95
70 वही, पृ 144
71 छाया, पृ 13
72 वही, पृ 18
73 वही, पृ 118
74 तितली, पृ 11
75 चित्रा, पृ 47
76 वही, पृ 68
77 वही, पृ 159
78 वही, पृ 181
79 आसू, पृ 29
80 ककाल, पृ 220
81 वही, पृ 200
82 झरना, पृ 55
83 वही, पृ 74
84 लहर, पृ 23
85 आकाश, पृ 89, ककाल, पृ 259
86 कामा, पृ 15
87 इरा, पृ 37
88 आकाश, पृ 75
89 छाया, पृ 60
90 कामा, पृ 128
91 आधी, पृ 67
92 इरा, पृ 80
93 लहर, पृ 11
94 इरा, पृ 104
95 वही, पृ 100
96 जनमे, पृ 62
97 वही, पृ 3
98 'व्रतभग' कहानी
99 आकाश, पृ 50
100 वही, पृ 70
101 आकाश, पृ 89
102 छाया, पृ 37
103 तितली, पृ 95 161 193 इरा, पृ 99
104 स्कन्द, पृ 25

105 तितली, पृ 24
106 वही, पृ 71
107 वही, पृ 122
108 एक घूट, पृ 36
109 इरा, पृ 102
110 तितली, पृ 51
111 वही, पृ 73
112 वही, पृ 75
113 वही, पृ 81
114 वही, पृ 37
115 कामा, पृ 175
116 एक घूट, पृ 17
117 जनमे, पृ 11
118 कामना, पृ 4
119 तितली, पृ 226
120 इन्द्र, पृ 145
121 ककाल, पृ 244
122 आसू, पृ 16
123 वही
124 वही, पृ 51
125 कामा, पृ 34
126 कानन, पृ 25
127 आकाश, पृ 76
128 आधी, पृ 31
129 वही, पृ 64
130 वही, पृ 70
131 वही, पृ 119
132 इन्द्र, पृ 107
133 वही, पृ 108
134 ककाल, पृ 174
135 वही, पृ 299
136 इरा, पृ 94
137 कामा, पृ 9, 16, 34, 193, 223
138 वही, आशा सर्ग
139 वही, पृ 118
140 वही, पृ 164
141 आधी, पृ 16
142 चित्रा, पृ 121
143 आधी, पृ 84
144 वही, पृ 113
145 आकाश, पृ 19
146 वही, पृ 111
147 वही, पृ 130
148 वही, पृ 155
149 तितली, पृ 172
150 वही, पृ 262

151 इन्द्र, पृ 27
152 ककाल, पृ 36
153 वही, पृ 67
154 वही, पृ 224
155 वही, पृ 270
156 इरा, पृ 24
157 प्रति, पृ 55
158 कामा, पृ 33
159 कामा, पृ 241
160 चित्रा, पृ 30
161 ककाल, पृ 45
162 तितली, पृ 148
163 चित्रा, पृ 52
164 वही, पृ 113
165 लहर, पृ 65
166 वही, पृ 50
167 आकाश, पृ 47
168 तितली, पृ 39
169 वही, पृ 49
170 इन्द्र, पृ 52
171 वही, पृ 130
172 ककाल, पृ 132
173 वही, पृ 297
174 वही, पृ 297
175 इरा, पृ 95
176 ककाल, पृ 67
177 वही, पृ 266
178 वही, पृ 71
179 तितली, पृ 106
180 कामा, पृ 47
181 कामा, पृ 7
182 वही, पृ 111
183 वही, पृ 7
184 लहर, पृ 40
185 कामा, पृ 70
186 आसू, पृ 52
187 वही, पृ 71
188 इन्द्र, पृ 2
189 वही, पृ 10
190 कामा, चिन्ता सर्ग
191 वही, श्रद्धा सर्ग
192 वि दे.—डॉ नगेन्द्र कामायनी के अध्ययन की समस्याए, प्रथम प्रकरण
193 लहर, पृ 72
194 कानन, पृ 3, 20, 33, 120
195 चित्रा, पृ 131
196 वही, पृ 127

197 वही, पृ 145
198 वही, पृ 166
199 आकाश, पृ 125
200 वही, पृ 147
201 ककाल, पृ 212
202 वही, पृ 278
203 वही, पृ 73, 287
204 इरा, पृ 86
205 प्रति., पृ 38
206 वही, पृ 52
207 झरना
208 कामा., पृ 165
209 कामायनी श्रद्धा सर्ग
210 वही, निर्वेद सर्ग
211 वही, चिन्ता सर्ग
212 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 117-119
213 देखिए—डॉ नामवरसिंह का लेख—'प्रसाद जी की भाषा-शैली'
214 'प्रसाद जी का गद्य विशृखल और ऊबड़-खाबड़ था। उन्होने भाषा का अभ्यास नही किया था, भाव के आवेग में उनेक वाक्य प्राय लुड-मुड शिलाखडों की तरह लुढकते रहते थे।"—शान्तिप्रिय द्विवेदी 'परिव्राजक की प्रजा' (डॉ नामवरसिंह का लेख 'प्रसाद जी की भाषा-शैली' से उद्धृत)
215 आचार्य विश्वेश्वर का अनुवाद
216 लहर, पृ 9
217 वही, पृ 19
218 कामा., पृ 206
219 ककाल, पृ 206
220 कानन, पृ 96
221 लहर, पृ 11
222 कानन., पृ 100
223 प्रति, पृ 48
224 चित्रा., पृ 101
225 आसू, पृ 10
226 वही, पृ 30
227 वही, पृ 63
228 लहर, पृ 64
229 तितली, पृ 154
230 स्कन्द., पृ 62
231 कामा., पृ 24
232 वही, पृ 124
233 वही, पृ 69
234 वही, पृ 5
235 लहर, पृ 12
236 वही, पृ 63
237 वही, पृ 66
238 कानन, पृ 122
239 लहर, पृ 40
240 चन्द्र., पृ 59

241 कामा, पृ 50
242 ध्रुव, पृ 69
243 कानन, पृ 109
244 आसू, पृ 49
245 कानन, पृ 100
246 कामा, पृ 127
247 वही, पृ 175
248 कामा, पृ 175
249 झरना, पृ 36
250 वही, पृ 34
251 आसू, पृ 7 11 14
252 प्रति, पृ 49
253 झरना, पृ 31
254 आसू, पृ 53
255 कानन, पृ 96
256 चित्रा, पृ 175
257 वही, पृ 105
258 झरना, पृ 41
259 लहर, पृ 43
260 कामा, लज्जा सर्ग
261 आसू, पृ 36
262 चित्रा, पृ 176 कानन, पृ 43
263 झरना, पृ 15 चित्रा, पृ 131
264 ककाल, पृ 94, 134, आसू, पृ 14, 19, 42 झरना, पृ 14 कामा, पृ 67
265 राज्य, पृ 23
266 ककाल, पृ 44, आसू, पृ 19, झरना, पृ 6, 41, स्कद, पृ 97, राज्य, पृ 31, ध्रुव, पृ 5
267 चित्रा, पृ 171, ककाल, पृ 94 झरना, पृ 5, कानन, पृ 143
268 प्रेम, पृ 1, 12
269 कानन, पृ 54
270 चित्रा, पृ 163, कानन, पृ 121 काम, पृ 42 आसू, पृ 10
271 करुणा, पृ 14, कानन, पृ 24
272 लहर, पृ 43
273 ककाल, पृ 20
274 तितली, पृ 108
275 चित्रा, पृ 31, 35, झरना, पृ 1
276 चित्रा, पृ 105, आसू, पृ 22
277 जनमे, पृ 82
278 ककाल, पृ 278, कानन, पृ 96, प्रेम, पृ 11 झरना, पृ 43, लहर, पृ 11, 23, 27, 50, आसू, पृ 22 कामा, पृ 179, 224
279 ध्रुव, पृ 2, तितली, पृ 249, इरा, पृ 105 ककाल, पृ 206
280 महा, पृ 12, कामा, पृ 110, आसू पृ 50, विशाख, पृ 12, स्कद, पृ 11
281 ककाल, पृ 20
282 इन्द्र, पृ 114
283 आधी, पृ 7
284 कानन, पृ 70
285 झरना, पृ 31

286 प्रति, पृ 41
287 आसू, पृ 54
288 लहर, पृ 40
289 करुणा, पृ 8
290 लहर, पृ 57
291 झरना, पृ 5
292 आसू, पृ 30
293 कानन, पृ 108
294 जनमे, पृ 75
295 इन्द्र, पृ 16
296 अजात, 103
297
298 ककाल, पृ 203
299 आसू, पृ 35
300 चन्द्र, पृ 177
301 आसू, पृ 22
302 आधी, पृ 112
303 वही, पृ 95
304 आकाश, पृ 100
305 वही, पृ 13
306 झरना, पृ 65
307 आसू, पृ 73
308 कानन, पृ 25
309 कामा, पृ 142, कानन, पृ 105
310 स्कन्द, पृ 27
311 चन्द्र, पृ 59
312 कामा, पृ 18
313 कानन, पृ 125
314 कामा, पृ 45
315 इन्द्र, पृ 36
316 करुणा, पृ 8
317 लहर, पृ 34
318 इन्द्र, पृ 77
319 प्रेम, पृ 17
320 इन्द्र, पृ 60
321 वही, पृ 122
322 प्रति, पृ 44
323 लहर
324 वही, पृ 72
325 लहर, पृ 69
326 वही, पृ 73
327 कानन, पृ 22
328 अजात, पृ 118
329 कामा, आशा सर्ग
330 वही, पृ 213
331 प्रेम

332 वही, पृ 14
333 वही, पृ 18
334 झरना, पृ 13
335 कामा, चिन्ता सर्ग
336 कामा, पृ 263
337 इरा, पृ 15
338 छाया., पृ 23
339 वही, पृ 118
340 वही, पृ 18।
341 इन्द्र, पृ 62
342 वही, पृ 24
343 वही, पृ 65
344 वही, पृ 69
345 वही, पृ 71
346 वही, पृ 113
347 आधी, पृ 92
348 वही, पृ 96
349 वही, पृ 97
350 वही, पृ 36
351 वही, पृ 79
352 वही, पृ 87
353 प्रति., पृ 69
353 प्रति, पृ 69
354 कानन, पृ 10
355 वही, पृ 25
356 वही, पृ 90
357 वही, पृ 108
358 महा., पृ 15
359 प्रेम, पृ 18
360 वही
361 झरना, पृ 11
362 झरना, पृ 37
363 लहर, पृ 69
364 वही, पृ 70
365 आसू, पृ 20
366 कामा., पृ 205
367 आकाश, पृ 66
368 ककाल, पृ 95
369 विशाख, पृ 47
370 वही, पृ 51
371 कामा, पृ 81
372 अजात, पृ 38
373 वही, पृ 56
374 जनमे, पृ 33
375 चन्द्र, पृ 217-218
376 ध्रुव, पृ 68

377 आधी, पृ 94
378 कामा, पृ 25
279 प्रति, पृ 71
380 छाया, पृ 23
381 विशाख, पृ 90
382 चित्रा, पृ 170
383 कानन, पृ 126
384 आसू, पृ 55
385 झरना, पृ 6
386 वही, पृ 14
387 प्रेम, पृ 5
388 कामा, पृ 182
389 वही, पृ 215
390 दे—प्रसाद का लेख 'यथार्थवाद और छायावाद'
391 दे—'करुणालय' की 'सूचना'
392 'करुणालय' का 'प्रकाशकीय'
393 प्रसाद जिसे 'अरिल्ल' छद के नाम से अभिहित करते हैं उसे प रामबहोरी शुक्ल 'प्लवगम' के नाम से निरूपित करते हैं [यथा, प्लवगम के प्रति चरण मे 8 और 13 के विराम से 21 मात्राए होती हैं। आदि वर्ण गुरु तथा अत मे एक जगण (। ऽ ।) और एक गुरु (ऽ) होनी है।] शुक्लजी 'अरिल्ल' के और ही लक्षण देते हैं। देखिए—'काव्य-प्रदीप' (आठवा सस्करण), पृ 269-70
394 दे—'महाराणा का महत्त्व' का 'कथन', पृ 1-2
395 'प्रेम-पथिक' मे कही-कही 31 मात्राओं वाली पक्तियॉ भी मिलती हैं। यथा—(।। ऽ ।।।। ।।।।ऽ । ।ऽ । ऽ । ऽ ।। ।।ऽ ।)
'जिसकी उस पर नवल प्रभा पड़ती प्रभात मे अति अभिराम = 31 मात्राए
396 'निराला का परिमल सन् 1930 मे प्रकाशित हुआ था, जिसमें अनेक अतुकात कविताए मुक्त छद में लिखी गई।
397 चित्राधार की 'नीरव प्रेम' व 'विस्मृत प्रेम' तथा कानन की 'गगा सागर' आदि कविताए
398 चित्रा की 'शारदीय महापूजन' व 'विसर्जन' नामक कविताए
399 कानन, की 'विरह' कविता
400 चित्रा की 'अष्टमूर्ति' कविता
401 चित्रा की 'चन्द्र' व 'उद्यानलता' कविताए
402 चित्रा की 'प्रभात कुसुम' व 'शरद् पूर्णिमा' नामक कविताए
403 चित्रा की 'विनय' व 'विभो' कविताए
404 चित्रा, 160
405 चित्रा, 150 ('इन्दु', कला 2, किरण 1)
406 चित्रा, 149
407 कानन, पृ 70-71 ('इन्दु', कला 5 खड 1 किरण, 1, जनवरी 14
408 झरना, 7 पृ 70-71 वही
409 झरना, 26 ('इन्दु', मार्च, 1915)
410 'इन्दु' (पाचवी किरण), मई, 1913
411 कानन, पृ 1, 5, 9, 36, 64, 78
412 झरना, पृ 59
413 वही, पृ 70, चित्रा, पृ 156-157
414 कानन, पृ 92, वही, पृ 71, 48, 4
415 चित्रा, पृ 182-183

416 झरना, पृ 29-49
417 चित्रा, पृ 143
418 कामा, 'रहस्य सर्ग' में छदों का पहला चरण, झरना, पृ 24
419 'करुणालय' व 'महाराणा का महत्त्व'
420 कानन, पृ 84, 90 झरना, पृ 18
421 वही, पृ 111
422 भारतेन्दु प्रकाश (चित्रा), कानन, पृ 99
423 कामायनी, कर्म, सर्ग
424 वही, चिन्ता सर्ग
425 कानन, पृ 86, 95
426 जहा भी 'छप्पय' का प्रयोग है वहा।
427 झरना, पृ 27-28, 'किरण', झरना, कानन, पृ 58, 88
428 कानन, पृ 78
429 झरना, पृ 42, कानन, पृ 50
430 कानन, पृ 38
431 चित्रा, पृ 7, 141
432 डब्लू एच हडसन 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ लिटरेचर', पृ 119-20
433 कामा, पृ 13
434 वही, पृ 45
435 वही, पृ 213
436 वही, पृ 294
437 लहर, पृ 49
438 वही, पृ 38
439 सिद्धात और अध्ययन, पृ 230
440 आधुनिक काव्य रचना और विचार, पृ 138-139
441 'काव्य और कला तथा अन्य निबध', पृ 86 69
442 ' अतएव दोनों की अनिवार्यता असदिग्ध है परतु प्रश्न सापेक्षिक महत्त्व का है। विधि और तत्त्व दोनों का ही महत्त्व है, परतु फिर भी तत्त्व, तत्त्व ही है। रस और ध्वनि मे तत्त्व पद का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर निश्चित है—रस।"—हिंदी ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ 69
443 'आलोचना' (27) मे डॉ हरद्वारीलाल शर्मा का लेख—'ध्वनि-सिद्धात का सामयिक मूल्य'
444 काव्यादर्श, 1/93
445 वही, 1/100
446 भारतीय साहित्यशास्त्र, खड 2, पृ 160
447 सेठ कन्हैयालाल पोद्दार काव्य कल्पद्रुम, प्रथम भाग, रस-मजरी, पृ 288-289
448 भारतीय साहित्यशास्त्र, खड 2, पृ 146
449 वही, पृ 150-51
450 काव्यादर्श, 2/1
451 वही, 1/102
452 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 65, तथा पृ 66 भी
453 हिंदी काव्यालकार सूत्र (भूमिका), पृ 186
454 वही, पृ 186
455 ध्वन्यालोक, 3/47
456 भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग 2 पृ 464
457 वही, पृ 462
458 वही, पृ 464
459 चिन्तामणि, भाग-1, 'कविता क्या है' नामक लेख

460 देखिए—'काव्य और कला तथा अन्य निबध' मे 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक लेख
461 आचार्य विनयमोहन शर्मा साहित्यावलोकन, पृ 65
462 वि दे, हमारा लेख—'प्रसाद के नाटक' सेठ गोविन्ददास अभिनदन ग्रथ, पृ 703-730
363 वि दे—'श्री महावीर अधिकारी द्वारा सपादित 'जयशकर प्रसाद जीवन-दर्शन', 'कला और कृतित्व' के पचम खड मे, तथा 'वातायन' के 'गीत अक' मे हमारे लेख—क्रमश 'प्रसाद का गीति काव्य' तथा 'गीत का स्वरूप'
464 वि दे—डॉ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन, पृ 274-75
465 'आलोचना' (28), पृ 51
466 'प्रसाद और निराला' नामक लेख
467 वाड्मय विमर्श (प्रथम उपस्करण), पृ 32-33
468 'प्रसाद और निराला' नामक लेख से
469 'But the success of American poetry in the 20th century has not, I think been chiefly ideological, it has been stylistic Our poets have been most concerned with new ways of expressing them (ideas) ××× their greatest success has been in the field of technical competence in a few cases technical brilliance '—P Y 'American Poetry in the 20th Centurey' p 23
470 इस प्रकार विरोधाभास आधुनिक साहित्य मे हमारे लिए सर्वथा अपरिचित वस्तु भी नही—देखिए, आचार्य वाजपेयी जी के 'प्रसाद और निराला' नामक लेख का अतिम भाग।

दशम प्रकरण

प्रसाद-साहित्य का मूल्यांकन

प्रकरण-प्रवेश

प्रकरण-सगति

साहित्य-समीक्षा व्यापार के तीन प्रमुख अग है—भावन, विश्लेषण और मूल्याकन। यद्यपि वैज्ञानिक स्पष्टता के आग्रह से ये तीनों अंग स्वायत्त या परस्पर निरपेक्ष भी समझे जाते हैं, किंतु परिपूर्ण समीक्षा-व्यापार की सार्थकता इन तीनो की समग्रता में ही चरितार्थ होती है। इन तीनों अगो के तारतमिक महत्त्व के अकन मे यहा अधिक न पडकर सामान्यत यह कहा जा सकता है कि 'मूल्याकन' उक्त व्यापार की चरम परिणति है। अत प्रसाद के सबध में मूल्याकन के इस प्रकरण की आवश्यकता सहज-स्पष्ट है हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे पिछले 25-30 वर्षो मे प्रसाद-साहित्य का विश्लेषण-विवेचन पर्याप्त हो चुका है, पर प्रसाद से, काल की दृष्टि से, अति निकटता के कारण अथवा प्राचीन व नवीन के प्रबल मथन से प्रसूत नवीन जीवन-दृष्टियो और कला-दृष्टियों के आलोक में निर्मित साहित्यिक मूल्यों के स्पष्टीकरण और स्थिरीकरण की प्रतीक्षा मे अब तक प्रसाद के मूल्याकन का, कतिपय विशिष्ट अपवादों को छोडकर, कोई सश्लिष्ट प्रयत्न सामने नही आया। प्रसाद-साहित्य के विविध अगों या रूपों पर, स्वतत्र रूप से अनेक प्रौढ कृतियों के प्रणयन द्वारा समीक्षा और शोध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मूल्यात्मक तथ्य निकाले गये है, पर कुछ अपवादों को छोडकर, विधाओ को समग्र या समवेत रूप मे लेने पर, रासायनिक प्रक्रिया से, जिन नूतन तथ्यो की प्राप्ति सभव है, उनके अवगाहन तथा प्रस्तुतीकरण का कोई विशिष्ट उद्योग दिखाई नही पडा। अत स्वाभाविक ही है कि इस प्रबध के प्रत्येक प्रकरण से जो निष्कर्षात्मक तथ्य प्राप्त हुए है, उन पर समग्र दृष्टि रखते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुचने का प्रयत्न, जो शोध-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्य अग ही है, किया जाये। वस्तुत विश्लेषण की परिणति के रूप मे प्रसाद के विशिष्ट प्रदेय को स्पष्टता के साथ उभारना और प्रस्तुत करना इस प्रबध का एक गभीर या सर्वोपरि दायित्व है, प्रबध का समस्त विश्लेषण-व्यापार मानो इसी के लिए नियोजित हुआ है। इस दृष्टि से प्रसाद-साहित्य का मूल्याकन नामक यह प्रकरण यहा सुसगत ही समझा जायेगा।

प्रकरण-सबध के अतर्गत यहा एक बात का सकेत कर देना भी आवश्यक है। समीक्षा के प्रकारों मे एक प्रकार है—निर्णयात्मक आलोचना, जो अपनी प्रक्रिया या प्रकृति के कारण सैद्धातिक तथा व्याख्यात्मक या व्यावहारिक आलोचना की अपेक्षा, उत्तम कोटि की आलोचना नही समझी जाती, पर 'मूल्याकन' और 'निर्णय' हमारी दृष्टि में दो भिन्न बातें हैं, मूल्याकन

किसी व्यक्ति, वस्तु या कृतित्व का, जीवन और कला की स्वतत्र या समवेत तुला पर, उत्कर्ष या अपकर्ष आककर सिद्धि-उपलब्धि का निस्सग भाव से—शुद्ध वस्तून्मुखी दृष्टि से—तोलन है, जबकि निर्णय मे एक कठोर या हृदयहीन न्यायाधीश की तरह या किसी स्थूल या पूर्वाग्रह-शासित दृष्टि से, शासक स्वर में, एक निर्णय-विशेष का अध्यारोप है। निश्चय ही प्रथम दृष्टि अधिक व्यापक, मानवीय, काव्य-सत्य-प्रेरित तथा भावी विकासात्मक चिंतन के सभाव्य परिणामो की स्वीकार्यता के प्रति उदार तथा द्वितीय दृष्टि प्राय कठोर एव अहपूर्ण-सी जान पडती है। मान्यताओं के सतत सस्कार और विकासशीलता के इस युग में निर्णयात्मक आलोचना कदाचित् इसी कारण आज आलोचना का बहुत स्वस्थ प्रकार नही मानी जाती। मूल्याकन और निर्णय का यहा यह तात्त्विक और मूलभूत अतर समझकर चलना ही निरापद होगा। हम मूल्याकन का प्रयास मात्र कर रहे है, किसी प्रकार के अतिम निर्णय का कोई दुस्साहस नही। यो प्रत्येक विचारणीय प्रश्न का निर्णय होना ही चाहिए, क्योकि निर्णय निश्चयात्मक ज्ञान होता है और वह प्रमाणों का फल होता है—'निर्णयोऽवधारणज्ञानम्। तच्च प्रमाणाना फलम्।'[1] किंतु साथ ही यह भी सत्य दिखायी पडता है, और विशेषत काव्य-साहित्य जैसी सूक्ष्म-तरल वस्तु या उसकी विवेचना के सदर्भ मे, कि किसी विकासशील वस्तु का अतिम सत्य निकालना असभव ही होता है। जैनों का 'स्याद्वाद' निर्णय की इस असभवता की ओर सकेत करता है। मूल्यो का निर्माण एक सतत विकासशील प्रक्रिया है और अनेक जीवन-दृष्टियों व युग-भेद से एक ही साहित्य की विभिन्न व्याख्याए शक्य हैं। अत अपने आयोजन को हम 'मूल्याकन' की मृदुल व लचीली संज्ञा ही देना चाहेगे, जिसमें तर्क-सम्मत तथा विविध जीवन-दृष्टियों पर आधारित नाना व्याख्याओं की सगति व प्रामाणिकता की सभावना भी पूर्व-निहित है।

मूल्याकन का गाभीर्य व दायित्व

साहित्यिक मूल्याकन का कार्य एक अत्यत गुरु-गभीर कार्य है। 'मूल्याकन का साहस'[2]—यह पदावली ही इस कार्य की गुरुता का सकेत करती है। रिचर्ड्स ने आलोचक के लिए मूल्यो का परिनिष्ठित व निर्भ्रांत न्यायाधीश होना अत्यत आवश्यक माना है।[3] यह तो ठीक है, पर साथ ही कठिनाई यह भी है कि मूल्य का सही लेखा लगाया भी गया है या नही, इसका अतिम निर्णय भी तो कौन करेगा[4]—इसलिए कि जीवन व साहित्य की विविध विचार-सरणियों के तुमुल सग्राम में कौन-सा मूल्य सर्वमान्य हो सकेगा, यह निश्चित रूप से कह सकना अत्यत कठिन है। विशद, सूक्ष्म और विराट् प्रश्न है, जिसका सबध हमारी समस्त चेतना, हमारे इतिहास, हमारे समाज, मानव की चरम नियति और हमारे सर्वोच्च रुचि-सस्कार का प्रश्न है। रिचर्ड्स की एक करुण कल्पना है कि सन् 3000 के लगभग (यदि सब कुछ ठीक चलता रहा तो) मानव-ज्ञान इतना समृद्ध हो चुकेगा कि उस युग के लोगों को हमारी सौदर्य-चिता, हमारा मनोविज्ञान और मूल्य-विषयक हमारे साधु सिद्धांत बडे दयनीय जान पडेंगे।[5] और वर्तमान युग में भी देखें तो जहा मूल्यो के बटखरे तैयार होते हैं वहा भी बड़ा विरोध व वैमत्य है।[6] इससे मूल्याकन के कार्य की गुरुता व जोखिम का सहज ही अनुमान हो सकता है। रिचर्ड्स ने तो स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि अभी हम इस दृष्टि से अत्यत अपरिपक्व है, मूल्याकन की नाप-जोख कैसे की जानी चाहिए, इससे अभी हम अपरिचित ही है।[7] पर साथ ही नवीन

कृतियो का मूल्याकन आज हमारा एक ज्वलत प्रश्न भी है। हर्ष की बात है कि आज का आलोचक इस दिशा मे जागरूक है, वह मूल्याकन की आवश्यकता समझते हुए उसके साधन व प्रक्रिया के सबध मे सचित है।[8]

जो हो पर इससे साहित्य समीक्षा के क्षेत्र मे मूल्याकन के उद्योग की अनिवार्यता या अपरिहार्य आवश्यकता किस प्रकार न्यून या शिथिल होती नही जान पडती। वस्तुत कृति अथवा कृतिकार-विषयक सत्य को उघाडने के लिए वदना, भावुकता, स्तवन आदि के कुहासे को भेदकर—सही-सही और निर्मम भाव से मूल्याकन करना समीक्षक या शोधार्थी का सर्वोपरि दायित्व है।

पश्चिम मे नवीन मूल्यों के आधार पर वर्तमान युगों में समीक्षको ने रचनाकारो का काफी कडाई के साथ मूल्याकन किया है। आर्नल्ड और इलियट के नाम लिये जा सकते है। वड्र्सवर्थ के लिए मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है कि वह अपने प्रेरणास्रोत के मूलो पर रहता हुआ भी सदा बहुमूल्य रचना नही देता, अत जो सदा उसकी प्रशसा मे ही लग रहते हैं, वे वास्तव मे विवेकाभाव से अपने आलोच्य साहित्यकार को हानि ही पहुचाते है।[9] इसी प्रकार इलियट ने एडिसन आदि के सबध मे कहा है। ताररवाव ने वड्र्सवर्थ के लिए एक स्थान पर तो यहा तक लिख दिया है कि कभी-कभी वह बचकाना, निष्प्रभ या चमत्कारहीन और फूहड (childish, dull, silly) भी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मूल्याकन मे मुलाहिजा करने या रखने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे वहा कम होती चल रही है। प्रसाद के सबध में भी हमें अधिक निस्सग होने का अभ्यास करना है, क्योकि उनकी आतककारी अभ्रकश गुरुता से अभिभूत होकर, विद्वानो की दृष्टि में, वस्तुत उनको परखने का प्रयत्न नही हो रहा है और जो कुछ हो भी रहा है, वह बुद्धि को तिलाजलि दे श्रद्धावश कुछ और ही बनाया जा रहा है प्रसाद जी के आलोचक तो उनको आसमान पर चढाने मे लगे है।[10] ऐसी स्थिति मे प्रसाद-साहित्य का मूल्याकन हमारे सामने एक चुनौती बनकर उपस्थित है, अत तथ्य-शोध व तत्त्व-बोध की दृष्टि से वह एक गभीर साहित्यिक अभियान होना चाहिए।

मूल्याकन की आवश्यकता

अब यह प्रश्न खडा होता है कि मूल्याकन की आवश्यकता ही क्या है? साहित्यकार स्वच्छद रूप से अपना सर्जन करता चले, और मानव-मन की स्वच्छद लहरों पर उसे क्रीडा के लिए छोडता चले, क्या इतना ही पर्याप्त नही? जिस सृजन मे जितनी प्राण-ज्योति व शक्ति होगी, उसके अनुसार वह सृजन स्वयमेव जी लेगा। रचनाकार भी मानव-मन की इस उभय पक्षीय प्राकृतिक प्रक्रिया से सहज ही सतुष्ट हो जायेगा। साहित्य के समीक्षको-दार्शनिको के द्वारा भावी मूल्याकन की अवश्यभाविता की भावना से क्या साहित्यकार, पीले पत्ते की तरह, पहले से ही भयभीत होकर सहज-स्वाभाविक रूप में अपना अबाध सर्जन कर सकेगा? स्वच्छदता साहित्य का एक महान् गुण है। क्या ऐसे सर्जन को ऐसी कृत्रिम कसौटियो पर (जिसकी रचयिता सभवत कल्पना भी न करे) घिस-परखकर देखने का निर्मम व्यापार कोई स्वस्थ साहित्यिक प्रक्रिया है? क्या मूल्यों के भारी जुए को गले मे डालकर वह सहज आत्म-दान कर सकेगा? फिर मूल्याकन का प्रयत्न ही कितना असभव, जटिल व खतरनाक है। क्या यह आलोचक का दभ नही कि साहित्यकार की आतरिक सत्य-भावना, जो निखिल सृष्टि के पटल

पर उसका सबसे प्रिय स्वानुभूत सत्य है और इस प्रकार अपनी प्रामाणिकता मे ऐसा अद्वितीय और निर्विवाद है कि जिसके जाचने की कसौटी न है और न होगी, जो किसी ऐसी देशी-विदेशी तराजू पर तोले, ऐसे पैमाने से उसे नापे, और ऐसी कसौटी पर उसे कसे, जो कवि या साहित्यकार की भावनाओ के निजी अकाट्य पैमाने की तुलना मे नितात हेय, त्याज्य व हास्यास्पद हो, क्या कोई भी गौरवशाली और स्वाभिमानी साहित्यकार इस प्रकार तुलित या निकषित होने के लिए अपने आपको स्वेच्छा से प्रस्तुत करना चाहेगा? क्या यह उसकी एकात निजी स्वानुभूति व जीवन-मर्मरूप पुलक-रोमाच का उपहास नही है? इसकी क्या गारटी है कि सूक्ष्म अनुभूतियो की जाच के अनुरूप ही सूक्ष्म बटखरे भी तैयार हो चुके हैं।

मूल्याकन की आवश्यकता के प्रश्न को लेकर इस प्रकार की तर्कराजि उपस्थित की जा सकती है। (वास्तव में एक दृष्टि से इन तर्कों मे बडा वजन है। पर एक दूसरे आधार-बिदु (Stand Point) से भी इस समस्या पर विचार करना होगा। साहित्यकार अपनी प्रकृति से स्वच्छद है। वह यदि सचमुच स्वच्छद वृत्ति का है तो मूल्याकन जैसे साहित्यिक प्रयत्नों के होते हुए भी उससे वह क्यो हततेज, नियत्रित व आतकित हो। स्रष्टा अपना कार्य करे और आलोचक अपना। इसमें रचयिता को क्यो आपत्ति होनी चाहिए? फिर मूलत मूल्याकन का प्रश्न एक बडे धरातल का प्रश्न है। युग की जाग्रत मेधा, रचनात्मिका चेतनाओं की अर्जनाओ-उपलब्धियों का लेखा-जोखा लेती चलने के लिए बाध्य है, विवश है। "उपजहि अनत, अनत छवि लहहि।" स्रष्टा से हम यह आशा नही कर सकते कि वह नियमत अपने सृजन की व्याख्या भी करे। इस कार्य के लिए उससे अधिक अवकाश-प्राप्त अधिक योग्य व कार्य-कुशल और सभवत अधिक समीक्षोपयोगी मेधा-बुद्धि वाले विशेषज्ञ तैयार है जिनका काम ही रचनाओं में से ज्योतिया निकालकर देखना और दिखाना है। प्रत्येक देश की अपनी एक दीर्घ काल-सचित सास्कृतिक राशि होती है, जिसको निरतर समृद्ध-अभिवृद्ध करते चलते देखना कुछ विशेष प्रकार के बुद्धिजीवियो (आलोचकों) की एक निगूढ व प्रिय वासना है, उनका एक दायित्व है। इस स्थायी सास्कृतिक निधि में वे ही उपलब्धिया सम्मिलित की जा सकती है जो एक ओर तो मानव-मन के गहरे तत्त्वो से उद्‌भूत होकर जीवन-सत्य की वाहिनी हों और दूसरी ओर वह सार्वकालिक व सार्वदेशिक कसौटियों पर निरखी-परखी जाकर तथा अपनी निर्दोषता व निर्मलता में विवादातीत ठहराई जाकर सस्कृति के माध्यम से मानव-मात्र की स्थायी सपत्ति होने की महत्त्वाकाक्षिणी हो। राष्ट्रीय सस्कृति और अतत विराट् मानव ज्ञान-सपत्ति के कोश को समृद्ध-पुष्ट करने की परपरा में मूल्याकन का यह कठोर कर्म एक निर्मम आवश्यकता है। आचार्य वाजपेयी जी के शब्दों में भी इस अनिवार्य आवश्यकता का पोषण किया जा सकता है "कवि और उसके काव्य का विवेचन और मूल्याकन कई स्तरों पर किया जा सकता है, और यह भी सच है कि विभिन्न समयों और युग-प्रवृत्तियो के प्रभाव से उक्त विवेचन और मूल्याकन मे परिवर्तन भी होते रहते हैं। परतु इन अनिवार्य परिवर्तनो के रहते हुए भी कवि की मूल वस्तु के स्वरूप और उसके काव्योत्कर्ष के सबध में कुछ स्थायी और अपरिवर्तनीय धारणाए भी रहा करती हैं। इन धारणाओं की पुष्टि करना आवश्यक होता है, अन्यथा किसी भी कवि के सबंध में राष्ट्रीय प्रतिक्रियाओं का स्थिरीकरण नही हो पाता। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं का स्थिरीकरण प्रत्येक युग के समीक्षकों का आवश्यक दायित्व है।"[11]

बात यह है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति (जो कृत्रिम, प्रमादपूर्ण, अपरिपक्व और कौशलहीन भी हो सकती है) बिना किसी विशिष्ट आधार के श्रेष्ठ कही भी कैसे जा सकती है। वस्तुत· मूल्याकन से एक बडा लाभ भी है। इस प्रक्रिया में जहा किसी सभावित भ्राति या प्रसाद से अशुद्ध या कृत्रिम आधारों पर मूल्याकन की भी एक सभावना है वहा सही हाथो में पडकर कृतियो के सनातन रूप से काल-पटल पर जीवित रहने की भी अपार सभावनाए निहित हैं। सभव है कि वरेण्य व सुयोग्य रचनाए यथार्थ मूल्याकन के प्रयत्न के अभाव में किसी अज्ञात उपेक्षा से अधकार में ही लुप्त हो जाये। इस प्रकार कृतियों या कृतित्व के मूल्याकन की एक आवश्यकता है जो स्रष्टा की दृष्टि के अवाछित होने पर भी एक व्यापक लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपरिहार्य है। रचना के आनद मे एक चेतना-शाखा (faculty) या भावन से लेकर साथ ही साथ या बाद मे एक दूसरी चेतना-शाखा, अर्थात् विवेक वृत्ति से हम समीक्षा की ओर भी प्राय· बढ चलते हैं और किन्ही सुनिश्चित पूर्व अथवा नवीन आधारो पर रचना का मूल्य भी आकने लगते हैं।[12]

अपनी सभ्यता-सस्कृति की उपलब्धि, समृद्धि या विकास का लेखा-जोखा लेते चलना प्रत्येक राष्ट्र या समाज के लिए आवश्यक है, अपनी अर्जना की धारा को विकसित करते चलना प्रत्येक युग की मनीषा का दायित्व है। प्रत्येक युग में सर्जन होता है और उस सर्जन का तटस्थ भाव से और इस दृष्टि से मूल्य निर्धारित करना कि अमुक कृति या कृतिकार का कृतित्व देश या विश्व की मानव ज्ञान-धारा में महत्त्वपूर्ण योगदान है, अत्यत आवश्यक है। किंतु किसी विशिष्ट व्यावहारिक सुविधापूर्ण दृष्टिकोण से या किसी एकात निजी मनोनुकूल आधार पर एक ही कृतित्व विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न रूपों में आका जाता है, पर चरम सत्य तो वस्तुत· एक है। उन विविध दृष्टियों के केंद्रीय तत्त्वो को आत्मसात् करते हुए सर्वोपरि आधार तैयार हो सकता है। सब एकागिताग्रस्त, अधूरे, क्षेत्रीय, वर्गीय दृष्टिकोणों से मुक्त होकर, सृजन के निजी सत्य से कृतित्व को आककर उसके गुण-दोषों का विश्लेषण करके, उसके मूल्य को आकना या निर्धारित करना ही समीक्षक का सर्वोपरि दायित्व है। स्वभावत· ही यह कार्य अत्यत जोखिम का है, कितु है वह अत्यत आवश्यक। यह भी सभव है कि अन्य दृष्टियों को एकागी ठहराकर हम स्वय भी किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर पुन उसी दोष को आशिक या पूर्ण रूप से, जान या अनजान में, दुहरा रहे हों। कितु तर्क और न्याय ही जब पथ-प्रदर्शक हो जाता है तो मूल्याकन मे पर्याप्त निर्दोषना आ सकती है। साथ ही यह भी समझ रखना चाहिए कि शाश्वत कसौटियो का पूरा सम्मान करते हुए भी हमारे मूल्याकन मे युग की आवश्यकताओं, रुचियो व सस्कारो (व्यक्तिगत भी) का समाविष्ट हो जाना भी, मानवीय मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, सभव हो सकता है। एक ही कृतित्व का मूल्याकन विविध युगों में विविध रूपो से होता चलेगा, इसमें भी कोई संदेह नही। अवश्य ही विविध दृष्टियों से उपलब्ध ये मूल्याकन, अपनी चरम परिणति मे, आलोच्य कृतित्व के सबध में एक व्यापक और अभिवदनीय सत्य प्रदान करेगे।[13]

मूल्याकन की प्रक्रिया

मूल्याकन की जो प्रक्रिया हमने अपनायी है वह प्रस्तुत प्रकरण की रूपरेखा से स्पष्ट ही दिखायी पडेगी। साहित्य की मूल प्रकृति के आलोक में ही इस प्रक्रिया का निर्धारण हुआ है।

मूल्याकन के प्राय सभी आवश्यक, प्रमुख व गौण आधारों का निर्धारण व निर्माण करके उन आधारों पर प्रसाद-साहित्य का विस्तारपूर्वक निरीक्षण-परीक्षण किया गया है और अतिम परिणाम की अवगति से पूर्व प्रसाद-साहित्य की सब पूर्वागत उपलब्धियो (गुण-दोषो को भी विवेचन मे गुफित कर दिया गया है। इस प्रकार मूल्याकन में उन सब बातों का विचार रखा गया है जो सैद्धातिक दृष्टि से इस विषय में आवश्यक ठहराये जाते है।

मूल्य और मूल्यांकन तात्त्विक विवेचन

मूल्य क्या है ? मूल्य का अर्थ व स्वरूप

मूल्य क्या है ? मूल्याकन के क्षेत्र मे पाव रखते ही पहला प्रश्न खडा होता है—मूल्य क्या है ? 'मूल्य शब्द की विविध अर्थ-छायाओं के स्पष्ट अवबोध पर ही प्रसाद-साहित्य के मूल्याकन की ओर हम आश्वस्त ढग से आगे बढ सकते है। यहा ध्यान देने की पहली बात यह है कि 'मूल्य' शब्द (अन्य अनेक शब्दों की ही भाति) साहित्य-क्षेत्र का अपना निजी शब्द न होकर वाणिज्य-अर्थशास्त्र आदि के क्षेत्र का शब्द है।[14] अत शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से 'मूल्य' शब्द का साहित्यिक पर्याय सभवत महत्त्व, सामर्थ्य, क्षमता या वास्तविक क्षमता, मर्म- सवेदना आदि शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।[15] सस्कृत, हिंदी[16] और अग्रेजी[17] के कोशकारों ने इसके विभिन्न अर्थ दिये है। उन अर्थो में समाये विविध आशयों को एकसाथ मिलाकर देखने पर, अत्यत व्यापक रूप से, वही वस्तु मूल्यवान् समझी जा सकती है जिसमें आतरिक योग्यता, उच्चकोटि की क्षमता या हित करने की शक्ति हो, जो उपयोगी व सम्माननीय हो, जो निर्माण कौशल के किसी उच्च उत्कर्ष बिदु की निदर्शक हो तथा स्पृहणीय हो। 'मूल्य' शब्द के अर्थ के अनुसार हम 'मूल्याकन' किसी कृति या कृतित्व का सामान्यत या व्यापकत स्वीकृत वस्तूनमुख प्रतिमानो या पूर्वनिश्चित प्रतिमानों की व्यापक पृष्ठभूमि मे परीक्षण, नाप-जोख, जाच और निर्णय की एक प्रक्रिया और कार्यप्रणाली (Process) को कह सकते हैं।

हम जो कुछ भी करते है उसका कोई-न-कोई स्थूल या सूक्ष्म, प्रकट या प्रच्छन्न लक्ष्य या उद्देश्य अवश्य रहता है। निरुद्देश्य कुछ करना श्रम से बचने वाले व उपादेयता-प्रेमी मानव का स्वभाव नही। 'कला कला के लिए' के अनुयायी भले ही कहते रहे कि हमारी कला निरुद्देश्य है, (और निश्चय ही कला का यह चरम स्वरूप है) पर मनोविज्ञान तो उनकी निरुद्देश्यता को भी सोद्देश्यता से परिचालित मानेगा, क्योंकि उनकी दृष्टि में निरुद्देश्य रहकर कुछ भी करना मानव-स्वभाव के विपरीत है। व्यवहार में तो कार्य की कोटि या गुण का निर्णय प्राय उसकी उपादेयता की तुला पर ही होता है। हम किसी कार्य को पूर्ण आश्वस्त भाव से इसीलिए करते हैं या करना चाहते हैं कि उसका परिणाम मूल्य के रूप में स्वीकृत है। हमारी आवश्यकताए और प्रयोजन ही प्राय मूल्यो का निर्धारण करते हैं। जीवन में हमारी बहुत कुछ सफलता पग-पग पर मूल्याकन की स्वस्थता पर ही निर्भर करती है। अत मूल्य का अर्थ हुआ वह मान, जिसके आधार पर हम किसी व्यक्ति, वस्तु, कृतित्व या किसी सूक्ष्म सत्ता (भाव, विचार आदि) के गुण, योग्यता व महत्त्व को आकते है। इस प्रकार इस तथ्य में यह बात

निहित है कि (1) मानव का प्रत्येक कार्य सोद्देश्य ही होता है, (2) इस सोद्देश्य कार्य के पश्चात् स्वय कर्त्ता या द्रष्टा (व्यक्ति-समाज) के द्वारा उसके औचित्य, उपयुक्तता, उपादेयता व उससे होने वाली आत्मतुष्टि आदि का अनेक दृष्टियों से, जान-अनजान मे या प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से, मूल्याकन भी होना है। प्रत्येक समाज ने अपने औचित्य की एक तुला बना रखी है, जिस पर तोलकर ही किसी वस्तु का मूल्य आका जाता है। इसी प्रकार व्यक्तित्व को आकने की भी एक तुला है, जिसका आक प्राय समाज के आंक के अनुरूप ही चलता है। पर प्रत्येक व्यक्ति के मूल्य को समाज मान्यता देता चले तो व्यक्ति-वैचित्र्य या रुचि की अराजकता से कोई सामान्य आधारभूमि ही न रह जाये। हा, यदि प्रयोग व साहस से व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कुछ नये मूल्य, जो न्यायोचित व बुद्धिग्राह्य हैं, गढता है और समाज (यदि न्यायप्रिय व उन्नत हो तो) व्यापक रूप से उन्हें स्वीकार कर लेता है, तो परिवर्तन की प्रक्रिया के अनुरूप परिष्कृत या परिवर्तित नये मूल्यों की अवतारणा हो जाती है। इस प्रकार मूल्य-निर्माण में व्यक्ति, समाज, युग, आवश्यकता, काल आदि सबका समवेत योगदान है।

जीवन के मूल्य विविध मूल्य

कई प्रकार के मूल्यो की कल्पना की जा सकती है—यथा जीवन के मूल्य, सस्कृति के मूल्य, साहित्य के मूल्य, कला के मूल्य, व्यक्ति के मूल्य आदि। यों तो मानव जीवन एक अखडित सपूर्ण इकाई है किंतु मानव-मस्तिष्क की क्षमताओ की सीमाओ के कारण व वैज्ञानिक स्पष्टता की दृष्टि से, जीवन या मानव के समस्त अर्जित ज्ञान को हमने कार्य-सुगमता की दृष्टि से विविध विषयों या क्षेत्रों में विभाजित कर दिया है। दर्शन, धर्म, नीति, इतिहास, सस्कृति, राजनीति, विज्ञान, कला, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विविध ज्ञान-शाखाओं के अपने निजी मूल्य है, जिनकी उन क्षेत्रो में सर्वोपरि महत्ता है। इन सब ज्ञान-शाखाओ के मूल्य समग्र जीवन के व्यापक मूल्यों से अतत भिन्न नही हैं (हों भी कैसे, सभी जीवन में से ही तो निकले हैं।) फिर स्पष्टता की दृष्टि से और क्षेत्रीय कार्य-सुगमता या सौकर्य की दृष्टि से ये क्षेत्रीय मूल्य अपने स्थान पर हमें सर्वदा पूर्णतया मान्य हैं। अपने मूलों मे सब विषय परस्पर एक ही जीवन-रस से सिचित होते हुए भी व्यावहारिक रूप से अपने निजी मूल्यों की समष्टि रखते हैं, और वस्तुत इन्ही निजी मूल्यो से ये ज्ञान क्षेत्र अपनी स्वतत्र सत्ता बनाये रखते हैं।

प्रसाद-साहित्य के मूल्य को पहले ही सीधे-सीधे हृदयगम करने से पूर्व तदतिरिक्त अन्य प्रकार के मूल्यो की परिधि को समझ लेने से, परोक्ष रूप से, हमें हमारे गंतव्य के बोध में विशेष सहायता मिलेगी।

जीवन के प्राय सर्वमान्य, सार्वभौम या सार्वकालिक मूल्य (श्रेष्ठ पर ही दृष्टि रहती है) है—त्याग, दया, सहानुभूति, कर्त्तव्य-परायणता, सत्य, प्रेम, शौर्य, सेवा आदि जिन्हें समेटकर तीन मूल्यों मे रखा जा सकता है—सत्य, शिव और सुदर। व्यक्ति में इन तीनों में से एक का भी अभाव हो जाने पर उसके व्यक्तित्व का सतुलन ही बिगड सकता है। किंतु फिर भी सुविधा की दृष्टि से 'सत्य' दर्शन व विज्ञान का, 'शिव' धर्म का और 'सुदर' कला व साहित्य के क्षेत्र का मूल्य अथवा महामूल्य समझा जाता है। कोई तीनो के मजुलतम सामजस्य को कला का श्रेष्ठ रूप मानता है तो कोई निरपेक्ष सौंदर्य को। ये ही गुण जीवन के चरम काम्य है, इन्ही गुणों से जीवन का उत्कर्ष पाया जाता है और इन्ही गुणों से मानव-जीवन के विविध क्षेत्र,

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, अनुप्राणित रहते है। प्रत्यक्ष रूप में इसलिए कि विज्ञान आदि मे एकात निजी मूल्य ही—तथ्य से प्राप्त वस्तुगत सत्य ही—चरम मूल्य है, किंतु जो अपनी पूर्ण सार्थकता वस्तुत जीवन के चरम मूल्यों से सयुक्त होकर ही सिद्ध कर सकते है। तात्पर्य यह है कि जीवन के मूल्य ही चरम मान हैं। इसीलिए कदाचित् मैथ्यू आर्नल्ड ने सावधान किया है कि हम इस महान् शब्द 'जीवन' को कही भूल न बैठें (उनकी दृष्टि मे मानो काव्य का यही चरम मूल्य है)। इसी प्रकार सस्कृति के विविध मूल्य भी जीवन के मूल्यों के पैमाने पर ही नापे जाकर महिमान्वित होते है। कला या साहित्य के मूल्य सामान्यत या अत्यत व्यापक रूप में माने ही जाते है—आनद, रस, सौंदर्य, भाषाभिव्यक्ति आदि। इसी प्रकार व्यक्ति के मूल्य या गुण कहे जा सकते है—दया, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति आदि, जो अपना महत्त्वार्जन जीवन के आधारभूत मूल्यों से ही करते है। ध्यान देने पर दिखायी पडेगा कि जीवन वाड्मय, कला या सस्कृति के भेद से मूल्य तत्त्वत बदलते नही, हा, वे अधिष्ठान-भेद से कुछ स्वरूप परिवर्तन करके नई पदावली का एक ऊपरी या ज्ञानक्षेत्रीय आवरण (पारिभाषिक पदावली) मात्र धारण कर लेते हैं। इस विवेचन को 'प्रसाद' से सयुक्त करके देखने पर हम प्रसाद-साहित्य का मूल्य'—इस पदावली में निहित अर्थ को सहज ही ग्रहण कर सकते हैं।

साहित्य के मूल्य

'साहित्यिक मूल्य' का अर्थ है वह सर्वोपरि साहित्यिक गुण या वे गुण जो साहित्य को वह वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं जो मानव की अभिव्यक्तिमात्र (वाड्मय) के एक विशेष अश या अग (ललित साहित्य) का अनिवार्य सार-तत्त्व बनकर उसके निजी और स्वतत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते है। इन गुणों की कोई सख्या निर्धारित नही की जा सकती; वह एक चरम मूल्य भी हो सकता है और उसके अनेक अगभूत मूल्य भी। एक अनेक से सबद्ध रहता ही है। उदाहरणार्थ 'रस' को हम चरम साहित्यिक मूल्य मान सकते हैं। इस चरम मूल्य के साथ आनद, अभिव्यक्ति का सुख, सौंदर्य, (कलागत सौदर्य—जैसे ध्वनि, रीति, गुण, अलकार, वक्रोक्ति आदि सहित) कल्पना आदि मूल्य भी सबद्ध हैं। सस्कृत-साहित्य के विविध सप्रदायों में ध्वनि, रीति, अलकार, गुण आदि काव्य के प्रतिष्ठित मूल्य हैं। पर वे भी 'रस' नामक चरम मूल्य से अनिवार्यतः सबद्ध है। ध्वनिकार ने अपनी सूक्ष्म मनीषा से इस चरम मूल्य (रस) से सबको सबद्ध किया ही है।

सत्य, शिव, सुदर—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये जीवन के सार्वलौकिक व सार्वकालिक मूल्य हैं, जिनमें साहित्य का घनिष्ठतम सबध 'सुदर' से है। विविध कवि, स्रष्टा या आलोचक साहित्य का अनुशीलन करके अपने जीवनानुभव से प्रसूत रुचि-वैचित्र्य से बीज-रूप किसी एक ही सर्वोपरि गुण या मूल्य को महत्त्व दे बैठते हैं—अवश्य ही पूरी मानसिक ईमानदारी के साथ। इस प्रकार एक ही साहित्य-क्षेत्र में विभिन्न मूल्य बन जाते है जो अपनी एक केंद्रीय विशेषता की सामान्यता से एक सूत्र में ग्रथित किये जा सकते है। रस ही यह चरम सूत्र कहा जा सकता है। अन्य साहित्यिक मूल्य पृथक-पृथक दिखायी देते हुए भी वस्तुत किसी एक आधारभूत मूल्य (रस) से ही संयुक्त रहते हैं।

अतः हम 'रस' को चरम साहित्यिक मूल्य मान सकते हैं। यह ऐसा व्यापक मूल्य है जो पूर्व और पश्चिम की समस्त काव्य-चिंता के अधिकाधिक निकट जान पडता है, काव्य की

सार्वलौकिकता व सार्वजनीनता यदि मान्य है तो 'रस' को चरम मूल्य के रूप मे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नही दिखायी पडती। इस स्वीकार कर लेने पर जितने भी मूल्य प्रस्तुत किये गये है, उनकी सगति आसानी से बैठ सकेगी। जीवन के मूल्यों से भिन्न साहित्य के अपने विशिष्ट निजी मूल्य हैं। जिन गुणो के कारण हम साहित्य को साहित्य कहते हैं, विज्ञान, दर्शन या राजनीति आदि विषयों से भिन्न करके चीन्हते है, जो साहित्य को उसका विशिष्ट वर्ण या चारित्र्य (Distinct complexion or character) प्रदान करते हैं वे साहित्य के मूल्य कहलाते है। रस, ध्वनि, कल्पना, शैली, आनद प्रदान करने की शक्ति आदि सब मूल्य साहित्यिक मूल्यों के अतर्गत हैं। जीवन या जगत् से जो सामग्री साहित्य में उपादान या वस्तु रूप से उधार ली जाती है, उसका उपयोग, विन्यास या प्रयोग एक विशेष कौशल के साथ किया जाता है। इसी क्रिया की सफलता मे ही साहित्य के मूल्य निहित है।

कला अपने मूल रूप में अभिव्यक्त है, हर्ष-शोक की अभिव्यक्ति है, आत्मतुष्टि के लिए—स्वान्त सुखाय—अभिव्यक्ति है, इस अभिव्यक्ति से यदि अन्य को भी आनद प्राप्त हो तो यह दुहरी सिद्धि है। कला के जन्म के सबध में यह धारणा प्राय सर्व-समर्थित है। अत कला या साहित्य-काव्य का सर्वोपरि मूल्य यदि हम आनद मान लें तो कदाचित् कोई आपत्ति न हो। भारत में काव्य या कला की जो भी उत्कृष्ट विचारणा हुई है, सब मे उसके मूल गुण या रस या आनद को ही मूर्धन्य स्थान दिया गया है। भरत ने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते'[18] अर्थात्, 'रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नही होता' कहकर इस विषय मे सदेह नही छोडा है। कुन्तक ने काव्यबध को 'हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्द जनक'[19] तथा 'काव्यामृत-रसेनान्तश्चमत्कारो'[20] कहकर, दूसरे शब्दों में भरत मुनि की ही बात दुहरायी है। आचार्य मम्मट ने कवि भारती को 'ह्लादैकमयी', 'नवरसरुचिरा'[21] तथा काव्य के प्रयोजन मे 'सद्य परनिर्वृत्तये'[22] कहकर, विश्वनाथ ने 'वाक्य रसात्मक काव्यम्'[23] कहकर, तथा पडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्' व 'पुन पुनरनुसन्धानात्मा'[24] कहकर इसी रस तत्त्व की सर्वोपरिता को उद्घोषित किया है।

पर आज रस के स्थान पर विज्ञान व युग-जीवन के प्रभाव से अन्य अनेक मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की जा रही है, जिनमें से बौद्धिक व्यग्य बिब, प्रतीक, क्षण की अनुभूति, शिल्प आदि प्रमुख हैं। रस के अस्तित्व के ही सबध में भाति-भाति की शकाए उठायी जा रही हैं, जिनका सार कदाचित् यह है कि जबकि आज के सकुल जीवन में रस का अनुभव ही अवशिष्ट नही रहा तो रस की सत्ता ही काव्य के मूल में कैसे मानी जाये। वस्तुत यह विद्वानों में एक गंभीर विचार का विषय है। जहा तक प्रसाद का सबध है वे रसवादी हैं, और काव्य का चरम मूल्य रस ही मानते हुए जान पडते हैं। उन्होंने "रसवाद की पूर्णता प्रतिपादित की है।" रस की कल्पना वस्तुत अत्यत व्यापक आधार पर की गयी है। आज की शब्दावली में उसका पुनराख्यान कर आधुनिक काव्यालोचन के सभी मान उसकी परिधि में आ जाते हैं। साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखडता में व्यष्टि और समष्टि, सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अतर मिट जाता है। अन्य कथित मान या तो रस के एकागी व्याख्यान हैं या फिर असाहित्यिक मान।"[25]

सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त आचार्य वाजपेयी जी का यह 'निकष' अत्यंत सुंदर रीति से समस्या का समाधान कर देता है—"किसी काव्य का या साहित्यिक कृति का श्रेष्ठत्व

किसी सवेदन या रस-विशेष मे नही है, बल्कि उस सवेदन की मनोवैज्ञानिक प्राजलता, पुष्टता और गहराई मे है।"[26] आचार्य जी ने सभी समीक्षा-शैलियो का इसमें उचित स्थान व्यजित कर दिया है। इसमे भी 'रस' ही मुख्य है, जिसमे अभिनवगुप्त की मनोवैज्ञानिक दृष्टि और विश्वनाथ की सारी बात[27] समाविष्ट हो गयी है।

हमे तो ऐसा लगता है कि रसेतर विविध तत्त्व या मूल्य (भारतीय व पाश्चात्य) अलग-अलग न होकर एक ही चरम मूल्य के विविध अग, पक्ष या उपादान है जो व्यक्तिगत रुचि, आग्रह आदि के कारण या सामयिक महत्त्व से चरम मूल्य का स्थान ले बैठे है। वस्तुत ये जितने भी मूल्य है, वे सभी अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं, यहा तक कि प्लेटो के मूल्य, वस्तु-सत्य और नैतिकता भी अमान्य नही। डॉ नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि "रस सत्त्वोद्रेक की ही स्थिति है और यह उद्रेक अनैतिकता (स्थूल) से कदापि सभव नही।"[28] पर प्लेटो के द्वारा जो भ्राति हो गयी, वह तो यह है कि वस्तु-सत्य और कला-सत्य दोनो, काव्य-पद्धति, प्रक्रिया, या काव्य की मूल प्रकृति को भुलाकर, एक ही मान लिये गये। आगे के सब समीक्षको के मूल्य तो ऐसे है जो राजशेखर के समान काव्य की पुरुष रूप में कल्पना कर लेने पर सब बडे मजे में यथास्थान नियोजित किये जा सकते है। वस्तुत इस अतिवाद को बचाकर काव्य के चरम मूल्य का निश्चय करने के लिए राजशेखर, आनदवर्धन एव कुन्तक जैसे प्रतिभावान् आचार्यों की (जिन्होने अपने समय मे प्रचलित सब तत्त्वो को रस के केद्रीय सूत्र मे सफाई के साथ गूथ दिया) ही आवश्यकता है, जो सब तत्त्वो या मूल्यो का महत्त्व स्वीकार करते हुए सार्वलौकिक व सार्वभौमिक साहित्यिक मनीषा-मात्र का प्रतिनिधित्व कर सकें।

जीवन के मूल्य व साहित्य के मूल्य पारस्परिक सबध

जीवन के मूल्य व कला के मूल्य के पारस्परिक सबधो को लेकर साहित्य-जगत् मे दो प्रमुख विचारधाराए प्रवाहित है (1) जीवन के मूल्य सत्य, शिव, सुदर ही साहित्य के मूल्यो को गौरव प्रदान करते हैं, जीवन के मूल्यो से कटकर साहित्य के अपने नितात स्वतत्र मूल्य रस, शैली, अलकार, काव्य-रूप आदि विशेष महत्त्व नही रखते, तथा (2) जीवन के मूल्य पृथक् है, और साहित्य के मूल्य सर्वथा पृथक्। साहित्यिक सौष्ठव व उपलब्धि का एकमात्र मानदड जीवन-निरपेक्ष[29] कला का सौदर्य, अभिव्यजना, मुक्त कल्पना, आनद आदि ही है, और कुछ नही। ब्रेडले ने काव्य को एक 'स्वतत्र, स्वतपूर्ण और स्वायत्त' जगत् कहा है।[30]

जीवन के मूल्य क्या है, यह बताया जा चुका है। जिन उपकरणों या तत्त्वों से मानव जीवन अर्थवान्, महत्त्वपूर्ण या महिमाशाली होता है, वे ही मानव-जीवन के वास्तविक मूल्य हैं। मानव-जाति का इतिहास बताता है कि पशु-सुलभ वृत्तियो से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हुए ही मनुष्य ने अपनी मनुष्यता को पाया है। अत वे उदात्त वृत्तिया ही जीवन-मूल्यों (सत्य, शिव, सुदर) की निर्णायिका हैं, जिनसे मानव-जीवन अपनी किसी पूर्वनिर्धारित उदात्त नियति की पूर्त की ओर अग्रसर है। पर विचारकों का एक अन्य दल जीव-विज्ञान व मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य व पशु में मूलत कोई अतर नही पाता। ऐसे विचारकों का प्रभाव साहित्य पर भी पडा है और जब भी मूल्यों की खोज मे मानव और पशु का अतर स्पष्ट करके मानव और मानव-जीवन की उच्चता व श्रेष्ठता का निर्वचन होने लगता है, त्यो ही वे विचारक जीव-शास्त्र व मनोविज्ञान की दुहाई देते हुए, एक विचित्र घृणा से भर उठते है और मनुष्य की

श्रेष्ठता के दावे को एक छद्म या दभ कहकर जीवन के चिर प्रतिष्ठित मूल्यो के प्रति सदिग्ध या अवज्ञाशील हो उठते है और इसी मनोवृत्ति के साथ वे अपने कला-प्रेम का परिचय देत है। हमे तो यहा केवल यही कहना है कि शुद्ध आनदानुभूति के लिए कला के मूल्यो की स्वतत्रता निश्चय ही काम्य है, कितु जीवन के उन मूल्यो की जिनसे हमारा जीवन अर्थवान् बनता है, घोर उपेक्षा करके कला-स्वातत्र्य की पक्षधरता के आवरण मे मानव-जीवन को उसके मूल्यगत गौरव से वचित करना भी एक भयकर विडबना है। जीवन के उन महामूल्यों को हम 'सत्य', 'शिव', 'सुदर'—इन तीन मूल्यो मे विभक्त कर सकते है। ये मूल्य सार्वकालिक और सार्वलौकिक है—सभ्यता के अरुणोदय से ही मानव-समाज की सब पीढिया इन मूल्यो का परम सम्मान करती आयी है। कला या साहित्य की व्यक्तित्व-रक्षा के लिए रस या सौदर्य को प्रमुखता से मूल्य मानने मे किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति नही, पर उसे सत्य और शिव से पूर्णत विच्छिन्न करके, केवल निराशा, अनुत्तरदायित्व, इद्रिय-भोग और अधकारोपासना की अपनी व्यक्तिगत रुचि-रुझान का साधन बनाना भी मानव-चेतना के भव्य इतिहास को बहाकर धूलिसात् करने के समान है। वस्तुत जीवन के मूल्यो से कटकर तैयार हुए कला या साहित्य के मूल्य काव्य-साहित्य की चरम नियति की पूर्ति की दृष्टि से अत्यत अविश्वसनीय है (यह अच्छी तरह समझते हुए भी कि कला या साहित्य वस्तुमात्र नही है, अभिव्यजना है)। व्यक्त जीवन ही वस्तुत मूल प्रकाश-केंद्र है। वही से प्रकाश मानव-जीवन के सब क्षेत्रो को पहुचता है—भले ही फिर वे क्षेत्र अपनी प्रकृति, कार्य-पद्धति आदि के आधार पर उस प्रकाश को ग्रहण करें या न करे—यह उन पर निर्भर है।

मानव-जीवन के मूल्यो को स्वीकृति देते हुए, कला की आनददायकता व स्वतत्रता का पक्ष ग्रहण करने मे हमे तो कोई खतरा नही दिखायी पडता। जीवन से सर्वथा कटी हुई फेनिल व वायवी कला आनद के नाम पर हमे कोरे अधकार मे भी भटका सकती है। हमारी दृष्टि मे कला से कुछ या जितनी भी आनद-प्राप्ति सभव है, वह जीवन से सयुक्त होकर ही प्राप्त होगी। जीवन से वियुक्त कला भूलभुलैया या छलना मात्र ही सिद्ध होगी। यह कहते हुए हम एक क्षण के लिए भी यह नही भूल रहे है कि कला का क्षेत्र वस्तु-तथ्य का क्षेत्र कदापि नही है, वह शुद्ध आनदमूलक कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का क्षेत्र है।

विचार करने पर शुद्ध कलावादियों द्वारा प्रस्तावित जीवन से सर्वथा असपृक्त शुद्ध कला का चरम मूल्य, केवल रूप या अभिव्यक्ति ही, बच रहता है। पर रूप या अभिव्यक्ति क्या निराधार खडी रह सकती है? जीवन के इन मूल्यो की अस्वीकृति तो साहित्य के रूपात्मक मूल्यो के निर्माण का पथ ही छेंक देगी, क्योकि साहित्यिक रूप (Form) वस्तु के अभाव मे (न्यूनाधिक ही सही) कल्पित भी नही किया जा सकता। क्या मक्खन का रूप, मक्खन के पिड के अभाव में, किसी भी प्रकार कल्पित किया जा सकता है? पर कुछ महत्त्वपूर्ण बात अभी शेष है।

यद्यपि कला या काव्य-साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यो से कटकर नही रह सकते, फिर भी स्पष्टता के लिए हमे कला के मूल्यों की स्पष्ट परिधि निर्धारित करनी ही होगी, अन्यथा कला के मूल्यो को जीवन के मूल्यो से पृथक किया ही किस प्रकार जायेगा, दोनों समानातर या परस्पर पर्याप्त तो हो ही नही सकते, नही तो दोनों भिन्न पदावलियों का स्वतत्र अस्तित्व ही क्यों होता? दोनों मूल्य वर्ग न तो पर्याय हैं और न एक-दूसरे से पूर्णत पृथक् व आत्म-स्वतत्र,

यह भी हमें समझ लेना है। अत कला-साहित्य का अपना निजी मूल्य स्पष्टतया निर्दिष्ट होना चाहिए, जिससे कि उसे हम चरम मूल्य के रूप मे पहचान कर कला-कृति अथवा साहित्यिक कृतित्व की उत्कृष्टता जाचने-आकने के लिए यथासभव निरापद आधार पा सकें।

हमारी दृष्टि मे कला या साहित्य का चरम मूल्य 'रस' ही है। यदि हम एक के स्थान पर अनेक मूल्य (जिनका पहले सकेत किया जा चुका है) भी माने तो भी कोई आपत्ति नही होगी, क्योंकि वे अन्य मूल्य मूलत 'रस' से ही सबद्ध होकर या उसके अँगभूत होकर ही रहेंगे अत काव्य-मूल्य एक है या बहुसख्यक, यह हमारी दृष्टि में बहुत महत्त्व की बात नही है। एक या अनेक—जो भी मूल्य हम स्वीकार करे, उससे कला या साहित्य के वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्तित्व की स्वीकृति असदिग्ध है, और इतना ही हमारा अभीष्ट है। वस्तुत जीवन के मूल्यो में जो सुदर व आनद है वही काव्य में रस है। प्रश्न किया जा सकता है कि जब कला या काव्य जीवन का ही प्रतिबिब है तो कला या काव्य के मूल्य वे ही क्यों न मान लिये जायें जो जीवन के है? वास्तव मे ऐसा नही किया जा सकता, क्योंकि (1) तब तो जीवन और साहित्य दोनों को पर्याय ही मान लेना होगा, जो तर्कसगत नही, (2) मानव-ज्ञान की विविध शाखाओं, उनकी प्रवृत्तियो व उद्देश्यो के स्पष्ट ज्ञान की दृष्टि से जो वैज्ञानिक पार्थक्य किया गया है उसे ध्वस्त करके रख देने से बौद्धिक जगत् मे अराजकता-सी व्याप्त हो जायेगी। अत स्पष्टता के लिए कला और साहित्य का पृथक् क्षेत्र बनाये रखकर 'रस' (जिसमे सौदर्य व आनद सम्मिलित हैं) को ही चरम मूल्य बनाये रखना अत्यत उपयोगी होगा। रस के स्थान पर अन्य मूल्य या मूल्यों की स्थापना से विचार-सौंदर्य व चिंतन-व्यवस्था को बडा आघात लगेगा। 'रस' को हटाकर हम जिन अन्य मूल्यों का आग्रहपूर्वक स्थापित करना चाहते हैं, विचार करने पर वे सब रस के व्यापक, उदात्त व परिष्कृत रूप में—साहित्य इस समावेश की जितनी छूट सहज ही प्रदान कर सकता है, उसके अनुसार—पहले से ही समाविष्ट मिलेगे। यदि अगी-अग के इस क्रम का व्यतिक्रम हम दुराग्रहपूर्वक करते हैं तो इसका अर्थ अतत केवल यही होगा कि हम जीवन मे रस और आनद की जो सनातन और प्राकृतिक, अत प्रामाणिक व्यवस्था है उसे अकारण ही ढहाकर मानव की उस अनादि आनद शिरा को स्वस्थ रहकर जीवित नही रहने देना चाहते, जिसका रहना ही विराट् प्रकृति की लीलास्थली में चलते मानव और मानव-जीवन के अस्तित्व को अर्थवान् बनाता है।

वस्तुत रस में अन्य अनेक या अवातर मूल्य समाविष्ट हैं। यदि हम कला या काव्य की वास्तविक प्रकृति, जीवन में उसकी विशेष स्थिति व दायित्व, उसकी प्रक्रिया व उसके प्रभावस्वरूप को भली भाति समझ लें तो रस को सर्वोपरि तत्त्व या मूल्य मानने में कोई कठिनाई न हो। काव्य के 'प्रयोजनों' के रूप मे जो उपकरण परिगणित हुए हैं, वे अवातर जीवन-मूल्यों के समावेश के आग्रह के ही प्रतीक हैं। उनकी स्थिति रस की नीव को और भी पुष्ट, व्यापक, गभीर व विशद बनाती है। तात्पर्य यह कि कला या साहित्य का चरम मूल्य शास्त्र, व्यवहार व व्यक्ति की अनुभूति सभी दृष्टियों से 'रस' ही दिखायी पडता है।

प्रसाद ने न तो वस्तु और कला के सामंजस्य का पथ अपनाया है और न कोरी कला का। उन्होंने अनुभूति को प्राथमिक महत्त्व देते हुए ही रूप, अभिव्यक्ति या कला का महत्त्व स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में यही कहा जायेगा कि प्रसाद के कला-मूल्य जीवन-मूल्यों से ही अपनी शक्ति व महत्ता ग्रहण करते हैं। अवश्य ही, जीवन व कला के

मूल्यों के सबध को लेकर अनेक विचार-वर्ग बन सकते है। प्रसाद को इसमें कोई आपत्ति नही। महत्त्व की बात बस इतनी ही है कि प्रसाद जीवन-मूल्यो की उपेक्षा या अवमानना करके कला की आराधना के पक्षपाती कदापि नही। प्रसाद की रुचि, दार्शनिक दृष्टि व भारतीय कला-साधना के मेल में है।

इस विवेचन से हमें मूल्य का महत्त्व ज्ञात हो सकेगा। व्यक्ति, कला, साहित्य, विज्ञान, कार्य—कोई भी सत्ता हो, किसी-न-किसी प्रकार के मूल्य में ही उसकी सार्थकता निहित है। न्यायशास्त्र के तकाजे से पूछा जा सकता है कि दया, क्षमा, करुणा, आनद, शाति, व्यवस्था, सेवा, सत्य, ज्योति, अमृत ही चरम मूल्य क्यों हैं ? इनके अतिम मूल्य होने के क्या प्रमाण है ? राष्ट्र, व्यक्ति, या कला-स्रष्टा को इच्छानुसार यह छूट क्यो न दी जाये कि वह उक्त मूल्यों या गुणों के सर्वथा विपरीत मूल्यो या गुणों को निर्भ्रात रूप मे चरम मूल्य मानकर भी चल सके। यहीं पर मानव का प्रत्यक्ष अनुभव, जीवन की अखड परपरा, मानव के विश्वास और मानव का प्रयोग-सिद्ध अनुभव हमारी सहायता करता है, और भावी नवीन प्रयोगों की पूरी गुजाइश के साथ प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों व साहित्य-मूल्यों को निरापद स्थायी आधार के रूप में ग्रहण करने का गूढ सकेत करता है। तात्पर्य यह कि मूल्य एक तुला है, जिस पर हल्का-भारी तोला जाता है, एक मान है जिस पर कमोबेश नापा जाता है, एक निकष है जिस पर खरा-खोटा कसकर देखा जाता है। जैसे स्वर्ण की परीक्षा निघर्षण, छेदन, तापन और ताडन से ही पूर्ण होती है,[31] उसी प्रकार किसी साहित्यिक कृतित्व की परीक्षा या मूल्याकन भी किन्ही विशेष कसौटियों पर किया जाता है। यदि इस प्रकार के निकषन की कोई व्यवस्था न हो तो सर्जन की श्रेष्ठता की जाच के आधार के अभाव में अराजकता का साम्राज्य सहज ही व्याप्त हो सकता है। अत 'मूल्य' ही किसी वस्तु, व्यक्ति या कृतित्व की आतरिक क्षमता का अतिम निर्णायक तत्त्व है, और इसी से उसका सार्वत्रिक महत्त्व है।

मूल्यांकन के आधार . मुख्य तथा गौण

मूल्याकन के आधार से हमारा अभिप्राय क्या है, इसका उल्लेख भी आवश्यक है। किसी भी कृतित्व का मूल्याकन मनमाने ढग पर नही हो सकता। साहित्य का प्रभाव व्यापकतम होता है। यदि उसमें व्यापकतम प्रभाव की क्षमता नही है तो उसे व्यक्तिगत मनोविनोद की ही वस्तु हम कह सकेंगे। यदि साहित्य व्यापकतम प्रभाव से सपन्न है तो उसे उन्ही मानदडों पर परखना होगा जो सामान्य या व्यापक रुचियों व तृप्तियो का प्रतिनिधित्व करते है। तात्पर्य यह कि नितात वैयक्तिक या वर्गीय साम्प्रदायिक नही, कितु जाति-वर्ण-सम्प्रदाय से निरपेक्ष मानवीय मानदडों पर ही साहित्य का निर्भ्रांत मूल्याकन सभव है। अत सबसे पहले उन्ही मानदडों का उपयोग अनिवार्य है। पर मनुष्य आदर्शप्रिय होने के साथ-साथ व्यावहारिक प्राणी भी है। अत देश-काल की व्यापक प्रवृत्तियों, परिस्थितियों या रुचियों तथा व्यक्ति विशेष (कवि) की विशिष्ट धारणाओं, रुचियों-प्रवृत्तियों को तथा देश-विदेश की व्यावहारिक दृष्टि से साहित्य के सर्वांगपूर्ण परीक्षण की भावना से हम मूल्याकन के अवातर आधार भी बना सकते हैं। इन अवातर या अतिरिक्त मूल्याधारों का भी अपने स्थान पर पूरा-पूरा महत्त्व है, क्योंकि किसी कृति अथवा कृतित्व के मूल्य के यथार्थ निर्णय के लिए एकदेशीय या युगीन बटखरे ही

पर्याप्त नही होते। देश और युग की सीमाओं को लाघकर व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही कृतित्व का सम्यक् मूल्याकन हो सकता है।[32]

मूल्याकन के मुख्य आधार

मूल्याकन के अनेक आधार प्रस्तुत किये जा सकते है (1) कवि या साहित्यकार की एकात या अतरग निजी कलादृष्टि (जिसमे जीवनदृष्टि सम्मिलित है) का आधार, (2) मूल तात्त्विक-साहित्यिक आधार—रस, (3) तुलनात्मक—ऐतिहासिक आधार तथा (4) अन्य अनेक अवातर आधार।

ऊपर निर्दिष्ट आधारो मे से प्रथम और द्वितीय घनिष्ठ रूप से सबधित है। कवि या साहित्यकार की एकात या अतरग निजी कलादृष्टि का आधार जो प्रथम स्थान पर रखा गया है, वस्तुत रस से भिन्न कोई स्वतत्र आधार नही है। रसानुभूति एक ओर तो व्यापक विश्व की एकता का अनुभव कराती है और दूसरी ओर यह अनुभूति व्यक्ति के 'स्व' या आत्मा के सक्रिय योग से ही सभव होती है। यदि उक्त योग को हम उस अनुभूति के मूलाधार के रूप मे स्वीकार न करे तो रसानुभूति एक यात्रिक प्रक्रिया का परिणाम रह जायेगी और यह स्थिति रस की आत्मा से सर्वथा असगत है। रम या आस्वाद या चर्वणीयता भावक के अतरग व्यक्तित्व के पूर्ण सक्रिय सहयोग पर ही आश्रित है। अत हमने रचयिता की अतरग दृष्टि को आरभ मे रखा है। वस्तुत प्रथम आधार रस-तत्त्व से प्रगाढतम रूप से सबद्ध नही। उक्त दोनो आधारो को सर्वथा भिन्न आधारों के रूप मे देखना भयकर भ्राति होगी। आनदवादी और रसवादी प्रसाद मे दोनों दृष्टियो मे किसी भी प्रकार का अतर नही।

प्रसाद-साहित्य के मूल्याकन का अर्थ है, जीवन और कला के व्यापक मूल्यो पर प्रसाद की रचना-समष्टि पर, गुण और दोषो पर सामूहिक दृष्टि रखते हुए, उसके प्रदेय को आकना और यह देखना कि साहित्य या काव्य-तत्त्वों का अपने से अथवा अपने से अलग अन्य तत्त्वों से किस प्रकार का और किस अनुपात में ऐसा मिश्रण हुआ है कि वह प्रसाद के व्यक्तित्व की स्वतत्र रूप मे प्रतिष्ठा करता है। प्रत्येक आधार का स्पष्टीकरण करते हुए अब हम उस पर प्रसाद की उपलब्धि को आंकने का प्रयास करेगे।

(1) लेखक के निजी दृष्टिकोण का आधार

रचनात्मक साहित्य के मूल्याकन के लिए लेखक के निजी दृष्टिकोण का आधार हमारी दृष्टि मे अत्यत महत्त्वपूर्ण है। हम किसी भी साहित्यकार की रचना का मूल्य या महत्त्व इतना आककर नही रुक जाते कि उसमे साहित्य के सब तत्त्वो का सुदर अवस्थान या समायोजन हुआ है। वास्तव में रचनात्मक साहित्य की श्रेष्ठता की परख और भी गहरी भूमिका मे होती है। यह आवश्यक है कि साहित्य का और उसके स्रष्टा का सबध निर्धूम अग्नि व उष्णता का सबध हो; अर्थात् उत्पादक और उत्पाद्य दोनो परस्पर प्राण-सूत्रों से स्निग्ध-सुदृढ भाव से गुफित व अनुस्यूत हों। यह बात केवल काव्य-तत्त्वों के एक विशेष अनुपात या सामजस्य की बात से कही अधिक ऊची व सूक्ष्म है, यह अनुपात जिस अतरग तत्त्व-विशेष से घटित व सार्थक होता है वह किसी महनीय तत्त्व की ओर सकेत करता है। जैसे, उपनिषद् मे कहा गया है कि नेत्र अपने आप से नही देखते; जिस शक्ति-विशेष से देखते हैं, वही ब्रह्म है। इसी प्रकार काव्य के

तत्त्व (भाव, भाषा, छद, अलकार आदि) या उन तत्त्वो का अनुपात जिस मूल तत्त्व या वस्तु से प्रेरित या प्रतिष्ठित होता है, वह मूल तत्त्व कलाकार या साहित्यकार की अपनी अतरग या एकात निजी जीवन-दृष्टि है, जो रसानुभूति और रस-निर्माण से घनिष्ठ रूप से सबद्ध है। मूल्याकन के अन्य आधार, मुख्य और गौण, कितने ही महत्त्वपूर्ण हो, पर वे इस आधार के बिना नि सत्व व निष्प्रभ है। साहित्यकार की अपनी अतरग दृष्टि, जो उसकी दृगकनीनिका से फूटकर, छनकर, और अपना एक निजी व्यक्तित्व लिए बाहर उतरती व फैलती है, वह उसके निजी परिवेश, मनोविधान, अध्ययन, रक्त के अणुओ की गति, मानसिक जलवायु, आत्मिक स्फुरणा, ऐश्वर्यपूर्ण बाह्य प्रकृति के लक्ष-लक्ष निरीक्षणों व प्रभाव-प्रतिक्रियाओ से जन्मातरीण (?) सस्कार व प्रतिभा आदि योग से तैयार हुई है। प्रसिद्ध समीक्षक स्कॉट जेम्स भी इस दृष्टि को अत्यत महत्त्व देते है।[33] वास्तव मे साहित्य में अतरग व्यक्तिगत देन ही सबसे बडी देन है। 'रस' के सब अगों का सगठन व सामजस्य इसी दृष्टि से होता है। उसकी उपेक्षा करके कोरी परपरागत आवश्यकताओं या रूढियो की पूर्ति मात्र ही किसी साहित्यकार से चाहते रहना हमारी सच्ची विकास-दृष्टि का लक्षण नही। साहित्यकार जो एकात अतरग, कुछ निजी या विलक्षण-सा देना चाह रहा है, वही बहुमूल्य है। हम उसी को प्राप्त करने के लिए आतुर रहे, न कि वह जो नही देना चाह रहा है, उसके ही लिए।

क्लासिकल कवि पोप तक इस बात को स्वीकार करते जान पड रहे है।[34] साहित्यकार का सारा साहित्य इसी एकात मौलिक दृष्टि की उपज है। कहने की आवश्यकता नही कि इस नितात निजी दृष्टि का सही-सही महत्त्व आके बिना या उसे साहित्य का बीजस्थानीय माने बिना साहित्य को केवल उसके तत्त्वों की ही प्रसूति बताना साहित्य-समीक्षा का एक निर्जीव, यात्रिक या औपचारिक निर्वाह मात्र है। वस्तुत उक्त बीज दृष्टि की मौलिकता और गभीरता ही सर्वोपरि मानदड है। यह बात प्रसाद की तरह प्रत्येक साहित्यकार के साथ भी उतनी ही लागू होती है। सामान्य से सामान्य कवि की भी ऐसी अपनी एक दृष्टि होती है या हो सकती है, पर अनेक कवियो की तुलना करने के बाद साहित्यिक उत्कर्ष का निर्णय किया जा सकता है, निजी दृष्टि-मात्र होना ही पर्याप्त नही, उस दृष्टि मे कितना उत्कर्ष, आत्मोच्छलन या प्रवेग है, यही महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद के साहित्य के महत्त्व को आकने के लिए हम इसी दृष्टि को चरम निर्णायक मानने का प्रस्ताव करते हैं। इस सर्वाधिक प्रामाणिक मूल स्रोत की उपेक्षा करके या उसे लक्ष्य में न रखकर केवल स्थूल काव्यागों के अवस्थान या निर्वाह तक ही अटके रहना, प्रसाद-साहित्य विषयक सत्य की पूर्ण व वास्तविक अवगति नही होने देगा।

अब महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रसाद की वह निजी मौलिक या अतरग दृष्टि क्या है? प्रसाद की वह मूल दृष्टि उनके इस आधारभूत सूत्र मे समायी हुई है—"काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है।" इसी दृष्टि ने उनके रस, रहस्यवाद, प्रकृति, चरित्र, आदर्श-यथार्थ-विषयक समस्त चिंतन को रूपायित व शासित-नियत्रित किया है। ये सब अवातर विचार-सूत्र वस्तुत प्रसाद ने भारतीय प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर प्रत्येक घटना को मानव-आत्मा की अभिव्यक्ति माना है।[35] इस कथन में जो कुछ निहित है उसका मूल स्रोत प्रसाद की उक्त अतरग मौलिक दृष्टि ही है।

कोई भी लेखक परपरा मात्र का ही अनुवर्ती होकर अपना विशिष्ट प्रदेय नही दे सकता। यह तो यात्रिकता हो जायेगी। मौलिक और प्राणवान् साहित्य-सृष्टि तो तभी सभव है, जब सृजन

लेखकीय स्वानुभूतिजन्य जीवन-दृष्टि से उत्प्रेरित हो, जब लेखक अपने 'स्व' की दृढ़ व गहरी छाप अपने सृजन पर लगाये, तथा व्यक्तित्व के रहस्यमय गुणों को अपनी रचना में उतारे, फिर चाहे शैली-परिष्कार की व्यावहारिक बातों की पूर्ति के लिए वह देश-विदेश के साहित्य का गंभीर अध्ययन करे। मूल दृष्टि के अभाव में साहित्य मौलिकता से रहति व प्राणशून्य रहेगा। साहित्य के जितने भी तत्त्व होते हैं, उनका एक विशिष्ट अनुपात में सुखद मिश्रण तो लेखक के निजी रुचि-संस्कार ही स्थिर करेंगे। विशिष्ट अनुपातों का यह अनोखा मिश्रण ही साहित्य की अगणित सृष्टियों में रचनाकार की रचना को एक विशिष्ट व्यक्तित्व या निजत्व प्रदान करेगा। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि अन्य निकषों के महत्त्वपूर्ण होने पर भी सर्वोपरि निकष तो लेखक की निजी दृष्टि का निकष ही है, जिसकी चेतना से छनकर ही उसका सृजन बाहर उजागर होता है। यहां यह कहा जा सकता है कि यदि लेखक का निजी निकष एकांत वैचित्र्यपूर्ण या नितांत काल्पनिक हो तो क्या उसका साहित्य मानव संस्कृति की अखंड रस-धारा या ज्ञान-धारा में प्रवेश पाने का अधिकारी हो सकेगा। उत्तर में निवेदन है कि उसके निजी दृष्टिकोण की स्वस्थ अंतरसंगति, अन्विति व प्रामाणिकता आदि का परीक्षण इतिहास, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि की सहायता से, विश्लेषण की प्रक्रिया से, किया जा सकता है और दृष्टि की सुसंगति के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। यह सब स्थिति रस की पोषक ही है, उसकी तनिक भी विरोधिनी नहीं। वस्तुतः रस का प्राणवान् अनुभव संवेदनशील इंद्रियों के कार्य-व्यापार मात्र से ही संभव नहीं हो जाता। उसके पीछे एक जाग्रत् चैतन्य सतत क्रियाशील रहता है। साहित्यकार की निजी या मौलिक दृष्टि उसी जाग्रत् चैतन्य से निर्मित होकर रसानुभव और रससृष्टि कराती है।

अब संक्षेप में, प्रसाद की काव्य (आज के 'साहित्य' का पर्याय) संबंधी आधारभूत धारणा या परिभाषा—'काव्य-आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है'—की उपयुक्तता या औचित्य पर भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि प्रसाद के काव्य का अंतिम मूल्य लगाते समय इस नींव के पत्थर को हम कदापि भुला नहीं सकेंगे। जहां तक 'संकल्पात्मक अनुभूति'[36] का प्रश्न है उसमें हमें किसी प्रकार की कोई अड़चन नहीं जान पड़ती। निश्चत ही काव्य-विश्लेषणात्मक (Analytical) अनुभूति नहीं है, विज्ञान या दर्शन ही विश्लेषणात्मक अनुभूति है; काव्य संश्लेषणात्मक अथवा संकल्पात्मक ही होता है, क्योंकि इसी रूप में अनुभूति अपने घनत्व, आंतर-ऐक्य, वैशद्य व उस प्राणवत्ता को जीवित रख सकती है जो मानव-ज्ञान व अनुभूति के क्षेत्र में काव्य के स्वतंत्र व मौलिक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अनिवार्य उपकरण है। अब रह गया 'आत्मा' शब्द पर विचार। क्या काव्य आत्मा की अनुभूति है? क्या आत्मा शब्द काव्य-क्षेत्र का है? यदि यह दर्शन व धर्म के क्षेत्र की सत्ता है तो काव्य-क्षेत्र में 'आत्मा' का यह दखल क्यों? और वह भी इस सीमा तक कि वह किसी कवि की काव्य-विषयक धारणा का मूलाधार अथवा नींव का पत्थर बन उसके समस्त साहित्य की आकृति व प्रकृति को रूपायित-नियंत्रित करने वाला एक परम शक्तिशाली तत्त्व बन बैठे, और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में मान्यता का भी दावेदार हो। क्या काव्य की यह धारणा समस्त परंपरागत धारणा (जिसमें संभवतः, 'आत्मा' का शब्द इतना खुलकर व्यवहार कभी भी नहीं हुआ है) से असंगत नहीं है। हमारे युग के महान् समीक्षक आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा काव्य के स्वरूप, प्रकृति व प्रक्रिया को लेकर की गयी व्याख्या में कहीं भी 'आत्मा' शब्द का समावेश नहीं हुआ है। इतना ही नहीं, उनकी तो स्पष्ट मान्यता है कि " 'अध्यात्म' शब्द

की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र मे कही कोई जरूरत नही है।"[37] ऐसी स्थिति में कई गभीर प्रश्न खडे होते है—यथा प्रसाद और शुक्लजी की धारणा[38] मे से कौन-सी धारणा काव्य के मूल व वास्तविक स्वरूप के निकटतम है? 'आत्मा' के आधार पर खडी काव्य-धारणा को स्वीकार किया जाये या नही? किया जाये तो किस सीमा तक? क्या इन दोनो दृष्टियों मे नितात भेद है, या भेद वस्तुतः ऊपरी है—तत्त्वत दोनों एक हैं? यदि ये दोनो दृष्टिया नितात भिन्न है तो भी क्या दोनो विचारकों की काव्य-विषयक मूल निष्ठा व सच्ची उच्चाशयता से पूर्ण आश्वस्त होकर, हम दोनों दृष्टियों को अपने-अपने स्थान पर ठीक मानकर ही न बढ चलें?

हमारा मत है कि काव्य की परिभाषा मे 'आत्मा' शब्द का समावेश काव्य के मूल स्वरूप के उद्घाटन मे किसी भी प्रकार बाधक नही जान पडता, प्रत्युत प्रसाद के समस्त आधारभूत मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह शब्द अपने स्थान पर सही ही समझा जायेगा। इतना ही नही, वह तो इस बौद्धिकता के युग में भी प्रसाद के मर्म-ग्रहण की दृष्टि से आवश्यक समझा जाकर स्वतत्रतापूर्वक गृहीत व व्यवहृत भी हो रहा है। आचार्य वाजपेयी जी ने अध्यात्म का नवीन सदर्भों मे ग्रहण कर प्रसाद की मर्मानुभूति को थाहने का प्रयत्न किया है—"मानो आत्मा या अध्यात्म के बिना प्रसाद की सतोषजनक व्याख्या सभव ही न हो।"[39] डॉ नगेन्द्र का भी स्पष्ट अभिमत है कि "भारत का रस-सिद्धात, जैसा कि प्रसाद जी ने स्पष्ट किया है, शैवदर्शन पर आधृत है, अत उसका स्वरूप भी तदनुकूल आत्मानद प्रधान ही है।" " रस-सिद्धात भी अध्यात्मवाद पर आधृत है—उसको यथावत् ग्रहण करने के लिए आत्मा की स्थिति और उसकी सहज आनदरूपता में विश्वास करना आवश्यक है। आधुनिक आलोचक को इसमें कठिनाई हो सकती है, परतु उपर्युक्त स्थापना विज्ञान के विरुद्ध नही है, मनोविज्ञान भी उसकी पुष्टि करता है।"[40] प्रसाद के लिए सभवत 'हृदय' शब्द पर्याप्त नही है, यदि पर्याप्त होता तो वे 'हृदय' शब्द में ही अपना मतव्य सचित करके चल सकते थे। पर, उधर आचार्य शुक्ल का 'हृदय' शब्द पर ही आग्रह है। हम किसी भी मत के पक्षधर न होकर ही स्वतत्र विचार करना चाहेंगे। वस्तुत आत्मा व अध्यात्म के प्रति, काव्य के परिवेश में आचार्य शुक्ल को जितनी आपत्ति है, विचार करने पर उतनी की आवश्यकता नही दिखायी देती। आचार्य शुक्ल काव्य और धर्म-दर्शन को तथा निर्गुण व सगुण क्षेत्रो को सभवतः सर्वथा भिन्न मानकर चलते है, अत- इस पृथक्करण की आवश्यकता उन्हे आवश्यक जान पडी है। पर, इतना ही कहा जा सकता है कि सुविधा के लिए हमने मानव-ज्ञान के विविध क्षेत्र भले ही स्पष्टत पृथक् मान लिये हैं, वस्तुत वे विशेषत काव्य की संश्लिष्ट अनुभूति के क्षेत्र में तो, इतने पृथक् नही हैं। मूलत यह व्यवस्था कृत्रिम ही है। शुक्ल जी 'आत्मा' के स्थान पर 'हृदय' शब्द ही काव्य के क्षेत्र में पसद करते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि क्या 'हृदय' अपने आप मे एक स्वतत्र सत्ता है। अवश्य ही वह एक अत्यत बलिष्ठ व महत्त्वपूर्ण भाव-सस्थान है, दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर तो यही जान पडता है कि हृदय-सत्ता भी आत्मा की सत्ता से ही क्रियमाण रहती है,[41] हृदय के भावों की समस्त गतिविधि-ऊष्मा-स्फूर्ति आत्मा की सत्ता के अभाव में कल्पित ही नही की जा सकती। हम भावों से जो भी महत्त्वपूर्ण साहित्योचित विभूति प्राप्त करते है, वह अतत- आत्म-सत्ता की स्वीकृति के अभाव मे असभव व अप्राप्य है। क्या आत्म-चैतन्य के अभाव में किसी भी प्रकार मनोभाव अपनी कार्य-क्षमता, ऊष्मा,

प्रभाव आदि को बनाये रख सकेंगे ? हम तो इतना ही जानते है कि दर्शन के क्षेत्र मे आत्मा की सत्ता सुधी मनीषियो के द्वारा अकाट्य तर्को से सिद्ध की जा चुकी है।[42]

अनुभव और शास्त्र—दोनो के द्वारा आत्म-सत्ता की स्थिति जीवन मे सहज-स्वीकार्य है। ऐसी सत्ता को काव्य-धारणा के मूल मे स्थान देकर—और साहित्य से उन द्रव्यो को अधिकाधिक प्राप्त करने की दृष्टि से, जो काव्य-साहित्य से सहज अपेक्षित है—काव्य के स्वरूप को और भी गहरी, सुदृढ व स्थायी नीव दी गयी है। गभीर आपत्ति केवल यही है कि 'आत्मा' शब्द दर्शन के क्षेत्र का है, काव्य-साहित्य के क्षेत्र का नही। हिंदी के दो प्रसिद्ध काव्य-प्रकार—छायावाद और रहस्यवाद—आत्म-सत्ता से आस्फूर्त्त व झकृत है, 'आत्मा' शब्द का नाम चाहे लिया जाय, चाहे न लिया जाय। अत औपचारिकता को छोडकर विचार करें, तो मूल मे ऐसी सत्ता से समन्वित काव्य-धारणा सहज स्वीकार्य ही है। डॉ नगेन्द्र ने लिखा है कि रस-सिद्धात का आध्यात्मिक आधार स्वीकार करने मे "आत्मा की स्थिति और उसकी सहज आनदरूपता में विश्वास करना आवश्यक है।"[43] हा, इतना अवश्य है कि यदि 'आत्मा' में निहित गुणो या द्रव्यो का सन्निवेश 'हृदय' की वाचक सत्ता में भी सचित मान लिया जाये (जो सभव नही, क्योकि शब्दकोश के अनुसार प्रत्येक शब्द अपनी एक स्वतत्र और निश्चित अर्थ-सीमा रखता है, पूर्णत वह किसी दूसरे शब्द का पर्याय नही हो सकता) तो कोई विशेष कठिनाई भी नही।

कितु हा, इतना अवश्य माना जा सकता है कि परिभाषा मे 'आत्मा' का समावेश स्थूल नीति, सदाचार, धर्म, भाषणबाजी व गद्यात्मकता के लिए एक मिथ्या आवरण का काम देता तो यह शब्द सर्वथा अस्वीकार्य ही था। किंतु यदि यह भावसत्ता की ही पूर्णता, मार्मिकता व गभीरता का प्रतीक है तो आपत्तिजनक भी नही। भाव-चेतना आत्म-चेतना से ही अनुप्राणित रहती है, यह 'तादात्म्य' आदि आलोचना क्षेत्र की पदावली से भी प्रमाणित है।

कितु कठिनाई अभी यही समाप्त नही हो जाती। 'आत्मा' शब्द के साथ अव्यक्त सत्ता का एक विशाल क्षेत्र सयुक्त है, क्योकि आत्मा का प्रसार तो चर व अचर, व्यक्त व अव्यक्त तक—"अणोरणीयान् महतोमहीयान्" रहता है। यदि हम 'आत्मा' शब्द को उसकी समस्त निहिति के साथ काव्य-परिभाषा मे स्वीकार करते हैं तो उस 'अव्यक्त' को भी काव्य के प्रकृत क्षेत्र में ही स्थान देना होगा, कितु उधर आचार्य शुक्ल अव्यक्त को केवल चितन का ही विषय मानते है, काव्य का नही, उनकी दृष्टि मे काव्य व्यक्त या मूर्त्त का क्षेत्र है। प्रसाद की स्थिति इस सबध में तभी पूर्ण निरापद समझा जा सकती है जब आचार्य की इस आपत्ति का सफलतापूर्वक सामना किया जा सके।

हमारी समझ में यह बात नही आती कि काव्य का क्षेत्र व्यक्त तक ही क्यो मर्यादित हो, जबकि 'न सा विद्या न सा कला' के द्वारा काव्य-विषय का प्रसार अनत बताया गया है, इसका अर्थ क्या यह नही होता कि सूक्ष्म-स्थूल सभी कुछ काव्य का विषय हो सकता है। हिंदी में ही छायावादी काव्य इस धारणा को पुष्ट करता है। कबीर-जायसी ने तथा छायावादियों ने अव्यक्त, जो चितन का विषय है, को काव्य का विषय बनाया ही है। सभवत उस समस्त का गाभीर्य ही इस तथ्य में निहित है कि वे अदम्य प्रेरणा से अव्यक्त की काव्यात्मक खोज में गये है। यदि सूक्ष्म तक भी काव्य-विषय की प्रसार-सीमा स्वीकृत हो सकती है तो फिर चिंतन के सूक्ष्म विषय भी तो उसमें समाविष्ट किये ही जा सकते है। काव्य

का अर्थ 'सुविचारित सुस्थ' नही 'अविचारित रमणीय' कहा गया है। 'अविचारित रमणीय' मे अव्यक्त के क्षेत्र, जो मूलत दर्शन या चितन का विषय है, की भावनाए सभवत समाविष्ट की जा सकती हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस सबध मे आचार्य उद्‌भट का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "काव्य का अर्थ निःसीम है, अवधिरहित है, सीमाविहीन है।"[44] यह स्थिति काव्य मे अव्यक्त के क्षेत्र को भी समाविष्ट करती जान पडती है। हा, अवश्य वे बिब-विधान के द्वारा रूपाकृत होकर और काव्य की पद्धति से ही आ सकते है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और कल्पनाए विषय-रूप मे गृहीत होकर बिंब की रीति से मूर्तित हो सकती है, फिर काव्य-विषय की सीमा को कृत्रिम रूप से मर्यादित क्यो किया जाय ? सभवत आज का कोई ऐसा कवि जो एकसाथ ही सूक्ष्म चितक और भाव-प्रवण व कल्पनाशील हो, काव्य-विषय की इस मर्यादा-रेखा को सहर्ष स्वीकार करना चाहेगा। वड्‌र्सवर्थ, ब्राउनिंग, निराला और पत का काव्य क्या शुद्ध चितन की भूमियो का स्पर्श नही कर पाया है ? हमें तो ऐसा लगता है कि यहा भी आचार्य शुक्ल ने सगुणमार्गी तुलसी को ही अपना अंतिम आदर्श बनाकर अपनी सहानुभूति का दान नये या आधुनिक कवि को नही दिया—विशेषत जबकि मीरा, सूरदास आदि कवियो की अनुकूल समीक्षा कर गये हैं। काव्य-विषय के सदर्भ में अव्यक्त और व्यक्त की इस गुत्थी पर आचार्य वाजपेयी जी ने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है।[45]

"यह तो स्पष्ट है कि प्रसाद अध्यात्म की भूमिका से सबद्ध है और शुक्ल जी बुद्धिवादी विचारक है। वे 'व्यक्त सत्ता' से बाहर अव्यक्त मे काव्य का सस्थान नही देखते—परतु इस प्रकार के विचार उन्होने आधुनिक रहस्यवादी कवियो की गतिविधि को देखकर प्रकट किये है। शुक्ल जी अव्यक्त को चिंतन का विषय मानते है—काव्य का नही। प्रसाद जी काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति कहते हैं। अनुभूति शब्द अव्यक्त सत्ता से असपृक्त नही हो सकता। अतएव इन दोनो विचारको मे दृष्टि-भेद होते हुए भी आत्यतिक विच्छेद नही है। अन्यथा मीराबाई, सूरदास जैसे कवियो के आध्यात्मिक काव्य पर शुक्ल जी इतनी अनुकूल समीक्षा कैसे करते ?"

उक्त मत मे ये बाते ध्यान देने की हैं

1 शुक्ल जी बुद्धिवादी विचारक है,
2 वे व्यक्त सत्ता के बाहर अव्यक्त में काव्य का सस्थान नही देखते, अव्यक्त चिंतन का विषय है, काव्य का नही,
3 अनुभूति शब्द अव्यक्त सत्ता से असपृक्त नही हो सकता,
4 दोनों विचारको में दृष्टि-भेद होते हुए भी आत्यतिक विच्छेद नही है, अन्यथा मीराबाई, सूरदास जैसे कवियों के आध्यात्मिक काव्य पर शुक्ल जी इतनी अनुकूल समीक्षा कैसे करते ?

सक्षेप मे, प्रसाद का काव्य-साहित्य-विषयक दृष्टिकोण, जो उनके साहित्य का मूलाधार है, आधुनिक चिंतन की व्यापक पीठिका पर प्राय पूर्णत समर्थनीय है। प्रसाद जी के सिद्धात का प्रबल प्रतिस्पर्द्धी सिद्धात आचार्य शुक्ल का ही है। अत प्रसाद के आधारभूत सिद्धात की स्वस्थता और औचित्य का आकलन करने के लिए हमे इस विवेचन मे आचार्य शुक्ल की मान्यता को ही विशेष रूप से सन्निकट रखना पडा। आचार्य शुक्ल सभवत अंत तक प्रसाद का दृष्टिकोण न सराह सके होगे, क्योंकि आचार्य की युग-वद्य भव्य उपलब्धियों के बावजूद,

उनकी अपनी स्वाभाविक चिंतन-भूमि व सीमाए थी।

आचार्य वाजपेयी जी आचार्य शुक्ल जी के कृतित्व के मूल्याकन के प्रसग में लिखते है—"उन्होने सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर काव्य की भाव-सत्ता को स्थापित किया। काव्य मे भाव की सत्ता व्यवहार-निरपेक्ष भी हो सकती है, शुक्ल जी इसे स्वीकार नही कर सके। काव्य की आत्मा की ओर उनकी दृष्टि गयी, कितु आत्मा के स्थूल पक्ष व्यवहार या नीति पर ही वह टिक रही। रस के आनद-पक्ष पर—उसके सवेदनात्मक स्वरूप पर—उनकी निगाह नही गयी रस-सबधी उनकी व्याख्या भाव-व्यजना या अनुभूति पर आश्रित न होकर एक नैतिक और लोकवादी आधार का अवलबन लेती है काव्य का निर्विशेष स्वरूप, जिसमे वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलकार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्ल जी की समीक्षा में उपलब्ध नही काव्य-साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या और काव्य-सिद्धातो का तटस्थ अनुशीलन—शुक्ल जी की कार्य-परिधि मे नही आता।"[46] इन मूल्याकनात्मक सूत्रों मे से यह ध्वनि पकडना कदाचित् निराधार न होगा कि काव्य का क्षेत्र व्यक्त के आगे भी जाता है या जा सकता है, और आचार्य वाजपेयी जी काव्य को 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' कहने मे कोई कठिनाई नही देखते।

(2) मूल तात्त्विक आधार—रस

मूल तात्त्विक आधार—रस—भाव तथा रस-विषयक प्रकरण, सौंदर्य प्रकरण और प्रस्तुत प्रकरण के पिछले पृष्ठो मे रस को केंद्र में रखकर इतना कहा जा चुका है कि अब रस नामक आधार के विवेचन के लिए अधिक रुकने की आवश्यकता दिखायी नही देती। सक्षेप मे ही कुछ कहना पर्याप्त होगा।

प्रसाद का साहित्य कैसा है, इसकी जाच-परख या मूल्य-निर्धारण का सबसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय या तात्त्विक आधार रस, जिसमे शैली भी सम्मिलित है, ही हो सकता है। तात्त्विक आधार का अर्थ है काव्य या साहित्य-सृष्टि के मूलभूत तत्त्वो (जैसे, भौतिक सृष्टि के निर्माण मे पचभूत)—अर्थात् रस, कल्पना, ध्वनि, अलकार, गुण आदि—का आधार। साहित्य के उत्कर्षापकर्ष के निर्णय का इससे अधिक प्रामाणिक, शास्त्रीय या काव्यतात्त्विक आधार दूसरा नही, क्योकि उक्त तत्त्वो के आधार को किनारे करके कोई भी दूसरा आधार टटोलना साहित्य के बाह्य या विजातीय आधार को विवेकपूर्ण प्रश्रय देने के समान होगा। सच्चे साहित्य का निर्णय उसकी अपनी प्रकृत भूमि और अपनी जलवायु मे ही होना चाहिए।[47] जबकि ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा की अपनी भूमि, अपनी प्रणाली, अपने नियम-सिद्धात व अपना लक्ष्य है, तो साहित्य का निर्णय भी उक्त आधारों पर ही होना चाहिए। यह दूसरी बात है कि तात्त्विक आधार परोक्ष रूप से जीवन के अन्य आधारों या उपकरणों से भी सबद्ध हों। पर प्रस्थान से ही उन्हे ध्यान मे रखने के लिए शुद्ध साहित्य किसी प्रकार बाध्य नही। तात्पर्य यह कि तात्त्विक आधार साहित्य के गुण या मूल्य को परखने का प्रथम, मौलिक और प्रामाणिक आधार है और उस पर खरा उतरना साहित्य की अनिवार्य आवश्यकता है।

काव्यतत्त्वो को स्वतत्र रूप से लेकर प्रसाद-साहित्य मे उनके अवस्थान या नियोजन की स्थिति हम पिछले प्रकरणों में देख आये है। अत यहा अब सामूहिक दृष्टि से ही विचार करना पर्याप्त होगा। प्रसाद का साहित्य मुख्यत' अनुभूति, रस, कल्पना और ध्वनि का साहित्य है।

अन्य तत्त्वो का भी उसमें अभाव नही। विचार तत्त्व भी काव्य की पद्धति से उसमें समाविष्ट हो गया है। कल्पना तत्त्व की दृष्टि से तो प्रसाद का साहित्य अत्यत हरित-भरित है। कला या शैली तत्त्व (जिसमे ध्वनि, गुण, वक्रोक्ति सब समाविष्ट हैं) की देन उनकी इतनी मौलिक और युगातकारी है कि वे 'छायावाद' के प्रवर्तक व पुरस्कर्त्ता माने जाते है। पर यहा यह भी नही भूलना है कि कोरा शैली का मूल्य या आधार अन्यत्र भले ही महत्त्व रखता हो, प्रसाद के साहित्य के मूल्याकन मे वह आत्मपूर्ण मूल्य नही बन सकता। उसमें अनुभूति को छोडकर शैली का विशेष महत्त्व प्रतिष्ठित नही हो पाता। तो क्या यह भी मान लिया जाय कि वे तात्त्विक आधार पर शत-प्रतिशत पूर्ण हैं। विचार करने पर जान पडेगा कि नात्त्विक आधार पर अत्यत प्रभविष्णु होने पर भी अनेक बिदुओं पर प्रसाद की अपनी सीमाए हैं, जो आगे यथास्थान निर्दिष्ट की जायेंगी।

साहित्य अथवा काव्य की आत्मा के रस-रूप मे स्वीकार किये जाने में भारतीय भौगोलिक व प्राकृतिक परिवेश, इतिहास, दर्शन, विशिष्ट जातीय रुचि, सस्कार, व तज्जन्य आदर्शो का गहरा हाथ है। इसके पीछे शताब्दियों की मनीषा का सूक्ष्म वैचारिक मथन व ऊहापोह है, जिसका उचित सम्मान किये बिना चलना, मूल से कटकर लहलहाने का प्रयास होगा। हम 'रस' से बडी या ऊची या सूक्ष्म बात अवश्य कहे, कितु उसमें पूर्व विचारणा को समाविष्ट न कर ऊपर से कोई भी चीज थोपने का प्रयत्न अस्वाभाविक भी हो सकता है। हमारे वैचारिक (साहित्यिक) विकास-क्रम की अनिवार्य कडी के रूप मे और मूलो से जीवत सबध बनाये रखते हुए, जो विकासात्मक विचार-सरणि प्राप्त होगी, वह हमे अवश्य स्वीकार्य होनी चाहिए। साथ ही हम एक क्षण के लिए यह भी नही भूल सकते कि मानव की मूल वृत्ति आनद है, जो जीवन की सौ-सौ बाधाओं के तथा रस-विरोधी विचारधाराओं के बीच भी, रस के पोषक विविध सप्रदायो के माध्यम से एक अखड ज्वाला-सी जीवित बनी हुई है।

इन सीमाओ में रहते हुए ही काव्य-मूल्य 'रस' पर स्वस्थ व सतुलित विचार हो सकता है।

प्रसाद स्पष्टत रसवादी हैं। यह दोहराने की अब विशेष आवश्यकता नही रह जाती है।

नवीन युग-बोध व जीवन-बोध के सदर्भ में रस पर आज नवीन व स्वतत्र चिंतन हो रहा है जो हमें रस की स्थिति पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करता है। उदाहरणार्थ

"रस-निष्पत्ति को आदर्श मानने के कारण काव्य के मूल्य-मान का कोई स्पष्ट प्रयत्न-विकास भी हमारे साहित्य-चितन में दृष्टिगोचर नही होता।"[48]

"और रस की जगह बौद्धिक व्यग्य आत्मस्थ होता जा रहा है।"[49]

"भावना व अनुभूति की प्रभावोत्पादकता वह कसौटी नही है, जिससे हम जीवन के प्रति कवि-दृष्टि के औचित्य की जाच कर सकें।"[50]

जिस सदर्भ में लेखक ने उक्त बात कही है, वह अपने स्थान पर तो ठीक ही है, कितु यदि इस कथन को आत्मपूर्ण रूप मे ही लें तो अवश्य विचारणीय है।

रस के मूल तात्त्विक आधार मे शैली या कला का तत्त्व समाविष्ट है। रस का अनुभव वस्तु या कथ्य मात्र का अनुभव नही, कोरा कथ्य साहित्य या काव्य कदापि नही कहला सकता। वस्तुत कथ्य जब कला से ललित व सपुष्ट होकर प्रकट होता है, तभी उसमें

आनददायकता का सचार होता है जो अपनी चरम परिणति मे रसानुभूति है। रस के मूल्य मे शैली या कला का तत्त्व भी निहित है। प्रसाद-साहित्य के रूप और कला पक्षो पर इस ग्रथ मे अन्यत्र विस्तार से विचार हो ही चुका है। साहित्यिक मूल्यो के अन्वेषण मे हम अनुभूति या वस्तु को किनारे करके केवल रूप, अभिव्यक्ति या शैली को ही चरम मूल्य मानकर नही चल सकते,[51] जैसा कि प्राय कलावादियो या अभिव्यजनावादियो का आग्रह है। वाजपेयी जी का भी कथन है कि "काव्य के मूल्याकन मे अभिव्यक्ति की शैली को ही सब कुछ नही मान सकते।"

मूल्याकन के गौण आधार

(1) ऐतिहासिक व तुलनात्मक आधार

ऐतिहासिक आधार से आशय है काल-क्रम में साहित्यिक या साहित्यैतिहासिक विकास की अवस्था-विशेष का आधार। बहुत-से कवियों का कृतित्व साहित्य के मूल तत्त्वों के आधार पर तो बहुत विचारणीय नही होता, किंतु इतने ही मात्र से कि वे सयोगवश साहित्य की विकासधारा में एक विशेष महत्त्वपूर्ण काल-बिदु पर अवतरित हो गये, उनका महत्त्व साहित्य के इतिहास में स्थापित हो जाता है। यदि इस प्रकार के महत्त्व के साथ ही रचनाकार के कृतित्व का, साहित्य के तत्त्वों की दृष्टि से, भी उच्च महत्त्व हो तो उक्त कृतित्व का मूल्य अत्यधिक बढ जाता है। तात्पर्य यह कि शुद्ध ऐतिहासिक महत्त्व भी मूल्याकन का एक आधार समझा जा सकता है।

प्रत्येक सत्ता के इतिहास की तरह साहित्य का भी एक इतिहास होता है। यह इतिहास उसके सजग-सक्रिय अस्तित्व की एक धारा है जो एक नियत लक्ष्य या पूर्णता (जिसे भले ही हम प्रत्यक्ष या एक दृष्टि में न देख पाये) की ओर प्रतिक्षण प्रधावित है। साहित्यिक इतिहास की यह धारा सदा एक-सी गति से न बहकर उत्थान-पतन, तीव्रता-मदता, सूक्ष्मता-विशालता की गतियों-आकारो को पार करती बहती है। इस धारा के मध्य का कोई स्थान किसी दूसरे स्थान का पर्याय नही, उसके पूर्व की स्थिति कुछ और है, और अपर की कुछ और। वह स्थान उस नदी के विकास का एक विशिष्ट अतरालवर्ती बिंदु है।

प्रसाद हिंदी साहित्य की विकास-धारा के ऐसे ही एक बिंदु-विशेष पर अवस्थित हैं, यह बिदु उनकी महत्ता को आकने का एक महत्त्वपूर्ण साधन या आधार प्रस्तुत करता है। भविष्य में प्रसाद से कई गुना श्रेष्ठ नाटककार या कवि आ सकते हैं, पर इस आधार की दृष्टि से विचार करने पर प्रसाद का स्थान अपनी जगह अक्षुण्ण रहेगा।[52] यदि हम इस (ऐतिहासिक) आधार की सत्ता को न मानें तो भविष्य में (चूकि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कवियो का या नाटककारों का अवतरण साहित्य की विशाल धारा मे सहज सभावित है) प्रसाद की सिद्धि व अर्जना को सभवत- पूरी-पूरी स्पष्टता में न देख पायें।

प्रसाद की जो नवीन उद्‌भावनाए हैं, उनके नवीन प्रवर्त्तन है, नयी आविष्कृतिया, नयी स्थापनाए व नये प्रयोग हैं, उनका मूल्य-महत्त्व ऐतिहासिक आधार की स्वीकृति के कारण भी अविकृत रहेगा। उनके इस श्रेय को कोई भी छीन नही सकता।

रीतिकाल, भारतेन्दु-युग व द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि में देखने पर प्रसाद का हिदी-साहित्य को योगदान बडे ऐतिहासिक महत्त्व का है। साहित्य के श्रेष्ठ उपकरणो की दृष्टि से

प्रसाद के अतिरिक्त अन्य महान् रचनात्मक प्रतिभाओ—'निराला, प्रेमचन्द, पत, महादेवी, जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि अनेक लेखको का योगदान अविस्मरणीय है, पर जिन परिस्थितियो मे प्रसाद ने नवयुग का द्वार खोला, उन्हें देखते हुए प्रसाद का कार्य सदा युगातकारी समझा जाता रहेगा। कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी—इन चारो विधाओ के क्षेत्र में उनके नवीन प्रवर्तन व कलाभ्यास स्मरणीय है। यद्यपि द्विवेदी-युग में काव्य की सूक्ष्म चेतना की पलकें खुलने लग गयी थी, किंतु काव्य का वास्तविक जागरण बहुत दूर था। प्रसाद ही उस जागरण के अग्रदूत हुए। भाव-व्यजना, कला-परिष्कार, जीवन-चिता, कल्पना-सौंदर्य—सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी मौलिक व सर्वतोमुखी प्रतिभा का प्रकाश किया। प्रकृति और सौंदर्य के सूक्ष्म क्षेत्रों में तो उनकी पहुच प्राय अभूतपूर्व ही थी, कविता को उन्होंने प्राण का सूक्ष्म सगीत बनाकर आध्यात्मिक ऊचाइया प्रदान की। काव्य के परिनिष्ठित रूप और मानव-जीवन में इसके महत्त्व का साक्षात्कार नवीन युग मे मानो उन्होंने ही सबसे पहले कराया। नाटकों के क्षेत्र में तो वे अद्वितीय ही ठहराये गये। उनका उपन्यासकार का रूप कवि व नाटककार के रूप का समकक्ष नही समझा जाता, पर समाज के यथार्थ चित्रण व युग-जीवन के प्रति जागरूकता की दृष्टि से उनकी औपन्यासिक कृतिया अपना विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। कहानी के क्षेत्र में वे ध्वनि-प्रधान कहानियों के सर्वोत्कृष्ट लेखक है, जिनका सूक्ष्म व प्रौढ शिल्प उत्कृष्ट कलाभ्यास के नमूने हैं। प्रसाद ने प्राचीन साहित्य व पाश्चात्य साहित्य से उन उपकरणों को भी उत्साहपूर्वक ग्रहण किया जो नवयुग की रुचियों के लिए ग्राह्य सिद्ध हो सकते थे। प्रसाद का शुद्ध ऐतिहासिक महत्त्व भी अक्षुण्ण है।

एक अन्य तथ्य पर भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। प्राय हम रचनाकार के युग, परिवेश, रुचि व साहित्य-विकास की सीमा-रेखाओ को सर्वथा विस्मृत करके, अद्यतन साहित्य-चिता का विकास, नवीनतम साहित्यिक रुचि, नये साहित्यिक अभ्यासों व नवीन सस्कारो के योग से निर्मित पैमाने पर ही किसी स्रष्टा की उपलब्धि को आकने के लिए अधीर रहते हैं। यह उपक्रम या प्रस्थान तात्त्विक दृष्टि से मूलत· बहुत स्वस्थ नही, और आलोच्य प्रतिभा के यथार्थ मूल्य का आकलन करने में बाधक है। न्यायोचित यह है कि लेखक-विशेष के लिए, हम उसकी युग-सीमा तक के काव्योत्कर्ष या साहित्योत्कर्ष की रेखा को ही अतिम मान बनाकर चले, अन्यथा हमारे मूल्याकन-विषयक निर्णय निर्भ्रांत रूप से न्यायपूर्ण नही हो सकेंगे।

प्रसाद के सबध में भी यह बात ठीक है। दुर्भाग्यवश हो यह रहा है कि सन् 1936 (प्रसाद की निधन-तिथि) से लेकर आज तक की अवधि के बीच हमारी जितनी नवीन उपलब्धिया-अर्जनाए हुई हैं, हमारे नवीन प्रयोग-अभ्यास हुए हैं, हमारी नवीन दृष्टिया विकसित हुई हैं, तथा हममें नवीन स्फूर्तिया जगी हैं, उनको ही हम प्रसाद के लिए भी साहित्य-विकास का सहज सत्य मानकर, 30 वर्ष पूर्व के प्रसाद को (जो आज उत्तर देने को उपस्थित नही हैं) अपने पैमानो पर चढाने चलते है। उदाहरणार्थ, निराला के साहित्य का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिमाण (निराला के काव्य-विकास के दो महत्त्वपूर्ण चरण) इधर के 25 वर्षों में निर्मित हुआ है और इस सामग्री में प्राप्त तत्त्वों को आधार बनाकर हम प्रसाद और निराला की तुलना करके तुरत उनकी प्रतिभा की उच्चावचता का निर्णय दे देते हैं। पर, सूक्ष्म सूझ-बूझ के धनी व

सुधी-मनीषी, प्रतिभाओं पर व्यापक और न्यायपूर्ण दृष्टि डालकर, राई-रत्ती तौलते हुए, प्रसाद और निराला दोनो को अतत अपनी प्रतिभा में महान्, अप्रतिम और अपराजेय ही ठहराते है।[53] निश्चय ही 25 वर्षों की पीडा व वातावरण से, जो प्रसाद की प्रतिभा को और तीक्ष्ण शाण पर चढा सकते थे, प्रसाद और निराला, दोनो एक ही साथ और एक ही परिस्थिति मे अत तक जीते तो तुलना का कदाचित् अधिक निरापद आधार मिलता। सन् '36 तक के प्रसाद और निराला को साथ-साथ रखकर देखने मे विशेष आपत्ति नही। पर सन् '36 के बाद निराला ने दो ऐसे साहित्यिक युग-चरण धरे जिनकी उपलब्धिया—उदाहरणार्थ, सहज प्रगतिशीलता, व्यग्य-विनोद, 'बेला', 'नये पत्ते' आदि के प्रयोग-वैचित्र्य—महान् ही नही हैं, वे वस्तुत युग-मानस के लिए अत्यत सशक्त व आकर्षक भी सिद्ध हुई है।

इस प्रकार तुलना का आधार ही विषम या असतोषजनक ठहरता है। तात्पर्य यह कि निराला के सदर्भ में प्रसाद के प्रति पूर्णत न्याय करने और उनके यथातथ्य आकलन के लिए इन 25 वर्षो के व्यापक साहित्यिक विकास को दृष्टिपथ से विशेष प्रयत्नपूर्वक हटाना पडेगा। समग्र निराला को एकसाथ लेने पर प्रसाद के कुछ निष्प्रभ हो जाने की, साम्प्रदायिक उत्साह-सपन्न प्रसादानुयायी या प्रसादवादी-सुलभ किसी आशका से भीतिग्रस्त होकर यह बात नही कही जा रही है, बल्कि इसका आधार न्याय-तुला पर चीज को सही-सही तौलने की सत्य-प्रीति ही है। हम तो बल्कि यहा तक कहना चाहेंगे कि युग की निकटता या दूरी, दोनों ही के कारण हममे से बहुतों के मन में प्रसाद के प्रति जो एक व्यक्तिगत पूज्य भाव, श्रद्धा, या प्रीति सचित है, उसे मूल्याकन मे तनिक भी आडे नही आना चाहिए और जिज्ञासापूर्वक यही देखने के लिए हमें सजग रहना चाहिए कि प्रसाद वास्तव में क्या थे। इस उद्योग से हमारे समीक्षा या शोध के अभ्यास का जो स्तर बढेगा, वह साहित्य को गौरव प्रदान करने वाला होगा। सत्य के काटे के पास बाल-भर भी उदारता और सहानुभूति को मनस्वी प्रसाद स्वय ही किसी प्रकार स्वीकार न करेंगे।

निराला को उपलक्षण रूप में लेकर हम प्रसाद से तुलनीय समस्त साहित्यकारों की बात कह रहे है। भिन्न देश-काल के कवियों की पारस्परिक तुलना पूर्ण सतोषजनक नही हो सकती।[54]

जो हो, यह एक अत्यत सुदर सयोग है कि प्रसाद का महत्त्व ऐतिहासिक व तात्त्विक—दोनो ही दृष्टियों से है। यदि तात्त्विक दृष्टि से उनका साहित्य उत्कृष्ट कोटि का न हुआ होता, तो भी ऐतिहासिक दृष्टि से ही उनका योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता, क्योंकि उन्होंने साहित्य की धारा को एक नवीन व वेगवान् मोड दिया।

वास्तविक महत्त्व या मूल्य आकने के समय किसी वस्तु व्यक्ति या सत्ता की, किसी दूसरी वस्तु या सत्ता से तुलना करके देख लेना मानव का सहज स्वभाव है। सर्वश्रेष्ठ का वरण मानव की सहज प्रवृत्ति है। हम सर्वश्रेष्ठ वस्तु ही रखना चाहते हैं और जिस वस्तु को सर्वश्रेष्ठ कहकर या समझकर रखना या अपनाना चाहते हैं, यथासभव उसमें कोई त्रुटि, अभाव, विकृति, विच्युति, अवगुण नही रहने देना चाहते या देखना चाहते (यों त्रिगुणात्मक प्रकृति में रज और तम कहा नही है ?)। अपने मन मे उस चुनी हुई वस्तु के दृढ, सुदर, टिकाऊ होने की भावना को पूर्ण विश्वस्त बनाये रखने के लिए हम अन्यों से तुलना करके भी अपने विवेक या निर्णय के औचित्य की सूक्ष्म मानसिक तुष्टि चाहते है। इसलिए साहित्य में तुलना का विधान है।[55] तुलना की प्रक्रिया मानो

इसकी तुष्टि के लिए एक शास्त्रीय विधान है। प्रसाद का वास्तविक मूल्य क्या है ?—इसे जान लेने के लिए हम व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, रवीन्द्र, दाते, गेटे, शेक्सपियर, मिल्टन आदि विश्व-वद्य विभूतियो से उनकी तुलना करते है अथवा कर सकते है। पर जहा सत्य-शोध की दृष्टि से और वास्तविकता की दृढतर प्रतीति के लिए यह सभार आवश्यक है, वहा यह भी सत्य है कि तुलना की भूमि अत्यत भयावह व रपटीली होती है। हम एक ओर उत्साहपूर्वक सत्य-शोध की एक लाभकारी प्रक्रिया अपनाते है, पर साथ ही दूसरी ओर स्थानाभाव, शीघ्रता, प्रमाद आदि कारणों से सत्य का हनन करने के जघन्य अपराधी भी हो सकते है या ठहराये जा सकते है। वस्तुत न्यायपूर्ण व सूक्ष्म तुलना एक बडे जोखिम का काम है—यद्यपि, सैद्धातिक दृष्टि से, यह कार्य साहित्य-क्षेत्र मे सर्वथा निषिद्ध भी नही है। रिचड्‌र्स ने साहित्यिक व्यक्तियो की तुलना का, शास्त्रीय भूमि पर, एक प्रौढ आयोजन भी किया है।[56]

समकक्ष अथवा उच्चावच प्रतिभाओं से, देश और काल—दोनो के ही क्रम मे, किसी साहित्यकार की, वैचारिक अथवा कलागत भूमियों पर, तुलना करके देखने में भी उसके महत्त्व अथवा मूल्य का यथार्थ अवबोध होता है। यदि किसी साहित्यकार ने सार्वलौकिक साहित्यिक विकास के चरम उत्कर्ष का स्पर्श अथवा पार-गमन किया है तो इसकी आक के लिए तुलनात्मक प्रक्रिया के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विश्वसनीय या प्रामाणिक साधन नही।

प्राय प्रत्येक प्रकरण मे हमने विवेच्य विषय के सदर्भ मे प्रसाद की उपलब्धि को साहित्यैतिहासिक विकास-धारा मे रखकर देख लिया है, अत यहा विस्तार-भय से व स्थान-सकोच के कारण विशद व्याख्या के अभाव में प्रमाद-भय से प्रसाद के स्थान-निर्धारण का कोई प्रयत्न नही किया है। केवल सैद्धातिक दृष्टि से इस आधार के औचित्य का निर्देश करते हुए प्रसाद के साहित्यैतिहासिक विशिष्ट महत्त्व की ओर सकेत कर देना ही यहा पर्याप्त होगा।

महाकाव्योचित औदात्य, रहस्य-भावना, सौदर्य-दृष्टि, कला-सौष्ठव, जीवन-क्राति, मानव का सास्कृतिक उत्थान—अनेक विशिष्ट गुणो के आधार पर प्रसाद की तुलना प्राचीन और समकालीन, भारतीय और विदेशी साहित्यकारो के साथ (जैसे, प्रसाद-कालिदास, प्रसाद-तुलसी, प्रसाद-निराला, प्रसाद-रवीन्द्र, प्रसाद-दाते, प्रसाद-मिल्टन, प्रसाद-गेटे, आदि) किये जाने की अत्यत प्रौढ व पुष्ट सभावनाए दिखायी पडती है। स्थान-स्थान पर अनेक विद्वानों ने इन सभावनाओं की ओर सकेत भी किया है। तुलना का मार्ग निषिद्ध नही, खतरे व गंभीर उत्तरदायित्व का अवश्य है।

(2) मार्क्सीय विचारधारा का आधार

हमें नवयुग के विचारक मार्क्स की विचारधारा से प्रेरित 'द्वद्वात्मक भौतिकवाद' और उस पर आधारित साहित्यिक मूल्यो की भी सक्षेप मे परीक्षा करनी होगी, वर्तमान युग मे 'सामाजिक यथार्थवादी' दर्शन की प्रतिष्ठा के कारण हम तत्प्रसूत साहित्यिक मूल्यो की अवज्ञा नही कर सकते, क्योकि उन मूल्यों ने साहित्य-क्षेत्र के एक भाग मे अपने अस्तित्व का पर्याप्त दृढता से उद्‌घोष किया है। 'द्वद्वात्मक भौतिकवाद' का दर्शन मानव की भौतिक परिवर्तनशीलता व विकास को आर्थिक-सामाजिक भूमि पर समझने का सर्वाधिक आग्रह रखता है। वह आत्मा जैसी किसी सत्ता को नही मानता,[57] आत्मा विकसित मन ही है जो सब वस्तुओं की तरह भौतिक अणुओ से ही बना है। चेतना गौण है, भौतिक द्रव्य ही प्रमुख तत्त्व है।[58] व्यक्ति की

स्वतत्र सत्ता उसे निरपेक्ष रूप मे मान्य नही है, व्यक्ति की सत्ता केवल सामाजिक सगठन से ही सुरक्षित रह सकती है। वर्गहीन समाज इसका ध्येय है और इस प्रकार के समाज की अवतारणा केवल वर्ग-सघर्ष द्वारा ही लायी जा सकती है। उत्पादन के साधनो पर मुट्ठी भर लोगो का अधिकार न रहना चाहिए, उनका राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। श्रम व समता के आधार पर समाज की रचना होनी चाहिए।

सामाजिक अथवा समाजवादी यथार्थवाद के प्रेरक मूल सूत्रो को हम नीचे इस विचारधारा के एक पोषक-अध्येता के द्वारा लिखित लेख से अविकल रूप मे उद्धृत कर रहे है[59] —

"वस्तुगत यथार्थ का उसके क्रातिकारी विकास की भूमिका मे समाजवादी दृष्टि के आधार पर चित्रण।

—समाज-विकास की द्वद्वमूलक प्रक्रिया की भूमिका में प्रगतिशील तथा प्रतिगामी शक्तियो की परख।

—ऐतिहासिक विकास की मूलभूत अतर्धाराओ का ज्ञान, नये को समर्थन देकर जर्जर प्राचीन का बहिष्कार, ऐतिहासिक समझ, जीवन के 'पाजिटिव' पक्ष पर अधिक बल।

—समाज मे व्याप्त वर्ग-सघर्ष तथा वर्गीय असगतियो का गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण तथा उद्घाटन।

—मनुष्य के सपूर्ण व्यक्तित्व का अकन, जीवित, सक्रिय तथा सामाजिक मनुष्य की प्रतिष्ठा, 'पाजिटिव हीरो' की सृष्टि।

—भविष्य के एक क्रातिकारी, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सपन्न तर्कसम्मत 'वीक्षण' (Vision) का मूर्त्तीकरण।"

ध्यान देने पर इन प्रतिनिधि विचार-सूत्रो मे जो कुछ निहित है उसका अधिकाश किसी प्रकार के विरोध को उकसाता नही जान पडता। जीवन के स्वस्थ व सर्वागपूर्ण विकास का अभिलाषी प्रत्येक साहित्यकार अपनी रचना को मासल व जीवत बनाने के लिए सहर्ष तैयार होगा। समाज और समाज-विकास किसे इष्ट नही ? द्वद्व से कौन बचा है और जीवन की आदि चालक शक्ति के रूप में उसका अस्तित्व कौन अस्वीकार करेगा ? क्या जीवन-चेतना की प्रतिमूर्ति सच्चा साहित्यकार प्रतिगामी शक्तियो को परखकर उनका समूलोच्छेदन करना न चाहेगा ? आदि-आदि। सबसे अधिक पते की बात है 'मनुष्य के सपूर्ण व्यक्तित्व का अकन।' वस्तुत यही सूत्र या सूत्राश सही ढग से समझ लेने पर सब विग्रहों की जड तोड देता है। फिर तो 'पाजिटिव', 'वर्ग-सघर्ष', 'सामाजिक', 'क्रातिकारी', 'वैज्ञानिक', 'तर्कसम्मत' आदि शब्द 'सपूर्ण व्यक्तित्व' के जीवत नवीन ताप मे ओस-से उडने लगते है। काव्य तो सपूर्ण व्यक्तित्व को लेकर चलता है। खडित व्यक्तित्व या खडित विचारधारा को एकात प्रश्रय उसकी मूल प्रकृति, पद्धति और ध्येय के विपरीत है, साधन सामग्री के रूप में अवश्य ही वे काव्य या साहित्य में ग्राह्य हो सकते हैं।

द्वद्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन का सबसे बडा विवादास्पद बिंदु वह है जिसके अनुसार सत्य, शिव, सुदर, सम्मान, प्रेम, त्याग, बलिदान, आदर्श आदि गुण या प्रेरणामय उद्भास (Inspired revelations) केवल भ्रातिया हैं जिनका वास्तविक सबंध केवल भौतिक द्रव्य से ही है।[60]

हमे यह मानने मे कोई कठिनाई नही कि मार्क्स-दर्शन एक उच्च व सदाशयी जीवन-दर्शन है। उसका लक्ष्य निश्चय ही मानव के सुख का विधान है। वह ईश्वर या आत्मा की सत्ता को न माने, इसमे भी कोई हमे गभीर अभाव नही जान पडता। अभाव तो यह खटकता है कि वे समाज को ही एकमात्र सत्ता मानकर प्राय वही रुक जाते है, जबकि बिदु से ही रेखा बनती है, व्यक्ति मानव से ही मिलकर समाज बनता है। हम तो यह मानते है कि व्यक्ति का सुख, आनद या कल्याण ही वास्तव मे सर्वोपरि है। समाज और उसकी रचना केवल इसी लक्ष्य के लिए ही तो है। व्यक्ति की छाती पर समाज का भीमकाय व निर्जीव लौहयत्र तो मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व ही खतरे मे डाल सकता है। प्रसाद के 'ककाल' का विजय इसका भव्यतम उदाहरण है। अत व्यक्ति व जीवन के सूक्ष्म मूल्यों को विस्मृत कर कोरे समाज मे ही आस्था का आग्रह सतोषजनक नही जान पडता। पर उधर हम यह भी कदापि पोषित नही कर रहे है कि कोरा व्यक्ति ही अपने आप मे सर्वस्व है। वह एक दूसरी भयकर अतिवादिता है जिसका विकृत प्रभाव अनेक रूपों में, आज की एक विशिष्ट साहित्य-चिता व सृजन पर देखा जा सकता है।

द्वद्व को विकास व जीवन को रूपायित करने वाला अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हुए भी उसे इस रूप मे और इस सीमा तक ग्रहण करना कि हम जीवन मे किसी भी स्थायित्व की भावना मे सास न ले सके, कदाचित् मानव के सास्कृतिक हित की दृष्टि से अत्यत भयावह है। निश्चय ही, परिवर्तनो के बीच से ही मानव-जाति अपनी स्थायी महत्त्व की उपलब्धिया सकलित-सगृहीत करती हुई बढ़ रही है। पर, मानव-मस्तिष्क की शिराओ का जाल भी तो हमे स्वस्थ-सतुलित रखना है। वस्तुत, परिवर्तन जीवन के लिए है, जीवन परिवर्तन के लिए नही। जीवन ही तो सर्वोपरि वस्तु है। द्वद्व और सघर्ष को ही जीवन का अतिम दर्शन मानना शताब्दियो से परिष्कृत होती आयी विकसित मानव-चेतना को सपूर्णत ग्राह्य नही। अतत, मब कुछ 'प्रगति' का सही अर्थ समझने पर ही निर्भर है।

साहित्य तो समग्र जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए बाध्य है। वह समाज और व्यक्ति दोनों को एकसाथ लेकर चलता है, सभी वर्गों की हित कामना करता है। साथ ही वह व्यापक, मीठी व गहरी जीवन-क्राति मे विश्वास करता है; कोरी भौतिक य कोरी आध्यात्मिक क्राति मे नही। वह मिट्टी से लेकर आत्मा तक मे अपना विश्वास रखता है। कोई वर्ग-विशेष उसे अपना अस्त्र बनाकर नही चल सकता। वह मानव के गभीरतम प्रेरणा-स्रोतों, व्यापकतम जीवन-मूल्यो व समाज के सभी वर्गो व स्तरो के व्यापक ढाचे तक अपना विस्तार रखता है।

भारतीय रस-चक्र व रस के लक्षणों पर दृष्टि डालने से विदित हो जायेगा कि मार्क्सवाद अपना साहित्यिक रूप मे जिन मूल्यो को प्रस्तुत करता है, वे सब रसवाद में यथास्थान समाविष्ट हैं। शायद कठिनाई यह जान पडे कि रस-चक्र मे रस के उपकरणों मे विचार तत्त्व का स्थान कहा है? पर, साहित्य में विचार तत्त्व की सत्ता भाव तत्त्व, जो रस-चक्र में अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान पर स्थित है, में ही समाविष्ट है।[61] रस-चेतना और भाव-चेतना अपने मूलों में परस्पर अनुस्यूत है। आधुनिक महान् बौद्धिक कवि इलियट तक विचार को भाव की ही पद्धति से व्यक्त करने के पक्षपाती है।[62] विचार का स्वतत्र स्थान न होना काव्य या साहित्य की अपनी विशेष पद्धति को ही सकेतित करता है। काव्य स्थूल तथ्य या विचारों का क्षेत्र नही। पर यहा यह भी ध्यान देने की बात है कि किसी प्रकार की वर्गीय विचारधारा को भी

रस मे स्थान नही है (अवश्य उस वर्गीय विचारधारा मे कतिपय अधिकाधिक ग्राह्य स्वस्थ जीवन-तत्त्व हो सकते है) क्योंकि इस प्रकार की एकागी विचारधारा 'साधारणीकरण' का मार्ग ही अवरुद्ध कर देती है, जो रसानुभूति के लिए अत्यत आवश्यक है और वैयक्तिक विचारधारा के अग्रणी कवि भी जिसकी महत्त्व-अस्वीकृति का साहस न कर सके।[63] नैतिकता,[64] साम्य, एकता, ऊच-नीच से मुक्ति की भावना रस-विरोधी नही है, वह तो वस्तुत रस का प्राण ही है। यह सब कुछ सामाजिक भूमि पर होता है। साथ ही व्यक्ति के अतरग की तृप्ति का भी रस-चक्र मे पूरा विधान है, किंतु उत्साही मार्क्सवादी जिसका, प्राय जान या अनजान मे, अपनी सामाजिक दृष्टि के उग्र अतिरेक मे, अवमूल्यन-सा करते जान पडते है। सामाजिक यथार्थवाद, वैयक्तिक यथार्थवाद से कटकर प्राय एक निष्प्राण लौह-पिजर मात्र ही रह जाता है। तात्पर्य यह कि मार्क्सीय दृष्टि का जो कुछ भी स्वस्थ अवदान है, वह काव्य की आत्मभूत रस-दृष्टि में सुदर अनुपात में पहले से ही यथास्थान सयोजित है। रस-निर्माण मे शाश्वत व युगीन विचारधारा का अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान है। विचारो को भाव-रूप मे परिणत होकर ही काव्य-क्षेत्र में प्रवेश मिल सकता है, क्योकि काव्य इतिवृत्त या प्रचार का साधन मात्र नही है। रस कोई अलस विनोद या उन्मत्त प्रलाप नही है, वह जागृत चैतन्य की मार्मिक अनुभूति है, जिसमें समग्र मानवीय व सामाजिक चेतना एक जीव होकर धडकती है। जीवन की समस्याए, विचारधाराए, मानव का ज्ञान-विज्ञान व बुद्धि-वैभव, सब कुछ अत्यत सूक्ष्म रूप से रस-निर्माण मे नियोजित रहता है। रसात्मक सच्ची अपील ही तब होती है, जब शाश्वत व युगीन—दोनो ही प्रकार के सस्कारो से सपन्न अत करण एक ही साथ प्रभावित होने को तैयार हो। आज के युग मे जो भी कवि वास्तविक रस-सृष्टि करना चाहेगा वह इस युगीन चेतना के विनियोग के अभाव मे पूर्णतया असफल रहेगा, क्योकि कोरे सुख-दु ख की मदिर अभिव्यक्ति मात्र तो आज के सच्चे व प्रबुद्ध सहृदयो को प्रेरित या सतुष्ट नही कर पायेगी,—अवश्य शुद्ध जीवन-भूमिका या शुद्ध भाव व अभिव्यक्ति की भूमि पर उसके अवश्यभावी प्रभाव की सभावना को हम शत-प्रतिशत अकल्पित भी नही रख सकते। तात्पर्य यह कि मार्क्स की सामाजिक विचारणा साहित्य के क्षेत्र में अधिक से अधिक इस रूप में और इन सीमाओ मे ही ग्रहीत हो सकती है। उसने जो भी काव्य-मूल्य प्रस्तुत किये है, वे हमारी दृष्टि में, अधिकाशत व्यापक रसवाद मे सहज समाविष्ट हैं, रसवाद के लिए वे कोई नवीन व अनोखी उपलब्धि नही।

आनद या रस जीवन व काव्य में सर्वोच्च सिद्धि है। किंतु साथ ही यह भी सत्य है कि हम इसे जीवन व समाज से निरपेक्ष रूप में भी स्वीकार नही कर सकते। रस को जीवन व जगत्-व्यवहार से भी जोडकर देखना होगा, अन्यथा रस स्थूल विलास का पर्याय मात्र रह जायेगा, जो काम्य नही, इस रूप में तो वह उस जीवतता और स्फूर्ति से ही वचित हो जायेगा जो रस की भावना के साथ समवाय रूप से जुडी हुई हैं। वस्तुत रस या आनद हृदय की या आत्मा की परिपूर्णता की स्थिति का द्योतक है। यह परिपूर्णता विकलाग है, यदि हम अपने स्थूल ऐद्रिय सुख के लिए रस की उदात्त भावना को सामाजिक योग-क्षेम व लोक-मगल के सदर्भों से सर्वथा काटकर स्व-सुविधानुसार ग्रहण करें। रस की ऐसी भावना रुग्ण, तुच्छ व सर्वथा त्याज्य है। उक्त रूप में रस की मूल स्वस्थ भावना की परिकल्पना करने पर काव्य का लोक या समाज के साथ घनिष्ठ सबध स्पष्ट रूप से दिखायी पडेगा। काव्य के रस को आत्मा का सच्चा रसायन बनाने के

लिए उस योग-क्षेम को अनिवार्य अग के रूप मे ग्रहण करना पडेगा, जिसका निर्वाह इन शब्दो मे कहा गया है—'योगक्षेम वहाम्यहम्' (गीता,9/22), तथा मार्क्स भी जिसके प्रति समर्पित हैं। इस रूप मे बात को समझने पर सामाजिक मूल्यो से किनारा किसी भी प्रकार नही काटा जा सकता। हा, यदि यह योगक्षेम की बात करके व्यापक मानवीय सहानुभूति का दान किसी साप्रदायिक चितन या भावना के आग्रह से, वर्ग-विशेष के ही लिए, सिद्धात और व्यवहार मे स्वीकृत व आरक्षित किया जाता है तो निश्चय ही काव्य या साहित्य के क्षेत्र मे, जो किसी वर्ग-मात्र का ही नही, व्यापक मानवता का क्षेत्र है, वह स्वीकृत नही हो सकता। रस और मानवता की भूमि पर मानव-समाज को खडो मे विभक्त करके सोचना या सोचने के लिए आवश्यक या अनुचित बढावा देना, विद्वेष या घृणा के लिए जिनका उच्छेदन काव्य का सकल्प है, पथ प्रशस्त करेगा। प्रगतिवादी काव्य के सदर्भ में डॉ प्रभाकर माचवे ने ठीक ही लिखा है कि प्रगतिवादी कविता ने जिस मात्रा मे अपनी जडे भारतीय दर्शन से विमुख होकर 'मार्क्स वाक्यम् प्रमाणम्' किया-कहा, उतनी ही मात्रा में प्रत्यक्ष मानव से दूर वह एक किताबी मानव-समूह के 'वाद' मे अपने आपको लपेटने लगी। परिणाम स्पष्ट था, ऐसी कविता जड से विच्छिन्न हो, पनप नही सकी। मार्क्स या अन्य किसी भी चितक-विचारक का अधानुगमन गलत है, उससे आतकित होना गलत है—कवि के लिए।[65] वस्तुत सामाजिक योगक्षेम की बात हमारे आचार्यो ने रस की व्यापक व गहरी चिता करते हुए प्रयोजनों के अतर्गत समेट ही ली है।[66] तात्पर्य यह कि हमे रस की मूल साहित्यिक भूमि पर ही काव्य का मूल्याकन करना है, अन्य या अवातर मूल्यों को प्राथमिकता देने से काव्य-साहित्य का वास्तविक मूल्य सामने न आ सकेगा।[67]

प्रसाद के साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद की विचारधारा अपने स्वस्थ सप्रदाय विनिर्मुक्त रूप में सर्वत्र देखी जा सकती है।

(3) मनोवैज्ञानिक विचारधारा का आधार

आधुनिक चितन के प्रवर्त्तकों में फ्रायड का नाम अन्यतम है। फ्रायड की चिता के प्रभाव से मनोवैज्ञानिक समीक्षा-प्रणाली का समीक्षा-जगत् में महत्त्वपूर्ण आविर्भाव हुआ है। यह प्रणाली अवचेतन मन की सूक्ष्म गतिविधियो को सर्वाधिक महत्त्व देती हुई साहित्यिक मूल्यों के प्रश्न पर पुनर्विचार करके उसे नवीन ढग से रूपाकृत करने की आकांक्षिणी है। वह व्यक्ति-मन को अत्यधिक महत्त्व देकर वैयक्तिक यथार्थवाद की प्रतिष्ठा करती है। इसमें कोई सदेह नही कि व्यक्ति या मानव ही साहित्य का केद्रीय विषय है, व्यक्ति अपने अवचेतन मन से प्रमुखत परिचालित रहता है, और उसी की तृप्ति पर समाज की सुव्यवस्था निर्भर करती है, पर मनोविज्ञान पर आधारित वैयक्तिक यथार्थवाद साहित्य में कुछ ऐसे मूल्य स्थापित करना चाहता है जो अपने अतिरेक में एकदेशीय कहे जा सकते हैं। जीवन का प्रतिनिधि काव्य या काव्य-चिता व्यक्ति और समाज के स्वस्थ सतुलन से सबधित सभी जीवन-दृष्टियों को योग्यता व महत्त्व-क्रम से यथा-स्थान नियोजित करके ही सार्थक हो सकती है। इस दृष्टि से देखने पर मनोवैज्ञानिक मूल्य एक सीमित स्थान के ही अधिकारी ठहरते है। उनका घनिष्ठ सबध रस-चक्र के महत्त्वपूर्ण उपकरण भाव के साथ है और भाव के ही नाते बिब, उपमान, कल्पना, प्रतीक आदि के साथ है।

साहित्य मनोविज्ञान की प्रयोगशाला नही है और न वह मन के कलापों या मानसिक

प्रक्रियाओ के अर्जित ज्ञान को प्रसारित करने का एक माध्यम। इस मूल दृष्टि को स्पष्टतापूर्वक समझकर ही साहित्य मे मनोविज्ञान की सूक्ष्मतम उपलब्धियों का साहित्योचित प्रयोग हो सकता है। जीवन का कोई उपकरण कभी-कभी हमे अत्यत प्रभावशाली लग सकता है, किंतु जीवन या काव्य के समग्र विधान मे तो उसके लिए एक सीमित स्थान ही निर्धारित हो सकता है, वह अन्य आवश्यक उपकरणो पर हावी नही हो सकता। मनोजगत् से प्राप्त कच्चे (raw) तथ्यों को चेतन मन, जब तक सत्य, शिव व सुदर की उपयोगिता के अनुसार छाट न ले, तब तक ज्यो का त्यो उन्हे साहित्य में दाखिल कर देना, चाहे वे हमारे कितने ही सूक्ष्म व कष्ट-साध्य निरीक्षणों से उपलब्ध हुए हो, उचित नही कहा जा सकता। मनस्तत्त्व के योग से निश्चय ही वस्तु रोचक व प्रामाणिक हो जाती है, कितु मनस्तत्त्व की विषमानुपात मे महत्त्व देकर जहा असाधारण (एबनार्मल) मनोविज्ञान से साहित्य उमस, घुटन, कुठा के ही प्रकाशन का साधन बन जाता है वहा स्थिति चित्य हो उठती है।

मन के तथ्य आरभिक रूप मे प्रकृतिमात्र है, चेतन मन अथवा आत्मा की साहित्योपयोगी क्रिया-प्रतिक्रिया के बिना वे निर्जीव हैं। इस रूप में सोचने पर ही मनोवैज्ञानिक जीवन-मूल्यो का यथार्थ महत्त्व आकलित किया जा सकता है। रस के व्यापक ढाचे मे इन मूल्यो के लिए, भावक्षेत्र मे, प्रशस्त विकास-भूमि पडी है, अत मनोवैज्ञानिक मूल्यों का पूरा-पूरा महत्त्व स्वीकार करते हुए भी साहित्यिक मूल्यो की दृष्टि से उनका नितात स्वतत्र अस्तित्व सदिग्ध ही है।

साहित्य मे मनोविज्ञान के उपयोग की एक प्रकृत मर्यादा है। उससे आगे वह साहित्य के लिए सर्वथा अनुपादेय व असगत है। मानव-मन के जो लक्ष-लक्ष सूक्ष्म रहस्यमय तथ्य हैं उनका साहित्य की प्रकृति, प्रक्रिया वह उद्देश्य के अनुरूप कलात्मक उद्घाटन किसी भी साहित्य को रोचकता व सूक्ष्मता प्रदान करता है और इस सीमा तक हमे मनोविज्ञान-क्षेत्र की उद्घाटित ज्ञान-सपदा का आभारपूर्वक पूरा-पूरा उपयोग करना चाहिए। पर जहा विशेषज्ञता के प्रदर्शन की झोक में साहित्य को मनोविज्ञान के ज्ञान का केवल निर्जीव वाहन या माध्यम मात्र बनना दिया जाये वहा साहित्य के क्षेत्र मे मनोविज्ञान का यह अबाध प्रवेश सभवत बहुत इष्ट नही माना जायेगा। बस, अधिक-से-अधिक यह 'विश्लेषणात्मक' पद्धति भी साहित्य के स्वरूप और विशेषकर उसकी रचना-प्रक्रिया को समझने का साधन मात्र है।[68] 'वस्तुत साहित्यिक अतर्दृष्टि-सपन्न समीक्षक ही मनोविश्लेषण-पद्धति को सच्चे साहित्यिक उपयोग मे ला सकते हैं।'[69] फ्रायडीय मनोविज्ञान जिन तथ्यों को प्रस्तुत करता है वे विज्ञान के क्षेत्र मे भी अभी पूर्णत प्रतिष्ठित नही हो पाये हैं, नही। वे भ्रामक भी सिद्ध हो रहे है।[70] फ्रायड की स्थापनाए अभी कडी परीक्षा पर चढी हुई है। और भी आगे बढकर फ्रायडीय मनोविज्ञान किस प्रकार मानव के सास्कृतिक वातावरण को क्षुब्ध व दूषित कर चुका है, उसके लिए इस क्षेत्र के तलस्पर्शी सुधी विचारको की जो प्रतिक्रियाए हुई हैं वे साहित्यकारों की आखे खोल देने वाली हैं। मानव के अवचेतन मन की अध गुहा में प्रकाश-किरण डालकर सत्यों का उद्घाटन करने की अपनी सदाशयता व विज्ञान-साधना के आवरण मे फ्रायड के मूल मतव्यों की जघन्यता को भी विचारक देखने से नहीं चूके हैं।[71]

अत फ्रायडीय मनोविज्ञान के आधार पर साहित्य को, विशेषत प्रसाद के साहित्य का मूल्य आंकने का सभार करने वालों को बडी सावधानी से पाव रखना चाहिए। यों सहज रूप

मे प्रसाद ने एक साहित्यकार की हैसियत से मनोविज्ञान का जो साहित्योचित उपयोग किया है वह उन्हे मनोविज्ञान का सूक्ष्मदर्शी कलाकार प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है—"प्रसाद जी एक मनोवैज्ञानिक शिल्पी थे, उन्होने चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में असाधारण कलात्मक सौष्ठव का परिचय दिया। उनका उत्कर्ष इसी क्षेत्र मे है और यह निर्विवाद है कि हिंदी साहित्य मे दूसरा कोई लेखक ऐसी सृष्टि मे समर्थ नही हो सका।"[72] यह दूसरी बात है कि उन पर कही-कही मनोवैज्ञानिक स्थितियों के यथार्थ और सफल चित्रण न कर पाने का भी आरोप लगाया गया हो।[73]

कहने का तात्पर्य यह है कि कोरे मनोवैज्ञानिक आधारों पर ही प्रसाद के मूल्य को आकना अनुचित होगा। मनोविज्ञान का उन्होंने सुदर साहित्योचित उपयोग किया है।

(4) साहित्य की व्यापक (भारतीय व पाश्चात्य) धारणा का आधार

प्रसाद के साहित्य के उत्कर्ष-बिंदु को नापने का एक महत्त्वपूर्ण आधार है—साहित्य (शुद्ध या ललित) की व्यापकतम (भारतीय और पाश्चात्य) धारणा। इस धारणा के आधार पर प्रसाद का साहित्य कैसा उतरता है, यह देखने का प्रयत्न भी सक्षेप मे किया जा सकता है।

'शब्द' और 'अर्थ' के योग से ही पूर्ण वाणी का निर्माण होता है। सभवत- साहित्यकार के अतिरिक्त वर्ण, शब्द व अर्थ तथा इनकी सघटना व सामजस्य को समझने-परखने वाला दूसरा कोई नही होता। वह वर्ण, शब्द और अर्थ के रूप, रग, शक्ति, प्रभाव, गीत-व्यापार आदि का पारखी या जौहरी होता है। अग्रेजी भाषा मे साहित्यकार को 'मैन ऑफ लैटर्स' सभवत इसीलिए कहते हैं कि वह बडी सूक्ष्मता के साथ अक्षर-अक्षर का बडी ही सतर्कता से प्रयोग करता है, चालू या बाजारू ढग से उनका मनमाना उपयोग नही करता। इसी मे साहित्यकार का सच्चा वैशिष्ट्य निहित है। आचार्य कुन्तक ने शब्द और अर्थ की सहितता के मर्म का उद्घाटन करते हुए ही 'साहित्य' शब्द को अर्थगर्भित बनाया है

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरत सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्व विधीयते॥
साहित्यमनयो, शोभाशालिता प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्य वा स्थिति॥[74]

अर्थात्, काव्य की शोभाशालिता या सौदर्याधायकता के लिए न्यूनता और अधिकता से रहित शब्द और अर्थ की अनिर्वचनीय या लोकोत्तर मनोहर स्थिति ही शब्द और अर्थ की सच्ची सहितता अथवा 'साहित्य' है। शुद्ध साहित्य की यही प्रतिनिधि भारतीय धारणा है। 'साहित्य' शब्द पर विचार करने पर साहित्य की सार्वत्रिक मूल भावना भी यही कही जा सकती है। यही एक सर्वोपरि कसौटी है जिस पर प्रत्येक साहित्य का आतरिक गुण सफलतापूर्वक आका जा सकता है। कुन्तक ने अपने कथन द्वारा साहित्य की मूल प्रकृति को पूर्णता व स्पष्टता के साथ प्रस्तुत कर दिया है—

'तद्यद् सरस्वती हृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तरामोद मनोहरत्वेन परिस्फुरदेतत् सहृदयषट्चरणगोचरता नीयते।'

जबकि हमें एक ऐसे साहित्य का मूल्याकन करना है जिसमें केवल कविता ही नहीं, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि अन्य विधाए भी समाविष्ट हैं, तब साहित्य की एक ऐसी व्यापक

व लचीली धारणा ही सामने रखनी होगी, जिस पर सभी विधाओ की स्वतत्र नही कितु सामूहिक उपलब्धि के स्तर या उत्कर्ष को आका जा सके। भारत में काव्य, साहित्य का व्यापक नामधेय है, जिसमे प्राय सब ललित वाड्मय समाविष्ट कर लिया जाता है। भारतीय साहित्य की मूल प्रकृति रसात्मक है, अत यहा काव्य ललित साहित्य की सभी विधाओ का पर्याय है।[75] प्राचीन यूनानी दृष्टि भी यही थी।[76] पर आधुनिक उपन्यास, कहानी प्राय पश्चिम की देन समझा जाती है। अत साहित्य की पश्चिमी धारणा भी प्रसाद की सब विधाओ के समग्र मूल्याकन की दृष्टि से उपादेय हो सकती है। फिर, पश्चिम में भी ऐसी व्यापक धारणा उपलब्ध है, जहा काव्य, प्राय साहित्य के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है अथवा काव्य मे भी विधाओ का प्रयोग निहित समझा जाता है।[77] यद्यपि प्रसाद का प्राय समस्त साहित्य मूलत रसात्मक ही है। अत भारतीय काव्य का रसात्मक आधार ही एकमात्र मानदड के रूप मे अपनाया जा सकता है, पर उसमे आधुनिक विधाए भी सम्मिलित है। अत भारतीय धारणा के साथ ही आधुनिक साहित्य-धारणा लेकर चलना भी उचित है। वहा की व्यापक साहित्यिक धारणाओं के अनुसार रचनात्मक प्रतिभा और बौद्धिक प्रतिभा का सामजस्य,[78] कल्पना-विधान के द्वारा काव्य की रमणीय पद्धति से किसी नवीन विचार या विचारधारा का प्रवर्तन या योगदान,[79] मानसपटल पर बाह्य पदार्थ सत्ता से पडे प्रभावों का आलेखन,[80] श्रोता पाठक की कल्पना-वृत्ति को प्रभावित करके आनद प्रदान करने की लेखकीय शक्ति का प्रदर्शन,[81] सर्वोच्च कोटि की सौंदर्यात्मक भावनाओ का निर्माण[82] और 'कला कला के लिए सिद्धात' में निहित कला की उत्कृष्टता के मानदड के विपरीत मानव जाति की सामान्य भावना,[83] विचारो का आदर्शात्मक ढग से रूपायन[84]—ये ही श्रेष्ठ साहित्य के कतिपय विशिष्ट मानदड समझे गये हैं। और भी अगणित मानदड हैं, पर हमारे काम के लिए इतने ही प्रतिनिधि मानदड पर्याप्त है।

इस प्रकार कलात्मक साहित्य की भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं से अवगत होकर, और उन दोनो धारणाओं को मिलाकर देखने पर भी, हम प्रसाद के साहित्य की श्रेष्ठता को सफलतापूर्वक आकने का एक महत्त्वपूर्ण मानदड प्राप्त करते हैं। इन मानदडों पर परीक्षण करने में जो कुछ निहित है वह इस प्रबध के प्रकरणो में देखा ही जा चुका है। अत अनावश्यक विस्तार यहा अभीष्ट नही।

(5) पाश्चात्य साहित्यिक मूल्यो का आधार

किसी साहित्यकार की रचना-समष्टि के उत्कर्ष का मानदड अनिवार्यत यह नही होता कि वह साहित्य की चरम उत्कृष्टता के प्राचीन व नवीन सभी मानदडों पर एक ही साथ पूरा या खरा उतरे ही। यह असभव भी है और अस्वाभाविक भी। वस्तुत साहित्यकार की अपने सस्कारों की मानस-भूमि तथा साहित्य के चिर प्रतिष्ठित मूल्यों (रस) की भूमि पर ही उसके साहित्य की मौलिक व सच्ची परीक्षा होनी चाहिए। विभिन्न जलवायुओं मे पोषित सामाजिक-सास्कृतिक ढाचों वाले दूरस्थ देशों के साहित्यिक मूल्यों को मानदड बनाकर, कृतित्व की सफलता के प्रति अतिरिक्त रूप से आश्वस्त होकर हम भले ही विशेष गौरव-सतोष का अनुभव अवश्य कर सकते हैं, पर उन तुलाओं पर तुलना कदापि अनिवार्य नही। केवल जिज्ञासा-भाव से, भारतीय साहित्यकारों के कृतित्व के परीक्षण के लिए, पश्चिमी पैमाने अपनाने में तो कोई विशेष

आपत्ति की बात नही, पर हमे यह भी देख लेना चाहिए कि 'वे नये पश्चिमी पैमाने क्या है, और उनकी प्रयोग-विधि क्या है ? उनकी प्रकृति और परपरा क्या है, वे किन सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं, और उनमे हमारे नये साहित्य का मानदड बनने की क्षमता कितनी है ?'[85] इन मानदडो पर खरा न उतरने पर भी कोई साहित्यकार, साहित्य की अपनी निजी भूमि पर भी, विश्व-साहित्यकार कहला सकता है, क्योकि उसके आत्मा का उत्कर्ष ही यदि देखना है तो उसके लिए देश-देशातरों के आधारो पर निर्मित मूल्यों का प्रयोग एक अतिरिक्त परीक्षा मात्र है।

हम आरभ में ही यह निवेदन कर देना चाहते है कि साहित्य के भारतीय मूल्य और पाश्चात्य मूल्य—मूल्यो का इस प्रकार का विभाजन बडा कृत्रिम और स्थूल है, क्योकि जलवायु और भौगोलिक अतर को तथा इनसे प्रसूत कुछ प्रादेशिक वैभिन्न्य-वैचित्र्य को थोडा किनारे कर देने पर मानव-हृदय की सामान्य भाव-भूमि मे कोई विशेष अतर नही रह जाता। दोनों भूखडो के सृजनात्मक ललित साहित्य व साहित्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने पर साहित्यिक तत्त्वो, मूल्यों व पद्धतियो मे आश्चर्यजनक साम्य दिखायी पडता है। अवश्य ही कुछ मूल्य परस्पर अस्वीकार्य हो सकते है। अत भारतीय व पाश्चात्य—इस प्रकार के भेद को सार्वभौम सत्ता वाले साहित्य के क्षेत्र में प्रश्रय देना बहुत उचित नही जान पडता। प्राय पूर्व को पूर्णत आध्यात्मिक व पश्चिम को पूर्णत भौतिक कह देने की एक बहुत ही आपत्तिजनक चाल रही है। भौतिक व आध्यात्मिक—की जो अब सूक्ष्म-विशद व्याख्या हमारे युग मे हुई है, उसे देखते हुए यह प्रवृत्ति बहुत स्वस्थ नही जान पडती। ये जीवन-तत्त्व दोनो जगह विभिन्न रूपो मे, अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार और अपनी जातीय प्रतिभा के अनुरूप प्रयुक्त होते रहे है। अस्तु।

साहित्य या काव्य के सर्वोच्च मूल्यों के निर्धारण मे पश्चिम के साहित्यजगत् मे प्लेटो के युग से ही एक ऐसा दीर्घ और अखड अध्यवसाय होता रहा है कि उन मूल्यों के कातार में प्रवेश मात्र भी समयापेक्षी व स्थानापेक्षी है। व्यक्तियों और आदोलनों के द्वारा अनेक साहित्यिक मूल्यों का आविर्भाव और विकास हुआ है, और साहित्यिक मूल-निर्माण की यह परपरा आज भी पूरे उत्साह से जारी है। प्लेटो ने 'जीवन के तथ्यो से सगत सूचना-समष्टि' को महत्त्व दिया है।[86] अरस्तू ने रचना के रूप-विधान और कला की आनददायकता—दोनों ही को महत्त्व दिया।[87] लोंजाइनस ने 'सहृदय' को आधार बनाया।[88] एडिसन ने कल्पना को प्रभावित-उत्तेजित करने की क्षमता को महत्त्व दिया। आर्नल्ड ने 'अतर्व्याख्यान की शक्ति' (Interpretative power) और 'नि:शेष भावसत्यता का उच्च गाभीर्य (High seriousness of absolute sincerity) और जीवनालोचन' (Criticism of Life) को मानदड बनाया।[89] रस्किन ने साहित्य में मानव-जाति की श्रेष्ठ परपराओ के मेल मे रहने वाले अधिकाधिक व सर्वोत्कृष्ट भाव-विचारो को महत्त्व दिया।[90] स्विनबर्न, आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले तथा क्रोचे ने कला और अभिव्यक्ति के बाह्य रूप के स्थान पर आतरिक अभिव्यक्ति व कला के शुद्ध आनद की महत्ता स्थापित की। टाल्सटाय ने मानवैक्य तथा मानव-कल्याण-रूप सिद्धि के साधन रूप मे कार्य के अस्तित्व की चरम सार्थकता घोषित की।[91] रिचर्ड्स ने 'अत वृत्तियों का समजन' ही को मूल्य रूप में स्वीकृत किया,[92] यद्यपि भारतीय मनीषियों की दृष्टि में यह मूल्य अपर्याप्त व असतोषजनक ही रहा।[93]

व्यक्तियो की तरह कला-साहित्य के आदोलनो के माध्यम से भी साहित्यिक मूल्यो का निर्धारण हुआ है, जिसमे पश्चिम की अनेक दार्शनिक दृष्टियो 'अस्तित्ववाद, विकासवाद, व्यावहारिक उपयोगितावाद, अध्यात्मवाद, सृजनात्मक विकासवाद, प्राकृतवाद, अनेकातवाद, प्राणशक्तिवाद, वस्तुवाद, प्रत्यक्ष ज्ञानवाद आदि का भी दूर-पास का हाथ है।' साहित्य-क्षेत्र मे प्रतिष्ठित कलावाद, सौंदर्यवाद, अभिव्यक्तिवाद, प्रभाववाद—विशेषत बिंबवाद,[94] प्रतीकवाद,[95] अतियथार्थवाद[96] आदि अनेक वाद है, जिनमें प्राय विशिष्ट एकदेशीय साहित्य-मूल्य निर्धारित हुए है। यद्यपि ये सब वाद भी मानव-चेतना की गभीरता से प्रसूत कहे जाते है, किंतु इनके मूल्य विचारकों की दृष्टि मे सकीर्ण व एकागी ही रहे। उदाहरणार्थ, यूरोप का प्रसिद्ध बिबवाद, सभवत अपनी किसी आतरिक कचाई के कारण पाच-सात वर्षों का ही जीवन भोग सका।[97] प्रतीकवाद की भी यही कहानी है। उसने तो अस्तित्ववादियों की तरह (जिन्होने मृत्यु को एक मूल्य माना है) अधकार की ही उपासना आरभ कर दी।[98] अस्तित्ववाद जीवन के ऐसे मूल तत्त्वों के समावेश का आग्रह रखता है जिनमे अचेतन की अतर्क्यता भी सम्मिलित है। उसकी अपनी कोई निजी साहित्यिक शैली भी नही मानी जाती।[99] यह इस बात का प्रमाण है कि मानव-चेतना को गभीरता से और स्थायित्व के साथ स्पर्श किये बिना कोई वाद या साहित्य-मूल्य दीर्घजीवी नही हो सकता। यद्यपि इन मूल्यो की उद्भावना मानव-चेतना के शाश्वत प्रवाह में एक अनिवार्य सामूहिक आवश्यकता की प्रतीति का उद्घोष अवश्य करती है, तथापि यह भी निर्भ्रात रूप से सकेतित करती है कि वह स्थायी मूल्यों का स्थान कदापि नही ले सकती, वे मूल्य अपेक्षाकृत महत् व स्थायी मूल्यो के अगभूत रूप मे ही रहकर अपनी रक्षा अधिक अच्छी प्रकार कर सकते है। कोरी कला, कोरा सौदर्य, कोरी अभिव्यक्ति, प्रभाव, बिब या प्रतीक वस्तुत काव्य की समग्र व विशाल योजना मे अपना निश्चित महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, किंतु जब वे जीवन के विराट् प्रवाह व काव्य की अखडता से सबध तोडकर अपने ही सीमित जीवन-स्रोतो पर आधारित रहने लगते हैं तो उनसे सबधित मूल्यो का स्थायित्व किसी प्रकार रक्षित नही किया जा सकता। पर साथ ही यह भी निश्चित रूप में कहा जायेगा कि इन वादो या आदोलनो के मूल मे अवश्य एक गहरी जीवन-निष्ठा, जीवनार्पण-भावना, भावसत्यता, यथार्थ प्रेम व सच्चाई थी। इस न्यायत अर्जित श्रेय से इन्हे वचित करना साहित्यिक अन्याय ही होगा। इनके अस्तित्व की विडबना केवल यही है कि विराट् जीवन-प्रवाह व परिपूर्ण जीवन-रस से कटकर ये अल्पप्राण होकर प्राय सूख गये और इनसे सबधित साहित्य-मूल्य निर्भ्रात रूप से अधिक स्थिर भूमियों पर प्रतिष्ठित नही हो सके। स्थायी मूल्यों की खोज तो वस्तुत अब भी जारी है।[100]

यहा एक रोचक तथ्य और भी दिया जा सकता है। मूल्यों की खोज में व्यस्त यूरोप और अमरीका में आज जो काव्य तैयार हो रहा है उससे वहा विचारकों मे सतोष नही दिखायी पड रहा है। मि टामलिनसन आज की कविता का सिहावलोकन करते हुए लिखते हैं कि युद्धोत्तर काल में बहुत-से कवियों के होते हुए भी अभी एक ऐसी शक्तिशाली प्रतिभा की प्रतीक्षा हो रही है जो हमारे जीवन पर एक गहरी छाप छोडे और जिसकी अतर्दृष्टि की तीव्रता हमारी जीवन-प्रक्रियाओं को बदल दे।[101] इसी प्रकार मि फिलिप यग अमरीकी कविता का सर्वेक्षण करते हुए बीसवीं शताब्दी की अमरीकी कविता से सतोष व्यक्त नही करते।[102]

कहने का अभिप्राय यह है कि दौड में पीछे रह जाने का पछतावा करने जैसी कोई खास हालत अभी हमारे लिए पैदा हुई-सी नही जान पडती।

(6) छायावाद-रहस्यवाद

प्रसाद के गौरव का सुदृढ और स्थायी आधार एक समुन्नत व परिष्कृत जीवन-दर्शन तथा एक अतिशय रजनकारिणी काव्य-शैली—इन दोनों के विशिष्ट अनुपात में मिश्रित उनके निर्माता तत्त्वो के मेल में दिखायी पडता है। इस दर्शन व शैली को स्थूल रूप मे हम क्रमश रहस्यवाद या छायावाद कह सकते है। स्थूल रूप में इसलिए कि रहस्यवाद निरा बौद्धिक दर्शन ही नही है, वाद-मुक्त रूप में वह, एक भावमयी मनस्थिति भी है, और इसी प्रकार छायावाद एक निरी काव्य-शैली ही नही, वह जीवन की एक मूल दृष्टि (सौदर्य-दृष्टि) भी है। रहस्यवाद और छायावाद—दोनों न तो परस्पर पर्याय है और न दोनों पूर्णत आत्मनिरपेक्ष या स्वतत्र मत्ताए। वस्तुत दोनो के प्रमुख तत्त्व परस्पर मिलकर एक परिपूर्ण काव्य-दर्शन का निर्माण करते है। रहस्यवाद यो तो दर्शन क्षेत्र का एक बौद्धिक वाद मात्र है, किंतु वह अपनी सत्ता में कलाकार-सुलभ भाव-चेतना की समृद्ध सभावनाए भी समेटे हुए है। इसी प्रकार छायावाद, जो प्राय अपनी प्रथम सवेदना में एक विशिष्ट काव्य-शैली की ही ध्वनि उत्पन्न करता है, वस्तुत जीवन के एक अत्यत उदात्त व परिष्कृत दर्शन से उजागर है। छायावाद का प्राण-तत्त्व है—प्रकृति पर चेतना का आरोप, और मूलत यही तत्त्व उस काव्य-शैली विशेष को वह वैभवपूर्णता प्रदान करता है जो 'छायावाद' के साथ समवाय सबध से जुडी हुई है। 'प्रकृति पर चेतन का आरोप'—इसमे आनदमूलक वेदात दर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन, जड की चेतन रूप मे अनुभूति करने की कवि-सुलभ अकृत्रिम असाधारण कल्पना-शक्ति का प्रवाह और विज्ञान की शुद्ध बौद्धिक या वस्तूनमुखी विश्लेषणात्मक दृष्टि से भिन्न सश्लेषणात्मक कला-दृष्टि का उन्मेष गर्भित है। तात्पर्य यह है कि रहस्यवाद और छायावाद के बीच प्रकृत सबध के कुछ सहज-सुदृढ अतसूत्र विद्यमान हैं, अत वे एक ही असाधारण व्यक्तित्व में साथ-साथ रह सकते हैं।

रहस्यवाद की आधारशिला अगणित जीवनो की अखड शृखला में तथा एक आत्मा की सत्ता मे अखड विश्वास है। सृष्टि का कण-कण एक ही शक्ति से स्पदित और एक ही प्रकाश से आलोकित है, इस अनुभूति के अभाव मे रहस्यवाद कृत्रिम व निर्जीव है। यह साधना (स्थूल अर्थ में नहीं) की भूमि है और सर्ववाद के दर्शन पर आधारित है जिसमे इद्रियातीत एक सूक्ष्म, विराट् व शाश्वत सत्ता की अनुभूति का आग्रह है। प्रकृति में उसी विराट् की छाया देखना सच्चे रहस्यवाद का प्रमाण है।

छायावाद की भी अपनी एक दार्शनिक भूमि है, जिसका ऊपर सकेत किया ही जा चुका है। छायावादी, आत्मा (औपचारिक रूप मे आत्मा की सत्ता मानना उसके लिए आवश्यक नहीं) की अध्यक्षता मे (आत्मा मे विश्वास न हो तो परिष्कृत मन या चेतना की अध्यक्षता ही स्वीकार्य हो सकती है) रहता हुआ मन-इद्रियो की भोग-ऐश्वर्य भूमि के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट रहता है। इद्रिय-सवेदनाओ का योग वह अपनी साधना में किसी प्रकार हेय नही समझता, क्योकि उसकी दृष्टि में तो स्वय इद्रिया व इद्रिय-व्यापार भी आत्मा के शासन में ही कार्य कर रहे होते हैं (पत की 'मानव' नामक कविता तथा केनोपनिषद् द्रष्टव्य)। उसके लिए

यह आवश्यक नही कि वह रहस्यवादी की तरह प्रकृति में विराट् की छाया देखे ही, हा, यदि देखे तो उसका छायावाद धन्य हो जाये। वह आत्मा व विराट् मे विश्वास न रखता हुआ भी अपनी किसी अलभ्य-अभिलषित मानस-मूर्ति का बिब सारी प्रकृति मे देखकर ही आह्लादित होता है, और कदाचित् उसकी तृप्ति भी विराट् भावना से प्राप्त होने वाली तृप्ति से कुछ ओछी न होती हो। शुद्ध या निरुपाधि आनद (Aesthetic pleasure) ही उसका लक्ष्य है। उसकी यही प्रबल सौदर्यानुभूति अनिवार्यत , अपनी तीव्रता के अनुपात में, अभिव्यक्ति (शैलीगत) में श्रेष्ठ उपकरणो को सहज स्फुरित करवा लेती है। छायावाद की काव्य-शैली अपने मूल रूप मे उसी उत्कर्ष का प्रतीक है।

जहा रहस्यवाद और छायावाद के उपकरण सस्कार और सयोग से एक ही व्यक्तित्व मे समाहित हो जाते है वहा किसी कृतिकार का साहित्यिक व्यक्तित्व, भाव, विचार तथा शैली की अकल्पनीय व आश्चर्यकारी ऊचाइयो का स्पर्श कर उठता है।

प्राचीन युगो मे जायसी मे हम इस सुदर सयोग का दर्शन करते है (उस समय की काव्य-शैली का नाम अवश्य ही 'छायावाद' न रहा हो) और आधुनिक युग मे प्रसाद, निराला और महादेवी आदि कवि इस दृष्टि से शीर्षस्थ दिखायी पडते है। प्रसाद का तो सैद्धातिक आग्रह भी है—"काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है।" "धारा रहस्यवाद है।" उनमे रहस्यवाद और छायावाद दोनो अपने सहज परिष्कृत रूपो में आ मिले है, और यही सयोग उनके साहित्यिक कृतित्व को एक विशेष प्रभा से मडित और एक विशेष प्राण-प्रवेग में झकृत कर देता है। रमणीय काव्य-शैली (छायावाद) तो फिर उसका अनिवार्य परिणाम ही है। वस्तुत यह अनूठी जीवन-दृष्टि ही छायावाद का रूपायन करती है। प्रसाद-साहित्य के अतिम मूल्याकन मे, हमारे विचार मे, यह तत्त्व अत्यत महत्त्वपूर्ण व अविस्मरणीय है। इस दृष्टि को भुलाकर प्रसाद के वास्तविक मर्म का स्पर्श कम सभव है।

(7) जीवन-दृष्टि की देन

प्रसाद के साहित्य को जीवन और समाज के परिप्रेक्ष्य से काटकर देखने से हमारे हाथ वह कुछ नही आ सकता जो प्रसाद-साहित्य की मूल धडकन है। प्रसाद के प्रदेय के विशिष्ट बिदुओं में से एक प्रमुख बिदु है जीवन-दृष्टि की देन, जिस पर हम विशेष बल देना चाहेंगे। यो तो जीवन-दृष्टि की देन विचारक या दार्शनिक का ही काम माना जा सकता है, कवि का नही—जिसका क्षेत्र प्राय मानव के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति अथवा शुष्क हृदय मे रस-सचार है। पर जीवन, जगत् व समाज से कटकर होने वाला रस-सचार मात्र तो सिडी की घिग्घी के रूप मे ही प्रतिफलित हो सकता है। स्वस्थ, गभीर, व्यापक और स्थायी आनद तो चैतन्यपूर्ण आत्म का ही प्रकाश है। प्रसाद का इष्ट मानव-जीवन में चेतन आनद की प्रतिष्ठा करना है, और ऐसा आनद स्वस्थ जीवन-दृष्टि की ही उपज हो सकता है। यह जीवन-दृष्टि न तो केवल अधी भावुकता से आ सकती है, न शुष्क बौद्धिकता से और केवल निरानद कर्मशीलता से। सुपक्व भावुकता, प्रकाशवान् बौद्धिकता और आत्मिक उल्लास से प्रेरित कर्मशीलता के सुदर सामजस्य मे ही स्वस्थ व परिपूर्ण जीवन-दृष्टि का उन्मेष होता है। यह कार्य न तो कोरा दार्शनिक कर सकता है, न कोरा कवि और न कोरा पहलवान। जो कवि जीवन की व्यापक, समग्र व परिपूर्ण चेतना से आस्फूर्त है, वही परिपूर्ण

जीवन-दृष्टि का दान दे सकता है। प्रसाद का भावपक्ष कैसा है, कलापक्ष कितना पुष्ट है और दर्शन में उनकी कितनी गहरी पैठ थी—कदाचित् इन प्रश्नो के उत्तर से भी आगे की वस्तु है, यह सास्कृतिक जीवन-दृष्टि को लेकर मानव-जीवन की व्याख्या की है और उन्होने अपनी सृष्टि में जीवन की जो परिणतिया दिखायी है, उनसे उनकी परिपूर्ण जीवन-दृष्टि का बोध होता है। दूसरे शब्दो मे, प्रसाद जीवन-कला के आचार्य है। जीवन के विषय मे कोई बडी बात कहने के वे सही अधिकारी भी जान पडते है, क्योकि उन्होने व्यक्ति के धरातल पर अपना निज का, समाज के धरातल पर अपने युग का, और इतिहास के धरातल पर मानव-जीवन का गहन अनुशीलन किया है। 'आसू', 'ककाल', 'इरावती', 'कामना' और 'कामायनी' नामक कृतिया इस कथन के प्रमाण है। कृत्रिम जीवन-दृष्टियो से मुक्त करके उन्होने मानव को कितनी प्राकृतिक, स्वस्थ व यथार्थ जीवन-दृष्टि दी है, यह उनकी अनेक रचनाओं से स्पष्ट है। इस दिशा मे उन्होने गभीर व मीठी क्राति करके मानव की सास्कृतिक पुनर्रचना में भव्य योगदान किया है। यदि उन्होने धर्मगुरु, नीतिकार, सहिताकार या उपदेशक के रूप मे इस कला का प्रचार किया होता तो वह प्रभावशाली न होता। पर, कला की पद्धति से उन्होने यह कार्य अत्यत सफलतापूर्वक किया है। इस कार्य से उनका साहित्य एक अभिनव आलोक से मडित होकर मानव के लिए अतिशय उपयोगी हो उठा है। प्रसाद के अत्यत गरिमामय पात्रों पर एक सामूहिक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। सुख-दुःख की अभिव्यक्ति मात्र तक ही सीमित रहने वाले अल्पप्राण कवि प्राय इतना बड़ा काम नही उठाते।

(8) भूमि की गध राष्ट्रीयता

प्रसाद सही अर्थों में एक भारतीय तथा राष्ट्रीय कवि है। सामान्यत सकीर्ण राष्ट्रीयता अतर्राष्ट्रीयता की विरोधिनी होती है। पर प्रसाद की राष्ट्रीयता सकीर्णता से मुक्त है और अपने स्थान पर अपना पूरा-पूरा महत्त्व बनाये रखते हुए अतर्राष्ट्रीयता की पूर्ण सहयोगिनी है। यो एक विश्व, एक विश्व मानव, और एक मन—यह हमारा चरम आदर्श है, व्यवहार में राष्ट्रीय हुए बिना अतर्राष्ट्रीयता की नीव कच्ची ही है, कोरी अतर्राष्ट्रीयता निराधार जान पडती है। प्रसाद ने स्वच्छ तर्कों से[103] राष्ट्रीयता के एक ऐसे निर्मल-परिष्कृत स्वरूप को हमारे सामने प्रस्तुत किया है कि हम उस राष्ट्रीयता की भावना को सास्कृतिक भूमियो पर अत्यत गौरव के साथ अपनाते हैं। राष्ट्रीयता की ऐसी ही भूमिका को साहित्य व सस्कृति के अन्य श्रेष्ठ विचारक भी पूरा-पूरा महत्त्व देते है।[104] यह राष्ट्रीयता, साप्रदायिक संकीर्णता मे प्रसूत न होकर एक ऐसा स्वरूप लिये हुए है जो रसानुभूति मे बाधक न होकर पूर्ण साधक होती है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रीय भावना के अभाव मे राष्ट्रीयता प्राय किसी देश की स्थूल सीमा-रेखाओ मे आबद्ध एक अविकसित समाज के पर-राष्ट्र के प्रति घृणा व अविश्वास पर आधारित साप्रदायिक प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। प्रसाद के 'स्कदगुप्त' व 'चन्द्रगुप्त' में राष्ट्रीय भावना मानवता या अतर्राष्ट्रीयता की अविरोधी या पोषक होकर अत्यत उज्ज्वल रूपो मे प्रकट हुई है। ऐसी उच्च भूमिका पर रहकर ही प्रसाद ने राष्ट्र की आरती उतारी है। उनका राष्ट्रीय कवि-रूप इसीलिए अत्यत मोहक है। उनकी राष्ट्रीयता उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को एक विशेष गरिमा व आभा प्रदान करती है।

वस्तुत प्रसाद भारती की मिट्टी व उसकी गध के प्रतिनिधि राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी राष्ट्रीयता सास्कृतिक ऊचाइयो मे लीन हो गयी है। उसमें (प्रसाद-साहित्य मे) हमारी भूमि की गध समायी हुई है, जिसके कारण हम उस साहित्य को 'अपना' कहते हैं। यह 'अपना' तामसिक मोह व राजसिक उत्साह से मुक्त होकर सत्त्व की भूमि से ही मुख्यत सबद्ध है, अत रस-दृष्टि से पूर्ण ग्राह्य है। सत्त्वोद्रेक शुद्ध रसानुभूति की परम आवश्यकता है। राष्ट्रीय धरातल पर प्रसाद की उपलब्धि को डॉ नगेन्द्र ने बडे मुक्त कठ से स्वीकार किया है—"देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिदी साहित्य में अन्यत्र नही देखा।"[105]

(9) कारयित्री व भावयित्री प्रतिभा का योग

यह तो हुई केवल सृजनगत प्रतिभाओ की बात। पर समस्त साहित्य को सामने रखकर एक और ढग से विचार किया जा सकता है। साहित्यकार की अतःसत्ता के दो पक्ष हैं—भाव-सत्ता व विचार-सत्ता। दोनों एक-दूसरे को बल प्रदान करके अपने अस्तित्व की पूर्ण सार्थकता सिद्ध करते हैं। प्रसाद में, राजशेखर के शब्दों में, कारयित्री व भावयित्री—दोनों ही प्रकार की प्रतिभाओ का सुदर मेल हुआ है। श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री तो इन प्रतिभाओ के सुदर मेल मे ही साहित्यकार की महानता का रहस्य निहित समझते हैं।[106] कोरे कवि और कोरे आलोचक मे जो कमी रह जाती है वह इस उक्त मणि-कांचन सयोग के द्वारा पूरी हो जाती है। तर्कमयी व वस्तून्मुखी शुद्ध साहित्यिक प्रज्ञा और गभीर भावानुभूतिमयी तप्त-तरल भावचेतना—प्रसाद की प्रतिभा के दो छोर है, जो एक ओर तो 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' तथा दूसरी ओर 'आसू' जैसी रचनाओं मे देखे जा सकते है। अतःसत्ता के दोनो पक्षों पर यह समानाधिकार प्रसाद-साहित्य की सर्वांगीण पुष्टता व समृद्धि के प्रति आश्वस्त करता है।

(10) शास्त्रीय (क्लासिकल) व स्वच्छद (रोमाटिक) प्रवृत्तियो का योग

प्रसाद की एक अन्य प्रमुख विशेषता भी है। वे एक ही साथ क्लासिकल और रोमाटिक साहित्यकार है। क्लासिकल साहित्यकार में कला-सौष्ठव, क्रमागत और परीक्षित श्रेष्ठ जातीय परपराओं की स्वीकृति व समाकलन, तथा भव्य व उदात्त के प्रति गहरी निष्ठा होती है। इस सबके परिणामस्वरूप उसकी रचना, अपने पूर्ण उत्कर्ष मे, शाण पर चढे मणि-सी स्वच्छ, पुष्ट व कातिवान् होती है। पर जहा ये उपकरण रचना की प्रौढता, औज्ज्वल्य व सुषमा के लिए अत्यत बहुमूल्य होते हैं वहा प्राय नवीन भाव-स्फूर्तियो व मौलिक, स्वतत्र तथा वैयक्तिक प्रातिभ ऊर्मियों को, पल्लवित व पुष्ट होने के लिए विशेष अवसर नही भी देते। रोमाटिक कवि की आत्मा प्रतिष्ठित के स्वर्ण-पिजर को तोडकर अपनी वैयक्तिक स्फूर्तियों, स्वप्नो, अनुभूतियों को, स्वच्छद विहार को आत्मा के मूल आनद की अनुभूति की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय व मूल्यवान् माननी है, और उनका अधिक सम्मान करती है। वस्तुत दोनों एक-दूसरे के पर्याय नहीं। पूर्ण कवि पाठक की हृदय-सत्ता पर पूरा अधिकार जमाने के लिए, दोनों के श्रेष्ठ उपकरणों से अपनी वाणी को पुष्ट व प्रवाहशील बनाये रखना चाहते हैं। प्रसाद दोनों ही मागें पूरी करने के लिए तत्पर हैं। प्रसाद में क्लासिकल और रोमांटिक—दोनों ही प्रतिभाओं का सुदर दर्शन होता है। उनका रोमाटिक तत्त्व क्लासिकल के शासन में रहता हुआ

भी वृत पर स्वच्छदता से खिलखिलाते पुष्प की भाति दिखायी पडता है।

(11) लोकप्रियता

क्या प्रसाद एक लोकप्रिय कवि है ? उनकी रचनाओ के निरतर होते चलने वाले सस्करणों या आवृत्तियों को देखकर इतना तो पर्याप्त सुरक्षित भाव से कहा जा सकता है कि वे निरतर अधिकाधिक लोक-ग्राह्य होते चल रहे है। उपन्यास-कहानिया जैसी लोकप्रिय रचनाए ही नही, प्रसाद की अपेक्षाकृत गभीर रचनाओ की भी कदाचित् यही स्थिति है। कहा जा सकता है कि चूकि प्रसाद जी की अनके रचनाए शिक्षालयों या विश्वविद्यालयो मे अनिवार्य अध्ययन के रूप मे पाठ्यक्रमो मे निर्धारित हैं, उनके सैट प्राय अनिवार्य रूप से सभी पुस्तकालयो में खरीदे जाते है, अत रचनाओं के विक्रय को उनकी लोकप्रियता का सच्चा आधार नही माना जा सकता। फिर, मनोवैज्ञानिक और सौदर्यशास्त्रीय दृष्टि से क्लिष्टता और उदात्तता आदि गुण कभी-कभी गंभीर कुतूहल के उत्पादक भी तो हो जाते है, जो किसी कृति या कृतिकार मे सौदर्य या आकर्षण को समाविष्ट कर ही देते हैं। अत साहित्य-प्रेमी या सामान्य जनता केवल शोभा के लिए भी प्रसाद की रचनाए खरीदकर रख लेती है। गरिष्ठ-गभीर साहित्य तो किसी दबाव से ही खरीदा जाता है और सरल मनोरजक साहित्य स्वेच्छा से, व वास्तविक कुतूहल-तृप्ति के लिए। इस प्रकार के तर्क प्राय उठाये जाते है।

उत्तर मे हमारा निवेदन यह है कि लोकप्रियता का सच्चा आदर्श रचनाओ का 'Hot cakes' (गरम जलेबियों) की तरह बिकना ही हम नही मान सकते। प्रसाद इस रूप मे लोकप्रिय है भी नही। उनकी रचनाओं पर अभी फिल्म नही बनी। रेलवे स्टालों पर वे नही बिकते। नाटक-मडलिया उन्हे बहुत उत्साहपूर्वक अभिनीत नही करती। उनके गीत आकाशवाणी से भी कम ही प्रसारित किये जाते हैं। उनकी 'कामायनी' का अन्य सुदर रचनाओं की तरह घर-घर प्रचार नही है, आदि। वस्तुत उनकी लोकप्रियता मदगामिनी किंतु सतत विकासमान है। नैरतर्य के साथ स्थिर-सुदृढ भाव से किसी कृति या कृतिकार का विकास ही लोकप्रियता का अधिक सुनिश्चित व सतोषजन आधार है। हम प्रसाद-पूर्व की तथा उनकी समकालीन श्रेष्ठ व सम्माननीय प्रतिभाओ की बात नही कर रहे हैं। अनेक लेखक अत्यंत लोकप्रिय थे, साथ ही साहित्य के उपकरणों की दृष्टि से उत्कृष्ट रचनाकार भी।

प्रसाद लोकप्रियता का अपना एक निजी आदर्श भी रखते हैं। वे स्वय ही हल्की कोटि की लोकप्रियता के किचिन्मात्र भी आकाक्षी नही। सुसस्कृत व सुरुचि-संपन्न सहृदयों में उनकी रचनाओं की माग धीमी गति से किंतु निरतर बढती रहे, इसी में प्रसाद की वास्तविक लोकप्रियता का आश्वासन है। जनता की निम्न वृत्तियों से खेलना उनकी रुचि को अभीष्ट नही, वे गभीर है, उच्चाशयी हैं, सुरुचियों के सस्थापक व नवीन रुचियो के निर्माता है, विधाता हैं। निम्नकोटि की लोकप्रियता का ध्येय ऐसे लेखक के आदर्श के विरुद्ध ही होगा। रवीन्द्र ने लिखा है कि आज के कलाकार को अपने जीवन का 9-10वा भाग तो कुरुचियों के उन्मूलन के लिए सघर्ष में ही खपा देना पडता है। प्रसाद का मार्ग भी इतना ही कठिन है।

अस्तरीय साहित्यिक रुचियो से लडकर श्रेष्ठ सृजन द्वारा रुचि-परिष्कार में उन्हें कितनी सफलता मिली है, यही प्रसाद की लोकप्रियता का असली मानदड है, और होना

चाहिए। इस दृष्टि से प्रसाद आधुनिक हिंदी साहित्य के सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकारो मे से समझे जायेगे। उन्होने सुरुचि का कितना परिष्कार किया, श्रेष्ठ व उत्तम के प्रति हमारी उत्कठा को कितना तीव्र किया, बाजारू, घासलेटी, चालू व छिछले साहित्य से हमे कितना मुक्त किया, भारत के अन्य प्रातो मे व विदेशों मे अनुवाद आदि की कितनी प्रेरणा उत्पन्न की, और उनका साहित्य-रसायन सास्कृतिक पुनर्निर्माण व भावात्मक परिष्कार की दृष्टि से कितना सुग्राह्य, रोचक व पौष्टिक है, यह लोकप्रियता का अतिम व व्यापक आदर्श है। फिर भी पुस्तकालयो की माग व सस्करण-सख्या आदि भी, व्यावहारिक दृष्टि से, उनकी लोकप्रियता को आकने का एक पर्याप्त निरापद व सुनिश्चित आधार प्रदान करती है।

हमारा उक्त चितन शुद्ध प्रजातात्रिक मूल्यों के उन्नयन की दृष्टि से है। श्रेष्ठता के लक्ष्य को ध्यान मे रखने की बात मात्र से ही कोई इसमे प्रसाद की सामती पूजीवादी वृत्ति की मनमानी कल्पना करे तो वह अपनी जिम्मेदारी पर की जा सकती है। जनता, रुचि और श्रेष्ठ साहित्यिक मूल्य—इनमे परस्पर घनिष्ठ सबध है। साहित्यिक मूल्यो के प्रहरियो ने इस समस्या पर गभीर विचार किया है, जो ध्यान देने योग्य है।[107] लोकप्रियता के इस युग मे भी आज के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री 'अज्ञेय' की उच्चकोटि के साहित्यिक स्तर के निर्माण व निर्वाह की पूरी चिता है, वे छिछली लोकप्रियता के दृष्टिकोण से बहुत क्षुब्ध है।[108]

(12) आस्वाद की समस्या

प्रसाद-साहित्य के अतिम मूल्याकन में आस्वाद की समस्या भी विचार का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है। जीवन-दर्शन, भाव-बोध तथा शैली सबधी हमारी रुचिया आज युग की क्षिप्रता-अस्थिरता के अनुपात में ही तीव्र गति से परिवर्तित होती चल रही है, रग-रूपो और डिजाइनो के युग में काव्य-साहित्य भी किस्म-किस्म का सामने आ रहा है। प्रस्तुत आज की रुचिया प्रसाद-साहित्य के सही आस्वादन के लिए अपेक्षित रुचियों से आकार-प्रकार में कदाचित् बहुत दूर जा पडी है प्रसाद की आत्म-दृष्टि, उनका रहस्यवाद, उनका आदर्शवाद, उनकी नैतिकता, उनका शैली-सौष्ठव, उनका कल्पना-कलाप एक शब्द मे, उनका क्लासिकल औदात्य प्रस्तुत आज के तीव्र यथार्थ-प्रेम अस्तित्ववादी व क्षणवादी दर्शन, जीवन-सग्राम में आपाधापी व भाग-दौड, भदेस-अनगढ के प्रति विशेष आकर्षण, युग का समस्या-वैचित्र्य, नवीन युग-बोध व भाव-बोध, मनोवैज्ञानिक मूल्य-समष्टि, व्यक्ति-वैचित्र्य का प्रबल आग्रह आदि उपकरणों से कैसे मेल खाये। साहित्यिक रुचि और आकर्षण के तेजी से बदलते रूपों और स्तरों के बीच प्रसाद-साहित्य के अध्ययन और आस्वाद की समस्या आज उतनी नही तो कल अवश्य ही एक गभीर समस्या का रूप धारण कर सकती है। क्या पाठ्यक्रमो में उनकी रचनाओं के निर्धारण से विद्यार्थी-जगत् द्वारा उनके अध्ययन अथवा शोधार्थियो द्वारा उनका ठडा-ठडा व निर्जीव अनुशीलन-परीक्षण मात्र ही हमारी तृप्ति का एकमात्र आधार बन जायेगा? भावी युगों (अवश्य ही, अपनी परिवर्तित नव-नव युगीन रुचियो व सस्कारों के साथ) के लिए इस बलिष्ठ-विशाल, उच्चाशयी व आनददायी साहित्य के निरतर उपयोग के प्रति किस रूप में हम आश्वस्त रह सकते हैं? आस्वाद की समस्या ही इस

विचार का बिदु है। प्रसाद का अतिम मूल्याकन आस्वाद की समस्या से गहरा सबध रखता है।

प्रसाद की उपलब्धि सुधी विचारकों की दृष्टि में (गुण-दोष)

प्रसाद के साहित्य के चरम मूल्य को आकते समय उनके साहित्य की उपलब्धि पर मूर्धन्य विद्वानों के द्वारा उनके कार्य-काल से लेकर अब तक गुण-दोष के रूप मे जो अनुकूल व प्रतिकूल आधिकारिक ढग से अभिमत व्यक्त किये जाते रहे है और जो प्राय सुप्रतिष्ठित है, उनका लेखा लेते चलना भी प्रबध के निष्कर्षण को अधिक व्यापक पीठिका प्रदान करने की दृष्टि से बहुत उपादेय होगा, क्योकि विद्वानो की परिनिष्ठित मान्यताए, जो चितन-पथ पर प्राय अमिट दृढ रेखाओ-सी खिच चुकी है, हमारे परिणामों को अधिक पुष्ट, समृद्ध व परिपूर्ण बनाने मे सहयोगिनी होगी।

कविता

प्रसाद-साहित्य के मर्मज्ञ पडित आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने प्रसाद पर अपने निम्न अभिमत व्यक्त किये है

प्रसाद जी अपने युग के सबसे बडे पौरुषवान् कवि थे प्रसाद जी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। इसीलिए मै प्रसाद जी को हिन्दी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनदवादी कवि मानता हू।[109] प्रसाद जी की सस्कृति पौरुष गुण-सपन्न होने के कारण उनके साहित्य मे शक्ति और आनद का स्रोत प्रधान है, तथा इस युग के लिए यदि उनका कोई सदेश है, तो वह शक्ति और आनद की उपासना का, सवर्द्धना का ही सदेश है, दु खों और सुखो में, मनुष्य की सपूर्ण वस्तुस्थिति मे, यह शक्ति का ही प्रवाह बहता रहे, यही उनकी एकात साधना थी। इसीलिए हम उन्हे नवयुग के प्राणों का कवि कह सकते है। यही सक्षेप मे उनका साहित्यिक व्यक्तित्व है।[110] प्रेम और सौदर्य की समग्र परिकल्पना प्रसाद-काव्य की विशेष्ता है। प्रसाद की काव्य-वाणी में जो मार्दव प्राप्त होता है, वह आधुनिक युग में किसी अन्य कवि मे नही। दोनो (प्रसाद और निराला) ही कवि अपनी प्रतिभा मे महान् अप्रतिम और अपराजेय है।"[111]

प्रसाद के युगातकारी व्यक्तित्व की अभ्यर्थना में महाकवि निराला लिखते है—"हिदी के युगातर साहित्य के जो तीन प्रजापति है, उनमें प्रसाद जी भी एक श्रद्धादेवी वै मनु है।[112] आचार्य प विश्वनाथप्रसाद मिश्र का प्रौढ अभिमत है—" प्रसाद ने अपनी कविता मे प्रकृति का जैसा उपयोग किया है वैसा हिदी के किसी आधुनिक कवि में नही देखा जाता। प्रसाद ने अलकार रूप मे प्रकृति का उपयोग करने मे माधुर्य का विशेष ध्यान रखा है। ऐसी मधुर योजना दूसरा कवि नही कर सका है। कविता में प्रकृति की ऐसी मधुर रमणीय योजना करने वाला और उसके प्रति ऐसी मार्मिक दृष्टि रखने वाला कोई दूसरा आधुनिक कवि नही दिखायी देता। इन्होंने हिदी में 'रसमय' जगत् को सिद्ध कर दिया है।"[113]

डॉ नगेन्द्र प्रसाद की प्रतिभा का मर्म-निर्देश करते हुए लिखते है—" प्रसाद जी हिदी-जगत् मे अमर शक्तिया लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनकी प्रतिभा सर्वथा मौलिक थी।

उन्होने साहित्य के जिस अश को स्पर्श किया, उसी को सोना बना दिया। उनका महत्त्व ऐतिहासिक तो है ही—वे एक प्रकार से आधुनिक युग के निर्माता भी है। उन्होने ही सबसे पूर्व शुष्क उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह खडा किया—या यो कहिए कि झूठी भावुकता (Sentimentalism) के विरुद्ध सच्ची रसिकता का आदर्श उपस्थित किया। अकर्तृत्व (Passivity) के युग मे आत्मव्यजना (Subjectivity) की पुकार करने वाले वे कवि थे। उन्होंने एक नवीन कला और नवीन भाषा हिदी को प्रदान की। ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त काव्य के चिरतन आदर्शो के अनुसार भी उनका स्थान बडा ऊचा है। एक चितन-प्रधान व्यापक एव करुण अनुभूति, जिसमे रगीन अद्‌भुत प्रिय कल्पना का वाछित योग रहता है, उनकी अपनी विशेषता है। कामायनी का कवि हिदी के किसी भी कवि की समकक्षता प्राप्त कर सकता है।"[114]

डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रसाद जी के कृतित्व को इन शब्दो में आका है—"प्रसाद प्रकृति के और मनुष्य के सौंदर्य को पूर्ण रूप से उपभोग्य बनाने वाले कवि है। प्रसाद के समान सौंदर्य के प्रेमी कवि बहुत ही विरल है और पार्थिव सौदर्य को स्वर्गीय महिमा से मडित करके प्रकट करने का सामर्थ्य तो इतना और किसी मे है ही नही।" वे और लिखते है— "सस्ती भावुकता से जर्जर वर्तमान हिदी काव्य-जगत् कामायनी को पाकर शाति और सतोष की सास लेगा।" ऐसी विशाल प्रतिभा से मडित कवि को देश कभी भुलाना बर्दाश्त नही करेगा।[115]

आचार्य शुक्ल जी प्रसाद की देन पर लिखते है—"प्रसाद जी प्रबध-क्षेत्र में भी छायावाद की चित्रप्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बधा गये है।"[116]

डॉ रामकुमार वर्मा की धारणा है कि प्रसाद जी हिदी साहित्य के सबसे गभीर कवि थे।[117]

प उदयशकर भट्ट की मान्यता है कि प्रसाद जी हिदी के रवीन्द्रनाथ थे।[118]

प द्वारकाप्रसाद मिश्र जी का कहना है कि हिदी साहित्य मे केवल प्रसाद जी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिनकी तुलना रवीन्द्रनाथ ठाकुर से की जा सकती थी।[119]

डॉ मुशीराम शर्मा की धारणा है कि क्या कला और क्या भाव, सभी दृष्टियो से प्रसाद इस युग के एक महान् जातीय महाकवि के रूप में अवतरित हुए थे।[120] डॉ देवराज का मत है कि प्रसाद अपने युग के सर्वश्रेष्ठ और छायावाद के अन्यतम कवि है।[121] डॉ मदान के अनुसार कवि प्रसाद हिदी के गौरव हैं और आधुनिक कवियो मे उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।[122] डॉ प्रेमशकर भारतीय और पाश्चात्य कवियो से प्रसाद की तुलना करते हुए कहते हैं—"उनका कृतित्व उन्हें भारतीय काव्य-परपरा के सच्चे कवियों में स्थान देता है। वे हिदी के कालिदास हैं, और उन्होंने देश की स्वाभाविक काव्य-परपरा को नवजीवन प्रदान किया। प्रसाद के सपूर्ण कृतित्व पर एक विहगम दृष्टि डालने के पश्चात् उन्हें विश्व के शीर्ष कवियो के निकट स्थान देना पडता है।[123]

'कामायनी' प्रसाद का गौरव ग्रथ है। उस पर अनेक विद्वानो ने अपने मतव्य व्यक्त किये हैं। आचार्य वाजपेयी जी लिखते हैं—"रूप-वर्णन की जो विशिष्टता प्रसाद में पायी जाती है, अन्यत्र दुर्लभ है। इद्रिय सवेदनाओं की मूल भूमिका से उत्थित होकर प्रसाद का रूप-वर्णन रहस्यवादी ऊचाइयो तक पहुचा है। प्रेम और सौदर्य के शारीरिक उपादनो से लेकर अतिशय आध्यात्मिक भावस्तर पर ले जाने का श्रेय प्रसाद को ही दिया जा सकता है। इस

प्रेम और सौदर्य-दर्शन की समग्रता प्रसाद के 'कामायनी' महाकाव्य मे पूर्णत प्रतिफलित हुई है।" "परतु प्रसाद के काव्य मे और विशेषकर 'कामायनी' मे एक सपूर्ण दर्शन की नियोजना हुई है। यह इस युग के हिदी-काव्य का सबसे बडा चमत्कार है, जिसका श्रेय प्रसाद को सर्वाशत प्राप्त है।"[124] " यह मनुस्मृति के सहस्रो वर्ष बाद मानव-धर्म-निरूपण का महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रयास है।"[125] "मानस (मन) का ऐसा वास्तविक विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिदी मे शायद शताब्दियो के बाद हुआ है।"[126] आचार्य विनयमोहन शर्मा 'कामायनी' का काल-क्रम मे महत्त्व स्थापित करते हुए लिखते है कि, 'कामायनी' प्रसाद की अतिम कृति है और छायावाद का प्रथम महाकाव्य।"[127]

प इलाचन्द्र जोशी कहते है—"वर्तमान हिदी साहित्य-जगत मे प्रथम बार एक ऐसा काव्य ग्रथ प्रकाशित हुआ है जो विश्व काव्य कहे जाने की विशिष्टता रखता है। यदि प्रसाद जी की 'कामायनी' का अविकल प्रतिरूप 19वी शताब्दी के योरोप मे प्रकाशित होता तो वे विश्व-साहित्य के शीर्षस्थानीय कलाकारो मे निर्विवाद रूप से स्थान पा जाते।"[128]

अत मे हम आचार्य वाजपेयी जी के शब्दो मे समस्त सभव प्रतिमानो के आधार पर प्रसाद-काव्य की श्रेष्ठता की ओर सकेत करेगे "श्रेष्ठ काव्य के जो भी प्रतिमान स्थिर किये जाये उनका विनियोग इन दो कवियों (प्रसाद और निराला) के काव्य मे निर्बाध रूप से किया जा सकता है।[129]

नाटक

आचार्य डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा प्रसाद की महत्ता का मर्मोद्घाटन करते हुए अपना अभिमत व्यक्त करते है कि, "आधुनिक और पाश्चात्य शैली के साथ भारतीय पद्धति के मूल रूप का ऐसा सुखद सम्मिश्रण प्रसाद ने किया है कि उनके नाटको का गौरव और महत्त्व अखड हो गया है।"[130]

आचार्य वाजपेयी जी की धारणा है कि "प्रसाद के नाटको की अपनी मौलिक विशेषताए है और उनका स्थान हमारे नाट्य साहित्य में सदैव सुरक्षित रहेगा। उनके नाटक जहा एक ओर साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है वहा वे अपना ऐतिहासिक मूल्य भी रखते है। नाट्य साहित्य के इतिहास में प्रसाद ने नया अध्याय जोडा, इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। परपरा के साथ-साथ नवीन जीवन-स्थितियो का प्रयोग कर उन्होने नाट्य साहित्य को नवीन मार्ग सुझाया, जिसके लिए हिदी-साहित्य उनका चिर ऋणी रहेगा। अतीत के विशाल चित्र-पटल पर उनका यह अद्वितीय तूलिकाश्रम हिदी-नाट्य इतिहास के पचास वर्षों के लबे मार्ग पर एक आलोकस्तभ की भाति एकछत्र अधिकार किये बैठा है। वह सदैव आज की ही भाति नये पथिको को लक्ष्य-ज्ञान का पाथेय देता रहेगा।"[131] "इतिहास से सस्कृति का ऐसा अपूर्व मणि-काचन सयोग हमे अन्यत्र नही मिलेगा।"[132] "प्रसाद के नाटको का शरीर, जहा पूर्ण साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक है, वहा उसका मन अनिवार्यत ऐतिहासिक एव उसकी आत्मा विशुद्ध सास्कृतिक है।"[133] "उनके नाटकों में कई प्रकार की त्रुटिया लोगो ने देखी हैं, और सभव है, भविष्य मे भी देखें, पर हिदी नाटको को नवीन स्वरूप और नया जीवन देने में प्रसाद जी का कार्य ही सर्वोपरि है।"[134] आचार्य प हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की इस आशय की मान्यता है कि

प्रसाद जी के नाटको से भारतवर्ष की अतर्चेतना के दर्शन का सिहद्वार अनावृत हो गया है और उनके नाटको का रचना-कौशल अद्‌भुत है।[135] डॉ नगेन्द्र ने भारतीय नाट्य साहित्य के व्यापक फलक पर प्रसाद की उपलब्धि को दर्शाते हुए लिखा है—"इन नाटको का महत्त्व असम है। ये नाटक अशो मे जितने महान् है, सपूर्ण रूप मे उतने नही। प्रसाद की ट्रैजडी की भावना, उनकी सास्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिदी मे तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओ के नाटकों की तुलना मे भी उनकी ज्योति मलिन नही पड सकती।"[136] प्रो शिलीमुख लिखते है—"कुछ तो औरो की अपेक्षा अपने नाटको की अधिक सख्या के कारण और कुछ अपनी शैली की प्रधान विशेषताओ के कारण, वह आजकल के (सन् 1930 के लगभग के) नाटककारो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध है।"[137]

डॉ जगदीशचन्द्र जोशी ने प्रसाद के नाटको की उपलब्धि के सबध मे लिखा है कि, "प्रसाद हिदी के ऐसे सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटककार है जिन्होने इतिहास और नाटक दोनों का सही-सही समन्वय किया है।"[138] प्रसाद की नाटकीय उपलब्धि का समाहार करते हुए डॉ मदान लिखते है कि, "प्रसाद के सबध मे आलोचक चाहे जो कहें परतु उनकी सास्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, उनका कवित्व तथा दार्शनिक चितन, उनकी स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, उनका राष्ट्रीयता के प्रति आग्रह, उनका सघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज का प्रयत्न आदि ऐसी बाते है, जो उन्हे हिदी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती है और उनकी रचनाओ को स्थायी साहित्य की वस्तु बना देती है।"[139] परमेश्वरीलाल गुप्त लिखते है कि "अपने नाटको द्वारा उन्होने हिदी नाटको को एक नयी दिशा और गति दी। उन्होने जो मौलिक नाटक उपस्थित किये, उसने न केवल लोगों के बगला के प्रति आकर्षण का ही शमन किया, वरन् उच्चकोटि का साहित्य प्रस्तुत कर हिदी भाषा-भाषी लोगों के मानसिक धरातल को भी ऊचा उठाया।"[140]

उपन्यास-कहानी

उपन्यास-कहानी के क्षेत्र मे भी प्रसाद की देन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। डॉ ब्रह्मदत्त लिखते है—"वस्तुत जयशकर प्रसाद एक महान् कलाकार है। उनकी साहित्य-साधना के परिणामस्वरूप हिदी कहानी-कला अपने विकास-मार्ग पर बहुत आगे बढ गयी।"[141]

डॉ लक्ष्मीनारायण लाल का कथन है कि, "कहानीकार प्रसाद का व्यक्तित्व आधुनिक हिदी कहानीकारों में सर्वथा अनूठा है। अतएव प्रसाद जी की कहानियो में घटना के प्रस्तुत करने मे, चरित्र-चित्रण और चरित्र-निर्माण मे, सिद्धात-प्रतिपादन और वातावरण की अवतारणा मे वे बिल्कुल मौलिक सिद्ध हुए हैं। प्रसाद जी की कहानिया हिदी कहानी साहित्य मे सबसे अलग और स्वतत्र शिल्प-विधि के रूप मे है।"[142]

डॉ देवराज की धारणा है कि, "हिदी कहानी के इतिहास में, अपनी निराली रोमाटिक शैली के कारण, उनका स्थान सुरक्षित है।"[143]

श्री सुशीला देवी-विमला देवी का विचार है कि, "उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानिया भारत की ही नही वरन् ससार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों से टक्कर ले सकती है। रवि बाबू की भाति ही उन्होने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को उदारतापूर्वक अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का अक्षयदान

दिया है, जिससे उन्हे 'हिदी के रवीन्द्र' कहा गया है। यह निश्चित है कि आधुनिक हिदी साहित्य मे प्रसाद का व्यक्तित्व और उनका साहित्य अत्यत चमत्कारप्रद है। उनके उपन्यासो मे हिदी की नयी साहित्य-परपरा की बहुत बडी निधि है।"[144]

समीक्षा व गद्य

इस क्षेत्र में भी प्रसाद की देन कम महत्त्वपूर्ण नही। आचार्य वाजपेयी जी का मत है कि, "प्रसाद जी हिदी के युगप्रवर्तक कवि और साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, एक असाधारण समीक्षक और दार्शनिक भी थे। प्रसाद जी की ये उद्भावनाए इतनी मार्मिक है, इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ है, और साथ ही इनकी मनोवैज्ञानिक त्रिवृत्ति इतनी सुदर रीति से हृदय का स्पर्श करती है कि हम सहसा यह भूल जाते है कि ये अधिकाश एकदम नवीन है जब उन लीक पीटने वालों से हिदी का कल्याण होता नही दीखा और नवशिक्षित समाज की तीव्र दार्शनिक पिपासा शात नही हुई तभी तो इस प्रकार की विचारधाराओं और व्याख्या-शैलियों की ओर प्रसाद जी जैसे दो-चार इन-गिने विद्वानो की अभिरुचि हुई है।"[145]

समग्र देन

अत में, प्रसाद जी की देन को सामूहिक दृष्टि से देखने के लिए हम पुन आचार्य वाजपेयी की ही धारणा को प्रस्तुत करेंगे। उनकी मान्यता हें—"प्रसाद जी न केवल इन दोनों (ललित, उदात्त और सुग्रथित कल्पनाओ और रचना-शैलियो) गुणो से युक्त थे, ऐसी असाधारण क्षमता इनमे रखते थे कि उनती क्षमता का कोई दूसरा कलाकार हिदी साहित्य के इस युग मे दिखायी नही देता। इस प्रकार वे युग के प्रवर्तक ही नही, उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति भी सिद्ध होते है।"[146]

दोष

प्रसाद जी के प्रति सजग विद्वान् पाठको ने उनके साहित्य मे पाये जाने वाले दोषो, अभावों, स्खलनों, त्रुटियों व विच्युतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जिससे कि हम उनके समग्र साहित्य के मूल्याकन को अधिक निर्दोष व पूर्ण बना सकने में समर्थ हो सकते है। इस प्रसग मे, मूल्याकन की प्रक्रिया के सबध मे, आचार्य हजारीप्रसाद जी ने ठीक ही लिखा है कि "चेतन की मानस-पूर्ति रूप-परिग्रह करते समय अनेक बाधाओ से निपटती है। उसे अनेक प्रतिरोधों का सामना करना पडता है। अत उसके कृतित्व की परीक्षा करते समय इन प्रतिरोधक शक्तियों का भी हिसाब लगा लेना उचित है।"—आलोचना (27)

सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल,[147] हजारीप्रसाद द्विवेदी,[148] नन्ददुलारे वाजपेयी,[149] सुमित्रानन्दन पत,[150] नगेन्द्र,[151] दिनकर,[152] विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,[153] जगन्नाथ प्रसाद शर्मा,[154] लक्ष्मीनारायण मिश्र,[155] राधाकृष्णदास,[156] शान्तिप्रिय द्विवेदी,[157] कृष्णानन्द गुप्त,[158] चन्द्रबली पाण्डेय,[159] देवराज,[160] जगदीश नारायण त्रिपाठी,[161] नामवरसिंह,[162] सुरेश अवस्थी,[163] जयचन्द राय,[164] शिलीमुख,[165] जगदीशचन्द्र जोशी,[166] गजानन माधव

'मुक्तिबोध',[167] परमेश्वरीलाल गुप्त[168] प्रभृति विद्वानो ने इस दिशा मे, साहित्य के मूल व मार्मिक स्वरूप के उद्घाटन की उच्चाशयतामयी भावना के साथ, महत्त्वपूर्ण तथ्यो का निर्देश किया है।

प्रसाद-साहित्य मे दोषो, त्रुटियो व असगतियों आदि की सख्या उक्त विवरण के आधार पर इतनी अधिक है कि उसके ब्योरे मे अधिक न जाकर मोटे ढग से ही कुछ बातो का सकेत कर देना यहा पर्याप्त होगा। अधिकाश त्रुटिया वस्तु-व्यवस्थापन सबधी है। गीत-रचना, रगमच, मनोवैज्ञानिक तथ्य, काल-क्रम, भाषा आदि को लेकर अनेक छोटे-मोटे दोषो का निर्देश किया गया है। पलायन-वृत्ति, साहित्य मे हास्य का अभाव, अतिगाभीर्य, अतिभावुकता, बुद्धि का अवमूल्यन, नारी-विषयक चितन मे प्रतिशामिता, शैली की एकधृष्टता, क्लिष्ट व दूरारूढ कल्पना, नाटको मे दृश्य-स्थापन में प्राय अकुशलता, जरूरत से ज्यादा षड्यत्रो व जालसाजियो की योजना, पात्रो मे व्यक्तित्व की व्यापक विविधता का अभाव अति आदर्श प्रेम, मधुचर्या, रहस्य या गुह्य के प्रति आकर्षण, विराम-चिह्नादि की अव्यवस्था आदि अनेक बाते दोष रूप मे बारबार विद्वानो, विचारको व सामान्य अध्येताओ ने गिनायी हैं।

निष्कर्ष व उपसंहार

अब निम्नलिखित सामग्री हमारे सामने है (1) प्रसाद-साहित्य के सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण तत्त्वो या उपकरणों के विस्तृत विवेचन से प्राप्त तथ्य, जो हमे प्रबध के प्रकरणो के अत में प्राप्त हुए है, (2) भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियो से समर्थित-स्वीकृत साहित्य के तत्त्वो या उपकरणो का स्वरूप, (3) मूल्याकन के विविध आधार और उनमें से साहित्यिक मूल्याकन के तर्कसम्मत व यथासभव निर्भ्रात आधार, (4) प्रसाद के विशिष्ट साहित्यिक गुण या उनकी प्राय सर्वस्वीकृत उपलब्धिया, जो पिछले 25-30 वर्षो के आलोचनात्मक मथन से उनकी महत्ता का प्रतिनिधित्व करती हुई ऊपर उभरकर आयी है, तथा (5) उनके व्यापक रूप से परिगणित अभाव, दोष, स्खलन, त्रुटिया आदि।

इस विशिष्ट सामग्री से सकलित होकर, किसी विशेष गभीर व्यवधान की कल्पना किये बिना अब, सामूहिक दृष्टि से निष्कर्ष रूप में प्रसाद-साहित्य के वास्तविक मूल्य या महत्त्व को आकने का प्रयत्न किया जा सकता है।

यह शोध-प्रक्रिया की आवश्यकता भी है। डॉ राजबली पाण्डेय ने शोध-तत्र मे समीक्षा का स्थान अत्यत महत्त्वपूर्ण बताया है—"वस्तुत अनुसधान कार्य में निर्माण, तुलना और समीक्षा तीन प्रमुख श्रेणिया हैं और तीनो के समुचित एव सतुलित स्थान निश्चित होने चाहिए।" अत अन्य आवश्यक कार्य कर चुकने पर अब समीक्षा का अवसर है। राजशेखर ने 'समीक्षा' का स्वरूप बताते हुए लिखा है—'आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्। अन्तर्भाष्य समीक्षा'। (काव्यमीमासा, द्वितीय अध्याय)। अब हम निष्कर्ष और उपसहार मे प्रसाद-साहित्य के अवातर गर्भित अर्थों का स्पष्टीकरण करने का भी प्रयास करेंगे।

प्रसाद के विशाल साहित्य के महत्त्वपूर्ण अशों के प्रेरणा-स्रोत जीवन की भूमि में बद्धमूल, गहरे और वेगवान् है। प्रसाद मानव-ज्ञान के समस्त क्षेत्र में साहित्य के स्थान व

महत्त्व से पूर्ण परिचित साहित्य की भूमि, जलवायु, प्रकृति और क्रियाकलाप के एक सूक्ष्म दृष्टि-सपन्न तत्त्वज्ञ है। उनकी जीवन-दृष्टि व साहित्य-दृष्टि मे एक सश्लेष व महत्त्वपूर्ण अन्विति (Integration) है। उनकी दृष्टि मे, जीवन और साहित्य परस्पर विच्छिन्न होकर असहाय व हतप्रभ है। वे कोरी हवाई कल्पनाओ के साहित्यकार न होकर समाज, जीवन और अतःकरण से समग्रता के साथ सयुक्त है। इसी से उनके साहित्य का आधार ठोस है और यही तथ्य उनके साहित्य को यथार्थता प्रदान करके उसके दीर्घजीवी होने का आश्वासन देता है। जीवन और जगत् के साथ जुडकर ही प्रसाद अपने मतव्य मे गभीर, लक्ष्य में उच्च और अपनी उच्चाशयता मे महान् दिखायी पडते है। वे समाज, व्यक्ति और व्यक्ति-मन के साथ है। उनसे पृथक् होकर अपने एकात निजी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उन्हे इष्ट नही।

मूल जीवन-दृष्टि, प्रेरणा और लक्ष्य की इस गभीरता, स्पष्टता व उच्चता के प्रति आद्यत सजग रहते हुए भी प्रसाद सर्वत्र समरूप से अपने प्रकृत गौरव-स्तर का निर्वाह नही कर पाये है। उनकी आरभिक उठान की कृतिया निश्चय ही अभ्यास-प्रयोगकालीन होने व दिशान्वेषण-सुलभ अनिश्चितता-अस्थिरता से ग्रस्त होने के कारण दुर्बल, बोदी या निष्प्रभ है। प्रौढकालीन विशिष्ट कृतिया (जिन पर प्रसाद का स्थायी गौरव आश्रित हैं) विशेषत कामायनी, आसू, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ककाल, तितली आदि भी अपने बृहदशो मे तो निश्चित ही महान् है, पर लघु अशो मे अनेक स्खलनो व त्रुटियो से युक्त है। अत यह धारणा कदाचित् सत्य से दूर होगी कि प्रसाद की रचना-समष्टि तथा कोई रचना-विशेष सर्वाशत निर्दोष है। और यह सभव भी नही। वस्तुत हमे इस ढग से सोचना भी नही चाहिए, क्योकि ससीम मानव-सृष्टि मे पूर्णता की इस भौडे रूप में तलाश एक स्थूल और अस्वाभाविक दृष्टि है। विविध प्रतिकूल परिस्थिति-जाल मे प्रसाद ने अपना कार्य किया है। अत हमें उन परिस्थितियों को भी ध्यान मे रखना होगा, पर मानव-प्रकृति व परिस्थितियों के लिए दी गयी यह उदारतामयी छूट वास्तविक दोषो व त्रुटियो के प्रति भी हमें उदासीन, अन्यमनस्क पराड्मुख न बना दे, इस ओर भी हमे अनासक्ति के साथ सजग रहना है। हमारा सत्य-प्रेम इसी मे निहित है कि हम नीर-क्षीर की विवेकमयी दृष्टि से, वदन-प्रशस्ति भाव को त्यागकर, प्रसाद-साहित्य विषयक वास्तविक सत्य को ढूढ़ने मे निरत हों। आलोच्य कवि का सच्चा सम्मान व अभ्यर्थना इसी पथ पर है।

प्रसाद ने साहित्य के सभी प्रमुख तत्त्वों (वस्तु, बुद्धि, कल्पना व शैली) पर एकसाथ दृष्टि रखने का पूरा प्रयत्न किया है, एक भी तत्त्व को दृष्टि से इस रूप मे व इस सीमा तक स्खलित न होने दिया कि रचना अपनी साहित्यिक मूल प्रकृति को ही खो बैठे। प्राय साहित्यकारो मे स्व-रुचि सस्कारवश उक्त तत्त्वो मे से किसी एक या अनेक तत्त्वों के प्रति एक विषम व्यामोह होता है और परिणामस्वरूप तत्त्वो के सयोजन व तज्जन्य रचना की स्वस्थता-परिपक्वता को न्यूनाधिक आघात पहुचता है। श्रेष्ठ साहित्यकार इसके अपवाद है। उक्त तत्त्वों का किसी साहित्यिक कृतित्व में नाप-तोल के साथ अनुपात-निर्धारण तो एक सर्वथा असंभव कार्य है। तत्त्वो के स्वरूप अनुपात मे निर्धारित होने का वास्तविक निकष अतत श्रोता-पाठक का सस्कारी मन ही हो सकता है। रुचि-भेद से साहित्यकार इन तत्त्वों का अपने साहित्य में एक विशेष परिमाण व अनुपात मे मिश्रण करते है। प्रसाद के लिए हम अधिक-से-अधिक यही

कहना चाहेगे कि उन्होने प्राय इतने स्वस्थ-मयत रूप मे भी मिश्रण किया है कि उनका साहित्य सभी श्रेणी के सहृदय-सस्कारी पाठको के लिए रसप्रद व विचारोत्तेजक हो उठा है।

प्रसाद अपने साहित्य मे वस्तु या विषय का अवमूल्यन नही कर सके है, जैसा कि सौदर्यवादी या अभिव्यजनावादी कलाकार प्राय करते है। मूल भारतीय दार्शनिक दृष्टि वस्तु को परम सत्ता का मूर्त्त प्रकाशन मानकर चली है। विचार दर्शन तथा रूप-शैली-विन्यास के धरातलो पर बुद्धि-विनियोग के जितने भी सूक्ष्मतर रूपो की कल्पना की जा सकती है, सबका प्राय सम्यक् उपयोग प्रमाद-साहित्य मे मिलता है। प्रसाद एक ओर शास्त्रीय रचना-प्रणालियो के परिनिष्ठित रूपो से सबद्ध है तो दूसरी ओर भाव और अनुभूति की प्राणपोषक सामग्रियों से सपन्न।

जीवन-दृष्टि और कला-दृष्टि की भूमियो पर विचार करने पर स्पष्ट जान पडेगा कि प्रसाद कभी किसी सकीर्ण एकागिता, क्षेत्रीयता व साप्रदायिकता के शिकार नही हुए। पहले जीवन-दृष्टि पर विचार करे, क्योकि जीवन-दृष्टि की ही प्रेरणा से उच्छ्वसित होकर साहित्यकार अपने निर्माण मे निमग्न होता है। पूर्व और पश्चिम मे जीवन की पूर्णता का उद्घाटन करने वाली विविध विचार-सरणियो का प्रचलन हुआ। दोनो ही जगह ऐसी विचार-सरणिया प्रचलित रही जो परपर चितन का बल पाकर समर्थित व पुष्ट होती चली गयी। पर इतने बडे फलक पर विचार न करके हम यहा सामान्यत इतना ही कहना चाहेगे कि भारतीय दार्शनिक चिताओ का मर्मस्थानीय अश, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे, प्रसाद साहित्य मे अपने युगानुरूप व्याख्याओ में ढलकर व रुचियो से परिष्कृत होकर विद्यमान है। भारत में दार्शनिक चितन ने पश्चिम की तरह व्यक्ति-केद्रो मे सिमटकर ही अपनी प्रामाणिकता का उद्घोष नही किया। पश्चिम मे व्यक्ति-केद्रों मे भिन्न-भिन्न एकदेशीय ऐसी दार्शनिक विचारधाराए तैयार होने लगी जो कवियो के निर्माण का प्रेरणा-स्रोत व मूलाधार ही हो बैठी। उदाहरणार्थ, प्राकृतवाद व अस्तित्ववाद ऐसे ही दर्शन है। इनमे से अस्तित्ववाद का दर्शन विशेष रुचियों व सस्कारो के विरल व्यक्तित्वो का दर्शन समझा जाता है। सभवत वह साहित्य जैसी व्यापक साधना के लिए पर्याप्त नही पडता। कहने का तात्पर्य यहा इतना ही है कि प्रसाद ने केवल उन्ही जीवन-दृष्टियो में अपनी आस्था दिखायी जो व्यापक जीवन और व्यक्तित्व के धरातल पर उत्पन्न हुई हैं।

यही बात कला-दृष्टियो के सबध मे लागू होती है। पश्चिम मे विविध कला-दृष्टियो का आविष्कार हुआ है। हम यह मुक्त कठ से स्वीकार करना चाहेगे कि वे कला-दृष्टिया अपनी निर्धारित सीमा मे जीवन की एक विशेष आकाक्षा, युग की एक विशेष आवश्यकता व मानव की एक अद्यतन अतृप्त स्पृहा की प्रतिनिधि होकर अपनी सूक्ष्मता व गहराई मे पूर्णता के पथ पर बहुत दूर तक चली गयी है (फिर भले किसी भी अतिवादी प्रवृत्ति के कारण क्यो न हो), और इस नाते वे उच्च श्रेय की अधिकारिणी है। पर जब हम जीवन व काव्य के समग्र विधान में रखकर उन्हे देखते है तो वे बडी सकीर्ण व एकदेशीय ही दिखायी पडती है। कलावाद, सौंदर्यवाद, अभिव्यजनावाद, प्रतीकवाद, अति यथार्थवाद, बिबवाद आदि सब वादो पर पश्चिम के सुधी विचारकों ने जो अपना मत-मतव्य दिया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है। प्रसाद का साहित्य किसी एकागी वाद का मुखापेक्षी नही। उसमे विविध भारतीय साहित्य-सप्रदायों की मूल दृष्टियो (रस, ध्वनि, अलकार, रीति आदि) और पाश्चात्य कला-दृष्टियो का,

सहज रूप मे, सुदर (रस, ध्वनि, अलकार, रीति आदि) और पाश्चात्य कला-दृष्टियो का, सहज रूप मे, सुदर समायोजन देखा जा सकता है। प्रसाद की यह व्यापक कला-दृष्टि उनके निर्माण के पुष्ट आधार को सूचित करती है। हमारा यह आशय नही है कि प्रसाद मे अद्यावधि आविष्कृत सभी कला-दृष्टिया अपनी पूर्णता के साथ समायी हुई है, ऐसा कहना अविवेक व दभ मात्र होगा। हम तो केवल इतना ही कहना चाहते है कि प्रयत्न करने पर उनकी पूर्ण व व्यापक साहित्य-योजना मे प्राय सभी कला-दृष्टियो का यथास्थान सुदर विनियोग देखा जा सकता है।

एकागिता से प्रसाद किस प्रकार मुक्त है, यह अन्य धरातलो पर भी देखा जा सकता है। वे केवल परपरा के ही भक्त नही है, उनमे विचार, चितन और शैलीगत प्रयोगो के प्रति अशेष उत्साह है, वे कोरे जड आदर्शवादी नही है, यथार्थवाद का, साहित्योपयोगी कटाव-छटाव के साथ, उन्होने ललकपूर्वक ग्रहण किया है। वे कोरी यात्रिक व रूढ शास्त्रीयता के भी उपासक नही है, वे उच्च कोटि के एक ऐसे रोमाटिक कलाकार है, जिनकी अनुभूतिया अपनी अगणित भगिमाओ से सहृदयों को अशेष रजन व तृप्ति प्रदान करती है। वे अध्यात्म को आकाश और हवा मे नही टिकाते, वे सर्वोच्च अध्यात्म को दैनदिन जीवन-व्यवहार और हृदय-मस्तिष्क की चेतना के धरातल पर उतारकर अस्तित्व को स्निग्ध और प्रफुल्लित बनाने के चिर आकाक्षी व प्रयत्नशील है। उनका साहित्य केवल शिक्षण नही, केवल रजन नही, केवल उत्प्रेरण नही—तीनो की एक मिली-जुली चेतना को प्रवाहित करने के लिए कृत-सकल्प है। प्रतिभा-प्रेरणा, निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास—सभी हेतुओ से उनका साहित्य सपुष्ट है। प्रसाद प्राय· अतीत के ही साहित्यकार कहे गये है, पर यह कहना स्थूल दृष्टि से ही ठीक है। वास्तविकता यह है कि उन्होंने अतीत से भविष्य तक की एक दीर्घ व विशाल वीथी अपने दृष्टि-पथ के सामने खोल रखी है। अतीत का सारा उपयोग प्रसाद वर्तमान के निर्माण व भविष्य की रचनात्मक कल्पना के लिए करके काल को भावना की अखडता से पाटकर उसके स्थूल भेदो को वे विलीन कर देते है। परिणामस्वरूप साहित्य की सामयिक व सनातन मागो की पूर्ति उनके लिए दो भिन्न कर्म नही रह जाते, दोनो एक सूत्र से अनुस्यूत होकर परस्पर अर्थवत्ता प्रदान करते है। साहित्य की प्रकृति ने हृदय की अनुभूति-भूमि पर ही निवास करते हुए सूक्ष्मतम बौद्धिक चेतना को इस प्रकार महीन सूत्रों से सगुफित कर दिया है कि प्रसाद का साहित्य मानव के अत करण का (किसी भावना-विशेष या वृत्ति-विशेष का ही नहीं) प्रतिनिधि होकर टिकाऊ व दीर्घजीवी हो गया है। काल-भेदन की यही उदात्त दृष्टि और उच्चाशयता देश या भूगोल की सीमाओ का भेदन कराने मे भी सहायक हुई है। और इसी के परिणामस्वरूप प्रसाद एक ही साथ सहजता से भारतीय व अतर्राष्ट्रीय दोनो बने रह सके है। तथ्य उनके विश्व-साहित्यकार के रूप को थाहने की बड ऊची सभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करता है। मानव-अनुभूति की एक लोक-सामान्य रेखा है, जिसके परे का विस्तार प्रातिभ ज्ञान, रहस्य, अचेतन के गहन कुहर से आच्छन्न है। भारतीय उपनिषद् और योग तथा भारतीय और पाश्चात्य मनोविज्ञान इस भूमि में विशेष उत्साह के साथ प्रवेश करते है। प्रत्यक्ष व यथार्थ से सबद्ध होने के साथ-ही-साथ साहित्यकार प्रसाद रहस्यदर्शी व आध्यात्मिक कवि भी हैं। अत सहज ही प्रतिभा व कल्पना के बल पर उनका इस भूमि मे प्रवेश है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार की अनुभूतियो में रुचिशील पाठको की आवश्यकताओ की पूर्ति करते

हुए उनका प्रभाव-क्षेत्र अत्यत व्यापक दिखायी पडता है। इस क्षेत्र की व्यापकता के अनुपात मे ही उनका उत्कर्ष-बिंदु और भी स्पष्ट होकर झलकता है।

मानव-ज्ञान की सब धाराओ के मूल उत्स बीसवी शताब्दी में एकसाथ खुल पडे है और प्रत्येक मानव-प्रयत्न (दार्शनिक, कलात्मक आदि) का औचित्य व उसकी सार्थकता समस्त मानव-ज्ञान के व्यापक सदर्भ में देखी जा रही है। कला और साहित्य के प्रयत्न भी इसके अपवाद नही। उक्त सदर्भों से कटकर—शुद्ध सुख-दु'ख की कोरी अभिव्यक्ति मात्र (चाहे वह कितनी ही आनददायिनी व शिल्प की दृष्टि से सफल हो) आज कोई विशेष उपलब्धि नही रह गयी है। बौद्धिक युग, विश्व की स्थायी सास्कृतिक सपत्ति की धारा मे आज उसी कृतित्व को विशेष विचारणीय व सग्राह्य रूप में स्वीकार करने के लिए तत्पर दिखायी पड रहा है, जो कला के मूल या प्राथमिक उपबधो की पूर्ति के साथ ही मानव की उपलब्ध ज्ञान-समष्टि में निहित व्यापक जीवन-सत्य के निकष पर भी अधिकाधिक खरा उतरे।

हमारा युग अणु, औद्योगिकी और विशेषज्ञता का युग है। वह वस्तुगत सत्य के प्रति अत्यधिक निष्ठावान् है, तीक्ष्ण-तीव्र जिज्ञासा, शका व प्रश्न उसके लक्षण है। अणु और उसकी शक्ति की खोज के प्रमाणों में चेतना चरितार्थ हो रही है। पर अणु के मर्मभेद का सत्य जितना लोमहर्षक है, उससे कम अणु से सघटित हुई सृष्टि के सौदर्य का नही। हम विशेषज्ञता के प्रति अति निष्ठा की झोंक मे अशो, अगो, खडो और अणुओं को निरपेक्ष या आत्म- पर्य्यवसित मानकर नाना भेदमूलक दर्शनो की अबाध सृष्टि करते चल रहे है। अखड, विभु और विराट् का उपासक साहित्यकार भी इन दर्शनो के इगित पर चले, यह स्थिति चित्य है। साहित्यकार की मूल दृष्टि सश्लेषण की दृष्टि है। वह आत्मा को अणु रूप मे ही देखकर तृप्त नही हो सकता। वह विभु या 'महतोमहीयान्' का भी दर्शन करता है। बडा प्रश्न यह है कि विघटित और खडित व्यक्ति-चेतना को ही अपने लक्ष्य मे रखकर अतत वह मनुष्य का क्या बनाना चाहता है। मानव को बुद्धि का वरदान विश्लेषणशक्ति और सूक्ष्म रहस्यो के उद्घाटन के लिए अवश्य मिला है, खडित होकर, छिन्न-भिन्न होने और नाश की भूमिका बनाने के लिए नही। पृथक्करण-प्रिय बुद्धि के अतिरेक से मनुष्य के तन और मन का ककाल निकालकर आखिर हम किस अभिप्राय और आशा मे पृथुल ऐश्वर्यों से सपन्न इस पृथ्वी पर रहना चाहेंगे? मनोविज्ञान के नग्न तथ्य या सत्य ही यदि हमारे मार्गदर्शक हैं तो मनुष्य की वास्तविकता तो ऐसी भी मिलेगी कि हम आखें मूद लेगे और एक क्षण भी आगे जीना न चाहेंगे। पर सृष्टि में हम आ ही गये है तो अब बुद्धिमान बनकर अच्छे से अच्छा सौदा किया जाय, यही उत्तम है। मनोवैज्ञानिक का सत्य तो प्रकृति मात्र है, केवल प्रकृति की आज्ञाकारिता और शासन तो चेतन मानव के लिए शोभनीय नही। हमारे भीतर का जो अधीश्वर है, चैतन्य है, वह प्रकृति का नियता व शास्ता है। हमें प्रकृति को अपने वशीभूत करके रखना है, इसी में मानव-गौरव है। जड प्रकृति के प्रति नि'शेष समर्पण का दर्शन कदाचित् बहुत गौरवास्पद नहीं। व्यक्ति को समाज से नि'शेष रूप से काटकर पूर्ण स्वतत्रता का आश्वासन देने वाला दर्शन जीवन व व्यक्ति का सारा गौरव, मूल्य व महत्त्व छीनकर उसे असहाय व दुर्बल कर देने वाला है। मानव को वही दर्शन चाहिए जो समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सहयोग की नींव पर खडा हो।

मानव-जीवन का पुनस्सघटन और मानव-मन का सास्कृतिक पुनर्निर्माण बीसवी शताब्दी का सबसे महान् कार्य है। श्रेष्ठ भाव व विचार की सपदा मे समृद्ध-सुसज्जित साहित्यकार ही इस कार्य को कर सकते है, क्योकि सच्चा साहित्यकार केवल खड और लघु मे ही विश्वास नही करता, वह अखड और विराट् में भी विश्वास करता है।

प्रसाद जीवन की इसी मूल चेतना से सपन्न व आस्फूर्त हैं। उनका जीवन-दर्शन विश्व मानव को नवीन आशाओं से अनुप्राणित करने की क्षमता रखता है।

वर्तमान युग मे बौद्धिक जगत् आज दो वैचारिक शिविरों में विभक्त हो गया है। दोनों शिविरों मे मानव और उसके जीवन के मौलिक प्रश्नो (सुख, स्वतत्रता, मानव-जीवन की चरम सार्थकता या मानव-नियति आदि) को पूर्ण सतोषजनक रूप में हल करने का दावा किया जा रहा है। वस्तुत जीवन के आधारभूत मूल्यो मे तो परिवर्तन की कोई गुजाइश ही नही है, अत इन शिविरों में मूल्यो की भिन्न-भिन्न व्याख्याए ही प्रस्तुत की जा रही है, जो परस्पर विपरीत है। उदाहरणार्थ, स्वतत्रता की व्याख्याए ही इतनी भिन्न हो रही है कि दोनो शिविरों में इस पर प्राय पूर्ण वैमत्य है। इसी पर अन्य प्रश्नो पर भी दृष्टिभेद है। ऐसी स्थिति मे साहित्यकार ही, दलगत चितन से ऊपर उठकर जीवन-मूल्यो की अधिक सुथरी, वास्तविक व विश्वसनीय व्याख्या प्रस्तुत कर सकते है। प्रसाद के साहित्य की वैचारिक और सास्कृतिक पीठिका को देखते हुए हम सहज ही आशा कर सकते हैं कि वह शिविरगत चितन के परे होकर मानव के मूल स्वरूप, उसकी स्पृहाओ, आशाओ स्वप्नों और उसकी चरम नियति को, जीवन के सरस सत्य के अग के रूप मे समझने में बहुत दूर तक सहायक हो सकता है। इस रूप में प्रसाद का साहित्य, विश्व के अनेक मूर्धन्य साहित्यकारों के साहित्य की ही तरह मानव और उसके अतर्जीवन के पुनर्निर्माण के लिए, अपना सास्कृतिक योगदान करने में पूर्ण सक्षम दिखायी पड रही है और इस दृष्टि से प्रसाद का साहित्य अपने महत् उपयोग की प्रतीक्षा में है।

आज का जिज्ञासु समीक्षक व प्रबुद्ध पाठक दृढ-स्पष्ट स्वर में पूछ सकता है—प्रसाद के पास आज की नयी व ताजी चेतना क्या है? हमारी सहस्रमुखी समस्याओं के लिए प्रसाद के पास क्या समाधान है? आज की सकुल परिस्थितियो में युग-मन जो इतना ग्रथिल-जटिल हो गया है, उसे प्रसाद जीवन की व्यावहारिक व यथार्थ समस्याओ का स्वाभाविक समाधान दिये बिना, किस प्रकार निर्ग्रंथ कर सकने मे समर्थ है? क्या सूक्ष्म-तीव्र बौद्धिकता व वास्तविकता के इस युग मे श्रद्धा, भावुकता, रस व कल्पना कोई स्थायी समाधान हैं? क्या आदर्श के अभ्रकश स्वर्ण-शिखरों पर आसीन सभ्रात प्रसाद अधकारमयी उपत्यकाओ में विलुठित साप्रतिक युग-मन के जाले, उमस व घुटन को आदर्शवादी उपचारों से ही मुक्त कर सकते हैं, और यथार्थ पर आसक्त आज के वैज्ञानिक युग को आदर्शवादी और रसवादी प्रसाद क्यों और किस प्रकार अपने जान पड सकते है? सच्चा व महान् साहित्यकार एक युग के लिए नही, किंतु युग-युग के लिए होता है। अत प्रसाद की युग-ग्राह्यता के सदर्भ में इस प्रकार के प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक व सुसगत है। इन प्रश्नो के सतोषजनक उत्तर प्रसाद को और भी दृढ चट्टान पर खडा करने वाले सिद्ध होंगे।

अतत

डॉ नगेन्द्र प्रेमचन्द का मूल्याकन करते हुए प्रेमचन्द को 'जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुंठाओं

से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण' रखते हुए कला की पद्धति से अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत करने, 'कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा' करने तथा जीवन का व्यापक दृष्टिकोण रखने के लिए उचित श्रेय देते हुए माथ ही यह भी लिखा है कि 'प्रेमचन्द मे कुछ ऐसे गुणो का अभाव है जो इनसे महत्तर है और जीवन और साहित्य मे जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कही अधिक है। उनकी दृष्टि मे, प्रेमचद मे प्रतिभा के अनेक अगो—तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढता, सूक्ष्मता और व्यापकता—मे से 'केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे।' इन्ही आधारो पर उनका मन 'प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नही है।'[169]

यहा प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना का कोई प्रसग नही। हम केवल इतना ही कहना चाहेगे कि प्रसाद मे शायद व्यापकता का गुण उतना नही है जितना प्रेमचन्द मे। प्रसाद आनदवादी शैव है। परमशिव और शक्ति, जो परस्पर अभिन्न तत्त्व है, की उपासना के नाते उनमें तेजस्विता, प्रखरता और दृढता के तत्त्व अनिवार्यत समाविष्ट है—चाहे परस्पर न्यूनाधिक रूप में ही। सभवत तेजस्विता और दृढता उनके अधिक प्रशस्त गुण हैं। प्रखरता, जिसकी अभिव्यक्ति गति के माध्यम से होती है, उनमे उतनी न दिखायी पडे, क्योंकि उनकी साधना प्राय अतर्मुखी अधिक है। गहनता और सूक्ष्मता के गुणो पर विशेष कहने की आवश्यकता नही, क्योंकि ये गुण तो प्रसाद जी की प्रतिभा के मूलाधार ही हैं। व्यापकता के गुण की भी सर्वथा अनुपस्थिति मानते नही बनती, क्योकि यदि उनकी प्रतिभा में व्यापकता का गुण न होता तो वे इतने लोकप्रिय व प्रसिद्ध कैसे हो पाते। इस लोकप्रियता में उनकी प्रतिभा की व्यापकता का ही तो प्रकाशन है। तो क्या प्रतिभा के इन गुणों और इन गुणों के सुखद मिश्रण व उत्कर्ष के साथ प्रसाद को अत्यत निरापद भाव से व मुक्त कठ से प्रथम श्रेणी का साहित्यकार कहने में किसी भी प्रकार की कोई हिचक हो सकती है ?

प्रसाद का साहित्य अपनी प्रवृत्ति में आस्थावान्, अपनी स्फूर्ति व क्षमता मे महाप्राण और अपने आशय मे बडा गभीर है। उसमे साहित्य के मूल माध्यम सौदर्य के द्वारा सत्य और शिव की भावनाओ से पुष्ट परिपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति का सकल्प है। मनुष्य जिस मूल आनद की अनुभूति के लिए पृथ्वी पर जी रहा है, उस आनद की शिरा को प्रसाद-साहित्य जीवित रखने में निरतर सतर्क-सजग है। आनद की स मूल मानवीय चेतना को हिंदी-साहित्य में प्रसाद ने जिस एकाग्रता, तल्लीनता व गभीरता से समझा है, जीवन को अर्थवान् बनाने वाला प्राथमिक लक्षण समझकर साहित्य मे उसे केद्रीय महत्त्व प्रदान किया है और इतिहास, जीवन और साहित्य की व्यापक पीठिका पर उसकी दृढकठ, स्पष्ट, निर्भ्रात व प्रमाणपुष्ट व्याख्या करके आनदमूलकता में ही साहित्य की वास्तविक आत्मा का निष्ठापूर्ण अनुसधान किया है, यह तथ्य प्रसाद के व्यक्तित्व और कृतित्व को आधुनिक हिंदी साहित्य में एक मोहक आकर्षण व गरिमा प्रदान करता है। पृथ्वी को सार्थक करने वाला स्वय ही आनद से सार्थक हो रहा है। ऐसा मानव ही प्रसाद-साहित्य के केंद्र में है। प्रसाद का साहित्य उच्च आनद-चेतना का पोषक व उन्नायक है, उपयोगी है, टिकाऊ है।

उपसंहार

विश्व-साहित्य की भूमिका पर

विवेचित साहित्य-गुणो के उत्कर्ष को प्रसाद-साहित्य मे देखते हुए यह विश्वास सहज ही बधने लगता है कि प्रसाद विश्व-साहित्यकारो के मडल मे एक उच्च व सम्मानित स्थान के अधिकारी ठहराये जा सकेगे। वस्तुत इस पक्ष पर विचार हमारे अध्ययन की प्रकृत परिधि मे नही पडता, अत 'यत्र यत्र धूम तत्र तत्र वह्नि'।—यह सूत्र न्याय-तर्कसम्मत अनुमान का जितना सहज अधिकार देता है उसके बल पर यह बात कही जा सकती है। विश्व-साहित्य के धरातल पर प्रसाद की वरेण्यता का दृढ आधार तभी मिल सकता है जबकि उनका साहित्य विश्व-भाषाओ में अनुवाद के द्वारा सर्व-सुलभ हो। पर जब तक वह सभव न हो, तब तक तर्काश्रित अनुमान से प्रसाद के इस स्तर व गौरव की कल्पना करना भी कदाचित् निराधार नही होगा। विश्व-साहित्यकारो के बीच प्रसाद के स्थान व महत्त्व को असदिग्ध रूप से निर्दिष्ट करना हमारे अधिकार व क्षमता के बाहर की बात है, किंतु एक बात कुछ आश्वस्त भाव से कहने का साहस किया जा सकता है विश्व-साहित्य की भूमिका पर साहित्यकार की उत्कृष्टता या महानता के निर्णय के जो भी आधार मान्य हो, एक निरापद व दृढ आधार तो स्पष्ट ही दिखायी पडता है, और वह है—मानव-मात्र के सुख या आनद की प्रतिष्ठा मे अमुक साहित्यकार ने कितना योग दिया है, मानव-जीवन को समुन्नत, प्रौढ-सुडौल व प्रगतिशील बनाने मे उसका प्रदेय क्या है, और कला सुलभ आनद प्रदान करके उसने मानव के मन (हृदय व मस्तिष्क) को कितना सस्कृत या परिष्कृत बनाया है ? कथ्य व शैली या कला के क्षेत्र मे हिंदी मे प्रसाद की जो युगातकारी उपलब्धिया है, वे विश्व-साहित्य के धरातल पर नगण्य कदापि नही ठहरायी जा सकेगी, क्योंकि साहित्यिक गुणों से प्रभावित होने वाला सार्वत्रिक और सार्वकालिक हृदय तो एक ही है, भाषा, देश और जलवायु का भेद इस दृष्टि से तुच्छ है। प्रसाद की प्राणोष्मा, गभीर आनद-चेतना व जीवन-दृष्टि का दान सर्वत्र समर्थनीय व ग्राह्य हो सकेगा। महान् विश्व-साहित्यकारो की प्रतिभा व उपलब्धि के प्रति नतशिर होते हुए इतना कहने मे कोई हिचक नही जान पडती कि प्रसाद की तरह अनेक त्रुटिया, स्खलन व अभाव उनकी सर्जना मे भी अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर हो जायेगे। अत प्रसाद भी अपनी जगमगाती व प्राणवान् आत्मनिधि के साथ, अपने अगणित लघु-गुरु अभावो के साथ भी, विश्व-धरातल पर अभिनदनीय ठहराये जा सकेगे। साम्प्रदायिकता की भावना से युक्त निर्मल न्याय, विशिष्ट कृतियों का विश्व-भाषाओ में अनुवाद और प्रसाद-साहित्य का उत्तरोत्तर गभीर अनुशीलन, ये बाते प्रसाद-साहित्य-विषयक अतिम सत्य को प्रस्तुत कर सकती हैं। मनुष्य के सुख के लिए प्रसाद ने कुछ उठा नही रखा, इसमें सदेह नही।

प्रसाद-विषयक शोध की भावी सभावनाए

साहित्यैतिहासिक दृष्टि से तथा तात्त्विक दृष्टि से यदि प्रसाद का साहित्य पुष्ट, जीवनोपयोगी तथा शक्ति व आनद की गभीर प्रशस्त चेतना का समर्थ वाहक है तो उसके तत्त्वो की और भी कडी परीक्षा के लिए और प्रसाद के सही वजन को आकने के लिए हमें उत्साहपूर्वक उन्हे देश

और विदेश के प्राचीन व अर्वाचीन साहित्यकारों के साथ, समशीतोष्ण भाव से संचालित शोध के धरातल पर रखकर देखने के लिए तत्पर होना चाहिए। इसमें हमारा अपार हित है। इस साहित्यिक अभियान में हिंदी की तथा प्रसाद की जीवनी-शक्ति विश्व के सामने आयेगी। हमें विश्व-साहित्य के धरातल पर जहां हिंदी की प्रतिभा, श्रम व अभ्यास का सही-सही लेखा, भारतीय पंडितों के द्वारा ही नहीं, विश्व के पंडितों के द्वारा भी—क्योंकि हमारे सही संतोष व गौरव का आधार विश्व के सम्मान्य पंडितों के परिनिष्ठित अभिमत ही (या अभिमत भी) हो सकते हैं—जानने का सुयोग प्राप्त होगा (और राष्ट्र संघ से हमें साधनों की प्राप्ति की दृष्टि से, इस दिशा में बड़ी आशाएं हैं), वहां आत्म-निरीक्षण व परिष्कार के अनेक बहुमूल्य अवसर भी हमें सुलभ होंगे जो अपने साहित्यिक-सांस्कृतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए संभवतः बहुत ग्राह्य व उपादेय होंगे। भारतीय साहित्य तथा विश्व-साहित्य की प्रवहमान धारा में रखकर प्रसाद को देखने के प्रयत्न की कल्पना में प्रसाद-विषयक शोध-कार्य का भावी क्षेत्र अशेष रूप से उर्वर व विस्तृत दिखायी पड़ता है।

संदर्भ

1. केशव मिश्र : 'तर्कभाषा'
2. नया साहित्य : नये प्रश्न (भूमिका)
3. "He must be a sound judge of values"—Principles of Literary Criticism, p. 114
4. "Who would say it is correct estimate of values." —S.C. Dasgupta : Fundamentals of Indian Art, p. 6
5. David Daiches : Critical Approaches to Literature, p. 132
6. "Critics and philosophers who have evaluated literature, may come to a negative verdict."—Rene Welleck and Austin Warren : Theory of Literature, p. 248
7. "We do not yet know how to make the measurements required. We have to use the roughest kinds of estimates and very indirect indications. ××× Nothing less than our whole sense of man's history and destiny is involved in our final decision as to value."—I.A. Richards : Principles of Literary Criticism, p. 288-89
8. आज की कृतियों को हृदयंगम करने के लिए युग-मानस और युगचेतना का अवगाहन करना अनिवार्य है। इनके मंथन से ही साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन के लिए मानदंडों का आविष्कार संभाव्य है। संभव यह भी है कि विश्व की विराट् चेतना को एक सांचे में भरना ही न हो सके और अनेक सांचे ढालने पड़ें। और यह भी संभवनीय है कि मानदंडों के सांचों में युग की समृद्ध चेतना, इसका, संपूर्ण आलोक और आह्लाद, शोक और व्याकुलता, चिंता और आशा, संक्षेप में इस चेतना का संपूर्ण आयाम और गांभीर्य किसी भी मानदंड में न बांधा जा सके। कारण कि विद्रोह और उच्छृंखलता (बुरे अर्थ में नहीं) हमारे युग का धर्म है।—आलोचना (27) में डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा का 'ध्वनि-सिद्धांत का सामयिक मूल्य' नामक लेख।
9. Wordsworth is not always precious even at his very perennial source. ××× They do their master harm by such lack of discrimination.' —Eassays in Criticism, Second series, p. 109
10. आचार्य चन्द्रबली पांडेय (श्री महावीर अधिकारी द्वारा संपादित 'प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व', पृ. 317, 319 से उद्धृत)
11. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—'निराला का काव्य' नामक लेख, 'आलोचना' (28), पृ. 44
12. In any case, we pass from the experience of interest to the Act of judgment. By reference to a norm, by the application of criteria, by comparison of it with other

objects and interests we estimate the rank of an object or an interest —Theory of Literature, p 248

13 'Validity of judgment is not to be assigned to any single test but that a work of literature must often be approached from more than one side and that a true account of its merits or deficiencies can only be given by applying several tests and in degrees which vary with the character of the given work —W B Worsfold Principles of Criticism p 3

14 वि दे—डॉ नगेन्द्र विचार और विश्लेषण, पृ 1

15 वैलेक और वैरेन ने इस सदर्भ मे इन शब्दों का उपयोग किया है—

Worth positive, worth interest देखिए—Rene Welleck and Austin Warren Theory of Literature, p 248

16 'प्रतिष्ठा के योग्य, रोपने योग्य'—राष्ट्रभाषा कोश (लखनऊ), पृ 879

17 Worth—Intrinsic worth or goodness that which renders anything useful or estimable the degree of this quality relative worth, high worth , esteem excellence—Chambers 20th century Dictionary (1952)

Worth—Desirability Utility , Qualities on which these depend , Worth as estimate—The Concise Oxford Dictionary

18 नाट्यशास्त्र, 6/32-33

19 वक्रोक्तिजीवित, 1/3

20 वही, 1/5

21 वही, 1/1-2

22 काव्यप्रकाश, 1/2

23 साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद

24 रसगगाधर, 1/1

25 डॉ नगेन्द्र विचार और विश्लेषण, पृ 3

26 नया साहित्य नये प्रश्न, 'निकष', पृ 29

27 साहित्यदर्पण, 3/2-3

28 विचार और विश्लेषण, पृ 3

29 To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions " —Clive Bells Art, p 10

30 ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री, पृ 5

इस पर रिचर्ड्स की टिप्पणी है

so runs a recent extreme s tatement —Principles of Literary Criticism p 17

31 यथा चतुर्भि कनक परीक्ष्यते

निघर्षणच्छेदनताप ताडनै । —चाणक्य-नीति, 18

32 ' Experience of more than one country and of more than one age?—'that is the truth of art ××× In oredr to obtain a valid judgment a work of literature must be approached from more than one side, and our verdict must be based upon a balance of the results so, obtained" —W.B Worsfold Principles of Criticism, p 4, 6, 7

33 "The large, general, shaping forces which hurry men along the main road are not all there is also distinguishable in each of them an essential, individual quality which makes him wholly mysterious wholly incalculable, and different from everyone else, and precisely the presence of this individual, unique quality in a man s personality occasions that special personal delight which is the most

capitivating thing in literature -R.A. Scott-James The Making of Literature, p 254

34 ' that a work should be judged not in relation to what it is not but in relation to what it is ' -Pope's Essay on Criticism (edited by J C Collins), Introduction p xxxii

35 डॉ नगेन्द्र अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 68

36 इस सबध मे प्रसाद की अपनी व्याख्या देखिए—काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 17 31

37 चिन्तामणि, भाग 1 पृ 306

38 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।' —चिन्तामणि, भाग 1 पृ 193

39 जयशकर प्रसाद, पृ 3 5, 31, 62-64

40 अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ 102 103

41 केनोपनिषद्, 4 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4/6 आदि

42 (1) 'ज्ञानाधिकरणमात्मा।' —अन्नभट्ट तर्कसग्रह, पृ 8

(2) 'चैतन्यमात्मा।'—शिवसूत्र।

(3) 'आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करण हि सकर्तृत्वम्।'—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली

(4) 'तत्रात्मत्वसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्त
प्रतिशरीर भिन्नो नित्यो विभुश्च।'—केशव मिश्र तर्कभाषा

(5) प बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ 415 416, 419, 610

43 अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ 103

44 भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ 317

45 आचार्य वाजपेयी जी के पत्र से अनुमतिपूर्वक साभार उद्धृत

46 प नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, 328-30

47 'Men ought to value literature for being what it is , they ought to evaluate it in terms and in degrees of its literary value The nature, the function, and the evaluation of literature must necessarily exist in close correlation The use of a thing—its habitual or most expert or proper use—must be that use to which its nature (or its structure) designs it Its nature is, in potence, what, in act is its function It is what it can do it can do and should do what it is ××× We ought to evaluate literature in terms and degrees of its own nature" -Theory of Literature, p 248-49

48 आलोचना (29), पृ 25, डॉ रमाशकर तिवारी के लेख 'रसवाद एक परीक्षण' से।

49 'धर्मयुग', अगस्त 14, 1955 में श्री गोपाल कृष्ण कौल का लेख 'स्वाधीनता के बाद हिंदी कविता' से।

50 श्री गजानन माधव 'मुक्तिबोध' 'कामायनी एक पुनर्विचार', पृ 186

51 आधुनिक काव्य रचना और विचार, पृ 129

52 यहा ऐतिहासिक आधार के औचित्य या समीचीनता की ओर सकेत करना मात्र ही पर्याप्त है, क्योंकि सपूर्ण हिंदी-साहित्य की अथवा आधुनिक हिंदी-साहित्य की धारा में प्रसाद को उनके पूर्वापर रचयिताओं के बीच रखकर, उनका ऐतिहासिक महत्त्व दिखाना, जबकि तात्विक दृष्टि से उनका स्थान अत्यत उच्च है, आवश्यक विस्तार व प्रसगातर होगा। मूल्याकन के विविध आधारो मे साहित्यैतिहासिक आधार भी एक अत्यत महत्त्वपूर्ण आधार है, यही निर्दिष्ट करना यहा इष्ट है। द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि में देखने पर प्रसाद का ऐतिहासिक महत्त्व उभर उठेगा।

53 आचार्य वाजपेयी जी के 'प्रसाद और निराला' नामक लेख की परिसमाप्ति।

54 तुलना—"शोध-प्रक्रिया का अनिवार्य अग नही है—सो भी भिन्न देशकाल की दार्शनिक या साहित्यिक भूमि की तुलना तो अन्यथा स्थान भी हो जाती है।" —आचार्य वाजपेयी जी के पत्र से उद्धृत।

55 'We must value things for what they are and can do, and evaluate them by comparison with other things of like nature and function —Theory of Literature p 249

56 "What the theory attempts to provide is a system of measurement by which we can compare not only different experiences belonging to the same personality but different personalities" —Principles of Literary Criticism Appendix A – On value'

57 Russel W Devenport The Dignity of Man p 171 172 176

58 लेनिन ने कहा—'Matter is that which acting upon our sense-organs produces sensation Matter nature being the physical—is primary and spirit, consciousness sensation the physical—is secondary' —quoted from The Dignity of Man p 176

59 'आलोचना' (दिल्ली) अक 28 में प्रकाशित डॉ शिवकुमार मिश्र के 'समाजवादी यथार्थवाद' नामक लेख से।

60 " are just illusions on the surface of reality, eruptive phenomena thrown up from the depths of matter —The Dignity of Man, p 176

61 बा गुलाबराय सिद्धात और अध्ययन

62 दे—'दि माडर्न एज', बोरिस फोर्ड द्वारा सपादित, पृ 336

63 'तार सप्तक' में अज्ञेय का 'कवि-वक्तव्य', पृ 75 तथा "कविता अब भी व्यक्ति-सत्य का साधारणीकरण करके आनद की सृष्टि करना चाहती है।"—अज्ञेय ('प्रतीक', जून 1951 पृ 31)

64 डॉ नगेन्द्र विचार और विश्लेषण, पृ 3

65 आलोचना (27) पृ 91

66 डॉ नगेन्द्र विचार और विश्लेषण, पृ 2

67 The consideration of ulterior ends tends to lower value It does so because it tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere ' —J C Bradley Oxford Lectures on Poetry p 5

68 नया साहित्य नये प्रश्न, पृ 48

69 वही (निकष), पृ 27

70 'In this sense, it is not possible in an infant ×××This is a curious extension of the meaning of libido ×××Freud here shows lack of psychological insight ××× It is muddleheadedness to lump them together under the heading sex There is a great deal of confusion in Freud s theory ××× Freud often takes mere hypothesis ×××He is inclined towards the theory of psychological hedonism which is false ××× mere unproved assumptions ××× The effect of Psychoanalysis on morality is disastrous ×××To thwart an instinctive drive is to injure the personality at its root ×××Reason as a mere tool of instincts This is wrong ×××Psychoanalysis leads to determinism which raps the very foundations of morality ×××Freud's doctrine is subversive of morality ' —Dr J N Sinha A Manual of Psychology, p 388-92

71 धर्मयुग, 31 मई '64 तथा 7 जून '64 मे प इलाचन्द्र जोशी के लेख 'फ्रायड के नाम खुला पत्र', 1-2

72 जयशकर प्रसाद, पृ 172

73 डॉ देवराज का लेख—'प्रसाद जी का कृतित्व' (श्री महावीर अधिकारी द्वारा सपादित पुस्तक 'जयशकर प्रसाद जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व' में सकलित)

74 वक्रोक्तिजीवितम्, 1/16, 17 प्रथमोन्मेष।

75 डॉ भोलाशकर व्यास, 'ध्वनि सप्रदाय और उसके सिद्धात' के आरभिक पृष्ठों मे तथा श्री रामनेरश वर्मा 'वक्रोक्ति और अभिव्यजना' पृ 8, 9

76 " Poetry (the term in which he includes all creative literature) —W B Worsfold Judgment in Literature, p 23

77 'The forms of Poetry—poetry including all creative literature whether in prose or verse —W B Worsfold Principles of Criticism, p 163

78 'An art, he (Aristotle) says is the product of a union of creative faculty and reason ' —W B Worsfold Judgment in Literature p 48

79 "To contribute a new thought to the world is the highest merit of a work of Literature in general and to contribute this to the imagination, is the highest merit of a work of creative Literature , —Judgment in Literature p 65

80 'Literature then in the widest sense is the record of the impressions made by external realities of every kind upon greatmen and of the reflections which these men have made upon them " —Judgment in Literature p 13

81 Addison writes that the talent of affective the imaginations" in the ' very life and highest perfection of poetry " ' Here then we have a test of merit elastic enough to be applied to one which takes into account the element of pleasure' —Judgment in Literature, p 37

The power of giving pleasure by an appeal to the imagination of the reader, is the essential quality which a work of creative Literature ought to possess ' —Judgment in Literature p 48

82 Supreme merit of Literature is to produce the highest order of aesthetic feelings ' —W B Worsfold Principles of Criticism, p 17

83 " Ultimate test of merit in literature must be the general sense of mankind as opposed to the test of artistic excellence which is embodied in the doctrine of 'art for art's sake' It will be seen that Mr Herbert Spencer here applies the same test as a means of deciding the final value of words of art —W B Worsfold Principles of Criticism p 19

84 Literature is thought first moulded into form by the idealizing process of the human mind and then when so moulded expressed in writing' —W B Worsfold Principles of Criticism p 7

85 नया साहित्य नये प्रश्न, पृ 58

86 test of truth is the body of information which the book conveys consistent with the fact of life ' —W B Worsfold Principles of Criticism p 4 Judgment in Literature, p 19-20

87 Judgment in Literature, p 23

88 नया साहित्य नये प्रश्न, पृ 62

89 Judgment in Literature p 51

90 Ibid , p 53

91 ' but it is a means of union among men joining them together in the same feelings, and indispensable for the life and progress towards well being of individuals and of humanity" —What is Art, p 123

92 Principles of Literary Criticism अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ 139

93 आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, पृ 53, 54, तथा नया साहित्य नये प्रश्न, पृ 92-93

94 ' no more nor less than a mosaic of words X X X imagism was only a way-stage X X X It has become a semi-private illusion The image in itself offers only frugal possibilities for poetry it is hardly more than the decorative flourish it came into being to destroy X X X short lived —The Literature of the United States, p 255-56

95 ' Whatever may happen in the future its transient fortune will not be forgotten in the literary memory of the French nation The same cannot be said of the following period, from which, probably, we have not yet emerged " —L Cazamian

A History of French Literature, p 382

96 "The automatic, illogical, uncontiolled fantasies and associations of the mind represent a higher reality than the iealistic ××× decries any concept of ait or talent and delights in the illogical and inexplicable ××× produced no masterpices " –The Reader's Companion to World Literature, p 429
'The surrealist permits his woik to organize itself non-logically –Dictionary of World Liteiature p 403

97 The Reader s Companion to World Liteiature, p 229

98 भारतीय जीवन-मूल्य 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' प्रसिद्ध ही है। पर, प्रतीकवादियों के जीवन-दर्शन को लक्ष्य करके वही के सुधी विचारकों ने कहा—

'They (Symbolists) renounced the light, so long sought and cherished, and they actually turned to dark' –L Cazamian A History of French Literature (1955)
जबकि, प्रसाद के सबध में यह धारणा रही—
"प्रसाद न जिंदगी को बेकार समझते थे, न मौत के उपासक थे। जीवन के आदर्शों में उनकी आस्था थी ॥"
—'अश्क' ('नई कहानिया', जुलाई '64, इटरव्यू)

99 The existentialists stress the basic elements in man, including the irrationality of the unconscious and subconscious act ×××× existentialism has no particular style or literary form associated with it" –The Reader's Companion to World Literature, p 158

100 'The historian of the inter-war years and of those we are now living is faced with a hopeless search for clues that are so far invisible, and that time alone can reveal, if they do indeed exist" –L Cazamian A History of French Literature, p 382

101 "But what one misses it the literary scene is the presence of that poet who can proved us with the conclusive image of our condition and the prophetic image of that which we may attain to What we await is the poet whose individuality is strong enough " –The moden Age (A Pelican Book), p 472

102 " has not been chiefly ideological, it has been stylistic concerned with new ways of expiessing them technical competence technical brilliance " –American Poetry in the twentieth century, p 24 (Issued by American Embassv)

103 काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ 4-7

104 आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी नया साहित्य नये प्रश्न, पृ 59, तथा एस एन. दासगुप्ता फडामेंटल्स ऑफ इंडियन आर्ट, पृ 11

105 डॉ नगेन्द्र आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ 9

106 "The secret of poetic genius, its full truth, consists in atonce being a poet and a critic, Kavi and Sahridaya, in the synthesis of the creative art and critical art Herein lies the great secret" –Kuppuswami Shastri Highways and Byways of Literary Criticism, p 14

107 With the increase of population the problem presented by the gulf between what is preferred by the majority and what is accepted as excellent by the most qualified opinion has become infinitely more serious and appears likely to become threatening in the near future For many reasons standrds are much more in need of defence than they used to be It is perhaps premature to envisage a collapse of values –I A Richards Principles of Literary Criticism, p 36

108 साप्ताहिक हिन्दुस्तान, वर्ष 14, अक 49

109 जयशकर प्रसाद, पृ 20

110 वही, पृ 35

111 'प्रसाद और निराला' नामक लेख से ।
112 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' (ले—श्री रामनाथ 'सुमन'), पृ 356 से ।
113 हिंदी का सामयिक साहित्य, पृ 175, 178, 179
114 'प्रसाद जी की कविता' नामक लेख (डॉ गुलाबराय द्वारा सपादित 'प्रसाद जी की कला' में सकलित) का उपसहार ।
115 हिंदी-साहित्य उसका उद्भव और विकास, पृ 471, 474 तथा 'प्रसाद' का प्रसाद-अक ।
116 हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ 836
117 कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ 359
118 वही, पृ 359
119 वही, पृ 358
120 'सारस्वत', पृ 225
121 श्री महावीर अधिकारी द्वारा सपादित 'प्रसाद जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व', पृ 227 से
122 जयशकर प्रसाद चिन्तन व कला, पृ 21
123 प्रसाद का काव्य, पृ 497, तथा पृ 573
124 'प्रसाद और निराला' नामक लेख
125 जयशकर प्रसाद, पृ 86
126 वही, पृ 86
127 साहित्यावलोकन, पृ 73
128 कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ 357
129 आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का 'प्रसाद और निराला नामक लेख
130 प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ 284
131 जयशकर प्रसाद, पृ 177
132 वही, पृ 173
133 वही, पृ 177
134 वही, पृ 27
135 'प्रसाद' का प्रसाद-अक पृ 35
136 आधुनिक हिंदी नाटक
137 प्रसाद की नाट्य कला, पृ 44
138 'प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक' की 'प्रस्तावना'
139 जयशकर प्रसाद चिन्तन और कला, पृ 164
140 प्रसाद के नाटक, पृ 3
141 हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ 153
142 'हिंदी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास', पृ 228, 229, 230
143 'जयशकर प्रसाद जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व (म) मे 'प्रसाद जी का कृतित्व' नामक लेख
144 प्रसाद के उपन्यास और कहानिया, पृ 103, 242, 243
145 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' का 'प्राक्कथन', पृ 1, 2 3
146 जयशकर प्रसाद, पृ 16
147 हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ 819, 820, 826, 834, 835
148 'कामायनी' नामक लेख, 'प्रसाद' का प्रसाद विशेषाक, पृ 35, 36
149 'प्रसाद और निराला' नामक लेख, तथा 'जयशकर प्रसाद'
150 'गद्यपथ' में 'कामायनी' पर लेख
151 कामायनी के अध्ययन की समस्याए, विशेषत प्रथम प्रकरण
152 पत, प्रसाद और मैथिलीशरण, प्रकरण 2, विशेषत पृ 71 से 84
153 वाड्मय विमर्श, पृ 345-46
154 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' का 'उपसहार'

155 दे—आचार्य वाजपेयी-कृत 'जयशकर प्रसाद', पृ 174
156 हिदी नाट्य साहित्य, पृ 167-68 183, 186
157 परिव्राजक की प्रजा
158 प्रसाद जी के दो नाटक
159 'कामायनी में चरित्र-चित्रण' नामक लेख
160 'प्रसाद जी का कृतित्व' नामक लेख
161 प्रसाद के नाटकीय पात्र, भूमिका, पृ 5, 13
162 'प्रसाद जी की भाषा-शैली' नामक लेख
163 'प्रसाद की नाटक सबधी धारणाए' नामक लेख
164 जयशकर प्रसाद (स इन्द्रनाथ मदान) में 'प्रसाद-साहित्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि' नामक लेख, पृ 379-82
165 प्रसाद की नाट्यकला
166 प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ 101, 102, 103, 145, 163, 209-211
167 कामायनी एक पुनर्विचार, पृ 12, अधिकाश प्रकरणो के अत, तथा 'अतत' (उपसहार)
168 प्रसाद के नाटक, पृ 39, 53, 56, 92-94, 96-166 177-79, 222 223, 230
169 प्रेमचन्द और गोर्की (सपादिका शचीरानी गुर्टू), पृ 118

परिशिष्ट

परिशिष्ट 2

प्रसाद-साहित्य में प्रयुक्त अंग्रेजी-शब्दावली

[शब्दो के आगे कोष्ठको मे अकित सख्याए रचनाओ के पृष्ठो का सकेत करती है]

छाया

बोतल, वार्निश (5), स्टेशन (बहुधा प्रयुक्त), सिग्नेलर, इजिन (23), सेकड क्लास, हटर, हटिग, कोट, शेक हैण्ड, इन्स्पेक्शन, गुड इवनिंग, आफिस, लाइन-क्लियर (24), लेडी, योरोपियन (43), सिगार, 'ओ माई गाड', सो (45), राइफल (46), कैम्प (51), स्टाम्प (127), बिल (128), सीलोन (110), होटल (111), बैड (114), पोर्ट (115)।

प्रतिध्वनि

पिन्सिन (14), कोच (16), हटिग, कोट, पाकेट (24), पालिश (31), लेम्प (33), बगला (43), पेन्शन (58)।

आकाशदीप

एक्सरेज, मील (45), होटल, बक्स (48), बाल, कार्निस, स्विच (50), पिस्तौल (51), रसीद (68), टिकट, बेयरिग (81), प्रेस, प्रूफ रीडर (82), क्लारनेट (92), फीट (94), इजीनियर (108), सिविलियन, कैम्प (110), पार्सल (113), स्लीपर (114), स्कूल (144), कालेज (145)।

आंधी

क्यूरियो मर्चेन्ट, डाक (6), बेग (9, 10), मास्टर (11), हार्मोनियम (26), टार्च (35), ओवरकोट (39), मोटर (73), स्पीड (75), जूस (84), सिल्वर (94), बण्डल (98), साइकिल, ब्रेक,लेम्प (100), स्टीमर,एलिफैन्टा (102), गिलास (103), पुलिस (105), कुली (109)।

इन्द्रजाल

कार्निवल (25), बोटानिकल (27), जज, क्लेक्टर (45), ट्रेन (59), ड्राइवर, लारी, पेशनर, हार्न, मडगार्ड (62-63), सीट (64), डाक बगलिया (69) बटन (81), रेजिडेन्ट (95), लैस (96), कम्पनी (101), लेफ्टिनेण्ट (102), होटल (107), सूप (124)।

ककाल

मैच(22), पार्क(27), चिट(30), एक्सप्रेस(33), पोस्टकार्ड(35), ट्रेन(54), अस्पताल (59), सिनेमा, होस्टल (65), तौलिये, फुटबाल (67), बेन्च (72), डिग्री, प्रोफेसर (73), कोर्स (82), डाक्टर (89), टेम्परेचर (90), फेसक्रीम, टूथ पाउडर, ब्रश, बेग, हैण्डबेग, ट्रक (92), चर्च, मिस्टर, टेबुल (120), फुट (125), माडल (131), स्टीमर (136), सब-इन्सपैक्टर (149), क्लब, मजिस्ट्रेट (189), रोब (200), बोर्ड, स्टूल, क्लास (221), डार्लिंग (249), रिपोर्ट (260), जूरियो (264), चालान (295), टीन (296)।

तितली

विन्चेस्टर-रिपोर्टर (11), मेस (18), बैरिस्टरी, डिप्लोमा (21), फाइन (22), गाउन (25), मिस(27), लालटेन(28), रेस (30), सोफा(32), नर्स (35), कलेक्टर, थियासोफिकल (41), नम्बर (59), स्टेशन, गार्ड, लाइन (60), बैक (69), होम्योपैथी (73), मिशनरी, सोसाइटी, थेटर (89), साहब (107), रिफार्मेटरी, प्रेक्टिस (109), डायरी (110), को-आपरेटिव बैंक (116), रेलवे लाइन (121), अफसर (123), बारिस्टरी (150), रजिस्ट्री (153), नोटबुक (157), जेल (180), हाफ पैन्ट, बूट (182), इन्स्पेक्टर (183), चिमनी (194), वारन्ट, फीस (211), बाजार (216), प्लेटफार्म, स्टेशन मास्टर (219), नोट (230), लोकोआफिस (225), रिक्शा (234), अपील (243), सिविल मैरिज (251), फैन (274)।

परिशिष्ट 1

प्रसाद के ग्रंथों की कालक्रमिक सूची

नीचे प्रसाद की रचनाओं के उन सस्करणों का, उनकी प्रकाशन-तिथियो के साथ, निर्देश किया गया है, जिनका प्रस्तुत प्रबध के निर्माण में उपयोग हुआ है। रचनाए ऐतिहासिक अनुक्रम में रखी गयी हैं और उनके प्रथम प्रकाशन की तिथिया भी दे दी गयी हैं—

क्रम सख्या	रचना	प्रथम प्रकाशन की तिथि	हमारे द्वारा प्रयुक्त सस्करण	
			सस्करण सख्या	प्रकाशन तिथि
1	करुणालय	1912	पचम	स 2007
2	छाया	1912	चतुर्थ	स 2010
3	कानन-कुसुम	1912	पचम	स 2007
4	प्रेम-पथिक	1913	द्वितीय	
5	महाराणा का महत्त्व	1914	तृतीय	स 2005
6	राज्यश्री	1915	तृतीय	स 1988
7	चित्राधार	1918	द्वितीय	स 1985
8	झरना	1918	तृतीय	स 1991
9	विशाख	1921	षष्ठ	स 2012
10	अजातशत्रु	1922	पद्रहवा	स 2012
11	प्रतिध्वनि	1922	चतुर्थ	स 2007
12	आसू	1926	अष्टम	स 2006
13	जनमेजय का नागयज्ञ	1926	प्रथम	स 1983
14	कामना	1927	द्वितीय	स 1992
15	स्कन्दगुप्त	1928	ग्यारहवा	स 2011
16	आकाशद्वीप	1929	पचम	स 2011
17	ककाल	1929	सप्तम	स 2009
18	एक घूट	1929 (1930?)	पचम	स 2011

19	चन्द्रगुप्त मौर्य	1931	नवम	स 2011
20	आधी	1931	चतुर्थ	स 2007
21	धुवस्वामिनी	1934	प्रथम	स 1990
22	तितली	1934	अष्टम	स 2015
23	लहर	1935	चतुर्थ	स 2009
24	इन्द्रजाल	1936	तृतीय	स 2007
25	कामायनी	1936	प्रथम	स 1993
26	काव्य और कला तथा अन्य निबध	1939	प्रथम	स 1996

परिशिष्ट 2

प्रसाद-साहित्य में प्रयुक्त अंग्रेजी-शब्दावली

[शब्दो के आगे कोष्ठको मे अकित सख्याए रचनाओ के पृष्ठो का सकेत करती है]

छाया

बोतल, वार्निश (5), स्टेशन (बहुधा प्रयुक्त), सिग्नेलर, इजिन (23), सेकड क्लास, हटर, हटिग, कोट, शेक हैण्ड, इन्स्पेक्शन, गुड इवनिंग, आफिस, लाइन-क्लियर (24), लेडी, योरोपियन (43), सिगार, 'ओ माई गाड', सो (45), राइफल (46), कैम्प (51), स्टाम्प (127), बिल (128), सीलोन (110), होटल (111), बैड (114), पोर्ट (115) ।

प्रतिध्वनि

पिन्सिन (14), कोच (16), हटिग, कोट, पाकेट (24), पालिश (31), लेम्प (33), बगला (43), पेन्शन (58) ।

आकाशदीप

एक्सरेज, मील (45), होटल, बक्स (48), बाल, कार्निस, स्विच (50), पिस्तौल (51), रसीद (68), टिकट, बेयरिग (81), प्रेस, प्रूफ रीडर (82), क्लारनेट (92), फीट (94), इजीनियर (108), सिविलियन, कैम्प (110), पार्सल (113), स्लीपर (114), स्कूल (144), कालेज (145) ।

आंधी

क्यूरियो मर्चेन्ट, डाक (6), बेग (9, 10), मास्टर (11), हार्मोनियम (26), टार्च (35), ओवरकोट (39), मोटर (73), स्पीड (75), जूस (84), सिल्वर (94), बण्डल (98), साइकिल, ब्रेक,लेम्प (100), स्टीमर,एलिफैन्टा (102), गिलास (103), पुलिस (105), कुली (109) ।

इन्द्रजाल

कार्निवल (25), बोटानिकल (27), जज, क्लेक्टर (45), ट्रेन (59), ड्राइवर, लारी, पेशनर, हार्न, मडगार्ड (62-63), सीट (64), डाक बगालया (69) बटन (81), रेजिडेन्ट (95), लैस (96), कम्पनी (101), लेफ्टिनेण्ट (102), होटल (107), सूप (124) ।

कंकाल

मैच(22), पार्क(27), चिट(30), एक्सप्रेस(33), पोस्टकार्ड(35), ट्रेन(54), अस्पताल (59), सिनेमा, होस्टल (65), तौलिये, फुटबाल (67), बेन्च (72), डिग्री, प्रोफेसर (73), कोर्स (82), डाक्टर (89), टेम्परेचर (90), फेसक्रीम, टूथ पाउडर, ब्रश, बेग, हैण्डबेग, ट्रंक (92), चर्च, मिस्टर, टेबुल (120), फुट (125), माडल (131), स्टीमर (136), सब-इन्सपैक्टर (149), क्लब, मजिस्ट्रेट (189), रोब (200), बोर्ड, स्टूल, क्लास (221), डार्लिंग (249), रिपोर्ट (260), जूरियो (264), चालान (295), टीन (296)।

तितली

विन्चेस्टर-रिपोर्टर (11), मेस (18), बैरिस्टरी, डिप्लोमा (21), फाइन (22), गाउन (25), मिस(27), लालटेन(28), रेस (30), सोफा(32), नर्स (35), कलेक्टर, थियासोफिकल (41), नम्बर (59), स्टेशन, गार्ड, लाइन (60), बैंक (69), होम्योपैथी (73), मिशनरी, सोसाइटी, थेटर (89), साहब (107), रिफार्मेटरी, प्रेक्टिस (109), डायरी (110), को-आपरेटिव बैंक (116), रेलवे लाइन (121), अफसर (123), बारिस्टरी (150), रजिस्ट्री (153), नोटबुक (157), जेल (180), हाफ पैन्ट, बूट (182), इन्स्पेक्टर (183), चिमनी (194), वारन्ट, फीस (211), बाजार (216), प्लेटफार्म, स्टेशन मास्टर (219), नोट (230), लोकोआफिस (225), रिक्शा (234), अपील (243), सिविल मैरिज (251), फैन (274)।

परिशिष्ट 3

प्रसाद-साहित्य में प्रयुक्त उर्दू-शब्दावली

छाया

आफताब, बादी (6), बहस, जरूरत, हर्ज, साज (7), तहखाने (15), मालूम (18), औरत (23), इलाके (24), कागज (33), शर्त्त (37), बदोबस्त, तकलीफ (46), खानसामा (47), फीरोजी (48), बादशाह (83), साकी, शीराजी, हुजूर, बेगम, अदब, मेहराब (84), नौबतखाना, तख्त, मनसब, इनाम, हर्बे, तनख्वाह (85), गुलाम, खता, माफ, सजा, अर्ज, यादगार, मनसब, कुसूर, खिदमत, रुखसत, अता, बलद (87), सर्द, बुर्ज, मरतबे, मजूर, वजारत (88), फकत, कदमबोसी, हासिल, हुक्म, काबिल, नफरत, एहसानफरोश, उम्र, आका (89), बेइज्जती, फजूल, गोश्त (90), जिदगी (91), तख्त-ताऊस (95), नकाब, जिरहबख्तर, तबियत, नासाज, हाजिर, उफ (96), मुहासिबो, नामाकूल, परवाने. मुताबिक, फिसाद (97) ।

प्रतिध्वनि

फकीर (10), मुर्दा (19), बेपरवाह (23), शिकार (27), बाजार (30), दरवाजा (34), कैफियत (35), चीजें, खराब (35), महल्ले (36), दीवार (44), गर्द (44), मशहरी (45), बहाना (49), बुतपरस्तो (53), इस्लाम (53), पैगम्बर, हुक्म (53), फिक्र, बुत, परासिश, मीनार (54), पकाकर (56), गुलाम (57), मिजाज, हरामजादी (59), सनमकदा (61) ।

आकाशदीप

लिहाफ, होश, बर्क (53), फीरोज (54), खूनी बर्फ (58), छावनी (69), पीकदान (70), आबाद (103), मुकदमे (118), बदमाश (110) ।

आंधी

तबियत (9), दिल्लगी, आफत (23), सफरीबाजा (26), सलाम, ताबीज (27), खुमारी (36), कब्र (44), गुलाम (46), दिरम (47), दीनार (49), बरफ (50), जल्दबाज (105) ।

इन्द्रजाल

खून, यार (7), गायब (10), कसम (36), बुर्जों के तहखानों, कौवालो (40), लिफाफा (52),

मेज (53), मरम्मत (95), काफिरो (95), चोबदार (95), सलाम (95), हराम (103), बुते-काफिर (21), शायर (21), तथा खराद, सीना, चहलकदमी, खूब, बाजी, बदनाम, रोज आदि।

कंकाल

सलाम, मुसलमानी (24), हुक्म, तालीम (25), कसम (27), बेगम (30), दालान (46), दरार (62), लगाम (64), बहार (66), पुश्त-दर-पुश्त (69), मालूम (70), बेबसी (89), रूमाल (90), रंगसाजी (93), रुखाई (94), खाली (95), दिल (113), परदे (113), बदनाम (113), खुमारी, नशे (118), फूलदान (128), कलम (130), दारोगा (140), नशा (141), मामला (142), मेहरबानी, जान, जोखम, सौदा (142), तगादे, पुरजे (164), सिफारिश (187), शाहजादे, मुसाहिब (199), सुरमई, आदाब (202), मजार, पसे मर्ग, दामनेबाद (203), जमीन (204), निकाह (208), पेशकार (265), तकिया (272), ओफ (291), लबालब (95)।

तितली

छावनी (15), शराब, खुमारी (18), बदमाश (19), महल, फबती (21), खबर (23), इनाम (24), शहर (30), दर्द, दुश्मनी, बेहद (31), आदाबअर्ज (33), मालिक, मर्जी (36), चश्मे, लौंडी (37), बदोबस्त (41), साफ हवा (43), बीबी (44), खानसामा (50), लावारिस, कानून (56), प्यादा, सलाम (58), शिकार (68), अदालत (69), तडप (77), दरबानी (89), बेदखल (96), बदमाश, सफाई (108), इजलास, सरकार (109), किताब गर्द, जिल्द (110), अफसर (123), हरामजादी (133), आवारा (133), मोटरखाना (134), चिक (144), नवाब (172), मुकदमा (175), हिस्सेदारी, दाखिल, खारिज, मुखतारनामा (179), पैरवी (184), मौज (186), दस्तावेज, जमानत (188), वकील, कर्ज (196), पाजी (230), शर्तों, माफी (239), नजराना (245)।

इरावती

पसद (100)।

परिशिष्ट 4

प्रसाद-साहित्य में प्रयुक्त विशिष्ट मुहावरे व कहावतें

छाया

एक म्यान मे दो तलवारो का न रह सकना (13), बदर और उसके गले मे हार (36), लज्जा से गड जाना (44), मिट्टी में मिलना (86), सीधी उगलियों से घी न निकलना (90), चाल चलना (118), हृदय पर पत्थर रखना (125) ।

प्रतिध्वनि

देवता कूच कर जाना (14), गले में काटे पडना (15), सूखे काठ सा होना (15), गुदडी का लाल (16), कानाफूसी करना (46) ।

आकाशदीप

खाल उधेडना (50), मुह न दिखाना (51), कान ऊचा करना (65), गड जाना (116), हाथ पकडना (123) ।

आंधी

रग उड जाना (10), दात भागना (37), पेट चलना (41), पिड छूटना (42), जमा का गडी होना (42), पैंतरा काटकर चलना (75), आखो से शपथ दिलाना (105) ।

इन्द्रजाल

भूरा भेडिया (2), आठ बसन्त बीत गए (145) ।

कंकाल

मुह भारी करना (14), हाथ-पैर निकालना (26), डीग हाकना (31), भाड में जाना (34), चुटकी काट लेना (47), भारी मुह करना (48), फूलना (50), पैरो पर नाक रगडना, टट्टी की ओट में शिकार खेलना (57), फूक-फूक कर पैर रखना (82), भभक उठना (239), दातों तले होंठ दबाना (244), पैरों का आगे न पडना, पैर पृथ्वी में गड जाना (250), गला भर

आना (251), छक्के छूटना (267), कमर कसना (268), डेरा डाल देना (288), लम्बी तानना (294)।

तितली

दूध का धोया, जू न रेंगना, दम तोडना (7), छुट्टी पाना (16), स्वप्न देखना (17), न गुड तीता न गुड मीठा (23), लट्टू होना (26), गले पडना (36), जवाब दे बैठना (41), हृदय का बोझ टल जाना (45), सात समुद्र तेरह नदी पार करना (46), भरोसे पर कूदना, सिट्टी भूल जाना (49), आखे तरेरना, छठी का दूध याद आना, आखें चढना (54), बातें सुनना (55), पृथ्वी का घूमने लगना, जल उठना (59), टाग अडाना, मन ही मन हसना (76), गले में बछिया बाधना (83), सोलहो आने सच होना (97), भाड झोंकना, आख होना (103), नस ठीक करना, पाठ पढाना, खून पीना (105), उधार खाए बैठना, बे-भाव की पडना, नोन-मिर्च लगाकर कहना (107), आखे हसना (117), रग चढाना (118), आखें जलना, ठिकाना न होना (121), हवा फैलाना (123), छाती खोल कर चलना, (126), टक्कर लेना, अपने पैरों खडे होना, आगा-पीछा न करना (140), उल्लू बनाना (142), कट जाना (144), पाला पडना (151), आपे में आना (153), चिकने पथ पर फिसलना (157), नाक चढाना, मुह फेर लेना (158), सिर खाना, जल उठना (162), दूसरों के घर की कुडिया खटखटाना, धन्नासेठी बघारना, हाथी से प्राण बचाने जाकर बाघ के मुह में चला जाना (166), थप्पड लगना (167), फूटी आखें न देखना (168), रग-भग होना (170), समझ से कोसों दूर भागना, कोडा-सा लगना (171), परदा डालना, पैर की धूल होना (172), चार पैसे हो जाना, माथे पर कलक का टीका लगना, खून खौलना (173), नाच नचाना, बातों को उडाना (175), टुकडा तुडवाना (179), मस्ती उतार देना, दात झड जाना (180), लगे हाथ समझाना (181), अगूठा दिखाना (183), चट कर जाना, बात बनाना, पानी के दाम जाना (185), जहर का घूट पीना, कान पर हाथ रखना (186), बरस पडना (203), अतिम घडिया गिनना (205), तीन-तेरह होना (219), मुह पर कालिख लगना (225), हाथ-पैर चलाना (227), पाचों उगलिया घी में होना (228), काठ मार जाना (237), साचे में ढालना (241), अतिम सासें गिनना (249), बड़े घर की हवा खाना, गुलछर्रे उडाना (263), दाल न गलना (267), साकल तुडाना (268)।

इरावती

रग मे भग होना (12), आख न खुलना (30), रग छाना (31), फैल जाना (70), काटा गडना (72), लबे होना (76), अपने में से बाहर आना (100), नाक सिकोडना (103)।

परिशिष्ट 5

ग्रंथानुक्रमणिका तथा अन्य सहायक सामग्री

1 जयशकर प्रसाद की रचनाए

कविता	कामायनी, आसू, लहर, झरना, महाराणा का महत्त्व, प्रेम-पथिक, करुणालय, कानन-कुसुम।
नाटक	स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, विशाख, कामना, एक घूट।
उपन्यास	ककाल, तितली, इरावती।
कहानी	आकाशदीप, इन्द्रजाल, आधी, प्रतिध्वनि, छाया।
समीक्षा	काव्य और कला तथा अन्य निबध।
अन्य	चित्राधार।

2 प्रसाद-सबधी समीक्षात्मक सामग्री

(क) शोध (पूर्ण तथा आनुषगिक)

कविता

द्वारिकाप्रसाद सक्सेना —कामायनी मे काव्य, सस्कृति और दर्शन, सन् 1958
प्रेमशकर —प्रसाद का काव्य, स 2012
भवरलाल जोशी —कामायनी में शैव दर्शन (अप्रकाशित)
रामलाल सिंह —कामायनी अनुशीलन, तृ स, स ?010

नाटक

जगदीशचन्द्र जोशी —प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, स 2016
जगन्नाथप्रसाद शर्मा —प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पचम सस्करण, स 2017

उपन्यास-कहानी

सुशीला देवी-विमला देवी —प्रसाद के उपन्यास और कहानिया, प्र स

विविध

किशोरीलाल गुप्त —प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, स 2009
किरण कुमारी गुप्ता —हिदी कविता मे प्रकृति-चित्रण, प्र स
केसरी नारायण शुक्ल —आधुनिक काव्यधारा, चतुर्थ सस्करण, सन् 1961
दशरथ ओझा —हिदी नाटक उद्भव और विकास
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' —हिदी गद्य काव्य, सन् 1956
प्रेमनारायण शुक्ल —हिदी साहित्य के विविध वाद, प्र स
ब्रह्मदत्त शर्मा —हिदी कहानियो का विवेचनात्मक अध्ययन
लक्ष्मीनारायण लाल —हिदी कहानियो की शिल्प-विधि का विकास
शभूनाथ सिह —हिदी महाकाव्य स्वरूप और विकास, सन् 1956

(ख) प्रसाद पर समीक्षात्मक सामग्री

पूर्ण ग्रथ

कन्हैयालाल सहल—
विजयेन्द्र स्नातक —कामायनी-दर्शन
कृष्णानन्द गुप्त —प्रसाद के दो नाटक
केदारनाथ शुक्ल —प्रसाद की कहानिया
गजानन माधव 'मुक्तिबोध' —कामायनी एक पुनर्विचार, सन् 1961
जगदीशनारायण दीक्षित —प्रसाद के नाटकीय पात्र, स 2004
नगेन्द्र —कामायनी के अध्ययन की समस्याए, सन् 1962
नन्ददुलारे वाजपेयी —जयशकर प्रसाद, सशोधित सस्करण, स 2015
परमेश्वरीलाल गुप्त —प्रसाद के नाटक, सन् 1956
फतहसिह —कामायनी सौदर्य, सन् 1948
भोलानाथ —कवि प्रसाद, सन् 1958
राजेश्वरप्रसाद अर्गल —प्रसाद की नाट्य कला, प्र स
रामनाथ 'सुमन' —कवि प्रसाद की काव्य-साधना, सन् 1938
रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' —प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक, प्र स
रामप्रकाश अग्रवाल —स्कन्दगुप्त समीक्षा, प्र स
रामरतन भटनागर —कवि प्रसाद, कामायनी, द्वि स 1950, प्रसाद की विचारधारा, सन् 1951, प्रसाद का जीवन और साहित्य
विजयेन्द्र स्नातक-
रामेश्वरलाल खण्डेलवाल —महाकवि प्रसाद, द्वि स, सन् 1958
विनयमोहन शर्मा —कवि प्रसाद आसू तथा अन्य कृतिया
विनोदशकर व्यास —प्रसाद और उनका साहित्य
सुधाकर पाण्डेय —प्रसाद की कविताए, सन् 1958
हरदेव बाहरी —प्रसाद-काव्य-विवेचन, सन् 1958
हरस्वरूप माथुर —कथाकार जयशकर प्रसाद, सन् 1955

आनुषगिक

इलाचन्द्र जोशी —साहित्य-सर्जना
कन्हैयालाल सहल —आलोचना के पथ पर, विवेचन, सन् 1953
जगन्नाथप्रसाद शर्मा —कहानी का रचना-विधान, सन् 1956, हिदी की गद्य शैली का विकास
नगेन्द्र —विचार और विश्लेषण, सन् 1955, आधुनिक हिदी नाटक, (पचम सस्करण), स 2012
नन्ददुलारे वाजपेयी —आधुनिक काव्य रचना और विचार
बच्चनसिह —हिदी नाटक, सन् 1958
ब्रजरत्नदास —हिदी नाट्य साहित्य, तृ स
मुशीराम शर्मा —सारस्वत, स 2017
रामधारीसिह 'दिनकर' —पत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, सन् 1958
रामरजपाल द्विवेदी —प्रसाद और पत का तुलनात्मक अध्ययन, स 2014
विनयमोहन शर्मा —साहित्यावलोकन, दृष्टिकोण, सन् 1950
विश्वनाथप्रसाद मिश्र —हिदी का सामयिक साहित्य, स 2008
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय —आधुनिक हिदी कविता सिद्धात और समीक्षा
श्रीकृष्णदास —हमारी नाट्य परपरा
सुमित्रानन्दन पत —गद्य पथ, 'पल्लव' की भूमिका

3 समीक्षा सैद्धातिक और व्यावहारिक

सस्कृत ग्रथ

अभिनवगुप्त —अभिनव भारती
आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक
कुन्तक —वक्रोक्ति जीवित
जगन्नाथ —रसगगाधर
दण्डी —काव्यादर्श
धनजय —दशरूपक
भरत —नाट्यशास्त्र
भामह —काव्यालकार
मम्मट —काव्यप्रकाश
राजशेखर —काव्यमीमासा
वामन —काव्यालकार सूत्र
विश्वनाथ —साहित्यदर्पण
क्षेमेन्द्र —औचित्यविचार चर्चा

हिन्दी ग्रथ .

अवध उपाध्याय —नवीन पिंगल, चतुर्थ सस्करण, स. 2005
कन्हैयालाल पोद्दार —काव्यकल्पद्रुम (रसमजरी), पचम सस्करण, स 2004

केशवप्रसाद मिश्र —'मेघदूत' (हिदी अनुवाद) की 'प्रस्तावना'

गुलाबराय —सिद्धात और अध्ययन

तारकनाथ बाली —रस-सिद्धात की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या, सन् 1964

नगेन्द्र —भारतीय साहित्यशास्त्र की भूमिका, सन् 1955, 'हिदी वक्रोक्ति जीवित', स 2012, 'हिदी ध्वन्यालोक', सन् 1952, 'काव्यालकार सूत्र', 'काव्य में उदात्त तत्त्व' 1958 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' स 2014, आदि ग्रथो की भूमिकाए, तथा विचार और अनुभूति, सिद्धान्त और अध्ययन, सन् 1951, भारतीय काव्यशास्त्र की परपरा, स 2013

नन्ददुलारे वाजपेयी —हिदी साहित्य बीसवी शताब्दी, सन् 1962, आधुनिक काव्य रचना और और विचार, सन् 1962, आधुनिक साहित्य, द्वि स, स 2013, नया साहित्य नये प्रश्न, सन् 1959

परमेश्वरानन्द शास्त्री —अलकार कौमुदी

बलदेव उपाध्याय —भारतीय साहित्यशास्त्र, खड 1 (द्वि स), स 2007, खड 2, स 2005

मुशीराम शर्मा 'सोम' —'प्रथमजा', सन् 1953

रामचन्द्र शुक्ल —रसमीमासा, तृ स, 2017, चिन्तामणि, भा 1, स 2000, हिदी साहित्य का इतिहास, स 1997, काव्य मे रहस्यवाद, स 1986, जायसी ग्रथावली की भूमिका, सूरदास, स. 2000

रामदहिन मिश्र —काव्य-दर्पण, काव्यालोक

रामनरेश वर्मा —वक्रोक्ति और अभिव्यजना, स 2008

रामबहोरी शुक्ल —काव्यप्रदीप, अष्टम सस्करण, सन् 1952

रामरतन भटनागर —मूल्य और मूल्याकन, सन् 1952

रामविलास शर्मा —'निराला', तृ स, सन् 1962

लक्ष्मीनारायण 'सुधाशु' —काव्य में अभिव्यजनावाद

विनयमोहन शर्मा —साहित्यावलोकन, स. 2009, साहित्य, शोध और समीक्षा, सन् 1961

विनोदशकर व्यास —उपन्यास कला, सन् 1956

विश्वनाथप्रसाद मिश्र —वाड्मय विमर्श, स 2014

शचीरानी गुर्टू —प्रेमचन्द और गोर्की (सपादित)

श्यामसुन्दरदास —साहित्यालोचन, प स, स 1995

सदगुरुशरण अवस्थी —बुद्धितरग

सत्यदेव चौधरी —काव्यशास्त्रीय निबन्ध, सन् 1964

हजारीप्रसाद द्विवेदी —हिदी साहित्य उसका उद्भव और विकास, सन् 1952, सूर साहित्य, सन् 1956

अंग्रेजी ग्रथ

Aber Crombie, L —Principles of Literary Criticism, 1959
Abrams, M H —The Mirror and the Lamp
Albert D Van Nostrand —Literary Criticism in America, 1957
Arnold, Mathew —Essays in Criticism, Second Series, 1935
Boris Ford —The Modern Age, 1961 (Edited)
Bradley, A C —Oxford Lectures on Poetry, 1959
Cazamian, L —A History of French Literature, VI ed , 1960
Daiches, David —Critical Approaches to Literature, 1961
Eliot, TS —The use of Poetry and the use of Criticism MCMLIX
Entwistle, A R —The Study of Poetry, 1932
Forster, E M —The Aspects of a Novel, 1927
Hudson, WH —An Introduction to the Study of Literature, 1954
Kuppuswami Shastri —Highways and Byways of Literary Criticism
Levis, C Dey —A Hope for Poetry
Pope, Alexander —An Essay on Criticism, 1925
Read, Herbert —Collected Essays in Literary Criticism, 1950
Richards, I A —Principles of Literary Criticism, 1961
Saintsbury, George —Loci Critici, 1903
Scott, James, R A —The Making of Literature, 1940
Shastri, A C —Studies in Sanskrit Aesthetics, 1952
Tagore, Rabindranath —Sadhana, 1947 , Personality, 1948
Welleck and Warren —Theory of Literature, 1955
Worsfold, WB —Principles of Criticism, 1923, Judgment in Literature, 1937
Young Philip —American Poetry in the Twentieth Century

4 धर्म, दर्शन व कला

ऋग्वेद —सातवलेकर, सन् 1957
उपनिषद् —ऐतरेय, कठ, केन, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, माण्डूक्य, मुण्डक, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर
अन्नभट्ट —तर्क-सग्रह
अभिनवगुप्त —परमार्थसार (योगराज की टीका सहित), स 1973, तत्रसार, स. 1918

ईश्वरकृष्ण —साख्यकारिका (हरिदास सस्कृत ग्रथमाला-120) सन् 1960

उदयनाचार्य —न्यायकुसुमाजलि (आचार्य विश्वेश्वर की हिदी व्याख्या), सन् 1962

केशव मिश्र —तर्कभाषा

जीवगोस्वामी —उज्ज्वलनीलमणि , सन् 1932

दीवानचद —पश्चिमी दर्शन

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री —विश्वनाथ तर्कपचानन की 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली की टीका', सन् 1953

नागेश —स्फोटवाद

पतजलि —योगसूत्र

बलदेव उपाध्याय —भारतीय दर्शन, स 1948

भर्तृहरि —वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्)

भीखनलाल आत्रेय —प्रकृतिवाद-पर्यालोचन (अभिभाषण), स 1998

राहुल साकृत्यायन —दर्शन-दिग्दर्शन, स 1944

रूप गोस्वामी —श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, स 1988

वादरायण —ब्रह्मसूत्र

विश्वनाथ तर्कपचानन —न्यायसिद्धात मुक्तावली (डॉ धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री जी की व्याख्या)

विश्वनाथ शास्त्री —कणादगौतमीयम्, स 2010

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय —हिदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, स. 2012

शान्तिप्रकाश आत्रेय —भारतीय तर्कशास्त्र

सत्यकाम वर्मा —भाषा-तत्त्व और वाक्यपदीय, सन् 1964

स्वामीजी महाराज —क्षेमराज के 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' का हिदी अनुवाद

सोमानन्द —शिवदृष्टि (उत्पलदेव की वृत्ति सहित, सन् 1934)

सदानन्द —वेदान्त-सार

सम्पूर्णानन्द —चिद्विलास

सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त —सौदर्य तत्त्व (डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित का अनुवाद), स 2017

हरद्वारीलाल शर्मा —सौंदर्यशास्त्र, सन् 1953

हरवशसिह शास्त्री —सौंदर्यविज्ञान

Bhagwan Das —The Science of the Emotions, III ed, 1924

Bosanquet, Bernard —A History of Aesthetic, 1949

Chatterji and Datta —An Introduction to Indian Philosophy, 1950

Chatterji, J C —Kashmir Shaivism, 1962

Clive Bell —Art

Collingwood, R G —The Idea of Nature, 1957

Coomaraswamy, Anand K —Transformation of Nature in Art, 1956
Croce, Benedetto —Aesthetic, V ed , 1960
Dasgupta, S N —Fundamentals of Indian Art, 1954, 1960
Devenport Russel W —Dignity of Man
Deussen, Paul —The Philosophy of the Upanishads, 1908
Evelyn Underhill —Mysticism
Maurice Cornforth —Philosophy for Socialists
Munshi, K M —Our Greatest Need and other Addresses
Pandeya, K C —Indian Aesthetics, 1950 , Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study, II ed , 1963
Pandeya, R C —The Problem of Meaning in Indian Philosophy
Plato —Symposium (Penguin Classics), 1951
Radhakrishnana, S —(Philosophy Eastern and Western (Edited)
Sinha, J N —History of Indian Philosophy, Vol I, 1952 , Vol II, 1956 , A Manual of Psychology
Tolstoy, Count Leo —What is Art?, 1950
Toynbee, Arnold J —Greek Historical Thought, 1952
Will Durant —The Mansions of Philosophy, 1929 The Story of Philosophy, 1933

5 कोश-साहित्य, अभिनन्दन ग्रथ आदि

कालिदास ग्रथावली (स—सीताराम चतुर्वेदी), स 2007
सेठ गोविन्ददास अभिनदन ग्रथ, सन् 1956
सुधाकर पाण्डेय —प्रसाद काव्यकोश
हरदेव बाहरी —प्रसाद साहित्य कोश, स 2014
हिंदी साहित्य कोश —ज्ञानमण्डल, वाराणसी, स 2015
अमरकोश —सन् 1918
Dictionary of World Literature —Joseph T Shipley, 1963
Encyclopaedia Brittanica —XIV edition
Sanskrit-English Dictionary —V S Apte, 1963
The Readers Companion to World Literature (A mentor book, 1961)

6 शोध-तत्र

नगेन्द्र —अनुसधान और आलोचना, सन् 1961
सावित्री सिन्हा —अनुसधान का स्वरूप (सपादित), सन् 1954
विजयेन्द्र स्नातक/सावित्री सिन्हा —अनुसधान की प्रक्रिया, सन् 1960
हिन्दी-अनुशीलन का शोध विशेषाक।
साहित्य-सदेश का शोध विशेषाक।

7 सम्पादन-सकलन

इन्द्रनाथ मदान —जयशकर प्रसाद चिन्तन और कला, सन् 1956
गुलाबराय —प्रसाद जी की कला
नगेन्द्र —मेठ गोविन्ददास अभिनदन ग्रन्थ
निर्मल तलवार —प्रसाद, स 2020
महावीर अधिकारी —प्रसाद जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, सन् 1955

8 पत्र-पत्रिकाए

अनुशीलन (प्रयाग) —जुलाई-दिसम्बर, 1962
आलोचना —अक सख्या 8, 19, 25, 27, 28, 29, 30
क ख ग (प्रयाग) —सन् 1963-64 के अक
जनभारती (कलकत्ता) —प्रसाद अक (भाग 1-2)
त्रिपथगा (लखनऊ) —फरवरी, 1957
धर्मयुग —31 मई, 1964 तथा 7 जून 1964
प्रसाद (वाराणसी) —प्रसाद विशेषाक
नागरीप्रचारिणी पत्रिका (वाराणसी) —केशव-स्मृति अक, सवत् 2018 के 1 से 4 अक, स 2019 का अक 3
युगचेतना (लखनऊ) —विश्व सस्कृति अक
राष्ट्रवाणी (पूना) —सितम्बर, 1960 का अक
वातायन (बीकानेर)
समालोचक (आगरा) —सौन्दर्यशास्त्र विशेषाक
सरस्वती सवाद —प्रसाद विशेषाक
सागर विश्वविद्यालय पत्रिका —(वर्ष 3, अक 3 में डॉ राममूर्ति त्रिपाठी का 'प्रसाद और काम' नामक लेख
साहित्य सदेश —प्रसाद विशेषाक
हिन्दुस्तान (साप्ताहिक) (नई दिल्ली)

परिशिष्ट 6

आचार्य पं. नन्ददुलारे वाजपेयी और लेखक के बीच हुए पत्र-व्यवहार से उद्धृत अंश

प्रश्न 1 प्रकृति के माध्यम से व्यक्त अज्ञान के प्रति जिज्ञासा-भाव प्रकृति-विषयक कवि-चेतना की किस अवस्था का द्योतक है? क्या प्रकृति के प्रति कवि का पूर्ण तादात्म्य उस विकास-सरणि के दार्शनिक जिज्ञासात्मक उत्कर्ष का द्योतक नही है जो इद्रिय सौख्य या प्रेयानुभूति से आरभ होती है? प्रेयानुभूति >अदृश्य सत्ता का प्रकृति में प्रतीक-रूप में दर्शन> दार्शनिक जिज्ञासा—क्या यह विकास-क्रम प्रकृति-विषयक कवि-चेतना के विकास का निसर्ग-सिद्ध रूप है? सभवत वड्सवर्थ की विकास-सरणि यही रही है। आपके विचार मे, इस दृष्टि से रहस्यवादी दार्शनिक कवि प्रसाद की स्थिति कैसी मानी जानी चाहिए?

उत्तर 1. प्रकृति-विषयक प्रसाद की रचनाओं में सौदर्य के प्रति आकर्षण और उस सौदर्य के विषय की तात्त्विक जिज्ञासा तो मिलती है, परतु प्रकृति के प्रति रहस्यवादियो का सर्वात्मवादी दृष्टिकोण प्रसाद में विकमित नही हुआ है। इसीलिए कहा गया है कि प्रसाद मुख्यत मानव और मानवीय भावनाओं के कवि है। वड्सवर्थ का प्रकृति सबधी दृष्टिकोण कदाचित् अधिक गभीर और रहस्योन्मुख है। प्रसाद का रहस्यवाद मानव अनुभूतियो पर अधिक आश्रित है—प्रकृति पर कम।

प्रश्न 2 क्या प्रत्यभिज्ञा जीवन-दृष्टि ही प्रसाद-साहित्य की एकमात्र दार्शनिक पीठिका है? अन्य किन भारतीय जीवन-दृष्टियों व पाश्चात्य नवीन दर्शनों का दूर-पास का सबध दिखलाना प्रसाद की मूल जीवन-दृष्टि के उद्घाटन के लिए उचित होगा? समन्वय का 'शॉर्ट कट' पकडना सभवत उचित न समझा जाय, क्योकि "विचारों व विश्वासो की निर्बलता प्राय समस्त समझौतों के मूल में रहा करती है।"—'आधुनिक साहित्य', पृ 79

उत्तर 2. प्रसाद-साहित्य की दार्शनिक पीठिका निश्चय ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से निर्मित है, परतु साधन रूप में प्रसाद ने प्रेम, करुणा और शक्ति के तत्त्वों को भी सन्निविष्ट किया है। उनका मार्ग व्यष्टि से सीधे 'अहता' पर पहुचने का नही है—वरन् व्यष्टि से समष्टि (इदम्) को पार करते हुए 'अह' पर पहुचने का है। इस सरणि को ग्रहण करने के कारण प्रसाद-साहित्य में प्रेम, करुणा आदि के तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इन साधनों के द्वारा कर्मयोग का आदर्श निर्मित हुआ है, जिससे 'इद' की भूमिका आयी है और तब प्रत्यभिज्ञा द्वारा

'अह' तत्त्व का (या 'अह' का) परिचय मिला है। अतएव प्रसाद दर्शन मे 'इद' की भूमिका पर प्रेम एव करुणा द्वारा सभूत कर्मयोग की सस्थिति पायी जाती है। प्रसाद जी मे पश्चिमी दर्शन का कोई उल्लेखनीय स्वरूप या प्रभाव नही दिखायी देता। आचार्य शुक्ल ने प्रेम-मार्गी साधना को सेमेटिक धर्म का प्रभाव माना है—पर प्रसाद जी इसका निषेध करते हैं।

प्रश्न 3. क्या तुलना शोध-प्रक्रिया का अनिवार्य अग है ही ? ऐसा है तो प्रक्रिया-निर्वाह के लिए देश-काल के व्यापक फलक पर प्रसाद को समझने के लिए (अवश्य ही इस भार से मै दुर्बल पिचक जाऊगा, पर तत्र की माग है !) कालिदास तुलसीदास तथा रवीन्द्रनाथ और पश्चिम से दान्ते (प्रो साहनी की सम्मति मे प्रसाद से तुलनीय एकमात्र यूरोपीय कवि) से तुलना करना (अत्यत मोटी रेखाओ में) उपयुक्त होगा ? प्रबध के मुख्य कलेवर मे तो यह उत्तरदायित्व अत्यत दुर्वह होगा। इन प्रकाश-पुजों के प्रति कही प्रमाद न हो जाय। क्या परिशिष्टों के रूप मे यह कार्य ठीक रहेगा ?

उत्तर 3 तुलना शोध-प्रक्रिया का अनिवार्य अग नही है—सो भी भिन्न देशकाल की दार्शनिक या साहित्यिक भूमि की तुलना तो अयथास्थान भी हो जाती है। प्रसाद दर्शन और काव्य की भूमिका पर कालिदास और रवीन्द्र से अवश्य तुलनीय हो सकते है। आप चाहें तो इन दोनों से प्रसाद की साहित्यिक और वैचारिक तुलना कर सकते हैं। आधुनिक हिदी कवियो में निराला के दर्शन और काव्य से भी प्रसाद के दर्शन और काव्य की तुलना की जा सकती है।

प्रश्न 4 क्या प्रबध की भूमिका मे शोध-तत्र (प्रविधि की नही, प्रक्रिया की) की भी चर्चा आवश्यक है ?—विशेषत जबक आपने निर्धारित विश्वविद्यालयीय अनुबधो से आगे जाकर शोध-दृष्टि को पुष्ट-समृद्ध करने की दिशा में नवीन स्फूर्तिया प्रदान की है ('अनुशीलन', अक्टूबर-दिसम्बर, 1961)?

उत्तर 4 शोध-तत्र की चर्चा अनावश्यक है, परतु आपकी भूमिका में अपने प्रबध की रूपरेखा और पद्धति-निर्देश और उसका औचित्य दिखाना सगत होगा।

प्रश्न 5. प्रसाद के साहित्यिक कृतित्व के मूल्याकन के लिए अभीष्ट सभी विशिष्ट आधारो का समाहार मुझे आपके इस अत्यत व्यापक व सतोषजनक 'निकष' मे प्राप्त हुआ है—"किसी काव्य या साहित्यिक कृति का श्रेष्ठत्व किसी सवेदन या रस विशेष मे नही है, बल्कि उस सवेदन की मनोवैज्ञानिक प्राजलता, पुष्टता और गहराई मे है।"—'नया साहित्य नये प्रश्न', भूमिका (निकष), पृ 29। साथ ही एक ओर 'काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है' (प्रसाद और दूसरी ओर 'अध्यात्म शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कही कोई जरूरत नही है' (आचार्य शुक्ल, 'चिन्तामणि', भाग 1) – दो रसाचार्यों की साहित्य-मूल्य-विषयक इन धारणाओं में क्या कोई सगति बैठ सकती है ? और बैठ सकती है तो कैसे ?

उत्तर 5. प्रसाद-साहित्य के मूल्याकन मे सवेदनों की मनोवैज्ञानिक प्राजलता, प्रखरता और गहराई—तो मुख्य आधार हो सकते हैं, परतु कला-पक्ष पर भी कुछ कहने की आवश्यकता होगी। इन दोनों के योग से मूल्याकन अधिक सतुलित हो सकेगा। आपने प्रसाद और शुक्ल जी के दो वाक्य उद्धृत कर उनमें सगति देखने की सभावना का प्रश्न किया है। यह तो स्पष्ट है कि प्रसाद अध्यात्म की भूमिका से सबद्ध हैं और शुक्ल जी बुद्धिवादी

विचारक हैं। वे 'व्यक्त सत्ता' से बाहर 'अव्यक्त' में काव्य का सस्थान नही देखते—परतु इस प्रकार के विचार उन्होंने आधुनिक रहस्यवादी कवियों की गतिविधि को देखकर प्रकट किये है। शुक्ल जी अव्यक्त को चितन का विषय मानते है—काव्य का नही। प्रसाद जी काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति कहते है। अनुभूति शब्द व्यक्त सत्ता से असपृक्त नही हो सकता। अतएव इन दोनो विचारकों मे दृष्टिभेद होते हुए भी आत्यतिक विच्छेद नही है। अन्यथा मीराबाई, सूरदास जैसे कवियो के आध्यात्मिक काव्य पर शुक्ल जी इतनी अनुकूल समीक्षा कैसे करते ? परतु आप इस प्रश्न को मूल्याकन के प्रकरण मे न भी लें तो भी काम चल सकता है।

प्रश्न 6 रूपों के क्षेत्र में प्रसाद का विशिष्ट प्रदेय आपकी दृष्टि में क्या है ? विशेषत उपन्यास और कहानी के स्थापत्य-पक्ष में।

उत्तर 6. साहित्य-रूपों के क्षेत्र में प्रसाद ने बाह्य सभार को हटाकर अधिक अतरग आधार ग्रहण किया है। अतएव प्रसाद के साहित्य-रूपों की परीक्षा अतरगता के स्तर पर ही हो सकेगी। पूर्ववर्ती प्राय सभी रचयिता बहिरग आधारों को प्रमुखता देते रहे है। प्रसाद का मुख्य प्रदेय अतरग तथ्यों पर साहित्य रूपों का निर्माण करने में है। उनके पास उपन्यास और कहानी का पूर्व-निर्धारित ढाचा नही है, बल्कि वे पात्रों एव चरित्रों को केंद्र मे रखकर ही अपने कथा-स्थापत्य का निर्माण करते है। **(जनवरी-फरवरी, 1964)**

दिवगत आचार्य प नन्ददुलारे वाजपेयी जी के ये उत्तर उनकी अनुमति से यहा साभार उद्धृत हैं। —**लेखक**

● ● ●